द्वैमासिक साहित्य-संकलन

७

ग्रीष्म

संपादक

सियारामशरण गुप्त
नगेंद्र
श्रीपतराय
स० ही० वात्स्यायन

अनुक्रम :

हिंदी साहित्य-स्रष्टा के नाम

[संपादक की खुली चिट्ठी]

बंधुवर! आपके सामने उपस्थित होने का अवसर वास्तव में हर्ष का अवसर है, पर हम पाते हैं कि हमारा अपना विस्मय उस हर्ष से बढ़कर है। 'प्रतीक' एक वर्ष पूरा करके दूसरे में प्रवेश कर रहा है। 'प्रतीक' जैसा आयोजन और दूसरा वर्ष! उस विस्मय के कई रूप हैं—पाठक-समाज में इतनी जगह हम बना सके! ऐसे साहित्य के लिए! लेखकों का सहयोग हमें मिल सका! हमारा अपना दुस्साहस अथवा स्पर्धा इतनी दूर तक निभ गया...किंतु हमारी मनस्थिति के समझने के लिये कुछ दूर हमारे साथ वापस चलिये।

इसे आत्मश्लाघा न समझा जाय यदि हम कहें कि इस एक वर्ष में 'प्रतीक' ने अपने लिए एक विशिष्ट स्थान बना लिया है। आज हिंदी जगत में इस कोटि का साहित्यिक पत्र दूसरा नहीं है। हिंदी साहित्य में जो जो नया विकास और जागरण हुआ है, जो अनुशीलन, अन्वेषण या निर्माण कार्य हुआ या हो रहा है, वह 'प्रतीक' में प्रतिबिंबित होता रहा है, और जन के जीवन में साहित्य से जो भी प्रेरणा मिल सकती है वह 'प्रतीक' देता रहा है। आप में से कई बंधुओं से समर्थन और प्रोत्साहन के जो पत्र हमें समय-समय पर मिलते रहे हैं, उनसे हमें पता चलता रहा है कि अपने दायित्व को पूरा करने के हमारे प्रयासों का आप अनुमोदन करते हैं, और 'प्रतीक' जैसे पत्र की आवश्यकता और उसके महत्व को आप समझते हैं। यही हमारा संबल रहा है, और 'प्रतीक' जो कुछ है इसी के बल पर है।

यह ध्यान रहे कि 'प्रतीक' जो कुछ बना है, या उसने जो कुछ किया है, उसमें उसे सरकार से, या सरकारी, गैर-सरकारी, सार्वजनिक या वणिक संस्थाओं से कोई सहायता या प्रोत्साहन नहीं मिला है। आज के जमाने में जब 'अपनी सरकार' की दुहाई देकर हर पत्र या पत्रिका, हर प्रकाशक, हर संपादनेच्छु पत्रकार और प्रकाशनेच्छु लेखक किसी न किसी आड़ से सरकार की मुँहजोही करता है, और कई पत्र, प्रकाशक, लेखक, संपादक अलग-अलग ढंग या प्रणाली या विभाग से पुरस्कृत उपकृत होते भी हैं,—इस परिस्थिति में भी 'प्रतीक' को वैसा सहारा न मिला है, न उसके लिये उसने विशेष प्रयत्न किया है। यह नहीं कि सरकार से सहायता पाना या माँगना अनुचित है; न यही कि सरकार को ऐसी सहायता नहीं देनी चाहिए—आज सरकार यदि स्वयं आगे बढ़कर,

नीचे झुककर, अपने से ऊपर उठकर, सांस्कृतिक जागरण और पुनर्निर्माण में हाथ नहीं बटाती है तो वह ज्वालामुखी के मुँह पर होती है। और ऐसा करके अगर वह समझती है कि वह संस्कृति पर या साहित्य पर अनुग्रह कर रही है—निस्संदेह हमारे राजनीतिज्ञ के मन से यह दम अभी गया नहीं है, और कई भूतपूर्व साहित्योपजीवी भी शासनयंत्र की मर्यादा पाकर अपने विधायकत्व को सर्वांगीण समझने लगे हैं।—तो वह उस टटीहरी से कम नहीं है जो आकाश को थामने के लिये पैर ऊँचे करके सोती है। किंतु हम इस सहायता या सहयोग को सरकार के पक्ष से नहीं, संस्कृति पक्ष से देख रहे हैं। और इस दृष्टि से हमें नहीं भूलना होगा कि ऐसे पुनर्निर्माण में नेतृत्व सरकार का नहीं हो सकता। सरकारें—राष्ट्रीय सरकारें भी, फिर चाहे वे उनका रंग सफ़ेद हो या भगवा या तिरंगा या लाल या गुलाबी—केवल साधन हैं, साधक नहीं, उनसे हमें सुबुद्धि नहीं मिलती, केवल सुविधा मिलती है। प्रेरणा संस्कृति के भीतर से मिलती है—या नहीं मिलती। और हमारा—'प्रतीक' का—काम उस बाती को सँजोना और उकसाना और उसमें अपने प्राणों का स्नेह निरंतर होम करते रहने का है ..

यह तो हुई सरकार की बात। अन्य संस्थाओं की भी छत्रच्छाया ली जा सकती थी। राजनैतिक दलों का बड़ा सहारा होता है और उससे तत्काल सुरक्षा मिलती है। फिर साहित्य में हो मतपोषी संस्थाएँ हैं, दल हैं, जिनके समर्थकों सहायकों का अपना अपना वृत्त है। ऐसे चार छः दल एक साथ भी चुने जा सकते हैं जिनका परस्पर विरोध न हो पर वृत्त अलग अलग हों, तब एक साथ ही कई मंडलों में प्रवेश मिल सकता है...

दलबंदियों से—राजनीतिक या अन्य प्रकार की—तो 'प्रतीक' ने अपनी प्रथम घोषणा द्वारा ही अपने को अलग कर लिया था। उनसे सहारा तो मिलता है, लेकिन अहित भी बहुत हो सकता है। साहित्य में राजनीति-परक दलों से कोई लाभ हो सकता है तो नकारात्मक ही—भावुकता, शैथिल्य, शब्द विलासिता और मानसिक भ्रंश या दौर्बल्य से उत्पन्न होनेवाले अनेक विकारों को काटने में राजनीतिक की साग्रह यथार्थवादिता सहायक हो सकती है। यही सबसे बड़ा संभाव्य लाभ है, दूसरी ओर ऐसे दल स्वयं दुराग्रह, संकीर्णता और पाखण्ड के पोषक हो सकते हैं, और मानसिक विकृति और भ्रंश के कारण बन सकते हैं। 'प्रतीक' स्पष्ट दर्शिता और बेलाग आत्म निरीक्षण का समर्थक है, और उसके लिए राजनीतिक दल का सहारा आवश्यक नहीं मानता। स्वतंत्र आलोचक में ये गुण हो सकते हैं, बल्कि वह इनका अधिक रचनात्मक उपयोग कर सकता है।

इस दृष्टि से हमें संतोष होना स्वाभाविक ही है कि हम अपनी स्वतंत्र गति से चलते रहकर अपना अस्तित्व बनाये रख सके। इस बात के साथ इतना कर सकना निस्संदेह

संतोष की बात है और किसी हद तक गर्व की भी। इसलिए और भी अधिक कि यह स्वातंत्र्य पूँजी की छत्रच्छाया में नहीं पला है—जो एक कृत्रिम छूट देकर वास्तविक अधिकारों को अपनी तेंदुए की जकड़ में कस लेती है...किंतु यह हमें अपनी पीठ ठोंकना अभीष्ट नहीं, हम आपका ध्यान इस स्थिति से पैदा होनेवाली समस्याओं की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं।

प्रतीक हिंदी साहित्यकार के सहारे चलता है। यह—हमारी सबसे बड़ी शक्ति, हमारी मर्यादा भी है। वह सहारा अगर जागरूक नहीं है, तो कुछ नहीं है। आरंभ से हमारी चेष्टा रही है कि जैसा साहित्य 'प्रतीक' छापता है, या छापना चाहता है, वैसे साहित्य के स्रष्टा 'प्रतीक' को अपना मुखपत्र मानकर उसमें लिखें, और वे ही नहीं, उनके पाठक भी इस बात का अनुभव करें कि उनकी रचनाओं का 'प्रतीक' में प्रकाशित होना आकस्मिक घटना नहीं, एक वांछित कर्म है—'अमुक की रचना प्रतीक में छपी है' नहीं, 'अमुक ने अपनी रचना प्रतीक में छपायी है।'

बिल्कुल आरंभ में ऐसा दावा शायद हम नहीं कर सकते थे—कम से कम व्यापक रूप से नहीं कर सकते थे। उस समय व्यक्तिगत परिचय या स्नेह ही हमारे उद्देश्यों या उद्योग के खरेपन का प्रतिभू हो सकता था। किंतु एक वर्ष के बाद हम हिंदी लेखक मात्र के आगे ऐसा दावा लेकर उपस्थित हो सकते हैं। क्योंकि अब वह स्वयं देख सकता है कि हम क्या करना चाहते हैं।

हिंदी लेखक पर प्रायः विदेशी साहित्य पढ़नेवालों ने यह आरोप लगाया है कि वह जो लिखता है, वह लेखकों के लिये ही लिखता है। छायावाद के ह्रास के बाद यद्यपि यह प्रवृत्ति कम हो गयी है, तथापि अब भी अगर उग्र मतवाद-पोषी साहित्य को छोड़ दें, तो इस आरोप में सचाई का अंश है। आज का भी बहुत सा लेखन या तो लेखकों के लिए है या फिर विशुद्ध मनोरंजन के लिए। दोनों रास्ते विनाश के हैं। जो बिरवा खाद की कमी से सूख जाता है, वह तो फले बिना मरता ही है, जिस बिरवे में अत्यधिक खाद या अन्य कारणों से पत्ते ही पत्ते हो जाते हैं वह भी निष्फल ही रह जाता है। लेखक-पाठक को ध्यान में रखकर लिखने से साहित्य के पैर उखड़ जाते हैं और वह आकाश बेल सा परोपजीवी हो जाता है; मनोरंजन को ही इष्ट मान लेना पिंजड़े को सोने से मढ़ाने के चक्कर में भीतर के पंछी को मर जाने देना है।

हम नहीं चाहते हैं—और आप से जितना संपर्क हम बना पाये हैं उससे ज्ञात होता है कि आप भी नहीं चाहते हैं—कि 'प्रतीक' ऐसे साहित्य का प्रतीक हो। जिस साहित्य में जीने की उद्दाम सामर्थ्य हो, वही साहित्य आपने भी चाहा है। और—हमारी तरह ही आपने भी अनुभव किया है कि जहाँ तहाँ ऐसे साहित्य के निर्माण की इक्की-दुक्की

चेष्टाएँ पर्याप्त नहीं है, यह आवश्यक है कि ऐसे साहित्य को समुचित क्षेत्र मिले और उसके प्रसार की समुचित व्यवस्था हो।

तब? हमारा आपसे अनुरोध है कि आप इन सब प्रतिज्ञाओं पर विचार करके देखें। अगर ये प्रतिज्ञाएँ ठीक हैं, तो उनसे जो परिणाम निकलता है, उसे स्वीकार करें और उसके अनुसार कार्य करें।

अगर 'प्रतीक' का प्रयास ठीक है, तो वह आपके समर्थन का पात्र है। और वह समर्थन आकस्मिक नहीं हो सकता, वह इच्छापूर्वक किये गये कर्म के रूप में ही हो सकता है। हम यत्न कर रहे हैं कि एक निश्चित योजना के अनुसार लेखादि प्रकाशित करें, ताकि एक वर्ष या अमुक अवधि में अमुक विषय का अमुक कार्य हो जाय। निश्चय ही ऐसी योजना इतनी लचीली होनी चाहिए कि परिस्थितियों और रुचियों आदि के लिए गुञ्जाइश रखे, पर फिर भी ढाँचा होना ही चाहिए। उसे बनाने, उसके अनुसार कार्य करने और कराने में आपकी सहायता अनिवार्य है। उसे केवल सम्पादक पर नहीं छोड़ा जा सकता, जैसे कि ईंट चूना गारा पत्थर-चौखटे प्रस्तुत करने का काम उस राज मिस्त्री पर नहीं छोड़ा जा सकता जो इनकी मदद से योजनानुसार भवन बना देता है। सम्पादक निर्माता भी है; लेकिन गौण प्रकार का, प्रथम और मौलिक निर्माण कार्य तो आपका है।

निस्सन्देह आप सब कार्य व्यस्त लोग हैं। निस्सन्देह हिंदी मैया के सपूतों को और भी बहुत काम हैं, और आत्माभिव्यक्ति के और भी साधन हैं, और नून तेल लकड़ी का प्रश्न मौलिक है, और कार्यक्षेत्र एक से एक आकर्षक हैं। बल्कि कभी-कभी ऐसा लगता है कि किसी का लेखक हो जाना एक आकस्मिक घटना ही है जिसका कारण है अन्य दिशाओं में मार्ग रोध—जहाँ दूसरा मार्ग खुला कि लेखन खत्म हुआ..'पाँच पूत रामा बुढ़िया के' के नये साहित्यिक संस्करण के अनुसार :

पाँच पूत हिंदी बुढ़िया के—लखो एक ने 'स्टार'
बैठ गये लिखने 'सिनारियो' बाकी रह गये ४
चार पूत हिंदी बुढ़िया के - साहस लिये नवीन
एक गये आइन बनाने बाकी रह गये ३
तीन पूत हिंदी बुढ़िया के सोचें अब क्या हो
उलझ गये बड़ की बातों से बाकी रह गये २,
दो बेटे हिंदी बुढ़िया के करते शब्द-विवेक
एक बिधा बेतार केंद्र में बाकी रह गया १
एक पूत हिंदी बुढ़िया का ले प्रचार का डंडा
हुआ सभापति सम्मेलन का बाकी रह गया ०

किंतु इन आकर्षणों-विकर्षणों के बावजूद अगर आप 'पाँच पूतों' की भाँति पाँच भूतों में जा मिलने को हाथ पर हाथ धरे नहीं बैठ जाते—हम आपके सहयोग के दावेदार हैं। दूसरे वर्ष में पदार्पण करते हुए 'प्रतीक' की ओर से हम आपके सामने प्रार्थी होकर होते हैं—वह भी संपादक की निर्वैयक्तिकता की आड़ छोड़कर! आप सभी के नाम लेकर 'प्रतीक' कह सके कि अमुक-अमुक 'हमारे' लेखक हैं, तभी वह अपने आदर्शों के अनुरूप निर्माण कार्य करने की शक्ति पा सकता है, और तभी वह आपके भी प्रयासों में वैसा सहभागी हो सकता है जिसकी आप अपेक्षा करते हैं। अपने दूसरे वर्ष की योजना 'प्रतीक' इसी को मान ले सके, क्या इतना आश्वासन आप हमें देंगे?

—अ०

एलाँ दानियेलू

भारतीय संगीत की कुछ समस्यायें

वर्तमान युग प्रगति में विश्वास करता है, पर साथ ही इसमें इस तथ्य को भूलने की प्रवृत्ति भी है कि जो कुछ भी ज्ञान-भंडार हमारे पास है उसका उद्गम अतीत में है। कभी कभी हम अपनी ज्ञाननिधि में कोई एकाध वैचित्र्यपूर्ण वृद्धि किन्हीं दिशाओं में कर सकते हैं पर हमारे अधिकतर संस्कार, विश्वास, रहन-सहन और विचारधाराएँ जो मानव समाज के निर्माण में सहायक होती रही हैं वह हमको विस्मृति के गर्भ से ही प्राप्त हुई हैं।

अतीत और असीम युगों ने मानव को जो कुछ दिया है उनमें से सबसे अधिक सुरक्षित वस्तुओं में से भारतीय संगीत अन्यतम है। यह संगीत केवल कुछ थोड़े से परिमार्जित रुचि के रससिद्ध और विदग्ध लोगों के ही हृदय से लोकोत्तर आनंद की सृष्टि नहीं करता, जैसी कि कुछ लोगों की धारणा है, यह तो आसमुद्र भारतभूमि में व्याप्त और समग्र देश के ही मानव जीवन का एक अविच्छिन्न अंग है। कोई गाँव इतना बीरान नहीं मिलेगा, गरीब से गरीब किसान की एक झोपड़ी ऐसी नहीं मिलेगी जिसके प्राणी रामायण की मधुर गाथाओं या हृदयहारी कुछ पुराने रागों की धुनें न गुनगुना लेते हों। संसार में जितनी कलाएँ हैं उनमें से संगीत ही मानव हृदय के निकटतम और स्वाभाविक है। इसके लिए किसी कीमती सामान की जरूरत नहीं है। मनुष्य सब कुछ खोकर भी इसे रख सकता है। संगीत के कुछ प्रकार ऐसे लोगों में भी सुरक्षित रह सकते हैं जिनके पास घरबार, कपड़ा लत्ता, रुपया पैसा आदि कुछ भी नहीं है। यही कारण है कि जहाँ अतीत गौरव के इतने चिह्न नष्ट हो गये, जिनके अब मूक ध्वंसावशेष मात्र रह गये हैं, भारतीय संगीत अब भी वैसा ही है जैसा कि यह एक हजार वर्ष पहले था। खजुराहो नगर के अतीत वैभव की कल्पना करने में हम असमर्थ हो सकते हैं, जिन निपुण शिल्पियों ने इसके अनुपम वास्तुकला के नमूनों का निर्माण किया था, उनकी विचारधारा से अवगत हम चाहे न हो सकें, वहाँ के नरपतिओं और नागरिकों का रहन सहन चाहे हम न जान सकें, पर वहाँ के मंदिरों की दीवारों पर अंकित संगीतज्ञ जो यंत्र बजाते थे वह आज भी हमारे सुपरिचित हैं।

प्राचीन संगीत संबंधी ग्रंथ

एक सजीव और सक्रिय परंपरा के अतिरिक्त, गौरवान्वित मध्य युग में रचित कुछ महत्वपूर्ण ग्रंथ भी इस समय उपलब्ध हैं। संगीत संबंधी जो लगभग दो सौ पुस्तकें

इस समय प्राप्य हैं उनमें बहुतों की रचना उसी युग में हुई जिसमें एलोरा, भुवनेश्वर और खजुराहो के मंदिरों की सृष्टि हुई थी। इन ग्रंथों से यह स्पष्ट हो जाता है कि संगीत साधना केवल एकांत मनोविनोद के लिए नहीं की जाती थी। एक गंभीर शास्त्र के रूप में इसके अध्ययन की परिपाटी थी जिसका भौतिक जीवन से और मानव स्वभाव से घनिष्ट सम्पर्क था। इस युग के संगीत ग्रंथों के प्रमुख रचयिता हैं—उद्भट (८वीं सदी) लोल्लट (६वीं सदी), शंकुक (६ वीं सदी), अभिनव गुप्त (१० वीं सदी), राजाभोज (१०वीं सदी), मम्मट (११ वीं सदी), रुद्रसेन (११ वीं सदी), सोमेश्वर (१२ वीं सदी), लोचन (१२ वीं सदी), शारदातनय (१३ वीं सदी), और शार्ङ्गदेव (१३ वीं सदी)। इस युग में भारत सर्वतोमुखी सांस्कृतिक उच्चता के जिस शिखर तक ऊँचे उठा उतना उठने का सौभाग्य कम ही देशों को प्राप्त हुआ है। और यदि हम इस गौरव के संबंध में बहुत थोड़ी जानकारी रखते हैं तो ग्रंथों या साहित्य का अभाव इसका कारण नहीं है, बल्कि विदेशी आक्रमणकारियों की उदासीनता इसके मूल में है। इन विजेताओं ने इस देश की सभ्यता तथा सांस्कृतिक प्रगति का द्वार ही बंद कर दिया।

विदेशी हमले

भारत की संगीत संस्कृति पर प्रारंभ में मुसलमानी हमलों का बड़ा घातक प्रभाव पड़ा। पर थोड़े ही काल के अंतर देश के सुकुमार वातावरण से प्रभावित होकर कुछ मुसलमान शासकों ने अपना रवैया बदला और संगीत का संरक्षण करने लगे। पर अभी भी संगीत को ये महज मामूली दिलबहलाव और शगल की चीज समझते थे। एक गहन शास्त्र के रूप में संगीत की इतिश्री हो चुकी थी। संगीत की अधिष्ठात्री देवी शारदा माता के प्रति विश्वासघात न हो इस उद्देश्य से देश के अधिकांश अग्रगण्य संगीतज्ञ इसलाम धर्म ग्रहण करने पर विवश हुए। जिन्होंने ऐसा नहीं किया वह निरुद्ध होकर काल कवलित हुए। संगीत संबंधी प्रगतिशील संस्कृत साहित्य का विकास एकाएक रुक गया। फल यह हुआ कि अगले जमानों के संगीत गुणी न इन ग्रंथों को पढ़ पाते न समझ पाते।

नियम से समय समय पर मूर्तियों का तोड़ना और अपने से भिन्न संस्कृतियों का विरोध मुसलिम सभ्यता का सदा से एक प्रधान दोष रहा है, जैसा कि प्रारम्भिक ईसाई युग में भी रहा है और वर्तमान पाश्चात्य देशों में इसकी भी एक हद तक है।

यह धारणा कि एक सच्चे (या पक्के) मुसलमान के लिए संस्कृत पढ़ना या संस्कृत विद्या को प्रोत्साहन देना हराम है, संगीत विद्या की महान् अधोगति का कारण तो हुई ही पर साथ ही इसने मुसलमानों को एक महान् और विराट संस्कृति में अवगाहन करने से भी वंचित रक्खा।

फिर, शताब्दियों के संघर्ष के बाद हिंदू संस्कृति जब एक बार फिर सँभलने को हुई तब अँग्रेजों के हिंदुस्तान पर आधिपत्य स्थापित करने की बारी आयी। एशियाई देशों की कला और विज्ञान के प्रति ये मुसलमान आक्रमणकारियों से भी अधिक पराङ्मुख और उनसे कहीं कम इनके प्रति सहृदय थे। उनके साम्राज्य के अन्दर कितनी महान् और गौरवपूर्ण संस्कृति का सन्निवेश हुआ है यह वे बिलकुल न समझ सके। उनके लिए यह एक मानी हुई बात थी कि विजित देशों के लोगों को इन्हीं के रहन सहन और विचारधारा का अनुयायी बनना पड़ेगा। यह स्थिति एक अवरुद्ध संघर्ष की सृष्टि का कारण हुई। भारत की अपनी विद्या और इसका ज्ञानभंडार विकृत समझा जाकर ठुकरा दिया गया क्योंकि इसका आधुनिक विदेशी संस्कृति से कोई संपर्क नहीं था। उनके लिए यह मानी हुई बात थी कि वर्तमान युग की एकमात्र संस्कृति वही पाश्चात्य संस्कृति थी। भारत तथा विदेश में कुछ लोग ऐसे भी थे जो भारत की परंपरागत संस्कृति तथा देन का मूल्य समझते थे पर उनकी कमजोर आवाज का कुछ असर नहीं पड़ा। एक दिन भारत उन बेतुके रहन-सहन और पहनावेवाले पुराने ढंग के लोगों का आभार मानेगा जिन्होंने विद्रूप, अवहेलना, कम वेतन आदि की परवाह न करते हुए देश की बहुमूल्य संस्कृति और परंपरा को जीवित रखने में ही अपने को मिटा दिया और सरकारी उपाधियों या ओहदों को हमेशा लात मारी।

इस कठिन युग में संगीत का भाग्य अपेक्षाकृत अच्छा था। जब कि भारतीय शिल्पी, हर्म्यनिर्माता, वास्तुकलाविशारद तथा और कारीगर आश्रयहीन होकर भूखों मर रहे थे, संगीतज्ञों का एक हद तक आदर हुआ। यह सिर्फ इसलिये कि विदेशी संगीत भारतीयों के हृदय को स्पर्श करने में असमर्थ था, क्योंकि उनमें रस की सृष्टि तो केवल भारतीय संगीत द्वारा ही हो सकती थी। 'अंग्रेजी बाजा' को सर्कस और शादी वगैरह के जुलूसों में ही जगह मिल सकी। कुछ 'समझदार' लोग बीथोवेन और मोत्सार्ट का नाम भी लेते थे। 'ऑर्केस्ट्रा' नामक शब्द भी प्रचार में आया, पर संगीत के सभी सच्चे प्रेमी इस बात को भलीभाँति जानते थे कि अपने प्राचीन, और साथ ही चिरनवीन भारतीय संगीत के समान और कोई संगीत उनके हृदय में सुकुमार भावनाओं तथा रस की सृष्टि नहीं कर सकता।

कोई भी कला या विज्ञान किसी संस्कृति-विशेष की अंतरात्मा को इतनी स्पष्टता के साथ व्यक्त नहीं कर सकता जितना कि इसका संगीत। वास्तव में अपनी जातीयता खो चुकनेवाले वही लोग कहे जा सकते हैं जो अपने देश के संगीत के समझने में असमर्थ हो गये हैं। जो लोग देश के संगीत को समझते हैं उनके हृदय समान हैं। उत्तर भारत में हिंदू और मुसलमान दोनों ही एक ही देशी संगीत से खुश होते हैं और इसी

है उनको प्रेम है और वह भारत का पुराना संगीत ही है। इनका परस्पर भेद भा बनावटी है। कोई तीसरा अगर दखल न दे तो इनके हृदय की भाषा एक ही है।

संगीत को कोई आसानी से अपना गुलाम नहीं बना सकता। विदेशी मुसलमान आक्रमणकारियों को भारतीय संगीत ने ही जीता और वे आत्मा और हृदय से भारतीय ही हो गये। आगे चलकर पाश्चात्य संपर्क के प्रति भारतीय संगीत उदासीन रहा और आज तक अपनी विशेषता और पूर्णता की रक्षा करने में समर्थ हुआ है।

वर्तमान साधन

ग्रामोफोन, रेडियो और सवाक् चित्रपट के प्रचार ने साथ साथ संगीत के लिए नयी संभावनायें प्रगट हुईं। इन चीज़ों ने प्रत्येक देश के संगीत को प्रभावित किया है और भारतीय संगीत पर भी इनका असर पड़े बिना रह नहीं सकता था। यद्यपि विदेशी संगीत स्वयं इसे किंचिन्मात्र भी प्रभावित नहीं कर सका, पर संगीत के इन नये साधनों तथा यन्त्रों से इसके लिए बहुत बड़ा खतरा पैदा हुआ। और जातीय जीवन के हर एक पहलू का नियन्त्रण इस समय विदेशियों के हाथ में होने के कारण यह खतरा खास तौर से और भी ज्यादा बढ़ गया।

प्राचीन ग्रंथों से हमें पता चलता है कि भारत में विविध प्रकार के बहुसंख्यक वाद्य यन्त्रों का प्रचार था जिनमें से बहुत से इस समय लुप्त हो गये हैं। बहुत से भारतीय वाद्ययन्त्र ऐसे भी हैं जो इस समय भारत में नहीं दिखते पर उनका प्रचार अभी चीन में है, और खासकर इन्डोनेशिया में जहाँ प्राचीन भारतीय संगीत के बहुत से पहलू स्वयं भारत से भी अधिक सुरक्षित हैं। इन वाद्ययन्त्रों का लोप मुस्लिम प्रभाव के कारण हुआ जिसने कलाओं को सार्वजनिक प्रदर्शन से हटाकर जनानखानों में भगा दिया। हिंदुओं के प्राचीन चित्रों (फ्रेस्को) के स्थान पर मुगलों के सूक्ष्म कारूकार्य का आविर्भाव हुआ। खुले मैदान में खेले जानेवाले गीतिनाट्य के स्थान पर बंद कमरों में होनेवाला संगीत प्रचार में आया। इन कारणों से सुकुमार वाद्ययन्त्रों का ही प्रचार बढ़ा और संगीत कुछ खास लोगों के निस्तब्ध और नीरव आनंद का साधन मात्र रह गया। धीमी आवाज का संगीत भारतीय संगीत की विशेषता नहीं थी, एक विशेष युग की पसंद और फर्मायश की वजह से ही ऐसा हुआ।

इसी तरह नृत्यनाट्य की माँग भी शताब्दियों से बंद हो गयी है। कथकलि आदि शैलियाँ जो आज भी बची हुई हैं वह मुख्यतः ग्राम्य या 'देशी' शैलियाँ हैं; इनका टेक नीक कितना ही वैचित्र्यपूर्ण क्यों न हो इनकी रचना और इनके प्रदर्शन में एक ऐसी ग्रामीणता की छाप है जो कि निश्चय ही पुराने जमाने के दकियानूसी दरबारी नर्तकों में हम कभी नहीं पा सकते थे। नाटक के इस बचे हुये प्रकार में जिस संगीत का व्यवहार होता है वह मुक्त मैदान में बैठी हुई श्रोतामंडली के लिए पर्याप्त है और जिन ध्वनि-

समूहों, ध्वनि-मेलों और वाद्ययंत्रों का उपयोग उनमें होता है उसको हॉल या कमरों में बैठनेवाली जनता नहीं पसंद कर सकती।

पृष्ठ-भूमि

पुराकाल में श्रोतामंडली के पास पर्याप्त अवकाश और धैर्य था, और उन्हें संगीत का रसास्वादन कराते समय गुणिजन राग के वातावरण की सम्यक् सृष्टि करने के लिए, स्वयं अपने अंतस्तल में परिवेश्य राग की रागात्मिका वृत्ति को जाग्रत और उद्दीप्त करने के लिए और गेय वस्तु के सांगोपांग विस्तार के लिए यथेष्ट समय लिया करते थे। अब यह बात नहीं रही। राजा रईस वर्ग में संगीत के सच्चे शौकीन और गुणग्राहक विरले ही रह गये, और फलतः महान् कलाकारों को आधुनिक रुचिवाली सर्वसाधारण श्रोता मंडली की सुविधा और फर्मायश के अनुसार ही कला प्रदर्शन करने पर बाध्य होना पड़ता है। उन्हें बड़े-बड़े सभा मंडपों या हॉलों में गाना-बजाना पड़ता है जो उनके सुकुमार, धीमी आवाजवाले यंत्रों के अनुकूल नहीं होते। उन्हें रेडियो कार्यक्रम की नितांत परिमित समय सीमा के अंदर ही अपना काम पूरा करना पड़ता है, राग के समूचे विस्तार का निचोड़ चंद मिनटोंवाले ग्रामोफोन रेकार्डों में भर देना पड़ता है। अब इन कठिनाइयों का सामना करने के सिवा उपाय नहीं रहा।

इस नयी दुनिया की सुविधानुसार अपने को परिवर्तित कर डालना भारतीय संगीतज्ञों के लिए एक विकट समस्या हो रही है। भारतवर्ष के ऊपर इन महान् मुसलिम संगीतज्ञों का बहुत बड़ा ऋण है जिनकी दीर्घ साधना और रससिद्ध कौशल ने ही उत्तर भारतीय संगीत कला को पिछली शताब्दियों में जीवित रक्खा पर साथ ही यह भी कहना होगा कि संगीत शास्त्र और उत्पत्ति संबंधी उनके अज्ञान के कारण वह वर्तमान देश-काल की आवश्यकता और माँग के अनुकूल मार्ग की ओर संगीत की शैलियों को मोड़ने में असमर्थ हो रहे हैं। वर्तमान समय के उपयुक्त बनाने के प्रयास में यदि भारतीय संगीत को अधोगति से बचाना है तो संगीत का शास्त्रीय अध्ययन अनिवार्य है।

'आर्केस्ट्रा' या वृंदवादन

आज दिन भारतीय संगीत में जो आर्केस्ट्रा या वृंदवादन की माँग हो रही है उसका भी सामना हमें करना है। यह माँग भारतीय संगीत में किसी प्रकार की कमी के कारण नहीं हो रही है। यह पूर्णतः रंगमंच और चित्रपट या सिनेमा की माँग है। भारत में जब तक गीतिनाट्य और नृत्यनाट्यों का चलन रहा तब तक यहाँ आर्केस्ट्रा था ही। यहाँ के कुछ आर्केस्ट्रे तो ऐसे थे जो एक समूचे प्राच्य जगत् में विख्यात थे। वृंदवादन का संगीत, जिनमें विविध वाद्यों का मधुर और ऐक्यतानिक सम्मेलन होता है, भारत में हमेशा से रहा है। यह संस्कृत पुस्तकों तथा देशी, विदेशी दोनों प्रकार के ऐतिहासिक

साक्ष्य से निर्विवाद रूप से सिद्ध है। नृत्यनाटक और गीतिनाट्य के प्रायः सपूर्ण लो' के साथ साथ भारतीय वृंदवादन भी अतर्धान हो गया। पर अगर रगमच और फिल्म के लिए इस प्रकार के सगीत का फिर से प्रचार करना है तो उसकी गतिविधि आदि के लिए भारतीय सगीत पद्धति की ही छानबीन करनी होगी। भारत के विभिन्न प्रांतों की पुराने ढग की नाटक मडलियों में अब भी विविध प्रकार के वृंदवादन प्रचलित हैं। इनमें से कुछ तो ऐसे हैं जिनको अपने जिले के बाहर शायद ही कोई जानता हो। जावा, बाली, सुमात्रा और काबलि (कबोडिया) वगैरह एक समय भारत के ही प्रांत थे और इनमें अब भी ऐसे ऐसे विशद और भव्य वृंदवादन मौजूद हैं जो स्वय भारत में नहीं रहे। उनमें बहुत से ऐसे वाद्ययंत्रों का उपयोग होता है जो अब भारत में देखने को भी नहीं मिलते। वृंदवादन की इन विधियों के प्रयोग और सिद्धात यदि विधिवत समझ लिये जाँय जो कि शास्त्र के सागोपाग अध्ययन द्वारा ही सभव है, तो ये विधियाँ हमारी वर्तमान और नवीन सगीत सबधी गुत्थियों को सुलझाने में सहायक होंगी। पर यदि योरोपीय आर्केस्ट्रा और पाश्चात्य वाद्ययंत्रों, जो कि एक सर्वथा भिन्न सगीत पद्धति के अनुकूल बनाये गये हैं, के अनुकरण की कोई चेष्टा की गयी तो इसका परिणाम (भारतीय सगीत पद्धति के लिए) घातक होगा।

स्वरसम्मेलन और बहुश्रुति (हार्मनी और पॉलीफोनी)

स्वरसम्मेलन और बहुश्रुति दो सर्वथा भिन्न वस्तुयें हैं। भारतीय सगीत राग-सगीत है और इसमें (यूरोपीय पद्धति के) स्वर सम्मेलन या 'हार्मनी' के लिए स्थान नहीं है। हार्मनी का आधार है प्रत्येक स्वर से तृतीय स्वर को बराबर लगाते चलना और ऐसा करते ही रागहानि हुए बिना रह नहीं सकेगी, समूचा राग भ्रष्ट हो जायगा। पर राग-संगीत में बहुश्रुति के लिए बहुत बड़ी गुञ्जायश है। बहुश्रुति या 'पॉलीफोनी' उस अलकार विशेष को कह सकते हैं जिसमे कई ध्वनियों या श्रुतिस्वरों का एकत्र समावेश किया जाता है और यह जरूरी नहीं है कि वह सब स्वर या श्रुति हार्मनी पद्धति के अनुसार बैठाये जायँ। बहुश्रुति का विकास जावा और बाली में अच्छा हुआ है। पाश्चात्य सगीत भी अब हार्मनी से ऊबकर बहुश्रुति और धुनों की ओर झुक रहा है, पर राग का आधार न होने के कारण आधुनिक पाश्चात्य संगीत निष्प्राण और अस्त व्यस्त हो रहा है।

बहुश्रुतिमूलक सगीत से मुख्य लाभ यह है कि इसमें जाति, विस्तार और उच्चता आदि में परस्पर सर्वथा भिन्न बहुसख्यक वाद्ययंत्रों का एकत्र बजना सभव हो सकता है। सितार और तबला, कठ सगीत, मृदग, घटीतरंग, और घुँघरू आदि का सम्मेलन भारत में सर्वत्र पाया जाता है और इन्हें हम भौतिक बहुश्रुति सम्मेलन का उत्कृष्ट उदाहरण कह सकते हैं। पर यह एक साथ, (समान स्वरों पर लगे हुए) कई सितार, सरोद

या इसराजों के वृंदवादन से सर्वथा भिन्न है जैसा कि प्रायः आजकल बहुत से लोग कहते हैं। आवाज को बढ़ाने के सिवाय इससे और कोई मतलब हल नहीं होता। और फिर चूंकि भारतीय संगीतज्ञ लिखित स्वर लिपि के अनुसार नहीं बजाते, ये सब एक जगह पर कभी नहीं रहते, रह सकते ही नहीं। पर अगर किसी तरह यदि वह एकत्र रहें भी तो इसे बहुश्रुति नहीं कहा जा सकता। पर इनकी पूर्ण एकतान तो कभी हो ही नहीं सकती, त्रुटियाँ रहेंगी ही। एक स्वर पर मिले हुए कई तार के वाद्यों की त्रुटिपूर्ण एकतानता को तोड़कर उसमें एक बांसुरी सोलो मिला देना या बेसुरे जलतरंग की झंकार मिला देने से ही ऑर्केस्ट्रा संगीत की सृष्टि नहीं होती। यह न हार्मनी है न पॉलीफोनी। भारत में फिर से बहुश्रुति संगीत का विकास तभी हो सकता है जब इसके अनुकूल वाद्य-यंत्रों का फिर से प्रचार किया जाय। आजकल सरोद इसलिए ज्यादा पसंद किया जाता है कि इसकी आवाज बहुत ज्यादा है। यह यंत्र 'ऐतरेय अरण्यक' में वर्णित एक प्राचीनतम वाद्ययंत्र से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। महज एक सामाजिक भ्रांतधारणा के कारण शहनाई बड़ी उपेक्षा की दृष्टि से देखी जाती है, पर संभवतः संसार में कोई ऐसा फूँक का जवारीदार वाद्ययंत्र नहीं है जो सुकुमार स्वरमाधुरी में इसकी बराबरी कर सके। यह बिसमिल्ला बंधुओं की प्रतिभा का काम है जिसने संगीत रसिक सर्व-साधारण को इसकी श्रेष्ठता को स्वीकार करने पर बाध्य किया है। अभी तक इस यंत्र का बहुत कम उपयोग किया गया है यद्यपि संगीत की वर्तमान आवश्यकताओं के लिए यह बहुत उपयुक्त है। सरस्वती वीणा की भाँति जो धीमी आवाजवाले यंत्र हैं और आधुनिक स्थितियों में जिनका चलन इस कारण बिलकुल ही बंद-सा हो गया है, वे भी लाउडस्पीकर आदि विद्युत् यंत्रों की सहायता से अब फिर से भारतीय यंत्रों की प्रथम श्रेणी में लाये जा सकते हैं। इन यंत्रों की स्वर माधुरी में जो तासीर है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

भारत में बड़े आर्केस्ट्रा की जरूरत नहीं है। यूरोप में इस तरह के बंद आर्केस्ट्रों (जिनमें एक साथ दो दो सौ वादक बैठते हैं) का चलन इसलिए हुआ कि बड़ी से बड़ी जनता संगीत को सुन सके। उस समय लाउडस्पीकार आदि ध्वनिविज्ञापक यत्रों का अविष्कार नहीं हुआ था। बर्लिओज को बड़े संगीत मंडपों (म्यूजिक हाल) के लिए अपने आर्केस्ट्रा में तीन सौ संगीतज्ञों की आवश्यकता होती थी पर वे तीन सौ अलग अलग तानें नहीं बजाते थे। किसी मामूली कमरे में वही संगीत आसानी से पंद्रह संगी-तज्ञों द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता था। चूँकि भारत में इतने बड़े वृंदवादन का चलन कभी भी नहीं था, इस समय जब कि उनका चलन बंद हो गया है, इस देश में उनको प्रचार में लाने की चेष्टा मूर्खता होगी। स्वरविस्तारक आधुनिक वैज्ञानिक उपकरणों की सहायता से एक अकेला संगीतज्ञ बड़ी से बड़ी श्रोता मंडली को संगीत सुना सकता है।

रेडियो और ग्रामोफोन

रेडियो और ग्रामोफोन रेकार्डों के लिए बहुत थोड़े समय में संगीत प्रदर्शन करना आवश्यक होता है। और यह एक नयी माँग है जिसके लिए भारतीय संगीतज्ञ तैयार नहीं थे।

गाने बजाने का आनंद लेने के लिए ग्रामोफोन रेकार्ड सबसे सुलभ और जनप्रिय साधन सिद्ध हुए हैं। रेडियो से भी अधिक संख्या में ग्रामोफोन रेकार्डों को लोग सुनते हैं। पर उनके लिए संगीत परिवेशन को और भी संक्षिप्त करना अनिवार्य होता है। संगीतज्ञ को ३½ से लेकर ५ मिनट के अंदर ही वह असर पैदा करना पड़ता है जो तुरत तासीर पैदा करे और जिसे लोग बारबार सुनना पसन्द करें। कुछ खास तरह की गाने बजाने की चीजें ही इस माँग को पूरी कर सकती हैं, जैसे—गजलें, भजन, कुछ ध्रुपदें, या टैगोर के से अत्याधुनिक गीत। यंत्र संगीत को भी यह माँग पूरी करनी पड़ती है पर अभी इसको सफलता नहीं मिल सकी है। कलाकार नितांत असफल रूप से आलाप की कुछ तानें, कुछ झाले और तारपरन आदि को अस्तव्यस्त रूप से ठूँसकर गागर में सागर भरने की चेष्टा करता है। यों सिद्धांत रूप से मार्ग यंत्र संगीत की कुछ विशेष ताओं को एक खास ढंग से रेकार्ड कराया जाना संभव है। मुख्य आवश्यकता यह है कि गाने का क्रम ठीक रक्खा जाय और पद्धति के अनुसार वाद्यशैली का जो भाग जिसके बाद आना चाहिये, उसी क्रम के अनुसार बाजे को विभाजित करके रेकार्डिंग की जाय। ऐसी स्थिति में आलाप एक स्वतंत्र चीज होगी, और इसी प्रकार क्रम से जोड़, झाला, ठोंक झाला और तारपरन आदि आवेंगे। फिर खाली तबला (तबला सोलो) बड़ा आकर्षक सिद्ध होगा। यह दृढ़ता के साथ कहा जा सकता है कि बाजे के हर एक अंग को अलग अलग स्पष्ट कर बजाने से कलाकार को राग की शुद्धता की रक्षा करने और दिलचस्पी बढ़ाने में सहूलियत होगी। इस विधि से एक पूरा राग तीन या चार रेकार्डों (दोनों ओर) में सफलता के साथ बजेगा और राग की पूरी कैफियत एक हद तक दिखायी जा सकेगी। हर एक रेकार्ड एक पूरे राग की सीरीज की तौर पर रहेगा।

रेडियो प्रोग्राम में उतनी जल्दबाजी नहीं करनी पड़ती, इसमें कलाकार को अपना पूरा कौशल दिखाने का अवसर मिलता है। निश्चय ही रेडियो का हम कृतज्ञ होना चाहिये कि घर बैठे देश के बड़े गुणियों का कला कौशल और संगीत-लहरी सुनने को मिल जाती है। पर यदि कलाकारगण प्रत्येक प्रोग्राम के लिए खास तौर से रेयाज करके आवें तो और भी सहूलियत होगी।

एक छोटे प्रोग्राम को सफल बनाने के लिए संगीतज्ञ में अच्छी तबीयतदारी, तालीम और रेयाज की जरूरत है और इसी से कठिनाइयाँ होती हैं। कलाकार को बैठते ही अपनी तैयारी की हद पर पहुँच जाना और तबीयत को पूरे रंग में ला देना पड़ता है।

तत्काल रसानुभूति के सूक्ष्मतम तल में निकल जाना एक नितांत कठिन कार्य है। इस-लिए शुरू करने के बहुत पहले से कलाकार को भीतर ही भीतर अपनी तबीयत को बनाते रहना पड़ता है। इसके लिए कलाकारों में एक ऐसे दृष्टिकोण की आवश्यकता हो रही है जो कि अधिकांश भारतीय संगीतज्ञों में नहीं है और जिसको पैदा करने की जरूरत है। अभी तक अलाउद्दीन खाँ ऐसे कुछ इने गिने ही उस्ताद ऐसे मिले हैं, जो संगीत के सच्चे और मनीषी साधक हैं जो पहले से बिना किसी खास तरह की खास तैयारी के किसी भी प्रकार के संगीत प्रदर्शन में सफल हो सकते हैं। यह इसलिए कि इस प्रकार के संगी-तज्ञों के जीवन का प्रतिक्षण संगीत में ही डूबा रहता है और भीतर से वह हर वक्त तैयार ही रहते हैं।

उपयुक्त संगीतालयों की आवश्यकता

यह कहना भूल होगी कि भारतीय संगीत अवनति के पथ पर है। महान कलाकारों की साधना के फल से इसकी महत्ता और शान आज भी वैसी ही है जैसी कि किसी भी समय थी। पर शास्त्र के प्रायः संपूर्ण तिरोभाव के कारण भारतीय संगीत नवीन परिस्थि-तियों के अनुकूल अपने को बनाने में असमर्थ हो रहा है। अतीत वर्षों में विख्यात कला-कारों ने नवीनता लाने की जो कुछ भी चेष्टायें की हैं उनसे कला का स्तर शोचनीय रीति से अधोगति की ओर ही अग्रसर हुआ है।

अभी तक वर्तमान संगीत विद्यालयों द्वारा नवीन समस्याओं के हल करने में कोई सहायता नहीं मिल सकी है। इसका मुख्य कारण यह है कि शास्त्र और उपपत्ति की ओर काफी ध्यान नहीं दिया गया। इन्होंने बड़े बड़े क्लास खोलकर और कुछ अध्यापकों को रखकर डिग्री या उपाधि वितरण मात्र से ही संतोष कर लिया है। यह प्रारंभिक स्कूलों में संगीत शिक्षा में सहायक हो सकता है पर भारतीय संगीत की वास्तविक महत्ता को फिर से लाने और उसे सुरक्षित रखने में इससे कोई सहायता नहीं मिल सकेगी।

संगीत संबंधी प्रकाशन भी आम तौर से बहुत निम्न कोटि के ही हुए हैं जिनमें संगीत संबंधी संस्कृत ग्रंथों के कुछ श्लोक उद्धृत कर दिये जाते हैं और संगीत संबंधी प्रारंभिक बातों का विवरण इतने अशुद्ध रूप में दिया जाता है कि आश्चर्य होता है।

अब, जब कि भारत विदेशी शासन से मुक्त हो गया है यह आवश्यक होगा कि भारतीय संस्कृति के प्रत्येक क्षेत्र की निधियों की फिर से पूरी छानबीन की जाय और नये सिरे से काम शुरू हो। अरस्तू और तामस अक्विनास को छोड़कर पाश्चात्य दर्शन कहाँ खड़ा होगा? यदि प्राचीन संगीत नायकों की अमर कृतियों को भुला दिया जाय तो पाश्चात्य संगीत कहाँ टिकेगा? अब वह समय आ गया है, कि भारत अपने अतीत गौरव का पुनरुद्धार करे और तब ही इसे इन प्रबल और वैभवपूर्ण स्रोतों का आश्रय मिलेगा जिससे उज्वल भविष्य का निर्माण संभव होगा। संगीत संबंधी समस्याओं को

अतीत में किस प्रकार सुलझाया गया था और नवीन समस्याओं को कैसे हल किया जा सकता है इनका गंभीर अध्ययन और चिंतन ही संगीत में अतीत गौरव को सुरक्षित रखने के साथ ही नयी शैलियों की सृष्टि करेगा।

शौकीन विद्यार्थियों के लिए तो संगीत विद्यालयों की आवश्यकता है ही, पर विशेषज्ञों के लिए भी उसकी आवश्यकता कम नहीं है। देश की संस्कृति के प्रत्येक क्षेत्र में इसकी आवश्यकता है। हमें सिर्फ अच्छे प्रदर्शन करनेवाले संगीतज्ञों की ही आवश्यकता नहीं है, पर ऐसे संगीत पंडितों की भी जरूरत है जो शास्त्रीय अध्ययन और खोज कर सकें, प्रोग्रामों या जलसों का तत्वावधान करें, और रेडियो, रेकार्ड, फिल्म आदि को शिक्षा का सर्वप्रिय माध्यम बनाने में सहायक हों। हमें ऐसे रिसर्च कलाकार या शास्त्रीय अन्वेषकों की भी आवश्यकता है जो अतीत के विस्मृत गर्भ से मानव-ज्ञान में सहायक भारत की पुरानी देन का उद्धार कर सकें। ऐसे अन्वेषकों को सब प्रकार की सुविधायें देनी होंगी। हमें ऐसे अन्वेषकों की आवश्यकता है जो अतीत और नवीन में इस प्रकार का साम्यदान कर सकें कि विश्व के आध्यात्मिक और बौद्धिक गुरु के रूप में भारत फिर से अपने अतीत गौरव को प्राप्त कर सके।

शिवनाथ

इड़ा

श्रीजयशंकर 'प्रसाद' की 'कामायनी' में वर्णित 'इड़ा' की कथा की धारा अपने मूल स्रोत से ही मनु की कथा की धारा से सटकर प्रवाहित होती है। इसकी कथा-धारा के वैदिक और पौराणिक दोनों स्रोतों का स्वरूप ऐसा ही है। इसके अतिरिक्त इनकी कथा-धारा प्रलय की कथा की पीठिका पर प्रवाहित होती है। अतः प्रलय-वृत्त का दर्शन भी अपेक्षित है।

'शतपथ ब्राह्मण'[1] में प्रलय वृत्त का वर्णन इस प्रकार का प्राप्त होता है। "प्रातः-काल वे (देवता-गण) मनु के पास जल लाए, जैसा कि अब भी वे हस्त-प्रक्षालन के लिए लाते हैं। जब मनु हस्तप्रक्षालन कर रहे थे तब (जल-पात्र से) उनके हाथ में एक मत्स्य आया।[2] मत्स्य ने मनु से कहा—'मेरा पालन-पोषण करो, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा।' 'किससे मेरी रक्षा करोगे'—मनु ने पूछा। मत्स्य ने उत्तर दिया—'यहाँ के सभी जीव-जंतुओं को बाढ़ बहा ले जायगी, इससे मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा।[3] मनु ने पूछा—'कैसे मैं तुम्हारा पालन-पोषण करूँ।' मत्स्य का उत्तर था—'जब तक हम छोटे रहते हैं, हमारा बहुत नाश होता है, क्योंकि मत्स्य ही मत्स्य को निगल जाता है। पहले तुम मुझे कुंभ में रखोगे। जब मैं इसमें समा न सकूँगा, अधिक बड़ा हो जाऊँगा, तब तुम एक गढ़ा खोदोगे और मुझे उसमें रखोगे। और जब इसमें भी न अँट सकूँगा, और अधिक बड़ा हो जाऊँगा, तब मुझे समुद्र में डाल देना, क्योंकि तब मैं नाश से परे हो जाऊँगा।' वह शीघ्र ही झष (बड़ा मत्स्य) हुआ, तत्पश्चात् सबसे बड़ा मत्स्य। इसके बाद उसने मनु से कहा—'अमुक वर्ष वह बाढ़ आयेगी।' तब एक नाव प्रस्तुत कर मेरे परामर्श की प्रतीक्षा करना। और जब बाढ़ आ जाय तब तुम नाव में बैठ जाना। मैं उससे तुम्हारी रक्षा करूँगा।"

१—कांड १, अध्याय ८, ब्राह्मण १, मंत्र १—६।

२—मनवे वै प्रातः। अवनेऽयमुदकमाजहुर्यथेदं पाणिभ्यामवनेजनायाहरंत्येवं तस्या-वने निजानस्य मत्स्यः पाणीऽआपेदे।—वही, मंत्र, १।

३—कस्मान्मा पारयिष्यसीत्यौघऽइमाः सर्वाः प्रजा निर्वोढा ततस्त्वा पारयिता-स्मीति......—वही, मंत्र २।

मत्स्य के कथनानुसार उसका पालन पोषण कर मनु ने उसे समुद्र में डाल दिया। मत्स्य ने जिस वर्ष बाढ आने की बात कही थी उस (मत्स्य) के कथनानुसार मनु ने उस वर्ष नाव प्रस्तुत की और जब बाढ आयी तब वे नाव में बैठ गये। तत्पश्चात् मत्स्य तैरकर मनु के पास आया और नाव की डोरी उन्होंने उसकी सींग में बाँध दी। इस प्रकार मनु तीव्र गति से समुद्र पार कर उत्तर गिरि को गये।[1]

मत्स्य ने फिर मनु से कहा—'मैंने तुम्हारी रक्षा कर दी। वृक्ष में नाव बाँध दो, लेकिन पर्वत पर निवास काल में तुम्हारा संपर्क जल से छूटने न पाये। ज्यों-ज्यों जल उतरेगा त्यों त्यों तुम भी उतर सकते हो।' इस प्रकार वे धीरे धीरे उतरे और इसी कारण उत्तर गिरि की उस ढाल को 'मनोरवसर्पण' कहते हैं। वहाँ के सभी जीव-जंतुओं को बाढ बहा ले गयी और मनु अकेले रह गये।[2]

(२)

पुराणों में भी प्रलय वृत्त प्राप्त होता है। उनमें भी इसका संबंध मनु से है। 'शतपथ ब्राह्मण' से तो यह नहीं ज्ञात होता कि उसमें वर्णित मनु कौन थे, परन्तु पुराणों में वर्णित जिन मनु से प्रलय वृत्त संबद्ध है वे सातवें मनु हैं, जिन्हें वैवस्वत मनु कहा जाता है।[3]

'अग्नि पुराण'[4] में वर्णित प्रलय वृत्त 'शतपथ ब्राह्मण' के प्रलय-वृत्त से मिलता जुलता है। 'शतपथ ब्राह्मण' में देवताओं द्वारा हस्तप्रक्षालन के लिए लाये गये जल से लघु मत्स्य निकला था और 'अग्नि पुराण' में तपस्या के सिलसिले में जल-तर्पण करते हुए। मत्स्य को कलश में रखे जाने की बात दोनों ग्रंथों में है। 'शतपथ ब्राह्मण' में इसे गढे में रखा गया और 'अग्नि-पुराण' में सरोवर में। इसके समुद्र में डाले जाने का वर्णन दोनों ग्रंथों में है। 'अग्नि पुराण' में लिखा है कि समुद्र में छोड़े जाने पर मत्स्य

१—तमेव भृत्वा समुद्रमभ्यवजहार। स य तिथीं तत्समा परिदिदेश त तिथीं स मा नावमुपकल्प्योपासाचक्रे सऽओघ उत्थिते नावमापेदे त ँ समत्स्यऽ उपन्यापुप्लुवे तस्य शृंगे नाव पाश प्रतिमुमोच तेनैतमुत्तरगिरिमतिदुद्राव।—वही, मंत्र ५।

२—स होवाच। अपीपरं वै त्वा वृक्षे नाव प्रतिबध्नीष्व त तु त्वा मा गिरौ सत मुदकमन्तश्छैत्सीद् यावदुदकं समवायात्तावत्तावदन्ववसर्पासीति स ह तावत्तावदेवान्ववससर्प तदप्येतदुत्तरस्यगिरेमनोरवसर्पणमित्यौघो ह ताः सर्वा प्रजा निरुवाहायेह मनुरेवैकः परिशिशिषे।—वही, मंत्र ६।

३—मनु के विशेष परिचय के लिए लेखक का 'हिमालय', वर्ष २, अंक १ में प्रकाशित 'श्रद्धा' नामक लेख देखना चाहिए।

४—अध्याय २, श्लोक ४—१५।

क्षण मात्र में लक्ष योजन विस्तीर्ण हो गया। अद्भुत मत्स्य को देख चकित होकर मनु उससे बोले—'आप कौन हैं, निश्चय ही आप विष्णु हैं, आपको नमस्कार है। किसलिए आप मुझे अपनी माया से मोह रहे हैं।' इसके पश्चात् विष्णु रूप मत्स्य ने मनु से कहा—'सातवें दिन इस जगत् को समुद्र बहा ले जायगा। ऐसी स्थिति में तुम नाव में बीजादि रखकर और सप्तर्षियों के साथ ब्राह्मी निशा में चलना। और मेरे उपस्थित होने पर महासर्परूप रज्जु से नौका को मेरी सींग में बाँध देना।' इतना कहकर मत्स्य अंतर्धान हो गया और मनु प्रलय के दिन की प्रतीक्षा करने लगे। प्रलय आया और उन्होंने मत्स्य के कथनानुसार उपर्युक्त कार्य किया।[1] ऊपर सर्प रूप रज्जु की बात कही गयी है, जो 'शतपथ ब्राह्मण' में नहीं है। 'शतपथ ब्राह्मण' की भाँति बाद की कथा अर्थात् हिमालय की चोटी पर नाव के बाँधने की कथा उसमें नहीं है।

'मत्स्य पुराण'[2] में केवल समुद्र के प्रलय तथा मत्स्य की सींग में नाव के बाँधने की कथा है। उसमें हस्त प्रक्षालन, तर्पण, मत्स्योद्भव की कथा नहीं है।

'महाभारत' के 'वनपर्व'[3] में भी प्रलय की कथा वर्णित है। इसमें उपर्युक्त ग्रंथों के प्रलय-वृत्त के समान ही वृत्त है, कुछ भिन्नता भी है। इसमें भी मनु के हस्त प्रक्षालन तथा तर्पण के जल से मत्स्योत्पत्ति की कथा नहीं है। यहाँ चारिणी नदी के किनारे भींगे वस्त्र जटाधारण किये मनु के पास एक मत्स्य आकर बोलता है।[4] इसमें मत्स्य पात्र और बावड़ी में रहकर गंगा में रहता है, और तब समुद्र में डाला जाता है।[5]

१—सप्तमे दिवसे लब्धिः प्लावयिष्यति वै जगत्।
उपस्थितायां नावि त्वं बीजादीनि विधाय च।
सप्तर्षिभिः परिवृतो निशां ब्राह्मीं चरिष्यसि।
उपस्थितस्य मे शृंगे निबध्नीहि महाहिना।
इत्युक्त्वांतर्दधे मत्स्यो मनुः काल प्रतीक्षकः।
स्थितः समुद्र उद्वेले नाव मारुरुहे तदा।
एक शृंगधरो मत्स्यो हैमो नियुत योजनः
नावं बबंध तच्छृंगे मत्स्याख्यं च पुराणकम्।

—वही, श्लोक १२-१५।

२—अध्याय २, श्लोक १६-१९।

३—अध्याय १८७।

४—स कदाचिच्च पश्यं तमार्द्रचीर जटा धरम्।
चारिणीतीरमागम्य मत्स्यो वचन मब्रवीत्।

—वही, श्लोक ६।

५—वही, श्लोक १९-२१।

'मत्स्यपुराण' की भाँति इसमें भी मनुजगत् के बीजादि तथा सप्तर्षियों के साथ नाव में बैठते हैं। ऊपर उद्धत दोनों पुराणों में तो नहीं परतु 'महाभारत' के इस 'वनपर्व' में 'शतपथ ब्राह्मण' की भाँति हिमालय से नाव के बाँधे जाने का वृत्त है। यह इस प्रकार का है। नाव को खींचते खींचते मत्स्य हिमवत के उच्चतम शिखर पर पहुँचा। वहाँ पहुँच हँसकर वह ऋषियों से बोला—'शीघ्र ही नाव को हिमालय के शिखर से बाँध दो।' मुनियों ने वैसा ही किया। मत्स्य के कथनानुसार हिमालय के जिस शिखर से नाव बाँधी गई थी उसका नाम 'नौबंधन' है।[1]

'बाइबिल' के 'ओल्ड टेस्टामेंट'[2] में भी प्रलय की कथा है, जो इन कथाओं की मूल प्रवृत्ति के समान ही है। इसमें नूह की नाव अरारात पर्वत पर टिकती है।

(३)

ऊपर के विवरण से ज्ञात होता है कि हिमालय के जिस शिखर से मनु की नौका बाँधी गयी थी उसे 'शतपथ ब्राह्मण' में 'मनोरवसर्पण' और 'महाभारत' में 'नौबंधन' कहा गया है। 'अथर्व वेद'[3] में उसे 'नाव प्रभ्रशन' कहा गया है। इससे यह स्पष्ट है कि विभिन्न कालों में उस स्थान को विभिन्न नामों से अभिहित करते थे। वर्तमान समय में उस स्थान का कोई नाम ज्ञात नहीं है। भौगोलिक दृष्टि से वह स्थान कहाँ था, इसका भी पता नहीं।

कुल्लू की घाटी में 'मिनाली' ('मनाली') नामक स्थान है, वहाँ अब भी मनु का मंदिर है। संभव है उक्त स्थान इसी मंदिर के आस-पास कहीं रहा हो।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि केवल 'शतपथ ब्राह्मण' में नौका को वृक्ष में बाँधने की कथा है। कौन वृक्ष था, इसका [पता नहीं। परतु श्रीजयशंकर 'प्रसाद' ने वट-वृक्ष का उल्लेख किया है—

१—चकर्षाऽतद्रितो राजस्तास्मिन्सलिल संचये।
तती हिमवत शृंगं यत्परं भरतर्षभ।
तत्राऽऽकर्षत्ततो नाव स मत्स्यः कुरुनंदन।
अथाऽब्रवीत्तदा मत्स्यस्तानृषीन्प्रहसंशनै'।
अस्मिन्हिमवत. शृंगे नाव बध्नीत मा चिरम्।
सा बद्धा तत्र वैक्षप्रमृषिभिर्भरतर्षभ।
नौर्मत्स्यस्य वचः श्रुत्वा शृंगे हिमवतस्तदा।
तच्च नौबंधन नाम शृंग हिमवत' परम्।

—वही, श्लोक ४७-५०।

२—अध्याय ६—६।

३—१६, ३६, ८।

बँधी महावट से नौका थी सूखे में अब पड़ी रही।
उतर चला था वह जल-प्लावन और निकलने लगी मही।[1]

श्री 'प्रसाद' ने मत्स्य द्वारा उत्तर गिरि तक नाव के ले जाने के प्रसंग का आभास भी इस प्रकार दिया है—

काला शासन-चक्र मृत्यु का कब तक चला न स्मरण रहा,
महा मत्स्य का एक चपेटा दीन पोत का मरण रहा।
किंतु उसी ने ला टकराया इस उत्तर-गिरि के शिर से,
देव सृष्टि का ध्वंस अचानक श्वास लगा लेने फिर से।[2]

(४)

इसका निर्देश किया जा चुका है कि प्रलय की पीठिका पर इड़ा की कथा प्रतिष्ठित है। प्रलय की घटना तथा उसमें मनु की स्थिति का वर्णन भी ऊपर प्रस्तुत है। मनु अब अकेले हिमालय-प्रदेश में विद्यमान हैं। हमने 'शतपथ ब्राह्मण' में प्रलय तथा उसमें मनु की स्थिति का वर्णन देखा है। इसके आगे की कथा उसमें इस प्रकार वर्णित है। मनु संतान की इच्छा से पूजा और तप में लगे। इन दिनों उन्होंने पाक यज्ञ भी किया। उन्होंने जल में घृत, दधि, मस्तु और आमिक्षा की आहुति दी। उससे एक वर्ष में एक स्त्री उत्पन्न हुई। वह पूर्ण विकसित होकर उठी। उसके पद-तल में घृत लगा हुआ था। मित्र और वरुण उससे मिले[3]।

मित्रावरुण ने उससे कहा—'तुम कौन हो।' उसका उत्तर था—'मनु की पुत्री।' उन्होंने कहा—'कहो कि हमारी (कन्या) हो।' उसने कहा—'नहीं, जिसने मुझे उत्पन्न किया मैं उसकी कन्या हूँ।' मित्रावरुण ने उसमें अपने भाग की प्राप्ति की कामना की। उसने अपनी उत्पत्ति में उनके भाग को स्वीकार भी किया और नहीं भी किया, अर्थात् अपनी उत्पत्ति में जितना-जितना भाग मित्रावरुण और मनु का था, उतना-उतना दोनों का स्वीकार किया। वह उनको छोड़कर मनु के पास आई।[4]

१—कामायनी, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४।

२—वही, पृष्ठ १७।

३—सोऽर्च्चञ्छ्राम्यंश्चचार प्रजाकामः। तत्रापि पाकयज्ञेनेजे स घृतं दधि मस्त्वामिक्षामित्यप्सु जुहवाञ्चकार ततः संवत्सरे योषित् संबभूव सा ह पिब्दमानेवोदेयाय तस्यै ह स्म घृतं पदे संतिष्ठते तया मित्रावरुणौ सञ्जग्माते।

—कांड, १ अध्याय ८, ब्राह्मण १, मंत्र ७।

४—ता ँ होचतुः कासीति। मनोर्दुहितेत्यावयोर्ब्रूष्वेति नेति होवाच य एव मामजीजनत तस्यैवाहमस्मीति तस्यामपि त्वमीषाते तद्वा जज्ञौ तद्वा न जज्ञावति त्वेवेयाय सा मनुमाजगाम।—वही, मंत्र ८।

मनु ने उससे पूछा—'तुम कौन हो ?' 'आपकी कन्या'—उसने उत्तर दिया। मनु ने प्रश्न किया—'भगवती, तुम मेरी कन्या कैसे हुई ?' उसने उत्तर दिया—'आपने जल में घृत, दधि, मस्तु और आमिक्षा की जो आहुति दी थी उन्हीं से आपने मुझे उत्पन्न किया। मैं 'आशी' के रूप में उत्पन्न हुई हूँ, यज्ञ के अवसर पर मेरा उपयोग कीजिये। यदि आप यज्ञ में मेरा उपयोग कीजियेगा तो आप बहुप्रजा और बहुपशु युक्त होइयेगा। मेरे द्वारा जिन आशीषों की कामना करियेगा उन सब की प्राप्ति आपको होगी, यथोक्त प्रकार से मनु ने यज्ञ के मध्य में उसका उपयोग किया।[1]

सतानेच्छा से मनु उसके साथ अर्चना और साधना करते गये। उसकी सहायता से मनु ने इस वंश की—इस मनु वंश की उत्पत्ति की, और जिस जिस 'आशी' की कामना उन्होंने उसके द्वारा की सबकी प्राप्ति हुई।[2]

आगे के मंत्र में कहा गया है—निश्चय ही मनु की यह कन्या इड़ा ही है। इसे जानते हुए इड़ा के साथ जो भी यजन करता है वह मनु द्वारा उत्पन्न वंश को उत्पन्न करता है—उसकी (मनु के वंश की) वृद्धि करता है; और इसके द्वारा जिस भी 'आशी' की कामना करता है उसकी प्राप्ति उसे होती है।[3]

इस मंत्र में 'इड़याचरति' आया है। इसके दो तात्पर्य हैं। एक तो यह कि जो 'इड़ा' (नारी) के साथ 'आचरता' है—निवास करता है। दूसरा यह कि जो 'इड़ा'—पशु के साथ, पशु का उपयोग करके, यज्ञ करता है। आगे के मंत्र में इड़ा को पशु कहा है।[4]

'शतपथ ब्राह्मण' में ऊपर कही गयी दो एक बातें दुहरायी भी गयी हैं। जैसे, कहा गया है कि मनु की पुत्री मानवी घृतपदी है। निश्चय ही मनु ने उसे प्राचीन काल में उत्पन्न किया था, इसी से वह मानवी—मनु की पुत्री—है। उसके पदतल में घृत लगा है, इसलिए वह घृतपदी है।[5] वह मैत्रावरुणी है, क्योंकि मित्र और वरुण से मिलती थी।[6]

१—वही, मंत्र ६।

२—वही, मंत्र १०।

३—सैषा निदानेन यदिडा। स यो हैवं विद्वानिडयाचरत्येता ँ हैव प्रजाति प्रजायते या मनु प्राजायत यामवेनयाका चाशिषमाशास्ते सास्मै सर्वा समृद्ध्यते।—वही, मंत्र ११।

४—वही, मंत्र, १२।.... ......पशवोवाइडा...।

५—मानवी घृतपदीति। मनुर्ह्येतामग्रेऽजनयत तस्मादाह मानवीति घृतपदीति यदेवास्यै घृतं पदे समतिष्ठत तस्मादाह घृतपदीति।—वही, मंत्र २६।

६—उत मैत्रावरुणीति। यदेव मित्रावरुणाभ्या ँ समगच्छत सऽएव मैत्रावरुणी ....—वही, मंत्र २७।

पुराणों में भी इड़ा, मनु और मित्रावरुण की कथा पारस्परिक रूप से संबद्ध होकर आयी है। यहाँ मनु से तात्पर्य वैवस्वत मनु से है। पुराणों में प्रलय की कथा इन्हीं से संबद्ध है, इसे हम देख चुके हैं। 'शतपथ ब्राह्मण' तथा पुराणों में उक्त व्यक्तियों से संबद्ध कथा में कुछ अंतर तो अवश्य है परंतु कथा की मूल प्रवृत्ति समान ही प्रतीत होती है।

पुराणों में वर्णित यह कथा इस प्रकार की है। प्रजापति वैवस्वत मनु ने पुत्र की इच्छा से यज्ञ में मित्रावरुण के अंश की आहुति डाली। परंतु पुत्र न उत्पन्न हुए, यज्ञ से दिव्यांबर और दिव्याभरण से सुशोभित तथा दिव्य आसन पर विराजमान इड़ा उत्पन्न हुई। तब दंडधर मनु ने उस इड़ा से कहा– 'भद्रे मेरे साथ आओ।' इस पर वह बोली—'आपका कथन धर्मयुक्त है। परंतु पुत्र की कामना से प्रजापति द्वारा किये गये यज्ञ में मित्र और वरुण के लिए डाली गयी आहुति के अंश से मैं उत्पन्न हूँ, मैं उन्हीं के पास जाऊँगी, आपकी आज्ञा का पालन मैं न कर सकूँगी।' मित्रावरुण के पास जा हाथ जोड़कर इड़ा बोली—'आप दोनों के अंश से मैं उत्पन्न हूँ, कहिए मैं क्या करूँ।' मित्रावरुण ने कहा—'तुम्हारे धर्म, विनय, दम और सत्य से हम प्रसन्न हैं। हम दोनों की कन्या के रूप में तुम प्रसिद्ध रहोगी और मनु के वंश का विवर्धन करनेवाले सुद्युम्न के रूप में भी तुम्हीं होओगी।' इसके पश्चात् वह अपने पिता मनु के पास चली। मार्ग में उसका संबंध बुध से हुआ, जिससे उसने पुरुरवा को जन्म दिया। इसके बाद उसने सुद्युम्न का रूप धारण कर लिया। यह कथा 'शिवमहा पुराण,'[१] 'हरिवंश पुराण'[२] 'विष्णु पुराण'[३] 'श्री मद्भागवत महापुराण,'[४] 'वायु पुराण,'[५] 'ब्रह्म पुराण'[६] आदि में प्राप्त है।

इससे यह स्पष्ट है कि 'शतपथ ब्राह्मण' की भाँति इड़ा मनु तथा मित्रावरुण दोनों की कन्या है। अंतर इतना है कि 'शतपथ ब्राह्मण' में इड़ा अपने को मुख्यतः मनु की कन्या कहती है और पुराणों में मित्र और वरुण की। पुराण की कथा के अनुसार वह बाद में पुत्र का रूप—सुद्युम्न का रूप—धारण करती है। 'शतपथ ब्राह्मण' में मनु संतान की इच्छा से यज्ञ करते हैं और पुराण में पुत्र की इच्छा से।

१—उमा संहिता, अध्याय ३६।

२—अध्याय, १०।

३—अंश ४, अध्याय १।

४—स्कंध ९, अध्याय १।

५—अध्याय ८५।

६—अध्याय ७।

(६)

आचार्य शंकर 'प्रसाद' ने इड़ा, मनु और मित्रावरुण की उपर्युक्त कथा का ग्रहण नहीं किया है। उनके द्वारा वर्णित मनु में 'प्रजाकाम' के कहीं दर्शन नहीं होते हैं। इसके विपरीत श्रद्धा से सन्तानोत्पत्ति अथवा पुत्रोत्पत्ति से उनमें ईर्ष्या का उदय हुआ और वे अपना जीवन दु:खमय बना बैठे। वे सन्तानेच्छा से यज्ञ करते भी नहीं देखे जाते। पाक यज्ञ वे अवश्य करते हैं—

पाक यज्ञ करना निश्चित कर लगे शालियों को चुनने।
उधर वह्निज्वाला भी अपना लगी धूमपट थी बुनने।[1]

हाँ एकांत उन्हें अवश्य खलता है—

कब तक और अकेले? कह दो हे मेरे जीवन बोलो?
किसे सुनाऊँ कथा? कहो मन, अपनी निधि न व्यर्थ खोलो![2]

परन्तु यह एकांत सन्तान के लिए नहीं खलता, समवयस्क साथी के लिए खलता है, जिससे सुख दु:ख कहा जा सके।

अभिप्राय यह कि 'कामायनी' में मित्र और वरुण की कथा बिलकुल नहीं है। इड़ा की कथा है, मगर वह मनु की पुत्री नहीं है, मानव की उत्पत्ति के पश्चात् वे घर से भागते हैं और उन्हें इड़ा सारस्वत नगर में मिलती है।

(७)

मनु सारस्वत नगर में इड़ा की सहायता से शासन स्थापित करते हैं। और प्रजा के शासक होने के कारण वे 'प्रजापति' कहाते हैं। 'कामायनी' में अनेक स्थलों पर उन्हें इस नाम से अभिहित किया गया है।[3] जिन पुराणों का नाम हमने ऊपर लिया है उनमें तथा अन्य पुराणों में भी वैवस्वत मनु 'प्रजापति' कहे गये हैं।[4] 'वाजसनेयि संहिता'[5] में भी मनु 'प्रजापति' के रूप में स्मरण किये गये हैं। अभिप्राय यह कि मनु और प्रजापति की एकता अनेक स्थलों पर स्वीकृत है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इड़ा से मनु का परिचय सारस्वत नगर में हुआ। उसकी

१—कामायनी, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३२।

२—वही, पृष्ठ३७।

३—पृष्ठ १५४, १५५, १६२, १६४ आदि।

४—लेखक का 'श्रद्धा' नामक निबंध, हिमालय, वर्ष २, अंक १।

५—आकूतिमग्निं प्रयुजं स्वाहा मनो मेधामग्निं प्रयुजं स्वाहा चित्तविज्ञातमग्निं प्रयुजं स्वाहा वाचोविधृतिमग्निं प्रयुजं स्वाहा प्रजापतये मनवे स्वाहाग्नये वैश्वानराय स्वाहा।—अध्याय ११, कण्डिका ६६।

सहायता से उन्होंने इस नगर को समृद्ध बनाया और यहाँ के प्रजापति हुए। सारस्वत प्रदेश में शासन और समृद्धि की स्थापना के पश्चात् 'कामायनी' में मनु की दृष्टि इड़ा के प्रति खराब हुई, वे उसके शारीरिक सौंदर्य की ओर आकृष्ट हुए और उस पर अधिकार करना चाहा, इस पर देवताओं का कोप मनु पर हुआ। वहां की प्रजा भी कुपित हुई। दोनों में युद्ध हुआ। प्रजा के नेता असुर पुरोहित आकुलि और किलात थे। युद्ध में मनु की हार हुई। इस प्रकार की घटनाएँ 'कामायनी' में घटित होती हैं।

'शतपथ ब्राह्मण' में हम देख चुके हैं कि इड़ा मनु की कन्या है। हम यह भी देख चुके हैं कि मनु और प्रजापति समान हैं। 'शतपथ ब्राह्मण' में प्रजापति का अपनी दुहिता के प्रति आकृष्ट होने की कथा मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'कामायनी' में जहाँ तक इड़ा के प्रति मनु के आकृष्ट आदि होने की कथा है वहाँ तक यह 'शतपथ ब्राह्मण' से ही गृहीत है। अंतर इतना ही है कि 'शतपथ ब्राह्मण' में इड़ा मनु की कन्या है और 'कामायनी' में सारस्वत प्रदेश की शासन प्रेरिका।

'शतपथ ब्राह्मण' में यह कथा इस प्रकार की है। प्रजापति को अपनी कन्या के ही प्रति कामेच्छा हुई। 'क्या मैं उसका आलिंगन कर सकता हूँ' इस प्रकार सोचते हुए उन्होंने उसका आलिंगन किया।[1] देवताओं की दृष्टि में निश्चय ही यह पाप था। उन्होंने सोचा—'जो अपनी कन्या, हमारी भगिनी, के प्रति ऐसा आचरण करता है, वह पाप करता है।[2] तत्पश्चात् देवताओं ने इस देवता पशुपति अर्थात् रुद्र से कहा—'निश्चय ही यह पाप करता है, जो अपनी कन्या, हमारी भगिनी के प्रति इस प्रकार का आचरण करता है। उसे विद्ध करो।' रुद्र ने ऐसा ही किया। उसका आधा बीज भूमि पर गिर पड़ा।[3] प्रजापति का अपनी दुहिता के प्रति आकृष्ट होने की कथा 'तांड्य ब्राह्मण'[4] में भी मिलती है।

१—प्रजापतिर्ह वै स्वां दुहितरमभिदध्यौ। दिवं वोषसं वा मिथुन्येनयास्यामिति तां॒ संबभूव।—कांड १, अध्याय ७; ब्राह्मण ४, मंत्र १।

२—तद्वै देवानामागऽआस। यऽइत्थ॒ स्वां दुहितरमस्माक॒ स्वसारं करोतीति।
—वही, मंत्र २।

३—तेह देवा ऊचुः। योऽयं देवः पशूनामीष्टेऽतिसंध वाऽअयं चरति यऽइत्थ॒ स्वां दुहितरमस्माक॒ स्वसारं करोति विध्येममितित॒ रुद्रोभ्यायत्य विव्याध तस्य सामि रेतः प्रचस्कंदतथ न्नूनं तदास।—वही, मंत्र ३।

४—प्रजापतिरुपसमध्यैत्स्वां दुहितरं तस्यरेतः परापतत्..........—खंड २, अध्याय ८, मंत्र १०।

(८)

'शतपथ ब्राह्मण' की इस कथा का काव्यात्मक वर्णन 'कामायनी' में प्राप्त है—

आलिंगन ! फिर भय का क्रंदन ! वसुधा जैसे काँप उठी !
वह अतिचारी, दुर्बल नारी परित्राण पथ नाप उठी !
अंतरिक्ष में हुआ रुद्र हुँकार भयानक हलचल थी ।
अरे आत्मजा प्रजा ! पाप की परिभाषा बन शाप उठी ।
उधर गगन में क्षुब्ध हुईं सब देव शक्तियाँ क्रोध भरी,
रुद्र नयन खुल गया अचानक, व्याकुल काँप रही नगरी ,
अतिचारी था स्वयं प्रजापति, देव अभी शिव बन रहे !
नहीं, इसी से चढ़ी शिंजनी अजगव पर प्रतिशोध भरी ![1]

× × × +

अंतरिक्ष में महाशक्ति हुंकार कर उठी
सब शस्त्रों की धारें भीषण वेग भर उठीं ।
और गिरीं मनु पर, मुमूर्ष वे गिरे वहीं पर,
रक्त नदी की बाढ़ फैलती थी उस भू पर ।[2]

'कामायनी' में मनु के वीर्यपात की बात नहीं है ।

(९)

श्रीजयशंकर 'प्रसाद ने इड़ा को बुद्धि अथवा बुद्धिवाद के प्रतीक के रूप में ग्रहण किया है। यदि कथा की दृष्टि से भी प्रसाद' की दृष्टि इड़ा की समानाभिधेय बुद्धि पर रही हो तो बुद्धि की कथा पुराणों में प्राप्त होती है। इनमें यह श्रद्धा की भगिनी के रूप में वर्णित है। कथा इस प्रकार चलती है। दंपती स्वायंभुव और शतरूपा ने प्रिय व्रत और उत्तानपाद नामक दो पुत्र तथा प्रसूति और आकूति नामक दो कन्याएँ उत्पन्न कीं। प्रसूति का विवाह दक्ष से हुआ। प्रसूति और दक्ष से चौबीस कन्याएं उत्पन्न हुई, जिनमें से प्रथम तेरह के नाम ये हैं; इनसे धर्म ने विवाह किया था—श्रद्धा, लक्ष्मी, धृति, तुष्टि, मेधा, क्रिया, बुद्धि, लज्जा, वपु, शान्ति, सिद्धि और कीर्ति। शेष ग्यारह कन्याओं के नाम इस प्रकार हैं—ख्याति, सती, सम्भूति, स्मृति, प्रीति, क्षमा, सन्नति, अनसूया, ऊर्जा, स्वाहा और स्वधा। इनका विवाह क्रमशः इन ऋषियों से हुआ—भृगु शिव, मरीचि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, अत्रि, वसिष्ठ। अग्नि, और पितरोधर्म ने

१—प्रथम संस्करण, पृष्ठ १८५।
२—वही पृष्ठ, २०२।

बुद्धि से बोध नामक पुत्र उत्पन्न किया। 'विष्णु पुराण,'[1] 'वायु पुराण,'[2] 'कूर्म-पुराण,'[3] तथा 'मार्कंडेय पुराण,'[4] में यह कथा समान रूप से मलती है। 'श्रीमद्भागवत पुराण'[5] में लिखा है कि दक्ष और प्रसूति से सोलह ही कन्याएँ उत्पन्न हुईं, अन्य पुराणों की भाँति चौबीस नहीं। इस पुराण में भी इनमें से तेरह का व्याह धर्म से हुआ, एक का अग्नि से, एक का समस्त पितृगण से और एक का भगवान् शंकर से। धर्म की तेरह पत्नियों के नाम ये हैं—श्रद्धा, मैत्री, दया, शांति, तुष्टि, पुष्टि, क्रिया, उन्नति, बुद्धि, मेधा, तितिक्षा, ह्री और मूर्ति। इस पुराण में वर्णित धर्म की पत्नियों के नामों तथा अन्य पुराणों में वर्णित धर्म की पत्नियों के नामों में अंतर है। परंतु सभी में श्रद्धा और बुद्धि के नाम हैं। इसमें बुद्धि से अर्थ नामक पुत्र उत्पन्न होता है, बोध नामक नहीं, जैसा कि अन्य पुराणों में वर्णित है।

यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि 'कामायनी' में इड़ा की कथा की स्थापना में श्री'प्रसाद' की दृष्टि पुराणों की (इडा की प्रतीक) इस बुद्धि पर भी थी तो इससे इड़ा, श्रद्धा, मनु और मानव के संबंध के विषय में भी बातें स्पष्ट हो जाती हैं। ऐसी स्थिति से इड़ा श्रद्धा की भगिनी, मनु की श्यालिका और मानव की मातृस्वसा के रूप में प्रतिष्ठित होती है।

विभिन्न स्थलों से प्राप्त इड़ा वृत्त हमारे संमुख है। 'कामायनी' में वर्णित इड़ा की कथा से भी हम अपरचित नहीं हैं। इससे ज्ञात होता है कि विभिन्न स्थलों से इड़ा के सूत्र को अपनी आवश्यकता के अनुसार ले और उसमें पूरी स्वतंत्रतापूर्वक परिवर्तन कर श्री'प्रसाद' ने 'कामायनी' में उसका संचालन किया है। उन्होंने कहीं से कुछ, कहीं से कुछ लेकर इड़ा की कथा की रेखाएँ खींची हैं और उनमें काव्य की रंगीनी भरी है। इसी प्रकार उन्होंने इड़ा की कथा का रूप-निर्माण किया है।

(१०)

'कामायनी' में इड़ा के चरित्र का स्वरूप भी वैदिक, पौराणिक तथा कोश-ग्रंथों में प्राप्त इड़ा के चारित्रिक और प्रतीकात्मक स्वरूपों के आधार पर ही प्रतिष्ठित किया गया है।

हमने देखा है कि 'शतपथ ब्राह्मण' में इड़ा एक स्थान पर मनु से कहती है कि यदि आप यज्ञ के अवसर पर मेरा उपयोग कीजियेगा तो बहुप्रजा और बहुपशुयुक्त होइ-

१—अंश १, अध्याय ७।

२—अध्याय १०।

३—अध्याय ८।

४—अध्याय ५०।

५—स्कंध ४, अध्याय १।

येगा, क्योंकि मैं 'आशी' के रूप में उत्पन्न हुई हूँ। इड़ा की इन विशेषताओं के कारण हम उसे समृद्धि का प्रतीक मान सकते हैं। 'कामायनी' में सारस्वत प्रदेश की समृद्धि इड़ा के पथ प्रदर्शन का ही परिणाम है। 'ऋग्वेद'[१] में 'यह प्रजापति मनु की पथ-प्रदर्शिका मनुष्यों का शासन करनेवाली कही गयी है।' इस प्रकार वह मनु के लिए प्रेरक शक्ति और प्रजा के लिए शासन संचालिका के रूप में प्रतिष्ठित होती है। 'कामायनी' में भी इड़ा का यह रूप मिलता है—

> इड़ा अग्नि ज्वाला सी आगे जलती है उल्लासभरी,
> मनु का पथ आलोकित करती विपद्-नदी में बनी तरी,
> उन्नति का आरोहण, महिमा शैल-शृंग सी, श्रांति नहीं,
> तीव्र प्रेरणा की धारा सी बही वहाँ उत्साह भरी।[२]

इड़ा के प्रति मनु का वचन है—

> तुम कितनी प्रेरणामयी हो जान चुका सब।[३]

ऊपर हमने कहा है कि पुराणों में वर्णित बुद्धि को इड़ा के रूप में स्वीकार कर इड़ा को बुद्धि का प्रतीक माना जा सकता है। 'कामायनी' में भी मनु एक स्थान पर कहते हैं—

> अवलम्ब छोड़कर औरों का जब बुद्धिवाद को अपनाया।
> मैं बढ़ा सहज, तो स्वयं बुद्धि को मानो आज यहाँ पाया!![४]

यहाँ 'स्वयं बुद्धि' इड़ा को ही कहा गया है। पुराणों में हमने देखा है कि बुद्धि से 'बोध' की उत्पत्ति होती है। अभिप्राय यह कि बुद्धि का फल बोध है। बोध की सीमा बहुत व्यापक है। इसके अंतर्गत समाज और जीवन संबंधी सभी प्रकार की शक्तियों कर्तव्यों, दायित्वों, आदि का बोध अथवा यथार्थ ज्ञान आता है। ज्ञान, विज्ञान, साहित्य कला आदि का स्वरूप ज्ञान भी इस बोध से परे नहीं है। हम देखते हैं कि सारस्वत प्रदेश की प्रजा और मनु में भी उक्त प्रकार का बोध इड़ा (बुद्धि) द्वारा होता है।

कोश-ग्रंथों में भी इड़ा के अनेक रूपों में से एक रूप वाणी का भी है, निश्चय ही

१—इडामकृण्वन्मनुषस्य शासनीम्।
—मंडल, १, अनुवाक ३१, सूक्त ११।
'कामायनी' के 'आमुख' से उद्धृत।

२—प्रथम संस्करण, पृष्ठ १८१।

३—वही पृष्ठ, १६३।

४—वही पृष्ठ, १७२।

जिसका संबंध विद्या-बुद्धि से है। 'वाचस्पत्य,'[1] 'मेदिनी,'[2] 'अमर'[3] आदि सभी कोशों में इड़ा का यह रूप प्राप्त है। कोश-ग्रंथों में इड़ा के इस रूप की स्थापना वैदिक तथा लौकिक संस्कृत के ग्रंथों में आये इड़ा के उल्लेखों के आधार पर है। श्रीजयशंकर 'प्रसाद' ने ऋग्वेद में आये इड़ा के इस रूप के प्रायः सभी उल्लेखों को प्रस्तुत किया है, जो द्रष्टव्य हैं।[४]

इस प्रकार ज्ञात होता है कि 'कामायनी' में इड़ा का स्वरूप-निर्माण अनेक स्थलों से गृहीत इसके चरित्रिक तथा प्रतीकात्मक रूपों के आधार पर है। 'कामायनी' में श्री 'प्रसाद' ने एक स्थान पर इड़ा का ऐसा अंकण किया है जिससे उसके रूप की सभी रेखाएँ झलक जाती हैं—

> बिखरीं अलकें ज्यों तर्क-जाल
> वह विश्व मुकुट सा उज्ज्वलतम शशि-खंड सदृश था स्पष्ट भाल
> दो पद्म पलाश चषक से दृग देते अनुराग विराग ढाल
> गुंजरित मधुप से मुकुल सदृश वह आनन जिसमें भरा गान
> वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान ज्ञान
> था एक हाथ में कर्म कलश वसुधा जीवन रससार लिए
> दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलंब दिए
> त्रिवली थी त्रिगुण तरंगमयी, आलोक वसन लिपटा अराल
> चरणों में थी गतिभरी ताल।[५]

इड़ा की ये मूल प्रवृत्तियाँ हैं, अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में पड़कर जिनके सहारे वह उठती-गिरती है। उसका उठना-गिरना सापेक्षिक भी है और इसमें मनु तथा श्रद्धा का भी हाथ है। ये तो उसके चरित्रांकण के प्रसंग हैं, जो यहाँ अभीष्ट नहीं।

१—गविवाचि भूमौ नाड़ी भेदे हविरन्ने देवी मेदे।
२—इला कलत्रे सौमस्य धरित्र्यां गवि वाचि च।
३—गो भू वाचस्त्विडा इला।
४—कामायनी ; प्रथम संस्करण, आमुख, पृष्ठ ५।
५—पृष्ठ, १६८।

शमशेरबहादुर सिंह

स्मृति के अंक

१. पथ और दिशा

कुछ अच्छा नहीं लग रहा था। कोशिश थी, कुछ अच्छा लगे। जेब में कुल दो पैसे थे। अमीनाबाद पार्क की दूकानें थीं। सब फिजूल था। फीका फीका।

फिर भी तबीयत को लगा रहा था। क्योंकि एक दोस्त साथ में थे। कोई रूप-सौंदर्य भी आँखों में गड़ता हुआ कहीं नजर न आता था। न उसका वक्त ही था, शायद। पूरी शाम अभी नहीं हुई थी।

एक छोटी सी दूकान पर दोस्त ने एक बैट्री खरीदी। सही दाम चुकाए। इधर उधर से लोग गुजरे। कुछ मर्द, एकाध महिलाएँ। एका दुका फकीर।

सब तरफ वही मस्तापन।

दो तीन उर्दू की किताबें देखना चाहता था, पर जेब में हाथ ठंडे थे। 'छै तारीख' 'सात तारीख' पर ध्यान जरा देर अटक गया। उस दिन उधार का एक मनीआर्डर आयेगा। यह-वह दो-तीन काम। और क्या? वही नीरसता। हवा में एक अदृश्य भारीपन। अपने अंदर ठहरी हुई सूखी सूखी धूल-सी।

अनिश्चित कदम उठ रहे थे। दोस्त के साथ था, धुँधली भावना की एक टेक थी।

मैं ऊबता भी नहीं रहा था। सोचकर हँसी आती है।

इतने में दोस्त को महाशय—दिखाई दिये। 'अरे—महाशय जी!—महाशय जी!'

आखिर उत्साह मैंने भी अनुभव किया। उनको मैं भी जानता था। मिला। इस जमाने में भी—महाशय जी पूर्ववत् हँसोड़, रसिक और रसिकता प्रिय हैं। दो शिष्य संग थे।

दोस्त ने खाने पीने का तकाजा किया। पानों पर बात खत्म हुई, खैर। अब अलग होना था।

—महाशयजी फलाँ कवि के यहाँ जा रहे थे। बेकार, महज यारबाशी, जहाँ तक मैंने आँका। कविता से अरुचि मुझे नहीं। शाम हो रही थी। दिल कविता के रसास्वादन पर झुक चला। मगर दोस्त के साथ था। वह छुटकारे की राह में जान पड़े। उनका एक प्रोग्राम था। मैंने—महाशयजी से माफी माँगी।

दोस्त, मेरा मन देख, कह उठे—नहीं, नहीं, तुम जाओ। मुझे एक जरूरी काम है।

इस शाम का न कोई रूप था, न इसमें कोई मंशा थी। जो आये, आये : जो हो हो। भीड़ की एक गति है, उस गति में हम गोया तिनके थे, क्या मालूम !

हम चार थे। इक्का एक करना था। किया गया। चौराहे पर एक साहब ज़रा उतर जाएँगे, तय हुआ। चले।

इक्के पर कुछ मजाक मिला, कुछ खुलासा परिचय। शब्दों में बड़ी प्रसन्नता। चेहरों पर सुख की रेखाएँ भी, अगर कोई देखे। मन में अज्ञात का भार।

एक दूसरे को एक दूसरे के व्यक्तित्व कुछ स्पष्ट हुए। कुछ। हममें—महाशयजी ही शायद सुखी, खुले लगते थे, बल्कि ज़रा संतुष्ट भी।

इस प्रकार हँसते बात करते चलते गये।

निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचे तो मालूम हुआ, कवि महोदय के भाई आये हुए थे। उन्हीं के साथ बाहर चले गये हैं। हम लोगों ने देरी की।

पर क्या हुआ, दो घटे वहीं जमें। शेरो-शायरी की चर्चा छिड़ी। सितार उठाया गया। कवि के बड़े साहबजादे इसके खास शौकीन हो गये थे इन दिनों। तबले पर भी उनके हाथ के जौहर खुले। अवसर मजे का देखकर उनके सितार के उस्ताद एक 'पंडितजी' भी बुला लाये गये।

पहले—महाशयजी की दो दो बातें उनसे हुई : ब्राह्मणत्व, खान-पान, आचार-विचार पर एक बहुत हलका सा विवाद; यों ही, तफरीहन। 'पंडितजी' कश्मीरी पंडित थे, और महाशयजी जाति के मिश्र। वगैरह-वगैरह। मतलब यह कि सभ्य आदमियों की तरह सबके साथ सब कुछ खा-पी लेने का नियम दोनों के धर्म में जायज था।...

मानता हूँ अब, मजा आया और सरूर भी। हालाँकि, तान और मींड़ में कलाकार की उपज क्या थी, सो मैं क्या समझता। क्योंकि समाँ बँधा और फिर टूट गया। पलकों में तरलता, दिलों में एक रंगीन-सी मस्ती हुई। हम सब एक समान अनुभव में ज़रा खो गये थे। उससे हरेक के व्यक्तित्व का भार हलका हुआ। मैंने साँस ली।

और वह जो एक तरफ मसनद के किनारे एक छोटा लड़का, बहुत प्यारा और हसीन, बैठा हुआ था, वह अनुपस्थित कवि का नेवासा था। मैं कभी-कभी उसे देखकर सोचता—क्या वह भी कवि होगा ? या गायक ? या, योंही बस बड़ा होकर रह जायगा ? इन विचारों के साथ वह सौंदर्य मुझे नीरस लगा। बेकार। खेद, खेद कि वह एक सिपाही भी न हो सकेगा, शायद !

लेकिन, कौन जानता है, कैसा जमाना आ रहा है। एक मजबूत सिपाही तो उसको

कम से कम बनना होगा ही। बारूद और मिट्टी में एक गुलाब की कली सा वह था, जो कल ही रौंदी जा सकती है।

हम लोग उठे।

समय नष्ट नहीं हुआ, प्रसन्न थे, बल्कि संतुष्ट।

वापसी में दो इक्के हुए, और दो दिशाओं के लिए। मैं—महाशयजी के साथ।

अमीनाबाद में फिर।

अब कुछ खाना हो ' क्या हो !

नहीं नहीं। यह बात—यह बात। अच्छा अच्छा तो—

इसी बीच एक सज्जन, दुबले पतले, गले पड़े। उनके हाथ में—महाशयजी के नाम कई पत्र थे। उनमें किसी चिरंजीव का कलकत्ते से एक लंबा चिट्ठा भी।

साथ-साथ रेस्त्राँ में। रबड़ी मुझको बहुत पसंद है। अस्तु, मँगवायी बेतकल्लुफ।

वह दुबले-पतले सज्जन जेल से फिलहाल जमानत पर छूटे हुए थे। २३ को उनका मुकदमा होगा। जेल निश्चय। षड्यन्त्रकारियों के दल में पहले काम कर चुके थे। मुझे वह काफी सरल चित्त जान पड़े, स्वभाव से किंचित सतर्क और स्वभाव से किंचित मूर्ख भी।

इनका कुलफियों पर इसरार था। ली गयीं।

—महाशयजी तटस्थ रहे। किफायत।

और वह इस समय अधिक चिंतित थे, और मैं बहुत कम।

—महाशयजी का घर अमुक सड़क की अमुक गली में आठ दफा मोड़ से घूमकर मिलता है।

वह काला-काला अँधेरा, उसमें वह हँसी का चिराग, यानी वह स्वयं। जिसके पास बैठा हुआ मैं किंचित कम, अज्ञान सुखी ही अधिक, भटका हुआ सा मगर शांत।

लालटैन की मद्धिम रोशनी में देखा, कमरा क्या था दफ्तर था फर्श पर बिखरा हुआ किताबों और जिल्दों का एक छोटा मोटा संग्रहालय, जिसके बीच हम तीन भी गोया कुछ वैसी ही चीज थे।

—महाशयजी ने एक सुपरिचित पत्रकार पर व्यंग की एक पत्र बद्ध कविता सुनायी, जो मैंने गर्दन आगे बढ़ाकर सुनी, और जिसकी मैंने बाकायदा दाद दी। चीज वास्तव में थी रोचक, और वह प्रसिद्ध पत्रकार भी मेरे विचार से पूरा हमबुग ही था।

लगभग १० बजते होंगे। जेली दोस्त का प्रस्ताव था, कि महफिल बरखास्त की जाय।

सो अब पास हुआ।

—महाशयजी के दफ्तर से एक अमुक कवि के संग्रह पढ़ने के लिए। जो कुछ आपत्ति के साथ मुझे दे दिये गये। लुनाचे समय पर उन्हें लौटाने के मैंने मुनासिब वादे किये।

अस्तु हम लोग उठे। नमस्कार-नमस्कार।

खुद-ब-खुद मेरे दिल में एक उमंग और उत्साह भरता जा रहा था, और कदम में तेजी। हमराही से बातें भी जारी थीं। बिलकुल यों ही।

फिर अमीनाबाद का पार्क आ गया।

अब तो बस जेल के बाद ही आपके दर्शन होंगे। नमस्ते।

हाँ। नमस्ते। जल्दी ही वह अपनी दिशा की ओर मुड़ गये, गंभीर या प्रसन्न, मुझे पता नहीं। क्योंकि इस समय मैं स्वयं एक अवश्य प्रसन्नता से उत्तेजित-सा हो रहा था। बगल में दबी रचनाओं के ओज और चमत्कार का ध्यान ही मुझे स्फूर्तिमय कर रहा था। दिल उनका मजा ले-ले कर अंदर ही अंदर कह रहा था—वाह-वा!

मगर मुझे रात में बहुत देर तक अपने द्वार का कुंडा खटखटाना पड़ा। क्योंकि ग्यारह बज चुके थे।

तकिये पर सर रखकर मैं सोचने लगा कि वास्तव में हममें से किसी ने भी इन सब घंटों में आज क्या अर्जन किया था? ईमानदारी की बात: क्या प्रेम? क्या सुख? क्या ज्ञान? क्या बल? क्या शांति?

२—नन्हींबाई

यह दिन गलत बीता। उम्र का यह हिस्सा जो आज का एक दिन कहलाया, बिलकुल ग़लत बीता। इस आज का समझना, इस आज का रंग-रूप अपनी आँखों में भरना, अपनी रूह में फैलाना, एक खुशबू या एक मसर्रत की तरह—न हुआ, यह न हुआ; और आधी रात हो आयी।

वह आया था और आज चला गया।

मैं न जान सकी उसका नाम भी, उसका खुलासा पता भी।

कमसिन, होंटों पर बल, पलकों में होशियारी और बा खबरी, गालों पर एक हँसी। उसकी चाल में एक अनजान मोहकता। उसके बदन में एक फुर्ती। उसके अंदाज़ में आगे उठकर देखने, बढ़कर आगे चलने, का एक रुख था। उसके तमाम जिस्म में एक ऐसी शर्म-सी थी जो वह मुझे सौंपता मालूम होता था। वह मेरे दिल की एक चीज बन गया था। एक नया हसीन चिराग़, जो मैंने खुद गोया अपनी ही नजर से बचाकर बड़ी सुंदर कल्पना के एक ताक़ में सँवार कर रख दिया था, कि मैं उसको शाम से पहले ही कहीं न जला दूँ।

मेरे दिल में उसकी इतनी अधिक लौ थी।

वह एक किस्से की भूमिका बनकर आया था। कहानी शुरू भी न हुई थी कि वह हसीन मेहमान रुख्सत हो गया।

मैं उससे कुछ पाना चाहती थी। मगर क्या पाया? उसका शिष्ट स्वभाव, उसका हँसता हुआ दिल, उसकी छिपी हुई सादगी?

सिर्फ उसके निगाहों की दोस्ती, उसके दिल का सीधा-सादा नशा : यह भी मेरा कहाँ हुआ?

हाँ उसकी खाली तस्वीर सी घुल-घुल याद के बीच सजकर मेरे दिल की उदास रंगीनी बन गयी है।

तब किस तरह मैं ज्यादा से ज्यादा इस उदास रंगीनी, इस 'मैं' के बजाय उस सादा व्यक्तित्व के 'उस' को अपनाऊँ!—यह जो आज अकेलेपन का एक गहरा साया मुझ पर डालकर मुझे और ज्यादा सिर्फ 'मैं' बना गया है, ऐसा मजबूर और लाचार 'मैं,' जिससे मुझे अक्सर डर लगता है, जो मौत की नींद के पीछे छिपे हुए अंधकार के आलम का हिस्सा है।

(आ)

जब मैं सोकर उठी, मुझे लगा कि उसने अभी अभी मुझसे लिपटकर विदा ली। अपने अंदर मुझे फूलों का-सा हलकापन, कुछ सुनहरी किरनों को चूमती हुई ओस की ताजा-ताजा गर्माहट सी महसूस हुई।

वह एक खामोश राग-सा बनकर कहीं समा गया, जिसमें मैं अपने आपको पा रही थी, कि 'वह' हूँ। पर वह छिन-पल को था, एक छिन पल को।

वह हँसता हुआ मेरे सपनों के आँगन से बाहर निकल गया। पलकों के परदों में होकर, बाहर चला गया—सब एक बार रंगीन होकर गोया फिर सूना था।

मैंने कुछ खास बड़े गुनाह कभी किये थे। इसीलिए वह मेरे पास नहीं आयेगा। वर्ना मैंने क्यों नहीं जल्दी से अपने सीने से उसको लगा लिया, यह कहकर कि—'आओ! तुम मेरे अंग के ही प्रत्यंग हो; तुम मेरी सब उमंग और पूरी जवानी हो, मत जाओ यहाँ से!'?

मगर वह मुझे देखकर मुसकराता रहा, और चला गया। मैं उसे देखती रही, देखती रही, और एक अजीब और नये दर्द की कसमसाहट दिल ही दिल में दबाये रख कर, देखती रही, खामोश और गुमसुम।

मगर उसने मेरी पलकों से पलकें टकरायीं, जरा सा शर्माया, मुस्कराया और उठ कर चला गया।

मैं कुछ कुछ कहीं समझी तो बहुत कुछ नहीं समझी। मैं बैठी रही, और छाती पर एक बोझ-सा महसूस करने लगी, और चेहरे पर जड़ता और ठहक।

मगर वह फिर आया। घूमकर एक बार इधर देखा, मुस्कराया स्वप्निल सा, और चला गया।

(इ)

आज उसको जाना ही था। और मैं उसका नाम नहीं जानती; गोकि मैं उसका दोस्त हो चुकी थी, और वह मेरा वादए-वफ़ा मेरी आँखों से छीन चुका था। और वह बार-बार मुझसे मिलेगा, यह भी मैं निश्चय जानती हूँ, मगर ख्वाब में। फिर ज़िंदगी कब उस ख्वाब को सच करेगी?

(ई)

नहीं! और अभी इससे कुछ ही दिन पहले मैं जिस दूसरे मेहमान के सपनों में उलझी हुई थी, आज उसका रंगीन जाल कहाँ? उसको भी मैं कहाँ अपने अंदर मिला सकी थी; वही मुझे अपने आप में खींच ले गया!......और फिर उससे पहले, और चंद रोज़ पहले......वह हुस्न जो मुझे बराबर खींचता रहा, खींचता रहा; और मेरे भावुक विचार उसकी किरनों के हर तार में गूँथे जाते रहे, मजबूर उसी की ओर सिमटते रहे।......और भी उससे भी कुछ सताह पहले?—कितनी मैं सिर्फ़-सिर्फ़ अपनी ही!...और, हाँ, उससे पहले?...उससे पहले?

स्मृति के अंक

तीन...चार...पाँच, और छै—सातवाँ वह, वह...सात हैं हम ख़ास-ख़ास व्यक्ति, साधारण गिनती से। चार, सामने। एक मैं। एक मेरे बिलकुल आँखों के नीचे। एक कहीं पीछे की तरफ़। सात।

और वह चौकोर चमक, सूर्य की रोशनी की जो तकिये के सीने पर पड़ रही थी, ज़रा पीछे खिसक गयी है। मैला गाढे का तकिया है, ग़िलाफ़ के अंदर का ख़ाली खुला मैला मुख। वह तहाये हुए अख़रोटी रंग के बड़े कंबल पर पड़ा हुआ है। कंबल में बड़े-बड़े चौखाने और चतुष्कोण हैं, मिटे-मिटे से।

खिड़की में हरे दरवाजे, जिनमें शीशों की जगह हरा रँगा हुआ टीन लगा है, चार हैं; दो ऊपर, दो नीचे। ऊपर के दो खुले हैं, नीचे का एक बंद है।

दोपहर-बाद की सूर्य की रोशनी अब तकिये के पहले किनारे पर खिसक गयी है। पाँच सीख़चे खिड़की के दिखायी देते हैं, क्योंकि नीचे का बायीं तरफ़वाला एक दरवाजा बंद है और ये दस सीख़चे हैं।

वह खिड़की के बाहर से गली के बराबरवाले मकान की दोमंजली छत दिखायी देती है: भद्दे सीधे खानेदार उसकी सादी सफ़ेद मुंडेर और छज्जे; जिसके किनारे सूखी काई-से काले हैं। और दो परनाले, जिनमें लोहे के मोटे पाइप लगे हैं, दिखायी दे रहे हैं। एक चौड़ी मैली पीली खड़िया से पुती हुई पट्टी छज्जे के नीचे-नीचे चली गयी है। उसके नीचे की दीवार का थोड़ा-सा हिस्सा भी दिखायी देता है। दूर किसी मकान का

एक छोटा सा कोना, खिड़की के बंद दरवाजे और एक शीशचे से दिखाई दे रहा है, बस सामनेवाली मुंडेर का कोना उपर्युक्त शीशचे के पास आकर खत्म होता है। वहीं एक बड़ा बाज पंजे में कुछ दबाए हुए उसे नोच नोचकर खा रहा था, और बार-बार अपने सामने और दायें बायें देखता भी जाता था। बाज एक खूबसूरत चिड़िया नहीं है। नाश्ता समाप्त करके उसने अपनी छाती और बायाँ पर चोंच से खुजाया या पोंछा फिर दायीं ओर कुछ ऊपर की तरफ को गर्दन लंबी कर, अपनी चोंच फैलाकर खोली और बद की और मुझे वह अधिक चौकन्ना लगा। थोड़ी देर बाद वह खिड़की के बंद दरवाजे की दिशा में उड़ गया। इस समय वह किसी शाहजादे के हाथ पर नहीं बैठा हुआ है, न उसकी तेज आँखें पट्टी से बँधी हैं। उसका घर घोंसला सिर्फ नींद लेने के लिए है, बाकी सब ऊँचाइयाँ और हवा के देश उसका कार्य क्षेत्र हैं।.

तकिये की रुई, लगता है, धूप से कुछ फूल गयी है। पर धूप अब सिर्फ उसके दूसरे कोने पर है। तकिये के लगभग बीच में एक जरा गहरी सिकुड़न है। उसके बराबर भी हलकी हलकी सिकुड़न की धारियाँ हैं। इसी जगह से दोहरा होकर वह मेरे थके और भारी सर के नीचे दबा रहा है, मटैला चौड़ा, दुबला पतला, छोटा-सा यह मेरा तकिया बड़ा गरीब लगता है। उसके दिल में जो कुछ भी हो, वह चुप रहेगा।

कम्बल मेरा नहीं, मेरे एक बाबू दोस्त का है। खुरखुरा नीला अच्छा कम्बल है। पुराना और साफ है। वह मजबूत है। मुझसे उसकी पहचान बाजबी है। कम है और मुनासिब है। वह इसी तरह लिपटा रखा रहा है मेरे पायँताने या सिरहाने, तकिये के नीचे या रजाई के—जो इस वक्त मेरी कुहनी और पीठ के एक हिस्से का गावतकिया सा बनी हुई है। मुझे लगता है इस कम्बल सा मैं होता तो जीवन में सफल होता।

यह खिड़की, वह छत की मुँडेर, कम्बल और तकिया—ये चार मौन मूक निकट मित्र लग रहे हैं। ये अपने स्थान पर इस समय इस प्रकार हैं, ये चारों कि जहाँ मैं हूँ, वहाँ से मेरी बात समझ सकते हैं और अपने विशेष व्यक्तित्व की पहचान मुझे दे सकते हैं। वह मैली-मैली पट्टीवाली दो मंजली छत की मुँडेर औसत दरजे की हैसियत के किसी क्लर्क की किस्मत से मेल खाती है, कलाहीन, दीन, ठस जड़, निर्जीव रूप से भावुक। मैं उसको बहुत समझता हूँ। उसकी नींव तक समझता हूँ। पर उसके लिए सहानुभूति और नफरत का बराबर बराबर भाव मेरे मन में है।

इस मैली-हरी काली सी खिड़की से मुझे बेजसी है। शीशे की जगह उसकी रँगी हुई टीन की चादरें—जब खिड़की के चारों दरवाजे बंद हो जाते हैं—दिल में घुटन पैदा करते हैं। ये पाँचों शीशचे जो मुझे दिखायी दे रहे हैं, दूर जीवन में जेल की भावना की छाप स्पष्ट करते हैं। इन्हीं में से होकर दोपहर बाद की धूप तकिये से हटकर पलंग के नीचे कहीं पड़ रही है—मैं उसे देख नहीं सकता, पर उसके कारण खिड़की के नीचे

की दीवार पर अधिक प्रकाश मालूम होता है। चार सीखचों की छायाएँ खिड़की की पट्टी पर तिरछी पड़ी हुई हैं। (वह फर्श पर धूप के साथ-साथ चली गयी होंगी।)

यह सब यहीं रह जायेगा, जब मैं कल या परसों यह मकान छोड़ दूँगा। सिर्फ मेरा मैला-सा तकिया मेरे साथ रहेगा। धूपवाली खिड़कियाँ मेरे नये मकान में और तरह की होंगी।

ठीक मेरी गर्म और थकी हुई पलकों के आगे पड़े हैं—किसी अखबार का एक शीट, एक बिना सिली बादामी कापी के कुछ बिखरे हुए पन्ने, एक रबर, एक नोकीली पेंसिल। एक डिजाइन एक दुर्घटना के चित्र का बनाना था; सो मन के अनुकूल नहीं आ रहा था। दिल पर एक वजन, हाथों में एक बोझ सा और आँखों में और माथे पर कोई भारी उलझन। कितना चाहता था कि कागज पर साफ-साफ काला चमकता सीधा-सा एक डिजाइन बनाकर तैयार कर दूँ, लेकिन वह चित्र, वह आउटलाइन, हृदय के लौह संदूक में बंद धरा है। फिर भी उसको निकालकर कागज पर ले आना होगा ही। एक सुडौल सीधा बढ़िया डिजाइन मेरे ही हाथ से बनना होगा। और अभी एक-दो घंटे में। अभी!

वह सातवाँ व्यक्ति जो मुझसे छिपा हुआ, मेरे पीछे बैठा है, मेरी पीठ से ही मानो लगकर, जिससे मेरी आँखों को, मेरे विचारों को भी अरुचि है, वह एक तस्वीर है मेरी पत्नी की—उदास, जैसे वह कल या परसों मुझे छोड़नेवाली हो। उसकी स्थिर झुकी बड़ी-बड़ी काली आँखें; और एक कपोल पर मैली धूप-सा एक आँसू। संध्या के समुद्र में कहीं दूर हिलती हुई किश्ती-सा उसका होंठ। मैं उसको नहीं देखना चाहता। मैं उसको भूल जाना चाहता हूँ। क्योंकि उस चौखटे के अंदर मेरी ही आत्मा बंदी-सी तड़पती है।

उस तसवीर के नीचे लाल रंग से दो चरण बने हुए हैं, जिनमें दाहिनी पैर की एक उँगली के पास मसा भी बना दिया गया है, जो मुझे अपने पाँव के मसे की प्रतिक्षण याद दिलाता है। हलकी पेंसिल से हिंदी में इन चरणों पर बहुत छोटे अक्षरों में लिखा हुआ है सिर्फ: 'तुम्हारी दासी'।

मेरी स्मृति की एक मुँडेर के कोने पर वह बाज हमेशा बैठा रहेगा, अपने पंजों में कुछ सदैव के लिए दबाये। सीखचों के पीछे बैठा, अपने गंदे सिकुड़े हुए तकिये पर अपना सारा भार मैं व्यर्थ ही हलका करने की कोशिश करूँगा। क्योंकि वह तस्वीर मेरे साँसों के चौखटे से बाहर नहीं निकाली जा सकती।

सियारामशरण गुप्त

रामलीला

बच्चों की आजकल गरमी की छुट्टियाँ हैं। उनका दिन तो बारह की जगह चौदह घंटे से अधिक की छलाँगें नहीं भरता, पर आनंद उनका राम के युग जैसा ही है। न धूप का भय न लू का। तपती हुई गच भी उनके विचरण में बाधक नहीं होती। इधर से उधर और उधर से इधर उनकी फौज दौड़ती ही रहती है। इस दोपहरी में जिस समय हम घंटे आध घंटे की झपकी लेना चाहते हैं, उस समय वे इतने प्रबल रहते हैं, जितने लंका के नागरिक भी निशाकाल में न रहते होंगे।

नीचे के कमरे में किवाड़ और खिड़कियाँ बंद करके सोने का प्रयत्न कर रहा था, किन्तु सफलता नहीं मिली। रह रहकर यहीं से टोह पाता रहा कि ऊपर छत पर लालू के सवार किसी नये काम में जुटे हैं।

जानता हूँ, ऊपर की खुली छत के दोनों ओर जो कमरे हैं, वहाँ लालू रामलीला की तैयारी कर रहा है। उसी से मालूम हुआ था कि राम और लक्ष्मण का पद किसे दिया जायगा, रावण और मेघनाद बनने की योग्यता किसमें है और कागद के बने हुए द्रोणाचल को हथेली पर उठाकर लंका तक ले जाने का काम कौन करेगा। लालू के लिए एक ही समस्या पेंचीली थी कि सीताजी कहाँ खोजी जायँ। रामलीला मण्डली में लड़के ही लड़कियों का काम करते हैं, किन्तु नाटक और सिनेमा में ऐसा नहीं होता। लालू का झुकाव इसी ओर अधिक है। उसके विचार से सीता का काम ऐसा है भी नहीं कि कोई लड़की उसे निभा न ले जाय। ब्राह्मण का रूप धरकर जब रावण आ जाय तब जोर-जोर से चिल्लाना, यह कहना कि हे रामजी, हे लक्ष्मनलला, कहाँ हो,— बस इतना काम है। धनुष उठाकर तोड़ने के जैसा कुछ भी न करना पड़ेगा, हाथ में केवल जयमाल लिये रहनी होगी।

इसी प्रश्न को लेकर अभी भाई-बहन में लड़ाई भी हो चुकी है। लालू ऊपर से चिल्ला रहा था—*'माँ, चंपो को बुला लो, पीट दूँगा तो कहोगी। भला मैं छोटी* बहन को कैसे सीताजी बना दूँ?' और इसके थोड़ी देर बाद चंपा का रोना भी यहीं से मैंने सुन लिया है।

इसी समय देखा, लालू का प्रिय सखा गंगू किवाड़ में धीमे से साँस करके देख रहा है कि मैं जाग तो नहीं रहा। कुछ देखकर और कुछ अनुभव करके मैंने जाना कि दबे

पैर भीतर आकर आले में रखी हुई गोंददानी वह उठा ले गया हूँ। गोंद की सहायता से राम के राजमुकुट में रंग बिरंगे कागज रत्न का रूप देकर जड़े जायँगे।

तभी याद आ गया बचपन के अपने उन दिनों को, जब रामलीला की तैयारी इसी प्रकार मैं भी करता था। उन दिनों की भक्ति आज मुझमें दीख नहीं पड़ती। फिर भी पाता हूँ, राम चिरन्तन हैं, रावण चिरन्तन है। तुलसीदास ने प्रति कल्प में अवतरने वाले जिस प्रभु को पाया है, उसे पा सकना मेरे लिए सहज नहीं। किन्तु प्रत्येक पीढ़ी में किसी न किसी रूप में उतरनेवाले अनन्त राम की अनुभूति मैं भी कर सकता हूँ।

× × × ×

बाड़े के पीछे आज जहाँ पक्का घर खड़ा है वहाँ उस समय एक लम्बी खपरैल थी। उसमें ढोर-डँगर बँधते थे। खुले में चारे की ऊँची गंजी लगती थी और एक ओर वहीं कंडे पाथे और सुखाये जाते थे। घर का घूरा भी उसी स्थान पर था। यह सब होते हुए भी हम सब वहीं पहुँचते। दूध न देनेवाली गायें दूसरी जगह भेज देने से जो जगह खाली हुई थी, उस पर हमारा अधिकार था। वहाँ हम दौड़ सकते थे, चिल्ला सकते थे और एक दूसरे को पीटकर अपने झगड़े किसी बाहरी पंच की सहायता के बिना स्वयं सुलझा कर फिर से खेल सकते थे।

रामलीला त्रेता में हो या कलियुग में, झगड़ा सीता को लेकर होना ही चाहिए। सीता का काम मैंने कमल को सौंपा था। उसे विश्वास था कि पहनने के लिए बँधरियाँ और पारिया वह अपने घर से शकुन्तला की ले आयगा। इसके बाद किसी दूसरे का दावा सीता का चल भी नहीं सकता था। गुल्लू हम सबमें ऊँचा था और उसने स्वयं भी प्रस्ताव किया था कि वह रावण बनेगा। मैंने कहा—पहले देख लेने दो कि तुम्हारे मुँह पर काले रंग के दस छापे कैसे जँचते हैं। इसमें भी उसे विरोध न था। उसे दशानन बनाने की चित्रकारी में मैंने हाथ लगाया ही था कि कमल हँसी के मारे लोट-पोट हो गया। ताली पीटकर उसने कहा—'भागो भाई, भागो; भूत आ गया!' रावण को भूत कहना अनुचित था, उस रावण को जो लंका का राजा है और जिसे मारने का बल मुझे ही मिल सका था। किन्तु मेरे फटकार देने पर भी कमल ने बात नहीं मानी और दूसरे लड़के भी उसी के सहयोगी बन बैठे। इस पर गुल्लू ने वह किया जो उसे करना नहीं चाहिए था। काला रंग लेकर उसने कमल के मुँह पर पोत दिया। मैं चिल्लाया—"उसे क्यों छू दिया; जानते नहीं हो, उसे सीताजी बनना है।"

"जानते नहीं हो, मुझे रावण बनना है, जो तुम्हें ठीक कर देगा"—गुल्लू ने भी वैसे ही स्वर में उत्तर दिया।

मैंने निश्चय किया कि गुल्लू मूर्ख है, उसे रावण नहीं बनाऊँगा। रावण ऐसा होना

चाहिए जो भूलकर भी सीता को न छुए। छुएगा तो भस्म होकर ढेर हो जायगा। मैंने उसी समय कड़ककर आज्ञा सुना दी,—"निकल जाओ यहाँ से।"

"मुझे निकालनेवाले तुम कौन होते हो?"

"म—मैं राम हूँ!"

"ऐसे राम बहुत देखे हैं, कहो तो एक धक्के में सात गुलाटें खिला दूँ।"

कमल रो रहा था कि उसका कुरता बिगाड़ दिया, माँ पीटेगी। अपराध ऐसा न था कि गुल्लू को अछूता छोड़ दिया जाता। आगे बढ़कर मैंने दो चार हाथ जमा ही दिये। इस पर ऐसी गड़बड़ मची कि उस दिन का किया कराया सब चौपट हो गया।

दूसरे दिन ठीक समय पर हम सब फिर वहीं दिखाई दिये। यह उतना ही स्वाभाविक था, जितना कुछ देर के लिए बादल में छिपकर सूर्य पुनः अपने ही ठिकाने पर चमकने लगे।

गुल्लू से मैंने पूछा—तुम्हें हो क्या गया था, जो तुमने कल वैसा उत्पात किया?

उसने उत्तर दिया—मैं तो रावण था। मेरा जी करने लगा कि कमल को गेंद बना कर ऊपर फेंक दूँ। फेंककर उसे लपक लेना मेरे लिए कठिन न था।

मैं सोचने लगा,—तो इस पर साँच माँच के रावण की छाया पड़ गयी थी क्या? अपने सम्बन्ध में भी मैंने विचार किया, किन्तु याद नहीं पड़ा कि मैंने उस समय कौन सी महत्व की बात सोची थी। दबे हुए स्वर में कहा—राम किसी को दुख नहीं देते। इसी से धकियाकर ही तुम्हें छोड़ दिया था।

तभी एक साथ मेरा ध्यान कमल की ओर गया। वह लड़की की तरह रोने लगा था और उसने यह तक नहीं सोचा कि उसे तो सीताजी बनना है! इस सम्बन्ध में गुल्लू का मत मुझसे भिन्न था। उसने उदाहरण देकर कहा—अयोध्याजी की मण्डली तक में सीताजी रोयी थीं। जो रो न सके वह सीताजी कैसे बनेगा।

बात नयी न थी, फिर भी ऐसी सीताजी के लिये क्षोभ हुआ। कुछ कुछ ऐसी बात के सिलसिले में ही एक बार मैंने दद्दू से कहा था—रामलीला में सीताजी को हथियार दे दिये जाते तो उन्हें रोना न पड़ता। देवी की तरह हथियार से रावण के सिर काटकर वे उसी समय फेंक देती, जब वह उन्हें चुरा ले जाने के लिए आता। फिर तो लंका के ऊपर चढ़ाई भी न करनी पड़ती। इस पर मुझे यह याद दिलाया गया था कि रावण मुनि का भेस बनाकर भिक्षा लेने आया था। भिखारी की इच्छा पूरी न करके यदि सीता उसे मार डालतीं तो उन्हें पाप लगता।

मैंने गुल्लू से कहा—तो कमल से वचन ले लिया जाय कि जब मैं कहूँ तभी वह आँसू गिरा सकता है। मैं रोक दूँ तो उसे रुकना पड़ेगा। उसी समय, तुरत। रामजी की बात सीताजी टाल नहीं सकतीं।

अब हमारी तैयारी और आगे बढ़ चुकी थी। पड़ोस में विवाह के कारण बाहर के कई नये लड़के न्योते आये थे। वे भी हमारी मण्डली में आ मिले। छोटे बच्चों के कारण हमारे काम में रुकावट पड़ती थी, परंतु एक लड़का नंदू उनमें बड़े काम का था। उसने आसानी से हनूमान् के लिये कपड़े की पूँछ बना दी। मिट्टी का तेल छिड़ककर एक लत्ता उसके भीतर रख देना भी वह नहीं भूला। अपनी धोती में यथास्थान खोंस-कर उसने बताया कि कितनी बढ़िया पूँछ है। वह इस शर्त पर उसे देने को तैयार था कि हम उसे हनुमान् बना दें।

गुल्लू ने कहा—यह नहीं हो सकता। अपनी पूँछ हम अपने आप बनायेंगे। रजन ने भी विरोध किया, क्योंकि पहला हनुमान् वही था।

नंदू निश्चित था कि ऐसी पूँछ किसी के बनाये न बनेगी। कमर में उसे पीछे की ओर खोंसे हुए वह हमसे अलग एक ओर जा बैठा। आशय उसका स्पष्ट था कि उसे देख-देखकर हम लोग जलें। हमने कहा—दुष्टता क्यों करते हो, जाओ यहाँ से।

उसका कहना था—हम यहीं बैठेंगे, तुम हमें क्यों छेड़ते हो? तब गुल्लू को रोष आ गया और बड़ी कठिनाई से रावण और हनुमान् का वह युद्ध बरकाया जा सका। किसी ने सुझाया कि हम लोग दूसरी जगह जाकर खेलेंगे। पलायन की यह नीति उसी समय ठुकरा दी गयी।

मैंने अपने पुराने हनुमान् से कहा—यहाँ से वहाँ तक, जहाँ वह गुल्लू खड़ा है सौ जोजन का सागर है। इसे एक छलाँग में पार करना होगा। छलाँग मारकर देखो तो।

इधर हम लोग यह हिसाब लगाने में व्यस्त थे कि यह भूमि सौ योजन से अधिक तो नहीं है, उधर दूसरी ओर नया काण्ड उपस्थित हो गया। हमारा एक साथी कहीं से दियासलाई की डिब्बी ले आया और नंदू के पीछे जाकर चुपके से उसने पूँछ में आग छुआ दी। नंदू हड़बड़ाकर उठा और उसने जलती हुई पूँछ निकालकर आगे की ओर फेंक दी। 'कौन था, किसने किया' की आवाजें उठने के पहले ही आग लगानेवाला अंतर्धान हो चुका था।

कपड़े की पूँछ आग पकड़ चुकी थी और उसमें से ऊपर उठी हुई लौ इस प्रकार आगे-पीछे डोल रही थी, जैसे किसी साथी को छू लेने की क्रीड़ा में हो। नीचे पड़ा हुआ चारा भी जल रहा था और उसमें से उड़ती हुई छोटी-छोटी चिनगारियाँ उस ओर जा रही थी, जहाँ चारे की ऊँची गंजी लगी थी।

जो संकट सामने था, उसे सबने स्पष्ट रूप से समझ लिया। चारे की गंजी ने आग पकड़ी नहीं कि पूरे के पूरे मुहल्ले में सुंदरकाण्ड का दृश्य दिखायी देने लगेगा। पलक मारते न मारते हमारे सब साथी वहाँ से भागे।

मैंने क्या सोचा, क्या समझा और क्या किया, इसका स्मरण मुझे नहीं। आगे जो

कुछ हुआ उसी के आधार पर समझ में आता है मैंने लकड़ी जैसी कोई वस्तु आस पास खोजी होगी, जिसके द्वारा जलती हुई पूँछ को चारे से दूर हटा सकूँ। वैसे ढेरों लकड़ियाँ दिखायी दें, किंतु जब तत्काल आवश्यकता हो तब छोटी सी छिपट भी नहीं मिलती। ऐसी स्थिति में पता नहीं लकड़ी का काम हाथों से लेने की बात न जाने कैसे सूझी। हाथों से धानी जैसा उलीचकर वह पूँछ कब मैंने वहाँ से दूर कर दी, इसका ध्यान मुझे भी नहीं है। यह याद है, उसी समय लकड़ी हाथ में लिये हुए गुल्लू को देखकर सतोष हुआ। उसने आकर उस जलते हुए शकट को और दूर कर देने में सहायता दी।

आग वश में आ चुकी थी, किंतु मेरे दोनों हाथ बुरी तरह जल रहे थे। दौड़कर मैं एक ओर छटपटाकर गिर पड़ा। इतनी देर में कुछ दूसरे लोग दौड़कर आ गये थे जो लहरें लेते हुए मारे जा चुके साँप जैसा व्यवहार उस पूँछ के प्रति कर रहे थे।

उस रात हथेलियों में जलन के कारण बहुत पीड़ा रही। डर था कि दद्दू ऐसा खेल खेलने के लिए बहुत बिगड़ेंगे। यह आशंका भी बहुत थी कि अब हमें रामलीला न करने दी जायगी। किन्तु मेरा भय निर्मूल निकला। यह उस समय जान सका, जब कमरे में दिये के उजाले में अपने सिरहाने बैठे हुए दद्दू की आँखों में आनन्द के आँसू देखे। शायद ! देखकर उन्होंने कहा था बेटा घबरा मत। यह लीला उन्हीं प्रभु की थी। तेरे भीतर उस निमिष में जन्म लेकर उन्हीं ने हम सबको संकट से उबारा। अपने मन्दिर में राम जन्म का उत्सव कल झालर घंटे के साथ मनेगा। शख में फूँक उस समय तुझे ही देनी होगी।

× × × ×

आज मैं दद्दू की जगह और तातू मेरी जगह है। रामलीला के उत्साह में इस दोपहरी में उसने मुझे झपकी नहीं लेने दी। इस समय ऊपर के कमरे में लड़के किशोर स्वर में रामायण की चौपाइयाँ उसी प्रकार गा रहे हैं, जिस प्रकार हम भी कभी कभी गाया करते थे। मेरी कामना है, दद्दू के वे प्रभु एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में इसी प्रकार अवतरित होते रहें। उनकी लीला का प्रवाह कभी खण्डित न हो।

—

'शलभ'

वैशाखी

भीषण दुपहरी;
स्वप्नवत हरिभरी—
दुर्वा-पुष्प-गंधावरी,
चटकली
सतरंग साड़ी से सुवेष्टित,
वसुन्धरा-सुन्दरी!
तत पात—
पादप झुक;
झरता है निर्झर भी
बूँद-बूँद, रुक रुक,
सोना-सा नितर रहा
पथरीली घाटी में
कृशकाय—गहरी!
कौन यहाँ प्रहरी?
दिखती न दूर तक
कोई भी महरी,
बकरी भेड़ झुण्ड को
चराती शबरी-सी
रूखी तपोवन की।
भहर-भहर चल रही
लू-लपट-लहरी,
कटीली 'खेजड़ी'—
देखती खड़ी-खड़ी,
झाड़खंड-प्रांत मध्य
घोर घाम-शीशे में
निज स्वरूप,—छाया की;
रूप की अकेली!
खेजड़ी नवेली!
तपे पाँव,
बंध आँख— बैठे खग नीड़ तले,
झुलसे वैशाख, जेठ,
देख रहे स्वप्न सभी—
"अरे था यहीं कभी
मलयागिरि—मंदार?
गाते गंधर्व गीत
मेघराग,
मल्हार—वीणा पर,
स्कंध धर।
और वह कल्पतरु?
—पारिजात झर-झरकर
धूल भरी,
अप्सरी-धरती को चूमते।
नील, श्याम मेघ गगन
छा जाते झूम-झूम,
झरती, रसवती धार—
पयोधरा बदली से!"
चौंक-चौंक पड़ते—
फिर,
पीड़ालस पलक—
अनायास खुल पड़ते।
बार बार, दुनिवार
देख-देख थकते—

शालम'

सुनसान निर्जन पथ !
जलती दुपहरी
शहरी—उस वन पथ !
'डम्मर' की चिकनी
फिसलनी सड़कों पर—
मांसल तन,
प्यासा मन—चल रहा एक वृद्ध,
हड़ताड़—घन की चोटों
से खडित हो !
अनिल निरत वचना—
विधान का पडित वो !
गिराये स्कंध स्थूल,
पूँजी, श्रम शोषण की
वैशाली आघत,
लगड़ाता जा रहा,
भार अतुलित घर,
धनपति—घरणी घर !
हाँफता —काँपता
यकायक लड़खड़ा
गिर पड़ा भूमि पर !

सपने बिखर कर
मिट्टी में मिल गये !
श्वास-तंतु टूट रहे
अंतिम पल गिन गिनकर,
साथ ही वैशाली
टूक टूक जल रही
जीवन क भीषण संघर्ष
की दुपहरी की
धधकती ज्वाला में !
छटपटा हाथ एक—
उठा, फिर फिर गिरा—
पाने आधार निज,
रह गया जमींदस्त,
निरसार—निष्फल !
तड़प तड़प, कंपित,
निगरा—आवाज चीण
चीख-चीख मर रही,
माग रही—
वैशाली ! वैशाली ! वैशाली !

।

नगेंद्र

दो कवितायें

१—ओ पुरुष के गर्व !

ओ पुरुष के गर्व !
तूने नाप डाला दो पगों से रे, गगन निस्सीम का विस्तार !
तूने चीर डाला नोक से नख की जलधि का गर्भ गहन अपार !
तूने तोड़ डाला चाप से उत्तुंग पर्वत-शिखर का अभिमान !
तूने झेल हाथों पर लिया गुर्वी धरा का अतुल भार, निदान !
क्या तुझे बंदी बना लेंगे भुजा के पाश !
कम्पित बाहुओं के पाश !!

ओ, पुरुष के ज्ञान !
तेरी प्रखरता ने हृदय अणु परमाणु का भी सहज डाला चीर,
तेरी सूक्ष्मता ने भेद डाले सत्य के शत शत रहस्य गभीर,
तेरी गहनता में काल-सीमा के सभी प्रस्तार शांत, निमग्न,
तेरी ज्योति में वे ब्रह्म, माया, जीव के सब तत्व होते नग्न !
क्या भुला लेगी तुझे वह मोहमय मुसकान ?
चञ्चल मोहमय मुसकान !!

ओ, पुरुष की भक्ति !
तूने कर दिया चिर शून्य में नव प्राण का संचार,
तूने दान कर दी कल्पना को, एक धूमिल कल्पना को व्यक्ति औ' आकार,
तेरी उष्णता से गल उठा चिर-शापमय पाषाण,
तेरी भावना ने कर दिया प्रत्येक कण भगवान !
क्या बहा देगी तुझे लघु आँसुओं की धार ?
फीके आँसुओं की धार !!

२—एक जन्म दिन

तुमने नयनों में मदिर नयन ये उलझाकर,
बौद्धिकता का चिर-गर्व आज शत खण्ड किया ।

तैंतीस वर्ष की हुई आयु, पक गई बुद्धि,
नव देश देश के गहन वाङ्मय से समृद्ध,!
'है प्रणय प्राण का चिर जन्मागत संस्कार
दो आत्माओं का निलय परस्पर समाहार !'

यह केवल कविता, शुद्ध कल्पना की प्रसृति,
है प्रणय काम-व्यापार, काय मन की विभूति!
सुन्दर शब्दों का जाल रुचिर आदर्शवाद
भावुक मानस का फेन मधुर कुण्ठा-प्रसाद!
भोले किशोर-वय छात्रों को शोभा देता
पर मैं मन का विश्लेषक फ्रॉयड अध्येता!
तुमने नयनों में उलझाकर प्रिय! सजल नयन
बौद्धिकता का यह गर्व आज शत खण्ड किया!

मैं यज्ञपूत गृह के संस्कारों में पोषित,
आस्तिक गुरुओं से पाई दीक्षा आर्योचित।
वैदिक विधि से मनु से सीखी गार्हस्थ नीति
शिक्षा से संयम, कुल गौरव से पाप भीत।
वासना हृदय का नरक और आवेश पाप!
षड्‌रिपुओं में काम का प्रखरतम है प्रताप!
पत्नीव्रत हो संयमी गृही शासित रहता
शमदम की सीमा में जीवन का रस बहता।
तुमने अधरों में उलझा कर प्रिय! मधुर अधर
नैतिकता का यह गर्व आज शत खण्ड किया।
मैं भाव कल्पना का स्वामी कवि अभिमानी
उर में जिसके लहराता सागर तूफानी।
जिसका उन्नत मस्तक हिमगिरि से टकराता
उद्धत अरमानों का अधड़ से है नाता।
मुझसे चंदा की रानी ने अभिसार किया
पाटल अवगुण्ठन खोल उषा ने प्यार किया।
मम स्वप्नों की संगिनी जगत की श्री सुषमा,
वासवदत्ता उर्वशी सदृश रस की प्रतिमा।
करती जीवन शृंगार स्वयं भगवति वाणी
मैं भाव-कल्पना का स्वामी कवि अभिमानी
उर में मेरे लहराता सागर तूफानी!
तुमने उलझा कर बाहों में प्रिय बाँह मृदुल
मेरे कवि का चिर गर्व आज शत खण्ड किया।

नेमिचंद्र जैन

दो कविताएँ

(१)

कट न जायें डोरियाँ विश्वास की
उस तीर से,
जो क्षण के आवेश में तुम तानते हो
दूर के उस लक्ष्य पर ;
स्वप्न हो जायें न धुँधले
टिमटिमाते दीप बुझ जायें न सब संवेदना के
धार लेकर दर्पित स्वार्थों की
बहे जब द्वेष का अंधड़ ।
जिंदगी के दहकते अंगार
दब जायें न ओछी दीनता की राख से ।

बंदिनी है मुक्ति के उल्लास की मृदु धूप,
दान नभ का,
गान किरणों का सुनहला,
अगम सागर के हृदय का स्वच्छ फेनिल हास
सहज उदार,
सारा बिक चुका है ;
दे रहा उद्धत चुनौती कृपण व्यवसायी
तुम्हें
ललकारता ।

समय की उन्मादिनी उद्दाम गंगा के कगारे
टूटते झरते निरंतर—
आज कौन तटस्थ है ?
कौन है जीवन-मरण के समर का निश्चल दर्शक ?

कौन रेशम के सुनहले तार से बुन कर
अनोखा नीड़
जीना चाहता है अत्र अकेला ?

किंतु साथी
है इसी से तीव्रता इतनी विशिख म
प्रखर प्रत्यंचा इसी से खिंच रही
इतनी असह, इतनी कठिन . .
ओ क्रांतिदर्शी
यही तो संघर्ष है
आलोक ने तम के प्रबल इस द्वंद्व में,
त्रस्त युग की तीव्रता, अंधी बुभुक्षा
है यहीं संचित, प्रबल
अनिवार्य,
प्रतिहिंसा भरी . .

(२)

ओ शिखर,
तुम महत हो
बादलों की गहन घन गंभीरता से भर गया अंतर
किरन पुंजों का सरस सम्पर्श मृदुतर
ऊर्ध्वगामी पवन की उन्मुक्तता के सहज सहचर
महत हो तुम
हे शिखर !

चढ तुम्हारे शीश पर बौने कुटिल
निज तुच्छता बिसरा
अहम के शाप से निर्लज्ज ओछे
चीखते हैं,
उछलते हैं दंभ से

हे उदार
दूर सागर के अगम विस्तार की अभ्यस्त

ये आँखें तुम्हारी
चरण तल की क्षुद्रता पर
चकित, विस्मित हैं ;
नहीं हैं, रोष के
विद्वेष के डोरे कहीं उनमें
न छाया घृणा की।
सहज ममता की तुम्हारी शांत छायाएँ
प्रलंबित
गोद में जिनकी
हमारी भावनाओं के चपल शिशु
सो गये हैं
हे अचंचल ;

ध्रुव
हमारे मार्ग के निस्संग पथ-दर्शक
अमर आलोक हो,
चिर महत हो तुम
हे शिखर !

सज्जाद ज़हीर

'शुद्ध' काव्य

कविता का संसार भावना, कल्पना, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अनुमान, विभ्रम और स्वप्न का संसार है। यहाँ शब्द अपने साधारण, व्यावहारिक, प्रत्यक्ष और युक्तियुक्त अर्थों में प्रयुक्त नहीं होते। यहाँ शब्दों की संगति और सन्तुलन, छन्द गति, अन्त्यानुप्रास (क़ाफ़िया, रदीफ़), सरल और गम्भीर शैली के मूर्त्त प्रयोगों से शब्दों और वाक्यों में संगीत और रागात्मकता का प्रभाव पैदा होता है। यही कारण है कि कविता के पद हमारे अन्तर की गहराइयों से उठकर हम में उन भावनाओं को जगाते हैं और अनुभूतियों के उन तारों को छेड़ देते हैं, जिनके अस्तित्व का हमको आभास तक नहीं होता। कविता के पद हममें वही अनुभूतियाँ और भावुकता पैदा कर देते हैं, जो कवि की अपनी होती हैं—इस हद तक, मानो पाठक या श्रोता स्वयं कवि के समान हो जाता है। काव्यानुगत अनुभव हरेक मनुष्य को हो सकता है और होता है। कवि वह है जो इस अनुभव को इस प्रकार शब्दों के साँचे में ढाले कि उन शब्दों को पढ़ने या सुनने और समझने वाले भी वैसी ही भावना अथवा अनुभूति-जन्य अनुभव प्राप्त कर सकें, जैसा कि स्वयं कवि को हुआ था।

कविता की यह विशेषता, अर्थात् बुद्धि, विवेक और व्यावहारिक तर्क की सीमाओं से एक हद तक उसका मुक्त होना, इस बात की सम्भावना पैदा करता है कि कुछ व्यक्ति और दल कविता को मनुष्यों के बाह्य जीवन और सामूहिक जीवन से—अर्थात् उस जीवन के संघर्ष से—एकदम अलग और पृथक् समझें जो मनुष्य अपने जीवन-यापन और जाति वृद्धि तथा सभ्य और सुसंस्कृत होने के लिए करते हैं।

यह प्रयास वस्तुतः उस दार्शनिक और धार्मिक स्थापना से पृथक् नहीं है, जहाँ विचार और भाव को बाह्य वस्तु स्थितियों से अलग करके एक स्थायी और अलौकिक सत्ता दी गयी है; और जिसके परिणाम-स्वरूप एक अनंत आत्मा, और अखिल विश्व में व्याप्त उसे अनुप्राणित करती हुई ईश्वरीय सत्ता का भाव कुछ लोगों के निकट वास्तविक सत्य है।

किन्तु जिस प्रकार परम अलौकिक सत्ता सम्बन्धी यह दर्शन, जो विचार, विवेक, अनुभूति और चेतना को बाह्य अथवा भौतिक वास्तविकता से बिलकुल अलग करके उन्हें एक स्वतंत्र सत्ता प्रदान करता है, मिथ्या और भ्रामक है—और जिस प्रकार यह दर्शन हम वास्तविकता पर पर्दा डालता है कि—

"यह भौतिक संसार, जो इंद्रियों द्वारा अनुभव किया जा सकता है और जिसमें हम लोग भी शामिल हैं, एक मात्र वास्तविकता है। हमारा विवेक और विचार शक्ति, जो प्रकट में अनुभव की सीमा से ऊपर जान पड़ते हैं वास्तव में एक भौतिक, शारीरिक यंत्र अर्थात् मस्तिष्क की उत्पत्ति है। भौतिक वस्तु विचार की उत्पत्ति नहीं, बल्कि विचार स्वयं भौतिक वस्तु की श्रेष्ठतम उत्पत्ति है।" (एंगेल्स)

बिलकुल उसी तरह काव्य के विषय में वह सिद्धांत भी निराधार और भ्रामक है जो कविता को मात्र एक परम अथवा दैवी सत्ता देकर उसे हमारे साधारण, व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन से दूर एक ऐसी मिथ्या, भ्रामक आंतरिक तल पर ले जाने का प्रयास करता है, जो इस सिद्धांत के माननेवालों के समक्ष वैचित्र्यलोक और सौंदर्य से अधिक समीप है। और इसलिए वह मौलिक और वास्तव है। यह सिद्धांत 'शुद्ध काव्य' का सिद्धांत कहा जा सकता है।

यह प्रसन्नता की बात है कि हमारे देश में 'शुद्ध काव्य' के पुजारी अभी तक बहुत कम हैं; लेकिन जिस प्रकार और बहुत-सी बातों में हमारा देश पिछड़ा हुआ है, संभव है कि कविता के संबंध में भी वे सिद्धांत और मान्यताएँ, जो फ्रांस में लगभग सौ वर्ष पूर्व, उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में आरंभ हुईं, और सत्तर-अस्सी वर्ष में कई रूप लेकर बीसवीं शताब्दी में इस युद्ध से पूर्व ही लगभग समाप्त हो चुकीं, हमारे यहाँ के कुछ वैचित्र्य प्रेमी अहवादियों तक अब पहुँचें और उनके लिए लगभग अलौकिक खोज का महत्त्व धारण कर लें! किसी सत्य की सूचना अगर हम तक देर में पहुँचे और हम इस कारण उससे देर में अवगत हों, तो उसमें कोई बुराई नहीं। किंतु जो सिक्के खोटे समझकर छोड़ दिये गये, उन्हें कुछ लोग चमत्कार खरे सोने का बताकर हम बेचारे पूर्वीयों पर रोब डालने का प्रयत्न करते हैं। इन लोगों की दृष्टि नये पश्चिमी साहित्य के महान् धारे पर तो पड़ती नहीं, वे पश्चिम के उन साहित्यिक नालों के किनारे बैठकर सर धुनते हैं, जिनमें शायद दुर्गंध तो शेष है, किंतु जिनका जल सूख चुका है।

शुद्ध काव्य की प्रारंभिक मान्यतायें हमें फ्रांस में वर्लें (१८४४-९६) और रैम्बो (१८५४-९१) के यहाँ मिलती हैं। ये दोनों कवि फ्रांस में उस युग में पैदा हुये जब कि उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक युग की साहित्यिक रोमानियत और यथार्थ चित्रण का ज़ोर कम होने लगा था। फ्रांसीसी पूँजीवादी वर्ग ने फ्रांसीसी क्रांति की समस्त जनतांत्रिक परंपराओं को छोड़कर अर्थ-लोलुपता और देश-विजय की हवस अपने अन्दर भर ली थी। मज़दूर वर्ग उभर रहा था। लेकिन अभी तक उसने निश्चित और स्वतंत्र रूप से अपनी सत्ता प्रकट न की थी। सन् १८७०-१ ई० में एक ओर फ्रांस के पराभव ने मध्यवर्ग में घोर

निराशा के लक्षण दिखाने आरंभ कर दिये, विज्ञान और कला कौशल की उन्नति से दिलों में जो उभार पैदा हुआ था, वह दबने लगा, और दूसरी ओर विक्टर ह्यूगो, ज़ोला, मोपासाँ, फ्लाबेयर की लेखनी ने शायद पूँजीवादी वर्ग की अनैतिकता और निचले मध्य वर्ग की कायरता का पर्दा खोलकर देश की नैतिक स्थिति का सच्चा चित्र उपस्थित किया और एक जन तान्त्रिक, बौद्धिक और आर्थिक क्रांति की माँग की। ये लोग वास्तव में एक नये क्रांतिकारी वर्ग के समुत्थान की माँग कर रहे थे, जो पेरिस कम्यून में पराजित हो चुका था, किन्तु जिसने प्रजातन्त्रवादियों के हृदयों में आशा के दीप जला दिये थे।

वर्लें और रैंबो

यह बात याद रखने योग्य है कि वर्लें (१८४४-१८९६) और रैंबो, जिन्होंने शुद्ध काव्य के सबसे प्रारंभिक सिद्धांत, अर्थात् प्रतीकवाद (सिंबलिज़्म) की स्थापना की, वे बोदेलेयर की कविता से प्रभावित थे। बोदेलेयर (१८२१-१८६४) ने—जिसे स्वयं तो प्रतीकवादी नहीं कहा जा सकता, किंतु जिसकी कविता की आत्मा अन्यमनस्कता, थकावट, आत्महत्या की इच्छा, रोग, मृत्यु, शव, निराशा, और एक सामान्य विरक्ति से भरी हुई है—सबसे पहले प्रतीकवादी कवियों, वर्लें और रैंबो पर प्रभाव डाला। और बोदलेयर रोमानी वेदना, दुःखप्रियता और मृत्यु आवाहन को एक विचित्र और अनोखे, लोमहर्षक किंतु चित्ताकर्षक ढंग से अपनी रचनाओं में प्रस्तुत करने में लगा हुआ था। प्रतीकवादियों के निकट बोदलेयर की यह शैली वास्तव में उस आतरिक व्यथा और पीड़ा की ओर संकेत करती थी, जो उसके अपने और दुनिया के जीवन में उसे दिखायी देती थी। यही पीड़ा उसके लिए जीवन की सबसे बड़ी वास्तविकता थी। बोदलेयर के पदों में 'फाँसी पर लटकी हुई लाशें' 'प्रेमिका के मृत शरीर में रेंगते हुये कीड़े' और—

> 'यह दुनिया, सपाट और झूठी, आज,
> कल, परसों, प्रति दिन, हमारा बिम्ब हमको दिखाती है
> विरक्ति के मरुस्थलों में रोमांचकारी भय का एक
> रम्य स्थान।'

संकेत थे यथार्थ की ओर!

संकेतवादियों ने बोदलेयर से भी आगे एक कदम बढ़ाया। वर्लें ने कहा कि शास्त्र सम्मत अथवा रोमांटिक कविता में कल्पना वस्तुतः बौद्धिक कल्पना है। उसने कहा कि यह कल्पना तो वास्तव में रूपक और उपमा द्वारा उस विचार की अभिव्यक्ति है, जो हमारी समझ में आ जाता है या जो समझाया जा सकता है। उसने कहा कि इस प्रकार की कल्पना कवियों के लिए हानिकर है। इसलिए वर्लें ने प्रयत्न किया कि वह अपनी कविता में ऐसे कल्पना बिम्ब प्रस्तुत करे, जिनकी उसे केवल अनुभूति होती हो।

इस प्रकार के बिम्ब आत्मा की एक विशेष अवस्था को व्यक्त करते हैं। यह व्यक्तीकरण सर्वथा आकस्मिक होता है, जिसमें तर्क-संगति या अर्थ का बोधगम्य होना कोई आवश्यक नहीं।

ये धुँधले, बिना सोचे हुए रेखा-चित्र आंतरिक जीवन को व्यक्त करते हैं, और वही तर्क इनका भी है जो कि उसके आंतरिक जीवन का है।

रैंबो ने इस भाव को उसकी पराकाष्ठा तक पहुँचाने का प्रयत्न किया। उसके निकट जीवन के सभी व्यापार, जो प्रत्यक्ष जान पड़ते हैं, व्यर्थ और निरर्थक हैं। 'मैंने तो कल्पना-लोक में रहने की आदत डाल ली है।' उसके मन से वास्तविक अनुभूति हमें यदा-कदा ही और कभी अकस्मात ही हो सकती है। जिस प्रकार हम नदी की लहरों में एक पत्थर फेंक दें तो लहरियाँ थर्रा उठती हैं, यही थरथराहट वास्तविक अनुभूति है। हमारे अंदर एक परी-लोक है जिसे हम समझ नहीं सकते, लेकिन अनुभव कर सकते हैं। एक आंतरिक आकांक्षा हमें उसकी ओर ले जाती है, बिलकुल उसी प्रकार जिस प्रकार हम कोई स्वप्न देखते हों। प्रकट-प्रत्यक्ष संसार का चित्र खींचने का प्रयास मिथ्या है। हमें एक छलांग लगाकर इस दुनिया से निकल जाना चाहिये, और उस दूसरे, काव्य-लोक में जाकर जीवित स्वप्न देखने चाहिये। इस तर्क-परंपरा का अनुसरण करते-करते रैंबो बहुत शीघ्र इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि प्रचलित शब्द और भाषा सपनों की इस दुनिया का नक्शा नहीं खींच सकते। इसलिए उसने भाषा में परिवर्तन करने का प्रयत्न किया। स्पष्ट है, कि यह प्रयत्न असफल हुआ। रैंबो ने वर्षों तक काव्य-रचना छोड़ रखी। उसका जीवन अत्यधिक उत्तेजना और अर्ध विक्षिप्त अवस्था में बीता। उसने बहुत कम लिखा, और उसमें भी अधिकांश ऐसा है कि बहुत चेष्टा करने पर भी किसी की समझ में नहीं आता।

प्रतीकवाद

वर्लें और रैम्बो के बाद प्रतीक-वादियों का समुचित रूप से एक साहित्यिक दल कायम हो गया। इस दल के लोगों ने परम्परानुगत कविता पर कठोर आक्षेप किये। संकेतवादी दल के प्रमुख कवियों में से हैं—ऑरीद रेनिसे, जूलला फ़ोर्ग, गुस्ताफ़ कान।

वर्लें और रैंबो के यहाँ जो चीजें स्पष्ट न थीं, उन्होंने अब कविता के निश्चित सिद्धांत का रूप ले लिया। उनके निकट कविता चेतना की नहीं, बुद्धि या विवेक की नहीं, बल्कि अनुभूतियों की अभिव्यक्ति है चाहे अभी तक कविता का व्यक्तीकरण बुद्धि या विवेक के माध्यम से होता आया है। कवि ने अपने भावावेश को ऐसी भाषा में व्यक्त किया, जिसे पढ़ने या सुननेवाले की समझ ग्रहण कर सके। यहाँ भाषा मानो विवेक के द्वारा पढ़ने या सुननेवाले के भावों को जगाकर उस पर प्रभाव डालती है।—प्रतीकवादियों ने

कहा कि इस क्रिया में कविता की आत्मा कुण्ठित हो जाता है। वास्तविक कविता को भाव नाओं के माध्यम से ही भावनाओं पर प्रभाव डालना चाहिए इसलिए कविता में विचार वस्तु या तथ्य की अभिव्यक्ति न होनी चाहिए। इन शैलियों को त्याग कर उसे सकेतों (प्रतीकों) और चिह्नों से काम लेना चाहिए। उसे अर्थ और व्यञ्जना के सारे उप करणों को छोड़ देना चाहिए। उसे सकेतों की व्यञ्जना से स्पष्ट दिखाना चाहिए। रहस्य; सकेत, श्लेष (न कि रूपक उपमा उक्ति जिन्हें हम अपनी समान समझ के आधार पर प्रयोग करते हैं), गुप्त (दूर) अर्थ वास्तविक कविता के उपकरण ये हैं। स्वयमेव जो बिम्ब हो बिना जाने हुए कि क्यों ऐसा हुआ जो अनुभूतियों की व्याख्या न करें, उन्हें केवल प्रकट करें वही काव्योचित कल्पना है। यह काव्यो चित कल्पना उस फूल के समान होनी चाहिए जो उस वृक्ष को अभिव्यक्त तो करता है जिस पर वह खिला है किंतु उस वृक्ष के समान नहीं होता। इस प्रकार प्रकट और स्पष्ट अर्थों से दूर होकर कविता अपने प्रभाव गुण की दृष्टि से सगीत के अधिक निकट होती गयी। एक सकेतवादी कवि ने यहा तक कह दिया कि 'हमें कविता का अर्थ जानने का प्रयत्न न करना चाहिए बल्कि उसके सगीतिक सकेतों को अनुभव करना चाहिए।' एक दूसरे स्थल पर वर्लादेल ने कहा—

'हमारे निकट भाषा का महत्व अर्थ को व्यक्त करने के लिए कम और चिह्न और सकेत के लिए अधिक है। वे व्यर्थ शब्द जो मस्तिष्क में उभर आते हैं अत्यानुप्रास, एक वाक्य का बार बार दुहराया जाना एक प्रकार का सगीत है, जो धीरे धीरे हमारे चेतन को एक स्थान पर लाकर ठहरा देता है। वस्तुओं का बिंब हमारी कल्पना में खीच पड़ता है, और हर ओर अपनी चमक फैला देता है।'

इन्ही विचारों और सिद्धातों का एक अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि मुक्तछंद ने जन्म लिया।

गस्ताफ कान ने वर्लें, रैंबो और दूसरे प्रतीकवादियों के पथ पर चलकर अत म काव्य-परपरा के सारे नियम तोड़ दिये। अत्यनुप्रास (तुक), गण (वजन), छद, सब कुछ रखा जा सकता है लेकिन उनमें से कोई एक भी कविता के लिए *आवश्यक* नहीं है। कान के निकट कविता के लिए केवल एक विधान है, *आतरिक सगीत का*, और यह सगीत प्रत्येक कवि के भावावेश पर आधारित है।

मेलार्मे

प्रतीकवादियों के दल से किंचित अलग होकर स्तेफान मेलार्मे (१८४८-१८९८) ने शुद्ध काव्य को एक नये ढग से पेश करने की कोशिश की। मलार्मे प्रतीकवादियों से इस बात में सहमत था कि कविता मनुष्य के लिये उसी हद तक आवश्यक है जितनी

कि गद्य। हर मनुष्य में तर्क-बुद्धि होती है, जिससे गद्य पैदा होता है। इस तर्क-बुद्धि से बिलकुल भिन्न उसमें भावनायें भी होती हैं, जिनका अनुवर्तन वे शब्द नहीं कर सकते, जो गद्य में प्रयुक्त होते हैं। इसलिए कविता बुद्धिगम्य अभिव्यक्ति या वर्णन नहीं, बल्कि सांकेतिकता अथवा प्रतीक की आवश्यकता है। मेलार्मे, प्रतीकवादियों की तरह, यह भ कहता था कि प्रतीकवाद माँग करता है कि शब्दों को संगीतपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए, उनके अर्थों से उन्मुक्त होकर, प्रयोग करना आवश्यक है। लेकिन इस मंजिल तक प्रतीकवादियों का साथ देने के बाद, मेलार्मे का पथ उनसे अलग हो जाता है। मेलार्मे का विश्वास था कि इस संसार से, जहाँ मनुष्य खाते-पीते, वाद-विवाद करते, पुस्तकें लिखते और जीवन बिताते हैं, अलग एक दूसरा संसार भी है, जो इस संसार से बिलकुल भिन्न है। यह विशुद्ध भावनाओं का संसार है।

प्रतीकवादी कल्पना और अनुभूति के एक ऐसे संसार के क़ायल थे, जो इस संसार से एकदम भिन्न है; जो धुँधला और आवेशमय और उनके शब्दों के घेरे में नहीं आ सकता। इसके विपरीत मेलार्मे प्रत्यक्ष संसार, प्रत्यक्ष-प्रकट जीवन से अलग एक शुद्ध, भाव-स्निग्ध, उज्वल संसार का क़ायल था। प्रतीकवादियों की कल्पना अगर धुँधली थी, उनकी कल्पना पर यदि विक्षिप्ति का धुँआ छाया हुआ था, तो मेलार्मे की कल्पना का अंतर्लोक दर्पण के समान निर्मल था।

विशुद्ध भाव के अपर लोक की अभिव्यक्ति कविता द्वारा होती है; लेकिन उस लोक तक कैसे पहुँचा जाय? इसके लिए आवश्यक है कि प्रत्यक्ष और प्रकट वस्तु-तथ्य और घटनाओं को कवि छोड़ दे। इस 'बेचारे प्रत्यक्ष जीवन' को छोड़कर वह स्वयं को कल्पना के अंतर्लोक की मादकता में डुबाने का प्रयत्न करे। कल्पना के इन रूपों को और आवेश को अपने ऊपर छा जाने दे। स्वयं को उन तक खिंच जाने दे, बिलकुल उसी तरह जैसे कि एक हलका-सा पंख रबाब के झंकृत तारों पर धीरे-धीरे फिसले, और अंत में तारों से निकलते हुए संगीत की लहरों पर बहने लगे, और फिर उनमें लयमान हो जाय।

मेलार्मे के विशुद्ध भाव का सिद्धांत प्लेटो और हीगल के सिद्धांतों से लिया गया जान पड़ता है। लेकिन एक कवि के नाते मेलार्मे के सामने अब यह प्रश्न उठा कि इस विशुद्ध भाव की अभिव्यक्ति किस भाषा में की जाय। साधारण भाषा की परंपराओं द्वारा शुद्ध काव्य की अलौकिक कल्पनाओं का अनुवर्तन किस प्रकार हो सकता था? शब्दों के अर्थ तो कर्मशील जीवन की आवश्यकताओं को व्यक्त करते हैं। वे भला शुद्ध भाव के वातावरण में किस प्रकार सजीव रह सकते हैं? निरपेक्ष भावनाओं के लिए कौन-सी भाषा प्रयुक्त की जाय?—इस कठिनाई का समाधान करने के लिए मेलार्मे संगीत की ओर मुड़ा। जिस प्रकार विभिन्न लयों के रागात्मक मेल (सिंफ़नी) में 'लौटने

वाले' स्वर होते हैं और ये स्वर पूरे सरगम में कभी पहले और कभी बाद में अदा किये जाते हैं, कभी एक स्वर पूरा होकर दूसरा उठता है, कभी एक धीमा पड़ जाता है और दूसरा उभरने लगता है, और उन सबके योग से संगीत अपना संपूर्ण रागात्मक रूप लेता है—इसी प्रकार कवि के भावावेश से काव्यगत 'लौटने वाले' कुछ या कई स्वर पैदा होते हैं। संपूर्ण कविता उसी के पूर्ण आध्यात्मिक प्रभाव का अनुवर्तन या अभिव्यक्ति करेगी। उदाहरणार्थ, इस संघर्ष की अभिव्यक्ति की कविता उन्मुक्त वातावरण में उड़ने का प्रयत्न करती है, और जीवन की प्रत्यक्ष वास्तविकता उसे उड़ने से रोकती है। अस्तु, पद्य में शब्द और वाक्य लयमान सुरों की तरह उभरेंगे, दबेंगे और फिर उभरेंगे वे साधारण तर्क के अधीन न होंगे, इसलिए कि वे स्वर लय युक्त संगीत के सिद्धांत के अनुसार बाँधे जायेंगे, किसी आंतरिक लय की अभिव्यक्ति के लिए प्रकट में असंगत और बेजोड़ ढंग से भी प्रयुक्त हो सकेंगे। इस कारण मेलार्मे की कविता की एक विशेषता यह है कि अर्थ समझने के लिए उसकी अन्विति करने या पदों का क्रम बदलने से सारी कविता का सांगीतिक योग ही नष्ट हो जाता है।

मेलार्मे ने शब्दों में भी नयी विशेषताएँ पैदा करने का प्रयत्न किया। यह तो नहीं कि शब्दों को उनके रूढ़ अर्थों से मुक्त कर दिया, पर शब्दों की ध्वनि और गूँज, उनकी प्रतीकात्मक भावमयता पर ध्यान देकर मेलार्मे ने यह अवश्य किया कि शब्दों को उनके साधारण अर्थ के अतिरिक्त नये भावों से भर दिया, और शब्दों की उस प्रतीकात्मक भावमयता के योग से सम्पूर्ण कविता का प्रादुर्भाव हुआ।

इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि मेलार्मे की कविता धीमे धीमे बहुत अधिक संदिग्ध अर्थवाली और अस्पष्ट हो गयी। मेलार्मे को इसका ज्ञान था लेकिन उसने कहा कि कवि को समझने के लिए स्वयं कवि होना आवश्यक है, कविता से प्रभावित होना ही काफी नहीं। श्रोता या पाठक को उसका पुनर्निर्माण भी करना चाहिए। ऐसी परिस्थिति में इसकी संभावना है कि पाठक की कविता और मूल कविता का निर्माण एक-सा न हो, इसलिए कि समान होने के लिए कविता को बुद्धि की सहायता से समझना आवश्यक होगा, और ऐसा करना संभव नहीं। इसलिए पाठक स्वयं अपनी 'कविता' का निर्माण करेगा। ऐसी परिस्थिति में कविता की स्थिति एक ऐसे केन्द्र-स्थल की-सी होगी जहाँ से हम शुद्ध भाव के प्रशस्त वायुमण्डल में उड़ जा सकें।

वालेरी

मलार्मे की कविता और उसके विचारों ने जिन लोगों को प्रभावित किया, उसमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व पॉल वालेरी का है। वालेरी (१८७१ १९४५) ने शुद्ध काव्य के सिद्धांत को एक नये ढंग से पेश किया। वालेरी अनुभूति, भाव, आवेश,

कल्पना, और कवि-स्वप्न—सबका कट्टर विरोधी था। उसने कविता का मूल आधार केवल 'शुद्ध उद्भावना' को बनाने का प्रयत्न किया, बोध की वह अवस्था जो भावनाओं और अनुभूतियों से असंपृक्त हो। देकार्त के विख्यात सिद्धांत 'सोचता हूँ, इसलिए हूँ' के केवल प्रथम भाग को वालेरी स्वीकार करता था। दूसरे भाग में जीवन को स्वीकार किया गया है, इसलिए वह वालेरी को मान्य न था। वालेरी ने एक बार लिखा कि 'मैं सोचता हूँ'—का क्या अभिप्राय है? अधिक से अधिक एक वर्णनातीत स्थिति की उद्भावना।

उसने यह भी लिखा—"जब जिस क्षण में एक विचारशील व्यक्ति अपने होने को स्वीकार करता है, उसी क्षण में ही जो कुछ वह सोचता है, उसे पूर्णरूपेण जान लेना संभव होता (बजाय इसके कि उसकी दार्शनिक व्याख्या कर दी जाय) तो हम क्या पाते ?"

वालेरी ने प्रयत्न किया कि अपने काव्य और दर्शन का निर्माण इसी पकड़ में न आ सकनेवाली 'उद्भावना' से करे। अपनी उद्भावना को चेतना के स्तर पर लाने से कुछ रूप-रेखाओं का प्रादुर्भाव होता है। कवि इन रेखा-चित्रों को देखता है, लेकिन व्यक्त नहीं कर सकता। यह अनिर्वचनीय ध्यान-चित्र एक अनिर्वचनीय आनंद प्रदान करता है। कला का वास्तविक आनंद यही है। यदि कहीं ऐसा हो कि इस क्रिया में उसके मन में उत्तेजना और हृदय में गर्मी पैदा हो जाय और वह जीवन के प्रशस्त पथों से गुजरने लगे, तो वह भ्रांति है। उस पथ से पुनः शुद्ध उद्भावना के साधनामय बीजगणितात्मक लोक में लौट आना कला के लिए आवश्यक है। वालेरी का कहना था :

'मैं उन सब विचारों को केवल उपेक्षा की ही दृष्टि से देखता हूँ जो मनुष्य में उसके कष्ट या भय के कारण उत्पन्न होते या संचालित होते हैं।'

वालेरी यूनानी रूपकथा के उस एकाकी रहनेवाले नार्सिसस के समान था, जो ताल में अपने प्रतिबिंब को देखकर उसी पर मोहित हो गया था। वालेरी अपने आग्रह में यह भी सहन नहीं करना चाहता था कि आकाश पर उड़ते हुए बादलों और किनारे पर लगे हुए फूल के पौधों के बिंब की ओर ध्यान दे। वह केवल अपने विचार-बिंब पर दृष्टि जमाए रखना चाहता था। उसे मानवता या मानव-जाति में तनिक-सी भी कोई दिलचस्पी न थी। मानवीय दुःख-सुख के प्रत्येक दृश्यों को दूर करके वह निरपेक्ष विचार और विशुद्ध उद्भावना बन जाना चाहता था। रोने और हँसने के बारे में एक जगह उसने लिखा :—

'प्रसन्नता और शोक को प्रकट करने की ये मशीनें कितनी विचित्र हैं—विचार को सहन करने के लिए विवशता के यंत्र!'

अब इसके बाद यही शेष रह जाता है कि निरपेक्ष उद्भावना का यह पुजारी अपनी चेतना की दुनिया में ही अपने को बंद कर ले, किसी प्रकार की भावना या अपने अह से बाहर की दुनिया से अपनी चेतना को लिप्त न होने दे। किसी भी पथ से बाह्य लोक और बाह्य जीवन को अपने विचारों के स्फटिक प्रासाद में प्रवेश न होने दे। जैसा अरोता और विचित्र आदर्श है! यह विचारों का लोक इस जगत और उसके प्रत्येक दृश्य से बिलकुल पृथक् होकर अस्तित्व में आता है। वालेरी ने अपनी एक कविता में कहा है —

यहाँ ऊपर अर्द्ध बिंदु, गतिहीन ऊर्ध्व बिंदु
अह की कल्पना करता है, और अह पर ही समुद्भित है।

वालेरी मानव अनुभूतियों और भावनाओं का विरोधी इसलिए हुआ था, ताकि वह अह के मूल तक पहुँचे, अह को जाने। लेकिन अंत में उसे असफलता का मुँह देखना पड़ा, और उसने स्वीकार किया—

'यदि कभी ऐसा अवसर आये कि चेतना पूर्ण रूप से हम पर छा जाये, तो दूसरे ही क्षण हमारा अंत हो जायगा।'

निदान वालेरी ने प्रकारांतर से स्वीकार किया कि विशुद्ध ध्यान की सफलता हम मृत्यु अथवा अनस्तित्व की मंजिल तक पहुँचा देती है। लेकिन उसे आत्मपीड़न में रस मिलने लगा था। उसने एक स्थान पर लिखा है

'मुझ पर शोक की आत्मा छायी रहती है, जिसे कहीं इसका विश्वास नहीं होता कि जो कुछ उसने समझा है, वह समझा भी है या नहीं। . मैं स्पष्ट और संदिग्ध में कठिनता से अंतर बता सकता हूँ, क्योंकि थोड़ा सा भी सोचने से मालूम होता है कि शब्दों पर भरोसा करना निरर्थक है।'

मेलार्मे ने शब्द को अर्थ के बंधन से छुड़ाने के लिए संगीत तत्व का सहारा लिया था। वालेरी ने भी संगीत तत्व की शरण ली। उसने कहा —

'कविता के लिए यह गर्व की बात है कि उसे गद्य से श्रेष्ठ समझा जाय—कि उसे संगीत पर न्योछावर कर दिया जाय।'

वालेरी अपनी अन्तश्चेतना के तल पर गुनगुनाते हुए शब्दों को पकड़ता है। वह उन्हें कोमल छायाबिंब और उपमाओं के साँचे में ढालकर अछूते वाक्यों और मात्रा के विशेष गणों में प्रस्तुत करता है। शब्दों में अर्थ का लचीलापन दार्शनिक या विचारक के लिए कठिनाइयाँ उत्पन्न करता है, लेकिन कवि किसी विचार को शब्दों के प्रारंभिक रेखा चित्रों में बंदी करने के बाद उसे उपमाओं, स्वर और अर्थ की प्रतिध्वनियों, गति और लय के विधानों से पुष्ट करके जब पद की रचना करता है, तो मन के धुँधलके में पैदा होनेवाले विचारों का रूप अधिक निखरकर सामने आता है। कविता वालेरी के लिए

'भाषा का स्वर्ग' है। भावों, अनुभूतियों और कल्पनाओं का स्वर्ग नहीं, जो हमारे हृदय और मस्तिष्क में गहराई, विस्तार और व्यापकता पैदा करे; बल्कि भाषा से बना हुआ एक ऐसा जौहर जो केवल कवि की विशेष मानसिक स्थिति की अभिव्यक्ति के लिए निकाला गया हो, और जो केवल उसे ही संतोष प्रदान करता हो। उसे किसी दूसरे व्यक्ति से कोई मतलब नहीं। कविता अहं द्वारा अहं का संबोधन है। इसलिए किसी व्यक्ति के लिए इसका अर्थ जानने का प्रयत्न करना व्यर्थ है। शुद्ध काव्य के कोई अर्थ नहीं होते; शब्दों का संतुलन, सुंदर वाक्य, उपमाओं की पच्चीकारी ध्वनियाँ, इन सबके मेल से वालेरी अपने गीतों का निर्माण करता था। 'लोग जिसे ध्वनि कहते हैं, वही मेरे लिये अर्थ है।'

वालेरी का कविता-काल १९१४-१८ का महायुद्ध और उसके फौरन बाद का युग है। लगभग इसी समय फ्रांस, यूरोप और अमरीका के देशों में कला और कविता का वह आंदोलन भी चला है, जिसे आरंभ में 'दादाइज्म' और पीछे सुर्रियलिज्म (अति-वास्तववाद) का नाम दिया गया। वालेरी यदि विशुद्ध उद्भावना और विशुद्ध चेतना के रेखाचित्रों में रंग भर के कविता का निर्माण करता था, तो अतिवास्तववादियों ने उप-चेतन के अँधेरे, तूफ़ानी और तर्कातीत लोक में कविता के स्रोतों की खोज आरंभ की।

'दादा' आंदोलन के पथ-प्रदर्शकों ने, जिनमें आंद्रे बर्तों और लूई एरागों विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, कहा कि उनका उद्देश्य कलाकार को पूर्ण स्वाधीनता देना है—सारे नियम-बंधन और फार्मूलों से मुक्ति। वह प्रचलित कला हो, चित्रकारी हो, संगीत हो, या कविता, सबको मिटा देना चाहते हैं। उन्होंने प्रचलित नैतिकता, समाज, धर्म,—तात्पर्य यह कि हर चीज के विरुद्ध विद्रोह का झंडा ऊँचा किया। उनकी कविताओं और उनकी कला की विशेषता असंबद्धता, सामान्य साहित्यिक सुरुचि का उपहास, लगातार आवेश और अर्थविहीनता थी। यद्यपि अतिवास्तववाद के विधाताओं ने रैंबो की कल्पना-पूर्ण चेतना से अपने को अलग करने का प्रयत्न किया, तथापि मूलतः वे उसके निकट थे और रैंबो का यह कहना कि 'अंततः मैंने अपनी मानसिक दुश्चिंताओं को श्रद्धा के योग्य पाया,' उन पर भी सही बैठता था। अतिवास्तववादी फ्रायड के उपचेतन-संबंधी सिद्धांतों से प्रभावित थे। वे बुद्धि और चेतना के स्थान पर एक तंद्रा की-सी स्थिति में उपचेतन के अथाह समुद्र में डूबकर बिलकुल अनैच्छिक और अज्ञात रूप से काव्य-कल्पना का शिकार करते थे। वह वालेरी की 'शुद्ध चेतना' से आगे निकलकर उप-चेतना के अंधकार में विक्षिप्त-से भटकते हुए घूमने लगे। बाद को अतिवास्तववादियों

के दल व कई विशिष्ट व्यक्ति इस तमपूर्ण नास्ति-पथ से पृथक् हो गये। लुइ एरागाँ और पाल एलोरा इन सबमें आगे हैं। एरागों ने अतियथार्थवादियों के बारे में लिखा है

'यह एक प्रकार से भ्रम के समुद्र में कूद पड़े। और इसका भय है कि अतियथार्थवाद समुद्र की तरह उन्हें नीच धारे में बहा ले जाय, जहाँ विच्छित्ति की मनुष्य भक्षी मछलियाँ तैरती रहती हैं।'

यह है अत्यंत साधारण सी रूप रेखा 'शुद्ध काव्य' के उन विभिन्न सिद्धांतों की, जो प्राय में उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य के बाद प्रारंभ हुए और जो ऐतिहासिक दृष्टि से अपनी जन्म भूमि आधुनिक युद्ध के आरंभ होने के पहले ही त्याज्य और पुराने होकर अपना महत्व खो बैठे थे।

अब हम देखना है कि कविता और कला के ये दृष्टिकोण किन परिस्थितियों में उत्पन्न हुए। वास्तव में उन्नीसवीं शताब्दी के अंत और बीसवीं के आरंभ में योरप का पूँजीवादी समाज ऐसे स्थान पर पहुँच गया था जहाँ कि पूँजीवाद अंतर्राष्ट्रीय साम्राज्यवाद या इम्पीरियलिज़्म का रूप धारण कर रही थी। युद्ध, कमज़ोर देशों की लूट खसूट, बैंक पूँजी का घोर प्रभुत्व, प्रजातंत्र के उन कुल दावों को खोखला प्रमाणित कर रहा था, जो अट्ठारहवीं शताब्दी के अंत और उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में फ्रांस की क्रांति के बाद सारे योरप में फैलाये गये थे। जन साधारण के वोट से चुनी हुई पार्लामेंट जनमत को बनानेवाले समाचारपत्र, राजनीतिक पार्टियाँ, शिक्षा और धर्म संबंधी समितियाँ और संघ—यहाँ तक कि दार्शनिक, कवि, साहित्यिक और कलाकार, सबके सब, किसी न किसी प्रकार पूँजीपतियों के धनोपार्जन का माध्यम बन गये थे।

विज्ञान की खोज और मैकैनिकल उन्नति से मनुष्यता की भौतिक समृद्धि की जो आशायें बँधी हुई थीं, वे मिथ्या प्रमाणित हो रही थीं, इसलिए कि उनसे भी पूँजीपतियों का धन बढ़ाने और अशक्त जातियों की स्वाधीनता छीनने का काम लिया जाता था। इन परिस्थितियों में यह आवश्यक था कि ऐसे दार्शनिक सिद्धांत पैदा हों, जिनमें मानवता से निराशा, जीवन की वास्तविक स्थितियों से (जो बहुधा कड़ु थीं) आँख चुराना, किसी अज्ञात और हवाई, पारलौकिक वास्तविकता का आश्रय कूद कूदकर भरा हो बिलकुल उसी तरह जैसे मध्ययुग के निरंकुश शासक वर्गों के बेतुके स्वेच्छाचार ने सूफ़ी मतों को जन्म दिया, इसी तरह निर्जीव, कठोर, निर्दय और असुंदर पूँजीवाद ने मध्यवर्ग के कतिपय भावुक और आत्माभिमानी व्यक्तियों में एक ओर पूँजीवादी समाज की परंपरागत मान्यताओं, नीति आचार, आर्थिक विधान व्यवस्था की ओर से उदासीनता, और दूसरी ओर स्वार्थपरता, अराजकता, शून्योन्मुखता, नकारात्मक ध्येय, या इससे

एक कदम आगे बढ़कर अलौकिकता में विश्वास और अतियथार्थवाद की भावनायें पैदा कीं। पूँजीपति शासक वर्ग और उनके प्रतिनिधियों ने मध्यवर्ग के 'मानसिक और भावुक विद्रोहियों' को पहले तो परेशान होकर और संदेह की दृष्टि से देखा, इसलिए कि उन्हें इन लोगों के नकारात्मक दृष्टिकोण अच्छे नहीं मालूम होते थे ; लेकिन जब उन्हें यह विश्वास हो गया कि यह नकारात्मक दृष्टिकोण वास्तव में उन पर और उनकी स्थापित की हुई व्यवस्था पर कोई चोट नहीं लगाती, बल्कि इन कलाकारों को उनके स्वनिर्मित कल्पना-लोक की मृगतृष्णा में ले जाकर बेकार बना देता है, तो उन्होंने एक हद तक मध्यवर्ग के इन व्यक्तियों को आश्रय देकर अपने को अभिनववादी और प्रगतिशील साबित करने की कोशिश की। ज्यों ज्यों पूँजीपतियों और उनके नमकखोरों और इन नये कलाकारों में मेल-मिलाप बढ़ा त्यों त्यों उनकी कला जीवन और उसकी वास्तविकताओं से और भी अधिक दूर, उनके विरोध का पक्ष निर्बल और अतियथार्थ के असत्य और आधारहीन कल्पना-लोक में पलायन का पक्ष सबल होता गया।

वास्तविकता यह है कि निचले मध्यवर्ग के ये पढ़े-लिखे व्यक्ति एक आर्थिक और रोमानी अधरलोक में बन्दी थे। वे पूँजीवाद के नरक से अलग होकर अपना न्यारा लोक बनाने की लालसा अवश्य रखते थे, किन्तु अभी तक उनकी चिंताशीलता, विद्याध्ययन और नैतिकता में इतना साहस नहीं आया था कि **वे इस** युग में, जब कि मज़दूर वर्ग कमज़ोर और असंगठित था, मानव भविष्य को इस वर्ग के संघर्ष से सम्बद्ध समझें ; उनमें यह चेतना पैदा नहीं हुई थी कि वे शक्तिशाली पूँजीपतियों की निर्बलता और त्रस्त सर्वहारा मज़दूर वर्ग की शक्ति का अनुमान करके आनेवाली मज़दूर क्रांति (और इस ध्येय के लिए श्रमिकों के संघर्ष) को सारी सामाजिक उन्नति की कुंजी समझें।

अब यदि इस सामाजिक पृष्ठभूमि से हम शुद्ध काव्य के विभिन्न सिद्धांतों की विशेषताओं को देखें तो हमें उन्हें समझने में आसानी होगी।

इनकी चिंताधारा को देखते हुए, प्रतीकवादियों से लेकर वालेरी तक निराशावाद और एकाकीपन की तीव्र अनुभूति इस कविता की विशेषता है। स्पष्ट है कि एक ऐसे समाज में जिसमें अधिकतर मनुष्य असीम कष्ट और त्रास का जीवन व्यतीत करते हैं, जिसमें न्याय नाम को न हो, जिसमें भलाई की निरंतर पराजय और बुराई की विजय होती है, जिसमें प्रेम का नाम शोक पड़ जाय और प्रेम संबंध अक्सर दुःख से बदल जायँ, ऐसे समाज में मानवोचित सहानुभूति, चाहे व्यक्तिगत हो या सामाजिक, कलाकारों की श्रेष्ठ कृतियों से अवश्य झलकेगी, और उसे झलकना भी चाहिये। गोयटे ने कहा है—

"प्रकृति ने हमारे भाग्य में आँसू दिये हैं,
और पीड़ा की कराह, जब वह मनुष्य की
सहन शक्ति से बाहर हो जाती है।
मुझे उसने विपुलतम संगीत और वाणी प्रदान की है,
ताकि मैं अपनी यातनाओं की सारी गहराइयों को
व्यक्त कर सकूँ,
और जब मनुष्य की वाणी व्यथा के आधिक्य
से बंद हो जाती है,
मुझे ईश्वरीय सत्ता की ओर से एक ऐसा वरदान
मिलता है,
कि मैं अपनी व्यथा की अभिव्यक्ति कर
सकता हूँ।

मौलाना रूमी ने इसी भाव को इन शेरों में व्यक्त किया है :—

बशनो अज़ नै चूँ कयामत मी कुनद
वज़ जदाही हा शिकायत मी कुनद
सीना ख्वाहम शरहः शरहः अज़ फिराक़
ता बगोयम शरहे दर्दे इश्तियाक़
अज़ नयस्ताँ चूँमरा बबुरीदा अन्द
वज़ नफीरेम मर्दो जन नालीदा अन्द*

और कीट्स ने कहा है —

जब मुझे यह आशंका होने लगती है, कि मैं न रहूँगा,
इससे पूर्व कि मेरी लेखनी भरे मस्तिष्क से चयन कर चुके
इससे पूर्व कि अनेक पुस्तकों में शब्दों के भण्डार जमा
हो जायँ, जैसे पकी फस्ल खलिहान में इकट्ठा करते हैं—
जब मैं रात के तारों भरे मुखड़े पर
गहरे प्रेम के बड़े बड़े सघन चिह्न देखता हूँ
और सोचता हूँ कि संयोग के चमत्कारपूर्ण हाथों से
उनकी परछाइयों को अंकित न कर सकूँगा

---

* भावार्थ—

सुनो, जो बाँसुरी प्रलय-सी मचा रही है : वह वियोग का उपालम्भ है। मैं हृदय को वियोग का भाष्य बना देना चाहता हूँ, ताकि प्रेमाकांक्षा की पीड़ा कहने में आ सके। मेरी बाँसुरी के व्यथा लोक में सब नर नारी विलाप कर रहे हैं।

और जब मैं—एक लघु अवकाश तक शेष रहनेवाला जीव—
अनुभव करता हूँ कि मैं अब तुझको और न देख सकूँगा
और वे सूझे-बूझे प्रेम की तिलस्मी शक्ति से आनन्द-विभोर न हो सकूँगा,
तब इस विशाल संसार के तट पर मैं अकेला खड़ा होता हूँ,
और विचारमग्न हो जाता हूँ, यहाँ तक प्रेम और प्रसिद्धि
नास्ति-भाव में डूब जाते हैं।

और मीर तक़ी ने कहा है :

उलटी हो गयीं सब तदबीरें, कुछ न दवा ने काम किया ;
देखा ! इस बीमारिये-दिल ने आख़िर काम तमाम किया !

स्पष्ट है कि वह व्यथा, वह पीड़ा, वह निराशा जो इन पदों से टपकती है – उसमें गहरी मानवता है।

इन पदों में शोक और दुःख की सघनता हमको मनुष्यों से दूर नहीं ले जाती, बल्कि हमारे हृदयों में कोमलता, आर्द्रता, पैदा करके हमारे हृदय में सहानुभूति की भावना लाती है। इसलिए ऐसा दुःख-शोक और इस प्रकार की निराशा की अभिव्यक्ति जिसकी गूँज हमारे हृदय में हो, जो उसे इस तरह पिघला दे कि हम उत्तम मनुष्य बन सकें, कविता के सर्वोत्तम दायित्व को पूरा करती है। अरस्तू ने कहा है कि ट्रैजेडी का प्रभाव Catharsis (रेचक) है, यानी इससे मन का कायाकल्प होता है। इस प्रकार की कविता को इसी श्रेणी के अंतर्गत समझना चाहिए।

लेकिन हमें एक ओर इस वेदना और दूसरी ओर नैराश्योन्मुखता और विषाद-प्रियता में अंतर जानना चाहिए, जो विशुद्ध काव्य के कलाकारों के यहाँ भी हम देखते हैं। नैराश्योन्मुखता हमें मानवता से दूर ले जाती है। मनुष्यों से सहानुभूति नहीं, बल्कि उनसे घोर उपेक्षा और उदासीनता का भाव हममें पैदा करती है। नैराश्योन्मुखता मनुष्य की पराजयों को अवश्यंभावी और आवश्यक समझकर हृदयों में कोमलता नहीं बल्कि मुर्दनी पैदा करती है। विषादप्रियता टूटे हुए हृदयों को हमदर्दी के आँसुओं से जोड़ती नहीं, बहते सोतों को सुखाकर बंजर मरुभूमि बनाती है।

संभवतः शुद्ध कविता लिखनेवालों को इसका अनुभव होता था। इसी कारण वह कभी यह कहते हुए न थकते थे कि वह कविता केवल अपने लिए करते हैं, चाहे यह कहना कितना ही अर्थहीन क्यों न हो। इसी कारण उनको यह बात विचित्र नहीं लगती

थी कि उनकी कविता बहुत बार विक्षिप्तता, अर्थहीनता और निरर्थक अतर्मुखता की सीमाओं में पहुँचकर निःसार और व्यर्थ हो जाती थी।

शुद्ध काव्य की दूसरी विशेषता उसका बाह्य वास्तविकता को अस्वीकार करना है। प्रतीकवादियों ने भावनाओं के अवचेतन आवेश को कविता का मूल समझा। मेलार्मे और वालेरी ने 'विशुद्ध ध्यान' पर उसका आधार रखने का प्रयत्न किया, और अति यथार्थवादियों ने उपचेतन के समुद्र से मोती निकालने चाहे। इन सबको प्रत्यक्ष जीवन, प्रकट भावों व भावनाओं व साधारण मनुष्यों की साधारण बातों में कविता की सामग्री दिखायी नहीं देती थी। वह इस सारे सिलसिले के प्रति उदासीन थे। वह अपने चाँदी सोने के महल और मोती के खेमे, कल्पना लोक की अनदेखी अनसुनी दुनिया में उठाना चाहते थे। एक अछूती, आकर्षक और मन भाती दुनिया जहाँ उनका और उनके विशुद्ध काव्य का राज हो, जहाँ वे स्वतंत्र हों, उन पर कोई बन्धन न हो और वे प्रसन्न हों। यही उनके लिए सौन्दर्य था, यही सत्य ; इसी की खोज और इसी की अभिव्यक्ति उनके लिए वास्तविक और एकमात्र कलात्मक तोष।

इस प्रयत्न का असफल होना अवश्यम्भावी था। 'शुद्ध काव्य' वाले शब्दों के बंधन से निकलने का बार बार प्रयत्न करते थे। किंतु एक कवि के लिए यह किस प्रकार संभव है? और यदि शब्दों का प्रयोग होगा, तो फिर मानव समाज और सामूहिक आर्थिक जीवन से संबंध होना भी आवश्यक है। वाणी विज्ञान हमको बताता है कि मनुष्य की बोली और भाषा का एक एक शब्द, उसकी एक एक अर्थपूर्ण ध्वनि जो हमारे मुख से निकलती है, दशाब्दियों और शताब्दियों के आर्थिक जीवन, सामूहिक अनुभवों, का फल है। भाषा और उसका एक एक शब्द बोल और वाणी (जिसके द्वारा हम, विचार हों या भाव, दोनों को प्रकट करते हैं) हमें कहीं ऊपर से वरदान रूप में नहीं प्राप्त हुए हैं। बल्कि वह एक सुदीर्घ कालगत जीवन क्रिया का ध्वन्यात्मक बिंब है, और धीरे धीरे उसका विकास हुआ है। जब हम बिना शब्दों की सहायता के सोच तक नहीं सकते, और जब अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए भी हमको शब्दों की आवश्यकता है, तो स्पष्ट है, कि शब्दों और तर्क और अर्थ के बंधन से कविता को निकालने के अर्थ यही हो सकते हैं कि वह या तो संगीत हो जाय (शब्दों से मुक्त) और इस रूप में कविता न रहे, या फिर उसके अर्थ लोप हो जायँ और वह कवि के 'विशुद्ध' सौंदर्य या 'विशुद्ध' विचार की अभिव्यक्ति करे और दूसरों के लिए बेकार हो, क्योंकि वह आंतरिक भावनाएँ, जिनकी वह अभिव्यक्ति करेगी, केवल उसी स्थिति में दूसरों की समझ में आ सकती हैं, जब कि वह ऐसे शब्दों में और इस ढंग से कवि के भाव और विचार की अभिव्यक्ति करें कि वह कवि और कविता के पाठक या श्रोता के बीच पुल बन जाय और उभय पक्ष की भावनाओं को एक दूसरे से मिला दे, और हृदय से हृदय का तार जोड़ दे।

इसलिए हम कह सकते हैं कि वास्तविक जीवन से कविता को अलग कर देने का प्रयास ऐसा है जैसे एक पौधे को ज़मीन से निकालकर जीवित और हरा-भरा रखने का प्रयास। जब तक जीवन, उसके संघर्ष, उसकी प्रगति से कविता सम्बद्ध नहीं होगी, उस समय तक उसमें प्राण, प्रभावात्मकता, सजीवता और नवीनता पैदा नहीं हो सकती। और जब तक जीवन के संघर्ष में कवि उभरती हुई जनता की क्रान्तिकारी शक्तियों की चेतना नहीं प्राप्त कर लेगा और संसार का एक स्वस्थ दृष्टिकोण न रखेगा, उसकी कविता शैथिल्य, ह्रास और पतन की ओर ही बढ़ेगी।

इसलिए हम कह सकते हैं कि शुद्ध काव्य के माननेवालों में प्रतीक, संगीत, कल्पना की तर्क संगति से हटकर मूर्त्त या चेतन को ऐसे शब्दों और वाक्यों के सुन्दर रूपों द्वारा प्रस्तुत करना जो अछूते हों : यह सब कुछ—उनकी ग़लती न थी, बल्कि फ्रेंच कविता में उनके इस प्रकार के प्रयत्नों से टेकनिकल (कला प्रकार की) दृष्टि से, एक हद तक उन्नति भी हुई। उनका यह भी कहना ठीक था कि कविता को उस पुष्प के समान होना चाहिए जो वृक्ष को प्रकट तो करता है, लेकिन फिर भी वृक्ष से भिन्न होता है। उनकी ग़लती यह थी कि वह वृक्ष और उसके पुष्प दोनों को जीवन-दायिनी भूमि, वातावरण, वायु से असंबद्ध समझते थे। कविता भावावेश, कल्पना और स्वप्न अवश्य है, किंतु कल्पना, स्वप्न, भावावेश स्वयमेव पैदा नहीं होते या कोई ईश्वरीय अमानवीय या लोकोत्तर शक्ति कवि की चेतना में इनका आविर्भाव नहीं करती। स्वप्न भी वास्तविकता और जीवन के संघर्ष से पैदा होते हैं और वास्तविकता और जीवन को प्रभावित करते हैं और उन्हें बदलने में योग देते हैं।

सच्ची कविता भी हमें स्वप्न दिखाती है। वह यथार्थ का चित्रण नहीं। अरस्तू के कथनानुसार 'कविता का काम, जो कुछ हुआ है उसका वर्णन करना नहीं, बल्कि जो होनेवाली वस्तु है, या जिसे होना चाहिए, उसका वर्णन करना है।'

आधुनिक कविता को यदि एक ओर धार्मिक कपोल-कल्पना से बचना है (जिसका परिणाम 'तसव्वुफ़' था) तो दूसरी ओर विशुद्ध काव्य और विशुद्ध सौंदर्य के भ्रामक पथ से भी बचना है। उसकी जड़ें बुद्धि, विवेक, ज्ञान, सचेतना और जीवन के अनुभव की ठोस भूमि में पहुँची हुई होनी चाहिए। केवल इसी प्रकार आधुनिक युग में इसका विकास संभव है। केवल तभी हम कविता के उद्यान में ऐसे फूल खिला सकेंगे जो हमारे जीवन को सुंदर और हमारी आत्मा को विशाल बना सकें।

मथिलीशरण गुप्त

ययाति-शर्मिष्ठा

कर रहा आवृत्ति नूतन नित्य लका काड
राम ही रक्षक न हो तो क्या बचे ब्रह्माड
नमो नारायण नरोत्तम नर नितांत समर्थ
नमो भारति देवि वंदे व्यास जय के अर्थ
नित नया है देव दानव समर घोर कठोर
अमरता इस ओर तो संजीवनी उस ओर!
रह सका है कौन कब अपने अहं को भूल
जाय कोई पुरुष कैसे प्रकृति के प्रतिकूल?
गुरु बृहस्पति शुक्र रखें लाख पक्ष विभेद
किंतु उनके सुत सुता भी मिल न पावें, खेद!
तज गया कच शील रख संजीवनी का लोभ
देवयानी का प्रणय ही बन गया निक्षोभ
आय शर्मिष्ठा दनुज कुल राज कन्या रत्न—
गुरु सुता को साधने में हो गयी हत यत्न
दे सकी उसको न तो क्रीड़ा कला ही मोद
ले सकी कुछ वह न तो आख्यान वस्तु विनोद
निजन निकला आलियों को क्यों न लेती साथ
थिर न था मन, वह भ्रमण म क्यों न देती साथ
भग्न कुंठा मलिन चाहे था घटा का राग
पर नदी जल भी बुझा पाया न उसकी आग
नृप सुता जल से निकल उसका वही पट धार
छोड़ उसने अर्थ निज ज्यों ही बनाये प्यार
बिगड़ कर उसने कहा—"क्या खा गयी हो भाँग
कर रहा यह कुपट परिवर्तन कहाँ का स्वाँग!"
हँस कहा इसने, "बहन, दो बंधु पलटें पाग
पट पलट तो क्यों न हम भी दृढ़ करें अनुराग?"

"आह, यह साहस तुम्हारा, साम्य मेरे संग !"
हो गयी थी क्रोध से उसकी भृकुटियाँ भंग।
शांत फिर भी यह रही रखती हुई रस रम्य
"साम्य ही तो काम्य है सखि, विषभरा वैषम्य !"
"सीख रहने दो, नहीं है यह तुम्हारा काम;
पीढ़ियों तुमको पढ़ा सकता अभी गुरुधाम !"
"उस पढ़ाई की प्रकट हो यदि तुम्हीं प्रतिमूर्ति
तो नहीं उसके लिए मुझमें तनिक भी स्फूर्ति !
प्राप्त है गौरव तुम्हें तो है मुझे भी मान !"
"वह न लौटें इन पदों में तो मुझे है आन।
दंड अपनी धृष्टता का तुम सहोगी आप !"
"दंड पर अधिकार मेरा, दो भले तुम शाप !"
बढ़ गयी यों बात, आहा ! घात में प्रतिघात,
अंत में उसका हुआ बन गर्त में विनिपात
छोड़ कर उसको वहीं यह लौट आयी आप
आर्द्र पट उसके सुखाता रह गया उत्ताप !
"निकल तो पाऊँ यहाँ से तब न लूँ प्रतिशोध—
मन, प्रतीक्षा कर ठहर, दृढ़धैर्य धर निर्बोध !"
आ गये सहसा वहाँ आखेट शील ययाति
व्याप्त थी सर्वत्र जिनके राज कुल की ख्याति
देख उसको,—"कौन तुम ?" कह रह गये वे मौन
प्रश्न ही उसने किया—"पहले कहो तुम कौन ?"
"नहुष-पुत्र ययाति हूँ मैं, अब कहो भय छोड़ !"
"नहुष ?" रुक कर तनिक वह बोली मसृण तृण तोड़
"स्वर्ग के शासक हुए जो भूमि पर धृतिधाम ?"
"पुण्य भूमि कहो, हमारी भूमि का जो नाम !"
"पुण्यभूमि यथार्थ, जिसके पुरुष ऐसे धन्य,
ठीक है, मेरे लिए तब तुम नहीं हो अन्य।
मैं करूँ ऊँचा सुकृति, नीचा करो तुम हाथ,
खींच लो ऊपर मुझे करके कृतार्थ सनाथ !"
वाक्य पूरा कर अचानक हो गया मुँह लाल,
कर उठा फिर भी झुका तत्काल उसका भाल।

"पाणि पीड़न के लिए सुकुमारि, मैं हूँ क्षम्य,
दीखती मुझको नहीं इसके बिना गति गम्य।"
भूप ने हँस कह यही उसका किया उद्धार
सुन पड़ी तत्क्षण वहाँ, "हाँ देवयानि," पुकार।
हो रहे उन्मत्त से थे दैत्य गुरुवर आज,
साथ नंगे पैर दानव राज था ससमाज।
'आह बेटी," कह उन्होंने आ भरा उत्संग
"हा पिता!" ही कह सकी वह भी शिथिल कर अंग।
"शांत हो बेटी, कहे क्या और तेरा बाप,
राजपुत्री ने मुझे सब कुछ सुनाया आप।
प्रकट कर अभिलाष अपना तू अशंक अबाध
मूल्य रखती है क्षमा ही, सुलभ है अपराध।"
"दंडपाणि समर्थ का अपराध कैसा तात?
और भिक्षुक की क्षमा तो है हँसी की बात।"
भूप वृषपर्वा बढ़ा—उसने कहा कर जोड़
"गुरु स्वयं भिक्षुक बने हैं राज्य हमको छोड़
दंड से कायर डरें करते नहीं कुछ दोष
गुरु सुनें, आज्ञा करें कुछ भी तुम्हारा रोष।
हम सभी सेवक तुम्हारे, यह तुम्हें है ज्ञात।"
'किंतु शर्मिष्ठा हमारी स्वामिनी विख्यात!"
दैत्यपति ने घूमकर देखा सुता की ओर
सहज ही आगे बढ़ी वह भोर की सी कोर
और बोली गुरुसुता से गर्व पूर्वक हार—
"स्वकुल कल्याणार्थ मुझको दास्य भी स्वीकार।"
शांत इस विधि हो गया यह कलहपूर्ण अनिष्ट
किंतु बहुधा अंत को भी इष्ट है परिशिष्ट।
जिस सदय राजर्षि ने आकर धरा था हाथ
देवयानी ने वहाँ उसको हृदय के साथ
सहचरी सह अनुचरी बन छोड़ राजस रंग
अवश शर्मिष्ठा गयी उस गर्विणी के संग।
नीतिमत ययाति ने रखी उचित रस रीति
एक से थी भीति उनको दूसरी से प्रीति।

देवयानी को मिला मातृत्व यदुसुत जन्य
और शर्मिष्ठा हुई पुरुपुत्र पाकर धन्य।
वह छिपा रखती कहाँ तक आत्म रूप रसाल
क्रुद्ध हो उसने कहा—"पाया कहाँ यह लाल ?"
"यह तुम्हारे अनुचरण का फल, कहूँ क्यों झूठ ?"
"अनुचरी वा तुम सपत्नी ?" कह उठी वह रूठ
हाय ! जननी के हृदय पर कब न लोटा साँप,
चरण धर उसने कहा निजभावि भय से काँप,
"मैं तुम्हारी, यह तुम्हारे पुत्र का है दास,
तुम स्वयं जननी, दया चीन्हो न दो यों त्रास।"
"माँ हुई, समझी न तू माँ के हृदय का क्षोभ
छोड़ देगा हाय ! क्या यह राज्य का भी लोभ ?"
"देवि, हा, मानव भले ही कर सकें यह बात,
तुम न भूलो किंतु यह दानवसुता का जात।"
"किंतु माँ का भी न लेगा पुत्र क्या प्रतिशोध ?"
कह पिता के घर गयी वह मानिनी सक्रोध।
नहुप-नंदन को दिया गुरु ने जरा का शाप
पर स्वयं तापित हुए वे देख उनका ताप।
इस कृपा के ही लिए माना नृपति ने पुण्य—
वे जरा देकर किसी को ले सकें तारुण्य।
दे सके पर वे किसी पर को न अपना क्लेश,
साथ ही थी भोग की इच्छा अभी अवशेष।
ज्येष्ठ सुत यदु ही हुआ उनकी व्यथा का लक्ष्
किंतु माँ का ही प्रबल उस पुत्र में था पक्ष।
"जब गया तब पुत्र की ही ओर जनरव-रोप
पर पिता अपिता बने तो पुत्र का क्या दोष ?"
"यदु ! पिता के साथ ही मैं हूँ नृपति भी आज
छोड़ बैठा हाय ! क्या तू लोक की भी लाज ?"
"ओह ! क्या ऐसा पिता भी मोह करने योग्य ?
और ऐसा नृपति तो विद्रोह करने योग्य।"
हट गया यदु, कर गया मानों भरा घन वृष्टि,
तब पड़ी पुरु पर पिता की दुःख कातर दृष्टि।

"तात, जीवन है जरा में, मरण भी स्वीकार
हो सके यदि आपकी इस आर्ति का उपचार।"
"वत्स, तुमको ही रहा इस राज्य का अधिकार,
मैं जनक हूँ, त्याज्य सुत भी पा सके सुख-सार
जान जो पाया नहीं अपने पिता की भीर,
समझ पावेगा कहाँ से वह प्रजा की पीर।"
अत में नृप की मिटी वह भोग विषयक भ्रांति
और लेकर निज जरा पायी उन्होंने शांति।
भोगने से कब घटे हैं रोग रूपी राग
और बढती है निरंतर ईंधनों से आग।

चिरगाँव
शुक्ल श्रावण, २००८।

स० ही० वात्स्यायन

हम यायावर !

नौशेरा से दूसरा विकर्षण—ऐसे धुआँधार पंडित क्या अब नहीं रहे जो विकर्षण और अंग्रेजी 'एक्सकर्शन' की व्युत्पत्ति एक ही धातु से कर दें !—होती-मर्दान और तख्त-बहाईका रहा। काबुल नदी पार करके रिसालपुर छावनी के पास से सड़क जाती है। रिसालपुर में—जैसा कि नाम से स्पष्ट है—रिसाला रहता है और एक हवाई अड्डा भी है।

मर्दान में भी 'गाइड्स कैवेलरी' का मेस गांधार शिल्प का संग्रहालय ही था। अधिकांश सामग्री मलाकंद और स्वात की दून की खुदाइयों में प्राप्त हुई थी और फ़ूशे ने अपने ग्रंथ 'सूर ला फ्रोंतियेर इंदो-अफ़गान' (भारतीय-अफ़गान सीमा पर) में उसका वर्णन किया है ; शेष सामग्री रिसाले के अफसरों द्वारा जब तब एकत्र की जाती रही। मर्दान से उत्तर-पूर्व शाहबाज़ गढ़ी में अशोक का प्रसिद्ध लेख है जो खरोष्ठी लिपि में लिखा है।

मर्दान से आठ मील दूर तख्त-बहाई और शहर-बहलोल के बौद्ध अवशेष हैं। किंतु उनकी यात्रा का वर्णन करने से पहले थोड़ी भूमिका आवश्यक है।

यायावर का नियम था कि जहाँ-जहाँ जाता वहाँ के प्रमुख व्यक्तियों से मिल लेता, कभी-कभी इन्हीं के साथ जहाँ-तहाँ घूमने का प्रसंग भी निकल ही आता। इसी तरह नौशेरा से एक रूसी कलाकार उसके साथ हो लिये थे। उन्हें सुविधा के लिये रूसी कलाकार कह लिया जाय, अन्यथा इस उपाधि के दोनों पदों की व्याख्या होनी चाहिए। ये सज्जन जन्मतः पोलैंडवासी व्हाइट-रशियन रहे ; रूसी क्रांति के समय इनके पिता भागकर चीन चले गये थे और उत्तरी चीन में बस गये थे। लड़का एंटन चीन में घर से असंतुष्ट होकर पहले हाङ्काङ् और फिर शाङ्हाई भाग गया था, और फिर उपजीविका के लिये शाङ्हाई की फ्रांसीसी पुलिस में भरती हो गया था। इस प्रकार उसने फ्रांसीसी नागरिकता पा ली थी। वहीं संगीत में रुचि के कारण वह पुलिस बैंड का निर्देशक बना था, और पीछे नौकरी छोड़कर रंगमंच का संगीत-निर्देशक और अभिनेता भी हो गया था। थोड़ी बहुत चित्रकारी भी जानता था, अतः पर्दे आदि रँगने का काम भी कर लेता था। दूसरे महायुद्ध के समय भारत आकर वह भारतीय नृत्यकला और लोकनाट्य का अध्ययन कर रहा था। वह अध्ययन उसे नौशेरा कैसे ले गया, यह

प्रश्न व्यर्थ है, उपर्युक्त वर्णन से समझ लेना चाहिये कि उसके भी दोनों सिरों में चक्कर था।

तो मर्दान के मेल मिलाप में ये दोनों साथ साथ लोगों से मिलते थे। प्रभावोत्पाद कता के लिये कभी दूसरों के सामने 'अहो रूप अहो ध्वनि' भी कर लेते थे, और कभी कभी अकेले किसी से मिल कर दूसरे की बड़ाई कर आते थे—एटन की हिंदी में (जो उसने कलकत्ते में बंगालियों से सीखी थी।) 'ये साब चालता हाय—ऐसा क्यूँ नेइ करेगा!' निदान '—' के नवाब से एटन मिलने गया और यायावर की तथा अपनी तरफ से उन्हें चाय पर निमंत्रित कर आया।

नवाब साहब मर्दान के सर्कट हौस में पधारे तो यायावर द्वय देखते रह गये—उनके साथ आठ अंगरक्षक राइफलें लिये हुए आये और जब नवाब साहब को कुर्सी दी गयी तो पीछे कतार बाँध कर खड़े हो गये। भेंट यों भी औपचारिक थी, इस असाधारण वातावरण में वार्तालाप कुछ बहुत हार्दिक नहीं हुआ यह समझा ही जा सकता है! फिर भी उसे चलाये रहने के लिये तख्त बहाई की बात छेड़ी गयी, जिस पर नवाब साहब ने पथ प्रदर्शक भेज देने का वचन दिया। इससे आगे भी वह व्यवस्था करने का आश्वासन देते थे, पर उनके अपने अमले को देखकर अनुमान किया जा सकता था कि वह व्यवस्था कैसी होगी, अतः उसे धन्यवाद देकर टाल दिया गया। अंत में नवाब साहब ने दोनों को उपहार स्वरूप एक एक छोटा स्वाती कम्बल दिया। इस अप्रत्याशित कृपा पर प्रतिदान देने के लिए उपस्थित कुछ नहीं था, अतः यायावर ने अपने सामान में महीनों से सँभालकर रखा हुआ पुर्तगाली ब्रांडी का अद्धा, और उसकी देखादेखी एटन ने घर की याद को मीठा बनाने के लिए छः साल से छिपायी हुई रूसी वोद्का की बोतल उन्हें भेंट कर दी। नवाब साहब स्पष्टतया इस प्रतिभेंट से तुष्ट हुए दीखे, दूसरे दिन प्रातःकाल एक नवयुवक एक तश्त में कुछ खाद्य सामग्री लाया और मालूम हुआ कि वह मार्गदर्शक है।

रविवार था, छुट्टी थी। गाड़ी न लेकर रेल से ही जाने का निश्चय था, जाने और आनेवाली गाड़ी में लगभग तीन घंटे का अंतर था, मार्गदर्शक ने कहा कि अवशेषों को देखने के लिए यह पर्याप्त है।

तख्त-बहाई एक पहाड़ी पर है जिसकी नींव का छोर स्टेशन से आध मील दूर है। मिल जाता है। पहाड़ी लगभग ८०० फुट ऊँची है, बिल्कुल सूखी और नंगी; ढंग का रास्ता पकड़ने के लिए दो मील सड़क से जाकर पहाड़ी के मध्य तक पहुँचते हैं और वहाँ से चढ़ाई आरंभ करते हैं। किंतु मार्गदर्शक 'छोटे रास्ते' से ले जा रहा था न, उसने रीढ़ का छोर पकड़ा और उसी के ऊपरी किनारे किनारे चढ़ चला। पीछे यायावर और उससे पीछे एटन—और यायावर और एटन के बीच का फासला बढ़ता चला...

पहली चढ़ाई के बाद थोड़ी देर के लिए एक समतल-सी जगह मिली—जैसे बाख्त्री ऊँट के दो कूबों के बीच होती है !—तो एंटन ने हाँफते हुए मार्गदर्शक से कहा, "ब—हूत आच्छा रास्ता है ये, क्यूँ ? चढ़ने का मजा आ गिया !" और यायावर से अंग्रेजी में कहा, "अच्छा शार्टकट दिखाया है, पाजी कहीं का !" यायावर ने शरारत से भरकर युवक से कहा, "साहब इस रास्ते से बहुत खुश हैं, और भी छोटा कोई रास्ता है ? ख़तरे की फ़िक्र नहीं है साहब को !"

युवक खिल गया । ख़तरे की फ़िक्र हो भी तो भी पठान गड़रिये की पगडंडी पकड़ता है, अब तो वह बकरी की लीक तक छोड़ेगा न ! वह सचमुच पहाड़ी छाग की तरह सधे हुए पैरों से फ़ुर्ती से उछलता हुआ ऊपर चढ़ने लगा ।

एंटन ने रुककर नीचे से पुकारा, "हे, हे ! हामरा पास में रस्सी नेई है हाम कैसे आयेगा ?"

सचमुच ऐसी परिस्थिति आ गयी थी कि पत्थरों से चिपटकर दरारों में हाथों-पैरों के पंजे गड़ाकर चढ़ना पड़े—मार्गदर्शक भी जहाँ तहाँ हाथों से काम लेता हुआ चढ़ रहा था । दो तीन बार यायावर ने ऊपर से हाथ बढ़ाकर एंटन का हाथ पकड़कर उसे खींचा । युवक ऊपर से खीसें काढ़ कर हँसता रहा । एंटन ने झल्लाकर कहा, 'चीकी बाउंडर !' किंतु फिर शायद सोचकर कि अंग्रेज़ी गाली भी बॉक को सीधा नहीं करती, एक बार, 'हूफ़्फ़' करके बैठ गया और बोला, "ऑल राइट, ऑल राइट ! आई गिव अप !" (अच्छा भई, मैं हारा !)

युवक ने हँसकर कहा, "इससे भी अच्छा रास्ता है—" लेकिन फिर पसीज भी गया, बोला, "अब तोड़ा दूर है बुत का जगेह !"

तख्त-बहाई में, अब, देखने को कम है । चढ़ाई का मार्ग और परिपार्श्व का दृश्य ही मुख्य है, क्योंकि आस-पास के पहाड़ों पर कई विहारों और दुर्गों के अवशेष हैं, और इनकी निर्माण परिपाटी से तत्कालीन वास्तुकला का अनुसंधान बड़ा रोचक है । जंगम कलावस्तु वहाँ अब लगभग नहीं है, जो रही वह या तो पेशावर के संग्रहालय में गयी या पारखियों के निजी संग्रहों में ; बहुत सी व्यापारियों या निरे चोरों के पास भी गयी और जब-तब किसी रूप में प्रकट हो जाती है ।

तख्त-बहाई से लाइन आगे दरगई जाती है, जहाँ से मलाकंद की घाटी का पथ आरंभ होता है । यायावर का इरादा मलाकंद से स्वात नदी के पार चकदरा के किले तक जाने का था, किंतु कई कारणों से वह न हो पाया और उसे दूसरे दिन मोटर से केवल मलाकंद छू आने से संतोष करना पड़ा । किंतु दरगई में बिताये हुए दो घंटे अवश्य सफल हुए, क्योंकि वहाँ उसे पाँच गांधार मूर्तिखंड और एक मसाले की बुद्ध

मूर्ति का सिर प्राप्त हुआ। सामग्री कुछ और भी थी, किंतु कुछ तो अधिक टूटी फूटी थी, और कुछ बड़ी भी, उस सबको ले आना तब सम्भव न हुआ।

और तब न हुआ, तो न हुआ।

और अब न होगा....

× × ×

मर्दान से पेशावर चारसदा होकर आने का विचार था, इसलिए कि एक नया रास्ता भी देख लिया जायगा और एक प्राचीन नगरी का स्थान भी देखा जा सकेगा—चारसदा ही सिकंदर-कालीन राजधानी पुष्कलावती है। किंतु तभी चारसदा में एक घटना हुई जिसमें दो एक भारतीय सिपाही मारे भी गये; फलत चारसदा 'हद स बाहर' घोषित कर दिया गया और रास्ता सैनिक यात्रियों के लिए बंद कर दिया गया।

लौटते हुए रिसालपुर के पास एक घटना घटी। काबुल नदी के पुल और रिसालपुर के बीच में कुछ टीले हैं जिनके बीच में से होकर सड़क जाती है। ये टीले ऐसे हैं कि दूर से आती जाती गाड़ी वहाँ से दीखती है जब कि टीले की ओट बैठा व्यक्ति सहसा नहीं दीखता। पठान युवक ऐसे स्थलों पर बैठ कर चाँदमारी का अभ्यास किया करते हैं—और ऐसे ही स्थलों पर नौसिखिया बंदूकचियों की परीक्षा भी हुआ करती है। झुटपुटे का समय इसके अनुकूल होता है, क्योंकि निशाना दूर से ठीक नहीं जाना जाता कि आती जाती गाड़ी में निशाना कहाँ लगा, जब कि दिया बाती के बाद तुरत पता लग जाता है कि मोटर की बत्ती की शिस्त लेकर चलायी गयी गोली ठीक बैठी या चूक गयी। यायावर ने यह बात नौशेरा में ही सुन ली थी, और जिस जानकार से सुनी थी उसने यह भी उपदेश दिया था कि कभी लाचार झुटपुटे के समय यात्रा करनी पड़ ही जाय तो बत्तियाँ तेज न जलानी चाहिये बल्कि मद्धी करके। क्यों? क्योंकि तेज बत्ती की चौंध होती है, पठान निशानेबाज अगर ठीक शिस्त न ले पायगा तो गोली जहाँ तहाँ लग सकती है, अगर मद्धी बत्ती होगी तो निशाना बत्ती का ही लगेगा।

उस समय यह बात बहुत पते की जान पड़ी थी। यह न सोचा कि निशानेबाज अगर नौसिखिया न होगा तो वह बत्ती का ही निशाना लगाने की मर्यादा नहीं भी रख सकता है, शगल के लिए यह भी तो सोचा जा सकता है कि अगर बत्ती अमुक स्थान पर है तो पिछला टायर कहाँ पर होना चाहिये—या कि देखें तो ड्राइवर की सीट का निशाना अनुमान से लगाया जा सकता है या नहीं! यह बात यायावर की समझ में तब आयी जब वह मर्दान से साँझ को ही लौटा, और टीले के पास आकर उसने बत्ती मद्धी करने की बजाय बिलकुल ही बंद कर दी। उसे अँधेरे में गाड़ी चलाने का अभ्यास कुछ तो था ही, और कुछ वह बढ़ाना भी चाहता था। टीले के मोड़ पर मुड़ते ही एक गोली झन से अगले दायें मडगार्ड पर लगी—शायद पहिये के लिए प्रेरित की गयी थी—

और दूसरी सामने के दो शीशों में से बायें शीशे को भेदती चली गयी । यह ड्राइवर के लिये भेजी गयी रही होगी ; या कि (यह मान कर कि ड्राइवर तो निरा ड्राइवर होता है, और असली सवारी तो बगल में होगी !) साथ के व्यक्ति के अभिवंदन में । एंटन भाग्यवश थका होने से पिछली सीट पर लेटा हुआ था, नहीं तो उस दिन एक रूसी कलाकार कम हो गया होता । यह और बात है कि कोई उसे न रूसी माने, न कलाकार !

थोड़ी देर में दूसरे टीले की ओर मिल गयी, फिर खुला रास्ता, जहाँ बत्तियाँ जला ली गयीं...

× × ×

तीसरा अभियान—कोहाट ।

पेशावर से यों तो खैबर का सीधा रास्ता है, और वास्तव में अनुक्रम में रहा भी पहले खैबर, किंतु पथभ्रंशों का इतिहास पूरा ही हो जाय तो आगे बढ़ा जायगा !

नौशेरा से कुछ आगे भी सड़क काबुल नदी के साथ-साथ चलती है—कभी कुछ निकट, कभी कुछ दूर । नौशेरा से कुछ आगे ही बाग प्रारंभ हो जाते हैं, और पब्बी स्टेशन से आगे पेशावर तक के बारह-एक मील तो जैसे एक लंबा बाग ही हैं । पब्बी से बायें को चेरात का पर्वतीय ठिकाना है जिसकी पिछली (दक्खिनी) तरफ कोहाट पड़ता है ।

पेशावर से कोहाट का रास्ता 'कोहाट की जोत' से होकर जाता है । पेशावर से दक्खिन को जाकर आदम खेल अफ़्रीदियों का स्वतंत्र इलाका पार करते हुए जोत की चढ़ाई प्रारंभ होती है ; ठीक जोत पर एक किला है और उसके बाद ही सरल उतराई शुरू हो जाती है—तीन मील में रास्ता लगभग एक हजार फुट नीचे उतरता है !—और दो मील और जाकर कोहाट पहुँच जाते हैं । कोहाट जोत तिरह पर्वतश्रेणी की सबसे पूर्वी बाहीं को काटती है । जोत भी स्वतंत्र इलाके में है और दिन में ही पार की जा सकती है ।

तिरह पर्वत श्रेणी के अफ़्रीदी जाड़ों में आका खेल और कजुरी के खुले प्रदेश में उतर आते हैं, जो बड़ा नदी की दून में है । यह नदी पेशावर से दक्षिण में कोहाट की सड़क को और पूर्व में ग्रांड ट्रंक रोड को काटती है, और इसी से पेशावर को पानी मिलता है जो बड़ा से आठ मील जल-प्रणालियों से लाया जाता है । इसी दून से अफ़्रीदियों ने सन् १६३० में पेशावर पर आक्रमण किया था, जिसके बाद इस प्रदेश पर कब्जा कर लिया गया था । किंतु कोहाट की सड़क पहले पंद्रह मील के बाद स्वतंत्र इलाके में प्रवेश करती है और कोहाट की जोत को पार करके उससे निकलती है । सड़क पर कँटीली तार के जाल स्वतंत्र प्रदेश की मर्यादा सूचित करते हैं । यहीं पास ऐमल चबूतरा है और उससे बायीं ओर मैकिसन दुर्ग । सड़क हरे भरे और सुंदर प्रदेश

से गुजरती है, जहाँ-तहाँ घास के खेतों के बीच में फलों के पेड़ों के झुरमुटों में गाँव हैं और चमचमाते स्वस्थ चेहरों वाले अफ्रीदी पीठ पर एक या कभी कभी दो दो राइफलें लटकाये घूमते हैं। सड़क से कुछ हटकर ही इस प्रदेश का मुख्य बंदूकों का कारखाना है।

कोहाट से आगे एक सड़क रेल की पटरी के साथ ठल को जाती है, दूसरी बहादुर खेल होती हुई बन्नू, और एक सड़क खुशहालगढ पार करके कैंबेलपुर जा मिलती है। कुर्रम नदी पर बसा हुआ ठल तो एक और टोली के साथ जाकर छू आया गया, किंतु और आगे का 'ड्रीम' नहीं हो सका।

पुन उसी राह पेशावर लौटना पड़ा।

*　　　　*　　　　*

भारत के नगरों की अपनी अपनी विशेषताएँ हैं। यों तो किसी भी शहर को एक विशेषण में नहीं बाँध लिया जा सकता, क्योंकि प्रत्येक में विविधता है, किंतु उस विविधता की भी अलग अलग लीकें हैं। यथा जोधपुर में रंगों की विविधता उसे विशिष्ट करती है, श्रीनगर में गंधों की विविधता ('सहस्र गंधा नगरी'), लाहौर में गंदगी की अथवा (इस विषय में कलकत्ते को प्रतियोगी मान लें तो) फैशन की, इत्यादि। इसी प्रकार पेशावर की विशेषता उसके बाजारों की सजीवता में थी—यद्यपि उनमें रंगीनी या गंध या गंदगी या फैशन की भी कुछ कमी न थी!

काबुल नदी को पार करके और बालाहिसार के किले के नीचे से होते हुए यायावर पेशावर पहुँचा, तो पहली समस्या रहने के स्थान की हुई। उसका समाधान हुआ तो दूसरी समस्या भोजन की हुई, किंतु उस पर विचार करने जब होटल ग्रीन्स में बैठकर चायपान शुरू किया—भोजन का समय निकल चुका था, समस्या का हल रात तक ढूँढा जा सकता था!—तब सामने की मेज पर एक पठान को अन्य सामग्री के साथ तीन-तीन पाव भुनी हुई दुबे की चर्बी की एक के बाद एक करके तीन प्लेटें खा लेते देखा, तब यायावर ने समझ लिया कि इस भोजन रसिक, रसना लोलुप देश में समस्या अगर होगी तो खाने की नहीं, न खाने की ही हो सकती है!

पेशावर तीन स्पष्ट भागों में बँटा है। एक भाग तो शहर है ही, एक सिविल बस्ती है जो अन्य अच्छी सिविल बस्तियों की तरह साफ सुथरी और ढंग की बनी है, फिर एक फौजी बस्ती अलग जिससे लगा हुआ हवाई बंदर भी है। छावनी का रख रखाव ऐसा बनाया गया है कि दोनों सिरों पर भारतीय सैन्य रहता और बीच में ब्रितानी पल्टनें।

शहर उन दिनों फौजियों के लिए 'हद से बाहर' था—उनका इलाका सिविल लाइन्स और सदर तक सीमित था। किंतु पेशावर आकर पेशावर न देखना असंभव था। छुट्टी के दिन तक प्रतीक्षा अवश्य की जा सकती थी। इस अंतराल में कुछ स्था

नीय परिचय भी पा लिये गये। रूसी उजबकिस्तान के एक व्यक्ति अब्दुल करीम का, जिससे पहले बंबई का थोड़ा-सा परिचय था, पता लगाया गया, और उसके द्वारा और दो-चार व्यक्तियों से संपर्क हुआ। इन्हीं में से एक, ताजिक नूर मुहम्मद से तय हुआ कि रविवार को शहर में उसके यहाँ भोजन होगा और बाजार की सैर की जायगी। इस निर्णय में एंटन का भी भाग था; कैसे यह अभी विदित होगा।

रविवार को यायावर ने 'मुफ्ती' पहनी। सिर पर अब्दुल करीम से माँगी हुई अस्त्र-खानी टोपी लगायी गयी। एंटन पर तो बंधन था ही नहीं। दोनों खोजते हुए नूरमुहम्मद के यहाँ पहुँचे। भोजन में भुना हुआ मांस, खमीरी मीठी रोटी जिसमें भीतर किशमिश और ऊपर खसखस यथेष्ट था; और गहरी चाय मिली। भोजन के बाद वार्तालाप हुआ, जिसका ढंग उल्लेखनीय था। एंटन अंग्रेजी के अतिरिक्त ताजिक भाषा जानता था। नूरमुहम्मद की वह मातृभाषा थी, उसके अतिरिक्त वह उजबकी भी जानता था। अब्दुल करीम उजबकी और उर्दू जानता था। वार्तालाप चक्रगति से चला — यायावर एंटन से अंग्रेजी में कुछ कहता, एंटन नूरमुहम्मद से ताजिक में बात करता, नूरमुहम्मद अब्दुल करीम से उजबकी में, और अब्दुल करीम यायावर को उर्दू में उत्तर देता। यों दोनों की भाषा में फारसी धातुओं की यथेष्ट मात्रा रहने के कारण कुछ बात तो यों भी अनुमान से समझी जा सकती थी।

नूरमुहम्मद जूतों का व्यापार करता था—वह और उसका परिवार स्वयं जूते सीते थे। उसकी कारीगरी की कीर्ति थी और उसके हाथ के सिले जूते दूने दामों पर बिकते थे। उसके साथ बाजार की सैर आरंभ हुई तो पेशावरी तिल्लई चप्पलों के बाजार में पहले घुसना स्वाभाविक था — नजदीक भी वही था!

पेशावर का शहर अन्य उत्तरी शहरों की भाँति प्राचीर से घिरा हुआ है जिसमें बीस फाटक हैं। इनमें मुख्य काबुली दरवाजा है, जिसके भीतर पेशावर का अनुपम किस्सा-खानी बाजार है। रेशमी लुंगियाँ, कुले, कपड़े पर मोम का काम, कारुकार्य, तिल्लई चप्पल और जूते और बढ़िया चाकू—ये पेशावर के मुख्य व्यवसाय हैं। यों तिल्लई जूते बढ़िया रावलपिंडी के ही माने जाते हैं और वहाँ से पेशावर भी बिकने आते हैं। इन स्थानीय शिल्पों के अतिरिक्त पेशावर सारे उत्तर-पश्चिमी अंचल के शिल्प के लिये बड़ी मंडी है; काबुल, बुखारा और मध्य एशिया से सार्थवाह यहाँ आते हैं। स्वात और चित्राल की दस्तकारियों के नमूने भी यहाँ मिलते हैं। खैबर के रास्ते से सप्ताह में दो बार जो मीलों लंबे काफिले उतरते और चढ़ते हैं, पेशावर ही उनका परम तीर्थ होता है। बाजार में मोल-तोल करने का भी पठान का अपना ढंग है, जिसे और लोग अपना तो सकते नहीं, सर्वदा ठीक समझ भी नहीं सकते। यह सब आवा-जाई, हल्ला-गुल्ला, खींच-तान, लल्लो-चप्पो, टिटकारी-निहोरे, चमक-दमक, कुला शमला, जूतों की चर-

मर और मोंछों की ऐंठन उस जगमग सनीनता के उपकरण हैं जिसे बाजार किस्साख्वानी कहते हैं, और जहाँ तहाँ सींक और चपली कबाब, भुने दुबे, मेवे बादाम और फलों की गंध विगंध और रंग बिरंगी दुकानों से मानों इसमें और भी चिलकारा आ जाता है . .

किस्साख्वानी बाजार को देखकर, प्राचीन भारत का इतिहास पढ़कर मन में बनाये हुए पुरुषपुर के चित्र के साथ उसका सामञ्जस्य करना कठिन हो जाता है। गांधार राज्य की राजधानी पुरुषपुर का नामांतर अकबर के समय हुआ था, जब वह गांधार की राजधानी से अपदस्थ होकर केवल 'पेश आवर' रह गया—सीमांत का नगर। प्राचीन गौरव के अवशेष जहाँ तहाँ पुराखंडों में ही मिलते हैं। पेशावर के पास ही 'शाहजी की ढेरी' में अनेक अन्य वस्तुओं के साथ एक कनिष्क कालीन मंजूषा भी मिली जिसमें बुद्ध के धातु सपुष्पित थे। वह मंजूषा अब पेशावर संग्रहालय में है। आठवीं शती से पुरुषपुर पर पठानों के आक्रमण होने लगे, ग्यारहवीं शती के आरंभ में राजा जयपाल और युवराज आनंदपाल महमूद गज़नवी से पराजित हुए। पंद्रहवीं शती से वे कबीले आस पास बसने लगे जो अब यहाँ के रहनेवाले हैं। सोलहवीं के आरंभ में बाबर उधर से आया, और उसके बाद अकबर ने शहर को नया नाम दे दिया। इन कई शतियों का इतिहास पेशावर संग्रहालय की वस्तुओं में मिल जाता है—वहाँ पर शाह की ढेरी के अतिरिक्त चारसद्दा, स्वात की दून, तख्त बहाई और शाह बहलोल के भी अवशेष संग्रहीत हैं।

संग्रहालय के बाहर भी जहाँ तहाँ अवशेष हैं, जिनके अवहेला सूचक नाम ही उनके ऐतिहासिक महत्व का व्यञ्जन करते हैं। उदाहरणतया पेशावर में ही जो 'गोरखत्री' ('खत्री की कब्र') है वह कभी बौद्ध विहार था फिर हिंदू मंदिर रहा (अब वह तहसील है)। इसी प्रकार लडीकोतल के ऊपर एक लाल किला है जिसे 'काफिरकोट' कहते हैं—इसका इतिहास ज्ञात नहीं पर स्पष्ट ही वह गांधार काल की स्मृति है।

इसी प्रकार कई स्थलों के नामों में बड़ाई है, उन्हें इतिहास की अवज्ञा मुस्करा कर छोड़ दे सकता है—यथा स्टेशन के निकट की 'नौगजा पीर' की मजार—इस पीर के नौ गज लंबे रहे होने के अतिरिक्त और उसकी कीर्ति न मालूम हो सकी—यों पीर की मजार पाकगाह है और मुरादें पूरी करता है।❀

———

❀ लेखक की नयी पुस्तक 'हम यायावर' के प्रथम परिच्छेद "परशुराम से तोड़ग्हम" का एक अंश। पुस्तक शीघ्र प्रकाशित होगी।

कृष्णा सोबती

सिक्का बदल गया

खद्दर की चादर ओढ़े, हाथ में माला लिए 'शाहनी' जब दरिया के किनारे पहुँची तो पौ फट रही थी। दूर-दूर आसमान के परदे पर लालिमा फैलती जा रही थी। शाहनी ने कपड़े उतार एक ओर रक्खे और 'श्री—राम, श्री—राम'...करती पानी में हो ली। अंजलि भर सूर्य देवता को नमस्कार किया, अपनी उनींदी आँखों पर छींटे दिये और पानी से लिपट गयी!

चनाब का पानी आज भी पहले सा ही सर्द था, लहरें लहरों को चूम रहीं थीं। वह दूर—सामने काश्मीर की पहाड़ियों से बर्फ पिघल रही थी। उछल-उछल आते पानी के भँवरों से टकरा कर कगारे गिर रहे थे लेकिन दूर-दूर तक बिछी रेत आज न जाने क्यों खामोश लगती थी! शाहनी ने कपड़े पहने, इधर-उधर देखा, कहीं किसी की परछाईं तक न थी। पर यह नीचे रेत में अगणित पावों के निशान थे। वह कुछ सहम-सी उठी!

आज इस प्रभात की मीठी नीरवता में न जाने क्यों कुछ भयावना-सा लग रहा है। वह पिछले पचास वर्षों से यहाँ नहाती आ रही है। कितना लंबा अरसा है! शाहनी सोचती है, एक दिन इसी दरिया के किनारे वह दुलहिन बनकर उतरी थी। और आज...आज शाहजी नहीं, उसका वह पढ़ा लिखा लड़का नहीं, आज वह अकेली है, शाहजी की लंबी-चौड़ी हवेली में अकेली है। पर नहीं—यह क्या सोच रही है वह सवेरे-सवेरे? अभी भी दुनियादारी से मन नहीं फिरा उसका। शाहनी ने लंबी साँस ली और श्री राम, श्री राम, करती बाजरे के खेतों से होती घर की राह ली। कहीं-कहीं लिपे-पुते आँगनों पर से धुआँ उठ रहा था। टनटन—बैलों की घंटियाँ बज उठती हैं। फिर भी, फिर भी कुछ बँधा-बँधा-सा लग रहा है। 'जम्मीवाला' कूआँ भी आज नहीं चल रहा। ये शाहजी की ही असामियाँ हैं। शाहनी ने नजर उठाई। यह मीलों फैले खेत अपने ही हैं। भरी-भराई नयी फसल को देख कर शाहनी किसी अपनत्व के मोह में भींग गयी। यह सब शाहजी की बरकतें हैं। दूर-दूर गाँवों तक फैली हुई जमीनें, जमीनों में कुएँ—सब अपने हैं। साल में तीन फसल, जमीन तो सोना उगलती है। शाहनी कुएँ की ओर बढ़ी, आवाज दी, "शेरे, शेरे, हसैना हसैना"...।

शेरा शाहनी का स्वर पहचानता है। वह न पहचानेगा? अपनी मां जैना के मरने

के बाद वह शाहनी के पास ही पल कर बड़ा हुआ। उसने पास पड़ा गँड़ासा 'शटाले' के ढेर के नीचे सरका दिया। हाथ में हुक्का पकड़ कर बोला—"ऐ हैं—सैना सैना . ।" शाहनी की आवाज उसे कैसे हिला गयी है। अभी तो वह सोच रहा था कि उस शाहनी की ऊँची हवेली की अधेरी कोठरी में पड़े सोना चाँदी की सन्दूकचियाँ उठा कर.. कि तभी 'शेरे शेरे '। शेरा गुस्से से भर गया। किस पर निकाले अपना क्रोध? शाहनी पर? चीखकर बोला—'ऐ मर गयीं एँ—रब्ब तैनू मौत दे—"

हसैना आटेवाली कनाली एक ओर रख, जल्दी-जल्दी बाहिर निकल आयी। "ऐ आयीं आँ—क्यों छावेले (सुबह सुबह) तड़पना एँ?"

अब तक शाहनी नजदीक पहुँच चुकी थी। शेरे की तेजी सुन चुकी थी। प्यार से बोली "हसैना, यह वक्त लड़ने का है? वह पागल है तो तू ही जिगरा कर लिया कर।"

"जिगरा!", हसैना ने मान भरे स्वर में कहा—"शाहनी, लड़का आखीर लड़का ही है। कभी शेरे से भी पूछा है कि मुँह अँधेरे ही क्यों गालियाँ बरसाई हैं इसने?" शाहनी ने लाड़ से हसैना की पीठ पर हाथ फेरा, हँसकर बोली—"पगली मुझे तो लड़के से बहू प्यारी है! शेरे—"

"हाँ शाहनी!"

'मालूम होता है, रात को कुल्लूवाल के लोग आये हैं यहाँ?" शाहनी ने गंभीर स्वर में कहा।

शेरे ने जरा रुककर, घबरा कर कहा—"नहीं—शाहनी " शेरे के उत्तर की अनसुनी कर शाहनी जरा चिन्तित स्वर से बोली, "जो कुछ भी हो रहा है, अच्छा नहीं। शेरे, आज शाहजी होते तो शायद कुछ बीच बचाव करते। पर .." शाहनी कहते कहते रुक गयी। आज क्या हो रहा है। शाहनी को लगा जैसे जी भर भर आ रहा है। शाहनी को बिछुड़े कई साल बीत गये, पर—पर आज कुछ पिघल रहा है—शायद पिछली स्मृतियाँ ..आसुओं को रोकने के प्रयत्न में उसने हसैना की ओर देखा और हल्के से हँस पड़ी। और शेरा सोच रहा है, क्या कह रही है शाहनी आज! आज शाहजी क्या, कोई भी कुछ नहीं कर सकता। यह हो के रहेगा—क्यों न हो? हमारे ही भाई-बन्दों से सूद ले लेकर शाहजी सोने की बोरियाँ तौला करते थे। प्रतिहिंसा की आग शेरे की आँखों में उतर आयी। गँड़ासे की याद हो आयी। शाहनी की ओर देखा—नहीं नहीं, शेरा इन पिछले दिनों में तीस चालीस कत्ल कर चुका है पर—पर वह ऐसा नीच नहीं .. सामने बैठी शाहनी नहीं, शाहनी के हाथ उसकी आँखों में तैर गये। वह सर्दियों की रातें—कभी कभी शाहजी की डाँट खा के वह हवेली में पड़ा रहता था। और फिर लालटेन की रोशनी में वह देखता है, शाहनी के ममता भरे हाथ दूध का कटोरा थामे हुए। 'शेरे शेरे', उठ, पी ले।' शेरे ने शाहनी के झुर्रियाँ पड़े मुँह की ओर देखा तो शाहनी

धीरे से मुस्करा रही थी। शेरा विचलित हो गया। 'आखिर शाहनी ने क्या बिगाड़ा है हमारा ? शाहजी की बात शाहजी के साथ गयी, वह शाहनी को जरूर बचायेगा। लेकिन कल रात वाला मशवरा ! वह कैसे मान गया था फ़िरोज की बात ! 'सब कुछ ठीक हो जायगा—सामान बाँट लिया जायगा !'

"शाहनी चलो तुम्हें घर तक छोड़ आऊँ !"

शाहनी उठ खड़ी हुई। किसी गहरी सोच में चलती हुई शाहनी के पीछे-पीछे मज़बूत क़दम उठाता शेरा चल रहा है। शंकित सा इधर उधर देखता जा रहा है। अपने साथियों की बातें उसके कानों में गूँज रही हैं। पर क्या होगा शाहनी को मारकर ?

"शाहनी !"

"हाँ शेरे !"

शेरा चाहता है कि सिर पर आनेवाले खतरे की बात कुछ तो शाहनी को बता दे, मगर वह कैसे कहे ?'

"शाहनी—"

शाहनी ने सिर ऊँचा किया। आसमान धुएँ से भर गया था। "शेरे—"

शेरा जानता है यह आग है। जलालपुर में आज आग लगनी थी लग गयी ! शाहनी कुछ न कह सकी। उसके नाते रिश्ते सब वहीं हैं—

हवेली आ गयी। शाहनी ने शून्य से मन से ड्योढ़ी में क़दम रक्खा। शेरा कब लौट गया उसे कुछ पता नहीं। दुर्बल सी देह और अकेली, बिना किसी सहारे के ! न जाने कब तक वहीं पड़ी रही शाहनी ! दुपहर आयी और चली गयी। हवेली खुली पड़ी है। आज शाहनी नहीं उठ पा रही। जैसे उसका अधिकार आज स्वयं ही उससे छूट रहा है ! शाहजी के घर की मालकिन...लेकिन नहीं, आज मोह नहीं उठ रहा। मानों पत्थर हो गयी हो। पड़े-पड़े साँझ हो गयी पर उठने की बात फिर भी नहीं सोच पा रही। अचानक रसूली की आवाज़ सुनकर चौंक उठी।

"शाहनी शाहनी, सुनो ट्रकें आतीं हैं लेने ?"

"ट्रकें···?" शाहनी इसके सिवाय और कुछ न कह सकी। हाथों ने एक दूसरे को थाम लिया। बात की बात में ख़बर गाँव भर में फैल गयी। बावो ने अपने विकृत कंठ से कहा—"शाहनी आज तक कभी ऐसा न हुआ न कभी सुना। गज़ब हो गया, अंधेर पड़ गया।"

शाहनी मूर्तिवत् वहीं खड़ी रही। नवाब बीबी ने स्नेह सनी उदासी से कहा — "शाहनी हमने तो कभी न सोचा था !"

शाहनी क्या कहे कि उसी ने ऐसा सोचा था। नीचे से पटवारी बेगू और जैलदार की बातचीत सुनाई दी। शाहनी समझी वक्त आन पहुँचा। मशीन की तरह नीचे

उतरी पर ड्योढी न लाँघ सकी। किसी गहरी, बहुत गहरी आवाज से पूछा—"कौन-कौन हैं वहाँ ?

कौन नहीं है आज वहाँ ? सारा गाँव है जो उसके इशारे पर नाचता था कभी। उसकी अपनी असामियाँ हैं जिन्हें उसने अपने नाते रिश्तों से कभी कम नहीं समझा। लेकिन नहीं, आज उसका कोई भी नहीं, आज वह अकेली है! यह भीड़ की भीड़, उनमें कुछ कुल्लूवाल के जाट। वह क्या सुबह ही न समझ गयी थी ?

बेगू पटवारी और मसीत के मुल्ला इस्माइल ने जाने क्या सोचा। शाहनी के निकट आ खड़े हुए। बेगू आज शाहनी की ओर देख नहीं पा रहा। धीरे से जरा गला साफ करते हुए कहा—"शाहनी, रब्ब नू एही मजूर सी।"

शाहनी के कदम डोल गये। चक्कर आया और दीवार के साथ लग गयी। इसी दिन के लिए छोड़ गये थे शाहजी उसे? बेजान सी शाहनी की ओर देखकर बेगू सोच रहा है—'क्या गुजर रही है शाहनी पर! मगर क्या हो सकता है! सिक्का बदल गया है •'

शाहनी का घर से निकलना छोटी बात नहीं। गाँव का गाँव खड़ा है हवेली के दरवाजे से लेकर उस दारे तक जिसे शाहजी ने अपने पुत्र की शादी में बनवा दिया था। तब से लेकर आज तक सब फैसले, सब मशविरे यहीं होते रहे हैं। इस बड़ी हवेली को लूट लेने की बात भी यहीं सोची गयी थी! यह नहीं कि शाहनी कुछ न जानती हो। वह जानकर भी अनजान बनी रही। उसने कभी बैर नहीं जाना। किसी का बुरा नहीं किया। लेकिन बूढ़ी शाहनी यह नहीं जानती कि सिक्का बदल गया है •!

देर हो रही थी। थानेदार दाऊदखाँ जरा अकड़ कर आगे आया और ड्योढ़ी पर खड़ी जड़ निर्जीव छाया को देख कर ठिठक गया! वही शाहनी है जिसके शाहजी उसके लिए दरिया के किनारे खेमे लगवा दिया करते थे। यह वही शाहनी है जिसने उसकी मगेतर को सोने के कनफूल दिए थे मुँह दिखाई में। अभी उसी दिन जब वह 'लीग' के सिलसिले में आया था तो उसने उद्दण्डता से कहा था,—'शाहनी, भागोवाल मसीत बनेगी, तीन सौ रुपया देना पड़ेगा!' शाहनी ने अपने उसी सरल स्वभाव से तीन सौ रुपये आगे रख दिये थे। और आज .. ?

"शाहनी!" दाऊदखाँ ने आवाज दी। वह थानेदार है नहीं तो उसका स्वर शायद आँखों में उतर आता।

शाहनी गुम सुम, कुछ न बोल पायी।

'शाहनी!' ड्योढी के निकट जाकर बोला—"देर हो रही है शाहनी। (धीरे से) कुछ साथ रखना हो तो रख लो। कुछ साथ बाँध लिया है? सोना-चाँदी—"

शाहनी अस्फुट स्वर से बोली— "सोना-चाँदी!" जरा ठहर कर सादगी से कहा—

"सोना-चाँदी! बच्चा वह सब तुम लोगों के लिये है। मेरा सोना तो एक एक जमीन में बिछा है।"

दाऊदखाँ लज्जित सा हो गया। "शाहनी तुम अकेली हो, अपने पास कुछ होना जरूरी है। कुछ नकदी ही रख लो। वक्त का कुछ पता नहीं—"

"वक्त?" शाहनी अपनी गीली आँखों से हँस पड़ी! "दाऊदखाँ इससे अच्छा वक्त देखने के लिये क्या मैं जिंदा रहूँगी!" किसी गहरी वेदना और तिरस्कार से कह दिया है शाहनी ने।

दाऊद खाँ निरुत्तर है। साहस कर बोला—"शाहनी कुछ नकदी जरूरी है।"

"नहीं बच्चा, मुझे इस घर से"—शाहनी का गला रुँध गया—"नकदी प्यारी नहीं। यहाँ की नकदी यहीं रहेगी।"

शेरा आन खड़ा हुआ पास। दूर खड़े-खड़े उसने दाऊद खाँ को शाहनी के पास देखा तो शक गुजरा कि हो न हो कुछ मार रहा है शाहनी से। "खाँ साहिब देर हो रही है—"

शाहनी चौंक पड़ी। देर—मेरे घर में मुझे देर! आँसुओं के भँवर में न जाने कहाँ से विद्रोह उमड़ पड़ा। मैं पुरखों के इस बड़े घर की रानी और यह मेरे ही अन्न पर पले हुए...नहीं, यह सब कुछ नहीं। ठीक है—देर हो रही है—देर हो रही है। शाहनी के जैसे कानों में यही गूँज रहा है—देर हो रही है—पर नहीं, शाहनी रो-रोकर नहीं शान से निकलेगी इस पुरखों के घर से, मान से लाँघेगी यह देहरी जिस पर एक दिन वह रानी बनकर आ खड़ी हुई थी। अपने लड़खड़ाते कदमों को सँभाल कर शाहनी ने दुपट्टे से आँखें पोंछीं और ड्योढ़ी से बाहर हो गयी। बड़ी बूढ़ियाँ रो पड़ीं। उनके सुख दुःख की साथिन आज इस घर से निकल पड़ी है। किसकी तुलना हो सकती थी इसके साथ। खुदा ने सब कुछ दिया था मगर—मगर दिन बदले, वक्त बदले...।

शाहनी ने दुपट्टे से सिर ढाँप कर अपनी धुँधली आँखों में से हवेली को अंतिम बार देखा। शाहजी के मरने के बाद भी जिस कुल की अमानत को उसने सहेज कर रखा आज वह उसे धोखा दे गयी। शाहनी ने दोनों हाथ जोड़ लिए—यही अंतिम दर्शन था, यही अंतिम प्रणाम था। शाहनी की आँखें फिर कभी इस ऊँची हवेली को न देख पायेंगी। प्यार ने ज़ोर मारा—सोचा एक बार घूम-फिरकर पूरा घर क्यों न देख आयी मैं? जी छोटा हो रहा है पर जिनके सामने हमेशा बड़ी बनी रही है उनके सामने वह छोटी न होगी। इतना ही ठीक है। बस हो चुका। सिर झुकाया। ड्योढ़ी के आगे कुलवधू की आँखों से निकलकर कुछ बूँदें चू पड़ीं। शाहनी चल दी—ऊँचा सा भवन पीछे खड़ा रह गया। दाऊद खाँ, शेरा, पटवारी, जैलदार और छोटे-बड़े, बच्चे बूढ़े मर्द औरतें सब पीछे-पीछे।

ट्रकें अब तक भर चुकी थीं। शाहनी अपने को खींच रही थी। गाँववालों के गलो में जैसे धुआँ उठ रहा है। शेरे, खूनी शेरे का दिल टूट रहा है। दाऊद खाँ ने आगे बढ़कर ट्रक का दरवाजा खोला। शाहनी बढ़ी। इस्माइल ने आगे बढ़कर भारी आवाज में कहा—"शाहनी—कुछ कह जाओ। तुम्हारे मुँह से निकली असीस झूठ नहीं हो सकती!" और अपने साफे से आँखों का पानी पोंछ लिया। शाहनी ने उठती हुई हिचकी को रोककर रुँधे रुँधे गले से कहा, 'रब्ब तुहानू सलामत रक्खे बच्चा खुशियाँ बक्शे।"

वह छोटा सा जन समूह रो दिया। जरा भी दिल में मैल नहीं शाहनी के। और हम—हम शाहनी को नहीं रख सके। शेरे ने बढ़कर शाहनी के पाँव छुए। "शाहनी कोई कुछ नहीं कर सका। राज भी पलट गया—" शाहनी ने काँपता हुआ हाथ शेरे के सिरपर रक्खा और रुक रुककर कहा—"तैनू भाग लगन चन्ना!' (ओ चाँद तेरे भाग्य जागें) दाऊदखाँ ने हाथ का सकेत किया। कुछ बड़ी बुढ़ियाँ शाहनी के गले लगीं और ट्रक चल पड़ी।

अन्न जल उठ गया। वह हवेली नयी बैठक, ऊँचा चौबारा बड़ा 'पसार' एक एक करके घूम रहे हैं शाहनी की आँखों में! कुछ पता नहीं—ट्रक चल रही है, या वह स्वय चल रही है। आँखें बरस रही हैं। दाऊदखाँ विचलित होकर देख रहा है इस बूढ़ी शाहनी को। कहाँ जायगी अब वह?

"शाहनी मनमें मैल न लाना। कुछ कर सकते तो उठा न रखते। वकत ही ऐसा है। राज पलट गया है, सिक्का बदल गया है"

रात को शाहनी जब कैंप में पहुँचकर जमीन पर पड़ी तो लेटे लेटे आहत मन से सोचा 'राज पलट गया है, सिक्का क्या बदलेगा? वह तो मैं वहीं छोड़ आयी।'

और शाहजी की शाहनी की आँखें और भी गीली हो गयीं!

आस-पास के हरे हरे खेतों से घिरे गाँवों में रात खून बरसा रही थी।

शायद राज पलटा खा रहा था और—सिक्का बदल रहा था।

भवानीप्रसाद मिश्र

दो कविताएँ

बूँद टपकी एक नभ से

बूँद टपकी एक नभ से,
किसी ने झुककर झरोखे से
कि जैसे हँस दिया हो,
हँस रही सी आँख ने जैसे
किसी को कस दिया हो;
ठगा सा कोई किसी की आँख
देखे रह गया हो,
उस बहुत से रूप को रोमांच रोके
सह गया हो,
बूँद टपकी एक नभ से,
और जैसे पथिक,
छू मुस्कान, चौंके और घूमे,
आँख उसकी, जिस तरह
हँसती-हुई-सी आँख चूमे,
उस तरह मैंने उठाई आँख,
बादल फट गया था,
चन्द्र पर आता हुआ सा अभ्र,
थोड़ा हट गया था।
बूँद टपकी एक नभ से,
ये कि जैसे आँख मिलते ही—
झरोखा बन्द होले,
और नूपुर ध्वनि, झमककर
जिस तरह द्रुत छन्द होले,
उस तरह बादल सिमटकर
चन्द्र पर छाये अचानक,
और पानी के हज़ारों बूँद—
तब आये अचानक।

सन्नाटा

लो पहले अपना नाम बता दूँ तुमको,
फिर चुपके चुपके धाम बता दूँ तुमको,
तुम चौंक नहीं पड़ना यदि धीमे धीमे
मैं अपना कोई काम बता दूँ तुमको।

कुछ लोग भ्रान्ति वश मुझे शान्ति कहते हैं,
निस्तब्ध बताते हैं, कुछ चुप रहते हैं,
मैं शान्त नहीं, निस्तब्ध नहीं, फिर क्या हूँ?
मैं मौन नहीं हूँ, मुझमें स्वर बहते हैं।

कभी कभी कुछ मुझमें चल जाता है,
कभी कभी कुछ मुझमें जल जाता है,
जो चलता है, वह शायद है मेंढक हो,
वह जुगनू है जो तुमको छल जाता है।

मैं सन्नाटा हूँ फिर भी बोल रहा हूँ,
मैं शान्त बहुत हूँ, फिर भी डोल रहा हूँ,
यह 'सरसर', यह 'खड़खड़', यह सब मेरी है,
यह है रहस्य, मैं इसको खोल रहा हूँ।

मैं सूने में रहता हूँ—ऐसा सूना—
ऊगा होता है जहाँ घास भी ऊना,
होते हैं झाड़ कहीं इमली, पीपल के,
घन अन्धकार होता है जिनसे दूना।

तुम देख रहे हो मुझको, जहाँ खड़ा हूँ,
—तुम देख रहे हो मुझको, जहाँ पड़ा हूँ,
मैं ऐसे ही खँडहर चुनता फिरता हूँ,
मैं ऐसी ही जगहों में पला, बढ़ा हूँ।

नीचे तल घर में, या समतल पर भूपर,
या यहाँ—किले की दीवारों के ऊपर,
कुछ घन श्रुतियों का पहरा यहाँ लगा है,
जो मुझे भयानक कर देती है छूकर।

तुम डरो नहीं, डर वैसे कहाँ नहीं है ?
पर खास बात कुछ डर की यहाँ नहीं है ;
बस एक बात है, वह केवल है ऐसी,—
कुछ लोग यहाँ थे, अब वे यहाँ नहीं हैं ।

यहाँ, बहुत दिन हुए, एक थीं रानी,—
इतिहास बताता उसकी नहीं कहानी ;
वह किसी एक पागल पर जान दिये थी,
थी उसकी केवल एक यही नादानी ।

यह घाट नदी का अब जो फूट गया है,
यह घाट नदी का अब जो टूट गया है ;
वह यहाँ बैठकर रोज़ रोज़ गाता था,
अब यहाँ बैठना उसका छूट गया है ।

जब साँझ हुए रानी खिड़की पर आती,
थी पागल के गीतों को वह दुहराती ;
तब पागल आता और बजाता बंसी ।
रानी उसकी बंसी पर छुपकर गाती ।

पर किसी एक दिन राजा ने यह देखा,
खिंच गई हृदय में उसके दुख की रेखा ;
वह भरा क्रोध में आया औ रानी से—
उसने माँगा इन सब साँझों का लेखा ।

रानी बोली, पागल को ज़रा बुला दो,
मैं पागल हूँ, राजा, तुम मुझे भुला दो ;
मैं बहुत दिनों से जाग रही हूँ, राजा !
बंसी बजवा कर मुझको ज़रा सुला दो ।

वह राजा था, हाँ कोई खेल नहीं था,
ऐसे जवाब से उसका मेल नहीं था ;
रानी ऐसे बोली थी, जैसे उसके—
इस बड़े किले में कोई जेल नहीं था !

तुम जहाँ खड़े हो, यहीं कभी सूली थी,
रानी की कोमल देह यहीं झूली थी ;
हाँ, पागल की भी यहीं, यहीं रानी की ;
राजा हँसकर बोला—रानी भूली थी ।

पर राजा ने फिर नहीं कभी सुख जाना,
हर जगह गूँजता था पागल का गाना,
औ बीच बीच में, 'राजा तुम भूले थे'—
रानी का हँसकर सुन पड़ता था ताना।

तब और बरस बीते, राजा भी बीते,
रह गये किले के कमरे रीते रीते,
तब मैं आया, कुछ मेरे साथी आये,
अब हम सब मिलकर करते हैं मनचीते।

पर कभी कभी जब पागल आ जाता है,
लाता है रानी को, या गा जाता है,
तब मेरे उल्लू, साँप और गिरगिट पर—
अनजान एक सकता सा छा जाता है!

— — —

गजानन माधव मुक्तिबोध

दो कविताएँ

१—पथ रेखा खिंचेगी ही

यदि यह बदरिया गगन में छाकर उधर ही गयी,
बरगदों की प्यास
मूलों में उभर, उठ ऐंठ कर
बँध व्यंग्य आकृति में अगर
घिर ही गयी ;
जल ताल का यदि सूखकर
लंबी दरारों में हृदय की भूख भर
भूरी हँसी हँस ही दिया,
यदि हर्ष आकुल विहग बिजली-तार पर
बैठा कि लटका
काल ने ग्रस ही लिया,
फिर भी तुम्हारी आस है,
पथ-प्रस्तरों पड़ती हुई मृदु ऊर्मि
कोमल-लहरि के
इस सतत-गति जन के गहन उर-वक्ष पर
केवल तुम्हारे स्पर्श का प्रियपाश
यदि किसी की बाहुओं का पाश है।

२

अन्तःकरण के अंध नयनों को
तुम्हारे छलछलाते मानवी हिय-नयन आकुल का
(यदपि तुम मात्र लहरी हो)
इन सजल-चुंबन-स्मितों के प्रति करुण नव जल का
तुम्हारे प्राण का विश्वास है (तुम क्योंकि प्रहरी हो)
तुम्हारे नीर-आनन की,
अनावृत रूप-दर्शन की निरंतर अनुभवी आत्मा हमारी का
हमें विश्वास है।
भूरे विपथ के कंकरों का त्रास यदि गहरी बवाई को
तुम्हारे स्पर्श का आश्वास-मधु भी तो हमारे पास है।
वन पर्वतों के श्याम कन्धों को विदित कर
लाल पथ रेखा खिंचेगी ही।
हमारे हृदय-निर्झर-स्पंदनों से गूँजकर
घाटी खिंचेगी ही।

२—बुद्धि के नक्षत्र

रुचिर श्वेत कपूर से जलकर
सुरभि के पथ पर निज ज्योति-अग्र सम्हालें
फीके धूम से उड़ लुप्त हो जाते
हमारे
वाह......!
किंतु जो लघु दाग पड़ जाते हमारी आग के—
वे बुद्धि के नक्षत्र,
उनके गणित के शत अंक हो जाते
कि उनकी शक्ति पर
भूकंप-गर्भा धरित्री-सा धीर गुरु व्यक्तित्व
शतधन्वा
विरोधी सृष्टि से अड़ता
उमड़कर काटता पार्वत्य बाधाएँ।

—:—

गिरिजाकुमार माथुर

शकुंतला

[कालिदास के नाटक का एक श्रव्य रूपांतर]

नटी— आज ग्रीष्म की रात सुहावनि
पाटल पवन मंद चलती है
उन शिरीष सुमनों की केसर
भ्रमरों से बाहें मिलती है
पेड़ों की ठंडी छाया में
मधुर नींद के झोंके आयें
फूलों को चुनकर, कानों में
पहन रहीं सुंदर ललनाएँ।

सूत्रधार— ग्रीष्म गान से तुमने मेरा
खींच लिया है यह भावुक मन
जैसे मृग के पीछे खिंचकर
आये हैं दुष्यंत तपोवन
वह देखो वह वेगवान रथ
चला जा रहा वन प्रांतर में
उड़ा जा रहा श्याम हरिण भी
आगे आगे पवन डगर में

[रथ के पहियों का बढ़ता हुआ शब्द]

दुष्यंत—यह हरिण तो हमें बहुत ही दूर ले आया। ऐसा लगता है मानों आकाश में उड़ा जा रहा हो। [रुककर] अरे, किधर ओझल हो गया,– सारथि! रथ का वेग बढ़ाओ!

सारथी—आयुष्मान्, ऊँची नीची भूमि होने के कारण मैंने वेग कुछ कम कर दिया था, इसी कारण मृग ओझल हो गया। आगे समतल भूमि है, तुरंत ही वेग बढ़ जायगा।

[क्षणिक अंतराल]

दुष्यंत—रास ढीली करो।

सारथी—जो आज्ञा। देखिए आयुष्मान, आगे का शरीर फैलाकर, घोड़े इतने वेग से दौड़ रहे हैं कि टापों से उठी धूल भी हमें नहीं छू पा रही।

दुष्यंत—सुंदर घोड़े उच्चैश्रवा से होड़ ले रहे हैं। अच्छा वेग है। जो वस्तु दूर से पतली दिखती है वह तुरत मोटी हो जाती है, जो बीच से कटी दिखती है वह एकदम जुड़ जाती है, और जो स्वभावत टेढ़ी वस्तुएँ हैं वह सीधी दीखती हैं। वेग उत्तम है। सारथी देखो मृग का अंत आ गया ....

[क्रमश स्पष्ट होता हुआ दूर का स्वर]

आवाज—[बीच ही में]

राजन्! यह आश्रम का मृग है! अवध्य है! अवध्य है!

दुष्यंत—यह किसका स्वर है।

सारथी—आश्रम के तपस्वियों का, आयुष्मान्।

आवाज—(स्पष्ट) राजन्, यह आश्रम का मृग है! अवध्य है! अवध्य है!

दुष्यंत—रथ यहीं रोक दो। सारथि—मैं उतरकर आश्रम में जाऊँगा।

सारथी—जैसी आज्ञा आयुष्मान।

[क्षणिक अंतराल]

दुष्यंत—यही आश्रम का द्वार है। और यह फुलवारी शांत, सुंदर। थाँवलों में वायु से लहराते हुए पानी से यहाँ के वृक्षों की जड़ें धुल गयी हैं। घी के धुँए से चमकीली कोंपलों का रंग धुँधला पड़ गया है। चिकने पत्थर बता रहे हैं कि इन पर हिंगोट के फल कूटे गये हैं और धूल में मुनियों के गीले वल्कल से टपकी जल की रेखाएं अब तक बनी हैं। [अचानक] हैं, इस शांत तपोवन में मेरी दाहिनी भुजा क्यों फड़की! यहाँ क्या मिलेगा—

[शकुंतला और सखियों के प्रवेश का शब्द]

शकुंतला—[दूर पर] इधर आओ सखी पहिले मैं यह लता सींचूँगी।

अनुसूया—रहने दे शकुंतला (ठहरकर) मैं सोचती हूँ कि पिता कण्व इस आश्रम के लता-वृक्षों को तुमसे अधिक प्यार करते हैं। नहीं तो तुम्हें चमेली की कली को सींचने का काम क्यों सौंप जाते।

शकुंतला—मुझे तो यह लता गुल्म स्वयं ही प्रिय हैं सखी। पिता जी की आज्ञा के कारण ही इन्हें नहीं सींचती। ओह—प्रियंवदा ने यह वल्कल ऐसा कस के बाँध दिया है कि बस। इसके बंद ढीले कर दे अनुसूया!

अनुसूया—अच्छा।

प्रियंवदा—[हँसकर दूर से] मुझे क्यों दोष देती है शकुंत । अपनी वसंत सी फूलती फलती आयु को दोष दे, जिससे यह तेरा वल्कल हर घड़ी कसता चला जाता है ।

शकुंतला—चुप !

दुष्यंत [दूर पर] ओह, यही कण्व ऋषि की कन्या है । जैसे नील कमल की पंखरी । वल्कल से घिरा गोरा शरीर ऐसा लग रहा है जैसे सेवार से घिरा कमल ।

शकुंतला—[कुछ दूर से] अनुसूया, इस केसर के वृक्ष को तो देख । अपनी पत्तियों की अंगुलियों से जैसे मुझे बुला रहा है । जाऊं सखी, इसका भी मन रख आऊं ।

प्रियंवदा—वहाँ से मत हट शकुंतला । थोड़ी सी देर और······

शकुंतला—क्यों ?

प्रियंवदा—(पास आकर) इस केसर के वृक्ष से जब तू लगकर खड़ी होती है, लगत है जैसे इससे कोई कोमल लता लिपटी हो ।

शकुंतला—(हँसकर) इन्हीं बातों से तो तेरा नाम प्रियंवदा पड़ा है ।

राजा—[दूर पर] प्रियंवदा ने कितनी सच्ची बात कही । यह कोंपलों जैसे हिलते हुए पतले लाल ओंठ, कोमल शाखाओं जैसी भुजाएँ, लुभावने फूल जैसा नवयौवन······

अनुसूया—और अपनी इस वन-ज्योत्स्ना को क्यों भूले जा रही है । जिसने इस लदे हुए आम्र से स्वयंवर कर लिया है ।

शकुंतला—(हँसकर) इसे भूलूँगी ? तो मैं अपने को ही भूल जाऊँगी । कितनी सुंदर जोड़ी है ।

प्रियंवदा—जानती है अनुसूया । इस वन ज्योत्स्ना को शकुंत क्यों इतने चाव से देख रही है ।

अनुसूया—क्यों देख रही है ?

प्रियंवदा—देख, यह सोच रही है कि जैसे इसे सुंदर वर मिला वैसा मुझे भी मिले ।

शकुंतला—(हँसकर) यह तू अपने मन की बात कह रही है । क्यों ?

दुष्यंत—(दूर से) तापस-कन्या और इतना आकर्षण ! मेरा पवित्र मन रिझा लेनेवाली यह ऋषि पुत्री नहीं हो सकती । संभव है···किंतु, कैसे पता लगाऊँ ?

[स्वर निकट आता है]

शकुंतला—(घबराकर) उई, सखी, जल पड़ने से इस नई चमेली को छोड़कर भँवरा मेरे मुँह पर आ रहा है । [प्रियंवदा]

दुष्यंत—[दूर से] यह भँवरा कितना भाग्यवान है । जो बार-बार हाथ से झटके जाने पर भी उन रसीले ओंठों पर ही जा रहा है ।

शकुंतला—अरे, हट उधर। नहीं मानता। मेरे पीछे ही पड़ गया है। (दूर हटता हुआ स्वर) भाग जाऊँ। यहाँ भी आ गया। बचाओ सखी, खड़ी-खड़ी क्या देख रही हो!

अनुसूया—(हँसकर) हम कैसे बचाएँ। किसी रक्षा करनेवाले को पुकारो।

प्रियंवदा—हाँ, दुष्यंत को पुकारो। तपोवन की रक्षा का काम तो राजा का है।

दुष्यंत—[स्वयं ही] यह ठीक हुआ ..किंतु तब तो यह मुझे जान जायँगी। अच्छा, यह ठीक है...

शकुंतला—[दूर कहीं] यह यहाँ भी नहीं मानता। हाय, अब मैं क्या करूँ?

दुष्यंत—[पास आकर] जब तक महाराज दुष्यंत का पृथ्वी पर राज्य है, भोली ऋषि-कन्याओं को कौन कष्ट पहुँचा सकता है।

अनुसूया—अरे! [रुककर] आर्य, कोई ऐसी विपत्ति नहीं। केवल यह भँवरा .....

दुष्यंत—[किंचित झूठे क्रोध से] क्यों रे भँवरे! (हँसकर) लीजिए भाग गया। अब तो आपकी तपस्या सफल हुई।

शकुंतला—[लजाकर हँसती है]

अनुसूया—आप जैसे अनूठे अतिथि आवें और सफल न हो। शकुंतला, अतिथि के लिए फल फूल, अर्घ्य और चरण धोने का जल..

दुष्यंत—नहीं-नहीं, सत्कार तो आपकी मीठी बातों से ही हो गया!

प्रियंवदा—तो आर्य, चलिए उस घनी छाँहवाली सप्तपर्णी के नीचे ही कुछ विश्राम कर लीजिए।

दुष्यंत—[दूर से] आप भी तो श्रम से थक गई हैं।

प्रियंवदा—आओ शकुंत, अतिथि की इच्छा है। हम भी विश्राम कर लें।

शकुंतला—मैं!

दुष्यंत—हाँ हाँ, [ठहरकर] आप सबका रूप, वयस और प्रीत समान है मुझे यह देखकर बड़ा सुख हो रहा है।

अनुसूया—आर्य! क्षमा करें। एक बात पूछूँ?

दुष्यंत—अवश्य पूछिए!

अनुसूया—*मेरे मन में यह प्रश्न उठा कि आर्य ने किस राजवंश को शोभित किया है,* किस देश की प्रजा को छोड़कर इस तपोवन में अपने सुकुमार शरीर को कष्ट दिया है।

शकुंतला—(साँस भरती है)

अनुसूया—क्यों शकुंतला!

शकुंतला—कुछ नहीं सखी।

दुष्यंत—(साँस लेकर) देवी मैं राज कर्मचारी हूँ। देखने आया हूँ कि आश्रम के कार्य में कोई विघ्न तो नहीं है।

प्रियंवदा—[ज़रा हँसकर] शकुंतला, यदि आज पिताजी घर होते—

शकुंतला—तो क्या होता !

प्रियंवदा—तो, आज अपने सुंदर अतिथि को अपनी सबसे सुंदर वस्तु दे देते।

शकुंतला—हटो, मैं तुम्हारी कोई बात नहीं सुन रही।

दुष्यंत—[संकोच से] और...आपकी प्रिय सखी के विषय में हम भी कुछ पूछना चाहते हैं।

अनुसूया—आपका अनुग्रह है। पूछिए।

दुष्यंत—कण्वऋषि तो ब्रह्मचारी हैं फिर ये...

अनुसूया—[बात काटकर] बताती हूँ। राजर्षि विश्वामित्र का नाम तो सुना है न ?

दुष्यंत—भलीभाँति। तो फिर —

अनुसूया—तो बस यही समझिए कि हमारी सखी उन्हीं की कन्या हैं। कण्वऋषि ने तो केवल इनका पालन किया है। इनकी माता इन्हें छोड़कर चली गयी थीं।

दुष्यंत—आपने तो मुझे और भी उत्सुक कर दिया। कैसे छोड़कर चली गयी थीं—

अनुसूया—देखिए ! गोदावरी के तटपर राजर्षि घोर तपस्या में निमग्न थे। देवताओं ने तप से डरकर मेनका अप्सरा को वहाँ भेजा—

दुष्यंत — [आश्चर्य से] फिर ?

अनुसूया—फिर [संकोच के साथ] वसंत का आगमन था, एकांत, मेनका का मादक रूप और······

दुष्यंत—समझ गया। तो यह अप्सरा की पुत्री हैं। तभी—

प्रियंवदा—तभी क्या ?

दुष्यंत—इतना सौंदर्य मनुष्यों में कहाँ। चंचल आँखोंवाली बिजली पृथ्वी से थोड़े ही निकलती है।

प्रियंवदा—शकुंतला !

शकुंतला—क्या ?

प्रियंवदा—कुछ नहीं। [काफ़ी देर ठहरकर] (फिर हंसकर) क्या आर्य कुछ और भी पूछना चाहते हैं।

शकुंतला—[टोकते हुए] प्रियंवदा !

दुष्यंत—[हँसकर] आपने ठीक समझा। इनकी सुंदर कथा सुनकर हमें कुछ और भी पूछने का लोभ हो रहा है।

प्रियंवदा—तो संकोच न कीजिए।

दुष्यत—[सकोच से) यही की आपकी सखी ने यह कामदेव की गति रोकनेवाला तपस्वियों का वेप विवाह तक के लिए ही रखा है या सदा के लिए—

प्रियवदा—सदा के लिए नहीं। पिता कण्व विवाह तो अवश्य करेंगे—(हँसकर) केवल योग्य वर मिलने की बात है—

दुष्यत—(साँस भरकर) हूँ।

शकुतला—अनुसूया, मैं तो जा रही हूँ।

अनुसूया—क्यों ! क्यों !!

शकुतला—[झूठे क्रोध से] प्रियवदा को सारी बातें माँ गौतमी से कहूँगी।

अनुसूया—ऐसे सुदर अतिथि को छोड़कर जाना उचित नहीं, शकुतला—

दुष्यत—आप [एकदम चुप हो जाता है]

प्रियवदा—सखी, मैं तुझे नहीं जाने दूँगी—

शकुतला—क्यों नहीं जाने देगी ?

प्रियवदा—[हँसकर] क्योंकि दो लताएँ अभी सींचनी को शेष हैं। अपना ऋण तो चुका दे।

दुष्यत—रहने भी दीजिए ! आपकी सखी थक गई हैं। देखिए न इनकी हथेलियाँ लाल हो गई हैं, कधे शिथिल हैं, कानों में पहिने शिरीष के फूल भी नहीं हिल रहे क्योंकि पसीने से उनकी पखुरियाँ गालों पर चिपक गयी हैं। [हँसकर] यह लीजिए इनका ऋण मैं चुकाए देता हूँ।

प्रियवदा—क्या अँगूठी ?

अनुसूया—अँगूठी !! रुककर अरे, यह तो राजमुद्रा है—

दुष्यत—हाँ, यह मुझे पुरस्कार में मिली थी। कोई बात नहीं।

प्रियवदा—नहीं नहीं, इसे अपने ही पास रखिए।

दुष्यत—अब तो यह आपकी सखी की हो चुकी। दी हुई वस्तु लौटाई नहीं जाती।

प्रियवदा—अस्तु जैसी आपकी इच्छा। शकुतला, अब ऋण चुक गया। अब तुम जा सकती हो।

शकुतला—बड़ी आज्ञा देनेवाली आ यीं।

[दूर से समीप आता हुआ भारी स्वर]

आवाज—तपस्वियो ! सावधान। आखेट प्रेमी महाराज दुष्यत के घोड़ों की टापों से साँझ के समान धूल उड़कर छा रही है। और रथ से डरा हुआ यह जगली हाथी तपोवन को रौंद डाल रहा है। तपस्वियो सावधान !!

दुष्यत—अरे, सैनिक तपोवन के निकट आ गए ?

प्रियवदा—क्षमा करें आर्य ! हमें कुटी में जाने की आज्ञा दें।

दुष्यंत—और मुझे भी आज्ञा—

[थोड़ा अंतराल]

प्रियंवदा—[दूर से] शकुंतला, चल न, वहीं क्यों रह गयी।

शकुंतला—[सी-सी करते हुए] सखी मेरे पैर में कांटा चुभ गया है [क्षणिक अंतराल]

अनुसूया—अब तो कांटा निकल गया होगा। अब क्यों नहीं आ रही।

शकुंतला—आ तो रही हूँ। यह उत्तरीय शाखा से लिपट गया था इसे निकाल रही हूँ।

[काल परिवर्त्तन—मधुर संगीत द्वारा सूचित]

दुष्यंत—[साँस लेकर] इस तपोवन में रहते इतने दिन बीत गए किंतु व्यथा और बढ़ती ही जाती है। शकुंतला के वे बड़े बड़े नयन मन में उतर गए हैं। जितना भूलने का यत्न करता हूँ उतना ही उनमें उलझता जाता हूँ। और अब जब यज्ञ पूर्ण होने पर ऋषिगण इस आश्रम से मुझे विदा दे देंगे तब [सांस भरता है] ऐसी भरी दुपहरी में शकुंतला मालिनी-तट के लता मंडप में ही होगी। [कुछ देर बाद, दूर से] मालिनी के जल से ठंडा कमलों में बसा यह पवन कितना मीठा है। यह बेत का कुंज। [ठहरकर] इसके द्वार की पीली रेत में यह कोमल चरण किसके बने हैं। [सांस भरकर] ओह उस फूलों के बिछे चबूतरे पर शकुंतला लेटी है। हाथ में कमलनाल का ढीला कंगन क्या बात है। ये सखियां उशीर का लेप क्यों कर रही हैं—

अनुसूया—कमल के पखे से कुछ ठंडक पड़ी शकुंतला—

शकुंतला—[सोती सी आँखें खोलकर केवल सांस भरती है।]

प्रियंवदा—[धीले से] अनुसूया, एक बात है।

अनुसूया—[धीले से] क्या।

प्रियंवदा—कहीं यह विरह-ताप न हो। राजर्षि से नयन मिलते ही……

अनुसूया—[बात काटकर] मैं भी यही समझती हूँ। [ठहरकर] इसी से पूछ लें न?

प्रियंवदा—पूछो—

अनुसूया—शकुंतला, आँखें खोलो।

शकुंतला—[सांस भरकर] अनुसूया!

अनुसूया—तुम्हारी व्यथा अब बहुत बढ़ गयी है। एक बात पूछूँ।

शकुंतला—पूछो सखी—

अनुसूया—[संकोच से] हमें इन बातों का ज्ञान तो है नहीं। किंतु—तुम्हारी यह दशा कहीं प्रेम के कारण तो नहीं।—यदि है तो वह कौन है।

प्रियंवदा—हाँ शकुंत तुम्हारा रोग बहुत बढ गया है। इतनी दुर्बल हो गयी हो जैसे मुरझायी हुई माधवी। बताओ, कौन इसका कारण है।

शकुंतला—[सांस लेकर] तुमसे न कहूँगी तो फिर किससे कहूँगी। जब से आश्रम की रक्षा करनेवाले •• [लज्जित हो जाती है]

प्रियंवदा—लजाओ मत सखी, कहे जाओ।

शकुंतला—उन्होंने जब से ललचाई आँखों से मुझे देखा तभी से मैं क्या उपाय करूँ प्रियंवदा।

प्रियंवदा—यों न घबराओ [अनुसूया से होले] उपाय शीघ्र ही करना चाहिए अनुसूया। इसकी व्यथा बहुत बढ चुकी है।

अनुसूया—तू बहुत भाग्यवान् है सखी जो तूने ऐसे योग्य पुरुष से प्रेम किया।

प्रियंवदा—प्रेम किया ही नहीं उनका प्रेम पाया भी—

शकुंतला—सच प्रियंवदा। [सांस भरकर] किंतु इसका क्या प्रमाण है कि—

प्रियंवदा—[बात काटकर] प्रमाण है। राजर्षि भी इन दिनों दुर्बल लगते हैं। एकांत प्रिय हो गया है और निश्वासें भरते रहते हैं। [रुककर] एक उपाय है शकुंत—

शकुंतला—क्या—

प्रियंवदा—तू उन्हें पत्र लिख। फूलों में छिपाकर देवता के प्रसाद के साथ भेज दिया जाय।

शकुंतला—(सोचकर) किंतु लिखने की सामग्री—[क्षणिक अंतराल]

प्रियंवदा—इस कमलिनी के कोमल पत्ते पर नखों से लिख दे [लम्बा अंतराल] लिख लिया। हमें भी सुना—

शकुंतला—[साँस भरकर] हे निर्दय, तुम्हारी बात मैं नहीं जानती किंतु कामदेव ने मेरी कोमल काया तपा डाली है।

दुष्यंत—[एकदम आकर] किंतु सुंदरी, मेरी काया तो उसने जला ही डाली है। दिन निकलने पर कुमुदिनी उतनी नहीं कुम्हलाती जितना चंद्रमा—

शकुंतला—अरे!

प्रियंवदा—स्वागत है। आपही के दर्शन का विचार हो रहा था।

दुष्यंत—लेटी रहो शकुंत। व्याकुलता से तुमने इस कुसुम सेज पर जो करवटें ली हैं उससे पंखुरियाँ शरीर में पसीने के कारण चिपक गई हैं। अभी तुम उठने योग्य नहीं।

अनुसूया—मित्र इस सेज को सुशोभित कीजिए—

प्रियंवदा—राजा होकर दूसरों के कष्ट मिटाना आपका धर्म है। आप हमारी सखी का भी कष्ट दूर करें।

दुष्यंत—मैं स्वयं पीड़ित हूँ। अपनी सखी को कहिए कि मुझपर कृपा करें।

शकुंतला—प्रियंवदा। राजर्षि तो रनिवास की सुधि से पीड़ित होंगे। यहाँ तुम इन्हें यों ही रोक रही हो।

प्रियंवदा—हाँ रनिवास की तो बात अवश्य है।

दुष्यंत—[साँस लेकर] और तो मैं क्या विश्वास दिलाऊँ। मेरे कुल में दो ही बड़ी रानियाँ हो सकेंगी। एक सागर से घिरी पृथ्वी जिसपर मेरा राज्य है और दूसरी तुम्हारी सखी—

अनुसूया—तब तो हमें संतोष है। [रुककर]

प्रियंवदा—अरी अनुसूया, देख वह मृगछौना अपनी माँ को खोज रहा है। चल उसे पहुँचा दें।

शकुंतला—मुझे अकेला छोड़कर कहाँ जाती हो सखी।

अनुसूया—अकेली ! [दबी हुई हँसी—दूर हटती जाती है]

परिवर्तन

[पृष्ठभूमि में हल्का उदास संगीत]

प्रियंवदा—इतने ही फूल बहुत होंगे।

अनुसूया—क्यों, आज शकुंतला के सौभाग्य देवता की भी तो पूजा करनी है—उसकी विदा का मुहूर्त भी निकट है। कितना सुख है सखि !

प्रियंवदा—हाँ, अनुसूया जब से राजर्षि गये तब से शकुंतला बहुत अनमनी हो रही है। वह अपने प्रियतम के पास शीघ्र पहुँच जाये हमें तो इसी में संतोष है।

अनुसूया—लो यह थाली तो भर गयी। अब पूजन के लिये चलें। (कुछ बाद) हाय! (थाली गिरती है) सारे फूल बिखर गये। यह अच्छा नहीं हुआ प्रियंवदा—

[हठात् निकट आता हुआ तीखा क्रुद्ध स्वर]

दुर्वासा का स्वर—अरी ओ अतिथि का अपमान करनेवाली। जिसके ध्यान में तू इतनी भूली हुई है वह स्मरण दिलाने पर भी तुझे उसी प्रकार भूल जायगा जैसे पागल अपनी समस्त पिछली बातें भूल जाता है।

प्रियंवदा—हाय, यह क्या हुआ। शकुंतला से अनजान में यह किसका अपमान हो गया—

अनुसूया—[दूर से] जाकर देखूँ। [कुछ देर बाद] अरे यह तो महाक्रोधी महर्षि दुर्वासा हैं। बड़े वेग से लौटे जा रहे हैं। जल्दी जा सखी उनसे क्षमा माँग !

[लंबा अंतराल]

दुर्वासा—नहीं मेरा वचन झूठा नहीं हो सकता। [ठहरकर दूर से] किंतु यह इसका

पहला अपराध है इस कारण इसके प्रिय के समुख पहचान का कोई आभूषण आने पर [और दूर से] मेरा शाप छूट जायगा।—

प्रियवदा—[साँस लेकर] ओह, कल्याण ही हो गया।

अनुसूया—इतनी बनी विपत्ति टल गयी क्योंकि राजर्षि की दी हुई अगूठी शकुतला के पास स्मृति चिह्न की भाँति सुरक्षित है। [ठहर कर] तुम शकुतला का शृगार करो। जाने की वेला निकट है। वह जो आम की डाल पर नारियल लटक रहा है उसमें सुगंधित बकुल माल रखी है उसे निकालकर ले चल। मैं गोरोचन, तीर्थराज की मिट्टी और दूर्वादल ले आती हूँ।

आवाज—[दूर] गौतमी! शार्ङ्गरव आदि से कहो कि शकुतला को राजधानी तक पहुचाने के लिए प्रस्तुत हो जायँ।

प्रियवदा—लो वह शकुतला भी आ रही है—कैसी चित्र लिखित सी है! तपस्विनियाँ उसे आशीर्वाद दे रही हैं। चलो सखी चलें—

[दूर समवत गान]

ओम् शुभम्
तुमसे मिलें आज प्रियतम।
मगलमय रहो मार्ग धूल में हो गोरोचन
नील कमल में डूबा पवन बह चले वनवन
ओम् शुभम्
तुमसे मिलें आज प्रियतम!!

[गान दूर जाता है और चलता है, फिर और दूर जाता है — इस प्रकार यात्रा की उद्भावना। फिर सहसा]

दुष्यन्त—किंतु मुनिवर, मेरा तो कभी गधर्व विवाह नहीं हुआ। यह आप क्या कह रहे हैं।

शार्ङ्गरव—तुम राजमद में चूर हो दुष्यत। भोली ऋषिकन्या को अपने जाल में फँसाकर अब उसका जीवन नष्ट करना चाहते हो। इससे तुमने आश्रम में छिपकर विवाह किया है। यह तुम्हारी पत्नी है—इसे ग्रहण करो।

दुष्यत—[हँसकर] विवाह किया है। तपस्वी तुम्हें धोखा हुआ है। अपने आश्रम लौट जाओ। क्यों कष्ट उठा रहे हो।

शार्ङ्गरव—[कोपित होकर] गौतमी, इस राजा की धूर्तता तो देखो। [रुककर] राजन् पाप से डरो।

दुष्यत—तुम मेरा अपमान कर रहे हो तपस्वी। इस सबका क्या प्रमाण है।

शार्ङ्गरव—इसका प्रमाण है इसकी होनेवाली सतान। जो तुम्हारी सतान होगी।

दुष्यंत—शिव शिव ! मैं इस पाप का दोषी कदापि नहीं बन सकता कि किसी दूसरे की गर्भवती स्त्री को स्वीकार करूँ। कुछ तो मर्यादा का विचार रखो तपस्वी।

[कुछ क्षण घबड़ाता मौन]

गौतमी—[सहसा द्रुत स्वर से] इस समय लाज-संकोच छोड़ दे पुत्री। ला मैं तेरा घूंघट उठा दूँ जिससे तुम्हारे पति तुम्हें पहचान लें। देखिए राजन्, अब तो निश्चय हुआ। [चूड़ियों की झनक]

शार्ङ्गरव—आप अब भी चुप हैं।

दुष्यंत—खेद है, तपस्वी, मुझे इस शुभदर्शिनी सुंदरी का कोई स्मरण नहीं। मुझे तो बहुत ही आश्चर्य हो रहा है।

गौतमी—पुत्री अब मौन रहने का समय नही रहा। तूही क्यों स्मरण नहीं दिलाती।

शकुंतला—आर्यपुत्र। [एकदम लज्जित होकर चुप हो जाती है]

दुष्यंत—शिव शिव। क्या कह रही हो।

शकुंतला—मेरा यों निरादर मत करो पौरव। क्या आपको आश्रम की कोई भी बात स्मरण नहीं।

दुष्यंत—नहीं।

शकुंतला—अच्छा, आपका संदेह मिटाने के लिए मैं आपकी भेंट की हुई राजमुद्रा दिखाती हूँ। [ठहरकर] हाय, मेरी अंगुलि से अंगूठी कहाँ गिर गयी। [स्वर करुण हो जाता है]

दुष्यंत—(व्यंग्य से) हूँ,—अंगूठी गिर गयी—

गौतमी—संभव है शचीतीर्थ के जल को प्रणाम करते समय तुम्हारी अंगुलि से निकल गयी हो।

दुष्यंत—[हँसकर] आपकी तुरत-बुद्धि की सराहना करता हूँ।

शकुंतला—व्यंग्य मत करो पौरव। यह भी मेरा दुर्भाग्य है। [सोचकर] अच्छा मैं दूसरी बात बताती हूँ।

दुष्यंत—कथाएँ सुनने की इच्छा तो नहीं है। किंतु फिर भी सुनाइए।

शकुंतला—एक दिन आश्रम में उस मल्लिका कुंज में आप पानी भरा कमल पत्र का दोना लिए हुए थे।

दुष्यंत—कहती चलिए। सुन रहा हूँ—

शकुंतला—इतने में मेरा सर्वप्रिय मृगछौना दीर्घापांग आ गया था। आपने कहा पहिले इसे पिलाऊँगा। किंतु अपरिचित होने के कारण उसने आपसे जल नहीं पिया। तब मैंने आपके हाथ से दोना ले लिया और उसने बड़े चाव से पी लिया।

आपने हँसकर उस समय कहा था कि अपने अपनों से सबका स्नेह होता है। तुम दोनों वनवासी जो हो।

दुष्यत—[हँसकर व्यग्य से] बड़ी चिरस्मरणीय घटना है। [गंभीर होकर] समय नष्ट करने से कोई लाभ नहीं। ऐसी झूठी मीठी बातें कामी पुरुषों को ही आकर्षित कर सकती हैं।

गौतमी—महाराज आपको यह कहने का कोई अधिकार नहीं। भला तपोवन में पली कन्या छल कपट क्या जाने।

दुष्यत—स्त्रियाँ सब कुछ स्वय ही सीख जाती हैं। उन्हें सिखाने की किसी को आवश्यकता नहीं होती।

शकुतला—अनार्य! तुम सबके हृदय को अपने जैसा कलुषित समझते हो। [करुण होकर] मैं न जानती थी कि तुम्हारे ओठों में मधु और हृदय में विष भरा हुआ है।

शार्ङ्गरव—बिना सोचे विचारे कार्य का यही फल होता है। अस्तु अपने परिणाम को तुम्हीं भुगतो। गुरूजी का सदेश हम दे चुके। अब राजन तुम जानो और यह। हम लोग जाते हैं।

शकुतला—किंतु मुझे किसके सहारे छोड़े जा रहे हैं।—मा गौतमी। मुझे तपोवन ही ले चलो—

शार्ङ्गरव—[कठोरता से] नहीं, तू अपने पति के पास रहेगी अन्यथा कहीं नहीं। [दूर से] चलो गौतमी—

शकुतला—गौतमी !!

दुष्यत—पुरोहितवर, क्या करना चाहिए। बड़ी द्विविधामय परिस्थिति है।

पुरोहित—मैं भी यही विचार कर रहा था। (रुककर) ऐसा कीजिए—कि······

दुष्यत—क्या—

पुरोहित—पुत्र उत्पन्न होने तक इन्हें मेरे घर रहने दीजिए। आपको ऋषियों ने चक्रवर्ती पुत्र का आशीर्वाद दिया है। यदि सतान में चक्रवर्तियों के लक्षण हों तो इन्हें आदर सहित रनिवास में रख लीजिएगा अन्यथा इन्हें आश्रम भेज दिया जायगा।

दुष्यत—जैसा गुरुवर उचित समझें।

पुरोहित—आओ पुत्री, मेरे साथ चलो।

[मौन, फिर सिसकने का स्वर]

शकुतला—[रोती हुई] माँ वसुधरा तू फट जा और मुझे गोद में ले ले।

[सगीत की तीव्र झकार]

पुरोहित—महान आश्चर्य ! हे भगवान् !

दुष्यंत—क्या हुआ गुरुदेव ।

पुरोहित—ऋषिकन्या जैसे ही यहाँ से रोकर चली कि एक ज्योति आयी और उसे उठाकर अप्सरातीर्थ की ओर ले गई ।

दुष्यंत—क्या !

पुरोहित—सत्य है राजन् ।

दुष्यंत—अस्तु जाने दो । [साँस लेकर] इस घटना ने मेरा हृदय उन्मन कर दिया है । मैं शयनकक्ष जाना चाहता हूँ ।

[निकट आता हुआ मातलि का स्वर]

मातलि—आयुष्यमान् राजन् ।

दुष्यंत—अरे मातलि । आओ, स्वागत है इन्द्र के सारथी । कहो सब कुशल तो है ।

मातलि—महाराज, कालनेमि वंश के दानवों का एक दल भगवान इन्द्र से अबतक परास्त नहीं हो सका है

दुष्यंत—फिर मेरे लिए क्या आज्ञा है ।

मातलि—भगवान इन्द्र ने आपको सहायता के लिए शीघ्र बुलाया है । और अपना पवन रथ आपके लिए भेजा है ।

दुष्यंत—उनका अनुग्रह है । मैं अभी चलने के लिए प्रस्तुत होता हूँ !

परिवर्त्तन

[क्रमशः उठते हुए भैरवी के सुर, फिर दूर सिंह गर्जन]

पहिली तपस्विनी—तू नहीं मानेगा सर्वदमन । इस सिंहनी के बच्चे को क्यों बलपूर्वक घसीटे लिए आ रहा है । अरी सुव्रता । यह तो सुनता ही नहीं । क्या करूँ, कोई ऋषि कुमार भी नहीं है जो इसे छुड़ा देता ।

दुष्यंत—कितना तेजस्वी बालक है । [राजा का स्वर दूरी पर ही रहता है] देखकर मोह उत्पन्न होता है ।

तपस्विनी—सुनिए, तनिक आप ही आकर इस सिंह के बच्चे को छुड़ा दीजिए । इसने ऐसा कसकर पकड़ रखा है कि मेरे हाथ से तो छुड़ाये नहीं छूटता ।

दुष्यंत—[हँसकर] महर्षिकुमार, बड़े अच्छे हो । इसे छोड़ दो । हाँ अब ठीक ।

तपस्विनी—धन्यवाद । किंतु यह ऋषि कुमार नहीं है ।

दुष्यंत—तो देवी फिर यह बालक किस वंश का है । मुझे न जाने क्यों उत्कंठा हो रही है ।

तपस्विनी—पुरु वंश का ।

दुष्यंत—[आश्चर्य से] पुरु वंश का ।

तपस्विनी—क्यों आपको आश्चर्य क्यों हुआ ।

दुष्यत—कुछ नहीं। केवल यह सोचकर, कि इस स्थान पर अपनी शक्ति से तो कोई मनुष्य पहुँच नहीं सकता।
तपस्विनी—सत्य है। इसकी माता एक अप्सरा की कन्या हैं। वही उसे यहाँ ले आयीं थीं और यहीं इस बालक का जन्म हुआ।
दुष्यत—क्या मैं यह पूछने का साहस कर सकता हूँ कि वे किसकी पत्नी हैं।
तपस्विनी—जिसने अपनी धर्मपत्नी को इस प्रकार छोड़ दिया, ऐसे पापी का नाम कौन ले।
दुष्यत—[साँस भरता है]
तपस्विनी—[घबराकर] अरे इसकी बाँह पर बँधा रक्षा कवच कहाँ गया।
दुष्यत—सिंह के बच्चे से खेलते समय वह गिर गया था। [कुछ निकट] यह रहा—
तपस्विनी—[चिल्लाकर] नहीं नहीं, उसे छूना मत। हाय, आपने तो उठा ही लिया। महान् आश्चर्य !!
दुष्यत—क्यों, क्या बात हो गयी ?
तपस्विनी—यह कवच भगवान कश्यप ने पहिनाया था और कहा था कि यदि यह पृथ्वी पर गिर पड़े तो बालक के माता पिता को छोड़कर कोई इसे न उठाए—
दुष्यत—क्यों, और यदि उठा ले तो—
तपस्विनी—तो यह कवच तुरत सर्प बनकर मनुष्य को डस लेगा—
दुष्यत—क्या यह सत्य है ! ओह, तब तो यह मेरा ही पुत्र है। आओ वत्स—
तपस्विनी—[आश्चर्य से] सच, क्या आप ही दुष्यत हैं। किंतु आप यहाँ—
दुष्यत—हाँ देवी मैं भगवान इन्द्र की सहायता करके लौट रहा था। मार्ग में महामुनि कश्यप का आश्रम देखकर यहाँ उनके दर्शनों के लिए रुक गया। [गहरा निश्वास] आज जीवन सफल हुआ।
तपस्विनी—मैं देवी शकुतला को यह समाचार सुनाती हूँ। [दूर से] लो वह तो इधर ही आ रही हैं। देवी ! शकुतला !! राजर्षि—
शकुतला—राजर्षि ?
तपस्विनी—हाँ राजर्षि, महाराज दुष्यत।
शकुतला—आर्यपुत्र... ..नहीं [रुक जाती है] उफ !
दुष्यत—[रुँधे गले से] देवी। [आवाज जैसे नहीं निकल रही] मुझे क्षमा करो मैं .. [बात अधूरी रह जाती है]
शकुतला—आप ! आप यहाँ ! कैसे इस दुखिया का स्मरण हो आया।
दुष्यत—मैंने तुम्हारा जो निरादर किया उसकी कसक अपने मन से निकाल दो, सुंदरी। मैं शापग्रस्त था।

शकुंतला—[सांस भरकर] आज इस सौभाग्य घड़ी में मैं सब कुछ भूल रही हूँ। मेरा ही कोई पिछले जन्म का पाप था आर्य पुत्र।

दुष्यंत—कैसे कहूँ। जबतक अपने हाथ से इन आँसुओं को न पोंछ दूँगा जो उस दिन से तुम्हारी टेढ़ी बरौनियों में आजतक उलझे हुए हैं तब तक मुझे शांति नहीं होगी। शकुंतला!! यह है वह अँगूठी।

शकुंतला—यह आपको कैसे प्राप्त हुई।

दुष्यंत—इसी ने मुझे सब कुछ स्मरण दिलाया। एक मछुवे को यह मछली के पेट से मिली और राजमुद्रा होने के कारण वह मुझ तक पहुँच गयी। लो इसे पहिन लो—

शकुंतला—नहीं आर्यपुत्र।

दुष्यंत—नहीं रानी। जैसे फूल लगने पर लता और वसंत का मिलन स्पष्ट हो जाता है वैसे ही हमारे मिलन का यह स्मृति-चिह्न तुम पहिन लो—

शकुंतला—[भरे गले से] नहीं अब मुझे इसका विश्वास नहीं रहा। अब आर्यपुत्र ही इस स्मृति-चिह्न को रखें [कोमल संगीत]—

ई० एम० आर० ल्यूइस

किस्मत

[एक रूप-कथा]

एक बीहड़ और रूखे देश में एक गड़रिया रहता था। वह था तो दरिद्र, पर उसके मन में राजा होने की लालसा थी।

वह मन ही मन सोचता, 'निस्संदेह मुझमें राजा होने की योग्यता और प्रतिभा है, नहीं तो मुझमें राजत्व की और शक्ति की इतनी उत्कट कामना क्यों होती? फिर मेरा शरीर सुगठित और बलिष्ठ है। मेरी राजसिक मुद्रा मेरी प्रजा को आकृष्ट करेगी और उनकी श्रद्धा प्राप्त करेगी, और राजकर्म का बोझ तो मेरे कंधे सहज ही उठा सकेंगे। इतना सब होते हुए भी मेरे पास राज्य के नाम पर क्या है—कुछ एक दुबली भेड़ें और रखवाली को एक मरघिल्ला कुत्ता! क्या किस्मत ने मुझे बिल्कुल भुला दिया है!'

सोचने के लिए उसके पास काफी समय था, जैसा कि सभी गड़रियों के पास होता

है। आधा समय वह अपने सभाव्य गौरव और वास्तविक दारिद्र्य के विरोध पर कुढने में बिताता, और बाकी आधा किस्मत के किसी ऐसे करिश्मे के सुख स्वप्नों में, जिसके द्वारा उसके सिर पर राजमुकुट आ जमेगा और उसके हाथों में राजदंड। अचरज नहीं, वह सोचता, अगर कभी कोई राजा शिकार खेलता हुआ इन रूखे पहाड़ों में आ निकले, और उसके चेहरे में कोई राजलक्षण देखकर उसे तत्काल अपना उत्तराधिकारी चुन ले! क्योंकि यह कौन कह सकता है कि मैं राजमहल में नहीं जन्मा था, कि मेरी धाय की गोद से कोई गरुड़ मुझे उठाकर इन पहाड़ों में नहीं डाल गया था जहाँ मुझे किसी गड़रिये दंपति ने पाया और पाल पोसकर बड़ा किया? कितना अन्याय है उनका, कि वे मुझे मेरा सच्चा वंश-परिचय दिये बिना ही परलोक चले गये!

कभी वह यह भी कल्पना करता कि उसने राजा के प्राणों की रक्षा की है और कृतज्ञतावश राजा ने उसे गोद ले लिया है, या कभी वह राजकुमार को काल्पनिक सिंह से बचाने के लिए अपूर्व शौर्य प्रदर्शन करता, जिसके कारण आहत राजकुमार मरते हुए पिता से वचन ले लेना कि राजा गड़रिये को ही उसके स्थान पर अपना लेंगे। किंतु खेद—उन पहाड़ों में सिंह थे ही नहीं।

कभी वह देखता, पहाड़ में भटकते हुए उसे कहीं पारसमणि मिल गया है, उसे लेकर राजा के महलों को उसने रातोंरात स्वर्ण प्रासादों में परिवर्तित कर दिया है जिससे प्रसन्न होकर राजा ने उससे राजकन्या का पाणिग्रहण करा दिया है। किंतु यथार्थता यह थी कि वह पत्थर और मणि का भेद ही नहीं जानता था।

एक दिन इसी तरह सुखद कल्पनाओं का जाल बुनते समय उसे एक बूढ़ा मिला जो लाठी के सहारे पहाड़ की ओर चला जा रहा था।

"भगवान तुम्हें सुखी रखें, बेटा गड़रिये!" बूढ़े ने आशीर्वाद देते हुए कहा।

"और तुम्हें भी, बाबा!" गड़रिये ने अनमने भाव से उत्तर दिया। "बाबा, तुम्हारे पास वह मणि तो नहीं है जो पत्थर को सोना बना देती है?"

"और होती भी, तो तुम्हारे किस काम आती?" बूढ़े ने कुछ अचंभे में आकर कहा, "सोने की भेड़ें तो हिलती भी नहीं, न सोने का कुत्ता भौंकता—तुम्हारी तो रोजी ही मारी जाती!"

"लेकिन मैं गड़रिया कब रहना चाहता हूँ—मैं तो राजा बनना चाहता हूँ!" गड़रिये ने कहा, "और राजाओं के लिए बहुत-सा सोना जरूरी चीज है।"

"अच्छा, यह बात है!" बूढ़ा कुछ देर सोचता रहा, फिर कुछ सोचकर बोला, "अच्छा, मेरे साथ आओ!" गड़रिये का दिल आशा के साथ बल्लियों उछलने लगा, वह बूढ़े के पीछे पीछे चला। बहुत देर तक चट्टानों-पत्थरों को पार करके, नदी नाले-

खड्ड लाँघकर और चढ़ाइयाँ चढ़कर बूढ़ा अचानक रुका। बोला, "वह देखो, वहाँ!" अपनी लाठी से उसने पहाड़ी की तरफ इशारा किया।

गड़रिये ने उधर ताका। पहाड़ में एक गहरा कुआँ या कंदरा-सी थी। उस काली गुफा में प्रकाश नहीं जाता था, और गड़रिये ने झाँककर देखा तो कोई तज़ा वह नहीं देख पाया। उसने पूछा, "कितना गहरा है यह ?"

"होगा कोई साठ हाथ"—बूढ़े ने उत्तर दिया।

"दीखता तो अधिक गहरा है!"

"वह इसलिए कि इसका मुँह तंग है। नीचे यह सुरंग फैलकर चौड़ी हो गयी है, और एक अच्छी बड़ी गुफ़ा-सी बन गयी है।

"और गुफा में है क्या ?" गड़रिये ने पूछा।

"सब कुछ जो तुम चाहते हो।" बूढ़ा बोला, "उतरोगे तो मैं प्रबंध करूँ ?"

किंतु सुरंग के मुँह पर गड़रिया हिचका। बोला, "सब कुछ जो मैं चाहता हूँ से तुम्हारा अभिप्राय क्या है, बूढ़े दार्शनिक ?"

"जो तुम कह रहे थे वही, और क्या ? तुम राजा होना चाहते हो न ? राजा होने के लिए तुम जैसे —अ—अ—भाग्य द्वारा उपेक्षित को सबसे पहला कदम नीचे की ओर बढ़ाना पड़ता है।"

'तुम्हारा मतलब है कि नीचे धन या कि मेरी किस्मत की कुंजी है ?"

"दोनों हैं। लेकिन सूरज डूब रहा है, हमें जल्दी करनी चाहिए। तुम नीचे जाना चाहते हो कि नहीं ? निश्चय कर लो।"

"मैं जा कैसे सकता हूँ ?' गड़रिये का स्वर चिड़चिड़ा हो गया था! साठ हाथ पाफ़ी गड्ढा होता है, और मेरे पंख नहीं हैं कि मैं फिर उड़कर निकल आऊँ—हाँ, नीचे पंख भी तह किये रखे मिल जायँ छपी-छपायी सेवन विधि के साथ तो दूसरी बात है।"

उत्तर में बूढ़े ने अपनी लाठी रख दी और कंदरा के मुँह के पास ही लगे हुए शहतूत की पत्तियाँ तोड़-तोड़कर दक्ष हाथों से रस्सी बँटने लगा।

गड़रिये ने उसके हाथों की ओर देखते हुए कहा, "मेरा वजन पौने दो मन तो होगा ही—'

"बस इतना ही यह रस्सी सहेगी।' बूढ़े ने अविचलित स्वर से उत्तर दिया। गड़रिये ने मान लिया कि किस्मत टालने से नहीं टलती, और रस्सी कमर में बाँध ली। उसने पहले पैर भीतर लटकाये, और पेट के सहारे लेटकर टाँगे झुलाकर कहीं टेक पाने की कोशिश की। पर पैर कहीं नहीं टिके, क्योंकि, जैसा कि बूढ़े ने कहा था, नीचे सुरंग सहसा चौड़ी हो गयी थी।

बूढ़े ने अपने पैर अच्छी तरह जमाकर और रस्सी को मजबूती से पकड़ते हुए हुक्म

दिया, "अब कूद जाओ !" गड़रिये ने एक बार चारों ओर बचपन की परिचित सुंदर पहाड़ियों की ओर नजर दौड़ायी। उनकी चोटियाँ डूबते सूरज की किरणों से लाल हो रही थीं। फिर गड़रिये ने अपने स्वामीभक्त कुत्ते की भूरी आँखों की ओर देखा, फिर शहतूत के झाड़ी की ओर, और हरी दूब की ओर उसने खुली स्निग्ध हवा में एक लंबी साँस ली और कूद पड़ा। क्षण ही भर में वह काले गहरे अंधकार में झूल गया। अंधकार मानों मखमली दस्ताने पहने हुए मजबूत हाथों से उसे धीरे धीरे नीचे खींच कर, मानों चिकने शीतल सागर की तरह उसे लील गया। ऊपर, उसने घबराई आँखों से देखा, आकाश का छोटा सा दायरा बैठा ही छोटा होता जा रहा था, जैसे डोरे खींचने से बंद हो जानेवाला बटुए का मुँह . वह सोचने लगा, मेरे पास क्या प्रमाण है कि यह दुष्ट सच कह रहा है—मैंने उसे कुल आध घंटे से जाना है, और अब मैं उसके चंगुल में हूँ। उसके बाल और रोंगटे खड़े हो गये...लेकिन तभी उसके पैर नीचे जा टिके।

"पहुँच गये ?" ऊपर से धीमी आवाज़ आयी। गड़रिये ने मुँह उठाकर देखा, ऊपर छोटे से छेद से बूढ़े का सिर झाँक रहा था, मानों अधूरा ग्रहण लगा हो।

"हाँ। अब क्या करना होगा ?" गड़रिये ने पूछा। उसकी आवाज़ मानों खोखल में गूँज गयी, उसने सहमकर रस्सी को पकड़ लिया।

"तुम्हारी आँखें अँधेरे की अभ्यस्त हो जायँ, तो अभी कुछ तुम्हें दीखेगा !" बूढ़े के उत्तर से गड़रिया विशेष आश्वस्त नहीं हुआ। उसे लगने लगा कि ऊपर के उस छेद पर ही उसकी अंतिम आस टिकी है, वहीं उसकी आँखें जम गयीं। मन का पूरा जोर लगाकर उसने आँखें उधर से हटाकर चारों ओर देखा। पहले तो उसे कुछ स्पष्ट नहीं दीखा, फिर उसे एक बहुत मद्धी टिमटिमाहट सी दीखी। फिर एक ओर—अंधकार में जगमग सुई की नोक सी। वह डर गया। आँखें—न जाने किन जंतुओं की आँखें उसे देख रही थीं। अब उसने देखा, चारों ओर असंख्य आँखें हैं—चारों ओर से सैकड़ों, हज़ारों जंतु अंधकार में उसे घेरते बढ़े आ रहे हैं। चारों ओर ही नहीं, ऊपर भी, वे आँखें छायी हैं—मानों तारों भरी रात की तरह टिमटिमाती हुई।

"अभी कुछ दीखा ?" ऊपर आलोक और हँसी और सुरक्षा की दुनिया से बूढ़े की रूखी आवाज़ आयी।

उसने चिल्लाकर उत्तर दिया, "केवल आँखें !" मन ही मन उसने सोचा, इन जंतुओं को आक्रमण ही करना है तो जल्दी करें—कम से कम यह अनिश्चय तो दूर हो।

"आँखें ?" बूढ़े ने पुकारा, "फिर देखो—ध्यान से देखो ?"

गड़रिये ने अपने शत्रुओं से भिड़ जाने की ठानी—किंतु टकराया जाकर पथरीली किसी वस्तु से। वह कंदरा की दीवार ही थी। और तब उसने देखा, वह दीवार ही चमक रही थी।

उसने चिल्लाकर कहा, "हीरे !" हीरे—और हजारों की संख्या में ! क्षण ही भर बाद वह उन्हें अपनी जेबों में, टोपी में, कपड़ों की एक-एक खियन में भरने लगा—दीवार में से बड़े बड़े हीरे उतनी ही आसानी से निकल आ रहे थे जैसे हलुए में से मेवा-बादाम।

ऊपर से बूढ़े ने पुकारा, "काफ़ी हो गये ?" गड़रिये ने आँख उठाकर देखा, सुरंग का छेद अंधेरा पड़ गया था। उसके आस पास के हीरों की जगमगाहट भी कम हो गयी थी, केवल जहाँ-तहाँ गुच्छों से किरणें टिमक रही थीं।

"हाँ," उसने उत्तर दिया, "मुझे खींच लो अब।" और वह रस्सी टटोलने लगा।

बूढ़े ने पुकारा, "पर इस रास्ते तुम नहीं लौट सकते। यह अधिक बोझा तो रस्सी नहीं सहारेगी। तुम्हें सुरंग से जाना पड़ेगा। अपनी दाहनी तरफ़ देखो, सुरंग तुम्हें गुफा से बाहर ले जायगी।

अब गड़रिये ने पहचाना, हीरे केवल तीन ओर जगमगा रहे थे। अँधेरे से अब अभ्यस्त हो गयी आँखों से उसने देखा, चौथी ओर सुरंग का मुँह धुँधला-सा दीख रहा है। किन्तु उस मुँह के भीतर का अँधेरा इतना काला था कि तुलना में गुफा मानों जगमगाते आलोकित कमरे जैसी जान पड़ती थी—एक काला, भयावना अंधेरा न-कुछ, जो मानों उसे दबोचने के लिए दुबका बैठा था।

गड़रिये ने रस्सी पकड़ चिल्लाकर कहा, "खींचो जल्दी ! जल्दी !"

"रस्सी टूट जायगी !" बूढ़े ने कहते-कहते खींचना शुरू कर दिया। गड़रिया ऊपर खिंचने लगा। उसने मन ही मन कहा, दो-चार छटांक रस्सी के बोझ से भला रस्सी टूटी है ? पर एकाएक कुछ टूटने का शब्द हुआ, वह धड़ाम से गिरा और चट्टान से उसके घुटने छिल गये। रस्सी टूट गयी थी।

ऊपर बूढ़ा पीछे को गिर गया था। उसने उठते हुए कहा, "मैंने पहले ही कहा था रस्सी टूट जायगी। तुम्हें हीरे लेने हों तो सुरंग के रास्ते निकलना पड़ेगा।" गड़रिये ने फिर ऊपर देखा। रोशनी बिलकुल बुझ चली थी, थोड़ी देर में घुप अँधकार हो जायगा। सुरंग में न जाने कौन जीव जंतु हो...यहीं, गुफा में ही उसे सदा रहना पड़ेगा—पहले भूख और प्यास से तड़पकर मरने तक, फिर एक सड़ती लाश बनकर, और अंत में एक सूखी हड्डियों की ठठरी के रूप में...

उसने भर्राये गले से पुकारा, "थोड़ी और रस्सी बँट लो !" और हीरे निकालकर फेंकने शुरू किये। अब तक अँधेरा हो गया था—घुप अँधेरा। ऊपर सूराख़ से तारे दीख रहे थे, किंतु सूराख का घेरा साफ़ नहीं दीखता था। और बूढ़ा—वह कहाँ गया ? बहुत ही भयभीत होकर गड़रिये ने चीख़ना शुरू किया। हाथ पटक-पटककर वह मानों अपने शरीर से अँधेरे को ठेलने लगा। अचानक उसके मुँह में कुछ लगा। वह चीख उठा—फिर संभलकर उसने रस्सी को पकड़ा। थोड़ी देर में वह गुफा से बाहर निकल

आया, और रात की ठंडी खुली हवा में अपनी पसीने से तर देह को सुखाने लगा।

बिना और एक शब्द कहे गड़रिया और बूढ़ा उस स्थान से लौट पड़े। कुत्ते को पीछे पीछे लिये वे बहुत दूर तक अँधेरे में मौन चलते रहे। चाँद निकल आया। अंत में थककर चूर होकर वे एक सूखे पेड़ के नीचे पड़ गये। नींद की गोद में जाते हुए गड़रिये ने कहा :

"हमें यह क्यों नहीं सूझा कि हीरे पोटली बाँधकर पहले अलग ऊपर चढ़ा लें ?"

बूढ़े ने धीरे से उत्तर दिया, "राजत्व के लिए जिन गुणों की आवश्यकता पड़ती है, तुरत-बुद्धि उनमें एक है।"

× × ×

बूढ़े ने गड़रिये को जगाया तब दिन निकल आया था। गड़रिये ने रुखाई से कहा, "अरे, तुम अभी यहीं हो ?"

"मैं तुम्हें दो एक चीजें दिखाना चाहता हूँ।"

गड़रिया बड़बड़ाया कि वह पहले ही काफी देख चुका है, पर फिर भी वह बूढ़े के पीछे हो लिया। वे फिर पहाड़ पर चढ़ने लगे—इतनी ऊपर जहाँ गड़रिये को कभी जाने का मौका नहीं हुआ था। अंत में वे एक ऊँचे शिखर पर जा पहुँचे। यहाँ से चारों ओर बीसियों मील तक के पहाड़ दीखते थे—प्रातःकालीन आकाश बहुत साफ था।

"वह देखो!" बूढ़े ने अपनी लाठी से इशारा किया।

गड़रिये ने देखा। दूर दो पहाड़ों के बीच में एक तराई थी जो उसने कभी पहले लक्ष्य नहीं की थी, और उससे आगे सुदूर क्षितिज तक हरी भरी समतल भूमि फैली हुई थी।

"कैसा सुंदर देश!" गड़रिये के मुँह से हठात् निकला, "अगर मैं इन रूखी रूखी पहाड़ियों में न रहकर वहाँ होता तो कितना अच्छा होता! ऐसे देश में एक दरिद्र गड़रिये के लिए भी गुंजाइश हो सकती है—खासकर अगर उसे शुरू में मदद देनेवाला कोई मित्र आये!" वह उस सुदूर देश की ओर ललचाई आँखों से देखने लगा। फिर उदास होकर बोला, "किंतु खेद! इन पहाड़ों के पार वहाँ तक तो अकेला आदमी भी मुश्किल से जा सकेगा, एक पूरा रेवड़ और माल मता लेकर जाने की तो बात ही क्या!'

"यही तो बात है!" बूढ़े ने कहते हुए गड़रिये को एक दूरबीन थमा दी ताकि वह दृश्य को और अच्छी तरह देख सके। "किंतु उस सुरंग के रास्ते पहाड़ों के नीचे निकलकर पैदल ही आसानी से वहाँ तक पहुँचा जा सकता है।"

"अरे!" गड़रिये ने सहसा विस्मय से कहा, "यहाँ है जगह जहाँ सुरंग जाकर

निकलती है ! और वहाँ दो एक सौ हीरे साथ लेकर पहुँचा जा सकता है ! और मुझे एक शहर भी दीखता है—जहाँ नदी समतल भूमि में घुसती है। नदी पर सात सुंदर पुल बने हैं। दोनों ओर ऊँचे भवन हैं, सुंदर बाग और हरियाली ! व्यापारियों और रईसों के कैसे ठाठदार बँगले हैं ! यह दूरबीन तो बहुत अच्छी है—इस कई योजन की दूरी से भी मैं नगर की सड़कें और उस पर आते-जाते लोग और गाड़ियाँ देख सकता हूँ। नदी से और सड़कों से पाँचों महाद्वीपों का बनिज व्यापार चला आ रहा है। ऐसे देश का राजा होना भी कितना बड़ा सौभाग्य होगा ? मुझे राजमहल भी दीखता है—वह सूरज की रोशनी में चमक रहा है और उसके सामने और सब इमारतें फीकी लगती हैं। महल क्या है मूर्तिमान वैभव है, कारीगरी का जौहर है ! मुझे साफ दीखता है—छत पर लहराता शाही झंडा तक दीखता है। काश कि यह झंडा मेरा होता ! लेकिन यह क्या ? झंडा तो झुका हुआ है। कोई बड़ा आदमी मर गया है। और कौन बड़ा आदमी—निश्चय ही राजा ही मर गया है। रात ही मृत्यु हुई है।"

गड़रिये ने दूरबीन हटाकर बूढ़े की ओर देखा। बूढ़ा मुँह पर एक अद्भुत मुस्कान लिये चुपचाप सुन रहा था।

गड़रिया धीरे-धीरे कहता गया, "पहाड़ के नीचे सुरंग में न दिन होता है, न रात, और मनुष्य दोनों में एक-सा तेज चलता रहता है। कल राजा मरा है। आज—हो सकता है—पृथ्वी के गर्भ में से एक गड़रिया हीरों का ढेर लिये प्रकट होकर सारी नगरी को चकित कर दे। और ऐसे असाधारण प्रवेश का उसके लिए कितना महत्व होगा—कौन बता सकता है ? वह न्यायप्रिय राजा और स्नेही राजा के दुःख से संतप्त उलझनों से घिरी और शायद षडयंत्रों और संकटों से आपन्न हताश बैठी होगी—वह निस्संदेह संदेशवाहक से उस देश से आये एक सीधे सच्चे व्यक्ति की बात सुनेगी जिस देश के ऊपर से ही उसके पिता की आत्मा स्वर्ग सिधारी होगी...और वह निस्संदेह उसे पद गौरव देगी...किस्मत ! तूने मुझे पुकारा, और मैंने अनसुनी कर दी ! और वह क्यों ! क्योंकि मैं अज्ञान से डर गया—अज्ञान जिसका दूसरा और ठीक नाम अवसर है !

"मौका चूक गया। मैं अयोग्य ठहरा—और अब मेरे सामने क्या है ? अंतहीन परिताप और जो हो सकता था उसके स्वप्न, और फिर इन स्वप्नों से जागकर अपनी इस क्षुद्र जीविका के ओछे कामों का तलवार से भी तीखा दर्द। इससे तो मर जाना अच्छा है इसी चट्टान से कूद कर..."

और सचमुच सामने ऐसी चट्टान थी जिससे कई सौ फुट नीचे सीधी खड्ड थी।

बूढ़े ने तपाक से कहा, "अगर तुम्हें जोर के धक्के की ज़रूरत हो, तो मेरी सेवाएँ अर्पित हैं।"

गड़रिया उछलकर छः हाथ पीछे हट गया। रुखाई से बोला, "तुम्हें उचित-अनु-

नित का कुछ ज्ञान नहीं है। मैंने वह प्रस्ताव कहते-न-कहते रद्द भी कर दिया था। किस्मत ने धोखा दिया इस बहाने हथियार डाल देना तो कायरता होती। सच्ची महानता अपने को ठीक ठीक पहचानने में है—मैं मानता हूँ कि कल रात मैंने कायरता दिखायी थी। किंतु उसके कारण मेरे पुराने संस्कारों में बसे हुए हैं। यह मानना मेरी भूल थी कि किस्मत मुझे राजत्व दे रही है, किस्मत मुझे केवल मेरी अपात्रता दिखा रही थी। तो ऐसा ही सही, मैं ऐसे ही जीवन काटूँगा। स्वप्न देखूँगा और दरिद्रता भोगूँगा। किस्मत अपनी रहस्यमयी खड्डी पर जो चादर बुन रही है, उसमें मैं भी अपना चमकीला रंगीन सूत मिला दूँगा, उसे तोड़ूँगा नहीं। मैं जिऊँगा।"

वह मुड़कर तेजी से चल पड़ा। लेकिन इस बीच बूढ़े ने बड़ी सफाई से अपनी दूरबीन उसके हाथों से छुड़ा ली, और व्यंग्यपूर्वक हँसता हुआ बोला, "अच्छा हीला निकाला है!"

× × ×

पूरे बारह महीने गड़रिये ने वैसी जिंदगी बसर की। सवेरे नींद खुलते ही उस खोये हुए अवसर की याद से उसका जी बेचैन हो उठता, और बिस्तर से उठने की इच्छा ही मर जाती। कभी वह काम में अपने को भुला देना चाहता, किंतु काम के बाद अपनी पराजय की याद का दुहरा धक्का लगता, और वह सोचता कि इससे तो निरंतर उसे सामने रखना ही अच्छा है, ताकि वह सखी बन जाय—जैसे कभी-कभी पुराने रोगी अपने दर्द को साथी बना लेते हैं। इससे भी अधिक चोट लगती अपने स्वप्नों से जाग कर जिनमें वह घटनाचक्र को इच्छानुसार बदलकर उस सुरंग से जाता हुआ नगर को जा रहा होता जहाँ सफलता मिलती, और कीर्त्ति, और—प्रेम...

इस मानसिक दबाव का असर उसके शरीर पर भी हुआ। उसे चक्कर आने लगे, दौरे होने लगे, सिर बराबर दुखता रहने लगा, भूख बिल्कुल मर गयी और ज्वर भी रहने लगा। वह काम में ढील देने लगा। रेवड़ रोज रोज घटने लगा और झोपड़ी का छप्पर चूने लगा, पर उसका ध्यान ही उधर न जाता।

ज्वर के दौर में उसने स्वप्न देखा, वह भेड़ों की ऊन से रस्सी बुनकर उसके सहारे नीचे उतर रहा है। कई दिनों तक उतरता ही जा रहा है। बीच बीच में एक बूढ़ा उसे दूरबीन थमाता है और हँसकर कहता है, 'तुम पिछली बार आये थे तब से हमने सुरंग काफी गहरी कर दी है। तुम तो देख ही रहे हो—अभी तो और बहुत गहरे जाना होगा!'

वह सोता और जागता, किंतु स्वप्न जैसे सूत्र-सा उसके मन के साथ गुँथ गया था, कभी पीछा न छोड़ता।

ज्वर उतरने पर वह बहुत दुर्बल हो गया, पर कुछ करने का उत्साह लौटा। तब

एकाएक उस सुरंग में फिर जाने का विचार उसके मन में उदित हुआ। उसने निश्चय किया, वह रस्सी बनाकर देखेगा कि क्या सचमुच उतरते दिन लगते हैं! और नहीं तो कुछ वक्त काटने का उपाय तो मिलेगा! और अगर हीरे सचमुच वहाँ हैं तो ला रखने में क्या बुराई है—क्या जाने किसी दिन काम ही आवें। निश्चय से उसकी स्फूर्ति लौटी और मन में उमंग उठी। उसका कुत्ता मुदित होकर उछलने लगा।

कुछ ही दिन में उसने भेड़ की ऊन की रस्सी नहीं, एक मज़बूत सीढ़ी बना ली। फिर, यद्यपि कुछ खोज बीन के बाद उसने सुरंग के मुँह का भी पता लगा लिया। एक दिन सवेरे ही वह वहाँ जा पहुँचा, पेड़ से सीढ़ी बाँधी और भीतर उतरने लगा। साथ उसने एक चर्बी की मशाल भी ले ली।

थोड़ी देर में ही उसने देख लिया कि बूढ़े ने जादू नहीं किया था, दीवारों पर सचमुच हीरे थे। उसके बटोरकर फेंके हुए हीरे अभी नीचे बिखरे ही पड़े थे। कुछ घंटों के परिश्रम से उसने लगभग छः सौ बड़े-बड़े हीरे छाँट लिये, जिनमें कुछ बहुत ही बड़े और सुंदर थे। उसने सबकी पोटली बनायी—जो कि साधारण पैदल यात्री की गठरी से विशेष बड़ी न थी। गुफा से बाहर जानेवाली सुरंग की भी उसने पड़ताल कर ली; सुरंग बिलकुल सीधी थी, फर्श सीधा और चिकना, आदमी बिना लड़खड़ाये चल सकता था और कोई भूल-भुलैया भी कहीं मालूम नहीं होती थी। उसने कुत्ते को रस्सी की सीढ़ी पर पहरा देने को बिठाया, और यह सोचकर कि सुरंग को थोड़ी दूर तक देखेगा, अगर दिक्कत मालूम होगी तो लौट आयेगा, वह सुरंग के अंदर घुस पड़ा। किंतु थोड़ी देर में ही वह समय को भूलकर मशाल की रोशनी में बढ़ता ही चला गया।

पूरी सुरंग लाँघने में उसे एक दिन और एक रात और लग गयी। वह थककर चूर हो गया था, पर उसका पैर मानों अपने आप एक के आगे दूसरा पड़ता चला जा रहा था। जहाँ तहाँ भीतर पानी मिलता, वह रुककर थोड़ा पी लेता। भूख का उसे ध्यान ही न आया; आखिर सुरंग का मुँह अचानक ही मिल गया, बाहर निकलकर उसने देखा कि भोर हो रहा है। वह वहीं लेटकर सो गया, जागा तो धूप चढ़ रही थी।

जागते ही उसे भूख लग आयी। पास ही सड़क दीखी, उसी पर एक मकान से धुआँ उठ रहा था। वहाँ पहुँचकर उसने देखा कि सराय है, और खाना मँगाकर खाने बैठ गया। पास ही एक और मेज़ पर एक व्यक्ति और बैठा था। उसके साफ सुथरे बल्कि भड़कीले कपड़ों से गड़ेरिये ने निश्चय किया कि वह कोई बड़ा आदमी है, अचंभा नहीं कि राजदरबारी हो। ऐसा व्यक्ति उस घटिया सराय में क्योंकर आया, यह कौतूहल होना तो स्वाभाविक था, पर पूछने की उसकी हिम्मत न हुई, यद्यपि वह यह भी सोचता था कि बातचीत से राजधानी के हालात मालूम हो सकेंगे।

किंतु बातचीत का अवसर अपने आप मिला। अजनबी थोड़ी देर से कनखियों से

उसे देख रहा था, हँसकर बोला, "हम शहराती, खुले देहात की सुगंधित प्रात:कालीन हवा का आनंद लेना ही नहीं जानते, गत बंद कमरों में सोकर सबेरे देर से उठते हैं और उठते ही एक सुलगती बूटी के धुएँ से फिर फेफड़े और गले भर लेते हैं। किंतु मित्र, तुम्हारे लाल चेहरे और डील डौल से साफ दीखता है कि तुम वैसे नहीं हो। अगर मैं भूल नहीं करता, तो मैं एक गड़रिये से बात कर रहा हूँ—और गड़रियों में भी उस जीवन के एक कलाकार से ?"

गड़रिये ने उत्तर देते ही पाया कि उससे उसके पहाड़ों के, उसके जीवन, रहन-सहन, संपत्ति आदि के और विशेषकर पहाड़ी प्रदेश के रास्तों आदि के विषय में लंबी जिरह होने लगी। पहले उसे संदेह हुआ कि उसके पीछे कोई जासूस लग गया है जिसका काम बाहर से आनेवाले यात्रियों की पड़ताल करना है और इसलिए वह अपने आने के रास्ते की बात न बताकर पहाड़ के ऊपर से आनेवाले एक काल्पनिक मार्ग का वर्णन करता रहा। किंतु जब वह अपरिचित व्यक्ति पहाड़ी रास्ते और उसके पार के प्रदेश में अधिक रुचि दिखाने लगा, और उसका स्वर भी कौतूहलकर न रह कर चिंतित हो आया, तब गड़रिये ने अपनी राय बदल ली। पहाड़ों के पार जीवन की कोई सुविधाएँ नहीं, सराय या गाँव भी नहीं, यह सुनकर उसका चेहरा फीका पड़ गया था। गड़रिये ने अनुमान किया कि वह व्यक्ति अवश्य ही कुछ अपराध करके देश से भाग रहा है। अंत में उसने पूछ ही तो लिया। साथ ही आश्वासन भी दिया कि उससे कोई डर नहीं है, क्योंकि 'भूल तो सभी से होती है।' अपने बदले हुए रवैये पर उसे स्वयं आश्चर्य भी हुआ।

भद्र पुरुष ने कुछ विचार करते हुए कहा "तुम दीखते भोले हो, पर मेरा रहस्य तुमने ठीक जान लिया। मैं भाग रहा हूँ। पर कानून से नहीं—यानी वर्तमान रानी की अदालतों में उच्चवंशीय लोगों के प्रति जो नियम बरते जाते हैं, उनसे नहीं। भाग रहा हूँ क्योंकि एक बहुत बड़ा रक्तपात होनेवाला है जिसमें उच्चवंशीय और दरबारी लोग ही सब मारे जायँगे। न जाने कब यह आग फूट पड़नेवाली है—जनता का शोर तक पहाड़ों को गुँजा देगा और बड़े-बड़े भवन राख के ढेर हो जायँगे!" कहते कहते उसका चेहरा पीला पड़ गया और हाथ काँपने लगे।

गड़रिये ने कहा, "मुझ अजनबी की अनभिज्ञता और कौतूहल क्षमा करें—पर यह सब क्यों होनेवाला है? और इससे और भी तो खतरे में होंगे—आप अकेले ही क्यों भाग रहे हैं?"

भद्रपुरुष का चेहरा लाल हो आया। बोला, "किसी ने कहा है कि खतरे से इंसान जड़ हो जाता है, जैसे साँप की आँखों से खरगोश, और समय रहते भी न भाग सकता है न और उपाय कर सकता है। मेरे जो मित्र खतरे को पहचानते हैं उनकी यही दशा

है। ऐसे भी हैं जो खतरा देखते ही नहीं और सैर-सपाटे में मस्त हैं। कुछ ने तलवारें सँभालकर रानी के साथ ही मर मिटने की ठानी है। किंतु मैं तलवार चलाना नहीं जानता, और—"

गड़रिये ने भयभीत स्वर से टोकते हुए कहा, "तो रानी का जीवन खतरे में है! क्या आज ही सिंहासन उलट जायगा? तब तो मेरे सब मनसूबे मिट्टी हो गये! लेकिन बेचारी रानी ने किया क्या है? पिछले साल ही तो पिता की मृत्यु के बाद उसने राज सँभाला—"

"तो आप अपने दूर पहाड़ी देश में भी हमारे देश की खबर रखते हैं!" भद्रपुरुष ने कहा, "विपत्ति का सूत्रपात उसी दिन से हुआ। लेकिन रानी बेचारी नहीं है। उसने जान-बूझकर आफत बुलायी है—निरी शौकीन नासमझ गुड़िया है वह! यों तो एक सत्ता श्रेष्ठ शासन प्रणाली होती है, पर एक कम उम्र और नासमझ लड़की के हाथों पड़कर, जिसे व्यवस्था का रत्ती-भर ज्ञान नहीं, वह कैसे चल सकती है? फिर जब वह लड़की शौकीन ऐसी हो कि कपड़े, गहने, जलसे, मौज, मेले और दरबार-उत्सव के सिवा कुछ सोच ही न सकती हो?"

गड़रिये के भीतर आशा की लौ फिर उठी। "तो क्या मैं यह समझूँ कि आर्थिक संकट के कारण ही रानी पर विपत्ति आ रही है?"

"हाँ, यही बात है। रानी अपने ऋण नहीं चुका सकती है और दुष्ट महाजन उसे और समय नहीं दे रहे हैं। उन्होंने जनता को रानी के विरुद्ध भड़का दिया है, और अब वे अपना ही प्रजातंत्र नाम का राज्य कायम करना चाहते हैं। इसी गड़बड़ में वे सामंतों की जागीरें छीनकर अपनी संपत्ति बढ़ा लेना भी चाहते हैं। बात सीधी है, और इतिहास में इसके कई उदाहरण भी हैं, पर बिना रक्तपात के इसका हल निकालने में कोई समर्थ नहीं हुआ है।"

गड़रिये ने अपने को गाली देते हुए कहा, "मैं भी कैसा बुद्धू हूँ—साल-भर पहले ही रानी को बचा सकने का अवसर मुझे मिला था! आपकी घबराहट से तो केवल रानी की रक्षा में एक तलवार कम हुई है, मेरी घबराहट से रानी एक खजाने से वंचित हो गयी जिसके सहारे वह अपने महाजनों को खिला-खिलाकर ही मार डालती! उस समय मैं बोरियों सोना बल्कि सोने से अधिक—उसके पैरों में डाल दे सकता था, उसकी प्रत्येक इच्छा पूरी कर सकता था!"

भद्रपुरुष ने कहा, "तो तुम क्या सचमुच गड़रिये नहीं हो, क्या कोई भूले-भटके जादूगर हो? रानी को जादूगरों-बाजीगरों से बहुत प्रेम है—हाँ केवल खजाने के बारे में कोई जादू वह देखना-सीखना नहीं चाहती!"

"नहीं, हूँ तो मैं गड़रिया ही, पर एक वर्ष हुआ मुझे अकस्मात् बहुत-सा धन मिला

था—या मिल गया होता अगर मुझमें जरा भी साहस होता—और वह रानी के काम आ सकता।"

"तो तुम असली परिस्थिति अब भी नहीं समझे। एक वर्ष पहले रानी के पास अतुल धन था—उसके प्रतापी पिता का समह किया हुआ धन—कुछ इधर उधर युद्ध और दमन के द्वारा जुटाया हुआ, कुछ व्यापार में सट्टे द्वारा, कुछ एक अद्भुत यंत्र द्वारा जिसे 'आय कर' कहते हैं और जो सचमुच बड़ी जल्दी आय कर देता है—सारी प्रजा की आय का एक निश्चित अंश राजा के खजाने में पहुँचा देता है। वह सब सम्पत्ति रानी ने उत्तराधिकार में पायी। उसने सोचा, इसका कभी अंत नहीं हो सकता। उस समय वह किसी की बात सुनती ही नहीं थी, एक गड़रिये की सहायता की उसे क्या कद्र होती? बल्कि वह शायद तुम्हारे कपड़े और लकड़ी के खड़ाऊँ देखकर तुम्हारी खिल्ली उड़ाती। वह है ही बड़ी बदतमीज लड़की! इसीलिए मैं सोचता हूँ, अब आज अगर वह तुम्हें अपना रक्षक मानकर तुम्हारे इन्हीं खड़ाऊँ पर झुके तो मुझे बड़ा संतोष हो।"

'तब तो एक क्षण भी देर नहीं करनी चाहिए।" गड़रिये का चेहरा अपने संभाव्य *अपमानों के दर्शन से लाल-पीला हो रहा था। "बूढ़े ने ठीक कहा था—किस्मत को* कौन पहले से जान सकता है? मैं आज ही शाम तक सिंहासन पर बैठूँगा। चलो, दोस्त, मुझे रानी तक पहुँचा तो दो।"

भद्रपुरुष गड़रिये के बदले हुए सुर और बातों से हक्का बक्का रह गया। गड़रिये का कद मानों कई इंच लंबा हो गया था, और उसने अपना कम्बल ऐसे कंधे पर डाल लिया था मानों राजसी पोशाक हो! भद्रपुरुष ने कहा, "तुम पागल तो नहीं हो? तुम शहर जाना चाहो तो जाओ; मेरे लिए तो वह मौत होगी। और तुम्हें भी तो मजिस्ट्रेट लोग—अगर अभी तक वे हैं तो!—आवारा फिरने के अभियोग में कैद कर देंगे!"

इस पर गड़रिये ने अपनी पोटली खोलकर हीरे भद्रपुरुष को दिखाये, जिसने तुरत जान लिया कि हीरे अनगढ़ हैं, पर सच्चे हैं। गड़रिया बोला, "चलोजी, तुम्हें मैं गलती नहीं करने दूँगा। बल्कि मैं राजा हो जाऊँगा तो तुम्हें पदवी दूँगा—तुम्हें मुझे खोज लाने का गौरव मिलेगा! चलो, अब शहर को चलें।"

भद्रपुरुष ने और आपत्ति नहीं की, मुग्ध सा चल पड़ा। पैदल चलकर वे दोपहर तक शहर के फाटक पर पहुँचे। अभी शहर में शांति थी, यद्यपि सनसनी के लक्षण स्पष्ट थे, और लोग जहाँ तहाँ चौक-चौरस्ते पर टोलियाँ बाँध बाँधकर खड़े बहस कर रहे थे। शीघ्र ही दोनों महल के फाटक पर पहुँच गये, जहाँ कड़ा पहरा था। संतरियों के नायक ने गड़रिये की तरफ संदेह और गुस्से से देखा, और जब भद्रपुरुष के आग्रह पर स्वयं रक्षक सेना के सरदार ने स्वयं आकर उसे पहचाना तब कहीं दोनों को प्रवेश की अनुमति मिली। इससे भी अधिक कठिनाई दरबार तक पहुँचने में हुई, यद्यपि भद्र

पुरुष को सब पहचानते थे और स्पष्ट दीखता था कि उसका पद भी ऊँचा है। फिर उन्हें कंचुकियों ने बहुत देर तक रोक रखा, और अंत में स्वयं रानी ने ही बहुत देर की—यह अंतिम दुर्घटना के लिए अपने केश नये फैशन के गुँथवा रही थी। गड़रिये के लिए इस विशेष प्रसाधन की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि वह तो उसके कामधनु से ओंठ, चमकती काली आँखें, नागरी मुद्रा और सुघर काया देखकर ही वैसे ही मिट गया था जैसे मट्ठी में झोंका जाने पर कागज का टुकड़ा!

किंतु, यह याद करके कि उसके न आने से रानी अब तक 'भूतपूर्व रानी' हो गयी होती, कुछ इसलिए कि वह एक सौदा करने आया है, किंतु सबसे अधिक उस अपमान के कारण जो साल भर पहले आने पर निश्चय ही उसका हुआ होता, गड़रिये ने रानी को बहुत ही संक्षिप्त नमस्कार किया और ऐसा अकड़कर खड़ा रहा कि रानी ने (जैसा कि उसने पीछे स्वीकार किया) समझा, प्रजातंत्रवादियों का नेता उसे पदच्युत करने आया है! किंतु भद्रपुरुष द्वारा परिचय कराये जाने से पहले ही रानी उसके स्वस्थ बलिष्ठ शरीर को ध्यान से देख रही थी। जब भद्रपुरुष ने बड़े तकल्लुफ़ और उसके वेश के लिए लंबी-चौड़ी क्षमा याचना के साथ उसके आने का उद्देश्य बताया, तब रानी ने शोख़ी भरी नज़रों से गड़रिये की ओर देखकर और तालियाँ बजाकर कहा, "अच्छा, तब तो हम बच गये! बहुत बहुत धन्यवाद! लाइये, हीरे फ़ौरन दिखाइये!"

गड़रिये ने पोटली खोलकर हीरों की जगमगाती धारा-सी उसके चरणों में बहा दी, तो रानी बिल्कुल विभोर होकर पुकार उठी, "हाय, कितने सुंदर हैं!"

और क्षण भर बाद ही भद्रपुरुष को रानी को गड़रिये के चरणों में झुकते देखने का संतोष प्राप्त हुआ—यद्यपि रानी केवल उस हीरों के ढाल में अपने हाथ पसार रही थी। "और ये सब मेरे लिये हैं—मेरे लिये!"

इसी समय रानी के कोषाध्यक्ष ने—जिसके चेहरे पर चिंता की गहरी रेखाएँ थीं, धीरे से बाधा देते हुए कुछ कहा, जिसमें इतना ही स्पष्ट सुन पड़ा कि 'राज्य के कुछ तात्कालिक तकाज़े...अदायगी......दीवाला निकलने से बचने...एक-एक मिनट का महत्व...' रानी ने बड़े धीरज भरे सुर में कहा, "ख़जानची साहब, आपके पास शब्दों का बड़ा खज़ाना है।"

अब गड़रिया भी बोला। आयासपूर्वक रूखे स्वर में उसने कहा, "मैं श्रीमान से बिल्कुल सहमत हूँ। रानी साहिबा का कुल ऋण कितना है यह तो मैं नहीं जानता, लेकिन मेरी राय है कि यह आप ले जायें और ऋण चुका दें।" उसने झुककर अंजली भरकर हीरे कोषाध्यक्ष की ओर बढ़ाये, जिसने उन्हें लेने के लिये अपनी मखमली टोपी उतारकर थैली की तरह पसार दी। हीरों को जाते देखकर रानी ने निराश लंबी साँस ली क्योंकि गड़रिया फिर झुका और एक और अंजली भर हीरे टोपी में चले गये।

झुकने में उसका चेहरा रानी के बहते केशों से छू गया जिससे वह लड़खड़ा गया, पर एक अंगुली उसने और मरी। थोड़े से हीरे बचे देखकर रानी ने उन्हें झपट लेना चाहा, पर गड़रिये ने उसकी छोटी कलाइयाँ कसकर पकड़ लीं, और मुट्ठी की जकड़ में से एक एक हीरा निकालकर कोषाध्यक्ष को दे दिया—इनमें हीरों की सबसे बड़ी जोड़ी भी थी।

"दुष्ट—जंगली—जानवर!" रानी की आँखों में क्रोध के आँसू आ गये। "रानी का ऐसा अपमान! मैं तुम्हें सूली चढ़वा दूँगी!"

किंतु चारों ओर के सभी चेहरों पर उसके काम का अनुमोदन स्पष्ट झलक रहा था। गड़रिये ने इसे उत्तम अवसर जानकर कहा, 'महारानी, इस समय आप का सिंहासन गिरवी है। जब तक ऋण नहीं चुकाये जाते, तब तक सिंहासन बिकाऊ है और जो चाहे आपको खरीद सकता है। मैं वैसा नहीं करूँगा। मैं इन हीरों के लिए रसीद लूँगा, और जब सब कर्जा उतारा जा चुकेगा, तब बाकी जो कुछ बचेगा—जिनमें दो एक बड़े हीरे भी अवश्य बचने चाहिए—उसे लेकर कहीं जौहरी की दुकान कर लूँगा। और अब आपको नमस्कार।'

गड़रिये ने झुककर रानी को फर्श पर से उठा लिया और पुनः सिंहासन पर स्थापित कर दिया। फिर वह चलने को हुआ।

"अभी मत जाओ!" रानी ने व्यथित स्वर में कहा, "हम तुम्हारे इरादे जानना चाहते हैं। तुम्हें कुछ पुरस्कार भी स्वीकार करना होगा—धन नहीं, कोई पद!" गड़रिये को जाता ही देखकर "हम तुम्हें सिरोपा देंगे—सामंत बना देंगे—तुम 'रानी के विशेष जौहरी' कहला सकोगे—" पर गड़रिया चला ही जा रहा था। जब वह ओझल ही होने लगा, तब रानी ने कहा, "हमारी एक प्रार्थना है—"

गड़रिये ने लौटकर कहा, "कहिये, महारानी, क्या आज्ञा है—"

"वह दो हीरे जो मैं छीन रही थी—जो मैंने पसंद किये थे—उन्हें मेरे लिये जड़ा दे सकते हो?"

"मेरी दुकान खड़ी हो जाय, तो अवश्य जड़ा दे सकता हूँ। पर उनके लिए कोई बड़ा आधार चाहिए—एक-एक नब्बे रत्ती का तो होगा ही।"

रानीने बहुत धीमे स्वर से कहा, "दो सोने के मुकुट कैसे रहेंगे?"

[अगली संख्या में संपूर्ण]

———

द्वैमासिक साहित्य-संकलन

८

पावस

संपादक

सियारामशरण गुप्त

नगेंद्र

श्रीपतराय

स० ही० वात्स्यायन

अनुक्रम :

...तीक', हेस्टिंग्स रोड इलाहाबाद के लिए सरस्वती प्रेस बनारस, द्वारा मुद्रित

पावस महीप के चहूँधा घेरे परिगे !

[वर्षा-वर्णना]

१. विस्फूर्जित नभस्तल

ततः प्रवर्तत प्राबृट् सर्वसत्त्वसमुद्भवा ।
विद्योतमान परिधिर्विस्फूर्जितनभस्तला ॥

तडित्वन्तो महामेघाश्चण्डश्वसनवेपिताः ।
प्रीणनं जीवनं ह्यस्य मुमुचुः करुणा इव ॥

तपःकृशा देवमीढ़ा आसीद्वर्षीयसी मही ।
यथैव काम्यतपसस्तनुः सम्प्राप्य तत्फलम् ॥

हरिता हरिभिः शष्पैरिन्द्रगोपैश्च लोहिता ।
उच्छिलीन्ध्रकृतच्छाया नृणां श्रीरिव भूरभूत् ॥

सरिद्भिः सङ्गतः सिन्धुश्चुक्षुभे श्वसनोर्मिमान् ।
अपक्वयोगिनश्चित्तं कामाक्तं गुणयुग्यथा ॥

मार्गा बभूवुः सन्दिग्धास्तृणैश्छन्ना ह्यसंस्कृताः ।
नाभ्यस्यमानाः श्रुतयो द्विजैः कालहता इव ॥

मेघागमोत्सवा हृष्टाः प्रत्यनन्दन् शिखण्डिनः ।
गृहेषु तप्ता निर्विण्णा यथाऽच्युत जनागमे ॥

—श्रीमद्भागवत, दशमस्कंध पूर्वार्ध

वह वर्षा ऋतु आ गयी, जिसमें सब प्राणियों का जीवन हरा-भरा हो जाता है। घनघटा से आकाश छा गया। चंड वायु-ताड़ित और दामिनी-मंडित मेघ परोपकारी

की भाँति जीवन (जल) बरसाने लगे। ग्रीष्म के ताप से सूखी पृथिवी वर्षाजल पाकर हरी हो गयी, जैसे दृष्टलाभ होने पर तपःकृश तपस्वी का शरीर फिर हृष्ट-पुष्ट हो जाता है। कहीं हरी घास के कारण हरी, कहीं बीरबहूटियों से लाल, कहीं छत्राक की छाया से छायी हुई पृथिवी राजलक्ष्मी-सी शोभने लगी। वायुवेग से ऊर्मिमान् सागर नदियों की सगति से वैसा ही क्षुब्ध हो गया, जैसे कच्चे योगी का चित्त काम वासना में आसक्त होने से हो जाता है।

बढ़ी हुई और न सँवारी गयी घास के कारण मार्ग उसी तरह अस्पष्ट और संदिग्ध हो गये, जैसे बहुत दिनों से अभ्यास छूट जाने पर द्विजों का श्रुति ज्ञान सदिग्ध हो जाता है।

मेघ गम से मयूर पक्ष फुलाकर आनद मनाने लगे, जैसे पत्नी से संतप्त और विरक्त लोग किसी हरिभक्त के आने से मुदित होते हैं।

२ वनेषु संगीतमिव प्रवृत्तम्

मेघोदर विनिर्मुक्ता कर्पूरदलशीतला. ।
शक्यमञ्जलिभि पातु वाता केतकिगन्धिन. ॥

क्वचित्प्रकाश क्वचिदप्रकाश नभ. प्रकीर्णाम्बुधर विभाति ।
क्वचित्क्वचित्पर्वतसनिरुद्ध रूप यथा शान्तमहार्णवस्य ॥

विद्युत्पताका' सबलाकमाला. शैलेन्द्रकूटाकृतिसन्निकाशा' ।
गर्जन्ति मेघा. समुदीर्णनादा मत्ता गजेन्द्रा इव सयुगस्था. ।

समुद्वहन्त सलिलातिभार बलाकिनो वारिधरा नदन्त ।
महत्सु शृङ्गेषु महीधराणा विश्रम्य विश्रम्य पुनः प्रयान्ति ॥

बालेन्द्रगोपान्तरचित्रितेन विभाति भूमिर्नवशाद्वलेन ।
गात्रानुवृत्तेन शुकप्रभेण नारीव लाक्षोक्षितकम्बलेन ॥

क्वचित्प्रगीता इव षट्पदौघै. क्वचित्प्रनृत्ता इव नीलकण्ठै ।
क्वचित्प्रमत्ता इव वारणेन्द्रै. विभान्त्यनेकाश्रयिणो वनान्ता ॥

षट्पादतन्त्रीमधुराभिधान प्लवगमोदीरितकण्ठतलाम् ।
आविष्कृते मेघमृदङ्गनादैर्वनेषु सगीतमिव प्रवृत्तम् ॥

—वाल्मीकि, रामायण किष्किन्धा काण्ड

'मेघों से निकला कर्पूर-शीतल और केतकी गंध से सुवासित वायु अंजलि भरकर पिया जा सकता है। कहीं प्रकाश, कहीं अप्रकाश; मेघों से छाया आकाश जहाँ-तहाँ पर्वतों से रुद्ध होकर प्रशांत महार्णव-सा शोभायमान है। बिजली-रूपी पताका और बलाका-रूपी माला धारे, शैल-शिखर से डीलवाले मेघ, रणमत्त गजेंद्रों के समान घोर नाद कर रहे हैं। बक-पंक्तियों से शोभित और गरजते मेघ, जल-भार के कारण पर्वत-शिखरों पर विश्राम कर-करके फिर प्रयाण करते हैं। छोटी बीर-बहूटियों से चित्रित नयी हरी घास पृथ्वी पर ऐसी खिलती है, जैसे किसी नारी पर लाल बूटियोंवाली हरी ओढ़नी। कहीं भौंरों का गुंजार, कहीं नर्तित मयूर, कहीं मतवाले हाथी—वन-प्रदेश नाना कौतुकों से शोभित हो रहा है। भौंरों का गुंजन मानो वीणा की झंकार है, दादुरों की ध्वनि मानो कंठताल, मेघ-गर्जन मानो मृदंग की गमक—इस प्रकार वनों में संगीतोत्सव हो रहा है।'

३. धारासिक्त वसुन्धरा

जृम्भाजर्जरडिम्बडम्बरघन श्रीमत्कदम्बद्रुमाः
शैलाभोगभुवो भवन्ति ककुभः कादम्बिनीश्यामलाः।
उद्यत्कन्दलकान्तकेतकभृतः कच्छाः सरित्स्रोतसा—
माविर्गन्धशिलीन्ध्रलोध्रकुसुमस्मेरा वनानां ततिः॥

उत्फुल्लार्जुनसर्जवासितवहत्पौरस्त्यझञ्झामरु—
त्प्रेङ्खोलस्खलितेन्द्रनीलशकलस्निग्धाम्बुदश्रेणयः।
धारासिक्तवसुंधरासुरभयः प्राप्तास्त एवाधुना
घर्माम्भोविगमागमव्यतिकर श्रीवाहिनो वासराः॥

—भवभूति, मालतीमाधव, नवम अंक

गोले से फूल लसे चहुँ ओर अनुपम शोभा कदंबन धारी।
शैल के पास की भूमि सबै उनये घनघोर लगैं अब कारी।
केतकी औ मुगरा के खिले सरि के तट पै जनु चादर डारी।
लोध कनैर के फूलन सो मुसुकाति लसै बनभूमिहु सारी॥

छाल औ अर्जुन फूल की गंध लिये सँग ओर बहै पुरवाई।
झूमत हील्त नीलम के छवि की चहुँ ओर घन नभ छाई।
भीजत देह पसीनन सां कहुँ ठढ लगे सोइ जात सुनाई।
बूँद परे धरती महँकै अब तात लखौ बरषा ऋतु आई॥
(सीताराम-कृत अनुवाद से)

४. विद्युत्प्रदीप शिखा

केशवगात्रश्याम कुटिलबलाकावलीरचितशङ्ख।
विद्युद्गुणकौशेयश्चक्रधर इवोन्नतो मेघ॥
एता निषिक्तरजतद्रवसंनिकाशा
धारा जवेन पतिता जलदोदरेभ्य।
विद्युत्प्रदीपशिखया क्षणनष्टदृष्टा–
श्छिन्ना इवाम्बरपटस्य दशा पतन्ति॥
—शूद्रक, मृच्छकटिक

स्याम बरन धरि शंख-सी कुटिल कड़ाकुल पाँति।
बिज्जरी-पट ओढे लसैं घन केशव की भाँति॥
टपकत गले रूप अनुहारा।
घन सन गिरत नीर की धारा॥
चमकत विज्जु कबहुँ दरसाहीं।
घन अँधेर महँ पुनि छिपि जाहीं॥
गिरैं धरनि के ऊपर कैसे।
गगनवस्त्र की झालर जैसे॥
(सीताराम कृत अनुवाद से)

५. गरजो, बादल गरजो!

बादल, गरजो!—
घेर घेर घोर गगन, धाराधर ओ!
ललित-ललित, काले घुँघराले,

बाल कल्पना के-से पाले,
विद्युत-छवि उर में, कवि, नव जीवन वाले !
वज्र छिपा, नूतन कविता
फिर भर दो—
बादल, गरजो !

विफल विकल, उन्मन थे उन्मन,
विश्व के निदाघ के सकल जन,
आये अज्ञात दिशा से अनंत के घन !
तप्त धरा, जल से फिर
शीतल कर दो—
बादल, गरजो !
—निराला, 'अनामिका'

६. आनँद मंगल गावन की !

बरसै बदरिया सावन की, सावन की, मनभावन की।
सावन में उमड़्यो मेरे मनवाँ, भनक सुनी हरि-आवन की।
उमड़-घुमड़ चहुँ दिसि से आयो, दामिनि दमके झर लावन की।
नन्हीं-नन्हीं बूँदन मेहा बरसे, सीतल पवन सुहावन की।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, आनँद-मंगल गावन की।
—मीराबाई

७. फाटि जाओत छातिया

सखि हे हमर दुखक नहि ओर रे।
ई भरा बादर माह भादर सून मंदिर मोर रे॥
झंपि वन गरजंति संतति भुवन भरि बरसंतिया।
कंत पाहुन काम दारुण सघन खर शर हंतिया॥

कुलिश कत शत पात मुदित मयूर नाचत मातिया।
मत्त दादुर डाके डाहुकि फाटि जाओत छातिया॥
तिमिर दिग भरि घोर जामिनी अथिर बिजुरिक पाँतिया।
विद्यापति कह कैसे गमाओब हरि बिनु दिन रातिया॥

—विद्यापति ठाकुर

८ दुख दूर भयो

दुख दूर भयो वह प्रीतम को, करिवे पिक चातक गान लगे।
चपला चमकै लगि चारों दिशा, निशि में जुगनू दरशान लगे।
गिरिधारन पावस आवत ही, बकवृंद अकाश उड़ान लगे।
धुरवा सब ओर दिखान लगे मोरवान के शोर सुनान लगे॥

९ घेरे परिगे

घूमिकै चहूँधा धाय आवे जलधर धार,
तड़ित पताके बाँके नभ में पसरिगे।
द्विजदेव कालिंदी समीपन के नीपन के
पातपात योगिनी जमातन ते भरिगे।
चातक चकोर मोर दादुर सुभट जोर,
निज निज दाउँ ठाउँ ठाउँन सँभरिगे।
बिन यदुराय अब कीजे कहा माय हाय
पावस महीप के चहूँधा घेरे परिगे॥

—द्विजदेव

१०. चमक उठिछे हरिणी

रिम-झिम घन-घन रे बरसे
गगने घन घटा सिहरे तरुलता
मयूर-मयूरी नाचिछे हरषे
रिमझिम घन-घन रे बरसे।

दिशिदिशि सचकित दामिनि चमकित
चमकि उठिछे हरिणी तरासे
रिम-झिम घन-घन रे बरसे !
—रवींद्रनाथ ठाकुर, वाल्मीकि-प्रतिभा

११. मन चातग भयो

चहुँ दिस दामण, सघन घण, पीव तजी तिण वार ।
मारु मन चातग भयो पिव-पिव करत पुकार ॥

सावण आया, सायना, हरिया - हरिया वन्न
हरियो हुओ न एकलो प्यारी धण रौ मन्न ॥
[राजस्थानी लोकगीत]

१२. गुंडा पवनवाँ देत लुगड़ा उघारी

रोअत-धोअत नभ में आइलि इक बदरिया
ऊ तअ घूमि आइलि सगरो जहान ।
केहूँ नाहीं बात पूछत, सबे गरियावतं,
विहँसि-विहँसि ओकर खिल्ली उड़ावत ।
तड़पि-तड़पि कै बदरा सब देत गारी,
गुंडा पवनवा देत लुगड़ा उघारी ।
बकुला के लड़िका ओके खोदि के बिरावत
देखिके ओकर दुख बन-मुरुगिया बाटीं गावत ।
उचकि-उचकि पेड़ ओसे अँखियाँ लड़ावै ,
खुसी होइके बाँस करिहइयाँ हिलावै ।
कहै बिसराम, कइसे दुखिया रहि है राम,
जग में अइसन मचत हाय उतपात

दइउव केरी चीजु के जब ई हाल मोरे भइया,
तब हम का कहीं अदमिन के बात !
—बिसराम कवि का बिरहा

१२ आला हा पाऊस !

येत हा पाऊस येत पाऊस
मातीचा सुटत सुस सुवास
झंझावात वाहे उठे वादळ
आभाळास मिळे पृथ्वीची धूळ
मेघानी भरून आकाश वाके
भूमीस आपल्या छायेत झाके
अवचित लवे वीज लाजरी
होतसे मीलन अश्रूच्या सरी
गरजे वरसे आसुसलेला
पहिला पाऊस उल्हासलेला
आला हा पाऊस आला पाऊस
मातीचा भरला उन्मत्त वास !

—आ० रा० देशपांडे 'अनिल', पेठेव्हा

पावस आ रहा है, आ रहा है मिट्टी का छूटा है सुस सुवास।
झंझावात बहा, आँधी उठी, आसमान को जाकर पृथ्वी की धूल मिल गयी।
मेघों से भरकर आकाश झुक आया, वह भूमि को अपनी छाया में ढाँक रहा है
इतने में अचानक लजीली बिजली लचकी मिलन हुआ और सुख के आँसू झरे,
गरजा, बरसा, अकुलाया हुआ, पहिला पावस, उल्लास से भरा।
आ गया पावस, आ गया, मिट्टी का उन्मत्त बास भर गया।

१४. रूह पर खुशी तारी

रुत है बरसात की बहुत प्यारी मौजे ज़न झेलें नद्दियाँ सारी।
खेत धानों के लहलहे शादाब कर रहे हैं नज़र की दिलदारी।
क्या हरी दूब जंगलों में है सब्ज मखमल से है सिवा प्यारी।
हर तरफ खिल रहें हैं गुल-बूटे जिनसे शर्मिंदा बाग़ की क्यारी।
नन्हीं-नन्हीं बरसती हैं बूँदें रूह पर होती है खुशी तारी।
सोंधी-सोंधी जमीन की मिट्टी भीनी-भीनी चमन की बू प्यारी।
कोकिला बगुले कोयलें ताऊस अपनी तानें सुनाते हैं प्यारी।
काज़ीं, मुरग़ाबियाँ, बतें, सुरख़ाब झीलों के साथ करती हैं यारी।
शफके-सुर्ख रंग लायी है लालागूँ है सेपहर्जनिगारी।
बदलियाँ छा रही हैं गर्दूं पर ज़र्द, ऊदी, सुनहरी, जिंगारी।

मछलियों की चमक में है छलबल
जैसे रक़्क़ास बताने फ़रख़ारी।

—मीर तकी 'मीर'

१५. नौ लड़ी पींग जी पवाओ !

पाँढे नू पुच्छन मैं चली थाली पायके तमोल—बोलै।
"खोलीं पाँढया वीरा ! पत्तरी सावन किस रुत आएया ?"—बोलै।
"जिस रुत बोलदे बँबीयड़े, कोयल शब्द सुनाये"—बोलै।
"छैल तरखाण तू बुलायके चन्नण रुख जी कटाओ—बोलै।
दरविच्च थम्मजी गड़ा के नौलड़ी पींग जी पवाओ—बोलै।
जित्थे चढ़ झूटन जी तेरियाँ जाइयाँ, सद्द सहेलियाँ नाल—बोलै।
जित्थे चढ़ झूटन तेरियाँ कुल बहुआँ, गज-गज झुँड जी कढ़ाओ !"—बोलै।

गज-गज झुँड जी घडेंदियों !
छुट गया नौलड़ी हार !

हार टुट्टियाँ जी वीर सुन जाओ !
चुगदे मैन जी आओ !

—पंजाबी सावन-गीत

पाधे से पूछने मैं चली थाली में ले के ताम्बूल, "पाधा भैया, पत्रा खोलो, बताओ सावन कब आयेगा ?"

"जिस ऋतु में पपीहे बोलें, कोमल शब्द सुनायें, वही सावन है।"

"पिता, तरखान को बुलाकर चंदन वृक्ष कटाओ। आँगन में थम गड़ाकर नौरंगी का झूला लगवाओ। उसपर चढ़कर झूलेंगी तुम्हारी बेटियाँ अपनी साठ सहेलियों के साथ, और तुम्हारी कुल-बहुएँ गज़-गज़ भरके घूँघट काढ़कर !"

"अरी गज़-गज़ घूँघट-वालियो ! नौलड़ी हार छूट गया। बहनो भाइयो, टूटे हारा वालियों के मोती चुन-चुनकर दे जाओ !"

१६ गाती है कोई हिंडोला

वो सारे बरस की जान बरसात वो कौन खुदा की शान बरसात
आयी है बहुत दुआओं के बाद और सैकड़ों इल्तजाओं के बाद
कुछ लड़कियाँ बालियाँ हैं कमसिन जिनके हैं ये खेल कूद के दिन
हैं फूल रही खुशी से सारी और झूल रही हैं बारी-बारी
जब गीत हैं सारी मिल के गाती जंगल को हैं सर पै वे उठाती
इक सबको खड़ी झुला रही है इक गिरने से खौफ़ खा रही है
है इनमें कोई मलार गाती औ दूसरी पेंग है बढ़ाती
गाती है कभी कोई हिंडोला कहती है कोई विदेसी ढोला

—अल्ताफ़ हुसैन 'हाली'

१७ हिंडोला सरग-नसैनी री !

पाँके फूटे आज प्यार के पानी बरसा री
हरियाली छा गयी हमारे सावन सरसा री
फिसली-सी पगडंडी, खिसली आँख लजीली री,
इंद्रधनुष रँग रँगी, आज मैं सहज रँगीली री,

रुनझुन बिछिया आज, हिलाडुल मेरी वेनी री,
ऊँचे - ऊँचे पैंग, हिंडोला सरग-नसैनी री।
और सखी सुन मोर ! विजन-वन दीखे घर-सा री।
पी के फूटे आज प्यार के पानी वरसा री॥

—भवानीप्रसाद मिश्र, 'मंगल-वर्षा'

१८. सुखद पावस

सरस सुंदर सावन मास था वरसता छिति छू नव-वारि था।
दमकती दुरनी घन-अंक में विपुल केलि-कला-खनि दामिनी।

वसुमती पर थी अति-शोभिता नवल कोमल श्याम तृणावली।
नयन-रंजन थी करती महा अनुपमा तरुराजि हरीतिमा॥

विपुल मोर लिये बहु मोरिनी विहरते सुख से सविनोद थे।
जटित-नीलम पुच्छ-प्रभाव से मणिमयी करके वन-मेदिनी॥

बन प्रमत्त - समान पपीहरा पुलक के उठता कह, पी कहाँ ?
लख वसंत-विमोहिनि मंजुता उमग कूक रहा पिक-पुंज था॥

सुखद पावस के प्रति सर्व की प्रगट-सी करती अतिप्रीति थी।
वसुमती - अनुराग - स्वरूपिणी विलसती बहु बीरबहूटियाँ॥

—'हरिऔध', प्रिय-प्रवास, द्वादश सर्ग

१९. पलटैं खाता झाग उड़ाता पानी

अभी अँधेरा अभी उजाला बादल तो-बर-तो
बूँदाबाँदी कभी फुवार और कभी धड़ाधड़ रौ
जंगल-जंगल कोसों जल-थल गोया सागर थाल
टीले, ठीये, घूर और मड़े टापू की तमसाल
झीलें, ताल, तलाब, तलैयें जैसे छलकता जाम
सड़कें, लीकें, बाट और बटैयें नदियाँ बनीं तमाम

लाँचे पुल क्या छोटी पुलियें डाटों तक भरपूर
पलटें खाता भाग उडाता पानी करता शोर
झाडी, बूटी, रूख और पौधे, ऊँचे-नीचे पेड
निढ-निढ जाते झाँसे खाकर मौजे हवा की ऐढ
एक तो मेंह की मूसलाधारें फिर पुरवा का जोर
खेत गिरे मक्का के जैसे दुम गिराये मोर
—'जलाल' मुरादाबादी

२० इक चादरे आब जंगल हुआ !

परिंदो ने हरसू मचायी है धूम कि आये हैं बादल सियह झूम-झूम
जो पर अपने फैला के नाचे है मोर तो मेंढक ने पानी में डाला है शोर।
पपीहों की पी-पी व कोयल की कूक कलेजे से आशिक के निकले है हूक
जहाँ सारा दम-भर में जल-थल हुआ कि इक चादरे आब जंगल हुआ।
—गुलाममुहम्मद 'नूर'

२१ सब्जे नहा रहे हैं

बादल हवा के ऊपर हो मस्त छा रहे हैं।
झडियों की मस्तियों से धूमें मचा रहे हैं।
पडते हैं पानी हरजा जल-थल बना रहे हैं।
गुलज़ार भीगते हैं सब्जे नहा रहे हैं।
क्या-क्या मची है यारो बरसात की बहारें ॥
—'नज़ीर' अकबराबादी

२२ ऐसे पागल बादल

झमझम-झमझम मेघ बरसते हैं सावन के
छमछम-छम गिरतीं बूँदें तरुओं से छन के
चमचम बिजली लिपट रही रे उर से घन के
थमथम दिन के तम में सपने जगते मन के।

ऐसे पागल बादल बरसे नहीं धरा पर
जल फुहार बौछारें धारें गिरतीं झरझर !

....

नाच रहे पागल हो ताली देदे चलदल
झूम-झूम सिर नीम हिलाते सुख से विह्वल ।

—सुमित्रानंदन पंत

२३. भूमि आशीर्वच बोले

गडद निळे गडद निळे जलद भरुनि आले
शीतलतनु चपलचरण अनिलगण निघाले ।
दिन लंघुनि जाय गिरी पद उमटे क्षितिजावरि
पद्मरागवृष्टि होय माड भव्य न्हाले ।
रजत नील, ताम्रनील स्थिर पल जल, पल सलील
हिरव्या तटि नावांचा कृष्ण मेल खेले ।
धूसर हो क्षितिज त्वरित ढोर पथीं अचल चकित
तृण विसरुनि जवलिल ते खिलवी गगनिं डोले ।
टप-टप-टप पडति थेंब मनिंवनिंचे विझति डोंब
वत्सल ये वास, भूमि आशीर्वच बोले ।

वा० भ० बोरकर, 'दूध सागर'

गाढ़े नीले-नीले जलद भर आये। शीतल चपल मरुत्‌गण निकल पड़े। दिन गिरि-लाँघ कर गया, उसके पैर क्षितिज पर अंकित हुए; पद्मराग-वृष्टि हुई, नारियल वृक्ष नहाये। रजत नील, ताम्रनील, जल पल में स्थिर, पल में लीलायित होता है; हरे तट पर नौकाओं का कृष्ण मेला जुटा है। क्षितिज धूसर हुआ; ढोर सहम गये, घास चरना छोड़ आकाश तकने लगे। टप-टप बूँदें गिरीं, मन और वन की झार बुझी। वत्सल वास छूटा, भूमि मानो आशीर्वचन कहने लगी।

२४ वृष्टिर चुम्बन विथारि जाओ

सूर्येर रक्तिम नयने तुमि मेघ ! दाओ हे कज्जल पाडाओ घूम,
वृष्टिर चुम्बन विथारि चले जाओ—अगे हर्षेर पड़क् धूम !

—सत्येंद्रनाथदत्त, यक्षेर निवेदन

सूर्य के लाल नयन में हे मेघ ! तुम काजल डालकर उसे सुला दो ! वृष्टि के चुम्बन खेरकर तुम चले जाओ – हमारे अंग हर्ष से फड़क उठें !

२५ दिशतु तव हितानि !

नितान्तनीलोत्पलपत्रकान्तिभि क्वचित्प्रभिन्नाञ्जनराशिसन्निभै ।
क्वचित्सगर्भप्रमदास्तनप्रभै समाचित व्योम घनै समन्तत ॥

मुदित इव कदम्बैर्जातपुष्पै समन्तात्पवनचलितशाखै शाखिभिर्नृत्यतीव ।
हसितमिव विधत्ते सूचिभि केतकीना नवसलिलनिषेकच्छिन्नतापो वनान्त ॥

शिरसि बकुलमाला मालतीभि समेता विकसितनवपुष्पैर्यूथिका कुड्मलैश्च ।
विकचनवकदम्बै कर्णपूर वधूना रचयति जलदौघ कान्तवत्काल एष ॥

बहुगुणरमणीय कामिनी चित्तहारी तरुविटपलताना बान्धवो निर्विकार ।
जलदसमय एष प्राणिना प्राणभूतो दिशतु तवहितानि प्रायशो वाञ्छितानि ॥

कालिदास, ऋतुसंहार, द्वितीय सर्ग

कहीं नील कमलदल की कान्तिवाले कहीं काजल के ढेर से, कहीं सगर्भा प्रमदा के स्तनों की शोभावाले बादलों से आकाश छा गया ।

नयी वर्षा से तापमुक्त होकर वन प्रदेश कहीं नये खिले कदम्ब के फूलों से मुदित, कहीं पवन से डोलती शाखों के कारण नर्तित कहीं केतकी की कलियों के द्वारा हँसता हुआ जान पड़ता है ।

प्रियतम प्रेमी की भाँति वधूजनों के माथे पर बकुल और मालती की माला, तथा यूथिका के फूल और कलियाँ और कानों में नये खिले कदम्ब के फूल रच रहा है ।

अपने अनेक गुणों के कारण रमणीय कामिनियों का चित्त हरनेवाला तरु-कोपल-लताओं का निर्विकार बन्धु प्राणियों का प्राण यह वर्षाकाल तुम्हारी अभिलाषाओं को पूर्ण करे !

हीरानंद शास्त्री

वैदिक देव-प्रतिमाएँ

भारतीय प्रतिमालिखन की चर्चा करते समय पहले यह निर्णय करना आवश्यक नहीं है कि क्या भारतीय है और क्या अभारतीय। भारत में प्राचीन और प्रागैतिहासिक काल की मूर्तियाँ या प्रतिमाएँ पायी गयी हैं, यह सर्वविदित है। सिंधु की दून में नाना प्रकार की मूर्तियाँ पायी गयी हैं, जो स्थानीय रही हों या बहिरागत, प्रागैतिहासिक तो अवश्य हैं। उसी प्रकार पुराकालीन प्रस्तर-चित्र भी भारत में मिले हैं, जिनके विषय में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वे आर्य-कला के हैं, या अनार्य।

जहाँ तक प्रतिमाओं के अस्तित्व का प्रश्न है, हम ऋग्वेद के साक्ष्य के आधार पर मत निर्धारित कर सकते हैं। ऋग्वेद संसार का प्राचीनतम ग्रंथ है; इसमें इंद्र की प्रतिमा का उल्लेख आया है। इस साक्ष्य के रहते परवर्ती ग्रंथों के प्रमाणों की आवश्यकता नहीं रहती। यों भी प्रतिमालिखन पर विचार करते समय इसकी विशेष विवेचना अनावश्यक ही है।

भारतीय आर्य-प्रतिमालिखन को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—ब्राह्मण, जैन और बौद्ध। प्रत्येक वर्ग में पुरुष और स्त्री-प्रतिमाओं पर अलग विचार हो सकता है।

ब्राह्मण-प्रतिमाओं में वैदिक-कालीन प्रतिमाओं का स्थान स्वभावतः पहले आता है। इनको भी देवों और देवताओं की श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। 'गतानुगतिको लोकः'—परंपरा का अनुसरण करते हुए हम भी पुरुष-मूर्तियों का विचार पहले करेंगे।

वैदिक देवकुल

वैदिक देवकुल को—अर्थात् वैदिक साहित्य में उल्लिखित देव-देवताओं को—भी उनके वासस्थान के अनुसार तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है—(अ) दिव्य, (इ) आंतरिक्ष और (उ) पार्थिव। इन देवताओं की उद्भावना कैसे हुई, और आरंभ में कौन किसका प्रतीक रहा, इस प्रश्न की विवेचना का अपना महत्व तो है, पर साधारण पाठक के लिए वह विषय अधिक गूढ़ और शास्त्रीय हो जायगा। अतः प्रत्येक की अलग-अलग विशद विवेचना न करके यह कहना अलम् होगा कि इन सबकी उद्भावना किसी-न-किसी युक्ति-संगत आधार से ही हुई जान पड़ती है।

साधारणतया यह भी कहा जा सकता है कि वैदिक-काल में सभी देवता सर्वशक्तिमान् माने गये हैं। स्वाभाविक भी है कि जो किसी देवता का अनुष्ठान करेगा, वह उसे सर्व-

शक्तिमान् मानेगा, नहीं तो उसका आह्वान ही क्या करता ? ऐसे सर्वसत्ता संपन्न देवता में विश्वास (हिनोथीइज्म) वैदिक काल में स्पष्ट परिलक्षित होता है और पीछे का एकेश्वरवाद (मॉनोथीइज्म), जिसकी सुन्दर अभिव्यक्ति ऋग्वेद १।१६४।४६ में हुई है

इन्द्र मित्र वरुणमग्निमाहु रथो दिव्य स सुपर्णो गरुत्मान।
एक सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यम मातरिश्वानमाहु ॥

इसी से उत्पन्न हुआ होगा। अनंतर इसी प्रकार की उद्भावनाओं से इष्ट देवतावाद प्रचारित हुआ होगा—जहाँ उपासक अपने उपास्य इष्टदेव को ही प्रमुख देवता मानता है और अन्य देवताओं को गौण। यास्क के—

'महाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते'

का यही आधार है।

किंतु इससे यह नहीं सिद्ध होता कि आदिम मानव की प्रथम उद्भावनाएँ सर्वशक्तिमान देवताओं की कल्पनाएँ थीं। आदि मानव के प्राकृतिक घटनाओं अथवा शक्तियों के प्रति विस्मय अथवा आतंक का भाव ही क्रमशः पूजा का रूप ले लेता है अनंतर ये प्रतीकों द्वारा अवगत अनेक पूज्य शक्तियाँ अपनी अपनी कल्पित सत्ता अथवा सामर्थ्य के अनुसार ऊँचा नीचा पद पा लेती हैं, और अनुक्रम में सबसे ऊँचे पद पर आसीन देवता इष्ट देवता का गौरव पा जाता है। देवरूप के विकास का यही नैसर्गिक क्रम जान पड़ता है। विभिन्न संप्रदायों में देवताओं की पदवृद्धि या अवनति का कारण भी यही है। किसी दिव्य तत्त्व की—पुरुष अथवा स्त्री रूप में—द्वैत विहीन परिकल्पना विकसित मानव-बुद्धि के साथ ही आती है, आदि मानव की समझ के वह बाहर की बात है।

वैदिक देवताओं में रूप अथवा आकृति की 'अस्पष्टता' अथवा 'व्यक्ति वैशिष्ट्य की न्यूनता' का कारण संभवतः यही रहा होगा कि वैदिक परिकल्पना में सभी देवता मूलतः एक ही थे—एकता की यह भावना उत्तरकालीन रचनाओं में स्पष्टतर होती गयी है।

इस प्रारम्भिक विचार के बाद वैदिक देवकुल की परिगणना की जा सकती है।

दिव्य-लोक

ऊपर देखते ही सबसे पहले आकाश अथवा द्यौस् हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। आकाशगामी सभी देवता द्यौस् से ही अवतीर्ण हुए हैं। ऊपर आकाश नीचे धरती—द्यावापृथिवी—सहज ही ये दोनों जगत्पिता और जगन्माता का रूप ले लेते हैं। द्यौस् की व्युत्पत्ति 'दिव्' धातु से है जिसका अर्थ है चमकना। द्यौस् का अर्थ है 'चमकने वाला', आलोकमय। यूनानी ज्यूस और ज्यूसपेत्र कदाचित् 'द्यौस्' और 'द्यौस्पितर' के ही रूप हैं।

वरुण, मित्र, सूर्य, सावित्री, पूषण, विष्णु, विवस्वत्, आदित्य, उषस् और अश्विनी देवता इसी श्रेणी में आते हैं। आदित्यों की संख्या और नाम दोनों अनिश्चित हैं। अथर्ववेद के अनुसार अदिति के आठ पुत्र थे। तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।१।९) में उनके नाम मित्र, वरुण, अर्यमन्, अंश, भग, धातृ, इंद्र और विवस्वत् दिये हैं। मार्त्तण्ड का भी उल्लेख है। इनके रूपों का कोई वर्णन वैदिक वाङ्मय में कहीं नहीं मिलता है, और यास्क ने निरुक्त में जो कुछ वर्णन दिया है, वही हमारे लिए प्रमाण है। इष्ट-देवताओं का मानवाकार रूप-वर्णन उत्तर-कालीन वाङ्मय में ही मिलता है। अतः उनकी प्रतिमाओं की चर्चा यहाँ व्यर्थ है—प्रतिमालिखन के लिए पहले साकार कल्पना तो होनी चाहिए। वैदिक देवताओं के रूपाकार धुँधले और अस्पष्ट हैं, और केवल उनके कार्यों के साधन के रूप में वर्णित हुए हैं। सिर, मुख, गाल, नेत्र, केश, कंधे, वक्ष; भुज, हाथ, शरीर, पैर—सभी अवयव इन देवताओं के बताये गये हैं, लेकिन उनका वर्णन केवल लाक्षणिक है; और उसके आधार पर उनकी कोई स्पष्ट रूप-कल्पना नहीं की जा सकती, प्रतिमालिखन तो दूर रहा। उत्तर-काल में देवताओं के स्पष्ट और मानवाकार रूप-विकास के अनंतर ही उनकी रूपवर्णना अथवा प्रतिमालिखन संभव होता है।

आंतरीक्ष देवता

आंतरीक्ष देवों में इन्द्र का स्थान सर्वप्रथम है। इन्द्र वैदिक भारतीयों का प्रमुख जातीय देवता है और ऋग्वेद में सबसे अधिक ऋचाएँ उसकी ही हैं—अन्य किसी भी देवता से ढाई सौ अधिक ऋचाएँ इंद्र की हैं। इंद्र के अनेक गुणों का बखान किया गया है, तथापि इंद्र की भी स्पष्ट रूप-कल्पना नहीं की जा सकती। एक ऋचा में तो इंद्र की मूर्ति का भी उल्लेख है, जो दश गायों के बदले बिक रही है

क इमम् क्रीणाति दशभिर्धेनुभिः

किंतु यह नहीं कहा जा सकता कि वह किसी स्पष्ट आकृति की प्रतिमा ही रही होगी। यह भी असंभव नहीं कि वह मूर्ति एक आकारहीन मृत्पिंड या लौंदा ही रहा हो, जैसा कि अभी तक, आदिम अथवा इतर जातियों में पूजा जाता है।

त्रित, मरुत (जिनकी संख्या के बारे में मतभेद हैं), अपानि, नपात्, मातरिश्वन्, अहिर्बुध्न्य, अज, एकपाद, रुद्र, वायुवात, पर्जन्य और आपः भी आंतरीक्ष देवताओं की कोटि में हैं।

पार्थिव देवता

पार्थिव देवताओं में सरस्वती (अवस्ता की हरक्वैती, जो अफ़गानिस्तान में है) दृषद्वती, विपाशा, शतद्रु आदि नदियाँ, पृथिवी, अग्नि, बृहस्पति और सोम आदि

आते हैं। अग्नि पार्थिवों में प्रमुख देवता है। वह यज्ञ की अग्नि का मूर्त रूप है। इतना परिचित देवता होने पर भी उसका रूपाकार अविकसित और अस्पष्ट ही है।

इन देवताओं के अतिरिक्त एक और वर्ग भी है जिसमें भावनाओं अथवा ऐसी नैसर्गिक शक्तियों को ही मूर्त किया गया है जिन्हें साधन अथवा गुण माना जा सकता है। प्रजापति, त्वष्ट, विश्वकर्मा आदि इसी कोटि के देवता हैं। अनंतर पुराणकाल में इन देवताओं के रूपाकार बड़े स्पष्ट होगये। अदिति और दिति भी मूलत. इसी कोटि की हैं, यद्यपि पुराणकाल में अदिति का रूप निखरकर देवजननी का होगया है और दिति का रूप उतना ही स्पष्ट दैत्या की माता का। वैदिक वाङ्मय में दोनों के रूप अस्पष्ट और अनिर्दिष्ट हैं।

देवियाँ

वैदिक वाङ्मय में देविया का स्थान प्राय अत्यत गौण माना जाता है। किंतु ऋग्वेद की 'वागम्भृणीय' ऋचा इस धारणा का खंडन करती है। 'अहं राष्ट्री संगमनी प्रजानाम्' आदि से सिद्ध होता है कि यह स्थान इतना नगण्य नहीं रहा होगा। एक उपदेवता को 'राष्ट्री' का गौरव तो नहीं मिल सकता। यह कहना भूल है कि 'देवियों का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है।' केनोपनिषद् की हैमवती कदापि अधीन-पदस्थ नहीं है। पुराणकाल की शक्ति पूजा में तो वह सर्वोपरि आसन पा लेती है। किंतु यहाँ हम देवी देवताओं के पद का निर्णय नहीं कर रहे हैं। ऊपर देवों के विषय में जो कुछ कहा गया है, वह साधारणतया वैदिककालीन देवियों पर भी लागू है— उनके रूप और आकार स्पष्ट नहीं हैं और प्रतिमालिखन के लिए यथेष्ट विधान नहीं है। वाच्, उषस् आदि देवताओं के रूप ऐसे ही अस्पष्ट हैं।

उपदेवता

दोनों अश्विनी-देवता, मरुत-गण, ऋभु आदि उपदेवताओं, अप्सराओं और गधर्वों के बारे में भी यही कहा जा सकता है। वास्तोष्पति आदि कुल-देवता भृगु आदि देव पुरोहित और मनु भी इसी प्रकार अस्पष्ट हैं और राक्षसों का रूप भी अधिक स्पष्ट नहीं है। पितृ यम आदि का भी रूप विशिष्ट नहीं है।

वैदिक देवताओं की इस परिगणना के बाद हम पुराणकाल में आते हैं। यहाँ आते ही परिस्थिति सर्वथा बदल जाती है।*

---

* दिवगत लेखक के अप्रकाशित अधूरे ग्रंथ 'भारतीय प्रतिमालिखन' की भूमिका से।

नगेंद्र

इलियट का काव्यगत अव्यक्तिवाद

आधुनिक अंगरेज़ी साहित्य में काव्य के स्रष्टा और आलोचक दोनों ही रूपों में इलियट का अन्यतम स्थान है—उन्होंने साहित्य में रोमानी-भावगत मूल्यों के विरुद्ध प्राचीन-वस्तुगत एवं तटस्थ दृष्टिकोण का समर्थन किया है। काव्य-गत अव्यक्तिवाद का यही सिद्धांत साहित्य-शास्त्र के प्रति उनका अत्यंत विशिष्ट और महत्व-पूर्ण योग है। विवेचना करने से पूर्व इलियट की विचार-धारा की भूमिका पर इसकी व्याख्या कर लेना केवल उचित ही नहीं, अनिवार्य भी है।

इलियट के काव्य-सिद्धांतों का सार-संग्रह हमें उनके प्रसिद्ध निबंध 'परंपरा और वैयक्तिक प्रतिभा'[1] में मिल जाता है। जीवन और साहित्य दोनो में उनका दृष्टिकोण स्थिर परंपरा-वादी है—धर्म में वे कैथोलिक हैं, राजनीति में राजभक्त और साहित्य में पुरातनवादी। उनकी दृष्टि में किसी एक काल अथवा किसी एक व्यक्ति का साहित्य अपना पृथक अस्तित्व नहीं रखता, संपूर्ण साहित्य अखंड रूप है, जिसमें परंपरा की अविच्छिन्न धारा प्रभावित होती रहती है। अतीत और वर्तमान इसी अखंड परंपरा में अनुस्यूत हैं—अतीत का तो वर्तमान पर प्रभाव पड़ता ही है, वर्तमान भी अतीत को प्रभावित करता है। अपने पूर्ववर्ती के संस्कारों का उत्तराधिकारी होने के कारण वर्तमान उसका जन्मजात है, यह तो स्पष्ट ही है, परंतु अपने नवोद्भूत अस्तित्व के लिए अतीत की शृंखला में स्थान बनाता हुआ वह उसमें परिवर्तन भी तो करता है। इस प्रकार अतीत और वर्तमान अपृथक ही हैं। इसी परंपरा का निर्भ्रान्त ऐतिहासिक ज्ञान प्रत्येक कवि और आलोचक के लिए अनिवार्य है[2]—उसमें अतीत की अतीतता को ही नहीं, वरन् उसके अस्तित्व को भी हृदय-गत करने की क्षमता होनी चाहिए, क्योंकि किसी भी कवि का संदेश अपने में पूर्ण नहीं है—उसका महत्व स्वतंत्र नहीं है, उसको समझने के लिए[3] उसका पृथक् अध्ययन आवश्यक नहीं है, आवश्यक यह है कि उसको उसके पूर्ववर्ती कवियों की शृंखला में रखकर समझा जाय—उनसे उनका क्या संबंध

१—Tradition and Individual Talent.

२—वही, पृ० १४

३—वही, पृ० १५

है, इस बात को स्पष्ट रूप से हृदयगत किया जाय। कवि के लिए उसकी अपनी चेतना का ज्ञान पर्याप्त नहीं है, उसको समग्र जाति और देश की अखण्ड चेतना का ज्ञान होना चाहिए। यह जातीय चेतना सतत, विकास-शील है। काव्य या कला के प्राचीन या नवीन सभी प्रस्फुटन इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि कवि को अपने अतीत की निर्भ्रान्त चेतना होनी चाहिए और उसे इस चेतना का जीवन-भर विकास करना चाहिए। इस प्रकार उसे परंपरा के लिए अपनी वर्तमान स्थिति का उत्सर्ग करना पड़ता है।[१]—*कलाकार का विकास वास्तव में आत्मोत्सर्ग का, आत्म-निषेध का एक अनवरत प्रयत्न है।* इस विवेचन के उपरांत इलियट एक साथ अपने प्रसिद्ध अव्यक्तिवादी सिद्धांत की स्थापना कर देते हैं। साहित्य (काव्य) आत्मा की अभिव्यक्ति नहीं वरन् आत्मा से पलायन है। साधारण व्यावहारिक—नैतिक अर्थ में यदि किसी का व्यक्तित्व दूसरे से गुरुतर है, तो इसका अर्थ यह कदापि नहीं हो सकता कि वह उसकी अपेक्षा अधिक सफल कवि या साहित्यकार भी है। सफल कवि होने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसकी मानसिक शक्ति ही अत्यधिक समृद्ध हो—आवश्यकता इस बात की है कि उसका मन अधिक-से-अधिक संवेदनाओं के भावों और समन्वय का अधिक-से-अधिक सफल माध्यम बन सके। सफल कवि में दूसरों की अपेक्षा संवेदन, विचार, सग्राहकता आदि की शक्ति का आधिक्य अनिवार्य नहीं है—उसके लिए कला सृजन की प्रेरणा और भावों और संवेदनाओं को समन्वित करने की शक्ति ही अनिवार्य है। कला-सृजन की प्रेरणा के समय जो समन्वय होता है, उससे कवि के व्यक्तित्व का कोई संबंध नहीं है—इस समस्त प्रक्रिया में उसका व्यक्तित्व सर्वथा पृथक एवं निर्विकार रहता है, जैसा कि किसी किसी रासायनिक क्रिया में होता है।—उदाहरण के लिए ऑक्सीजन और सल्फर डायोक्साइड से भरे किसी कमरे में यदि आप प्लेटीनम का एक तंतु डाल दें, तो वे दोनों तो सल्फर-एसिड में परिवर्तित हो जायँगे, परंतु प्लेटीनम के तंतु में किसी प्रकार का विकार नहीं आएगा। *कवि का मन* इसी प्लेटीनम-तंतु के समान है, जो उसकी अनुभूतियों को प्रभावित और समन्वित करता हुआ भी स्वयं निर्विकार रहता है। *कहने का तात्पर्य यह है कि कलाकार जितना* ही अधिक सफल होगा, उतना ही अधिक उसके भोक्ता और स्रष्टा रूप में अंतर होगा, और उतनी ही अधिक सफलता से उसका मन सामग्री रूप में प्राप्त भावों और अनु-भूतियों का ग्रहण कर कला रूप में परिवर्तित कर सकेगा।

संक्षेप में इलियट की मान्यताएँ इस प्रकार हैं:—

(१) कवि का व्यक्तित्व और उसकी कृति दो भिन्न वस्तुएँ हैं—भोक्ता मन और स्रष्टा मन में स्पष्ट अंतर है। दोनों को किसी भी रूप में एक कर देना भ्रामक है।

१—Tradition and Individual Talent, पृ० १७

(२) व्यक्तिगत भाव और काव्य-गत भाव सर्वथा भिन्न हैं, काव्य में हमें व्यक्तिगत अनुभूति न मिलकर काव्य-गत भाव ही प्राप्त होता है। काव्य-गत भाव की सृष्टि के लिए यह भी अनिवार्य नहीं है कि उसके स्रष्टा ने उसके भौतिक रूप का अनुभव किया ही हो। काव्य-गत भाव अनेक प्रकार के संवेदनों और अनुभूतियों का समन्वित रूप होता है, जिसके मूल में व्यक्तिगत अनुभूति नहीं, वरन् कला-सृजन की उत्कट प्रेरणा ही सदैव वर्तमान रहती है।

(३) कला-सृजन के समय कलाकार तटस्थ रहता है—सृजन-प्रेरणा के फल-स्वरूप उसकी धारणाएँ, संवेदनाएँ तथा अनुभूतियाँ उसके मन में समन्वित हो जाती हैं। ऐसा आप-से-आप एक विचित्र और अप्रत्याशित रीति से होता है। इस प्रकार[५] कला-कार विशिष्ट व्यक्तित्व न होकर एक माध्यम मात्र है। वह कला में अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं करता, वरन् उसका दमन, उत्सर्ग अथवा निषेध करता है।

विवेचन

इलियट के उपर्युक्त सिद्धांत आधुनिक साहित्य की अतिव्यक्तिवादी प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया का परिणाम हैं। मुझे स्मरण है—अपने एक लेख में* उन्होंने यह शिकायत की है कि आधुनिक आलोचना दर्शन है, विज्ञान है, मानव शास्त्र है, मनोविज्ञान और मनोविश्लेपण-शास्त्र आदि तो सब-कुछ है, परंतु साहित्य बहुत कम रह गया है। इसमें संदेह नहीं कि आलोचना में आधुनिक मनोविश्लेपण के अनुसंधानों के फल स्वरूप कलाकार के व्यक्तित्व ने कृति को एक प्रकार से पूर्णतः आच्छादित कर लिया है—ऐसी आलोचनाओं में आलोचक कृति को तो एक ओर रख देता है और प्रतीकों के काँटे फेंक कर कलाकार के मन के अतल गह्वरों में पड़े हुए रहस्यों को पकड़ने का प्रयत्न करता रहता है। इलियट ने इस अतिवाद के विरुद्ध अपनी आवाज उठायी है, और मैं समझता हूँ कि उनका यह विरोध काफी हद तक ठीक भी है। आलोचक अपने मूल रूप में एक विशेष रस-ग्राही पाठक ही तो है, और उसकी आलोचना उस रस को सहृदय-सुलभ बनाने का प्रयत्न है। यदि आलोचक कलाकार के व्यक्तित्व के निश्चित और अनिश्चित तथ्यों में इतना अधिक उलझ जाता है कि कृति सर्वथा उपेक्षित हो जाती है, तो उसकी आलोचना किसी मनोविश्लेपण ग्रंथ का एक अध्याय तो हो सकती है, परन्तु काव्यालोचन की दृष्टि से वह अपने कर्तव्य से च्युत हो जाती है। यहाँ तक तो उनका आक्षेप संगत है, और वास्तव में मनोविश्लेपण की रौ में कला-कृति का महत्व जिस प्रकार बहा जा रहा था वह अनिष्टकर था—उसको फिर से स्थिर कर इलियट ने

५—Tradition and Individual Talent, पृ० २०

* Tradition & Experiment लेखमाला में।

साहित्य का निश्चय ही उपकार किया है। परन्तु इसके आगे जब वे कला-कृति को रच यिता के व्यक्तित्व से सर्वथा स्वतन्त्र घोषित कर देते हैं वह ज़्यादती है। इलियट एक अतिवाद का निषेध करते हुए स्वयं एक दूसरे अतिवाद के दोषी बन जाते हैं। शेक्स पियर के सानेट का अध्ययन छोड़ कर मेरी फिट्न विषयक कल्पनाओं में फँस जाना अनुचित है परन्तु इस प्रकार के अनुसंधानों का यदि उचित सीमा के भीतर उपयोग किया जाय तो इन कविताओं के अध्ययन में निश्चय ही सहायता मिलेगी। उसके द्वारा इन कविताओं की काव्य-गत अनुभूतियों का बिम्ब-ग्रहण अधिक पूर्ण होगा। और उसी के अनुपात से रसानुभूति में भी सहायता मिलेगी।

परन्तु मेरी उपर्युक्त युक्ति इलियट के सिद्धांतों के लिए अप्रासंगिक है। वे तो स्पष्ट घोषणा कर चुके हैं कि जीवन गत भाव और काव्य-गत भाव सर्वथा भिन्न हैं—और यह भी संभव है कि कलाकार ने अपने जीवन में उसके मौलिक रूप का अनुभव ही न किया हो।"—यह प्रश्न मनोविज्ञान से संबंध रखता है इसका उत्तर देने के लिए हमें इलियट के मत के विरुद्ध काव्य की परिधि से बाहर जाना पड़ेगा। जीवन गत भाव और काव्य गत भाव में स्पष्ट अंतर है—इसमें तो कोई संदेह नहीं—हमारा संस्कृत साहित्य शास्त्र और मनोविज्ञान दोनों ही इसको स्वीकार करते हैं। संस्कृत साहित्य शास्त्र के अनुसार प्रत्यक्ष मौलिक भाव और काव्य गत* भाव में एक स्पष्ट अंतर तो यही है कि मौलिक भाव का आस्वाद सुख मय और दुःख मय दोनों ही प्रकार का हो सकता है परन्तु काव्य गत भाव' जो अपनी पूर्णावस्था में रस रूप में परिणत हो जाता है अनिवार्यत सुख मय ही होना चाहिए। इसका कारण यह है कि काव्य-गत अनुभूति मौलिक अनुभूति का परिभावित रूप है जिसमें कल्पना-तत्व और बुद्धि-तत्व का अनि वार्य मिश्रण रहता है। इसलिए अंतर तो सर्वथा असंदिग्ध है परन्तु इसके आगे यह कहना कि दोनों में कोई संबंध ही नहीं है असत्य है। शाकुंतलम् में अंकित दुष्यंत और शकुन्तला की रति मौलिक रति से अवश्य ही भिन्न है—परन्तु शाकुंतलम् की रसानुभूति का मूल लौकिक रति में ही है—कल्पना और बुद्धि-तत्व का मिश्रण हो जाने से इसमें अंतर अवश्य पड़ गया है परन्तु दोनों के आस्वादन में सूक्ष्म मूल-गत समानता है। यही बातें करुण काव्य के लिए भी उतनी सत्य है। करुण-काव्य का काव्य गत भाव अथवा रसानुभूति मधुर होती है परंतु उसका मौलिक रूप निश्चय ही कटु होता है, परंतु फिर भी दोनों का मूल-गत संबंध असंदिग्ध है। करुण और शृंगार रसों के आस्वादन का स्पष्ट अंतर इसका प्रमाण है—उदाहरण के लिए एक ओर शाकुंतलम् को पढ़ कर और दूसरी ओर उत्तर-रामचरित को पढ़ कर जो रसानुभव होता है उसमें भेद है—एक

* पारिभाषिक अर्थ में contemplated

में हर्ष, उल्लास की मात्रा अधिक है, दूसरे में गंभीरता है। यह अंतर उनके आधार-भूत भौतिक भावों का ही परिणाम है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यह आधार-भूत भौतिक भाव किसका है ? इसका समाधान करने के लिए संस्कृत-आचार्यों में बड़ा विवाद रहा है और अंत में वे इस निश्चय पर पहुँचे हैं कि सहृदय का वासना-रूप में स्थित-भाव ही रस में परिणत होता है। इसमें संदेह नहीं कि अंत में सहृदय अपने भाव का ही आस्वादन करता है, परंतु जैसा कि मैंने 'रस की स्थिति' शीर्षक लेख में विस्तार-पूर्वक विवेचन किया है, इस भाव की मूल-प्रेरणा कवि का अपना भाव ही है जिसे वह काव्य द्वारा सहृदय तक प्रेषित करता है। शाकुंतलम् में दुष्यंत और शकुंतला की रति साधारणीकृत रूप में मिलती है, परन्तु यह साधारणीकरण आखिर है किसका ? दुष्यंत और शकुंतला व्यक्तियों की रति का तो है नहीं, क्योंकि वह तो उनके साथ समाप्त हुई—निश्चय ही यह कवि की अपनी विशिष्ट रति-भावना का ही साधारणीकरण है जिसे उसने दो ऐतिहासिक व्यक्तियों के माध्यम से प्रक्षिप्त किया है।—अतएव काव्य-गत भाव और भौतिक भाव में निश्चय ही पल्लव और बीज का संबंध है, और यह भौतिक भाव व्यक्तिगत अथवा अव्यक्तिगत (ऐतिहासिक आदि) सभी प्रकार के काव्यों में मूलतः कवि का अपना भाव ही होता है।*

यहीं इलियट की प्रासंगिक उपपत्ति को भी ले लिया जाय—वे कहते हैं कलाकार के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसने काव्य गत 'भाव' के भौतिक रूप का अनुभव किया ही हो। वास्तव में इस प्रकार की शंका साहित्य के अध्ययन में अनेक बार पाठक के मन में उठती है : क्या शेक्सपियर, रोमियो, हेमलेट, मैकबेथ, ओथेलो, फॉल्स्टाफ़ क्लियो-पेट्रा आदि सभी पात्रों की मानसिक स्थिति में होकर गुज़रा था ? बाबा तुलसीदास बेचारे ने तो युद्ध कभी देखा भी न होगा, लड़ने की तो बात ही क्या ? फिर कैसे मान लिया जाय कि कवि काव्य-गत भाव के भौतिक रूप का अनुभव करता ही है ? इसका उत्तर संस्कृत-आचार्य ने बड़े सुंदर ढंग से दिया है—उसने कवि को अनिवार्यतः 'सवासन' माना है—'सवासन' का अभिप्राय यह है कि एक अत्यंत विस्तृत भाव-कोष वासना-रूप

---

* टिप्पणी—संस्कृत साहित्य-शास्त्र की आरम्भिक अवस्था में रस की स्थिति के विषय में अनेक भ्रम उत्पन्न हुए थे—कोई उसे मूल पात्रों में मानता था, कोई नट-नटी में, किसी-किसी ने काव्य-वस्तु में भी माना। उसी विचार-शृंखला को यदि आगे बढ़ाते जायँ तो इलियट स्वयं काव्य (या कला) का सर्वथा स्वतंत्र अस्तित्व मानते हुए रस की स्थिति काव्य (या कला) में ही मानते मालूम पड़ते हैं।—कहने की आवश्यकता नहीं कि यह सिद्धांत लोल्लट, शंकुक और भट्टनायक के सिद्धांतों से भी कहीं अधिक भ्रांति-पूर्ण है।

में—अर्थात् संस्कार-रूप में उसके अधिकार में रहता है। 'वासना' और 'संस्कार' शब्दों का संबंध आधुनिक मनोविश्लेषण-शास्त्र के उपचेतन मन से है। तुलसीदास ने युद्ध न किया हो, परन्तु युद्ध के मूल भाव अर्थात् युयुत्सु-संस्कार तो उनके अंदर वर्तमान थे ही—और जीवन में अनेक बार उन्होंने उद्बुद्ध रूप में उनका अनुभव किया होगा। युद्ध के वर्णन के लिए वातावरण और सामग्री आदि तो सर्वथा गौण है—उनका संचय तो कल्पना कर सकती है। उसका प्राण तो उत्साह, क्रोध और उनके संचारी भाव ही हैं—जिनका अनुभव तुलसीदास को निस्संदेह रहा ही होगा। यही बात शेक्सपियर के लिए—या किसी के लिए भी कही जा सकती है।

काव्य-गत भाव को इलियट ने अनेक प्रकार की संवेदनाओं, अनुभूतियों आदि का समन्वय माना है जो कला सृजन के दबाव से आप-से आप अप्रत्याशित रीति से घटित हो जाता है। जहाँ तक इस सिद्धांत के पूर्वार्द्ध का संबंध है, वह कुछ कुछ क्रोचे के सहजानुभूति वाले सिद्धांत से मिलता जुलता है—क्रोचे की सहजानुभूति भी, जो कला का मूल रूप है, अस्फुट संवेदनों और अस्पष्ट अनुभूतियों का ही समन्वय है। परंतु क्रोचे जहाँ सहजानुभूति को मन की एक विशिष्ट शक्ति की सहज क्रिया मानते हैं, वहाँ इलियट इसे आप-से-आप अप्रत्याशित रीति से होनेवाली एक घटना मानते हैं। वैसे तो क्रोचे की 'सहजानुभूति' भी आज के मनोविज्ञान को मान्य नहीं है, परंतु इलियट की यह स्वतःभवा अप्रत्याशित घटना तो सर्वथा अवैज्ञानिक है। यहाँ वे भी सिद्धांत की कार्य-कारण-रूप में व्याख्या न कर अनिश्चित शब्दावली की शरण ले रहे हैं जैसे कि संस्कृत के आचार्य ने 'अनिर्वचनीय' शब्द की शरण ली थी। इस अप्रत्याशित घटना को इलियट 'कला सृजन की प्रेरणा'[६] का परिणाम मानते हैं। यह 'कला सृजन' की प्रेरणा भी इलियट की नवीन उद्भावना नहीं है—योरोप के साहित्य शास्त्रियों में 'सृजन-प्रेरणा'[७] की चर्चा काफी दिनों से और काफी जोरों से चलती आ रही है। परंतु अंतर केवल यही है कि 'सृजन-प्रेरणा' में जहाँ अनिवार्य रूप से व्यक्ति तत्त्व की प्रधानता रही है वहाँ इलियट ने अपनी इस प्रेरणा या दबाव को सर्वथा वस्तु गत माना है। उनका सिद्धांत है कि दबाव वस्तु-रचना का पड़ता है—परन्तु यह वस्तु-रचना रचयिता के व्यक्तित्व से निरपेक्ष किस प्रकार हो सकती है? साधारण दस्तकारी में भी जहाँ रचना प्रक्रिया सर्वथा यान्त्रिक है, रचयिता के व्यक्तित्व का स्पर्श बचाया नहीं जा सकता—फिर कला, जहाँ संपूर्ण प्रक्रिया ही मानसिक है, व्यक्ति तत्त्व से अस्पृष्ट कैसे रह सकती है? इसमें संदेह नहीं कि स्वदेश-विदेश के अनेक आचार्यों ने श्रेष्ठ कला के लिए यह आवश्यक एवं उपयोगी माना है कि कलाकार का व्यक्तित्व उसमें छिपा ही रहे, ऊपर उभर कर न आये, आत्म-गोपन

६—'artistic pressure'
७—'creative urge'

को आत्म-प्रदर्शन से श्रेष्ठतर कला माना गया है। परंतु इस विषय में मुझे दो निवेदन करने हैं—एक तो यह कि उपर्युक्त सिद्धांत कला के सभी रूपों पर लागू नहीं हो सकता—उदाहरण के लिए तुलसी, सूर और मीरा का आत्म-निवेदन, इयर बच्चन आदि नवीन गीतकारों की आत्माभिव्यक्तियाँ प्रत्यक्षतः अपने आत्मतत्व के ही कारण सुंदर हैं। वास्तव में गीत काव्य का प्राण ही आत्म-तत्व है। इलियट के कठोर-से-कठोर शास्त्र-प्रहार शैली के गीतों का गौरव नहीं घटा सकते। दूसरे, यह कि जहाँ वस्तु की प्रधानता रहती है, जैसे नाटक, ऐतिहासिक काव्य, आदि में—वहाँ भी व्यक्तित्व का अभाव किसी प्रकार भी नहीं होता। वस्तु के निर्माण में घटनाओं के संघटन तथा पात्रों के अंकन में पद-पद पर कलाकार के व्यक्तित्व की अमिट छाप लगी रहती है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने काव्य को व्यक्ति-प्रधान और वस्तु-प्रधान इन दो रूपों में विभक्त करते हुए तुलसी के काव्य को वस्तु-प्रधान होने के कारण अधिक गंभीर और श्रेष्ठ माना है। उन्होंने अनेक प्रकार से यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि तुलसीदास का गौरव इसी बात में है कि उन्होंने व्यक्ति-गत राग-द्वेषों से तटस्थ होकर राम के लोक मंगलकारी स्वरूप की प्रतिष्ठा की है। परतु राम के इस स्वरूप की प्रतिष्ठा करने में तुलसी ने अपने जीवन-आदर्शों का ही तो प्रतिफलन किया है—राम का यह लोक मङ्गलकारी रूप तुलसी के अपने परम-रूप (super ego) का ही तो प्रक्षेपण है। वास्तव में मनुष्य की कोई भी क्रिया उसके अहं के चेतन अथवा अवचेतन स्पर्श से किस प्रकार मुक्त हो सकती है? जिन रचनाओं में चेतन व्यक्तित्व का प्रभाव नहीं होता [यद्यपि ऐसा बहुत ही कम होता है] उनमें अवचेतन का प्रभाव होता है—और अवचेतन, जैसा कि अब प्रायः सभी मनोवैज्ञानिकों ने मान लिया है, चेतन की अपेक्षा अधिक प्रबल होता है। इस प्रकार सृजन-प्रेरणा का साधारण आत्माभिव्यक्तिमय रूप तो स्पष्ट है—[सृजन हमारा अपना ही तो पुनर्जन्म है], परन्तु व्यक्ति से निरपेक्ष इलियट की यह कला-सृजन की प्रेरणा सर्वथा अवैज्ञानिक कल्पना है। कहने का तात्पर्य यह है कि इलियट का यह कहना तो ठीक है कि काव्य-गत 'भाव' अनेक प्रकार के संवेदनों तथा अनुभूतियों आदि का समन्वित रूप है—और यह भी ठीक है कि यह मस्तिष्क की सचेतन क्रिया नहीं है,—वास्तव में सृजन के क्षणों में कलाकार का मन अर्ध-समाधि की अवस्था में होता है। परन्तु जब वे कला-सृजन के दबाव और अप्रत्याशित-स्वतः-सम्भवा रीति आदि की बातें व्यक्ति से निरपेक्ष होकर करते हैं, तभी वे गड़बड़ कर जाते हैं। वास्तव में उनकी इस उलझी शब्दावली की व्याख्या अवचेतन मन के संबंध से बड़ी सरलता से की जा सकती है। जिसे वे कला-सृजन का दबाव कहते हैं, वह अवचेतन मन में पड़े हुए उन संस्कारों का दबाव है, जो अनुकूल परिस्थिति में उद्बुद्ध होकर अभि-व्यक्ति के लिए मचल उठते हैं, और चूँकि चेतन मन उनको पूरी तरह पहचानता नहीं

है, इसलिए उनकी अभिव्यक्ति का ढंग उसे अप्रत्याशित और अकारण-सा लगता है। इसी के साथ इलियट की यह सहकारी प्रतिज्ञा भी खण्डित हो जाती है कि कलाकार-व्यक्तित्व न होकर केवल माध्यम है जिसमें कला सृजन की प्रेरणा के दबाव से अनेक प्रकार से संवेदनों अनुभूतियों आदि का समन्वय घटित होता है। यहाँ आप देखिये कि उन्होंने कृतित्व कलाकार से छीनकर कला सृजन की प्रेरणा पर आरोपित कर दिया है। परंतु जैसा मैंने अभी स्पष्ट किया है यह केवल शब्दों का हेर फेर है—यह प्रेरणा भी कलाकार के व्यक्तित्व (अवचेतन) से ही सम्भूत होती है। जिसे वे व्यक्तित्व से पलायन कहते हैं वह मनोविश्लेषण शास्त्र में अवचेतन की एक नित्य घटना है। मनुष्य की वृत्तियाँ प्राय चेतन से मुँह छिपाकर अवचेतन में शरण लेती हैं और वहाँ जाकर संस्कार बनकर अपना रूप बदल डालती हैं। वास्तव में जीते जी न तो व्यक्ति से पलायन ही संभव है और न उसका निषेध ही। जब तक जीवन है तब तक वह अनिवार्य रूप से वर्तमान रहेगा—कोई भी भावात्मक अथवा अभावात्मक प्रयत्न उसका निषेध नहीं कर सकता। इलियट के साथ आरंभ में ही एक दुर्घटना हो गयी है।—वह यह कि, (जैसा उन्होंने स्वयं भी स्वीकार किया है) वे मनोविज्ञान और दर्शन को बचाकर अपने सिद्धांतों का प्रतिपादन करने बैठे हैं। साधारणत काव्य शास्त्र मनोविज्ञान और दर्शन नहीं है परंतु जहाँ आत्यन्तिक सिद्धांतों का विवेचन किया जायगा वहाँ केवल काव्य-शास्त्र ही नहीं, जीवन का कोई भी शास्त्र दर्शन और मनोविज्ञान को दूर कैसे रख सकता है? इलियट के प्रतिपादन में जो संगठित और प्रौढ विचार धारा का योग होते हुए भी अत्यंत स्पष्ट असंगतियाँ और भ्रांतियाँ आ गयी हैं, उनका कारण यही है कि उनका आरंभ ही गलत हुआ है।

रवींद्रनाथ देव

एक रात

"ब्लैक होल की घुटन शायद ही रही होगी इससे बढ़कर!" अपने पैरों को ज़रा-सा सरकाने की कोशिश करते हुए वकील साहब ने कहा। रेलवे कर्मचारी के चेहरे पर एक रूखी-सी मुस्कराहट फैल गयी। कमज़ोर पतले आदमी ने अपनी आँखें खोलीं। "जरा-सा अगर मैं अपने पाँव फैला सकता!" अपनी कँपकपी के बीच उसने कहा, "मलेरिया जान पड़ता है।" और उसकी आवाज मद्धिम होकर डूब गयी। पसीने से हम सब अन्दर तक तर थे। कंपार्टमेंट ठसाठस भरा था। कुछ लोग बेंचों के बीच में फँसे खड़े थे। और लोग फर्श पर एक दूसरे से सटे हुए इस तरह दबे-भिंचे बैठे थे, जैसे वे बेतरतीबी से एक-दूसरे पर पटकी हुई गठरियाँ हों। एक फ़ौजी ऊपरी बर्थ पर लंबी ताने हुए था, और दूसरे ने हमारे सामने बेंच पर लेट लगा रखी थी। उसके खुले हुए मुँह से राल बहती हुई उसके बाँयें कंधे तक लकीर बना रही थी। उसके बूटों की नालें रोशनी में चमक रही थीं। ये बूट लड़ाई पर हो आये थे।

"लानत है" वकील ने फ़ौजियों की तरफ इशारा करते हुए कहा, "आराम जरूर चाहिए इन्हें! हम लोग चाहे जियें या मरें, इससे इनको क्या मतलब!"

"इन दिनों तो राज है इनका!" जो आदमी किताब पढ़ रहा था, बोला।

"हुई है। जबतक लड़ाई का जमाना है, हुई है," रेलवे कर्मचारी ने कहा।

"लेकिन कितनी कोफ्त होती है! कोई इन्सानियत है!" हमारे सामने बैठे हुए आदमी ने कहा।

दुबले पंजरवाला आदमी कराह रहा था। उसे मलेरिया का बुखार था। उसकी आँखें खून-सी लाल हो रही थीं, और उसके माथे पर नसें इस तरह उभर आयी थीं, जैसे गीली मिट्टी में केंचुए उभरे हुए दिखायी देते हैं। उसे झुरझुरी आ रही थी। बेचारा बुरी तरह काँप रहा था।

"हे! जरा-सी जगह खाली कर सकते हो, इसके लिए? यह आदमी बीमार है। बहुत सख्त बीमार है," उत्तेजित स्वर में वकील साहब ने उस फ़ौजी से कहा, जो अपनी सीट पर फैलकर बैठा था।

"मर जाने दो उसे!" फ़ौजी ने जवाब दिया।

"मर जाने दो! देखो तो, क्या जवाब! मैं कहे देता हूँ, तुम-जैसे आदमियों से इस किस्म का जवाब मैं बरदाश्त नहीं करता!"

"क्या कहा?" और फौजी उछलकर खड़ा होगया। दूसरे फौजी भी, जो गहरी नींद का बहाना लिये पड़े थे, अपनी-अपनी सीटों पर से कूद पड़े। इस बीच उनके पासवाले मुसाफिरों ने भौंचक्के-से होते हुए जरा-जरा सी और जगह ले ली।

वकील साहब ने घबरायी आँखों से हमारी तरफ देखा। "क्या कहा तुमने?"—फौजी ने अपने बालों से भरे हुए मजबूत हाथ की मुट्ठी वकील साहब के ठीक नाक के सामने ही लाकर कहा। लेकिन हम भी और कुछ दूसरे लोग भी खड़े होगये थे। और रेलवे कर्मचारी ने कहा, "देखो, शराफत से पेश आओ। तुम यह सारी जगह अकेले नहीं घेर सकते!"

"हम घेरेगा!"

"तुम नहीं घेरेगा, बस। मैं रेलवे का सरकारी आदमी हूँ। मैं अभी ट्रेन रुकवाता हूँ और तुम्हारे कैप्टन साहब को यहीं बुलवाकर देखता हूँ कि तुम्हें सजा मिलती है कि नहीं!"

हवलदार, जो अभी तक चुप था, उठा और बोला, "भाइयो, मेहरबानी के साथ थोड़ा-सा जगह खाली कर दो! आदमी बीमार है!"

"देखा तुम्हें पहले से खयाल होना चाहिए था," तुरत रेलवे कर्मचारी ने कहा। तब तक वकील साहब ने हममें से कुछ लोगों की मदद से जाड़े से काँपते हुए आदमी को उठाकर दूसरी बेंचपर लिटाया, जहाँ थोड़ी-सी जगह थी।

"क्या किया जाय! हम सभी तो कई रात और दिन से सफर करते आ रहे हैं। ऐसी ही भरी हुई हैं सारी ट्रेनें। हम भी आदमी हैं आखिर। और फिर आपको यह भी नहीं भूलना चाहिए कि आप जरा-सी जगह के लिए जिन आदमियों पर नाराज होते हैं, वे अपनी जान हथेली पर लेकर लड़ाई के मैदान में गये थे।"

"मगर किसके लिए?" वकील साहब ने ताना कसते हुए पूछा।

"आपके हमारे लिए!" वैसा ही कड़ा हुआ जवाब हवलदार ने दिया।

"मेरे दोस्त, नहीं। आप लोग जाते हैं मार्चे पर अपनी-अपनी तनख्वाह के लिए।"

"जैसा आप समझें!" और हवलदार ने इसके बाद एक सिगरेट सुलगा ली।

"इस लड़ाई में इतना ही खतरा सिविलियन को भी है, जितना—" वकील साहब कह रहे थे।

"कुछ भी हो। फ़ौजियों का ऐसा बर्ताव बर्दाश्त नहीं होता"—बीच ही में वह मोटा आदमी बोला, जो अभी तक चुप बैठा था।

"जबतक यह लड़ाई है जी, ऐसा ही रहेगा। तुम इन बेचारों से आदर्श बर्तावे

की उम्मीद नहीं कर सकते, जिनके दिमाग में चौबीसों घंटे, जिन्दगी-भर, ड्रिल करा-कराके यही भरा जाता है कि कैसे होशियारी और चुस्ती के साथ आदमियों की हत्या की जानी चाहिए।" एक सफेद खद्दर-पोश बोला।

"क्या कहा?" हवलदार ने पलटकर पूछा। "फ़ौजी—हत्यारा है!"

"और क्या! फर्क इतना ही है कि साधारण हत्यारे के गले में फाँसी का फंदा पड़ जाता है, और फौजियों को हत्याओं के लिए तमगे मिलते हैं। बस!" इसपर कुछ कहने को हवलदार अपना मुँह खोल ही रहे थे, कि वह बिना उनकी पर्वाह किये, शांत स्वर में अपनी बात आगे कहता गया—"हाँ और फर्क भी है इनमें—हत्यारा अपने किसी निजी फायदे के लिए कतल करता है और फौजी लोग ऐसों की जान लेते हैं, जिन्हें उन्होंने अपनी जिन्दगी में पहले कभी देखा भी नहीं होता। कभी-कभी तो ये औरतों और बच्चों की भी हत्या करते हैं।"

"बकवास है! तुम्हें क्या इलम फौजी महकमे का!" और उसने झपटकर उसकी गर्दन पकड़ ली। लेकिन हमने हवलदार को पीछे ढकेलकर अपनी जगह पर उसको वापस किया। और दूसरे फ़ौजियों ने भी, जो हमारे पास आने की कोशिश में थे, देख लिया कि अब दाल नहीं गल रही है। डब्बे-भर में उनके खिलाफ़ गुस्सा छा गया था।

ताहम उसने कहा, "भाई मेरे, तुम्हें सच्ची बात से खौफ़ नहीं खाना चाहिए। बम्-मारों का एक स्क्वाडरन आता है और बम बरसाता है। सबकी तबाही के लिए और हत्या के लिए। फिर भी मेरा ख्याल है कि उनके चालक शरीफ आदमी ही होते हैं—पढ़े-लिखे, तहज़ीबयाफ़्ता। सिरफ लड़ाई उन्हें अन्धा कर देती है - यही वार और प्रोपेगैंडा। इन फौजियों में से—" उसने हाथ से उनकी तरफ को बताते हुए कहा—कोई भी नहीं चाहेगा किसी आदमी को मारना। औरत और बच्चों की तो बात दूर रही।"

"सच है," फौजियों में से एक ने हामी भरी।

"बस करो। बस, तुम सरकार के खिलाफ परचार कर रहे हो!"

"मैं तो जो सच्ची बात है, उसे कह रहा हूँ," मुस्कराकर उस आदमी ने कहा।

"इसका नतीजा भोगना पड़ेगा", हवलदार ने कहा।

"यह मत सोचिये, मैं कुछ घबराता हूँ इससे। मैं अभी-अभी जेल से छूटकर आ रहा हूँ। बड़ी खुशी से फिर चला जाऊँगा। आप जानते हैं, जेल के अंदर हम लोगों से कुछ इसी मुगालते में थे कि लड़ाई के पीछे सचाई क्या है, इसको ये फौजी लोग अब पहचानने लगे होंगे। हम यही सोचते थे कि ये लोग हमेशा के लिए दूसरे का गला काटते नहीं चले जायँगे। लेकिन एक हफ्ते से ज्यादा मुझे जेल से बाहर आये

होगया है। मुझे मालूम होगया कि हालत अभी तक कितनी नाजुक है। लोगों को अकल नहीं आयी है।" फिर कुछ रुककर कहा—"या श यद आयी है, तो बहुत थोड़ी।"

हवलदार मौन रहा। उसने निगाह दूसरी तरफ को फेर ली। नायक मुस्कराया और उसने हवल्दार की तरफ से अपना रुख दूसरी तरफ को कर लिया।

बाहर अँधेरा घिरा आ रहा था। सिर्फ एक खूनी लकीर की पट्टी-सी क्षितिज पर रह गयी थी। खजूर शान से सर उठाये खड़े थे। उन्होंने अपने हरे ताज आकाश में ऊँचे कर रखे थे। कुछ झोंपड़ियाँ, जो इस तरह एक दूसरे से सटी हुई थीं, जैसे उन्हें किसी का डर लगता हो, पास से तेजी से निकल गयीं। यहाँ-वहाँ इक्का दुक्की खिड़की की रोशनी झल्क रही थी, जैसे घने होते हुए अधकार में सुनहरी बुँदकियाँ हों।

फौजी अपनी जगह पर वापिस चला आया। उसके पास ही, कपार्टमेंट के फर्श पर एक लड़की अपनी माँ के बराबर बैठी थी। गाँव की सीधी-सादी सूरत शकल। सिवाय उसके यौवन के उसमें और कोई खास बात नहीं थी। फौजी ने उसकी तरफ कई बार आँख मार-मारकर देखा, और अपनी बेहूदा सी मूँछों की नोक उमेठता रहा। वह अपनी जगह पर जरा-सा सरका, और धीरे धीरे पाँव खिसकाता गया। यहाँ तक कि उसके बूट की नोक लड़की के कूल्हों के पास आ गयी। और तब जैसे इत्तफाक से उसके बूट उससे छू गये। और चौंककर वैसे ही उसने मुड़कर देखा, फौजी ने पूछा, "कहाँ जा रही हो तुम?"

लड़की एकटक उसकी तरफ देखती रह गयी। फौजी ने और जरा झुककर सवाल दुहराया। *"तुमसे क्या मतलब है?" पटाक से लड़की ने जवाब दिया।* नायक खिल-खिलाकर हँस पड़ा। फौजी ने मुँह चिढाकर उसे एक भद्दी गाली दी, और दूसरी तरफ को देखने लगा। लड़की ने सिर नीचा कर लिया। बीमार आदमी कराहा।

"अगर उन्होंने डून-डाउन को कैंसिल न कर दिया होता, तो ऐसी मुसीबत न होती," वकील साहब कह रहे थे।

गाड़ी रुकी। कोई छोटा-सा स्टेशन था। भीड़ डब्बे में घुसने को पिली पड़ रही थी। झुर्रियों से भरी हुई बुढ़िया—बच्चे—जवान—भीड़-की-भीड़। सब के भूखे चेहरे, मुरझाये हुए तन। अपनी सारी पूँजी—कुछ सेर धान, जो कहीं हजार दिक्कतों के बाद खरीद हो सके थे—अपनी छोटी-छोटी पोटलियों में सँभाले हुए। डब्बों के दरवाजों पर धींगा-मुश्ती हो रही थी। उनमें से कुछ लोग भिंच भिंचाकर किसी तरह अंदर आ गये। उन्हीं में एक औरत। उसका बच्चा बाहर ही रह गया था। वह ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी। तब किसीने उसे भी अंदर पहुँचाया। कितने ही लोग हैंडल पकड़कर बड़े खतरनाक ढंग से अपने को लटकाये हुए थे।

"आगे चलकर तो हालत और भी खराब है", मारवाड़ी व्यौपारी ने कहा ; जिसके चेहरे पर एक मुस्कराहट-सी जमी ही रहती थी ।

"मुझे नहीं मालूम था कि इतनी बाही-तबाही होगी । इधर से मैं पिछले दो महीने से नहीं गुजरा", वकील साहब ने कहा ।

"आप खुद ही देख लेंगे । अकाल इन जिलों तक भी आ गया है ।" व्यौपारी ने कहा ।

"आप किस चीज का कारोबार करते हैं ?" हवलदार ने पूछा ।

"हम लोग सूत का कारोबार करते हैं । आगरे और नागपुर से माल मँगाते हैं । अब सूती माल सस्ता हो जायगा । भाव गिर गया है । आज एक आना तीन पाई कल से कम है ।"

"खैर, तब तो कुछ उम्मीद बँधती है," वकील साहब ने कहा । और हवलदार को एक सिगरेट पेश करते हुए पूछा, "आप कहाँ जा रहे हैं ?"

"मोतीहारी । वतन को । तीन साल बाद । मैं लड़ाई छिड़ते ही अफ्रीका चला गया था ।"

"आप ईजिप्ट गये थे ?"

"जी हाँ, वहीं तो ।

"तब तो आपने मैदान की लड़ाई बहुत देखी होगी ।"

"तबीयत भर गयी देखकर । मैं तोब्रुक में था । 'हेल-फायर' वाले दर्रे में । अल-अलामीन में मैं था ।"

"अलअला में !"

"हाँ, वहीं से हम आ रहे हैं ।"

"क्या इस पिछलीवाली लड़ाई में वहाँ थे आप ? बड़ी भयानक जंग थी वह । थी न ?" वकील साहब ने पूछा ।

"हाँ, जी ।" वह रुका । रोमेल का सामना था । हमारी पलटन को हुक्म मिला था कि हम इस्माईलिया तक पीछे हट जायँ । पर इसी बीच कोई और बात होगयी । और हमारे आर्डर कैंसल होगये । तब हमने फिर मोर्चा लिया । अफ्रीका की लड़ाइयों में सबसे खूनी लड़ाई थी यह ।" वह चुप होगया । डब्बे में खामोशी छा गयी । बीमार का कराहना सब सुन सकते थे ।

फ़ौजी उस लड़की पर जरूर फिर झुकने लगा होगा । "अपना यह घिनौना बूट हटाओ उधर से । गड़ रहा है !" लड़की ने चिल्लाकर कहा । हम लोगों ने उधर को गर्दनें लंबी कीं, और देखने की कोशिश करने लगे कि मामला क्या है । फ़ौजी कह रहा था, "अरी मेरी लल्लो ! अगर ऐसा ही आराम चाहिए था, तो सारा डिब्बा ही अपने लिए क्यों न रिजर्व करा लिया ?"

तो क्या यह बूट अपना, उसकी गोदी में रखोगे तुम ?'

'किसने रखे ?"

"तुमने !"

'झूठ बोल रही है।"

'चल खोद्दे कहीं के ! रौंड कुतिया के ! अभी तो तैंने हटाया वहाँ से !"

फौजी ने फीकेपन और नफरत से बुढ़िया की ओर देखा ! नायक हँसा। बोला, 'देखो बूढ़ी माँ लड़ाई झगड़े से कोई फायदा नहीं। पैर तो किसी-न-किसी चीज से छुएँगे ही। उन्हें कोई कैसे रोक सकता है ? ऐसे भीड़-भड़क्के में लाजमी बात है। अब तुम कहती हो, लड़की की गोद अरे मैं कहता हूँ अगली बार तुम्हारे ही चूतड़ हुए—या किसी और के—तब ?"

इसपर ज़ोर का ठहाका लगा। खुद वह लड़की तक अपनी मुस्कराहट छिपाने की कोशिश कर रही थी।

अगला स्टेशन। प्लैटफार्म की काली की हुई रोशनी में, बाहर की भीड़ प्रेतों की परछाइयों-जैसी लग रही थी। अजीब भयानक-सी। गाड़ी के डिब्बों और खिड़कियों पर फिर वही धुक्का फजीहत वही गिड़गिड़ाहटें, वही धींगा मुश्ती।

'मालूम होता है, कोई भी उतरने का नाम नहीं लेगा", वकील साहब ने कहा।

"जाने ये कहाँ को जा रहे हैं सब-के-सब।"

'मिदनापुर को वापिस। बड़ी भयानक अवस्था है वहाँ की। तूफान ने कुछ नहीं छोड़ा, सब खत्म कर दिया। यहाँ पर आकर इन्हें बीज और धान मोल लेने की इजाजत है। सो वही ये लोग अपने बोने के लिए और खाने के लिए यहाँ से लिये जा रहे हैं।'

"हमारी पिछली याद में तो ऐसी बिपता कभी नहीं पड़ी," मारवाड़ी ने कहा। "लाखों इन्सानों की जान मुसीबत में पड़ गयी है। एक लाख की तो मरने ही वालों की संख्या होगी। और जानवरों का तो क्या शुमार है। और इसके ऊपर से यह अकाल।"

अब एक मौन व्यक्ति बोला, जिसके चाँदी के-से सफेद बाल थे। जब से वह गाड़ी में बैठा था, उसने एक शब्द भी अब तक मुँह से नहीं निकाला था। "मैं तो खुद गुजरा हूँ इसके बीच से।"

हम सब उसकी तरफ ताकने लगे।

"मैं कांथी का ही रहनेवाला हूँ।"

'कांथी ! जहाँ सबसे ज्यादा नुकसान हुआ है,' रेलवे कर्मचारी बोला।

'हाँ, वहीं मेरा घर—मेरा घर...था—" उसकी तरफ हमने देखा। आँखों में आँसू भरे, वह खामोश बैठा था। वह स्याही-सी काली रात की तरफ, बाहर देख रहा था। जुगनुओं के गोल-के-गोल उड़ रहे थे, जैसे टूटते हुए तारे गिरते हों।

फ़ौजी एक विद्यार्थी के साथ बात कर रहा था। ट्रेन की खड़खड़ाहट के बीच-बीच में उसकी बातचीत के टुकड़े सुनायी दे जाते थे।..."बड़ी खूबसूरत-खूबसूरत लुगाइयाँ हैं इस्माइलिया में।" लड़की सो रही थी। उसका सिर उसकी छाती पर ढुलक आया था। और हँसली की हड्डी उभरी हुई थी। बुढ़िया का सूखा-सा इड्डहा चेहरा और भी उभरा हुआ दिख रहा था। उसके मुँह से एक अजीब सीटी बजने की-सी आवाज़ निकल रही थी। बीमार कराह रहा था।

चाँदी के-से सफेद बालोंवाले आदमी ने एक गहरी साँस लेकर डिब्बे में एक बार चारों तरफ देखा, और कहा—"मैं कलकत्ते से परसों ही आया था। हम लोग पूजा मना रहे थे। सतमी थी। हवा सुबह से ही कुछ तेज चल रही थी और बादलों के टुकड़ों को आसमान में इधर-उधर उड़ा रही थी। मुझे लगा, हो न हो, तूफान आनेवाला है। लेकिन ऐसा आएगा, इसका किसीको सान-गुमान भी नहीं था। सुबह के आठ-नौ बजते-बजते तो एकदम अँधेरा छा गया। और फिर तो आँधी तेज ही होती गयी और झक्कड़ चलने लगा। अँधेरा होता गया। एकदम अँधेरा घुप्प। आकाश में बवंडर का ज़न्नाटा हम सुन रहे थे—साँयँ, साँयँ। कि तभी हहराकर पानी-पानी, चारों तरफ..."

वह फिर चुप होगया। कुछ देर बाद बोला, "जब अगले दिन सुबह हुई, तब मैंने देखा कि मैं तो अकेला रह गया हूँ। इस दुनिया में अकेला..." वह फिर खामोशी में डूब गया। उसकी आँखें चमक रही थीं। उनमें एक रूखी तेज़ चमक थी। उसने अपना मुँह फेर लिया।

वकील साहब ने एक सिगरेट सुलगा ली। धुएँ के छल्ले बनाने की कोशिश की, मगर नहीं बना पाये। हवा का एक ताजा झोंका आया, और हमारे पसीने से तर चेहरों पर पंखा-सा झल गया। बीमार के लिए रेलवे कर्मचारी ने किसी तरह थोड़े-से बर्फ़ का इन्तजाम किया। वह बुखार में भभक रहा था। उसकी आँखें सूज रही थीं, और उनमें रक्त की-सी लाली छायी थी। लेकिन अब उसे कँपकँपी न लग रही थी।

बारिश पड़ने लगी। लोगों ने जब खिड़कियों के शीशे गिराये, तो नन्हीं-नन्हीं बूँदें उन शीशों पर पड़ापड़ पड़ने लगीं।

"उफ़, कैसी जहन्नुमी गर्मी! खोल दो खिड़कियाँ! क्या उन्हें बंद किये बिना आफ़त आ रही थी?" एक फ़ौजी ने चिल्लाकर कहा। खिड़कियाँ खोल दी गयीं। बरखा के झोंके अन्दर आने लगे—ताज़े झोंके, जिनमें मिट्टी की सोंधी-सोंधी ख़ुशबू मिली हुई थी।

मलेरिया के बीमार को ज़रा-सी झुरझुरी आयी। लड़की जग पड़ी; उसकी धोती जो तरबतर होगयी थी।

"बंद क्यों नहीं कर देते खिड़की ?'

'हमारा दम घुटता है।"

मैं तो सारी भीगी जा रही हूँ।'

'घबरावे मत। तू बीमार नहीं पड़ने की।"

लड़की चुप हो रही और अपनी जगह से जरा-सा खिसकने की कोशिश करने लगी, और एक सोते हुए फौजी के टाँग की कुछ टेक-सी ले ली। ट्रेन एक स्टेशन पर रुकी। कुछ लोग उतरे। शुक्र है परमात्मा का, लोग उतरने तो लगे!' हवलदार ने कहा।

जरा अभी और सब्र कीजिए' मारवाड़ी ने मुस्कराते हुए कहा। कम्पार्टमेंट के दरवाजे पर कुछ हल्ला-गुल्ला-सा था। कुछ लोग भिचभिचाकर अंदर चले आये। बारिश अब खासी ज़ोर से हो रही थी। बिजली पूरब के क्षितिज पर शोलों में लिपटे हुए नीले साँपों की तरह मानो फुफकार-फुफकारकर नाच रही थी।

फसल के लिए अच्छा है। हमारे पीछे खड़ा एक मुसाफिर एक दूसरे आदमी से कह रहा था।

हाँ, बशर्ते कि जमकर बरस जाय।

वह पूरब में देखो। कैसी बिजली कौंध रही है। लगता है, कुछ देर बरसेगा।

हाँ प्यासी धरती को तरी मिल जायगी।"

तब खाद्याई शुरू हो सकती है।"

अब तो हम लोगों का यही आसरा रह गया है। सब कुछ इसी फसल पै निर्भर है" मुस्कराते हुए मारवाड़ी ने वकील साहब से कहा।

जो हां। आसार अच्छे नहीं दिखते। मानसून पिछड़कर आया है। देर के मानसून का मतलब हो सकता है बारिश की ज्यादती। हो सकता है इसमें धान की सारी फसल बह जाय।

ऐसी बात न निकालो मुँह से। ऐसा हुआ, तब तो बज्जरपात हो जायगा।"

'वज्रपात तो हुई" रेलवे कर्मचारी ने कहा जो खामोश बैठा सिगरेट पीता रहा था। अभी से ही बड़ी भयानक रिपोर्टें सुनने में आ रही हैं।"

जो आदमी डब्बे की मद्धिम रोशनी में किताब पढ़ता आ रहा था उसने झटके के साथ एकाएक किताब बन्द कर दी और एक गहरी साँस छोड़कर हम लोगों के नज़दीक आ गया।

खतम कर दी कहानी ?"

'हाँ। अच्छी थी। ये नये लेखक सुन्दर चीजें लिख रहे हैं।"

"अच्छा ? आपको पसन्द आ जाती है इन लोगों की कविता ?" रेलवे कर्मचारी ने कुछ हलके ताने के ढंग से पूछा।

"हाँ, मैं तो पसन्द करता हूँ नयी कविता। क्यों ? एक-एक पंक्ति की बात नहीं है। कुछ तो उसमें रद्दी होती हैं—बल्कि घिनौनी! मगर कुछ ऊँचे दर्जे की भी होती हैं। मेरा मतलब है, सचमुच महान होती हैं।

"होती होंगी। मैंने तो कोई बहुत ऊँची कविता इधर देखी नहीं। सच तो यह है, मुझे कविता ही कहीं नहीं नजर आती। बस—'विराम', 'डैश' और कूड़ा! बहुत हुआ तो कभी-कभी मजदूरों के लिए एक सस्ती भावुकता। उन्होंने कोई मजदूर कभी अपनी जिन्दगी में देखा हो तब तो!" रेलवे कर्मचारी ने कहा।

वकील साहब मुस्कराये और बोले, "मेरा खयाल है कि कविता का जमाना अब चला गया। साहब, मुझे माफ कीजिएगा। मुझे तो ऐसा लगता है कि आपके ये नये लेखक ऊपरी असर जमाने के लिए ज़्यादा लिखते हैं, और अन्दर के सच्चे विश्वास से कम।"

"मेरे विचार में तो यथार्थ इससे उलटा ही है।" जिसके हाथ में किताब थी उसने कहा।

मारवाड़ी को बड़ी ऊब मालूम हो रही थी। वह अपनी मुस्कराहट लिये सुनता तो रहा था, लेकिन अब उसने एक जमुहाई ली, और जिसके सिर के बाल चाँदी-से सफ़ेद थे, उसकी तरफ मुड़कर कहा—"बारिश थम गयी है ? बुरा ही होगा।" उस वृद्ध ने चुपचाप उसकी तरफ देखा, फिर कहा, "हाँ, बुरा होगा।"

गर्मी के मारे जैसे भभका‌रा निकल रहा था। ऐसा लगता था, जैसे सिकी और पपड़ीली दरारोंवाली ज़मीन से फीकी-फीकी-सी बदमज़ा उमस की लाखों ज़बानें धीरे-धीरे उठ रही थीं, और सारे वातावरण को अपने लपेटे में ले रही थीं। हमें पसीने छूट रहे थे। बीमार आदमी कराह रहा था। डब्बे में खामोशी थी। सिर्फ कंपार्टमेंट की ब्लैकाउट वाली बत्ती के साथ भँवरे बार-बार टकरा रहे थे। एक फौजी ने गाना शुरू किया। एक पुराना, प्रेम का गीत। मीठा था और दर्द से भरा हुआ। फिर उसने आवाज़ मद्धिम कर ली, और गुनगुनाकर गाने लगा। आखिरकार वह नींद में बेखबर हो गया।

मारवाड़ी बड़ी मेहनत से अपने-आपको पंखा झले जा रहा था। फिर भी उसे पसीने छूट रहे थे, और पसीने की छोटी-छोटी लकीरें उसके पूरे चेहरे पर बह रही थीं। "हे राम, कब यह गर्मी खतम होगी ?" ट्रेन एक पुल पर से गुज़री।

"यह सुवर्णरेखा ब्रिज है," वकील साहब बोले।

"कुछ ही दिन हुए होंगे, मैंने इसी के पास एक जगह एक भयानक और बड़ा दर्दनाक दृश्य देखा था," किताब जिसके हाथ में थी, उसने कहा।

क्या था ?'' मारवाड़ी ने पूछा।

हम बिलासपुर कुछ चावल अपने लिए लेने जा रहे थे। वहाँ कचहरी लगती है और हमारे बूढ़े नायब साहब बड़े मातबर आदमी हैं। मगर वहाँ पहुँचे तो शाम हो गयी थी। नायब महाशय ने हाथ जोड़कर हमें सूचना दी कि बहुत टक्करें मारने के बाद जो कुछ मिल सका है वह एक डेढ़ मन चावल है। घर में करीब तीस प्राणी हैं। नौकर चाकर सबको मिलाकर। डेढ़ मन चावल तीन दिन से ज्यादा नहीं चलेगा।'

वह रुक गया। हवलदार ने कहा 'खास बड़ा परिवार है आपका।'

हाँ हम लोग पुराने जमींदार हैं इस इलाके के। यही समझ लीजिए कि सबसे पुराने। हम लोग राजा टोडरमल के साथ यहाँ आये थे।''

इसके बाद क्या हुआ ?'' मारवाड़ी ने पूछा।

तो हमारी नाव दरिया पर थी। चावल हमें करीब डेढ़ सौ मन मिल जायगा ऐसी उम्मीद थी। हम लोग क्या करेंगे नायब महाशय ? यह तो तीन दिन के लिए भी काफी नहीं होगा। क्या बच्चों को भूख से तड़पना होगा ?

हुजूर कलक्टर साहब का आर्डर। गवरमेंट सीधे अपने आप खरीद कर रही है। सरकारी एजेंट धान की सारी फसल पर कब्ज़ा करने जा रहे हैं। उनसे जो कुछ थोड़ा बहुत कहीं बच जाता है तो वह थोक व्यापारी और पुलिस के हाथ चढ़ जाता है। लेकिन हुजूर हमने पचास मन चावलों का इन्तजाम किया है। सब ठीक ठाक हो चुका है। चावल इस हफ्ते के अखीर तक घर पहुँच जायगा।'

हम लोग वहाँ से अगले रोज रवाना हो गये। हमने नदी का रास्ता लिया। क्योंकि माइ साहब के एक जमींदार दोस्त हैं जिनका गाँव नदी के किनारे ही पड़ता है। माइ साहब को उम्मीद थी वहाँ से कुछ चावल मिलने की।

सुवर्णरेखा बड़ी शोभाशालिनी नदी है। कोई कवि ही रहा होगा जिसने वैसी ही किसी शाम को यह नाम उसे दिया होगा। मैंने अपनी जिन्दगी के बहुत दिन इस नदी के किनारे बिताये हैं। मगर इस शाम से पहले मैंने कभी उसकी ऐसी पूर्ण शोभा नहीं निरखी थी। नदी का दायाँ तट पानी की सतह से खासा ऊँचा है और इसपर बड़े शानदार घने जंगल हैं। उस शाम के अलसाये-अलसाये-से मौन में वह और भी घना और बीहड़ लग रहा था। और वह नदी जो उस दायें तट का चरण चूमती हुई बह रही थी डूबते सूरज की रोशनी में कहीं खोयी हुई पड़ी एक लाल सुनहरी फीते की किनारी-जैसी लग रही थी और पानी के किनारे से लेकर दूर बायीं तरफ के तट तक रेत चली गयी थी, जो शाम की रोशनी में गुलाबी गुलाबी सी झिलमिला रही थी।''

हम लोग सुन रहे थे। इस सारे वर्णन ने मारवाड़ी को उबा-सा दिया। उसने जोर की एक जमुहाई ली। नायक ने पूछा— मगर उसके बाद क्या हुआ ?'' रेलवे कम

चारी मुस्कराया। बोला, "आपका वर्णन करने का ढंग बड़ा सजीव है।" जिसके हाथ में किताब थी, वह आदमी खुश होकर मुस्कराया। आखिरी रिमार्क ने उसको बढ़ावा दे दिया था। और इससे पहले कि मारवाड़ी कुछ कहे, उसने अपना किस्सा शुरू कर दिया।

"हम लोग रवाना हो गये। जी में दुखी-से थे। नाववाले ने एकाएक भाई साहब को संबोधन किया, 'हुजूर, अपना खयाल है कि हमें इस मोड़ से आगे नहीं बढ़ना चाहिए। घंटे-भर में अँधेरा हो जायगा, और इससे जरा ही उधर को तालचर का जंगल है।'

"भाई साहब ने मुझसे पूछा, 'क्या कहते हो तुम ? हम लोग आगे चलें, या रात यहीं ठहरकर बिताएँ ?'

"तालचर का जंगल बहुत गुंजान है। इसमें जंगली जानवरों का ही डर नहीं था; बल्कि कुछ अर्से से उसके आस-पास दो-चार डाके भी पड़ चुके थे। हमारे पास बंदूक वगैरह कुछ नहीं थी, और हम लोग चार जने थे, मय दोनों माझियों के। इसलिए मैं बोला कि यहीं ठहर जायँ, तो अच्छा है। हम लोग तड़के ही उठकर यहाँ से चल देंगे, और दोपहर होते-होते घर पहुँच जायँगे।

"चुनाँचे, दोनों माँझी मुनासिब जगह की टोह करने लगे, और हम नदी के बहाव के साथ-साथ आहिस्ता-आहिस्ता बढ़ने लगे। डूबते हुए सूरज की रोशनी में हमारा फटा-पुराना पेबंदवाला पाल भी खूबसूरत लग रहा था। मैं उस सुंदरता को निरखने में तल्लीन था। यह सुनहरी नदी, यह घना विस्मयकारी वन, ताम्रबरन ललाई लिये हुए रेत का तट;—कि एकाएक हमने उनको देखा।"

वह रुक गया। खामोशी छायी हुई थी, जिसको ट्रेन की बँधी हुई घड़घड़ाहट ही तोड़ रही थी। विद्यार्थी इस किस्से को आँखें फाड़े सुन रहा था। एक नौजवान किसान पिछले स्टेशन के धक्कम-धक्के के बीच घुस-घुसाकर कंपार्टमेंट के दरवाजे के अंदर आ गया था, और किसी तरह अपने को लड़की के पास तक ले आया था, और इस समय उसके बराबर ही बैठा हुआ था। अपनी बनावटी नींद के बहाने वह उसीपर झुक-सा गया था। लड़की ने अपनी नींद से भरी थकी हुई आँखें उठाकर उसकी तरफ देखा और अपने हाथों से उसे पीछे को धक्का दिया। उस आदमी ने ऐसा दिखाया, जैसे वह सचमुच ही नींद से चौंका हो। मारवाड़ी महज तफरीह के लिए दिलचस्पी लेकर किस्सा सुन रहा था। हवलदार का सब्र खत्म होने को आगया था। उसके स्वभाव में बच्चों-जैसा कुछ था। और जैसी कि फ़ौजियों की आदत होती है, वह 'बात' जानना चाहता था। क्या असर पैदा किया जा रहा है, इसकी परवाह उसे नहीं थी। कोने के अँधेरे में बैठे हुए आदमी ने अपना सर झुका रखा था। वह शुरू से जैसा मौन था, वैसा ही मौन चुपका बैठा था।

"किनको देखा ?"—हवलदार ने पूछा। अपनी बेसब्री के कारन, या जो भी वजह हो, ये शब्द उसने ऐसी ऊँची आवाज में कहे, जैसी कि शायद परेड पर ही सुनी जाती है। किसान लड़की जग पड़ी। नौजवान को उसने धक्का देकर एक तरफ परे को किया। कोने के अँधेरे में बैठे हुए आदमी ने अपना सिर एक पल के लिए उठाया। किस्सा सुनानेवाले के माथे पर बल आये, और सिगरेट की एक फूँक उड़ा देने के बाद उसने कहा—"हाँ, तो वहाँ बायें तट पर उस लाल रेत की सतह से बस जरा ही ऊँचाई पर एक अकेला पेड़ था। उसमें कोई पत्तियाँ नहीं थीं। उसकी काली-काली सूखी शाखें गहरे होते हुए नील के-से बैंगनी आसमान में ऊपर निकली हुई दिखायी दे रही थीं। इसी पेड़ के नीचे बैठे सोये थे वे तीनों।"

वह फिर रुका। वह फौजी, जिसके पैरों की टेक-सी लिये किसान लड़की नींद में झुक गयी थी, इस तरह खुर्राटे भर रहा था, कि ट्रेन की घड़घड़ाहट के भी ऊपर वे सुनायी देते थे।

वे तीनों काले-काले भूखे गिद्ध-से लग रहे थे। वहीं वे बैठे थे। लड़के ने अपनी माँ का सहारा ले रखा था, और शाम की अंतिम बुझती लाली में उनके जिस्म और भी हड्डे और भयानक दिख रहे थे।

"और जब उन्होंने हमें देखा, तो उठने की कोशिश की, लेकिन उसमें सफल न हुए। वे अपने हाथ पाँवों पर रेंगकर घिसटने लगे। वे पानी के किनारे तक घिसट आये। लेकिन उनकी आवाज नहीं निकल रही थी। वे वैसे ही बैठे रह गये। उनकी आँखें खूँखार और रूखी लग रही थीं, और उनके चेहरों के बाकी हिस्सों को जैसे खुद भूख ने खा लिया था। उन्हें देखकर डर लगता था।

"'हम भूखे हैं! हम भूखे हैं!' वे बेहोश की-सी आवाज में चिल्लाये। औरत रेत पर बैठी हुई बुरी तरह हाँफ रही थी। वह जरूर काफी सुन्दर रही होगी। उन बड़ी-बड़ी धँसी हुई आँखों में कुछ था, जो भयानक रूप से अपनी ओर खींचता था। उन्हें देखकर ऐसे पशु की गूँगी आँखों की याद आ जाती थी, जिसे बूचड़खाने ले जाया जा रहा हो।

"मेरे भाई ने चावल के छोटे-से बोरे की ओर देखा, फिर मुझसे पूछा, 'हम क्या करें, सुबोध ?' इससे पहले कि मैं कुछ भी कह सकूँ, *माँझी बोल उठा*, 'एक पलिया-भर दे दीजिए, हजूर! हम लोग एक दिन बिना खाने के यों भी रही सकते हैं।'

"'तुम ठीक कहते हो, कनाई' भाई साहब बोले, और उन्होंने बोरे का मुँह खोला और उसमें से एक-एक मुट्ठी चावल हरेक को दे दिया।

"वह औरत देखती रही हमें। कृतज्ञता की गहराइयाँ उसकी आँखों से झाँक रही थीं। मर्द खामोश बैठा था। अपनी गोदी में अपने चावल का हिस्सा लिये हुए।

उसकी ठोढ़ी चमकती हुई पसलियों के ऊपर उसकी छाती पर टिकी हुई थी। शाम की आखिरी लाली उसकी गहरी बैठी हुई आँखों पर और उसके शरीर के डरावने ढाँचे पर पड़ रही थी। लड़का हमें और उस औरत को बैठा देख रहा था। फिर वह धीरे-से थोड़ा-सा सरका और फिर सहसा उसपर गिरकर झपट्टे के साथ उसके हिस्से में से काफी चावल छीन लिये, और अपनी बेंत-जैसी पतली-पतली टाँगों पर गिरता पड़ता हुआ भागा और उस औरत से दूर जाकर बैठ गया। वह मर्द ज्यों-का-त्यों गुम-सुम बैठा उसी तरह ताकता रहा।

"भैया, उसे थोड़ा-सा और दे दो,' मैंने कहा ; और भाई साहब ने एक आह खींची और आधी मुट्ठी चावल उस औरत को और दे दिया। वह औरत रो रही थी, लेकिन उसकी आँखों में कोई आँसू नहीं थे। सिर्फ उसकी हिचकियों से उसका शरीर बार-बार हिल उठता था।

"हम लोग रात बसर करने के लिए मुनासिब तैयारी कर ही रहे थे ; क्योंकि पश्चिम में अब रोशनी की मद्धिम झिलमिलाहट सी-ही रह गयी थी।—कि तभी हमने एक चीख सुनी, जैसे कोई मरियल कुत्ता बग्गी के पहिये के नीचे आकर एकाएक जोर से रिरिया उठे।

"यह क्या हुआ ?' भैया चिल्लाये।

"मैंने लड़के को देखा, तो वह वहीं रेती पर पड़ा था, और अपने हाथ पाँव पटक रहा था, और अपने सूजे हुए पेट को अपनी हथेली से दबाने की कोशिश कर रहा था ; और बुरी तरह रेत पर लोट रहा था।

"हे परमेश्वर ! हे परमेश्वर !' उस शाम के धुँधलके में लड़के को तड़पते हुए देखकर माँझी कह उठा।

"हम कर क्या सकते हैं ?' अपनी घोर असहायता को प्रकट करते हुए भैया बोले।

"भैया, हम लोग कुछ नहीं कर सकते।' वह कच्चे चावल चबाकर निगल गया था, और ऊपर से उसने पेट-भर पानी पी लिया था। अब उसकी आँतें फट रही थीं।

"उसने तीन या चार हूकें और मारीं, और फिर मौन हो गया। मर्द अपनी सूनी-सूनी आँखों से उसे घूरता हुआ चुपचाप बैठा रहा। औरत घिसटती हुई उस लड़के के पास तक गयी, उसका माथ छुआ, छाती पर हाथ रखा और फिर उसकी आँखों में आँखें डालकर देखा। उसके बाद उस मरे हुए लड़के के चेहरे को वह चुपचाप बैठी देखती रही। फिर जैसे उसे कुछ याद आया हो, उसने लड़के की भिंची हुई मुट्ठियाँ खोलीं, बहुत सँभालकर उसमें से चावल के दाने इकठा किये, और हमारे नजदीक आयी।

"कोई फालतू मिट्टी का बर्तन होगा आप लोगों के पास, जिसमें मैं इन्हें पका सकूँ ?'

"लेकिन तुम्हारा लड़का नहीं था क्या वह ?' अचंभे से नाववाले ने पूछा।

"हाँ था। तीन दिन पहले उसे तो कुछ खाने को मिल गया था। हमें कुछ नहीं मिला है।"

ट्रेन की चाल साफ धीमी होती जा रही थी। किस्सा सुनानेवाले ने दूसरी सिगरेट जलायी। इस खामोशी में मुझे लगा जैसे मैं उस नौजवान को उस किसान लड़की से फुसफुसाकर कहते हुए सुन रहा था, "मेरा तो कोई नहीं रह गया है। सब खत्म हो गये। क्यों नहीं सब चली आती मेरे साथ रहने को ?"

ट्रेन रुक गयी थी। जो आदमी अभी तक कोने के अँधेरे में बैठा था, वह उठकर हमारे पास आया। उसके चेहरे पर एक अजीब-सी मुस्कराहट थी। "हल्लो,—तो तुम यहीं हो!" किस्सा सुनानेवाले को संबोधन करते हुए उसने अपना हाथ उसकी तरफ बढ़ा दिया। कुछ परेशान-सा होकर उठ खड़ा हुआ। "हाँ.. हाँ। लेकिन मैं तो अभी यहीं उतर रहा हूँ। इसी स्टेशन पर।"

"आप तो कह रहे थे कि आप खड़गपुर तक जा रहे हैं," रेलवे कर्मचारी ने कहा।

"नहीं। मैंने इरादा बदल दिया है। मैं अब यहीं उतर जाऊँगा।"

वह आदमी जल्दी से उतर गया। हमने उसका सामान खिड़की से उसे पकड़ा दिया।

"कैसा विचित्तर आदमी है," हवल्दार ने कहा।

"मैं तो सोचता हूँ कि शायद मैं ही उसके यहाँ उतर जाने का कारन हुआ हूँ"—कोने के अँधेरे में से उठकर आनेवाले ने हँसते हुए कहा।

"आप ?—मगर कैसे ?"

"ऐसे—कि आखिरकार उसने मुझे पहचान ही लिया। आपको मालूम है, वह खड़गपुर में रहता है और इंश्योरेंस का काम करता है। कहानियाँ लिखता है। आप लोगों ने 'मेदिनी राय' का नाम नहीं सुना ?"

- "—बेचारे की! उसने तो कहा था कि वह सुबर्नरेखा नदी के पास रहता है ?"

"वहाँ नहीं रहता।" कोने से उठकर आनेवाले आदमी ने कहा।

"झूठा है वह!" मारवाड़ी बोला। "मैं तो जानता था कि सब गप है"—अपनी बात पर जोर देते हुए उसने इतना और जोड़ा।

"नहीं, किस्सा तो सच्चा है। ये बातें सब सही हैं। लेकिन यह दर्दनाक वाक़या दरअसल स्कूलमास्टर ने देखा था। ।यह घटना तो अखबारों में छपी थी, अप्रैल के अंत के लगभग।"

ट्रेन एक और स्टेशन पर रुकी। काफी लोग उतरे।

"ट्रेन यहाँ बीस मिनट तक रुकेगी। क्यों न बाहर खुले में चलें ?" हममें से कई लोग कंपार्टमेंट छोड़कर बाहर प्लेटफार्म पर आ गये।

"अगला स्टेशन खड़गपुर का है," बाहर कोई बोला।

"चलो शुकर है परमात्मा का।" किसने कहा।

किसान लड़की इस वक्त उस नौजवान से लगकर झुकी हुई, फुसफुसा-फुसफुसाकर अपनी थकी हुई मुस्कराहट के साथ, कुछ कह रही थी।

'भूमय'

चौराहे पर

यह चौराहा न हुआ, बुढ़िया की नाक हो गयी, जहाँ तमाम दुनिया की मक्खियाँ भिनभिनाती रहती हैं। भानमती के कुनबे की तरह यहाँ किस्म-किस्म की चीजें मौजूद देखता हूँ। छः होटल, तीन मिष्ठान्न-भंडार और चारों कोनों पर दो-दो पान की दूकानें। आप कल्पना कर सकते हैं कि ऐसी जगह पर रंग-बिरंग के कपड़े पहने हुए कितने व्यक्ति जमा होते और बिखरते हैं। वह देखिये, सड़क के किनारे के रास्ते पर एक वृद्ध अपना मायाजाल फैलाये हुए है। हरे केले, आलू, परवल, कागजी नीबू, भिंडी, पके आम और अन्य नाना प्रकार की हरी सब्जियों को गमछे से यों हवा दे रहा है, जैसे गर्मी के मौसिम में उन्हें ठंढी हवा का लुत्फ उठाने दे रहा हो, यद्यपि उसका यह कार्य मक्खियाँ न बैठने देने के लिए है। वह अधेड़ व्यक्ति अपने तीनों ओर छोटी-छोटी टोकरियों में सूखे फलों का अम्बार जमा किये हुए है और कागज के बने अपने खोखों को सहेज रहा है। अपनी छोटी चौकी पर बूढ़े सरदारजी रंगीन ठंढे शरबतों का प्रदर्शन इस प्रकार कर रहे हैं, जैसे मिठाई की दूकानवाले की तरह उनका भी यही साइन-बोर्ड हो। वे आतुर की तरह कभी दायीं ओर जानेवाले बच्चे की ओर देखते हैं, कभी बगल में खड़े साइकिल वाले व्यक्ति की ओर, जो खरीद-खरीदकर आम अपने झोले में डाल रहा है। जब उनकी नजर दूसरी बगल बैठे सब्जीवाले दूकानदार पर पड़ती है, वे भी अपना गमछा शरबत के गिलासों के ऊपर घुमा देते हैं, यद्यपि गिलास गंदे कपड़े से ढके हुए हैं, जो शरबत के पानी से भीग भी गया है—सफाई का उन्हें बहुत ख्याल है और अपने पड़ोसी दूकानदार से कम सफाई अपनी दूकान पर नहीं रखनी चाहते। आने-जाने वाले व्यक्तियों के पैरों की धूल उड़-उड़कर ढके हुए गंदे और भीगे कपड़े से होकर गिलासों में जमा हो रही है। उसपर उनका ध्यान नहीं है; क्योंकि 'देखो तो पाप, नहीं तो पुण्य' वाली कहावत पर उनकी आस्था है और धूल वे देख नहीं रहे हैं। जाती हुई लारी के पेट्रोल में किरासन की बू जब उनकी नाक में पड़ती है, तो वे कभी नाक दबाते हैं, कभी शरबत के गिलास का मुँह दुबारा ढकने की कोशिश करते हैं। बेचारे के पास एक ही तो गमछा है। जहाँ तक उससे काम लिया जा सकता है, उसका लाभ उठा रहे हैं वे।

भुट्टेवाली को आप देखते हैं? रिक्शेवालों की टुनटुन, इक्केवालों की कर्कश आवाज

के साथ मिल घोडे के टाप स्वर और नाना प्रकार के व्यक्तियों के कोलाहल में भी वह कितना स्थिर चित्र है! कमल-पत्र के जल की तरह निर्लिप्त वह स्त्री चुपचाप अपने भुट्टों को कड़ाही की आग में उलटती पलटती, अपने सामने आने-जानेवालों को कभी-कभी एक बार देखकर नीचे मुँह कर लेता है जैसे जल्दी जल्दी धूप चढती आनेवाली सुई की चाल का वह अपने कार्य से धीमा कर देगी। फट फट करती हुई उसके पंखे की आवाज मलाई वाले और तरावट की शरबत बेचनेवाले की आवाज को सगीत का रूप दे रही है और ऐसा मालूम होता है कि अपनी टोकरी के सारे भुट्टों को पकाकर ही वह दम लेगी।

दक्खिन आर की कपड़ों की दूकानें अब खुलने लगी हैं। दूकानें बुहारी जा रही हैं और अलमारियों की गर्द झाड़ी जाने लगी है, और जैसे यह बतलाने के लिए कि सुबह म्युनिसिपैलिटी की ओर से सफाई नहीं हुई उन दूकानों के भीतर का कूड़ा बाहर सामने फेंका जा रहा है। यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि आज जब चारों ओर कपडे का हाहाकार मचा हुआ है और ताड़ पर चढनेवाले पासी की तरह दाम ऊँचे होते जा रहे हैं, इन दूकानों पर किस्म किस्म के रगीन और सादे कपडे अलमारियों में सजाकर रक्खे हुए हैं। ग्राहकों की भीड़ इकट्ठा होने का रग नहीं दीखता। थोड़ी देर बाद खड़े होते होते जब दूकान के कर्मचारी थक जायेंगे, तो भावी ग्राहकों और कर्मचारियों के बीच व्यवधान रूप लव टेबुल पर बैठकर वे गप्पें उड़ायेंगे। मुहल्ले की कानाफूसी की गप्प, अनाज महँगा होने की गप्प और शरणार्थियों की मेहनत की गप्प, जिसके कारण वे नयी जगह के आर्थिक जीवन के आवश्यक अंग बनते जा रहे हैं। जाहिर है कि उनका विषय बदलते-बदलते अकुश (कन्ट्रोल) उठने की बात पर आयेगा और तब वे जबर्दस्ती चुप हो जाने की चेष्टा करेंगे, क्योंकि दूकान का मालिक वहीं बैठा है। उनकी बातें फिर आम से शुरू होंगी, और शायद बगल के पेड़ की छाया पर समाप्त हों, या पुलिस के सिपाही पर, जो चौराहे पर खड़ा-खड़ा डोरी में बँधी अपनी सीटी को अँगुलियों पर नचाते हुए विशाल जनसमूह के जबर्दस्ती इस माड पर जमा होने की निरर्थकता पर विचार कर रहा है।

नौ बज रहे हैं। सड़क की भीड बढती जा रही है। इक्के आते हैं और चल जाते हैं। रिक्शेवालों की घंटियों की तेज आवाजें कानो के पर्दों को फाड़ने की कोशिश करती हैं फिर बद हो जाती हैं। शहर की तरह आदमियों से भरी लारियाँ पों-पों करते हुए आती हैं और घर्र घर्र की आवाज करते हुए निकल जाती हैं, कारें हैं, ठेलेवाले हैं, स्त्री पुरुष—वृद्ध, बच्चे, जवान। मालूम होता है, शहर की सारी भीड़ यहीं जमा हो गयी है। कोई सब्जी खरीद रहा है, कोई मिठाइयाँ, कोई पान की दूकानों पर खड़ा सड़क को लाल रग से रँगने की सभावनाओं पर विचार कर रहा है, कोई स्टेशनरी की

दूकानों से सामान खरीदकर बाहर निकलता है, कोई जनरल मर्चेंट की दूकानों से। कोई कपड़े की दूकानों पर जाता है और मुँह लटकाये वापिस आता है, कोई महँगे-सस्ते कपड़े खरीदकर लाता है और कोई अपना छाता टेके आने-जानेवालों को देख रहा है। पल-भर की फुर्सत नहीं, कोई जल्दी-जल्दी जा रहा है, कोई साथी से धीरे-धीरे बातें करते हुए। तमाम चहल-पहल है। कहनेवाले कहते हैं कि शहर का कलेजा यहीं धड़कता है। यहाँ दोपहर को भी शांति नहीं रहती।

नौ बज रहे हैं। सड़कों की आमदरफ्त जारी है। पैरों की आवाजें विभिन्न सुरों से निकल रही हैं, लेकिन चार पुलिस के सिपाही, जो अभी-अभी कोतवाली से निकले हैं, अपने जूतों से ऐसी आवाजें निकालते आ रहे हैं, जैसे घोड़ों की टाप की नकल कर रहे हों, और यद्यपि उनके जूतों की 'पड़-पड़' आवाज आस-पास की प्रखर किरणों में व्याप्त कोलाहल को विशेष प्रभावित नहीं करती, लेकिन चारों साथियों की चुप्पी सारे वातावरण में गंभीरता पैदा कर रही है। साथी चुप होकर तो नहीं चलते, फिर ये सिपाही क्यों चुप हैं? कौन-सी गंभीर बात हो गयी है, जिसका विचार इनपर हावी हो रहा है? रात-भर ये ठीक से सोये नहीं है, इसलिए इनके चेहरे पर आलस और आँखों में खुमारी छायी हुई है। किस चीज की खुमारी है इनकी आँखों में? क्या यह इस कारण से है कि गिरफ्तार सिपाहियों के संबंध में ये लोग रात-भर विचार-विमर्श करते रहे हैं?

एक सिपाही जब चौराहे पर खड़े दूसरे सिपाही को हटाकर स्वयं छाता लगाये खड़ा हो गया, तो उसके दिमाग में बहुत-सी बातें चक्कर काटने लगीं। वह और उसके साथी रात-भर जागकर दूसरे थाने पर जानेवाले सिपाही को संवाद और आदेश देते रहे हैं और गिरफ्तार सिपाहियों को छुड़ाने के संबंध में जरूरी सलाह करते रहे हैं। उस सिपाही के दिमाग में बहुत-सी बातें आती हैं और सिपाहियों की गिरफ्तारी की समस्या पर समाप्त हो जाती हैं। सड़क पर बहुत-से आदमी चलते हैं और यद्यपि उनकी दिशाएँ परस्पर-विरोधी या एक-दूसरे को दायें-बायें से काटती हुई चलती हैं, फिर भी उनमें एक तारतम्य है।

चलनेवाले चौराहे पर चल रहे हैं और पुलिस का सिपाही सोच रहा है। उसका ध्यान उन पक्षियों की ओर नहीं है, जो सामने के पेड़ पर बाहर से आकर बैठतीं या इस डाल से उस डाल पर दौड़ती चलती हैं। ऐसी जगह दिन-भर खड़े रहकर भी किसी अनमने आदमी का दिल हरा हो जायगा; क्योंकि किसी ट्रेन के आने का वक्त होता है। तो ऐसी विचित्र आतुरता से मुसाफिर स्टेशन की ओर अपनी सवारियाँ दौड़ाने का आदेश देते दिखायी पड़ते हैं कि जैसे सारी सड़क खाली और सुनसान हो। यही हाल स्टेशन की ओर से, बाजार से लौटनेवालों का भी होता है। शायद खाने का वक्त हो गया है और इन्हें भूख लगी है। सिपाही का ध्यान इन सबमें किसीकी ओर

नहीं है। . .... क्या हम लोग इतने गिर गये हैं कि हम गालियाँ बर्दाश्त करें ? हम नौकरी करते हैं जरूर, तनख्वाह भी हमें समय पर मिल जाती है, लेकिन हम भी तो आदमी हैं। अनजाने में कुत्ते पर लात पर जाती है, तो वह उलटकर काटता है। अवश्य ही हम कुत्ते से बदतर नहीं हैं.....

आकाश म बादलों के समूह मँड़राने लगे। बादल इधर उधर से उड़कर एक जगह जमा होते और अनेक तरह के चित्र बनाकर बिखर जाते। थोड़ी देर तक नीचे की धूप हटकर बादलों में दीप्त होती, फिर जमीन पर छा जाती। वर्षा होने की सम्भावना से सड़क के यात्री जल्दी जल्दी इधर उधर चलते और धूप हो जाने पर झट किसी दूकान में घुसकर सौदा करने लगते। कोई सूटधारी जवान दो तितलियों के पीछे मोटर से उतर कर कपड़े की दूकान में घुस रहा है कोई गाधी टोपीधारी मिठाइयों की दूकान से निकलकर अपने वृत्ताकार पेट पर हाथ घुमा रहा है मैले चियड़े पहने मजदूर और साइकिल टेके बाबू भुट्टेवाली से भुट्टे का मोल भाव कर रहे हैं, पतली दुपल्लिया टोपी पहने सज्जन अपनी छड़ी घुमाते हुए पान की दूकान से हट रहे हैं। स्टेशनरी और फार्चुन की दूकानों के सामने रिक्शे और साइकिलें लगी हैं और वह बेचारा देश-सेवक बगल में मोटा झोला लटकाये अपने मोटे और मैले खद्दर के कपड़ा के बीच सिकुड़ा हुआ सा दीन भाव से गर्दन टेढी करके चला जा रहा है। धोती का एक छोर एक ठेहुने के ऊपर है, दूसरा, दूसरे ठेहुने के नीचे। पैर में पुराना चप्पल और सर पर मैली और बेतरीके रक्खी गाधी टोपी। ऊपर बगल की जेब में पेंसिल क्लिप में लगाकर फाउंटेन पेन लगाने का सत प उसने कर लिया है। दुबला नाटा शरीर, जिसका रग काला है, लेकिन भीतर का दिल जरूर साफ होगा, अन्यथा सिपाही की मजाल ही कैसे होती कि पेड़ के ऊपर की फुदकनेवाली चिड़ियों की ओर देखने का बहाना करते हुए उस सीधे आदमी पर मुसकराता। .. बेवकूफ है.. पहले लाठियाँ खायीं, गालियाँ सुनीं, जेल गया, अब सड़कों की धूल फाँकते हुए अपमानित जीवन बिता रहा है। मजे कर रहे हैं वे, वे जो.. ..

उस समय मोटर का तीखा हार्न बजा और सिपाही 'अटेंशन' की मुद्रा में खड़ा हो, पहले बायाँ हाथ लकड़ी की तरह सीधा कर, फिर बायाँ हाथ घुमाते हुए उसने मोटर निकल जाने का इशारा किया। सामने से गुजरते हुए उसने खूब अच्छी तरह देखा कि लचकदार गद्दे पर बैठा खद्दरधारी व्यक्ति उसकी ओर घूरते हुए गया है, जैसे चौराहे पर एक क्षण भी रुकने के क्रोध को पचा न सका हो, और पहले हार्न पर सिपाही के कान न देने के कारण उसे आँखों से ही खा जायगा। . हुँह, मोटर पर बैठकर नेता बना फिरता है चोर कहीं का.....हुँह .....खूब पहचानता हूँ। .. ..कौंसिल हौस का मेम्बर है ..कौंसिल हौस . . जगदीप भैया कहता था कि सब चोर हैं। जब हम लोग बाहर फाटक पर पहरा देते थे, तब भीतर इन लोगों की की 'सिलकट' वह खूब देखता

था। डेढ़ हाथ लंबे गिलास में शरबत भरकर ये गटाक-से पी जाते और दरवाजे पर हमें खड़ा कर कहते—यहीं खड़ा रहो। मत आने दो किसीको भीतर...फिर भीतर बड़े हाल में कुर्सी पर बैठकर एक कहता तुम चोर, दूसरा कहता तुम चोर...और फिर मोटर में बैठकर हवा खाने निकल जाते...यह कौंसिल हौस न हुआ, ताड़ीखाना हो गया...घूरता है......हूँह......चोर कहीं का........

धूप अब तेज हो रही है। बादल छँट रहे हैं। अभी-अभी कोई ट्रेन स्टेशन पर आयी है, इसलिए सवारियाँ और चलनेवालों की भीड़ चौराहे पर होने लगी है, लेकिन यह चहल-पहल कुछ ही समय तक के लिए है। पैर में जूते हैं, फिर भी सिपाही अपने पैर पटक रहा है। अपने बेल्ट से जोड़कर उसने सर पर छाता लटका दिया है, फिर भी उसका चेहरा अशान्त है। उसका अंग-अंग चंचल है। कभी हाथ ऊपर-नीचे करता है, कभी सर हिलाता है। मुँह कभी वह एक तरह पिचकाता है, कभी दूसरी तरह। वह देखिये, भीड़ थोड़ी कम होते ही बरगद के पेड़ के नीचे जा खड़ा हुआ।

...धूप में खड़ा सीझ रहा हूँ और ऊपर से गालियाँ सुनने की ट्रेनिंग दी जाती है। गालियाँ...जैसे हम आदमी न हुए, कुत्ते हुए। 'एसेंशियल सर्विस' में होने के कारण क्या हमें हर तरह से दबाने की कोशिश की जायगी और हम चुप बैठे रहेंगे? हमारे पास भी बन्दूकें हैं। मोर्चा लिया है। हमारे अस्सी सिपाही जेल में सड़ रहे हैं। मालूम होता है कि सरकार मुकदमें बहुत दिनों तक जारी रखकर सिपाहियों को तंग करना चाहती है। करे, कितना तंग करेगी वह? इससे क्या हम गालियाँ बर्दाश्त करेंगे? मोर्चे नहीं लेंगे? हम अपनी सभाएँ नहीं करेंगे? अपनी माँग दबा बैठेंगे?.......

ऐसे समय यदि कोई उसे देखता तो देखता कि सिपाही का चेहरा तमतमा रहा है और यद्यपि वह साये में खड़ा है; लेकिन उसके चेहरे से गर्मी छिटक रही है, पसीना चू रहा है......तब उसने अपना क्रोध इक्केवाले पर उतारा—"अबे ओ, इक्केवाले, घोड़े की रास क्यों नहीं खींचता? मुसाफिर को कुचल देगा?"

"नहीं बाबूजी, मैं तो तब से चिल्ला रहा हूँ, हट जाइये बाबू साहब, बगल हो जाइये हुजूर; लेकिन वे चूरनवाले से उलझ गये हैं, और मेरी सुनते ही नहीं।" और इक्केवाला अपने घोड़े के पैरों से टप्-टप् आवाजें निकालता हुआ आगे बढ़ गया।

"ओ चूरनवाले, वहाँ खड़ा-खड़ा क्यों भीड़ जमा कर रखी है तुमने? बार-बार तबसे कह रहा हूँ कि एक जगह खड़े मत रहा करो, नहीं तो चूरन निकाल दूँगा तुम्हारा; लेकिन सुनते ही नहीं। क्यों नहीं घूम-घूमकर चूरन बेचते हो?" कहता हुआ सिपाही चूरनवाले की ओर बढ़ा। चूरनवाला कुछ डर गया। उसने झट-से एक पुड़िया निकाली और बोला—"आज आप चूरन जरूर ले जाइये। बड़ा ही स्वादिष्ट और पेट का हाजमा ठीक करने में बहुत ही पुर-असर। देखिये, पहले चखकर देखिये।"

सिपाही ने चूरन से अपनी जीभ तेज़ की और फिर आँखें मटकाता हुआ बोला—'हाँ आज का चूरन तो बहुत चटकदार है। एक पुड़िया दे दो।' फिर पुड़िया अपनी जेब में रखकर कहा— देखो एक जगह मत खड़े रहा। घूमते हुए बेचा करो और सड़क के दूसरी पार उसी समय जाओ जब सड़क पर सवारियाँ कम हों। मेरी भी तो जिम्मेवारी समझो।'

जी हाँ सिपाहीजी।" और चूरनवाला फेरी लगाने लगा।

कितने बजे होंगे ?

ग्यारह, साढ़े ग्यारह।'

अभी ग्यारह ही ?"

फलवाला बेकार बैठा हुआ कपड़े से मक्खियाँ हटा रहा था। पानवाले की दीवाल घड़ी देखकर चिल्लाया— बारह बजने में अब ज्यादा देर नहीं है सिपाहीजी। केवल दस पन्द्रह मिनट।"

अभी दस-पन्द्रह मिनट की ड्यूटी है तबतक क्यों न पान खा लूँ ? एसा सोचकर सिपाही एक पानवाले की दूकान की ओर बढा। पनेरी ने झट दो पान सिपाही की ओर बढा दिये, फिर बोला— आपकी ड्यूटी कड़ी बड़ी है सिपाहीजी ! इतनी कड़ी धूप में तीन घण्टे खड़ा रहना पड़ता है।'

चूना बढाने का इशारा करते हुए सिपाही ने पान-भरे मुँह से कहा— हाँ कड़ी है जी। और किस सिपाही की हल्की है ? कोल्हू में सब पसते भी हैं और ऊपर से रोब भी जमाते हैं। नौकरी ही तो है।" फिर लाल पिच थूकते हुए बोला— आजकल बिल्टू क्यों नहीं दूकान पर बैठता जी ?'

हाँ सिपाहीजी नहीं बैठता। आवारा हो गया है। कहता हूँ देख बेटा, थोड़ी देर दूकान पर बैठकर कुछ सीख तो सही तो बस दूसरी ओर घुमा लेता है और सायकिल निकालकर घूमने चला जाता है। कहता है, आज दूकान पर आऊँगा बाबू और नहीं आता। शाम को कभी एक घण्टा बैठता है और जब आँखें इधर उधर करता हूँ तो झट दूकान के बाहर। सिनेमा चला जाता है।"

तब दूर से घण्टे पर टन् टन् की आवाज पड़ी। बारह बज गये। सिपाही की आज की ड्यूटी खतम हो गया। उसने कसकर अँगड़ाई ली और पनेरी से बोला— रात भर जागते ही बीता है। अब जाकर सोऊँगा।

और पान थूककर कोतवाली की ओर जाने लगा।

चौराहा अब पुलिस के सिपाही के बिना सूना लगता है। यात्री कम हो रहे हैं और सवारियाँ तो बहुत ही कम। कुछ दूकानें बद हो रही हैं और रास्ते के दूकानवाले अपना माया जाल कुछ घण्टों के लिए समेट रहे हैं। आषाढ चढ गया, लेकिन वर्षा नहीं हुई। बादल आते हैं और निखरते हैं। धूप चढ रही है, चढती जा रही है।

सियारामशरण गुप्त

जय भारत

जय हे भारतवर्ष हमारे, जय हे भारतवर्ष !
त्रिंश कोटि जन-गण देवों के उद्दीपित उत्कर्ष।
सहा वर्ष-भर में ही तुमने युग-युग का उत्पात,
एक साथ ही गरजे आकर हत्या-हिंसा-घात।
अक्षय महत् तुम्हारा आत्मा, फिर भय की क्या बात,
रुका नहीं रथचक्र तुम्हारा, अप्रतिहत दिन-रात।
शोक तुम्हें न गिरा पाया है, भुला न पाया हर्ष,
जय हे भारतवर्ष हमारे, जय हे भारतवर्ष !

नव-स्वतंत्रता के शुभ पथ में बाधक हो न प्रमाद
अविच्छिन्न कर्तव्य कर्म में न हो रंच अवसाद।
ध्वनित तुम्हारी जय-जय-जय में जगती का जयनाद,
वही शुद्ध स्वातंत्र्य तुम्हारा, लें सब जिसका स्वाद।
तुम मानवता के चिरसंगी सुख हो या संघर्ष,
जय हे भारतवर्ष हमारे, जय हे भारतवर्ष !
१५ अगस्त, १९४८

जगन्नाथ

स्वतंत्रता-दिवस, १९४८

१

अभी दृष्टि के सामने धुंध छाया
अँधेरा मिटा, पर उजाला न आया
अभी भूलने को रही बात आधी
अभी बीतने को बची रात आधी

अभी हर सितारा अलग अड़ रहा है
अँधेरा अभी बीच में पड़ रहा है

तिमिर को उषा ने मिटाया नहीं है
अभी हर सुमन मुस्कराया नहीं है
नहीं पूर्णिमा की खिली चाँदनी है
नहीं रात भर को मिली चाँदनी है

अभी शेष पिछले पहर का अँधेरा
अभी मार्ग में फिर मिलेगा लुटेरा
मधुर नींद का वेग पिछले पहर में
कहीं अंत में सो न जाना डगर में

सही है कि तुम रात-भर के जगे हो
चले हो, थके हो, रुके हो, ठगे हो
मगर रात्रि के सत्र में यदि रुकोगे
अधिक-से-अधिक, झिलमिलाते रहोगे

स्वयं जागना क्या, जगाओ जगत को
बनो नव उषा, जगमगाओ जगत को
सितारे सभी रात-भर जागते हैं
मगर संगठन से सदा भागते हैं

न हर रश्मि जब तक तुम्हारी मिलेगी
न तुम ही खिलोगे, न दुनिया खिलेगी

२

हँस हँसा कर रो-रुला कर रह गये
जिंदगी यों ही बिता कर रह गये

तारको, दिन में कभी आओ जरा
रात में क्या जगमगा कर रह गये

पथ-प्रदर्शक सूर्य, कुछ तो और हो
तुम हमें केवल जगा कर रह गये

ओस के आँसू न लाये ध्यान में
प्रात, कैसे मुस्करा कर रह गये

दीन मरुथल का यहाँ कोई नहीं
मेघ भी आँखें चुरा कर रह गये

चाहती थीं रूढ़ियाँ होली जले
लोग दीवाली मना कर रह गये

गिरिजाकुमार माथुर

आग और फूल

निकलती ही जा रहीं घड़ियाँ सुनहली
आयु के सबसे अधिक उज्ज्वल चरण की,
ग्रीष्म के उस फूल-सी
जिसकी नयी केसर हवा ने सोख ली,

वह आग की पीली शिखा
नीले धुएँ की धारियाँ घेरे रहीं
जिसके प्रथम आलोक का
सीमांत में जिसके रहे।

पर्वत अँधेरे के खड़े
सुनसान की आवाज़
आती ही रही नेपथ्य से,
जो निगल जाना चाहती थी
ज़िंदगी के गीत को।

ज्वालामुखी के द्वीप-सा
संघर्ष का यह लोक है,
हिलती हुई धरती यहाँ
हिलते हुए आधार हैं,
कमज़ोर मिट्टी की जड़ें
जमकर न जम पातीं कभी,
उठते बगूले ज्वार-भाटों के सदा,
हर लहर पर आते नये भूचाल हैं,
उजड़ा पड़ा यह द्वीप चिकनी की तरह
फिर-फिर सदा
संघर्ष का अणुक्रम यहाँ जाँचा गया।

यह व्यक्ति और समाज का
उत्तप्त मंथन-काल है
संक्रांति की घड़ियाँ बनी हैं शृंखला
नदी हुई है देह
मन को बाँधने बढ़ते पतन के हाथ हैं
है फन विष का फैलता ही जा रहा
रवि डूबता अंतिम ग्रहण की छाँह में
आलोकहत नक्षत्र मिट्टी से बना
जिसका कि पृथ्वी नाम है।

बस इसलिए उजड़ी धरा
यह फूल सूखा ही खिला
केसर बिना
वह आग की पीली शिखा
धुँधली रही
मंदी रही
उज्ज्वल न पूरी परिधि को जो कर सकी
वह भस्म कर पायी नहीं
काले धुँएँ को व्योम से।

वह भूमि किंतु न मिट सकी
आगत फसल की राह में
वह फूल मुरझाया नहीं
खुशरंग लाने के अमर विश्वास में
वह आग की मंदी शिखा
उठती रही
जलती रही
आलोक-कन तम से बचा
वह अग्नि बीजों को सतत बोती रही
फिर से नया सूरज उगाने के लिए।

'अज्ञेय'

तीन कविताएँ

१. पावस-प्रात, शिलङ्

भोर वेला। सिंची छत से ओस की तिप्-तिप्! पहाड़ी काक
की विजन को पकड़ती-सी क्लांत बेसुर डाक—
'हाक्! हाक्! हाक्!'
मत सँजो यह स्निग्ध सपनों का अलस सोना—
रहेगी बस एक मुट्ठी खाक्!
'थाक्! थाक्! थाक्!'*

२. कतकी पूनो

छिटक रही है चाँदनी
मदमाती उन्मादिनी
कलगी मौर सजाव ले
कास हुए हैं बावले
पकी ज्वार से निकल शशों की जोड़ी गयी फलाँगती
सन्नाटे में बाँक नदी की जगी चमककर झाँकती!
झाँकती!

कुहरा झीना और महीन
झर झर पड़े अकासनीम
उजली लालिम मालती
गंध के डोरे डालती
मन में दुबकी है हुलास ज्यों परछाईं हो चोर की
तेरी बाट अगोरते ये आँखें हुईं चकोर की!
आँखें हुईं चकोर की!

———

* डाक—पुकार, थाक्—रहने दो (बँगला)

३. 'अकेली न जैयो राधे जमुना के तीर'

'उस पार चलो ना! कितना अच्छा है नरसल का झुरमुट!'
अनमना भी सुन सका मैं
गूँजते से तप्त
अलस स्वर तुम्हारे तरल कूजन में
'अरे, उस धूमिल विजन में?'
स्वर मेरा था चिकना ही—'अब घना हो चला झुटपुट।'
नदी पर ही रहें—कैसी चाँदनी-सी है खिली!
उस पार की रेती उदास है।'

'केवल बातें! हम आ जाते अभी लौट कर छिन में—'
मान कुछ, मनुहार कुछ,
कुछ व्यंग्य वाणी में।
दामिनी की कोर सी चमकीं अँगुलियाँ
शान्त पानी में :
'नदी किनारे रेती पर आता है कोई दिन में?
कवि बने हो! युक्तियाँ हैं सभी थोथी—
निरा शब्दों का विलास है।'

काली तब पड़ गयी साँझ की लाल सुनहली रेख।
साँस ज्यों स्निग्ध होती है—
मौन ही है गोद जिसमें
अनकही कुल व्यथा सोती है।
मैं रह गया क्षितिज को अपलक देख।
और अन्त-स्वर रहा मन में—
'क्या जरूरी है दिखाना
तुम्हें यह जो दर्द
मेरे पास है!'

———

राय कृष्णदास

श्रीमैथिलीशरण गुप्त*

मैथिलीशरण की रचनाएँ पढ़कर लोग उनके कवि-रूप की जो कल्पना करते होंगे प्रत्यक्ष दर्शन में उन्हें उससे बिल्कुल भिन्न पाते हैं। प्रायः ऐसा हुआ है कि जब लोगों ने उनका परिचय पाया है तो आश्चर्य-चकित रह गये हैं कि 'एँ! यही गुप्तजी हैं?'

सन् १९११ ई० में, जब वह पहले पहल मेरे अतिथि होकर आये, तब बुंदेलखंडी वैश्यों की पगड़ी, छकलिया अंगा, दुपट्टा और पायजामा—यही उनका परिधान था। माथे पर सांप्रदायिक तिलक, बड़ी-बड़ी विचक्षण आँखें, मूँछें, साँवला रंग, इकहरा शरीर। स्वभाव की नम्रता उस समय भी प्रभावित किये बिना न रहती थी। बहुत दिनों तक यही उनकी वेशभूषा रही; अंगे के साथ प्रायः धोती भी पहन लिया करते। फिर अंगे का स्थान कुरते ने लिया, किंतु दुपट्टा और पगड़ी ज्यों-की त्यों रही। सन् '२८ में जबसे खादी ग्रहण किया तबसे पगड़ी कुछ और भारी होने लगी; तभी कुछ समय के लिए दाढ़ी भी रख ली थी। सन् '४१ में उस गिरफ्तारी के बाद, जिसका कारण आज तक भी स्पष्ट नहीं हो सका है, उन्होंने पगड़ी का परित्याग कर दिया, तबसे गाँधी टोपी ही पहनते हैं; बीच-बीच में अद्धा कुरता और अँगिया पर ही रह जाते हैं। दाढ़ी-मोछ अब साफ है। अपरिचित के लिए सहसा उन्हें देखकर ही यह कल्पना कर लेना असंभव है कि यह व्यक्ति वही मैथिलीशरण गुप्त हैं, जिसे काशीप्रसाद जायसवाल ने 'द्विवेदी-युग की सबसे बड़ी देन' कहा था और जिसका काव्य-शरीर पिछली तिहाई शताब्दी के साहित्यिक कर्तृत्व पर अविच्छिन्न रूप से छाया हुआ है।

किंतु थोड़े-से भी परिचय से प्रकट होने लगता है कि वह अतिशय सीधा-सादा बहिरंग एक गंभीर प्रभावशाली और गुथीले व्यक्तित्व को छिपाये है। जो अपने सहज खुले मन से कुछ क्षणों में ही अजनबी से अपनापा स्थापित कर लेता है—और अनिवार्यतः हर किसीसे अपनत्व स्थापित कर लेने की प्रवृत्ति और प्रतिभा रखता है—वही उपयुक्त अवसर पर मार्मिक और चुटीला व्यंग्य भी कर सकता है। जिसकी शालीनता और आत्मविश्वास इतना गहरा है कि किसीके भी आगे झुककर छोटा नहीं

---

*इस लेख के साथ के चित्र समय-समय पर श्रीवात्स्यायन द्वारा लिये गये हैं, और उन्हींके दिये हुए शीर्षकों के साथ प्रकाशित हो रहे हैं। चित्रों का कापीराइट सुरक्षित है। —सं०

होता, किंतु मौलिक या सैद्धांतिक प्रश्नों पर कभी तनिक-सा भी नहीं काँपता, जो एक ओर परंपरावादी कवि प्रसिद्ध है, लेकिन दूसरी ओर चालीस वर्षों से निरंतर अपने उदार दृष्टिकोण के कारण प्रगति प्रेरक रहा है और विरोधियों को प्रभावित करता रहा है।

'दद्दा'
कवि मैथिलीशरण
(अगस्त, १९४२)
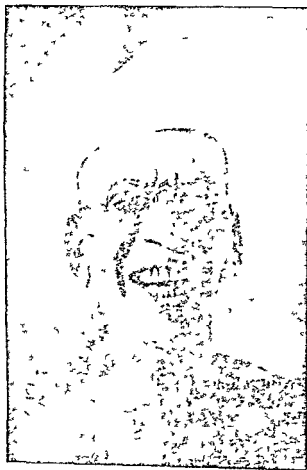
गुप्तजी की शालीनता का एक उदाहरण 'अज्ञेयजी' से सुना है। 'अज्ञेयजी' जेल और नजरबंदी से मुक्त होकर सन् '३५ में गुप्तजी के दर्शन करने चिरगाँव गये और उनके अतिथि होकर रहे। उससे पहले उनका कोई परिचय नहीं था, केवल जेल में थोड़ा-सा पत्र-व्यवहार जैनेंद्रजी की मध्यस्थता से हुआ था। 'अज्ञेय' की रचनाएँ भी तब तक प्रकाश में नहीं आयी थीं, चिरगाँव में ही गुप्तजी ने हस्त लिखित 'शेखर' पढ़ा। दो तीन दिन में गुप्तजी ने उनसे अपनापा स्थापित कर लिया। 'अज्ञेय' ने अपने क्रांतिकारी-जीवन की बहुत-सी बातें भी उन्हें सुनायीं—जिसमें मुसलमान होकर रहने का भी उल्लेख था। 'अज्ञेय' जब लौटने लगे, तब गुप्तजी उन्हें विदा करने दूर तक आये। 'अज्ञेय' ने जब उन्हें आग्रहपूर्वक लौट जाने के लिए कहा तब वे सहसा बोले,

"अच्छा, अज्ञेयजी, जो कुछ भी हो, आखिर तो ब्राह्मण हैं और हमारे प्रणम्य हैं"—और कहते-कहते पैरों की ओर झुक पड़े।

ऐसा सहज विनय दृढ़ आत्म-विश्वास और कर्त्तव्यनिष्ठा से ही उत्पन्न होता है। अपने साहित्यिक जीवनारंभ से ही उनपर बहुत बड़ा पारिवारिक दायित्व आ पड़ा था। उसमें साझा करनेवाले और भी हो सकते थे, पर मैथिलीशरणजी ने उसे अपने ही कंधों पर लिया। बल्कि उनकी साहित्य-साधना भी इस कर्त्तव्य के एक अंग के रूप में विकसित हुई। उनके काव्य में निरंतर कर्त्तव्य का स्वर बोलता है; बल्कि यह कहा जाय कि गुप्तजी कर्त्तव्य के कवि हैं, तो अत्युक्ति न होगी। गुप्तजी की 'रंग में भंग' इंडियन प्रेस से छप चुकी थी, 'कविता-कलाप' में भी अधिकांश उन्हींकी कविताएँ छपी थीं। इनके लिए उन्हें रायल्टी आदि कुछ नहीं मिली थी, 'रंग में भंग' की केवल ५० प्रतियाँ उन्हें मिली थीं। जब 'जयद्रथ-वध' के प्रकाशन की बात हुई तो इंडियन प्रेस ने उन्हें ५०) देने को कहा। महावीरप्रसाद द्विवेदीजी ने इसकी सूचना गुप्तजी को देते हुए लिखा कि '८-७ प्रतियाँ भी वह देगा ही'। नागपुर के कोई प्रकाशक १००) देते थे, पर द्विवेदीजी ने राय दी कि 'औरों के १००) से इंडियन प्रेस के ५०) अच्छे।' गुप्तजी के चचा श्रीभगवानदास ने, जिन्हें काव्य से प्रेम भी था और जो पुस्तकें छापकर बाँटने का भी शौक रखते थे, विचार किया कि पुस्तक को स्वयं क्यों न छापा जाय? इसमें द्विवेदीजी भी अप्रसन्न न होंगे, स्वयं प्रकाशन का प्रयोग भी करके देख लिया जायगा, और पुस्तकें बाँटने का शौक भी पूरा हो सकेगा—'रंग में भंग' की प्रतियाँ खरीदकर बाँटनी पड़ी थीं। १५०) की लागत से इंडियन प्रेस से ही पुस्तक की छः सौ प्रतियाँ छपीं। एक सौ प्रतियाँ बाँटी गयीं, और बाकी हाथों-हाथ बिक गयीं। इससे उत्साहित होकर और भी प्रकाशन स्वयं किये गये—कुछ इस आशा से भी कि अब तक जो थोड़ी-थोड़ी जायदाद बेचकर सूद चुकाना पड़ता है, इसकी बजाय प्रकाशन की आमदनी काम आ सकेगी। अब तक 'जयद्रथ-वध' और 'पंचवटी' की दो दो लाख से अधिक प्रतियाँ बिकी होंगी; 'भारत-भारती' की डेढ़ लाख। किंतु प्रकाशन की आमदनी निरंतर ऋण-शोध में झोंकते रहकर भी मुक्ति पाने में गुप्तजी को तीस वर्ष लग गये।

कर्त्तव्य-भावना के साथ-साथ साहस का एक उदाहरण देना उचित होगा। चिरगाँव में अपनी जमीन में सिंचाई के लिए गुप्तजी ने बिजली का इंजन लगवाया था। एक दिन जब दो लड़के कुएँ के भीतर काम कर रहे थे, और ऊपर इंजन चल रहा था, तब अचानक इंजन का पट्टा उतर गया। मोटर बहुत जोर से चलने लगा और कुएँ के ऊपर इंजन वाला समूचा चौखटा ऐसे जोरों से हिलने लगा कि अब गया, अब गया। मोटर का स्विच कुएँ के अंदर ही था। गुप्तजी ने देखा, तो भीतर काम करते हुए

लड़कों का ध्यान करके अपना जोखिम भूलकर कुएँ के अंदर उतर गये और वहाँ से स्विच बंद करके मोटर रोक दिया।

बिजली के मोटर के उल्लेख से सहसा गुप्तजी के यंत्र प्रेम की ओर ध्यान जाता है। परम वैष्णव कवि में यंत्रों के बारे में बड़ा कौतूहल और उत्साह है। अच्छे कार्य दक्ष यंत्र से गुप्तजी बहुत प्रभावित होते हैं—इसका एक नमूना उनके प्रेस का यंत्र-संग्रह है। चिरगाँव-जैसे छोटे स्थान में प्रेस की आवश्यकताएँ सीमित होती हैं और अपनी आवश्यकता की अपेक्षा म बहुत बड़ी और दामी मशीनें लगाना व्यावहारिक बुद्धि के सर्वथा प्रतिकूल है—मशीन से पूरा काम न लिया जाय तो वह खराब हो जाती है—फिर भी कलकत्ते में एकाधिक बार अच्छी और बड़ी मशीन देखकर गुप्तजी ने उसे खरीद लिया है और चिरगाँव लाकर डाल दिया है। आने जानेवालों को वह ये मशीनें बड़े उत्साह से दिखाते हैं और उसकी एक-एक विशेषता समझाते हैं। किसी प्रेस के बारे में इस बात का आनंद उनके लिए कभी कम नहीं होता कि वह एक दिन में साठ हजार छाप दे देती है—वह यह बिल्कुल भूल जाते हैं कि ऐसी मशीन के लायक काम उनके पास नहीं है, और उनके प्रेस की साल-भर की निकासी वह सात दिन में कर के रख देगी और बाकी ३५८ दिन बंद पड़ी रहेगी। अपनी ही आवश्यकता के लिए उन्होंने टाइप फाँड्री भी लगायी, और अपना टाइप ढालने के उत्साह में इतना सामान जुटा लिया कि उससे बड़े मजे

श्री सुमित्रानंदन पंत गुप्त बंधुओं के हाथ देख रहे हैं, राय कृष्णदास उदा सीन पीछे लेटे हैं।
(चिरगाँव, १९४७)

में टाइप फाँड्री का व्यवसाय चल सकता। यंत्र के पास बैठकर उसका एक एक गुर समझ लेना उनके लिए अनिवार्य हो जाता है, और फिर उनमें ज्ञानदान की ऐसी प्रबल इच्छा रहती है कि वह हर किसी को बड़े धैर्य के साथ हर बात समझाते भी रहते हैं। वह भी ऐसे सहज निराडंबर ढंग से कि अनपढ़ देहाती भी कभी यह न अनुभव करे कि वह अज्ञ है और उसे कुछ सिखाया जा रहा है।

तब इधर उधर की अनेक बातों में रस लेकर भी अपने साहित्य निर्माण के समय का गुप्तजी कड़ाई से पालन करते हैं। बल्कि कहा जाय कि उन्होंने जो जो काम उठाये,

कवि-सुहृद्
राय कृष्णदास
[काशी, १९४८]

चा०

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त
[स्वर्ण-जयंती के अवसर पर काशी में, १९३६]

वा०

कवि मैथिलीशरण
[चिरगाँव, १९३५]

वा०

कवि महोन्र
सियारामशरण [नापू ']
[चिरगॉन १०८७]
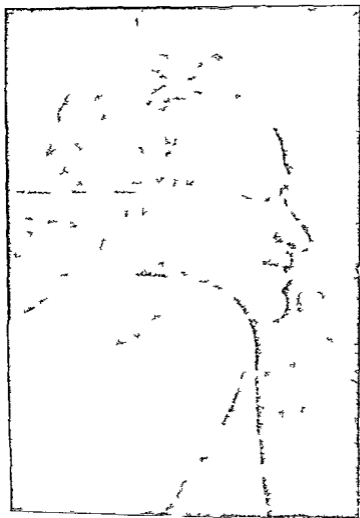
उनमें से यही एक बिना व्याघात के पूरा होता रहा है, और सब काम अधूरे ही रह गये हैं। सितार बजाने का उन्हें बहुत शौक था और उसका बहुत अभ्यास भी करते रहे, पर फिर वह छूटा और ऐसा छूटा कि 'अब तो सितार के सुरों की अपेक्षा यंत्र को सुर से ही अपना परिचय अधिक है!' यों संगीत से उन्हें बराबर प्रेम रहा और है, और मुंशी अजमेरी से उनकी गहरी मित्रता का एक कारण यह भी था। संगीत ही नहीं, अच्छे चित्रों से भी उन्हें बहुत प्रेम है, और ब्रजभाषा-साहित्य से तो है ही।
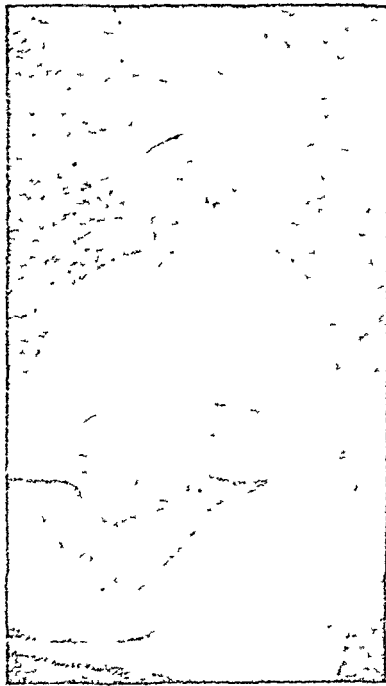
कवि के अनन्य बंधु स्व० मुंशी अजमेरी

किंतु गुप्तजी की भावुकता बहुत दुराराध्य है। कविता हो या चित्र, गान हो या अभिनय, अनुकरण हो या परिहास, चीज उनको तभी जँचेगी, जब वह सवा सोलह आना खरी हो। इस संबंध में मेरा उनका सदैव मतभेद रहा है और रहेगा। मैं चाहता हूँ कि उससे जितना रस मिले वे ग्रहण करें, किंतु मैं उन्हें अपने मार्ग पर कभी नहीं ला सका। इत्यम्, जब मैं किसी रचना से परितुष्ट होता हूँ और वे उसकी उपेक्षा करते हैं, तो मुझे दुःख भी होता है; किंतु उस कष्ट के भीतर यह आनंद भी रहता है कि कितनी उत्कृष्ट है इनकी आस्वाद-प्रवृत्ति!

गुप्तजी का सामाजिक व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक है। यह तो कहा जा चुका कि सब तरह के, सब श्रेणियों और वर्गों के लोगों से सहज अपनापन स्थापित करने की उनमें असाधारण क्षमता है। आजकल के पढ़े-लिखों की भाँति अनपढ़ ग्रामीणों के बीच उन्हें विषमता से घबराहट नहीं होती, न उन पर वैसी अनुकंपा दिखाने की आवश्यता पड़ती है, जो वास्तव में अवज्ञा का दूसरा रूप है—मेल-जोल सहज मानवीय समानता के स्तर पर होता है। न वे पद या धन के सामने अतिरिक्त रूप से विनीत होते हैं—उनका सहज नैसर्गिक विनय सबको समान रूप से अपनाता है। हाँ, जिनपर उनका स्नेह है, उनके सुख-दुःख में वे पूरा भाग लेते हैं, और समय-समय पर उन्हें सलाह और सहायता

भी देते रहते हैं। ठीक समय पर किसीकी परिस्थिति को समझ और ध्यान में रखकर उचित परामर्श दे सकना और सहायता पहुँचाना एक बहुत बड़ी बात है और जिनका गुप्तजी से निकट परिचय रहा है वह उनके इस गुण के अनेक उदाहरण दे सकेंगे। बच्चों से भी उन्हें बहुत स्नेह है और आसानी से उनमें हिल मिल जाते हैं यद्यपि वे शासन प्रिय भी बहुत हैं और बच्चों को स्वच्छंद छोड़ना उन्हें बिलकुल पसंद नहीं है।

मैथिलीशरण के विश्लेषण के लिए 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि लोकोत्तरा विचेतासि' वाली पंक्ति सम्प्रत सर्वोत्कृष्ट कसौटी है और उनके व्यक्तित्व की यही द्वैतता इतनी रमणीय है कि वह एक स्थायी स्नेहबंधन बनकर संपर्क में आनेवाले को हठात् आनंद कर लेती है।
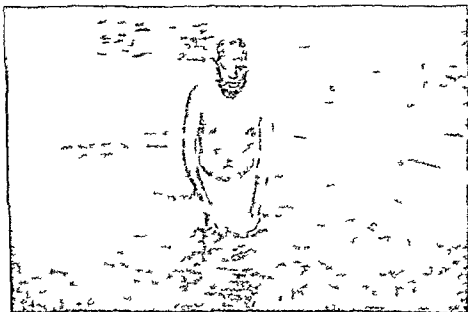
'हे क्षणभंगुर मन राम राम !'
(चिरगाँव के निकट बेतवा पर १९४७)

विश्वनाथ नरवणे

हेगेल का इतिहास-दर्शन

१

इतिहास के पंडितों में आजकल एक नया फैशन प्रचलित हो चला है।

जो मध्यमवर्गीय इतिहास-लेखक अब तक बड़े-बड़े 'दर्शन' और 'तत्त्व' गढ़ने में व्यस्त थे, अब यकायक कहने लगे हैं कि इतिहास में दर्शन के लिए, 'दृष्टिकोण' के लिए, कोई स्थान नहीं। इतिहास घटनाओं की खोज है।

आखिर इतिहास-दर्शन से एकदम इतनी विरक्ति क्यों? पूँजीवादी सभ्यता के इस अवनति-काल में अन्न-वस्त्र की कमी हो सकती है, लेकिन तत्वों और 'दृष्टिकोणों' की कमी नहीं। इतिहास के क्षेत्र में तो मध्यमवर्गीय लेखकों ने अगणित 'तत्व' निर्माण किये हैं—उनके ग्रंथ दृष्टिकोणों से भरे पड़े हैं। जिस अवसर पर जैसी जरूरत हुई, लेखक के झोले से, 'रेडीमेड' कपड़े की तरह एक संतोषजनक 'दृष्टिकोण' निकल आया करता था। और इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। टूटती हुई समाज-व्यवस्था का समर्थन जब व्यावहारिक जगत् में असंभव हो जाता है, तो दर्शन का सहारा लेना ही पड़ता है।

लेकिन मुश्किल यह है कि दर्शन या थ्योरी का औज़ार अपने विरुद्ध भी तो चलाया जा सकता है! अगर एक 'दृष्टिकोण' काल्पनिक या रोमांटिक हो, तो दूसरा भौतिकवादी भी हो सकता है। अगर एक इतिहास-तत्व कार्लाइल और टोएनबी का है, तो दूसरा मार्क्स का भी है। अगर मध्यमवर्ग के पास बौद्धिक और दार्शनिक शस्त्र हैं, तो जिसके हाथ में संसार का भविष्य है, उस श्रमजीवी-वर्ग का भी अपना एक दर्शन, अपना एक दृष्टिकोण है।

पिछले पचास बरसों में तो इस दर्शन का, द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का, मार्क्सवाद का, इतनी तेजी से प्रचार हुआ कि स्वयं पूँजीवादी लेखकों के लिए भी उसकी अवहेलना करना मुश्किल हो गया। सिर्फ श्रमजीवी ही नहीं, मध्यमवर्ग का भी एक हिस्सा इस नयी विचारधारा की ओर आकर्षित हुआ। खास तौर से इतिहास की तरफ़ देखने की मार्क्सवादी पद्धति इतनी विज्ञान-संगत मालूम हुई कि मध्यमवर्ग के लिए इतिहास-दर्शन सहारे के बदले एक नयी आफत हो गयी।

यही कारण है कि आज पूँजीवादी इतिहास-शास्त्र "आत्महत्या करके जीवित रहने" की कोशिश कर रहा है, और इतिहास को नियमबद्ध करने के प्रयत्न को ही वृथा और "अवैज्ञानिक" बतलाया जा रहा है।

लेकिन पता नहीं, इन लेखकों में से कितने इस बात पर भी ध्यान देते हैं कि जिसको खतम करने का आज वे प्रयत्न कर रहे हैं वह इतिहास-दर्शन स्वयं उन्हींके वर्ग की विश्व-संस्कृति का एक बहुत बड़ी देन है। इतिहास में एक युग ऐसा भी था, जब पूँजीवादी समाज-व्यवस्था—और उसके साथ-साथ पूँजीवादी दर्शन भी—आज की तरह विकृत और जीर्ण नहीं बल्कि उन्नत प्रगतिशील और पुष्ट थे।

और इस दर्शन के सभी अंगों में से उच्चतम स्थान इतिहास-दर्शन का है—खास तौर से हेगेल के इतिहास दर्शन का। मार्क्स के भूत से भागते हुए आज के इतिहास लेखक अपनी घबराहट में हेगेल को भी कुचल रहे हैं। लेकिन मार्क्सवादी खुद हेगेल के महत्त्व को समझते हैं। वे जानते हैं कि पूँजीवाद की प्रगति के काल में उसके दर्शन में जो गुण थे वे सब हेगेल के इतिहास दर्शन में पूर्ण रूप से प्रतिबिंबित हैं—ये गुण हैं, व्यापकता मानसिक रूढ़ियों से आज़ादी और अस्तित्व का गंभीर चिंताशील और सुसंगत विवेचन।

२

इतिहास केवल महापुरुषों की चरितावली नहीं, घटनाओं का एक दूसरे से असंबंधित समूह नहीं, यह विचार तो सोलहवीं शताब्दी के बाद से ही धीरे धीरे सर्व स्वीकृत हो चला था। लेकिन विश्व इतिहास के सभी युगों को एक सूत्र में बाँधकर उन्हें एक व्यवस्था प्रदान करने का काम हेगेल के पहले किसी ने नहीं किया था। वॉल्तेयर का 'इतिहास दर्शन' तो प्रकाशित हो चुका था, लेकिन ठीक अर्थ में सर्वप्रथम "इतिहास-दार्शनिक" हेगेल को ही कहना पड़ेगा।

चूँकि हेगेल इस क्षेत्र में पथ-परिष्कारक था, उसके लिए यह आवश्यक सा था कि इतिहास की इस दर्शनात्मक व्याख्या को समझाया जाय। अतएव 'इतिहास दर्शन' की भूमिका में हेगेल ने पहले अपनी पद्धति के लिए सफाई दी है।

हेगेल कहता है कि ऐतिहासिक रचनाएँ तीन प्रकार की हुई हैं—(१) आरंभि (original), (२) चिंतात्मक (reflective) (३) दर्शनात्मक (philosophical)

(१) आरंभिक इतिहास के उदाहरण स्वरूप हेरोडोटस और थ्यूसिडिडीज़ के सभं ग्रंथों को लिया जा सकता है। इस श्रेणी के इतिहास में, जो कुछ दुनिया के अंदर हो रह हो, या हाल में हो चुका हो, उसे बौद्धिक जगत् में स्थानांतरित कर दिया जाता है। एक बाह्य घटना को आंतरिक धारणा के रूप में अनुवादित मान कर देना आरंभिक इतिहास के लिए संभव है। ऐसे इतिहास लेखक को आलोचना या चिंता की आवश्यकता ही नहीं मालूम होती, क्योंकि वह अपने विषय के ही स्तर पर है उससे ऊँचा नहीं उठा है।

(२) इतिहास चिंतात्मक हो जाता है तभी जब कि वर्तमान से ऊपर उठने की क्षमता लेखक में हो। अब इतिहास केवल घटनाओं का वर्णन न रहकर आलोचनात्मक बनने लगता है, और इसलिए यह दूसरी श्रेणी का इतिहास एक अगला कदम है। लेकिन यह इतिहास भी स्वगतविरोध से मुक्त नहीं—उसका उन्नतिलक्षण स्वयं एक रुकावट बन जाता है। यदि आरंभिक इतिहास केवल घटनाओं पर ही ध्यान देता था, तो चिंतात्मक इतिहास के लेखक घटनाओं को भूलने लगते हैं। ऐसे लेखकों का विषय इतिहास नहीं बल्कि "कैसे इतिहास लिखा जाय" होता है। प्रायः यह भी देखा जाता है कि उनका मन बराबर ग्रीस और रोम की तरफ दौड़ता है। जिस देश या सभ्यता के बारे में लेखक लिखने निकला था, वह तो अलग रह जाते हैं और ग्रीस और रोम का इतिहास—जिसे पहले कसौटी की तौर पर उपस्थित किया गया था—धीरे-धीरे उसका मुख्य विषय बन जाता है।

इस तरह के इतिहास में लेखक अपने को शिक्षक समझने लगता है, और उसके ग्रंथ उपदेश और लेकचरबाजी से परिपूर्ण रहते हैं—उदाहरणस्वरूप लीजिये जोहान्स फॉन मूलर का "स्वित्जरलैंड का इतिहास।" आलोचना के नाम पर वहाँ इतिहास नहीं बल्कि "इतिहास का इतिहास" लिखा जाता है। अपनी पद्धति को उच्च समझने के कारण ऐसे लेखक अऐतिहासिक और विकृत रचनाओं को भी पाठकों के सामने रखने में नहीं हिचकिचाते।

(३) आखिर यह हालत हो जाती है कि चिंतात्मक इतिहास सर्वतया जटिल और अवास्तव हो जाता है। उसे एक उच्चतर श्रेणी के इतिहास के सामने पराभूत होकर विलीन होना ही पड़ता है। यह तृतीय, उच्चतम श्रेणी है दर्शनात्मक इतिहास।

अगर आरंभिक इतिहास 'स्थापना' (thesis) और चिंतात्मक इतिहास 'प्रति-स्थापना' (anti-thesis) है, तो दर्शनात्मक इतिहास उन दोनों का समन्वय (synthesis) है।

३

लेकिन फिर वही प्रश्न उठता है, जिसे लेकर हम चले थे। क्या इतिहास के क्षेत्र में हमें यह अधिकार है भी कि वास्तव के अतिरिक्त किसी विचार या आलोचना में अपने को उलझा लें?

इस समस्या का हल हेगेल ने यह दिया कि जहाँ हम नितांत विरोध देखते हैं वहाँ वास्तव में कोई विरोध नहीं है। 'विचार' और 'वास्तव' चिरविरोधी हैं, यह सिद्धांत ही हेगेल ने मान्य नहीं किया। दर्शन में 'जो है' (is) और "जिसे होना चाहिये" (ought) इनका द्वैतवाद बहुत पुराना है, लेकिन कांट ने इस द्वैतवाद को चरम सीमा तक पहुँचा दिया था। वस्तुएँ जैसी हैं, और वस्तुएँ जैसी कि वे हमें प्रतीत होती

है—इन दो हिस्सों में कांट ने विश्व को एकदम विभाजित कर दिया। इसी विभाजन का खंडन हेगेलीय दर्शन का मुख्य उद्देश्य था।

इसीलिए हेगेल के दर्शन का परम सूत्र है :—"जो वास्तव है वही युक्तिसंगत है, और जो युक्तिसंगत है वही वास्तव है" (दि रियल इज़ दि राशनल एंड दि राशनल इज दि रियल) और इसी तत्व के आधार पर उसने इतिहास के क्षेत्र में प्रकृति (nature) और बुद्धि (mind) का समन्वय करने का प्रयत्न किया ताकि ध्येय या आइडियल केवल ध्येय ही न रह जाय, बल्कि वास्तव के हृदय में ही ध्येय का चिर अस्तित्व हो और ध्येय की ओर वास्तव की चिर दृष्टि हो।

ऊपर हमने दो शब्दों का प्रयोग किया—प्रकृति और बुद्धि। लेकिन यह समझना जरूरी है कि हेगेल के अनुसार ये दोनों अविच्छिन्न हैं। दोनों ही स्पिरिट या आत्मा के प्रकाश स्वरूप हैं। उनमें फर्क है लेकिन विरोध नहीं। प्रकृति है वस्तुओं की व्यवस्था—उन वस्तुओं की जो एक दूसरे से देश (space) में पृथक हों। और इतिहास है घटनाओं की व्यवस्था—उन घटनाओं की जो एक दूसरे से काल (time) में पृथक हों।

प्रकृति और मानव-इतिहास दोनों ही वास्तव हैं। फिर दोनों में भेद क्या है? सिर्फ यही कि जहाँ प्रकृति केवल वास्तव का जगत् है, इतिहास की सामग्री केवल वास्तव नहीं, अर्थपूर्ण वास्तव है। इसलिए जहाँ प्रकृति में पुनरावृत्ति है, इतिहास में केवल पुनरावृत्ति नहीं, प्रगति और उन्नति है।

यही है हेगेल के इतिहास-दर्शन का मूलभूत सिद्धांत। इसी निरंतर उन्नति या परिवर्तन की कल्पना की नींव पर ही हेगेल-दर्शन का विशाल प्रासाद खड़ा है। लेकिन इसका महत्व मध्यमवर्गीय आलोचकों से कहीं अधिक मार्क्स ने देखा—उसने कहा कि हेगेल की यह कल्पना "भाववादी छिलके" के अंदर छिपा हुआ एक अत्यंत महत्वपूर्ण बीज है। क्या हेगेल के दर्शन का इससे ज्यादा संक्षिप्त और सत्य वर्णन भी कोई हो सकता है?

४

प्रगति-कल्पना को हेगेल ने इस तरह समझाया—"परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के मिलन में प्रगति है।" सुविख्यात 'द्वंद्ववादी पद्धति' (dialectical method) और कुछ नहीं, इसी प्रगति कल्पना का दार्शनिक रूप है।

प्रत्येक वस्तु, विचार या प्रकृति अपनी आंतरिक आवश्यकता से अपने ही विरोध की ओर बढ़ती है। इस स्वगत विरोधा-मुख गति से कोई चीज, कोई विचार नहीं बच सकता। ऐसे चीज का अस्तित्व ही असंभव है जिसमें उसी के विनाश के बीज न हों। और जब ये बीज अंकुरित होते हैं, तब वह वस्तु और उसका विरोध दोनों ही विलीन होकर एक ऊँचे स्तर पर दोनों की पुनर्रचना होती है। जिस विरोध का सामना किसी

वस्तु को करना पड़ता है, उसी की सहायता से वह अपने-आपको एक नये—अधिक समाधानकारक—रूप में बदल देती है।

यह विचार एकदम नया तो नहीं है। बौद्धदर्शन में और एरिस्टोटल के दर्शन में भी इसका आभास मिलता है। लेकिन हेगेल ने इस विचार को अपने दर्शन के प्रत्येक अंग का मूलभूत सिद्धांत माना।

प्रगति की इस द्वंद्वात्मक व्याख्या का प्रभाव सबसे अधिक इतिहास-दर्शन पर पड़ा। इसका कारण साफ है। एक तो, जितनी आसानी से इतिहास में हम स्वगत-विरोध देख सकते हैं उतनी जल्दी नीतिशास्त्र या सौंदर्य-दर्शन में नहीं देख पाते। अगर यह कहा जाय कि "पाप स्वयम् अपने स्वगत-विरोध से पुण्य को जन्म देता है!" या "असुंदर अपने विरोध के द्वारा सुंदर का कारण बनता है!" तो ये विचार जटिल और कृत्रिम मालूम होते हैं। लेकिन यह स्वीकार करने में कोई खास आपत्ति नहीं मालूम होती कि मानव-इतिहास में, संघात या क्लेश अक्सर उन्नति-सोपान की अपरिहार्य प्रथम सीढ़ी होती है।

दूसरे, यह भी देखना है कि द्वंद्वात्मक व्याख्या को अपनाने से हमारा इतिहास की घटनाओं की ओर देखने का तरीका बिल्कुल बदल जाता है। उसके जरिये एक नया मापदंड निर्माण हो जाता है। संघर्ष या रुकावट को अब हम दुर्घटना नहीं समझते। अगर सत्य "परस्पर-विरोधी शक्तियों का ऐक्य" है तो संघर्ष उन्नति का शत्रु नहीं वरन् उन्नति का ही एक नियम है। होमर ने अपने "इलियड" में एक जगह लिखा—"हे भगवान्! अगर संसार से संघर्ष उठ जाय तो कितना सुंदर हो!" इसे पढ़कर हिरेक्लिटस बहुत नाराज हुआ और बोला कि होमर की इच्छापूर्ति का अर्थ होगा मानव-जीवन का अंत! हेगेल के अनुसार कष्ट और दर्द का अस्तित्व भी अकारण नहीं। विश्व-इतिहास के पन्ने उलटें तो पता चलेगा कि निर्जीव समाधान और संतोष के युग गौरवहीन और फीके थे। इतिहास बनता है असंतोष और संघर्ष से, जब निरंतर परिवर्तन के बीच समाज के अंतर्गत विरोध ही समाज को क्रमशः ऊँचा उठाते जाते हैं।

५

पूछा जा सकता है कि यदि हेगेल ने परिवर्तन पर इतना जोर दिया तो उसे 'भाववादी' (realist) कैसे कहा जाय? क्या भाववाद ने परिवर्तनशीलता का सदैव विरोध नहीं किया? यह सर्वविदित है कि दर्शन के इतिहास में भाववादी और परिवर्तनवादी विरुद्ध दलों में रहे हैं। पहले पक्ष ने परिवर्तन को मिथ्या, दूसरे ने उसे सत्य बताया है। एक ओर एरिस्टोटल, दूसरी ओर प्लेटो, एक ओर बौद्ध दूसरी ओर वेदांतवादी, एक ओर "स्थिर अस्तित्व" (being) के पुजारी तो दूसरी ओर (flux) या गति को परम-सत्य मानने-

वाले—और हर बार भाववादी एक ही दल की तरफ झुके। ऐसा होते हुए हम हेगेल को भाववादी कैसे कह सकते हैं?

और दरअसल हेगेल-दर्शन में यह कठिनाई है। लेकिन 'परिवर्तन' और 'स्थिर अस्तित्व' इन दोनों का समन्वय कराने का प्रयत्न हेगेल ने अवश्य किया—और यह भी भाववाद के दायरे के अंदर रहते हुए। परिवर्तन की क्रिया सत्य है, लेकिन उसके उपादान 'परम भाव (absolute idea) या 'परम आत्मा (absolute spirit) के आविर्भाव मात्र हैं। ['परम आत्मा' या 'परम भाव' का हेगेल-दर्शन में सिर्फ 'परम' या ऐब्सॉल्यूट भी कहा जाता है] 'परम' है विशुद्ध अस्तित्व' (pure being)। इतिहास—अतीत, वर्तमान और भविष्य का क्रम—'परम' का ही आत्म विकास है, उसकी निरंतर साधना है और यह साधना परिवर्तन के बीच होते हुए भी उसके अंतर में शांति और सामंजस्य है। इस तरह हेगेल ने भाववाद और परिवर्तनवाद का मिलन कराया और विश्व-इतिहास की घटनाओं का परम (absolute) की अपनी ही परिणति के साधन बताया। स्वयम् परम (absolute) के लिए अतीत और भविष्य दोनों वर्तमान हैं।

इससे यह साफ हो जाता है कि न सिर्फ हेगेल को भाववादी कहना ठीक होगा, वरन् उसके दर्शन को भाववाद का सबसे शक्तिशाली अस्त्र समझना चाहिए। जहाँ दूसरों ने परिणति और गति एकदम ही मिथ्या बताकर भाववाद को एक प्रकार से कमजोर बनाया, हेगेल ने आत्मविश्वास के साथ आगे बढ़कर परिवर्तन के स्रोत को स्वीकार करते हुए भाववाद को बलिष्ठ किया। स्पिनोज़ा या शंकराचार्य का भाववाद जो परिणति को मानता ही न था, विज्ञान की बढ़ती हुई ताकत के सामने बिलकुल टूट चुका था। फ्रांस की क्रांति (सन् १७८९) के सभी दार्शनिकों ने—हेल्वेशियस, दीदेरो, ला मेत्री ने—विज्ञान और इतिहास के क्षेत्र में भौतिकवाद के पैर जमा दिये थे। इनका भौतिकवाद "यांत्रिक" होते हुए भी भाववाद की इमारत को हिला देने के लिए काफी था। भाववाद को फिर से प्रस्थापित करने के लिए पुराने, रहस्यवादी दर्शन के बदले एक ऐसे नये दर्शन की जरूरत थी जो 'परिवर्तन' के जहर को हजम करके भौतिकवाद के बढ़ते हुए आक्रमण का सामना कर सके।

ऐसे दर्शन का निर्माण ही हेगेल की ऐतिहासिक जिम्मेदारी थी, और उसके इतिहास दर्शन में हमें इसी प्रकार का भाववाद मिलता है।

द्वंद्विक पद्धति से खुश होकर हेगेल-दर्शन के इस अंग को भूल जाना निरा बचपन होगा। आखिर हेगेल था तो पूँजीवादी दर्शन का सबसे बड़ा प्रतिनिधि—और यह दर्शन भाववाद के ही रूप में जीवित रह सकता है। 'समाजवादी' आलोचकों में भी ऐसे लोग हैं जो हेगेल को 'प्रगतिशील' मानते हैं और मार्क्स को हेगेल का ऋणी बताते हैं।

लेकिन हेगेल के इतिहास-दर्शन के बारे में मार्क्सवादियों का रुख साफ़ है। हेगेलीय-दर्शन को मध्यमवर्गीय संस्कृति का सबसे ऊँचा नमूना मानते हुए भी, मार्क्स ने साफ़-साफ़ लिखा है :—

"मेरी द्वांद्विक पद्धति हेगेल की पद्धति से सिर्फ अलग ही नहीं, उसके एकदम विपरीत है। हेगेल के अनुसार, विचारों की धारा (जिसे वह 'आइडिया' के नाम से एक स्वतंत्र वस्तु बना देता है), वास्तव जगत् का आधार है—और वास्तव जगत् है उसीका सिर्फ बहिरंग अशाश्वत स्वरूप। इसके विपरीत, मेरे विचार से, तथाकथित 'अशाश्वत' जगत् सत्य है, और 'आइडिया' या भाव हैं इसी भौतिक जगत् का मानव-मस्तिष्क में प्रतिबिंब"। (कार्ल मार्क्स, 'कैपिटाल' के द्वितीय जर्मन संस्करण की भूमिका)

६

हेगेल के इतिहास-दर्शन का पूर्ण या विस्तृत विवेचन एक छोटे-से लेख में करना असंभव है। लेकिन इस दर्शन के एक और पहलू के बारे में कुछ कहना आवश्यक है—यह है हेगेल की "स्वातंत्र्य-कल्पना"।

हमने देखा कि इतिहास में विकास और गति है। विश्व एक क्रियाहीन विधाता की निश्चल छाया नहीं—विश्व में, मानव-समाज में, क्रिया है।

लेकिन क्रिया भी दो प्रकार की हो सकती है—यांत्रिक और चेतन। यांत्रिक क्रिया का मतलब है रूढ़ि (custom), चेतन-क्रिया का मतलब है स्वातंत्र्य (freedom)।

जड़वस्तु का सत्व है गुरुत्व (gravity) और इसलिए उसमें आज़ादी नहीं। गुरुत्व का मतलब ही यह है कि एक वस्तु दूसरे वस्तु के खिंचाव पर निर्भर हो। लेकिन चेतना का सत्व है स्वातंत्र्य।

जड़वस्तु छोटे-छोटे हिस्सों का समूह होती है। इन हिस्सों में पार्थक्य अपरिहार्य है। वे ऐक्य की ओर बढ़ते हैं, लेकिन किसी भी जड़वस्तु के हिस्से कभी पूर्णरूप से "एक" नहीं हो पाते। वस्तु के लिए ऐक्य हमेशा आदर्श ही रह सकता है।

लेकिन चेतना के लिए ऐक्य निरा आदर्श नहीं, सत्य है। आत्मा का केंद्रबिंदु स्वयं आत्मा है, उसका अस्तित्व उसी के अंतर्गत है। 'परम' को, अपने विकासक्रम में, अपने स्वातंत्र्य की क्रमशः उपलब्धि होती रहती है। इसी उपलब्धि-क्रिया का नाम है विश्व-इतिहास। कुछ आलोचकों ने इस कल्पना को हेगेल के इतिहास-दर्शन का सबसे महत्त्व-पूर्ण हिस्सा बताया है। क्रोचे (Croce) के अनुसार "इतिहास आज़ादी की कहानी है (हिस्ट्री इज़ दि स्टोरी ऑफ़ लिबर्टी)।" समाज का विकास स्वातंत्र्य-कल्पना का विकास है।

इस दृष्टिकोण से हेगेल ने इतिहास के तीन हिस्से किये—(१) प्राच्य, (२) 'क्लासिकल'

(अर्थात् ग्रीक और रोमन), (३) आधुनिक यूरोपीय (हेगेल के शब्दों में 'जर्मनिक')

प्राच्य इतिहास में स्वातन्त्र्य की धारणा बहुत संकीर्ण है। सिर्फ एक व्यक्ति सार्वभौम राजा, स्वतन्त्र है। ग्रीक और रोमन सभ्यता में कुछ व्यक्ति स्वतन्त्र हैं, लेकिन दासप्रथा का अस्तित्व यह बताता है कि यहाँ भी अधिकतर लोगों के लिए स्वातन्त्र्य शब्द ही अर्थहीन है। लेकिन ईसा धर्म से प्रभावित होकर जो योरपीय सभ्यता बनी, उसमें इस बात को माना गया कि एक, या नहीं कुछ, बल्कि सभी मानव स्वतन्त्र हैं—मानवता के नाते।

आजादी की यह कल्पना सौ फीसदी मध्यमवर्गीय कल्पना है। इस वर्ग के लेखक हमेशा यह दावा करते आये हैं कि आधुनिक पूँजीवादी सभ्यता में "व्यक्ति-स्वातन्त्र्य" है। सामन्तवाद के दासत्व (serfdom) को तोड़कर पूँजीवाद ने 'आजाद मजदूर' (free wage labourer) का निर्माण किया। और इस प्रथा में हर आदमी आजाद है। अगर चाहे तो फैक्टरी में काम करने आये और अपना वेतन ले जाय, न चाहे तो घर पर (या सड़क पर) भूखा सो रहे। लेकिन है वह स्वतन्त्र। जबर्दस्ती उससे कोई काम नहीं करा सकता।

हमारा यह मतलब नहीं कि हेगेल का यह कथन "इतिहास आजादी का विकास है" निरा ढोंग है। मतलब सिर्फ यह है कि चाहे हेगेल ने इसे जाना हो या न जाना हो, उसका दर्शन पूँजीवादी समाज-व्यवस्था के समर्थन के लिए एक बौद्धिक हथियार है।

और यह दावा कि आधुनिक योरपीय सभ्यता में "सब स्वतन्त्र हैं" कहाँ तक सच है इसका पता आजकल तो हमें चल ही रहा है, हेगेल के शिष्यों को भी सौ वर्ष पहले ही इस आजादी का स्वाद मिल चुका था। उनकी आँखों के सामने ही हेगेल-दर्शन स्वयं जर्मन (प्रशियन) तानाशाही का आधार बन गया और इस तानाशाही ने पहला काम यह किया कि जर्मन विश्वविद्यालयों में जो हेगेलवादी प्रोफेसर लोग थे, उन्हें चुन-चुनकर निकाल बाहर किया।

इस तरह हर विचार धारा में स्वगत विरोध के बीज हैं।

कवि रवींद्र के प्रति

श्रद्धांजलि

मैथिलीशरण गुप्त

कवि ठाकुर ! मूर्ति तुम्हारी
निज ब्रह्मानंद निमग्ना,
रस-धारा हाय ! हमारी
क्यों स्रोत-विहीना भग्ना ?
भव-भाव-भारती दीना,
किसके विक्षोह में क्षीणा ?
हो गयी नियति-गति-लीना
कवि-किरण-रूपिणी वीणा !
यह गूँज रही है अब भी
गुरुदेव तुम्हारी वाणी,
चिर मौन कंठ वह तब भी
रुक गयी कथा कल्याणी।
हे गीतकार ! मथ डाले
सुरवाले सात समुंदर
तुमने चुन तीन निकाले
शुचि रत्न सत्य-शिव-सुंदर !
हे प्राचि, आज तप तप कर
यह अस्त हुआ रवि तेरा,
कहना है विश्व कलप कर
'हा ! कहाँ गया कवि मेरा ?'

———

कवींद्र के प्रति

सुमित्रानंदन पंत

श्रद्धांजलि स्वीकार करें गुरुदेव शिष्य की
आज श्राद्ध वासर के वाष्प नयन अवसर पर,
पुण्यस्मृति से मेरे सजल लोचन बरसाते
स्नेह द्रवित आनंद अश्रु पावन चरणों पर,—
मौन स्वप्न पथ से बढ़ते जो चरण हृदय में !

और आज क्या श्रद्धांजलि दूँ ? इस धरती के
जीवन के रणक्षेत्र में खड़ा !—जड़ भूतों की
निद्रा से चिर तंद्रिल,—जो जीवन विकास के
विमुख, जागरण के अवरोधी, अधोमुखी हैं !

नहीं चाहता भूजीवन के अंधकार को
पुनः आपके पास भेजना !—इन वर्षों में
अधिक नहीं कुछ बदल सका धरती का जीवन !
बल्कि, तीसरे विश्व-युद्ध के लिए धरा के
राष्ट्र आज सन्नद्ध दीखते ! अणु विस्फोटों,
रुज् किरणों क्षेपड वृष्टि से—वसुंधरा पर
महा प्रलय, अंतिम विनाश लाने को उद्यत !!
हरित भरित इस वसुधा पर,—जो सागर जल के
अनिल विलोलित श्लथ अंचल से वक्ष स्थल से
अहरह चिपका, नाच रही स्मित सूर्यांतर में
नृत्यपरा अप्सरा-सी चपल, ज्योति प्रभा से
परिवेष्टित,—अनभिज्ञ, हाय, भावी संकट से !!

भौतिकता लोहे के निर्मम चरण बढ़ाकर
रौंद रही मानव आत्मा को, जो यंत्रों के

विकट अस्थि-पंजर में अंतिम साँस ले रही !
देव, आपका वह अंतर्राष्ट्रीय स्वप्न भी
अभी नहीं साकार हो सका भू-पलकों पर
राष्ट्रों के कटु स्वार्थ विभक्त किये हैं जिसको
वर्ग श्रेणि की दीवारों में : मानवता को
चिर बंदी कर अंध रूढ़ियों की कारा में' !

भूल गया मानव निज अंतर जग का वैभव,—
जीवन का सौंदर्य, प्रेम, आनंद, सूक्ष्म से
नहीं उतरने पाते भू पर ! सृजन चेतना
निष्क्रिय होकर पंगु पड़ी है ! धरा स्वर्ग को
स्वप्न-युक्त पखों से आज नहीं छू पाती !

अतर्मन के भूमि कंप से ध्वंस भ्रंश हो
अतर्विश्वासों के, उन्नत आदर्शों के
शिखर सनातन विखर रहे हैं मर्त्य धूलि पर ;
मानव के नयनों से शाश्वत का प्रसन्नमुख
अस्त हो गया : यह वसुंधरा निरानंद है !

एक सुनहली रेखा है काले बादल में,—
आज आपका प्रिय भारत स्वाधीन हो गया !
छूट गयी दासता, युगों की लौह-शृंखला

टूट गयी, नैराश्य, दैन्य, पीड़न से निर्मित !—
छिन्न कर गये आप जिसे थे पहिले ही से
निज वज्र-स्वर के प्रहार से नव जागृति भर !
देव, आपका महादेश स्वाधीन हो गया,
बापू यद्यपि नहीं रहे !—वह मानवता के
देव-शिखर, अपने शोणित से नवजीवन का

युग प्रभात रँग लुप्त हो गये,—मुक्त हो गये !—
संबोधन करते थे जो गुरुदेव आपको !
रूप मांस थे आप, आत्म पंजर थे वह दृढ़,
ऊर्ध्व रीढ़ ही, शांति-निकेतन की पृथ्वी पर,
जिसे चाहते थे दोनों ही स्थापित करना
स्वप्नों से, कर्मों से, जग के रण-प्रांगण में,

जन मंगल के हित —अह, दोनों चले गये अब !
मुक्त नहीं हो सका अभी जन भारत का मन —
मध्य युगों की क्षुद्र विकृतियाँ शीष उठाकर
नव्य राष्ट्र को बना रहीं नि शक्त, क्षीण हैं !
विविध मतों में विविध दलों, व्यूहों में बँटकर
आज देश निर्वीर्य निबल निस्तेज हो रहा,
घृणित सांप्रदायिक बर्बरता से पीड़ित हो —
शोणित की नदियाँ बहती हैं तपोभूमि में !!
नहीं झलकता मानव गौरव जन के मुख पर,
रुद्ध हृदय है उनका, मन स्वार्थों म सीमित
आत्म त्याग से रहित, अभी वे नहीं बन सके
महाराष्ट्र के उपादान —गभीर धीर दृढ
युग प्रबुद्ध, निर्भीक वज्र संयुक्त परस्पर !

रहने दूँ यह कटु प्रसंग मैं नहीं चाहता
फिर विषण्ण भू मन की छाया पड़े आप पर !
भारत यदि स्वाधीन हो गया तो निश्चय ही
छूट गयी भौतिक परवशता आज धरा की,
उसके प्राणा के स्तर अब चैतन्य हो गये !
पशु बल का खल अह मिट गया शात हो गयीं
अवचेतन की निम्न वृत्तियाँ घृणा द्वेष की
अतर्जग में —चाहर अभी भले सक्रिय हों !
मद पड गयी कटु स्पर्धा, अधिकार-लालसा,
जीवन की आकाक्षा में सतुलन आ गया,—
दीप्त हो गया तामस का मुख —

यह भारत की

विश्व विजय है ! जयी हुई इस स्वर्ण धरा की
अमर चेतना सफल हुए उसके तप साधन,
अधकार हिंसा, मिथ्या के नश्वर स्थल पर
विजयी हुआ प्रकाश—अहिंसा, आत्म सत्य का !
निश्चय मानव का भविष्य अब चिर उज्ज्वल है,
असदिग्ध है भूमंगल,—निर्भय हो जन मन !

विचरण करते होंगे, कविगुरु, आप अतींद्रिय
स्वर्गलोक में संप्रति,—देवों से भी सुन्दर,
मानव देव समान, अमर निज यश काया में !
पारिजात, मंदार प्रभृति तरुओं की स्वर्गिक
स्वप्निल सौरभ नासा रंध्रों से प्रवेश कर,
आंदोलित रखती होगी प्राणों को नित नव
भावों से, स्वप्नों से—सुर सौंदर्य बोध से !
नंदन का अविरत वसंत ज्यों गुंजित रहता
मुकुल अधर मधुपायी स्वर्णिम भृंग-वृंद से !

अथवा बैठे होंगे आप रहस्य-शिखर पर
अमर-लोक के निभृत मौन में ध्यानावस्थित,—
बहती होगी शाश्वत सुंदरता की सरिता
नीचे, स्वर्णिम छाया की सतरँग घाटी में,
कलकल छलछल गाती अनादिता अमरों की !
वहाँ विजन में आप दिव्य उन्मेष से सिहर
सृष्टि रच रहे होंगे अमर स्वरों की नूतन,
सूक्ष्म चेतना की छाया शोभा से गुंफित,
मौन मग्न हो अतल सृजन आनद-सिन्धु में !
सुर-सुंदरियाँ आती होगीं पास आपके
ध्यान भग करने को, ईर्ष्याकुल निज मन में,
त्यक्त, उपेक्षित, विस्मृत अपने को अनुभव कर !
क्षण-भर को अपलक रह जाते होंगे लोचन
सुरांगनाओं का सौंदर्य विलोक अपरिमित !
देह-शिखाओं से अनंत यौवन की छाया
फूट-फूटकर विस्मय से भरती होगी मन !
सुरँग, मसृण छायातप से छन तन की शोभा
झलका करती होगी सौष्ठव-रेखाओं में,
स्तिमित शरद घन से कंपित विद्युल्लेखा की ,—
झंकृत कर अंतरतम सत्ता के तारों को !

स्वप्नों के शिखरों से उठ-उठ पीन पयोधर
टकराते होंगे आकांक्षा के भुवनों से,

जिन पर धर कल्पना जात शिर कविमनीषी
ऐसे होंगे क्षण विराम, फिर स्वप्न मग्न हो !
अप्सरियों का पाणि भार लावण्य चूड़सा,
जिन उभार में घनीभूत कर अमरों का सुख,
मुखरित रहता होगा प्राणों के गुंजन से
स्वर्ग लालसा की काँची से अहरह दोलित !
शोभा स्तंभा से उनके स्वर्गिक जघनों पर
बँधती होगी कौश जलद छाया ओझल हो,
जिनमें दिप दिप तड़ित, चकित कर देती होगी
कवि लोचन लज्जा लुंठित लावण्य राशि से !

क्षमा करें गुरुदेव, आप जो भूजीवन के
आनंदों के प्रति सदैव जाग्रत जीवित थे,
जो रससिद्ध कवीन्द्र बन विचरे पृथ्वी पर,
आज आप भी वहाँ ऊबते होंगे निश्चय
अमरों के उस अनावृत आनंद लोक में !
और चाहते होंगे फिर से जन्मसिद्ध कवि,
मर्त्य-लोक में आकर भू-जीवन का वरना !
एक बार आये थे जहाँ स्नेहवश प्रेरित
देवों का धर दिव्यरूप, हे कवियों के कवि,
अमरों की वीणा ले कर में भुवनमोहिनी
भू-जीवन सागर को करने रंग उच्छ्वसित
गाति छंद की तीव्र मधुर शत झंकारों से
प्राणों के स्वर लहरा, ज्वार उठा आशा का,
फेनों के शिखरों पर लोक बसा स्वप्नों का
इंदु रश्मि के सम्मोहन से मायादीपित !
आये थे भू-रोदन को संगीत बनाने
अलक्ष्य मधुर स्वर श्रुतियों के शत आवर्तों से
भावों के छाया पुलिनों को स्वप्न ध्वनित कर !
आये थे तुम, जीवन शोभा के शिल्पी बन,
मानव उर की आशाओं-अभिलाषाओं को
सूक्ष्म स्वरों में पुनः ऊर्ध्वमुख झंकृत करने

निज विराट् प्रतिभा की अद्भुत रहस शक्ति से
स्वर्ग धरा के बीच कल्पना का रंगस्मित
इन्द्रधनुप-प्रभ सेतु बाँधने सुर नर मोहन
अप्सरियों के रणित पदों से मौन गुंजरित !

युगद्रष्टा बन आये आप यहाँ, जन गायक,
देश-काल का तमस चीर निज सूक्ष्म दृष्टि से,—
पैठे थे मानव-जीवन के अंतस्तल में
धरती के अवसाद भरे जनगण को देने
उद्बोधन का गान, जागरण मंत्र, मनोबल !
मानव की चेतना रश्मि को अतल गुहा से
बाहर ला, मन में अभिनव आलोक भर गये;
रँग-रँग की आभा की पंखड़ियों को बिखरा
नवजीवन सौंदर्य गये बरसा धरती पर
गीतों से, छंदों से, भावों से, स्वप्नों से !

एक बार फिर आओ कवि, इस विधुर देश को
अपनी अमर गिरा से नव आश्वासन देने !
आज और भी लोक-प्रतीक्षा यहाँ आपकी,—
वाणी के वर पुत्र, धरा की महा मृत्यु को
अमर स्वरों से जगा विश्व को दो जीवन वर !

आओ हे फिर अपने भारत के मानस से
मध्य युगों का घृणित जाल जंजाल हटाकर
ज्वलित स्वर्ण-दर्पण-सी उसकी चेतनता को
लाओ फिर जग के समक्ष : जिसमें नव जीवन
नव मानवपन का उज्ज्वल मुख प्रतिबिंबित हो !
आज धरा के अंधकार में उसका जगमग
कांचन दो फिर से उड़ेल जीवन-प्रभात में !
रँग दो जन-मन के तम को नव अरुणोदय से,
स्नान करे फिर रक्तोज्वल भू स्वर्ग रुधिर में !

आओ हे कवि, आओ, फिर निज अमृत स्पर्श से
आदर्शों की छायाओं को नव जीवन दो—

मर्त्य-लोक के जड़ प्रांगण में जीवन चेतन
स्वर्ग-स्वप्न विचरें, ज्वाला के पग धर नूतन,
नव आशा अभिलाषा से दीपित दिगंत कर !—
आओ तुम जीवन वसंत के अभिनव पिक बन,
धरा चेतना हँसे सांस्कृतिक स्वर्णोदय में !

देव, सूक्ष्मदर्शन में जगता मनोनयन में,
भारत का आनन हिरण्यस्मित !—जीवनमन के
तम से पर आदित्यवर्ण उसकी आत्मा का,—
भूत शिखर के चरम चूड़ सा, शत सूर्योज्वल !
ह्रास नाश से रहित अमर चेतना-शक्तियाँ
अंतर्हित जो किये हृदय में सूक्ष्म, सूक्ष्मतम,
गुह्य, रहस, वर्णनातीत,—जग के मंगलहित !

उसके अंतरतम के ज्योतिर्मय शतदल पर
स्वयं खड़े हैं, सत्य चरण धर प्रभु अविनाशी,
तेजोमय जाज्वल्य हिरण्य-शैल से अद्भुत !
पुरुष पुरातन, पुरुष सनातन विश्वमोहिनी
निज वंशी की सर्जन ध्वनि से जगा अचित् से
छायाभासों के असंख्य चैतन्य लोक नव
बरसा रहे अनंत शून्य में, स्वरलय नर्तित,
कोटि सूक्ष्म सौंदर्य, प्रेम, आनंद के भुवन !
प्राणों की आशाकांक्षाओं से चिर उर्वर
जीवन मन के स्वर्ग, तृप्ति के सुख से नीरव :
रूप गंध रस स्पर्श शब्द के चित्र जगत बहु
निज असीम वैभव में अक्षय, दमक रहे जो
सत चेतनाओं के रंग स्तरों में छहरे !

दिव्य भूति के शुभ्र रजत नीहार से जड़ित
भारत के चेतना शृंग पर ध्यान मौन रत,
परम पुरुष वे नृत्य कर रहे, सृजन हर्ष की
विस्मृति में लय !—जिनके अतिचेतन प्रकाश से
शोभा सुषमा की सहस्र दीपित मरीचियाँ,

आभा की आभाएँ, छाया की छायाएँ,
दिक्‌ काल में फूट रहीं, शत सुरधनुओं के
रंगों की आलोक-क्रांति से दृष्टि चकित कर !
झरझर पड़ते सतत सत्य शिव सुंदर उनसे
महाकाल औ', महादिशा को चेतनता से
मुग्ध चमत्कृत कर—रोमांचित दिव्य विभव से !

आज धरा के भूतों के इस तमस क्षेत्र में
जीवन-तृष्णा, प्राण-क्षुधा औ' मनोदाह से
क्षुब्ध, दग्ध, जर्जर जन-गण चीत्कार कर रहे,
घृणा, द्वेष, स्पर्धा से पीड़ित वन-पशुओं से !
बिखर गया मानव का मन अणुवीक्षण-पथ से
बहिर्जगत में, स्थूल भूत विज्ञान से भ्रमित !
अंतर्दृष्टि-विहीन मनुज निज अंतर्जग के
वैभव से अनभिज्ञ, हृदय से शून्य, रिक्त है !
आज आत्मघाती वह, अपने ही हाथों से
महाजाति का महामरण निर्माण कर रहा
भौतिक रसायनिक चमत्कारों से अगणित !
तर्क-नियंत्रित यांत्रिकता के पद-प्रहार से
ध्वस्त हो रहे अंतर्मन के सूक्ष्म संगठन
सत्यों के, आदर्शों के, भावों, स्वप्नों के,
श्रद्धा-विश्वासों के, संयम तप साधन के,—
मनुष्यत्व निर्भर है जिन ज्योतिस्तंभों पर !

ऐसे मरणोन्मुख जग को कहता मेरा मन
और कौन दे सकता नव जीवन, आश्वासन,
शांति, तृप्ति,—निज अंतर्जीवन के प्रवाह से,
भारत के अतिरिक्त आज ? जो शाश्वत, अक्षर
अंतर ऐश्वर्यों का ईश्वर है वसुधा पर !
कहता मेरा मन, भारत के ही मंगल में
भू-मंगल, जन-मंगल, देवों का मंगल है !—
देव, आप आशीर्वाद दें नव भारत को !

हजारीप्रसाद द्विवेदी

शिरीष के फूल

जहाँ बैठ के यह लेख लिख रहा हूँ उसके आगे, पीछे, दायें, बायें, शिरीष के अनेक पेड़ हैं। जेठ की जलती धूप में जब कि धरित्री निर्धूम अग्निकुंड बनी हुई थी, शिरीष नीचे से ऊपर तक फूलों से लद गया था। कम फूल इस प्रकार की गर्मी में फूल सकने की हिम्मत करते हैं। कर्णिकार और आरग्वध (अमलतास) की बात मैं भूल नहीं रहा हूँ। वे भी आस पास बहुत हैं। लेकिन शिरीष के साथ आरग्वध की तुलना नहीं की जा सकती। वह पन्द्रह-बीस दिन के लिए फूलता है, वसंत ऋतु के पलाश की भाँति। कबीरदास को इस तरह पन्द्रह दिन के लिए लहक उठना पसंद नहीं था। यह भी क्या कि दस दिन फूले और फिर खंखड़-के-खंखड़—'दिन दस फूला फूलि के खंखड़ भया पलास'! ऐसे दुमदारों से तो लँडूरे भले। फूल है शिरीष। वसंत की आवग के साथ लहक उठता है, आषाढ़ तक तो निश्चित रूप से मस्त बना रहता है। मन रम गया तो भरे भादों में भी निर्घात फूलता रहता है। जब उमस से प्राण उबलता रहता है और लू से हृदय सूखता रहता है, एकमात्र शिरीष कालजयी अवधूत की भाँति जीवन की अजेयता का मंत्र प्रचार करता रहता है। यद्यपि कवियों की भाँति हर फूल-पत्ते को देखकर मुग्ध होने लायक हृदय विधाता ने नहीं दिया है पर नितांत ठूँठ भी नहीं हूँ। शिरीष के पुष्प मेरे मानस में थोड़ा हिल्लोल जरूर पैदा करते हैं।

शिरीष के वृक्ष बड़े और छायादार होते हैं। पुराने भारत का रईस जिन मंगल-जनक वृक्षों को अपनी वृक्ष-वाटिका की चहारदीवारी के पास लगाया करता था, उनमें एक शिरीष भी है (वृहत्संहिता ५५।३) अशोक, अरिष्ट, पुन्नाग और शिरीष के छायादार और घन मसृण हरीतिमा से परिवेष्टित वृक्ष वाटिका जरूर बड़ी मनोहर दिखती होगी। वात्स्यायन ने (कामसूत्र में) बताया है कि वाटिका के सघन छायादार वृक्षों की छाया में ही झूला (प्रेंखा दोला) लगाया जाना चाहिए। यद्यपि पुराने कवि बकुल के पेड़ में ऐसी दोलाओं को लगा देखना चाहते थे, पर शिरीष भी क्या बुरा है। डाल इसकी अपेक्षाकृत कमजोर जरूर होती है, पर उसमें झूलनेवालियों का वज़न भी तो बहुत ज्यादा नहीं होता। कवियों की यही तो बुरी आदत है कि वज़न का एकदम खयाल नहीं करते। मैं तुंदिल नरपतियों की बात नहीं कह रहा हूँ वे चाहें तो लोहे का पेड़ बनवा लें।

शिरीष का फूल संस्कृत-साहित्य में बहुत कोमल माना गया है। मेरा अनुमान है कि कालिदास ने यह बात शुरू-शुरू में प्रचार की होगी। उनका कुछ इस पुष्प पर पक्षपात था (मेरा भी है)। कह गये हैं, शिरीष पुष्प केवल भौंरों के पदों का कोमल दबाव सहन कर सकता है, पक्षियों का बिलकुल नहीं—'पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवं शिरीष पुष्पं न पुनः पतत्रिणाम् !' अब मैं इतने बड़े कवि की बात का विरोध कैसे करूँ ? सिर्फ विरोध करने की हिम्मत न होती तो भी कुछ कम बुरा नहीं था, यहाँ तो इच्छा भी नहीं है। खैर, मैं दूसरी बात कह रहा था। शिरीष के फूलों की कोमलता देखकर परवर्ती कवियों ने समझा कि उसका सब-कुछ कोमल है ! यह भूल है। इसके फल इतने मजबूत होते हैं कि नये फूलों के निकल आने पर भी स्थान नहीं छोड़ते। जब तक नये फल पत्ते मिलकर धकियाकर उन्हें बाहर नहीं कर देते तब तक वे डटे रहते हैं। वसंत के आगमन के समय जब सारी वनस्थली पुष्प पत्र से मर्मरित होती रहती है, शिरीष के पुराने फल बुरी तरह खड़खड़ाते रहते हैं। मुझे इनको देखकर उन नेताओं की बात याद आती है, जो किसी प्रकार ज़माने का रुख नहीं पहचानते और जब तक नयी पौध के लोग उन्हें धक्का मारकर निकाल नहीं देते तब तक जमे रहते हैं।

मैं सोचता हूँ कि पुराने की यह अधिकार-लिप्सा क्यों नहीं समय रहते सावधान हो जाती ? जरा और मृत्यु ये दोनों ही जगत् के अतिपरिचित और अतिप्रामाणिक सत्य हैं। तुलसीदास ने अफसोस के साथ इनकी सचाई पर मुहर लगायी थी,—'धरा का प्रमान यही तुलसी जो फरा सो झरा जो बरा सो बुताना !' मैं शिरीष के फलों को देखकर कहता हूँ कि क्यों नहीं फलते ही समझ लेते बाबा, कि झड़ना निश्चित है ! सुनता कौन है ? महाकाल देवता सपासप कोड़े चला रहे हैं, जीर्ण और दुर्बल झड़ रहे हैं, जिनमें प्राणकणा थोड़ा भी ऊर्ध्वमुखी है, वे टिक जाते हैं। दुरंत प्राणधारा और सर्वव्यापक कालाग्नि का संघर्ष निरन्तर चल रहा है। मूर्ख समझते हैं कि जहाँ बने हैं वहीं देर तक बने रहें तो कालदेवता की आँख बचा जायेंगे। भोले हैं वे। हिलते डुलते रहो, स्थान बदलते रहो, आगे की ओर मुँह किये रहो तो कोड़े की मार से बच भी सकते हो। जमे कि मरे।

एक-एक बार मुझे मालूम होता है कि यह शिरीष एक अद्भुत अवधूत है। दुःख हो या सुख, वह हार नहीं मानता। न ऊधो का लेना, न माधो का देना। जब धरती और आसमान जलते रहते हैं तब भी यह हज़रत न-जाने कहाँ से अपना रस खींचते रहते हैं। मौज में आठों याम मस्त हैं। एक वनस्पति शास्त्री ने मुझे बताया है कि यह उस श्रेणी का पेड़ है जो वायुमंडल से अपना रस खींचता है। जरूर खींचता होगा। नहीं तो भयंकर लू के समय इतने कोमल तंतुजाल और ऐसे सुकुमार केसर को कैसे उगा सकता था। अवधूतों के मुँह से ही संसार की सबसे सरस रचनाएँ निकली

है। कबीर बहुत कुछ इस शिरीष के समान ही थे, मस्त और बेपरवाह, पर सरस और मादक। कालिदास भी जरूर अनासक्त योगी रहे होंगे। शिरीष के फूल फक्कड़ाना मस्ती से ही उपज सकते हैं और मेघदूत का काव्य उसी प्रकार के अनासक्त अनाविल उन्मुक्त हृदय में उमड़ सकता है। जो कवि अनासक्त नहीं रह सका, जो फक्कड़ नहीं बन सका जो किये कराये का लेखा-जोखा मिलाने में उलझ गया, वह भी क्या कवि है? कहते हैं कर्णाट राज की प्रिया विज्जिका देवी ने गर्वपूर्वक कहा था कि एक कवि ब्रह्मा थे, दूसरे वाल्मीकि और तीसरे व्यास। एक ने वेदों को दिया, दूसरे ने रामायण को और तीसरे ने महाभारत को। इनके अतिरिक्त और कोई यदि कवि होने का दावा करे तो मैं कर्णाट राज की प्यारी रानी उनके सिर पर अपना बायाँ चरण रखती हूँ—'तेषा मूर्ध्नि ददामि वामचरण कर्णाट-राजप्रिया!' मैं जानता हूँ कि इस उपालम्भ से 'दुनिया का कोई कवि हारा नहीं है—मेरा विश्वास है कि कुछ ने तो इसे पुरस्कार ही समझा होगा—पर इसका मतलब यह नहीं कि कोई लजाये नहीं तो उसे डाँटा भी न जाय। मैं कहता हूँ कि कवि बनना है मेरे दोस्तो, तो फक्कड़ बनो। शिरीष की मस्ती की ओर देखो। लेकिन अनुभव ने मुझे बताया है कि कोई किसी की सुनता नहीं। मरने दो!

कालिदास वजन ठीक रख सकते थे, क्योंकि वे अनासक्त योगी की स्थिर प्रज्ञता और विदग्ध प्रेमी का हृदय पा चुके थे। कवि होने से क्या होता है? मैं भी छंद बना लेता हूँ, तुक जोड़ लेता हूँ और कालिदास भी छंद बना लेते थे—तुक भी जोड़ ही सकते होंगे—इसीलिए हम दोनों एक श्रेणी के नहीं हो जाते। पुराने सहृदय ने किसी ऐसे ही दावेदार को फटकारते हुए कहा था—'वयमपि कवय कवयः कवयस्ते कालिदासाद्या!' मैं तो मुग्ध और विस्मय विमूढ होकर कालिदास के एक-एक श्लोक को देखकर हैरान हो जाता हूँ। अब इस शिरीष के फूल का ही एक उदाहरण लीजिए। शकुतला बहुत सुदर थी। सुदर क्या होने से कोई हो जाता है? देखना चाहिए कि कितने सुदर हृदय से वह सौंदर्य डुबकी लगाकर निकला है। शकुंतला कालिदास के हृदय से निकली थी। विधाता की ओर से कोई कार्पण्य नहीं था, कवि की ओर से भी नहीं। राजा दुष्यत भी अच्छे-भले प्रेमी थे। उन्होंने शकुतला का एक चित्र बनाया था, लेकिन रह-रहकर उनका मन खीझ उठता था। उहूँ, कहीं न-कहीं कुछ छूट गया है। बड़ी देर के बाद उन्हें समझ में आया कि शकुतला के कानों में वे उस शिरीष पुष्प को देना भूल गये हैं, जिसके केसर गण्डस्थल तक लटके हुए थे, और रह गया है शरच्चन्द्र की किरणों के समान कोमल और शुभ्र मृणाल का हार।

कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे
शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम्।

न वा शरच्चंद्रमरीचिकोमलं
मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे ॥

कालिदास ने यह श्लोक न लिख दिया होता तो मैं समझता कि वे भी बस और कवियों की भाँति कवि थे, सौंदर्य पर मुग्ध, दुःख से अभिभूत, सुख से गद्गद !! पर कालिदास सौंदर्य के बाह्य आवरण को भेदकर उसके भीतर तक पहुँच सकते थे, दुःख हो कि सुख, वे अपना भाव-रस उस अनासक्त कृषीवल की भाँति खींच लेते थे जो निर्दलित ईक्षुदंड से रस निकाल लेता है। कालिदास महान् थे, क्योंकि वे अनासक्त रह सके थे। कुछ इसी श्रेणी की अनासक्ति आधुनिक हिंदी कवि सुमित्रानंदन पंत में है। कविवर रवींद्रनाथ में यह अनासक्ति थी। एक जगह उन्होंने लिखा है—'राजोद्यान का सिंहद्वार कितना ही अभ्रभेदी क्यों न हो, उसकी शिल्पकला कितनी ही सुंदर क्यों न हो, वह यह नहीं कहता कि हममें आकर ही सारा रास्ता समाप्त हो गया। असल गंतव्य स्थान उसे अतिक्रम करने के बाद ही है। यही बताना उसका कर्तव्य है।' फूल हो या पेड़, वह अपने-आप में समाप्त नहीं है। वह किसी अन्य वस्तु को दिखाने के लिए उठी हुई अंगुलि है। वह इशारा है।

शिरीष तरु सचमुच पक्के अवधूत की भाँति मेरे मन में ऐसी तरंगें जगा देता है जो ऊपर की ओर उठती रहती हैं। इस चिलकती धूप में इतना सरल वह कैसे बना रहता है? क्या ये बाह्य परिवर्तन—धूप, वर्षा, आँधी, लू—अपने-आपमें सत्य नहीं हैं? हमारे देश के ऊपर से जो यह मार-काट, अग्निदाह, लूट-पाट, खून-खच्चर का बवंडर बह गया है, उसके भीतर भी क्या स्थिर रहा जा सकता है? शिरीष रह सका है। अपने देश का एक बूढ़ा रह सका था। क्यों? मेरा मन पूछता है कि ऐसा क्यों संभव हुआ? क्योंकि शिरीष भी अवधूत है और अपने देश का वह बूढ़ा भी अवधूत था। शिरीष वायुमंडल से रस खींचकर इतना कोमल और इतना कठोर है। गांधी भी वायुमंडल से रस खींचकर इतना कोमल और इतना कठोर हो सका था। मैं जब-जब शिरीष की ओर देखता हूँ तब-तब हूक उठती है—हाय, वह अवधूत आज कहाँ है!

हरदयालसिंह

लच्छो

'यह शाल क्या तुमने अभी लिया चौकीदारजी ?'

'हाँ कल ही।'

'कहाँ से ?'

'बडे बाजार से।'

'कितने को ?'

'पन्द्रह को।'

'अच्छा है।'

'सच ?'

'बिलकुल। लेकिन घर के लिए लिया होगा ?'

'हाँ, पर अभी तो मैं ही...'

लच्छो और केवल की आज मुख्यत. यही वार्ता रही। लच्छो कोठी पर दूध देने आती थी और केवल वहाँ चौकीदार था। दूध देकर वह निकलती तो 'क्या कर रहे हो चौकीदारजी।' तो कह ही चलती। केवल के सूने मन में रस की एक बूँद टपक जाती और वह कृतार्थ हो रहता। नहीं तो किसको गरज पड़ी कि कोई उसके पुरुष हृदय की बात अपने स्त्री हृदय से पूछने उस तक आये ? दो ढाई सौ मील पर पड़ा वह केवल इस चहल पहल भरी कोठी में भी मानों उजाड़ ही में बैठा लच्छो के आने की बाट सुबह शाम टुकुर टुकुर देखा करता।

इसी लिए तो आज शाल की वार्ता समाप्त कर जब लच्छो ने घर की ओर मुँह मोड़ा तो केवल को कुछ विशेष बेचैनी हुई। 'बिलकुल, लेकिन घर के लिए लिया होगा', ये शब्द जिस समय लच्छो के मुँह से निकले, केवल ने स्पष्ट ही देखा कि न सिर्फ शाल की सराहना ही उनमें थी, वरन् 'एक ऐसा उसके पास भी होता'—यह भावना भी। अवश्य ही यह उसकी एक वह अभिलाषा थी जिसके पूरी न हो सकने की निराशा भी उसके कठ से स्पष्ट थी। क्या सचमुच यह इतना कठिन है—केवल सोच उठा। मैं ही न क्यों कुछ उसके लिए कर सकूँ—तुरन्त ही वह अपने तईं पूछ भी बैठा।

किंतु कैसे ? यह प्रश्न अब उसे आया। मन उसके पास है और पैसा भी, किंतु देने की बात क्या फिर भी हरेक के लिए सोची जा सकती है ? यह विचार ही कभी कभी

तो दुःसाहस प्रतीत होता है। माना कितने हैं ऐसे भरे-पूरे भी जिन्हें एक पैसा उल्टे हाथ दिखायें तो सीधे हाथ दौड़कर वे ले लें, किंतु कुछ ऐसे अकिंचन भी होते हैं जिन्हें लेने के नाम किसी से उबक ही आती है। लच्छो को केवल जानता है। मेहनत कर खाने और आबरू से जीनेवाली ही वह एक औरत उसके सामने आती है। किस बहाने तब एक शाल लेकर वह उसके आगे खड़ा हो कि लच्छो, तुम इसे ले लो। न हो कहीं वह उसकी उस अनुकंपा ही को खो बैठे, जिसके सहारे दिन उसके चल रहे हैं। उसने सोचा और बहुत सोचा किंतु किसी युक्ति से साहस उसे बनते न दीखा। निदान उस विचार ही को अपने मस्तिष्क से दूर कर वह अपने काम में लग गया।

और फिर—

शाल को वह अपने सुबह-शाम ओढ़ता और लच्छो भी आती ही। एक क्षण तब उसकी निगाह उस शाल पर जा ही ठहरती और तभी केवल का जी ओठों पर आ रह जाता—ले लो न इसे—मैंने तुम्हें दिया। वह विचलित हो उठता और चंचल हुए उसके अंग मानो सचमुच ही उस शाल को उतार फेंकना चाहते—शाल हिलकर रह जाता।

इसी तरह कुछ दिन बीत गये। कोई नयी बात नहीं। किंतु फिर एक दिन जब लच्छो दूध देकर निकली तो उसी भाँति शाल की ओर एकटक देखती हुई वह आ केवल के पास ठहर गयी और बोली—'यह शाल, हाँ, तुमने कितने को लिया था, चौकीदारजी।' जैसे उसे बिलकुल ही याद न रहा।

'पंद्रह को' केवल ने बतला दिया। मानो उससे भी पहली ही बार पूछा गया।

'बड़ा तो काफी है न?'

'बहुत।'

'मेरे लिए भी इतना ठीक ही रहेगा।'

'बिलकुल' केवल ने कहा और साहस कर फिर आगे भी, 'ओढ़ ही कर देखो न?' तुरंत शाल कंधों से उतार और अपने दोनों हाथों में ले लच्छो के आगे उसने बढ़ा दिया।

किंतु कितना विस्मय और आनंद केवल को उस समय हुआ जब वह लच्छो बिना संकोच शाल उसके हाथों से ले ओढ़कर खड़ी हो गयी—बिलकुल सरल भाव से देखती हुई केवल की ओर कि वह बतलाये, कैसी वह उसमें फबती है।

रोमांच ही एक केवल को तब हो आया। कितनी सुंदर—कितनी रूपवती वह उस समय शाल में दिखायी पड़ी। केवल की कहानियों की परी ही साक्षात् मानो उसकी आँखों के आगे प्रगट हो गयी। वह कह उठा—'यह शाल तो लच्छो जैसे तुम्हारे ही लिए बना हो। मेरी सौगंध जो इसे तुम उतारे।'

'सच ?'

'सच !'

'अच्छी बात !'

लच्छो ने कहा और केवल के जीवन की साध ही जैसे पूरी हो आयी। हृदय का सतोष आँखों से उमड़ तभी शब्दों में भी मानो फूट पड़ा और वह बोला—'लच्छो, यही मेरी मनोकामना थी।'

'तो अब वह पूरी हुई,' कहकर लच्छो हँस दी।

'बिलकुल' केवल भी हँस दिया।

'अच्छी-बात।'

यही शब्द लच्छो ने फिर कहे—किंतु शाल अब उसने हाथों में ले लिया और केवल के आगे उसे बढ़ाते हुए बोली—'मुझे भी जल्दी ही एक लेना है।'

'यह क्या ?' केवल खड़ा-खड़ा देखे क्या यही अब तक लच्छो समझी ? नहीं। वह सोचे और तभी जैसे स्पष्ट करने के हेतु विकंपित-स्वर से वह बोला—'लच्छो, यह मैंने तुम्हें दिया, रखो न।'

उसने कहा और लच्छो का मुँह तुरत ऐसा बन आया जैसे मिसरी की डली चबाते चबाते कोई किरकिर कंकरी ही दाढ़ नीचे आ गयी। ध्यानावस्थित हुई वह केवल के मुँह की ओर ताक रही मानो कुछ पढ़ती ही हो। किंतु कुछ क्षण बीते और एकबारगी वह फिर हँस ही दी और बोली—'ईश्वर का दिया मेरे पास सब कुछ है, चौकीदारजी। और उसकी इच्छा हुई तो शाल भी कभी मिल ही जायगा। इतनी जल्दी क्या ? इस महीने नहीं तो अगले महीने कोई युक्ति शायद बन आये। और यदि नहीं भी, तो ऐसी हविस मुझे नहीं कि किसीका लेकर मैं ओढ़ूँ।'

केवल सोचता था कि दो शब्द अपने हृदय की पवित्रता के बारे में अभी वह और कहेगा। किंतु लच्छो के अंतिम शब्दों तक आते-आते तो वह आवश्यकता ही जाती रही। कारण—शुद्ध हृदय से दिया गया शाल भी लच्छो के लिए 'किसीसे लिया' गया न रहेगा, इसकी गारंटी उसके पास क्या है। 'किसी' को छोड़ वह सचमुच कुछ नहीं। और हो भी तो क्या वह उसका दावा करेगा ? नहीं, लच्छो जो कुछ समझती है, ठीक है—अन्य कुछ उसे समझाना केवल का काम नहीं। अतः वह चुप हो रहा और शाल लच्छो से ले उसे उसने छुट्टी दी। फिर उसने उसकी तह बनायी और चौकस बक्स में रख दिया।

(२)

वह महीना बीत गया, दूसरा भी अब जाने को था। किंतु लच्छो का शाल अभी नहीं खरीदा गया। केवल का भी इसलिए बक्स ही में बंद रहा। किसका जी लाये वह

उसे ओढ़ने को। अब वह उसे अच्छा नहीं लगता। अच्छा लगता है सिर्फ एक हिसाब, कि कितने दिन रहे और कितने बीत गये लच्छो के शाल लेने के। इसी आशा और निराशा में प्रतिदिन वह लच्छो को देखता है, किंतु इतना सावधान कि भूलकर भी शाल की चर्चा उसके मुँह पर नहीं आती। वही हँसना-बोलना और वही सब व्यवहार, किंतु शाल की बात जैसे खोदकर ही गाड़ दी। और वैसे ही लच्छो ने भी कभी झूठे न पूछा कि चौकीदारजी, तुम्हारा शाल क्या हुआ?

महीना आखिर दूसरा भी निकल गया और तीसरा लग गया। कुछ ही दिन फिर उसके भी रहे। तब एक दिन लच्छो केवल के पास आयी और बोली—'चौकीदारजी, एक बात बताओगे?'

'क्या?'

'तुम्हारा शाल तो नहीं खो गया?'

'कैसे?'

'मुझे कल ही एक मिला है—रास्ते में पड़ा हुआ बिलकुल तुम्हारे-जैसा।'

यह कह एक शाल अपनी बगल से ले लच्छो ने केवल को दिखलाया।

'क्या सचमुच रास्ते में मिला?' केवल ने अचरज से पूछा।

'हाँ।'

'मिला होगा, मेरा तो मेरे पास है।'

'कहाँ?' लच्छो को सचमुच विश्वास न हुआ।

'बक्स में।'

'ठीक, किंतु वह भी तुम्हारा-जैसा है। न हो, कोई चुरा ले गया हो और उसीसे गिर पड़ा हो। इसलिए देख ही लो न।'

'हो सकता है' सचमुच ही चिंतित हुआ केवल तब उठा और बक्स खोलकर देखा। शाल उसका वहीं था। लाकर लच्छो को भी उसे उसने दिखला दिया।

'तो वह किसी दूसरे का होगा,' लच्छो ने तब कहा। किंतु इस प्रकार कि केवल खीझ उठा। खीझने ही की बात भी थी। अकारण ही मनहूस-सा चेहरा कोई बनाये, तो क्यों? किसीको यह अच्छा नहीं लगता है। शाल मिला तो क्या आफत हुई जो उसके लिए रोनी सूरत बनायी जाये। हर्ष और आनंद ही की अपेक्षा ऐसे समय की जा सकती है। फिर लच्छो की तो एक चिराभिलाषित आकांक्षा भी थी जो अब पूर्ण हो रही थी। केवल को यह ढोंग अच्छा न लगा। और खिन्न हुआ वह बोला—'लच्छो रानी, आसमान पर मत थूको। जिस ईश्वर की इच्छा की तुम दुहाई देती थीं, क्या उसीका अपमान नहीं कर रही हो? मुझे सचमुच बताओ—क्या शाल पाकर तुम्हें ऐसा ही अनुभव हो रहा है जैसा कि तुम दिखला रही हो?'

किंतु लच्छो मानो जड़ ही हो। तनिक भी परवाह केवल के प्रति उसने न दिखायी और सहज भाव से वही सिर्फ कहा जो उसे कहना था। बोली—'कोई पूछे तो, चौकीदारजी, बतला देना। मेरे पास यह सुरक्षित ही रखा है।'

यह कह कर चल दी और चौकीदार की आँखों में सचमुच रोष ही उतर आया।

(३)

आठ नौ माह हो गये—केवल को नौकरी करते। किंतु आज वह अपनी कोठरी के आगे एक मूढ़े पर बैठा था उद्विग्न वास्तव में उसे प्रसन्न होना चाहिए था। भगवान की कृपा से घर ही पर काम काज सँभाल सकने की स्थिति को प्राप्त हुआ वह नौकरी से छुट्टी ले अपने देश लौट रहा था। किंतु परदेश आज उसे देश से भी प्यारा हो उठा। पेड़ पौधे मेज कुर्सी, दीवार फाटक जिस किसी पर उसकी निगाह यदा-कदा पड़ती रही थी वही आज उससे आत्मीय-से हुए पूछते थे—क्या जा रहे हो, चौकीदारजी? और तो और 'जय मालिक मालकिन से यह अपनी जी की खैर मनाया करता था, उन्हीं से अंतिम राम राम कहने लगा तो उसके नयन भर आये। फिर कुछ तो ऐसे भी थे जिनके साथ वह उठा बैठा और हँसा-बोला था। उनमें भी एक वह जिसे उसने जी दिया था, यानी लच्छो।

अभी वह दूध लेकर भीतर गयी है और लौटनेवाली है। इससे वह अब विदा लेगा। आठ-नौ माह की उस संगिनी से। यह ध्यान उसे आया और वह समूचा लम्बा समय तुरत उसकी आँखों के आगे प्रत्यक्ष ही खड़ा दिखायी दिया। अभी वह आया है और लच्छो अभी हाथ भर लम्बा घूँघट खींच उसके सामने से निकल गयी है। दिन एक-एक कर फिर बीते, और लच्छो के उस घूँघट का न-जाने कब लोप ही हो गया। फिर एक दिन आया—वह बोल हो उठी। फिर वह हँसी और खिसयी भी। सुबह से शाम और शाम से सुबह फिर उसकी प्रतीक्षा होने लगी। फिर? फिर वही हाल!

सोचते ही केवल अनमना हो रहा। क्या यही—यही सिर्फ लच्छो कर सकती थी—मन-ही-मन वह कह उठा नहीं, वह अपने मन में खरी है और सचमुच हो भी, किंतु क्या उससे भी अधिक जो किसीके लिए अपने को भूलना ही चाहता है। किसीके सच्चे जी को न कबूलना स्वाभिमान के धोखे में निर्ममता ही है या लोक-लाज की आड़ में कायरता। लच्छो के लिए यह उचित न था। लौट फिरकर वही एक बात भँवर-सी केवल के भीतर चक्कर काटने लगी और वह विक्षुब्ध हो उठा—इतना कि चलना सीखने की प्रथम ही चेष्टा में दुत्कार दिया गया-सा वह उसका भोला प्यार न-जाने कितना सयाना बन बनकर उसे फुसलाने लगा कि लच्छो आये तो वह उससे मुँह ही फेर ले।

किंतु क्या सचमुच ? तभी उसका हृदय धुकधुका उठा। अभी वह आ रही है—अभी-अभी और अभी वह चली जायगी—उसकी आँखों से सदैव को। वही लच्छो दिन-प्रति-दिन की उसकी साथिन। बेचैन हुई उसकी आँखें बिना कुछ सोचे-समझे निदान उस द्वार ही पर जा लगीं, जिससे कि वह आनेवाली थी।

अधिक देर न हुई और वह आ गयी। साधारण सरल भाव से केवल के समीप ही वह खड़ी हो गयी और बोली—'जा रहे हो चौकीदारजी ?'

'हाँ।'

'घर ?'

'हाँ।'

'अच्छा है—भगवान करे अपने कुटुंब परिवार में आप राजी-खुशी रहो !'

यह कह उसने क्षण दो-क्षण केवल की ओर देखा और फिर 'दया बनाये रखियो' के बोल आधे बाहर और आधे मुँह में लिये वह चलने को हो गयी।

केवल का दम नीचे का नीचे और ऊपर का ऊपर। क्या इसीके लिए इतना शोर उसके हृदय में था ? उसने माना पूछा। लाचार तिरछे-बाँके हाथ जोड़ उसे भी खड़े हो कहना पड़ा—'अच्छा, नमस्ते !' लच्छो चल दी। किंतु—

किसकी नमस्ते ! केवल को उसी क्षण मानो आँधी ने उठा लिया। फाटक तक वह पहुँची-न-पहुँची कि अंधा-बावला वह तभी दौड़ा, पुकारता हुआ—'लच्छो, लच्छो !'

वह ठहर गयी।

'मुझे तुमसे कुछ कहना है।'

'कहो।'

'मेरा शाल मुझे दे दो।'

'कौन-सा ?'

'जो तुम्हारे पास है।'

'वह तुम्हारा है ?'

'हाँ।'

विस्मय से लच्छो की आँखें केवल पर मानो फटने ही को आ रहीं। 'क्या कह रहे हो, चौकीदारजी ?' वह बोली, 'इतने दिन से वह तुम्हारा नहीं हुआ—अब कैसे ?'

लच्छो ने कहा और तब—केवल के जी में कि जाने क्या कर दे अपना और क्या उस लच्छो का। आँखों में उसकी खून उतर आया। धूजता हुआ ही वह बोला—'तुम नहीं समझोगी—कभी नहीं। उसके लिए हृदय चाहिए। किंतु शाल मेरा है। वह मुझे दे दो। मैं अपनी उस भूल को वापिस लेना चाहता हूँ। बस ! इससे अधिक कहकर मैं तुम्हारी आँखों में अपने तिरस्कार की रही-सही कमी को पूरा करना नहीं चाहता।'

कौन जाने लच्छो का यह अपने जीवन का पहला अनुभव था या दूसरा-तीसरा। किंतु डरी वह हरगिज़ नहीं। न भागने या शोर ही मचाने की कोशिश उसने की। हाथ जोड़े जोड़े वहीं उस केवल के सामने सब बात उसने समझ ली और तब मुस्थिर होकर बोली—

'चौकीदारनी मैं सचमुच वैसा हो हूँ जैसा आप समझते हैं। न मुझमें समझ है और न हृदय ही। नहीं तो क्या आप इस प्रकार मुझसे शाल माँगने दौड़ते। तनिक हो मेरा सुख एक शाल क्या और भी न जाने क्या कुछ आपका अपना सकती। पर मैं एक घर गृहस्थिनी ठहरी और उतना ही जानूँ भी। सोचती थी—किसीम हृदय है तो मुझमें नहीं सही, किंतु गृहस्थी-जैसी अपनी वैसी ही दूसरे की भी मैं कम से कम समझूँ। तभी मेरी आत्मा ठंढी थी आज यह देखकर कि आप धन और मन अपने साथ दोनों साबित लिये बाल-बच्चों में जा रहे हो। पर कहीं जरूर जरूर कहीं मुझसे कोई भूल हुई जो अब मेरे सामने आ गयी। मुझे माफ कर दो—माफ कर दो चौकीदारनी!'

कहते-कहते लच्छो केवल के पैरों में गिर आयी। किंतु केवल पहले ही फफक फफक अपने घुटनों पर आ रहा था।

'सुमन'

चेरापूंजी

मुक्तहृदय कर रहा यहाँ नभ व्यथा-विसर्जन।
विश्वभ्रमण-परिश्रांत-क्लांत-सुस्थिर-विथकित-मन ॥
जीवनदाता जलद वियोगी अंतर्वासी।
लौट रहे घर लुटे-लुटे-से पथिक-प्रवासी ॥
छिन-छिन बरस रहे हैं बादल आड़े-तिरछे।
उतर रहे यानों से डगमग पग धर नीचे ॥
यह पर्वत-पर्य्यंक हरित मखमली सुहावन।
घेरे खड़े विमुग्ध इन्द्रसहचर जीवन-घन ॥
क्षितिज-छोर पर धुनी रुई की राशि छहरती।
कहीं सिंधु हिल्लोल, धूपसी कहीं सुलगती ॥
सिंधु उफन चढ़ गया व्योम पर ज्वार विलोड़ित।
व्योम धरा पर विहर रहा मिलनातुर पुलकित ॥
अचल-हृदय की गहराई-सी सुरमाघाटी[1]।
फैली चारों ओर स्नेह-सुख की परिपाटी ॥
गिरते मुशमाई-प्रपात[2] पांडवगण निर्भर।
प्रिया द्रौपदी का वनवासी अंतर उर्वर ॥
झर-झर निर्झर नाच रहे दे-देकर ताली।
उतर गयी है साथ-साथ नीचे हरियाली ॥
फैला दूर सुनामगंज का विस्तृत अंचल।
झलक रहा जल-विरल बालकों का हँसमुख दल ॥

---

१. चेरापूँजी से नीचे सुरमानदी की उपत्यका है, जिसमें सुनामगंज एक सब-डिविज़न है। २. मुशमायी चेरापूँजी के ऊँचे करारे से गिरनेवाले पाँच प्रपातों का समूह है।

उपत्यका में विचर रहे स्वच्छंद बलाहक।
देख रहे जीवन-परंपरा होती सार्थक॥
आर्द्र उच्छ्वसित उमड़ घुमड़ आया विह्वल मन।
घेर घेर घिर उठे मंडलाकार गगन घन॥
वृष्टि मूसलाधार घिस गये पर्वत मानो।
यह जीवन की शक्ति हो गया पत्थर पानी॥
कितना बरसे कौन? लगी बाजी, ध्वनि गूँजी।
विश्वविजयिनी हुई हमारी चेरापूंजी॥
यहाँ पुष्करावर्तक मेघों का सिंहासन।
होता सुविधाजनक यक्षहित यह निर्वासन॥
दक्षिण पार्श्व सघन द्रुमदल की घाटी सुंदर।
फूट पड़ा नोआकालिकाई[3] का अंतर॥
निर्मल शुभ्र प्रपात अमर बलिदान विजनवर।
गुहा गेह में सुघर रूप हो गयी सुन्दर सरि॥
जल शीकर उड़ रहे धुएँ से आहत-आकुल।
पुश्न कंदरा[4] शून्य आर्त गृह सी शंकाकुल।
अंबर अवनी मुग्ध परस्पर पुलकन चुंबन।
कुहराचल में मेघ-मनुज करते आलिंगन॥
भर भर आते नयन, हृदय हो उठता गद्गद।
कामद, तृष्णा शमन शील झर झर पड़ता मद॥
पता नहीं मेरे मन की आशा कि दुराशा।
लौट रहा हूँ चेरापूंजी से भी प्यासा॥

---

३. कालिकाई के जलप्रपात के साथ एक दुःखांत कहानी गुँथी है। कालिकाई एक निर्धन विधवा थी जिसने दुबारा विवाह कर लिया। दूसरा पति पहले विवाह की सन्तान छोटी लड़की से जलता था, एक दिन मौका पाकर उसने उसे मार डाला। कालिकाई को पता चला तो उसने इस स्थान पर से कूदकर प्राण दे दिये। ४ चेरापूँजी में चूने के पत्थरों की एक कंदरा।

नरेशकुमार मेहता

मेघ, मैं:

मैं नतशिर,
ये नैन मेघ भी झुके हुए;
हरियाली पर रथ उतारने के पहले, ज्यों पूछा करते मेघ गगन से
कितने योजन का जल पृथ्वी तक है गहरा?
दूर...कहीं (!!)
नीचे बाँसों के जंगल की घाटी में कोई हवा भर गयी;
ग्वाले की वंशी-सी गाती हवा जंगली,
टेर रही बदली की गायें।
तन-मन जिसका बिजली हो, वह हरिण मेघ मैं,
कब मोहित हो उतर रहा था नीचे...मुझको ज्ञात नहीं था।
मुझे लगा—नीचे धरती पर कोई बादल उतर चुका है;
मैंने रुकने की आज्ञा दी—मेरी गर्जन गूँज बन गयी;
मेरे सारे नील देश दौड़ गये गर्जन के घोड़े!!
वह विद्युत्-भुजबंध कसे, था गरज रहा मुझ-जैसा ही;
प्रतिहिंसा की लू से झुलसा
मैं छाया का कशाघात देने को ही था...
झील हँसी!!
लावण्य सिमट आया था भूमी का, झरनों का पानी बनकर;
मैं मोहित हो गया स्वयं की उस सोनी छाया पर
मैं 'नारसीसस'।
दूर आक के पत्तों से था दूध झर रहा
वह सफेद थी हँसी व्यंग्य की;
पेड़ों पर का लगा गोंद, वे भूरे बंदर,
नोच-नोचकर चबा रहे थे—
तभी अचानक हाथी के कानों से बड़े-बड़े सागौनी पत्ते

लगे वदन में।
दूब, बूँद का मुकुट बाँध उत्सव लगती थीं।

× × × ×

उतर रही थी घोपमयी वह पर्वतीय रेखा आँधी-सी
अम्बर में कर्कश-स्वर भरकर,
उतर रही हो कोई अश्व-पंक्ति पर्वत से टाप बजाती।
हिमकन्या यमुना की सारी चंचलता अब कहाँ गयी?
वह मन्द-मन्द मैदान सींचती।
लगता जैसे ब्याह हो गया उसका इस मैदान देश से
इसीलिए वह अंग चुराती।
कल जब बरस गया था मैं, पानी पानी हो,
मुझे लहर की जल-कन्याएँ मोहित करके चाह रही हैं बहा-बहाकर
ले जाना उन दूर खजूरों के निर्जन कुंजों में,
बेबस, बेचारा मैं पानी।
मैं प्रवाह में कहीं न घर से दूर बहा दूँ, इसीलिए
वह धीवर पत्नी, मनु के खातिर बाँस टिपारी में दीया धर,
नरियल की डोरी से है संकेत चढाती।

उस पार...
दूसर के निचले तट से
मुँह पर हाथों का घेरा दे
कोई खड़ा टेरता जाता अपनी...श्रद्धा।
उस तक आने के पहले ही टेर, हवा के संग उड़ जाती,
मैं सरिता,
मेरी पानी की छाती पर से स्वर चिड़ियाँ
चीं-चीं चीं-चीं कर उड़ी जा रहीं, श्रद्धा के बहरे कानों तक।
जिनमें, उस ऊँचे प्रपात के घोर नाद का भरा हुआ है
पिघला शीशा।
उस ऊँचे प्रपात से जैसे केवल चट्टानें ही गिरतीं,
मीलों की 'वेकुअम' (अवकाश) गुफा में
जैसे केवल शब्द भरे हों, नाद भरा हो।
वह जीवन की टेर, मरण हुंकार पी गयी,

शायद 'ऐस्कीमो'-सा लड़ता होगा मछुआ
शब्द 'ह्वेल' से ।

× × × ×

मुझमें तीर्थों का जल विचरण करता आया
रात, वरुण के नील महल में पूषा ने था सोम पिलाया
'क्या मैंने है सोम पिया ?'
'ताड़ ! तुम्हारी शाखों पर हम नहीं रुकेंगे
इन मँड़राती चीलों से कह दो हट जायें'—ऐंऽऽ,
क्या मैंने है सोम पिया ?
क्यों ये गायें मुझे मारने सींग तानतीं, दौड़ रही हैं मैदानों में ?
कल का बादल आज बरसकर हरा हो गया ।
मैं जब रेत-देश में उतरा, सूखे थे नैनों के ओसिस
चमड़े की मश्कें थीं प्यासी ।
मैं यदि उसकी दो चमड़े की गागर भर दूँ तो...पनीर वह
मुझे खिलाये, ऊँट पालनेवाले की वह लड़की ।
मैं जब उतरा, प्यासे थे जंगल-के-जंगल
चावल की घाटी सूखी थी,
उलझ रहे थे विधु-चरण, पेड़ों, काँटों में ।
किंतु, आज मन आलोकित था,
भुज भर मिली धरा, सरिताएँ ।
गाँव गोयरे पहुँचा ही था, लगे माँगने ककड़ी, भुट्टे,
नाच-नाचकर वे संथाली लड़की-लड़के ।
बैलों ने पहली फुहार को शिवा समझकर
नंदी-सी निज पीठ बढ़ा दी ।
मैदान देश की वधु-सरिताएँ भारनता-सी क्यों चलती हैं ?
शायद पानी का शिशु कंधे पर है सोया ।
मैं लौटा था गगन-लोक का स्वर्ग देखकर
एकाकी निर्जन उजाड़ जो,
स्वर्ग-लोक में कल्पवृक्ष का ठूँठ खड़ा है
गगन 'पिरेमिड' में रंभा की 'ममी' सो रही
दरवाजों पर हड्डी का ताला लटका है ।
गगन निहारा कल का,

आज नीम-सा लहर रहा हूँ,
रात-रात तक बोलूँगा बन गाँव किनारे के पीपल का पत्ता बनकर।
मुझे द्वार पर लता रूप में उगा देखकर
किसी वधू ने,
मेरी लता-अंगुली में था जीवन बाँध थमाया।
ईंट-पत्थरों की बाँहों से मुझे घेर लो
मैं न चाहता और भटकना शून्य लोक में
बरस रहा हूँ चट्टानों पर
खलिहानों में,
नगर ग्राम के मन-आँगन पर
मैं पृथ्वी का सदा पुत्र हूँ
है धरती ही माता मेरी।

रघुवीरसहाय

सायंकाल

आज साँझ फिर हुई,
खिले हुए प्रसून-सी वसुधंरा मुरझ गयी,
पराग-सा प्रकाश भूपतित हुआ।
उठीं अदम्य अंधकार आँधियाँ,
असंख्य ज्योति-रश्मियाँ चमक-चमक बुझीं सहज,
बिना प्रकाश एक हो गये धरा, क्षितिज, गगन।
चरण कहाँ पड़ें, कहाँ नहीं पड़ें, सशंक हो
पथिक ठिठक गये, गृहस्थ होशियार हो गये,
प्रयाण का विचार त्याग।
बस प्रगति गयी ठहर,
असुर-अमर अनंत युद्ध टालकर,
मनुष्य की दशा प्रसन्न हो निहारने लगे,
कि आज तो अभीत वह अदृष्ट से डरा-डरा,
दिनांत से कलुष चरण-तले दबी पड़ी धरा।

पराजिता हुईं समस्त शक्तियाँ, जिन्हें मनुष्य पर बड़ा घमंड था,
अकर्म शाप-सा शरीर को लगा,
निकट चले स्वरूप अंधकार के डरावने,
अगम्य पथ हुआ निरीह दृष्टि का,
विमूढ़ कल्पना सुदूर के स्वरूप की हुई,
सवेग दौड़ता हुआ दिवस-चरण
बिना थके सहम गया।
शिथिल प्रगति—
विलुप्त शक्ति—
मंद दृष्टि—
दंभ, दुख, विषाद, भय-प्रवंचना
पुनः मनुष्य के तमाम शत्रु उठ खड़े हुए।

समीर नींद से भरा स्वयं अलस,
थपक थपक कठिन बदन उसे सुला चला, पुनः
प्रणय-प्रमाद के प्रमत्त पल-विरल
उसे अस्वस्थ कर गये,
लहर लहर लुभा गये
निशा कुमारि की रँगीन वेणियाँ सदृश सघन।
निढाल हो ढुलक गये सुषुप्ति गोद में सशक्त गात वे
गठे हुए समर्थ भुज
शिथिल पड़े।
विहान जब न हो अतः समय स्वयं ठहर गया,
कि सुख छिपा अतीत में सुखद भविष्य सो गया,
कपाट बन्द हो गये विकास के।

बिना प्रकाश एक हो गये धरा, क्षितिज, गगन,
परंतु स्वर्ग और विश्व भिन्न हैं।
उसी प्रकार जिस तरह कि स्वप्न और सत्य हैं,
सुदूर एक, दूसरा समक्ष है।
वहाँ अनंत की अदृश्य भूमि पर टिके हुए
महल, जहाँ कि देवता
अशक्त, आलसी, विदेह
जी रहे समोद, श्रम बिना किये,
यहाँ अथक उपाय कर,
बड़ी कठोर भूमि पर,
खड़ी हुई ग़रीब एक झोपड़ी—
जहाँ कि कर्मशील जीव जी रहा,
अनंत कर्म की अशेष आस में,
सदैव, स्वर्ग और विश्व भिन्न हैं।

अतः जमीन पर पुनः नवीन अंकुरों सदृश
उमँग-उमँग उठे, जगे अनेक दीप
तम निवारने लगे,
तिमिर प्रसार को समेट हाथ के तले,
प्रकाश मंत्र फूँक,
त्रस्त विश्व को उबारने लगे,

अमा हुई पराजिता, प्रदीप-डोर-पाश में बँधी पड़ी।

अधिक समय नहीं हुआ कि भूमि और व्योम के
मिले-जुले स्वरूप फिर पृथक्-पृथक् प्रकट हुए,
यहाँ तिमिर न टल सका,
नखत नहीं चमक सके,
न चाँद ही निकल सका नियम बँधा,
घिरे हुए अपार मेघ बीच मुग्ध अप्सरा अनेक खो गयीं—
हताश देवगण टटोलते ज़मीन अंधकार में,
अलभ्य सोमरस-भरी ढुलक गयीं सुराहियाँ
मनुष्य-जाति के लिए रचे हुए
तमाम भाग्य-कर्म-फल इधर-उधर बिखर गये।
यहाँ उसाँस छोड़ चैन से भरी
सजग शरीर को सम्हाल
ज्ञान और दृष्टि के अमोघ अस्त्र साज
आँख-कान खोलकर सुधी
मनुष्य ने,
सुनी पुकार पंथ की,
दिखा कि सामने प्रशस्त मार्ग है।

———

उपेंद्रनाथ 'अश्क'

भँवर

[पर्दा प्रतिमा के अपने कमरे में उठता है, यह कमरा ड्राइंग-रूम भी है और स्टडी-रूम भी और बाहर जाते जाते मेक-अप पर एक दृष्टि डालने के हेतु इसम एक श्रृंगार मेज़ भी रखी है।]

बैठने के लिए कौच का मूल्यवान सेट और पढ़ने के लिए एक सुंदर मेज़ कुर्सी सजी है। मेज पर एक ओर टेलीफोन रखा है और दूसरी ओर कुछ पुस्तकें रैक में बड़े सुरुचि पूर्ण ढंग से चुनी हुई हैं। श्रृंगार-मेज़ का दर्पण आदमी के कद का है और लकड़ी चमचमाते टीक की है। छत पर बिजली का पंखा मंथर गति से चल रहा है।

कमरे में तीन दरवाजे और एक खिड़की है। दो दरवाजे दायीं दीवार मे हैं। इधर का (दर्शकों की ओर का) बाहर बरामदे में और कोने का प्रतिभा के शयन-कक्ष में खुलता है। सामने की दीवार के बायें कोने मे एक दरवाजा है जो आँगन को जाता है। बायीं दीवार में एक बड़ी खिड़की है जिसके पट बाहर को खुलते हैं।

सामने की दीवार मे अँगीठी है जिसपर दो फूलदान और कुछ फोटो सजे हैं। दरवाजों पर भारी पर्दे लटक रहे हैं जिनका रंग मेज़पोश, अँगीठी के कपड़े, टेबल-लैंप के कवर और कौचों तथा दीवारों के रंग से मिलता है।

प्रतिभा २४ २५ वर्ष की सुंदर युवती है। न बहुत लंबा, न छोटा कद, सुगठित देह, गौर वर्ण और कुछ विचित्र आकर्षण वाली लालस-लालस आँखें। एम॰ ए॰ में पढ़ती थी तो उसे अपने दर्शन अध्यापक प्रो॰ नीलाभ से प्यार हो गया था। किंतु प्रेम की वह सुलगती चिनगारी कभी ज्वाला न बनी, क्योंकि अध्यापक नीलाभ प्रेम के संबंध में बहुत पहले विरक्त हो चुके थे। अपने अध्यापन-जीवन के आरंभ में उन्होंने अपनी एक छात्रा से विवाह कर लिया था। अनुभव इतने कटु थे कि उस बंधन से मुक्ति पाने के पश्चात् विवाह तो दूर, वे एक प्रकार से नारी मात्र से विरक्त हो गये थे; यद्यपि उनकी यही विरक्ति उनका आकर्षण बन गयी थी।

उस ओर मार्ग न पाकर प्रतिभा के प्रेम की धारा पलटी तो अपने ही सहपाठी सुरेश की ओर बह चली। सुरेश बहुत देर से उसके प्रेम का याचक था। टेनिस का माना हुआ-खिलाड़ी, सघन और सुंदर। पहले प्रतिभा उसे प्रश्रय न देती, अब अपनी असफलता में वह मुड़ी तो द्विगुण वेग से उसकी ओर बढ़ी और उसने तत्काल

सिविल मैरेज कर ली, परंतु शीघ्र ही पता चल गया कि उससे भारी गलती हो गयी है। छः महीने की तनातनी के पश्चात् उसने मुक्ति पा ली।

इस बात को एक वर्ष बीत गया है। सुरेश ने अपनी एक दूसरी सहपाठिनी शकुंतला से विवाह कर लिया है, पर प्रतिभा अभी एकाकी बनी हुई है। इन कटु अनुभवों ने जहाँ उसके चंचल सौंदर्य को सौम्यता प्रदान कर दी है, वहाँ उसकी आँखों को ऐसी गहराई बख्शी है जिसके लिए बहुत-सी चीजें पारदर्शी हो गयी हैं। उसके आकर्षण के केंद्र उसकी यही आँखें और उसका वह सूक्ष्म चांचल्य है, जो यद्यपि उसके कटु अनुभवों के कारण सौम्यता की चट्टान के बहुत नीचे दब गया है, पर कभी-कभी जोर मारकर चट्टान को हिला देता है।

वह पहले भी कम सुंदर न थी; परंतु इन सब घटनाओं, अनुभवों और विरक्ति-मय आसक्ति ने उसके आकर्षण को दुर्निवार बना दिया है। रहा उसका प्रेम, तो वह अब उस नदी का-सा है जो एक ओर मार्ग न पाकर दूसरी ओर और दूसरी ओर रुकने पर तीसरी ओर बढ़ती है, और गति के अवरुद्ध होने पर जब पलटती है तो अपने ही किनारों को तोड़ती चली जाती है।

पर्दा उठने पर प्रतिभा एक कोच पर बड़ी अन्यमनस्कता से लेटी दिखायी देती है। उसका सिर कोच के बाजू पर टिका हुआ है, एक पाँव कोच पर है और दूसरा फ़र्श के कालीन पर। कुछ क्षण इसी प्रकार लेटे-लेटे छत की ओर देखती रहती है, फिर थकी-सी अँगड़ाई लेती है।

प्रतिभा—(अँगड़ाई लेते हुए) ओह......ओ! कितना बड़ा शून्य है यह जीवन!! कहीं भी तो कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो ठोस हो; जिसका सहारा लिया जा सके; (बाहों को ढीला छोड़ देती है और वे धप से उसकी गोद में आ गिरती हैं—नौकरानी को आवाज़ देती है) मंदा......मंदा!

मंदा—(आँगन से) जी, आयी। (कुछ क्षण बाद प्रवेश करती है) जी!

प्रतिभा—यह खिड़की खोल दे।

(मंदा खिड़की खोलती है)

प्रतिभा—(उठकर खिड़की के निकट जाती है) ओह, बाहर तो घटा उमड़ी आ रही है और यहाँ आकाश एकदम सूना है। बादल का एक टुकड़ा भी तो कहीं नहीं।

मंदा—कुछ मुझसे कहा दीदी?

प्रतिभा—कुछ नहीं। नींबू के शर्बत का एक गिलास बना ला।

मंदा—अभी तो खाना खाकर आप.......

प्रतिभा—बहस नहीं, जो कहा है, कर।

मंदा—जी, अच्छा।

[चली जाती है—बैक ग्राउंड में प्रतिमा के पिता श्री रामनारायण मल्लिक की आवाज आती है]

श्री मल्लिक—दीनू, साफ कर दिया साइकिल ? मुझे दफ्तर समय पर पहुँचना है। टेकनिकल यूनिट की मीटिंग होनेवाली है पूरे सवा दो बजे। और वे मेरे फाइल उठाकर कैरियर के साथ बाँध दे। (आँगन के दरवाजे से आकर बड़बड़ाते हुए बरामदे की ओर जाते जाते) नाक में दम आ गया इस लड़ाई के मारे। पेट्रोल ही नहीं मिलता और साइकिल पर रोज देर हो जाती है। और फिर धूल एकदम निकृष्ट ऋतु है!—इस तपती दुपहर और उड़ती धूल में साइकिल पर दफ्तर जाना—एक मुसीबत है। (बेजारी से सिर हिलाते हुए बरामदे के दरवाजे से निकल जाते हैं।)

प्रतिमा—(वापस मुड़ते हुए) दफ्तर और फाइल! पापा को इन दो चीजों के अतिरिक्त दुनिया में किसी वस्तु से सरोकार नहीं।

[शृंगार मेज के सामने जा खड़ी होती है और यों ही दर्पण में देखते हुए बालों पर हाथ फेरती है। आँगन से प्रतिमा की माँ का स्वर सुनायी देता है।]

माँ—मैं पूछती हूँ वह सदा कमबख्त किधर गयी ? डिनर पर आज क्या बनेगा कुछ इसकी भी खबर है। कबाब तो कल बना था, आज क्या होगा ?

प्रतिमा—(वापस आकर काच में घूरते हुए घुटे घुटे स्वर में) लंच और डिनर! ममी को इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं सूझता। अभी लंच से निपटे नहीं कि डिनर की रट लगा दी। कोई समय हो सैर का या आराम का पापा दफ्तर की गाथा ले बैठेंगे और ममी लंच या डिनर की। रह गयी सीमा और मीला तो वे . . . . .

[प्रतिमा विद्युत्-वेग से प्रवेश करती है—सत्रह-अठारह वर्ष की युवती एफ० ए० में पढ़ती है। सुंदर है, चंचल है, जलने और जलाने में ज्वाला के सभी गुणों से विभूषित है।]

प्रतिमा—दीदी, दीदी तनिक देखना। मैं ठीक भी लायी हूँ ये चीजें ? पूरी न समाती थी मीला अपने टायलेट बक्स पर। परंतु कजाल लायी हूँ मैं भी। देखा यह लिपस्टिक यह पाउडर यह फाउंडेशन लोशन!—सब आर्डीना के हैं। और यह ड्रबीगॉन का रूज और मस्कारा और आइ ब्रो पेंसिल (हँसती है—आत्म-तुष्टि की हँसी) क्या है न फर्स्ट रेट। जल जायेगी मीला। (जैसे आयी थी वैसे ही विद्युत् वेग से भाग जाती है।)

प्रतिमा—कोई सीमा भी है! टायलेट के सिवा इन लडकियों को और कुछ आता ही नहीं।

[बैक ग्राउंड में हारमोनियम के साथ धीरे धीरे गाने का स्वर उठता है—]

यह सावन का घन आया
क्या नया सँदेशा लाया

(उठकर व्यग्रता से कमरे में घूमती है) नीहार साँझ की पार्टी के लिए अभ्यास कर रही है शायद। वही भावुक, घटिया, फिल्मी गाने। न-जाने ये लोग किस प्रकार इतना समय ऐसे थर्ड-रेट गीत सुनने और गाने में निकाल लेते हैं।

(गाना बराबर चलता है :—)

रिम-झिम रिम-झिम बून्दियाँ बरसें
नयन दरस को तेरे तरसें
साजन, ओ साजन
डेरा परदेश लगाया

अत्यंत संकीर्ण और परिमित है घेरा इनके जीवन का—बस, उसी में घूमे जाते हैं, रात-दिन उसी में घूमे जाते हैं—बाहर निकलने का तनिक भी प्रयास नहीं करते। कोई कुलाँच नहीं; कोई उड़ान नहीं; उच्च, उत्ताल, उद्दाम जीवन के लिए कोई इच्छा नहीं, संघर्ष नहीं !

(गाना बराबर चलता है :—)

जीवन में जवानी आयी
मस्ती मस्ताना छायी
साजन, ओ साजन
दिल बैठ-बैठ घबराया

आज फिर मन मस्तिष्क को बलात् यह सब सुनना पड़ेगा। पापा फ्लैट भी तो नहीं बदलते (स्वयं ही व्यंग्य से हँसती है) बदल भी लें तो क्या ? पापा, ममी, तीमा, मीला और उनकी निरर्थक पें-पें—कहीं मुक्ति नहीं—इस झूठे, निकम्मे, खोखले जीवन से कहीं मुक्ति नहीं !

यह सावन का घन आया
क्या नया सँदेशा लाया

[बैक-ग्राउंड में गाने का स्वर बराबर आता रहता है। प्रतिभा व्यग्रता से खदबदाती-सी कमरे में घूमती है, फिर जाकर बरामदे का दरवाज़ा बन्द कर देती है। गाने की आवाज़ अत्यधिक धीमी पड़ जाती है। प्रतिभा नौकरानी को आवाज़ देती है और खिड़की में जा खड़ी होती है।]

प्रतिभा—मन्दा !

(कोई उत्तर नहीं देता।)

(क्षण-भर बाद फिर आवाज़ देती है) मन्दा !

मन्दा—(आँगन से) जी लायी !

(फिर खिड़की में बाहर देखने लगती है। नीलिमा प्रवेश करती है।)

नीलिमा—तीमा! [प्रतिभा अपने ध्यान में मग्न बाहर खिड़की में उमड़ते घुमड़ते बादलों का देख रही है] (पास आकर) तीमा . प्रतिमा!

प्रतिमा—(मुड़कर) आओ नीली! करा सिखा आयीं गाना नीहार को?

नीलिमा—गाना?

प्रतिभा—हाँ, साँझ की पार्टी के लिए।

नीलिमा—नहीं मैं तो अभी-अभी आ रहा हूँ बाजार से। प्यास लग रही थी, सोचा पानी पीकर ही ऊपर जाऊँ।

प्रतिमा—आओ, बैठो। (नौकरानी को आवाज़ देती है) मन्दा.....मन्दा!

मन्दा—(आँगन से) लायी दीदी!

प्रतिभा—क्या हो गया तुझे? इतनी देर हो गयी और एक गिलास शरबत.....

नीलिमा—अरे! तो दो मँगाओ।

प्रतिभा—नहीं, मैंने तो यों ही मँगाया था। जी कुछ घुट-सा रहा था। प्यास नहीं है मुझे। (नौकरानी को आवाज़ देती है) मन्दा! (बढ़कर आँगन की ओर जाने लगती है।)

नीलिमा—(उसे बैठाते हुए स्वयं भी बैठती है।) बैठो, आ जायेगी मन्दा। (स्वर को धीमा करके) मुझे आज चाँदनी चौक में सुरेशजी मिल गये।

प्रतिमा—(चुप रहती है।)

नीलिमा—उनके साथ शकुतला भी थी।

प्रतिमा—(चुप रहती है।)

नीलिमा—(अरमान भरे स्वर में) जोड़ी बुरी तो न थी तुम्हारी तीमा। छिपकी-सी लगती है कु ती सुरेश के साथ। पर तुम .. तुम्हारी जोड़ी सुदर थी। क्यों न चल सके तुम दोनों?

प्रतिभा—(जैसे इस जिक्र से ही उसे कष्ट होता है) कई बार तो बता चुकी हूँ, किसी प्रकार की बौद्धिक समानता न थी हम दोनों में।

नीलिमा—तुमने प्रयास ही नहीं किया।

प्रतिभा—व्यर्थ था।

नीलिमा—फिर विवाह ही क्या किया था तुमने? (प्रतिभा कोई उत्तर नहीं देती) तुम्हें पहले से संदेह होगा, तभी तो सिविल मैरेज पर जोर देती थीं तुम!

प्रतिभा—हटाओ इस किस्से को। मैं सुरेश की टेनिस पर मुग्ध थी, पर उसके जीवन का घेरा इतना परिमित है, इसका मुझे स्वप्न में भी ध्यान न था, जीवन भर उसी परिधि में बँधे रहने की कल्पना भी कष्टप्रद थी। शकु तला प्रसन्न रहेगी वहाँ। मैं तो इसी तरह अच्छी हूँ। बहिर्जगत से जितना चाहती हूँ, रस ले लेती हूँ नहीं तो घोंघे की भाँति

अपने-आप में मस्त पड़ी रहती हूँ। बहुत ऊब जाती हूँ तो प्रोफ़ेसर नीलाभ के पास चली जाती हूँ।

नीलिमा—नीलाभ!

प्रतिभा—उनके पास कुछ पल बिताने से मुझे शांति मिल जाती है। एक प्रकार से एकाकी-सा जीवन व्यतीत कर रहे हैं वे।

नीलिमा—परंतु आयु तो उनकी कुछ इतनी अधिक नहीं।

प्रतिभा—आयु का प्रश्न नहीं। उन्होंने इतना काम किया है और इस निष्ठा से किया है कि थक-से गये हैं और समस्त कोलाहल से दूर, आराम से पड़े लिखने-पढ़ने में व्यस्त रहते हैं। उनकी अनुभूतियाँ इतनी विशाल और गहरी हैं और ज्ञान की इतनी बड़ी निधि उनके पास है कि उनके निकट कुछेक पल बिताने से मन हल्का हो जाता है। मैं तो जब इस वातावरण से ऊब उठती हूँ, उनके पास चली जाती हूँ।

नीलिमा—तुम पुनर्विवाह क्यों नहीं कर लेतीं?

प्रतिभा—विवाह!

नीलिमा—हाँ, प्रदीप, नारायण, विश्वा, नगेंद्र और अब ज्ञान साहब—इस फ्रस्ट्रेशन[1] से लाभ!

प्रतिभा—मैंने पहली बार ही विवाह करके ग़लती की। वास्तव में मेरी प्रकृति विवाह के अनुकूल ही नहीं। मेरे मस्तिष्क के किसी कोने में स्वतंत्र और सुसस्कृत जीवन का कुछ ऐसा सुंदर, सजीव और पवित्र चित्र अंकित है कि मैं अब फिर विवाह करके उसे पुनः भ्रष्ट नहीं करना चाहती। यही कारण है कि सुरेश से मेरी चार दिन भी न बन सकी। मेरा वश चले तो मैं कहीं एक किनारे बैठकर अपनी उसी दुनिया के सुख-स्वप्न में अपना जीवन बिता दूँ, पर इस समाज में ऐसा संभव नहीं, सो मैं सबसे मिलती हूँ, परंतु कमल के पत्ते की भाँति—पानी में रहकर भी उससे ऊपर।

[उठकर खिड़की में जा खड़ी होती है। चुपचाप बाहर की ओर देखने लगती है। तभी मंदा शरबत का गिलास लेकर आती है।]

मंदा—बड़ी दीदी, शरबत!

प्रतिभा—(मुड़कर) इनको दे।

नीलिमा—(शरबत का गिलास लेते हुए) तुम हमारे लिए सदा एक पहेली बनी रहीं तीभा। (शरबत का घूँट भरते हुए) कहो, तुम्हारा ब्लाऊज़ सिल गया?

प्रतिभा—नहीं, अभी नहीं सिला।

नीलिमा—मेरा तो सिल गया। स्लीव लेस[2] ही सिलवाया मैंने। तुमने जो कहा था कि स्लीव लेस......

१—विक्षसि २—बिना अस्तीन का।

प्रतिभा—मैंने तो फुल स्लीव का बनवाया है।

नीलिमा—फुल स्लीव का! किस प्रकार की हैं बाहें?

प्रतिभा—आधुनिक रूसी ढंग की (हँसती है) एकदम निरावरण सौंदर्य से अधखुला-अधढका, झीना झीना सौंदर्य कहीं आकर्षक लगता है।

नीलिमा—तब तो साड़ी भी बॉटल ग्रीन रंग की होगी।

प्रतिभा—हाँ, क्यों? (प्रतिभा फिर खिड़की में देखती है।)

नीलिमा—उस दिन जब मैंने यही दोनों चीजें पसंद की थीं तो तुम हँस दी थीं और अब.. यह खिड़की में बार-बार किसको देख रही हो?

प्रतिभा—खिड़की में किसी को भी नहीं .. योंही उमड़ते हुए बादलों को देख रही थी।

नीलिमा—(अपनी बात का तार पकड़ते हुए) और उस समय जिन चीजों पर तुमने नाक-भौं चढ़ायी थीं, वही तुमने अब आप सिलवा लीं।

[मदा दरवाज़े से झाँकती है।]

मदा—बड़ी दीदी, दर्जी आया है।

प्रतिभा—बुला ला!

नीलिमा—तुमने कहा था, स्लीव्ज़ नारी की उस दासता का चिह्न है जब उसे सात पर्दों के अंदर रखा जाता था। अब जीवन आजादी चाहता है। वर्षा ऋतु की शीतल, सरसराती बयार में स्लीव-लैस ब्लाऊज का आनंद...

[दर्जी प्रवेश करता है।]

दर्जी—सलाम हुजूर।

प्रतिभा—क्यों मियाँ साहब, बहुत दिनों में आये। कहो, कर लाये ठीक? अब तो कहीं से तंग नहीं?

दर्जी—पहनकर देख लीजिए, सरकार! हाँ, हाँ, इसी ब्लाऊज पर पहन लीजिए। कुछ टाइट फिट सिया था, नहीं कट (Cut) तो इतनी अच्छी है सरकार, कि इसी को देखकर मिसेज जमील अपना ब्लाउज़ सीना दे गयी।

प्रतिभा—(ब्लाऊज पहनते हुए) हाँ, इस बार तो ठीक लगता है। क्या नीला?

नीलिमा—तुमने खूब उल्टा बनाया मुझे तीभा! कितना फबता है तुम्हारे अंगों पर! मैं तो इसी समय बाजार जाऊँगी और खड़े खड़े इसी स्टाइल का ब्लाउज सिलवाकर लाऊँगी।

दर्जी—सारे का सारा हाथ का सिला है, हुजूर! दो दिन लग गये केवल इसकी चुन्नटें डालते। ......

प्रतिभा—(ब्लाउज उतारकर देते हुए) और साड़ी?

दर्जी—यह रही सरकार !

प्रतिभा—इधर मेज़ पर रख दो और देखो मियाँ साहब, दूसरे कपड़े भी जल्दी सियो।

दर्जी—(साड़ी को मेज़ पर रखते हुए) बस, परसों ले लीजिए हुजूर।

[ब्लाउज़ को तह लगाकर साड़ी के ऊपर रखता है और 'सलाम हुजूर' कहकर चला जाता है]

नीलिमा—हमारा दर्जी ब्लाउज़ सीकर लाया तो जगन भी बैठा था। बोला, यह कैसा सन्यासिनों का-सा रंग चुना है आपने ?

प्रतिभा—जगन, कौन जगन ?

निलिमा—अरे जगन...इंडिपेंडेंट क्रिकेट टीम का कप्तान !

प्रतिभा—ओह ! कदाचित् अब क्रिकेट खेलते-खेलते उसका मन उकता गया है। अब वह स्वयं गेंद बनना चाहता है (हँसती है) देखना बेचारे को ग्राउंड के पार ही न फेंक देना।

नीलिमा—तुम सबको अपने-जैसा ही समझती हो। वह तीमा के कारण......

प्रतिभा—(उसकी बात को सुना-अनसुना करके हँसते हुए) ठोकर मारो, किंतु ऐसी भी नहीं कि फिर पाना चाहो तो पा ही न सको।

नीलिमा—तुम्हारे उन दार्शनिक महाशय का क्या हाल है ?—ग्राउंड से परे ही पड़े हैं या बरे आ गये हैं ?

प्रतिभा—दार्शनिक महाशय ?

नीलिमा—प्रो० ज्ञानचन्द्र........!

प्रतिभा—हमारे मध्य वही अंतर है—न कम न ज्यादा ! अंतर को एक-जैसा रखना मुझे खूब आता है। हमारी मित्रता बौद्धिक है। मैं सदा उन लोगों को पसंद करती हूँ......

नीलिमा—जो तुमसे बौद्धिक मैत्री रख सकें ! (व्यंग्य से) यह बौद्धिक मैत्री भी खूब ढोंग है तुम्हारा। जबसे ज्ञान साहब यूनिवर्सिटी में आये हैं अथवा यों कह लो कि पड़ोस में आये हैं, तुम तो बस घर ही की होकर रह गयी हो। न सिनेमा......

प्रतिभा—मस्तक जिनका शून्य है, उन्हींको भाता है सिनेमा।

नीलिमा—न पिकनिक, न सैर तमाशा.........

प्रतिभा—बेकार लोगों के व्यसन हैं। मैं जब भी कभी सिनेमा जाने को विवश हुई हूँ, मुझे अपार मानसिक यंत्रणा सहनी पड़ी है। ऐसे निकम्मे और भोंड़े चित्र बनाती हैं हमारी फिल्म कंपनियाँ कि मैं पागल हो उठती हूँ। जी चाहा करता है—जाकर सिनेमा के पर्दे को फाड़ दूँ और ज़ोर-ज़ोर से चीख उठूँ।

निलिमा—तुम भी खूब बनती हो तीमा। हरदत्त साहब के साथ तो... .....

प्रतिभा—मैं कई बार सिनेमा देखने गयी हूँ, यही कहना चाहती हो न तुम? पर सुरेश के साथ संबंध तोड़ने के पश्चात् मैं अपने को कुछ इतनी अकेली-अकेली, ऊबी-ऊबी, थकी-थकी पाती थी, हरदत्त कुछ इतना अनुरोध करते थे कि विवश होकर चली जाती थी।

नीलिमा—हरदत्त सिनेमा के बड़े रसिया हैं।

प्रतिभा—वे सदैव एक बुद्धिवादी का आवरण चढ़ाये रहते हैं, पर जब वे सिनेमा-हाल में बैठे बैठे अपने खोल को भूलकर, थर्ड-रेट गानों पर सिर धुनने लगते हैं, तो मैं प्राय: हँस देती हूँ और कई बार जब फ़िल्म अत्यंत निकृष्ट होता है, मेरा जी चाहा करता है कि अपना और उनका गला घोंट दूँ।

नीलिमा—प्रोफ़ेसर ज्ञान सिनेमा पसंद नहीं करते?

प्रतिभा—वे बुद्धिवादी हैं। उनके निकट सिनेमा देखना समय नष्ट करने के बराबर है।

नीलिमा—तुम भी तो बुद्धिवादी हो।

प्रतिभा—यही तो मुसीबत है। कभी जब मैं बाहर जाना चाहती हूँ तो वे नहीं चाहते और कभी जब उनका जी होता है तो मेरा मूड नहीं होता।

नीलिमा—न-जाने तुम दोनों घंटों बैठे क्या मिसकोट करते रहते हो। मैं तो ऊब जाऊँ ऐसी बौद्धिक मैत्री से। खाली बैठे बैठे उकता जाये मेरा तो मन!

प्रतिभा—ज्ञान साहब के साथ कभी ऐसा नहीं लगा कि हम खाली हैं अथवा समय व्यर्थ गँवा रहे हैं। उनके दृष्टि-कोण, उनके दृष्टि-मूल्य सब दूसरों से भिन्न हैं। उन्होंने स्वयं प्रो॰ नीलाभ से शिक्षा प्राप्त की है और मैं सच कहती हूँ नीली, कभी कभी मुझे ऐसे लगता है कि अंत को जैसे मैं .. .मैं.. ..

नीलिमा—तुम उपयुक्त साथी पा गयी हो। मेरी बधाई लो पर देखो, तुम और कहीं जाओ या न जाओ, पर अपने इस बौद्धिक संगी को लेकर मेरे यहाँ संध्या को अवश्य पहुँच जाना। मंदा और दीनू की मुझे आवश्यकता होगी। तुम जानती हो, नौकर हमारा बीमार है, केवल एक दो घंटे की बात है, अपनी ममी से कह देना।

(मंदा आती है।)

मंदा—बड़ी दीदी, एक साहब मिलने आये हैं। यह रुक्का दिया है।

प्रतिभा—(रुक्का देखते हुए) जगनाथ!

नीलिमा—अरे जगन है। लो, वह यहाँ आ पहुँचा। पार्टी का सब प्रबंध तो वास्तव में वही कर रहा है।

प्रतिभा—बुलाओ तो देखें तुम्हारे क्रिकेटर को। इसी प्रकार हमारा भी क्रिकेट से थोड़ा बहुत परिचय हो जायगा।

नीलिमा—नहीं भई, अब जाने दो। साँझ को आना ज्ञान साहब के साथ परिचय छोड़ क्रिकेट की सारी टेकनीक सीख लेना (उठते हुए लंबा साँस लेकर) कितना अच्छा लगता है यह ब्लाउज़ तुम्हें !

प्रतिमा—तुम्हें इतना पसंद है तो ले जाओ। एक ही तो साइज़ है हम दोनों का, मैं तुम्हारेवाला पहन लूँगी।

नीलिमा—ले जाऊँ, सच !

प्रतिमा—ले जाओ, पहनकर देख लो।

नीलिमा—(साड़ी और ब्लाऊज़ की ओर अरमान-भरी आँखों से देखकर) नहीं भई, तुम्हीं पहनो।

प्रतिमा—न-जाने किस क्षणिक भावना के अधीन मैंने इसे सिलवा लिया। अब पहनते हुए संकोच होता है। न-जाने कभी-कभी मन कैसा हो जाता है। चाहती हूँ, अपनी इस सारी बौद्धिकता को उठाकर एक ओर रख दूँ और साधारण लोगों की भाँति हँस-खेल सकूँ, पर दूसरे ही क्षण प्रतिक्रिया आरंभ हो जाती है। तुम यह ले जाओ नीली। मैं तुम्हारे वाला पहन लूँगी।

नीलिमा—(उदास हँसी के साथ) तुम जो भी पहनोगी, सब उसी की प्रशंसा करेंगे। अभी रखो। आवश्यकता हुई तो मँगा लूँगी।

(बैक-ग्राऊंड से फिर गाने की ध्वनि आती है :—)

यह सावन का घन आया
क्या नया सँदेशा लाया

यह नीहार तो पड़ी है बाजे के पीछे। दो दिन हुए, पं० अमरनाथ सिखा गये थे यह धुन। बस, जब देखो सावन का घन चला आ रहा है। कान पक गये सुनते-सुनते। लो, अब पहुँच जाना ज्ञान साहब को लेकर। मैंने उन्हें निमंत्रण भिजवा दिया है; फिर याद दिलाने का प्रयास करूँगी। पर यदि उन्हें निमंत्रण-पत्र न मिला, या मैं याद न दिला सकी तो तुम लेती आना अपने साथ। बाई......बाई !

(चली जाती है। बैक-ग्राऊंड में गाना और भी साफ़ सुनायी देता है।)

सब सखियाँ नाचें - गायें
मिल - जुल सावनी मनायें
साजन, ओ साजन
क्या नव-जीवन है छाया
यह सावन का घन आया
क्या नया सँदेशा लाया

प्रतिमा—(उठकर अपने-आपसे) नया संदेश और नया जीवन ! (एक कटु व्यंग्य-मय हँसी के साथ) फ़िल्मी गाने, फ़िल्मी फ़ैशन और फ़िल्मी जीवन . . . . ऊँह ! (विरक्ति से सिर हिलाती है। टेलीफ़ोन की घंटी बज उठती है) (चोंगा उठाकर) हेलो हैलो कौन ? हरदत्त साहब . . नमस्कार, नमस्कार. . . धन्यवाद। पर आज तो क्षमा कीजिए (हँसती है) नहीं, नहीं यह बात नहीं। आज नीहार की वर्षगाँठ है। अभी अभी नीलिमा बुला गयी है। न गयी तो जीवन-भर क्षमा न करेगी अजी छोड़िये। न नयी, न पुरानी, फ़िल्मों की तो एक ही दुनिया है—घटिया, भावुक और रूमानी . . . हाँ, अवश्य पधारिये, पर सिनेमा में न जाऊँगी। नमस्कार !

(चोंगा रख देती है। मदा दरवाज़े से झाँकती है।)

मदा—प्रोफ़ेसर ज्ञान आये हैं, बड़ी दीदी !

प्रतिमा—ले आ।

मदा—(बैक ग्राऊंड में आवाज़ देती है) चले आइये साहब !

(प्रोफ़ेसर ज्ञान प्रवेश करते हैं।)

ज्ञान—(आते हुए) नमस्कार !

प्रतिमा—(मुख पर मुस्कान झलक उठती है, परन्तु मस्तक की रेखाएँ नहीं मिटतीं।) नमस्कार ! आइये, बैठिये।

ज्ञान—कहिए, कुशल तो है ? ये लकीरें-सी कैसी हैं मस्तक पर ?

प्रतिमा—मेरी छोड़िये, अपनी कहिये, इतने दिनों से दिखायी नहीं दिये आप ?

ज्ञान—एक नाटक लिखने का प्रयास कर रहा था।

प्रतिमा—(हँसकर) नाटक ! नाटक आप कबसे लिखने लगे ? दिखाइये !

ज्ञान—(आराम कुर्सी पर बैठते हुए) लिख नहीं सका। जो कुछ लिखा था उसे फाड़कर आपकी ओर चला आया हूँ। (हँसते हैं) इतना कुछ पढ़ने के पश्चात् लिखना शायद अब दुष्कर है।

प्रतिमा—यही दशा मेरी है। कई बार जी चाहता है कि अपनी सब उदासी, सब घुटन, समस्त व्यग्रता पंक्तिबद्ध कर दूँ। बहुत सोचती हूँ, खाके बनाती हूँ, पर जब लिखने बैठती हूँ तो दो पंक्तियाँ भी नहीं लिख पाती।

ज्ञान—मेरा विचार है, आपको फिर शादी कर लेनी चाहिए। आपकी सब उदासी, घुटन, व्यग्रता समाप्त हो जायगी।

प्रतिमा—शादी ! (हँसती है)

ज्ञान—फ्रायड का कथन है......

प्रतिभा—मैंने फ्रायड पढ़ा है, पर कदाचित् मैं उन लोगों में से हूँ, जो शादी के लिए नहीं बने। आप नाटक किस विषय पर लिख रहे थे?

ज्ञान—फ्रायड कहता है—पवित्र प्रेम मात्र कपोल-कल्पना है। प्रत्येक प्रेमी अपने हृदय की किसी गहन गुफा में यौन-भावना को छिपाये होता है—परंतु मेरा विचार है कि स्थायी प्रेम उतना शारीरिक नहीं होता जितना आध्यात्मिक।

प्रतिभा—स्थायी प्रेम तृष्णा का दूसरा नाम है।

ज्ञान—आप ठीक कहती हैं। प्रायः स्थायी प्रेम तृष्णा के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। मानव अपने प्रेमी के साथ अपनी यौन भावना को तृप्त नहीं कर पाता और जीवन-भर उस अतृप्ति की आग में जलता रहता है। समझता है कि उसे अपने प्रिय से अमर, अनंत, कभी न कम होनेवाला, न मरनेवाला पवित्र प्रेम है।

प्रतिभा—यद्यपि उसके हृदय में निरंतर सुलगनेवाली वस्तु प्रेम नहीं वरन् सेक्स की वह सुलगती चिनगारी होती है जो कभी धधककर ज्वाला न बनी।

ज्ञान—आप ठीक कहती हैं। दूसरा प्रेम वह होता है जो मात्र वासना की तृप्ति ही को अपना ध्येय समझता है। प्रायः लोग अपनी सुंदर, सुशील, पतिव्रता स्त्रियों को छोड़कर बाज़ार की किसी अनुभवी वेश्या की चौखट पर माथा रगड़ते हैं और समझते हैं कि उन्हें उस वेश्या से अथाह, अपार प्रेम है। यद्यपि उनका प्रेम उस शारीरिक आनंद से अधिक कुछ नहीं होता जो उन्हें घर की शर्मीली-लजीली संगिनी के सान्निध्य में प्राप्त नहीं होता।

प्रतिभा—जी!

ज्ञान—परंतु कई बार ऐसा भी होता है कि पुरुष नारी से विवाह करने को विवश होता है, जो न केवल उसके लिए कोई विशेष शारीरिक आकर्षण नहीं रखती, बल्कि जिसके शरीर से वह उपेक्षा भी रखता है, परंतु धीरे-धीरे वह नारी अपनी सरलता, शालीनता और बुद्धिमत्ता से उसके मन-मस्तिष्क पर ऐसे छा जाती है कि वह उससे उपेक्षा के बदले प्रेम करने लगता है और उसके सीधे-सादे रूप में भी सौंदर्य ढूँढ़ लेता है। उसके उस प्रेम में शारीरिक प्रेम के टाइफाइड का-सा ज्वर नहीं होता वरन् दिक की-सी हल्की-हल्की उष्णता होती है, परंतु उस धीमी-धीमी उष्णता से उसे जीवन भर मुक्ति नहीं मिलती।

प्रतिभा—आपको शादी कर लेनी चाहिए।

ज्ञान—(आशा-भरे स्वर में) शादी!

प्रतिभा—(हँसकर) किसी ऐसी ही कुरूप पर बुद्धिमती, सुशील, लड़की से। (हँस देती है।)

ज्ञान—हम बुद्धिवादी प्रेम के सन्निपात की जंजीरों से कब के निकल आये हैं।

हमारे यहाँ प्रेम की चिनगारी सुलग तो सकती है, ज्वाला नहीं बन सकती। यह ब्लाउज और साड़ी किसकी है? प्रतिमा की होगी।

प्रतिभा—नहीं, मेरी है।

ज्ञान—आपकी!

प्रतिमा—(हँसते हुए) सुलगती हुई चिनगारी को कभी-कभी ज्वाला बनाने का प्रयास किया करती हूँ।

ज्ञान—यह तो बड़ी भड़कीली है। सर्वथा बच्चों की-सी। आप तो इतनी सौम्य हैं। . ..

प्रतिभा—मनुष्य ज्यों-ज्यों बड़ा होता है उसकी आकांक्षाएँ अतीत की ओर भागती हैं। मैं एक बार फिर बच्ची बन जाना चाहती हूँ। आज साँझ नीली के यहाँ पार्टी है।

ज्ञान—ओह!

प्रतिभा—आपको भी तो निमंत्रित किया है।

ज्ञान—किया तो है, पर मेरा वहाँ जाने का तनिक भी विचार नहीं। आप जा रही हैं?

प्रतिभा—बैठे-बैठे उकता गयी थी। सोचा कि हो आऊँ। एक सीढ़ी ही तो है। न गयी तो नीलिमा रूठ जायगी। नीहार की वर्षगाँठ है।

ज्ञान—वर्षगाँठ (हँसते हैं) ये लोग पार्टियों के नित्य नये बहाने गढ लेते हैं।

प्रतिभा—आप स्केप्टिक[1] हैं।

ज्ञान—जो हो, पर मैं तो इन पार्टियों में जाकर ऊब उठता हूँ। स्त्रियाँ इस बात का यत्न करती हैं कि वे अपनी कुरूपता को अधिक-से अधिक छिपा सकें और पुरुष इस बात का कि व अधिक-से अधिक शिवेलरस दिखायी दें—वही खोखले शिष्टाचार, वही भांडे मजाक, वही भद्दे फैशन! इन पार्टियों से अधिक विरस और कोई वस्तु नहीं। इससे तो अच्छा है कि चलिये कनाट प्लेस चलें, ज़रा काफी पियें।

प्रतिमा—नहीं, पार्टी में तो जाना ही पड़ेगा। रही साड़ी, यह अब न पहनकर जाऊँगी। यह नीली को दे दूँगी। उसे बहुत पसंद है।

ज्ञान—हाँ, यह उसे दे दीजिये।

प्रतिमा—एक बार पहनकर तो देखूँ, कैसी लगती है।

[साड़ी ब्लाउज लेकर अंदर कमरे की ओर जाने लगती है, प्रो० ज्ञान जाने को उठते हैं।]

प्रतिमा—अरे चल दिये, बैठिये ना!

ज्ञान—नहीं, मैं अब चलता हूँ।

१—सन्देहशील।

प्रतिभा—बैठिये भी। पानी बरसा चाहता है। भीग जायँगे आप। मैं साड़ी बदल-कर आयी, तनिक देखिये तो कैसी लगती है मुझे।

(अंदर चली जाती है, मंदा आती है।)

मंदा—(दरवाजे से) दीदी...(अंदर आकर) बड़ी दीदी किधर गयीं ?

ज्ञान—अंदर कपड़े बदल रही हैं।

मंदा—एक साहब आये हैं। यह कार्ड दिया है।

प्रतिभा—(अंदर कमरे से) कौन हैं ?

ज्ञान—(कार्ड पढ़कर) जगननाथ !

प्रतिभा—क्रिकेट-टीम के कप्तान ?

ज्ञान—कह नहीं सकता। यहाँ तो केवल जगननाथ लिखा हुआ है।

प्रतिभा—वही हैं, वही हैं। मंदा ले आ उन्हें। ज्ञान साहब जरा बैठाइयेगा। नीली के मित्र हैं।

मंदा—(बैक-ग्राउँड में) आ जाइये।

(जगन आता है, उसके एक हाथ में पैकेट है।)

जगन—(जोश से) गुड आफ्टरनून !

ज्ञान—(बेदिली से) गुड आफ्टरनून। आइये, पधारिये।

जगन—मिस नारायण कहाँ हैं ?

ज्ञान—साथ के कमरे में हैं, अभी आती हैं। कहिये, कुछ पीजियेग ?

जगन—धन्यवाद। मैं तो यहीं ऊपर के फ्लैट से आ रहा हूँ।

ज्ञान—ऊपर के फ्लैट से ?

जगन—मिस नीलिमा के यहाँ से।

ज्ञान—ओह—!

(प्रतिभा नयी साड़ी और ब्लाउज़ पहनकर आती है।)

जगन—(उठकर) नमस्ते जी !

प्रतिभा—नमस्ते। कहिये आप ही मिस्टर जगननाथ हैं—इंडिपेंडेंट क्रिकेट-टीम के कप्तान ?

जगन—(रंग लाल हो जाता है) जी !

प्रतिभा—ये हैं प्रोफेसर ज्ञानचन्द्र। यूनिवर्सिटी में दर्शन के अध्यापक हैं।

जगन—(उठकर बड़े तपाक से मिलाने को हाथ बढ़ाते हुये) हाऊ डू यू डू !

ज्ञान—(यह देखकर कि जगन ने हाथ बढ़ा दिया है, अतीव अन्यमनस्कता से हाथ बढ़ाते हुए) हाओ डू यू डू ?

प्रतिभा—कहिए, कैसे पधारे ?

जगन—नीलिमा जी ने यह रुक्का दिया है और यह पैकेट !

प्रतिभा—(रुक्का पढ़कर) मैं यों ही पहनकर देख रही थी। अभी बदलकर ला देती हूँ।

जगन—यही साड़ी नीलिमाजी ने माँगी है ?

प्रतिभा—जी !

जगन—यह तो बड़ी सुन्दर लगती है आपको। आपके सुनहले बालों के साथ इसका बॉटल ग्रीन रंग . . वाह !

प्रतिभा—(मानो प्रशंसा का न सुनते हुए) नीलिमा को यह बड़ी पसंद है।

जगन—पर वे तो वे तो वे तो कुछ. . .

प्रतिभा—मैं इतने शोख रंग पसंद नहीं करती।

जगन—(अनिमेष दृष्टि से प्रतिभा को देखते हुए) यह तो लगता है जैसे आप ही के लिए बनी है। नीलिमाजी तो इसमें बिल्कुल गुड़िया सी दिखायी देंगी !

प्रतिभा—(उल्लास को छिपाकर विनम्रता से) मुझे सुर्मियाना रंग पसंद है। लाइये, दीजिये मुझे, मैं बदल लूँ।

जगन—फिर बदल लीजियेगा कनाट प्लेस से आकर।

(साड़ी को मेज पर रख देता है।)

प्रतिभा—पर मैं तो अभी नहीं जा सकती।

जगन—नीलिमाजी ने लिखा नहीं।

प्रतिभा—उसने लिखा है, पर मेरा मन कुछ ठीक नहीं।

जगन—कुछ शॉपिंग (Shopping) करनी है और मुझे यह सब आता नहीं।

प्रतिभा—नीलिमा क्या नहीं जाती आपके साथ ?

जगन—वे तो फर्निचर सजाने में लगी हुई हैं। चलिये, वहाँ काफी हाउस में एक एक कप काफी पियेंगे और . .

प्रतिभा—(जैसे उसकी अन्यमनस्कता और उदासी सहसा दूर हो जाती है) कॉफी ! (ताली बजाती है) दैट इज एक्सेलेंट ! (That is excellent !) चलिए, ज्ञान-साहब आप भी चलिये।

ज्ञान—परंतु वर्षा होनेवाली है और मेरा स्वास्थ्य आप जानती हैं ...

जगन—मेरी कार जो है। हम सब कार में चलेंगे।

प्रतिभा—उठिये ! कैसी घटा घिर के आयी है। चलिये, चलिये।

(तीनों चलते हैं।)

(पर्दा)

दूसरा दृश्य

पर्दा दो-अढ़ाई घंटे बाद उसी कमरे में उठता है। प्रतिभा ड्रेसिंग-टेबल के सामने खड़ी, अपने बालों में अँगुलियों से कंघी कर रही है। प्रमिला प्रवेश करती है—बहार तेरह वर्ष की सुंदर, अबोध, चंचल लड़की है ; प्रतिभा की सबसे छोटी बहिन !]

प्रमिला—मुझे बुलाया छोटी दीदी ?

प्रतिमा—मीली, जा तो ज़रा मेरा टायलेट-बक्स उठा ला ! दीदी के कमरे में दर्पण बड़ा है। मैं यहीं तैयार हूँगी, अपने ज़रा-से शीशे के आगे तो मुझसे कुछ होता ही नहीं।

प्रमिला—मैं तो नीचे जा रही हूँ। तुम आप जाकर ले आओ।

प्रतिमा—बड़ी अच्छी है मेरी मीली बहिन, (जाकर उसकी पीठ थपथपाती है) जा भागकर !

प्रमिला—मैं तुम्हारा यार्डीना का पाउडर लूँगी फिर।

प्रतिमा—तुम्हारा जो है।

प्रमिला—मैं तुम्हारा लूँगी।

प्रतिमा—अच्छा, ले लेना। अब जाकर ले आ जल्दी। दीदी आ जायेंगी तो फिर भागना पड़ेगा यहाँ से।

[प्रमिला जाती है। प्रतिमा प्रतिभा की कंघी उठाकर केश सँवारती है और गाती है :—]

दुल्हनिया छमाछम-छमाछम चली
तन पर हँसता इक इक गहना
सावन-भादों जैसे नयना
आज जवानी की फुलवारी
फूली और फली !

प्रमिला—(आते-आते दरवाजे से) किसकी दुल्हनिया ? (शरारत से मुसकराती है) जगन भैया की ?

प्रतिमा—हश्त ! ला इधर !

(बरामदे में प्रतिभा और जगन बातें करते हुए आते हैं।)

जगन—यह सामान आप नीलिमाजी के यहाँ भिजवा दें। मैं इतने में आपका ब्लाउज़ और साड़ी ले आता हूँ।

प्रतिमा—मैं अभी दीनू को आवाज़ देती हूँ। दीनू... ..दीनू !

प्रतिभा—ऊई ! लो यह बक्स और भागो।

[दोनों आँगन के दरवाज़े से भाग जाती हैं। प्रतिमा प्रवेश करती है, जगन भी साथ है। वह दरवाज़े के पास ही रुक जाता है।]

जगन—मैं अभी जाता हूँ। सिर पर सवार न हूँगा तो वे कभी समय पर न देंगे ब्लाउज।

प्रतिमा—(दरवाजे के समीप ही) मैं बड़ी आभारी हूँ। आपसे मिलकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। इतना समय बीत गया और पता भी नहीं चला। यह साड़ी ब्लाउज लाने का कष्ट मैंने आपको यों ही दिया।

जगन—कष्ट कैसा, मेरी तो बड़ी देर से इच्छा थी आपसे भेंट करने की। कई बार अवसर ढूँढने का प्रयास किया, पर मिल ही न सका।

प्रतिमा—आप अच्छे समय पर आये, मैं स्वयं कुछ ऊबी ऊबी सी थी।

जगन—(एक हाथ से दीवार का सहारा लेकर, जमकर बात करते हुए) आप कुछ एक्सरसाइज किया करें। स्पोर्टस आदि में भाग लिया करें।

प्रतिमा—(कलाई की घड़ी को देखकर) एक्सरसाइज !

जगन—(बिना इस बात की ओर ध्यान दिये कि प्रतिमा घड़ी से समय देख रही है) शरीर के लिए एक्सरसाइज उतनी ही आवश्यक है, जितनी स्वच्छ वायु। पिंगपाग, बैडमिंटन, टेनस टेनिस, क्या आप को किसी में भी दिलचस्पी नहीं ?

प्रतिमा—(हँसकर) आज तक तो मेरी एक्सरसाइज मानसिक ही रही है। अब सोचती हूँ कोई-न-कोई आउट डोर (out door) खेल अवश्य खेला करूँ। अब आपसे परिचय हुआ है तो.. [बात समाप्त करना चाहती है, नमस्कार के लिए दोनों हाथ भी जरा बढाती है, पर जगन नहीं देखता, अपनी बात जारी रखता है]

जगन—आप अवश्य किसी क्लब की सदस्य बन जाइये, इण्डीपेंडेंट-क्रिकेट-क्लब की मेम्बरशिप बड़ी सीमित है, पर यदि आप चाहें तो बड़ी सुगमता से उसकी सदस्य बन सकती हैं। मैंने प्रतिमाजी से भी कहा था, बड़ा अच्छा हो यदि आप दोनों......

प्रतिमा—प्रतिमा से......!

जगन—उन्हें भी किसी न किसी खेल में अवश्य भाग लेना चाहिए (हँसता है) नहीं वे मोटी हो जायँगी, वास्तव में हमारे देश की सबसे बड़ी ट्रेजेडी ही यह है कि स्त्रियाँ व्यायाम में दिलचस्पी नहीं लेतीं।

प्रतिमा—मैं स्पोर्टस को बहुत पसन्द करती हूँ, पर मेरा अधिक समय अध्ययन में गुजरा है और जिन लोगों से मेरी संगति है, वे सबके सब बुद्धिवादी हैं (फिर घड़ी देखती है)

जगन—(बिना समझे समझे) आप मेरे साथ चलियेगा, इण्डीपेंडेंट क्रिकेट-क्लब स्पोर्टस के विचार से सबसे अच्छा क्लब है, आप किसी खेल में भाग तो लें, आपकी सब थकन, सब उकताहट जाती रहेगी।

प्रतिमा—(ऊबकर विषय को बदलते हुए) यह दीनू नहीं आया (आवाज देती है) दीनू......दीनू !

दीनू—(आँगन से) जी आया ! ("जी", "जी" कहता हुआ भागा आता है)

प्रतिमा—मोटर में कुछ सामान पड़ा है, वह सब ऊपर पहुँचा दे।

दीनू—जी ! (सिर झुकाकर चला जाता है)

जगन—(जिसे यह दखल-अंदाज़ी नहीं भाई, कुछ और जोश से अपनी बात जारी करते हुए) मैं आपसे सच कहता हूँ, मैं बीमार रहा करता था; मेरा रंग पीला-पीला और स्वभाव अत्यधिक चिड़चिड़ा था; परंतु कालेज में प्रवेश करते ही मैंने नियमित रूप से व्यायाम करना आरंभ कर दिया। मैं अत्युक्ति से काम नहीं लेता—हज़ार-हज़ार डंड तो मैं एक ही हल्ले में पेल जाया करता था।

(प्रतिमा एक थकी-सी हँसी हँसती है)

जगन—और बी० ए० तक जाते-जाते मैं अपने कालेज की क्रिकेट-टीम का कप्तान हो गया। क्रिकेट ही नहीं, फुटबाल में भी मैं कालेज की इलैवन में था और फिर लॉंग-जम्प, हाई-जम्प, सौ गज की दौड़, यहाँ तक कि क्रॉस कंट्री रेस......

प्रतिमा—(कलाई पर घड़ी देखकर) सवा पाँच बजने को हैं।

जगन—लीजिए, मैं चला। आप आरंभ तो कीजिए किसी खेल में भाग लेना।

प्रतिमा—आपसे परिचय हो गया है तो......(दोनों हाथ मस्तक पर ले जाती है)

जगन—लीजिए, अभी लेकर आया दोनों चीजें। कितनी सुलझी हुई रुचि है आपकी !—यह नया डिज़ाइन भी कितना अच्छा चुना है आपने !

प्रतिमा—समय पर पहुँच जाइएगा, नहीं तो मैं जा न सकूँगी पार्टी में।

जगन—जी, मैं अभी आया। (चला जाता है)

प्रतिमा—(एक थकी-सी अँगड़ाई लेती है) उफ़ ! कितना सीमित है इस व्यक्ति का घेरा ! कितनी बातें करता है और फिर कितनी निरर्थक और निर अभिप्राय—यह भी नहीं देखता कि दूसरा सुनते-सुनते ऊब गया है (बाजू कौच पर पीछे फेंककर टाँगें पसार लेती है) ईश्वर ने क्यों किसी को संपूर्ण नहीं बनाया ! कितना सुंदर और सुडौल है यह जगन, किंतु मस्तिष्क से कितना शून्य ! और ज्ञान कितने योग्य, पर कितने दुबले पीले ! (सिर कौच के बाजू पर टिकाकर लेट जाती है) प्रोफेसर नीलाभ... प्रोफेसर नीलाभ......कितने सुंदर और फिर कितने योग्य...... !!

(नीलिमा घबरायी हुई-सी प्रवेश करती है)

नीलिमा—मुझे क्षमा करना तीभा, किंतु जगन अभी तक आया नहीं और मैं अपनी ओर से सारा प्रबंध कर चुकी हूँ।

प्रतिमा—हम काफी पीने चले गये थे। प्रो० ज्ञान, मैं और जगन, वहाँ पर हरदत्त साहब भी मिल गये।

नीलिमा—किंतु प्रतिभा... ..

प्रतिभा—रास्ते में मुझे एक रेडी मेड ब्लाउज और साड़ी पसंद आ गयी। ब्लाउज की फिटिंग ठीक न थी, इसलिए दर्जी ही को दे आयी। जगन उसे लेने गया है। ठीक कर दिया होगा अब तक दर्जी ने। अत्यधिक सादा डिज़ाइन है ब्लाउज़ का। स्लीव लेस

नीलिमा—पर तीमा, यह क्या अनर्थ कर दिया तुमने? नीहार रो-रोकर प्राण दे देगी। निर्मल और उसके मित्र आ रहे हैं और घर में कोई वस्तु नहीं कि उनकी कुछ आवभगत हो हो सके।

प्रतिभा—कोई वस्तु नहीं! अभी तो दीनू के हाथ सब कुछ भेजा है।

नीलिमा—दीनू के हाथ, कहीं भी तो नहीं।

प्रतिभा—(नौकर को आवाज देती है) दीनू... ..दीनू!

दीनू—(आँगन से) जी दीदी! ('जी', "जी' करता हुआ भागा आता है)

प्रतिभा—सामान नहीं पहुँचाया इनका?

दीनू—(आश्चर्य से) इनका, मैं तो साथ के फ्लैट में रख आया हूँ।

प्रतिभा—मैंने तुमसे कहा था, ऊपर पहुँचा दो।

दीनू—ऊपर! मने समझा आपने कहा— उधर!' मैंने साथ के बरामदे में रख दिया।

प्रतिभा—बात तो ठीक से सुनते नहीं हो और जो जी में आता है, कर देते हो। जाओ तुरत सब सामान ऊपर पहुँचाकर आओ इनके यहाँ।

दीनू—जी, बहुत अच्छा!

नीलिमा—यदि जगन को तुम्हारे साथ ही घूमना था तीमा तो उसने मुझे बता क्यों न दिया? और वहाँ प्रतिभा और नीहार ..

प्रतिभा—यह साड़ी ब्लाउज़ तुमने माँग भेजे थे और इसका रंग तुमने कहा था सन्यासिनों जैसा है और मैंने सोचा कि सादा ब्लाउज़......

नीलिमा—(क्रोध से) मैं यही पहन लेती, किंतु तुम .....

प्रतिभा—(बड़े धैर्य से) चीख क्यों रही हो, सब सामान तो तुम्हें पहुँच ही गया है। रहा जगन, तो उसे भी पहुँचा दूँगी।

नीलिमा—मुझे क्या, मैंने तो प्रतिभा के लिए यह सब व्यवस्था की है।

(तेज तेज चली जाती है)

प्रतिभा—(उसके पीछे जाते हुए) अरे जा क्यों रही हो? यह साड़ी तो लेती जाओ।

नीलिमा—नहीं, मैं अपने वाली ही पहन लूँगी।

[मुड़ती है और मेज पर से अपनी साड़ी और ब्लाउज वाला पैकेट लेकर चली जाती है]

प्रतिभा—(वापस आते हुए) ये लोग कितनी जल्दी मिथ्या अनुमान लगा देते हैं।

(प्रतिमा आती है)

प्रतिमा—दीदी, निगोड़ी इस आई ब्रो-पेंसिल का उपयोग करना ही मुझे नहीं आता। ठीक तो कर दो मेरी भँवें।

प्रतिभा—अरे तीमा...वाह! तुम तो ऐसे बन-सँवर रही हो जैसे नीहार की नहीं, तुम्हारी वर्षगाँठ है।

प्रतिमा—तुम भँवें ठीक कर दो दीदी।

प्रतिभा—लाओ। (प्रतिमा को शीशे के सामने ले जाकर उसकी भँवें ठीक करती है)

प्रतिमा—यह तुम्हारा ध्यान किधर है दीदी? सँवार रही हो या बिगाड़!

प्रतिभा—मैं सोचती हूँ कि जगन और तुम्हारी जोड़ी कैसी अच्छी रहे।

प्रतिमा—दीदी......जाओ, हम आप ही ठीक कर लेंगे सब! (तिनतिनाती हुई चली जाती है)

प्रतिभा—दोनों सुंदर और स्वस्थ हैं, किंतु दोनों दिमाग से कोरे।

हरदत्त—(दरवाज़े पर दस्तक देते हुए) भई, मैं आ सकता हूँ?

प्रतिभा—आ जाइए।

हरदत्त—तीभा, तुम इतनी जल्दी ज्ञान से उकता जाओगी, मुझे इसकी आशा न थी।

प्रतिभा—मैं ज्ञान साहब से उकता नहीं गयी।

हरदत्त—उकता नहीं गयी! (हँसता है—हैट खूँटी पर टाँगता है और कोच में धँस जाता है) तुम एक प्रबल आत्म-वंचना में ग्रसित हो तीभा। मैं तो भला तुम्हें भली भाँति जानता हूँ, किंतु कोई अपरिचित भी तुम तीनों को देखता तो एक दृष्टि में भाँप लेता कि तुम ज्ञान से कितनी उकताई हो।

प्रतिभा—आप मुझे भली-भाँति जानते हैं हरदत्त साहब?

हरदत्त—तुम्हें (तिपाई पर टाँगें पसारते हुए हँसता है), मैं तुम्हारे स्वभाव के प्रत्येक उतार-चढ़ाव से अनभिज्ञ हूँ। जगन से बातें करने में तुम इतनी निमग्न थीं कि ज्ञान बेचारे का मुँह जरा-सा निकल आया। यदि तुम्हें जगन ही के साथ यों व्यस्त रहना था तो ज्ञान बेचारे को साथ ले ही क्यों गयी?

प्रतिभा—जगन ने किसी दूसरे से बात करने का अवसर भी दिया हो! और फिर मैं तो अधिक समय आप ही के साथ रही।

हरदत्त—यह कोई नया अस्त्र नहीं तुम्हारा, तुम एक तीर से तीन शिकार करना चाहती हो।

प्रतिभा—तीन!

हरदत्त—(हँसकर) दो सही, क्योंकि मैं न तो तुम्हारे कृपा-कटाक्ष से जीता हूँ, न उपेक्षा-दृष्टि से मरता हूँ।

प्रतिमा—श्रीमान तो . ..

हरदत्त—और जैसा मैंने तुमसे कई बार कहा है—पूर्णरूप से मैं ही तुम्हारे सहचर्य्य के योग्य हूँ। किंतु प्रतिमा, तुम एक प्रबल आत्म-वंचना में ग्रसित हो। तुम क्या, आत्म वंचना स्त्री के स्वभाव का एक साधारण गुण है।

प्रतिमा—आपकी दोनों पत्नियाँ सम्भवत मरते दम तक आत्म वंचना में ग्रसित रहीं।

हरदत्त—मेरी पत्नियाँ?

प्रतिमा—या यों कह लीजिए कि आपने उन्हें प्रबल आत्म-वंचना में फँसाये रखा। वे समझती रहीं कि उनका पति उनसे प्रेम करता है, उनका भक्त है और शायद मुझे भी आप इसी आत्म-वंचना में फँसा रखना चाहते हैं। आप कहते हैं कि आपको मुझसे प्रेम है।

हरदत्त—प्रेम (वेपरवाही से हँसता है) कदाचित् नहीं, किंतु मैं समझता हूँ—मैं तुम्हारा जीवन-साथी होने के योग्य हूँ।

प्रतिमा—यद्यपि आपकी आयु .

हरदत्त—तुमसे केवल दस वर्ष बड़ा हूँ।

प्रतिमा—या केवल पद्रह।

हरदत्त—पद्रह ही सही, किंतु जीवन में दो शादियों के बाद मैं जहाँ पहुँचा हूँ, तुम एक ही के पश्चात् वहाँ पहुँच गयी हो।

प्रतिमा—अर्थात् ....

हरदत्त—उकताहट, घुटन और शून्य हम दोनों जीवन में एक-सा अनुभव करते हैं।

प्रतिमा—आप तो नहीं करते। सिनेमा और पिकनिकें... ..

हरदत्त—शून्य को भरने का असफल-सा प्रयास है। जीवन से समझौता समझ लो। बेचैनी नहीं होती।

प्रतिमा—बेचैनी!

हरदत्त—या यों कह लो, बेचैनी कम होती है। सीमा, हम दोनों इस अवस्था को पार कर चुके हैं जब मन रूमान चाहता है। यही तो मुसीबत है। तुम इस यथार्थ को नहीं समझती। मेरा सिनेमा और पिकनिकों में मन लगाना और तुम्हारा एक के बाद दूसरे व्यक्ति को अपने साथी के रूप में परखना वृथा है—नितांत वृथा! मैं सोच रहा हूँ मुझे फिर विवाह कर लेना चाहिए। (कुछ क्षण दोनों मौन रहते हैं) और मैं तुम्हें भी यही परामर्श देना चाहता हूँ। तुम्हें भी अब कहीं टिककर बैठ जाना चाहिए—किसी ऐसे स्थान पर जहाँ तुम्हारी थकी हुई आत्मा को शांति मिल सके।

प्रतिमा—(हँसकर) और वह स्थान आपके अतिरिक्त किसी के पास नहीं।

हरदत्त—मैं दो विवाह कर चुका हूँ और मेरे दोनों विवाह सफल थे......

प्रतिभा—खेद है कि इस बात की साक्षी देनेवाली अब इस संसार में नहीं।

हरदत्त—तुम मेरी बात चाहे हँसी में उड़ा दो, परन्तु तीमा, विवाह वास्तव में एक कला है। और जो लोग इस कला से अनभिज्ञ रहकर विवाह कर लेते हैं, वे उसे निभा नहीं पाते। जब वे उसे समझने लगते हैं तो जीवन के मधु में विष मिल चुका होता है, जिससे निष्कृति पाना उनके बस में नहीं होता। मैंने काफी मूल्य चुकाकर विवाह की कला सीखी है। मेरे साथ रहकर तुम्हें पूरी शांति प्राप्त होगी। जगन और ज्ञान तो अभी बच्चे हैं।

(मंदा दरवाजे से झाँकती है)

मंदा—बड़ी दीदी, जगन बाबू आये हैं।

प्रतिभा—आइए।

जगन—(आते हुए) वही बात हुई न प्रतिभा देवी। दर्जी ने बड़े आराम से एक ओर रख दिया था। मैं जाकर उसके सिर पर सवार न होता तो ब्लाऊज़ कभी समय पर न मिलता।

प्रतिभा—मैं किस प्रकार आपका धन्यवाद करूँ? ठीक समय पर ले आये आप। लोग तो आने लगे होंगे। मैं जरा कपड़े बदल लूँ।

हरदत्त—यह तुमने अच्छी भली साड़ी तो पहन रखी है।

जगन—मैंने तो कहा था—आपके सुनहले बालों के साथ इसका बाटल ग्रीन रंग अत्यंत सुंदर लगता है।

प्रतिभा—(बेपरवाही से) मैं तड़क-भड़क पसंद नहीं करती।

जगन—तो फिर आपने क्या निश्चय किया? बात यह है कि मार्ग में मुझे कुमार मिल गया, कुमार—इंडीपेंडेंट-क्लब का मंत्री! मैंने उससे आपकी बात कही। वह यह सुनकर बड़ा प्रसन्न हुआ। मैं सच कहता हूँ, आप निश्चय तो करें क्लब 'ज्वाइन' करने का। बेडमिंटन आपको बेहद 'सूट' करेगी। एक बार आप खेलना तो आरंभ करें, फिर आप छोड़ न सकेंगी। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ, इसी स्पोर्ट्स की कृपा से मैं......

प्रतिभा—(उसकी बात काटकर मुसकराते हुए) नीलिमा आपको बुला गयी है। आप चलिए, उनसे कहिएगा, हम अभी आ रहे हैं। मैं जरा कपड़े बदल आऊँ।

हरदत्त—कपड़े क्या बदलोगी, ठीक तो हैं ये कपड़े।

मंदा—ज्ञान साहब आये हैं बड़ी दीदी।

ज्ञान—(आते हुए) नमस्कार!

प्रतिभा—(ज्ञान साहब को देखकर) ज्ञान साहब ने कहा था—इसकी तड़क-भड़क बच्चों को फबती है।

हरदत्त—ज्ञान साहब का सहारा क्यों लेती हो? अपने मन की अस्थिरता...

जगन—(जो अभी तक वहीं है) किंतु यह डिज़ाइन जो आपने चुना, यह भी खूब है!

ज्ञान—कोई नया डिज़ाइन चुना आपने?

प्रतिमा—अभी यह खरीदकर लायी हूँ और ही ने तो कहा था।

ज्ञान—हाँ इसमें सौम्यता है।

जगन—सौम्यता भी और चांचल्य भी विरक्ति भी और आसक्ति भी! पहने तो सही, देखिएगा कितना खिलता है यह आपके रंग पर! कितना सीधा-सादा और फिर कितना अलौकिक! (स्वयं ही हँसता है)

प्रमिला—(दरवाजे से झाँककर) बड़ी दीदी नीला दीदी बुला रही हैं आप लोगों को।

हरदत्त—भई, मैं तो सिनेमा देखने के लिए बुलाने आया था तुम्हें।

प्रतिमा—अभी सिनेमा का शो आरंभ होने में समय है। जरा ऊपर चलिए, कुछ देर बैठकर चले जाइएगा।

ज्ञान—मैं तो यही कहने के लिए आया था कि मुझे तो क्षमा ही कीजियेगा।

प्रतिमा—किंतु प्रोफेसर साहब!

जगन—(अत्यंत असंगत रूप से हँसते हुए) बैठिए, बैठिए, आप भी! अब जब प्रतिमा देवी अनुरोध कर रही हैं। . ...

प्रतिमा—आप लोग बैठिए, मैं साड़ी बदलकर अभी आयी। (भीतर कमरे में चली जाती है)

(पर्दा गिरता है)

तीसरा दृश्य

[पर्दा एक डेढ़ घंटे बाद उसी कमरे में उठता है। कमरे में अँधेरा है। केवल खिड़की और आँगन से मध्यम-सा प्रकाश आता है।

पर्दा उठने के पश्चात् कुछ क्षण तक कमरा खाली रहता है। फिर प्रतिमा तेज तेज आती है और धप से कौच में गिरकर सिसकने लगती है। प्रमिला उसके पीछे धीरे धीरे आती है]

प्रमिला—दीदी, छोटी दीदी! (प्रतिमा सिसकती है) छोटी दीदी, बताओ तो सही, क्या बात है?

(प्रतिमा सिसके जाती है)

प्रमिला—दीदी, अब बता भी दो क्या हुआ? आकर यहाँ अँधेरे में पड़ रही हो।

ऊपर तो अब गाना होनेवाला है। विमल बहिन गायेंगी (उत्तर सुनने के लिए चुप रहती है) किसी ने कोई तीखी बात कह दी तुम्हें?......दीदी!

(प्रतिमा सिसके जाती है)

प्रमिला—दीदी देखो, मैं भी रोने लगूँगी।

प्रतिमा—तंग न करो मीला। पड़ी रहने दो अकेली!

प्रमिला—यहाँ अँधेरे में, हुआ क्या आखिर? बत्ती तो जलाओ!

प्रतिमा—(लगभग रोते हुए) मीला, मुझे तंग न करो।

प्रमिला—मैं जाकर कहती हूँ नीलिमा दीदी से कि छोटी दीदी आप लोगों से रूठ-कर नीचे पड़ी रो रही हैं। (भाग जाती है)

प्रतिमा—(भरे हुए गले से अपने-आप) नीलिमा दीदी......एक वे हैं कि अपनी सगी बहिन से भी बढ़कर समझती हैं और एक ये हैं दीदी कि......[फूट-फूट-कर रो पड़ती है। पृष्ठ-भूमि में नीहार की आवाज़ आती है]

नीहार—तीमा,

(प्रवेश करती है और बिजली का बटन दबाती है।)

नीहार—प्रतिमा......क्या अपराध हो गया मुझसे......मीला कहती है, तुम मुझसे रूठकर......

प्रतिमा—नहीं, मुझे तुमसे गुस्सा नहीं।

नीहार—नीलिमा दीदी ने कुछ कह दिया......?

प्रतिमा—नहीं, वे क्या कहतीं......

नीहार—तो...फिर....तो फिर...जगन भैया...

(प्रतिमा सँभलते-सँभलते फिर सिसकने लगती है)

नीहार—अरे! क्या कह दिया जगन ने?

प्रतिमा—कह दिया...ऊँह! उन्हें कहने का अवकाश ही कब है?

नीहार—क्यों?

प्रतिमा—देख ही तो रही थीं, जबसे ऊपर गये हैं, दीदी के आगे-पीछे मँडला रहे हैं, देखते तक नहीं।

नीहार—एक जगन ही क्या, वहाँ सभी भँवरे बने हुए हैं।

प्रतिमा—तुम्हारा निर्मल भी तो...

नीहार—निर्मल! (व्यथा से हँसती है) और नीला दीदी मेरी सगाई करना चाहती थीं उनसे।

प्रतिमा—तुम भी तो कम पसंद न करती थीं निर्मल को।

नीहार—हाँ, मैं भी मूर्ख बनी रही इतने दिन, पर कितनी बातें करते थे और

क्षण भर में तीमा दीदी ने जादू कर दिया, एक बार जो उनके पास जाकर बैठे, तो बस वहीं के हो रहे, फिर जो उन्होंने कुछ प्यास की शिकायत की, तो भागे उनके लिए शरबत लेने। मैं निगोड़ी रास्ते में मिल गयी, ऐसे देखा जैसे कभी जान-पहचान तक न हो।

प्रतिमा—मुझे दीदी पर क्रोध आता है।

नीहार—और मुझे निर्मल पर।

प्रतिमा—जिस व्यक्ति से मिलती हैं वही इनके गुण गाने लगता है, उसे विवश कर देती हैं कि वह उन्हींके आस-पास मँडराये और वे पागल—वे समझते हैं, वे उन्हें पसंद करती हैं, उनसे प्रेम करती हैं, यद्यपि वे उनसे खेलती हैं—जैसे बिल्ली चूहे से।

नीहार—दीदी उन सबसे घृणा करती हैं, वे उन सबको अत्यंत तुच्छ समझती हैं, कई बार उनकी मुसकानों के झीने पर्दे में से घृणा की यह झलक स्पष्ट दिखायी दे जाती है और उनके मस्तक पर नन्हें नन्हें तेवर पड़ जाते हैं, न जाने ये लोग उनके मुख पर अंकित घृणा को क्यों नहीं देख पाते।

प्रतिमा—तुम भूलती हो। वे उनसे घृणा नहीं करतीं, वे उन्हें पसंद करती हैं। यह देखकर कि अपनी एक मुसकान या एक कटाक्ष से वे इतने लोगों को पागल बना सकती हैं, उनके अहम् को पालना मिलती है—किसीकी प्रशंसा करके, किसीकी आलोचना कर, किसीकी हँसी उड़ाकर और किसीको हँसी करने का अवसर देकर वे उन सबको अपने निकट एकत्र कर लेती हैं—उन मत्त पतंगों में वे चंचल दीप शिखा-सी बनी रहती हैं।

नीहार—कदाचित् तुम उनके साथ अन्याय कर रही हो, अपराध दीप शिखा का नहीं, पतंगों का है, मैंने तीमा दीदी को भली-भाँति देखा है, उनका अपराध यह है कि उनके पास सौंदर्य ही का नहीं, बुद्धि का भी भंडार है। यही कारण है कि सुरेश के साथ उनकी न बनी, यद्यपि शकुंतला उन्हें पाकर अत्यंत प्रसन्न है। वे किसीको बुलाने नहीं जातीं। लोग आपसे-आप उनके पास खिंचे चले आते हैं। उनका अपराध यह है कि वे उन्हें धतकार नहीं देतीं। मन बुझा हुआ होने पर भी वे मुसकराती रहती हैं, यद्यपि धीरे धीरे उनके मुख पर घृणा की रेखाएँ बनती मिटती रहती हैं। निर्मल शायद समझ रहा है कि वह सौ मील की रफ्तार से मोटर चलाने अथवा शतरंज में बड़े-बड़े खिलाड़ियों को मात देने की बड़ हाँककर उनपर बड़ा प्रभाव डाल रहा है। यद्यपि वे उसे केवल बच्चा समझती हैं और उसकी बातें सुनकर योंही शिष्टाचारवश हँस देती हैं। मैं कहती हूँ, उन्हें खुशी क्या?

प्रतिमा—तुम मानो, चाहे न मानो, परंतु मैं दीदी को जानती हूँ। आज वे जगन को लिये हुए दिन भर घूमती रहीं और फिर आते ही ऐसी छायी पार्टी पर कि किसीको बात करने का अवसर ही नहीं दिया।

नीहार—और मैं इतने दिनों से अभ्यास कर रही थी गाने का। अभी पहला बंद भी समाप्त न किया था जब वे ऊपर आयीं। बस फिर किसको रहती गाने की सुधि—धीरे-धीरे सब उठकर उनके पास जा बैठे। अब इसमें उनका क्या दोष? यह तो निर्मल और जगन......

प्रतिमा—पर तुमने गाना बंद क्यों कर दिया?

नीहार—कोई सुन भी रहा था मेरा गाना!

(पृष्ठ-भूमि में निर्मल की आवाज़ आती है)

निर्मल—नीहार!......अरे भई, कहाँ हो तुम?

प्रतिमा—(धीरे से) निर्मल है शायद (ज़ोर से) आ जाइए।

निर्मल—(भीतर आकर) तुम गाना छोड़कर नीचे क्यों आ गयी नीहार? ईश्वर की शपथ ढूँढ़-ढूँढ़कर थक गया तुम्हें। विमल आ गयी है गाने के लिए तैयार होकर......

नीहार—मिल गया अवकाश किसीको गाना सुनने का।

निर्मल—अरे भई, वह प्रतिभा देवी के आने से कुछ 'डिस्टर्बेंस' हुई थी, किंतु मैं तो इस प्रतीक्षा में था.........

नीहार—(व्यंग्य से) कि कब कुमारी नीहारिका देवी फिर अपना मधुर गान आरंभ करती हैं।

निर्मल—मैं पूछता हूँ, हो क्या गया है तुमको?

नीहार—प्रतिभा दीदी के अनुरोध पूरे करने से मिल गया समय यह सोचने का आपको?

निर्मल—तो यह बात है, (खोखला क़हकहा लगाता है) कहता हूँ, तुम भी पागल हो नीहार।

नीहार—जी पागल!

(जगन शीघ्र-शीघ्र आता है)

जगन—(खिसियानी हँसी के साथ) भई, आप यहाँ आकर बैठ गये और वहाँ आप लोगों को ढूँढ़ा जा रहा है। क्यों नीहार, अतिथियों का अच्छा सत्कार करती हैं आप?

नीहार—अवकाश मिल गया आपको भी अपने आस-पास देखने का?

जगन—विमल की माता चाहती हैं कि विमल अपना गाना सुनाये। दो-चार बार उन्होंने जिक्र किया कि विमल अब अच्छा गाने लगी है, इसपर दो-चार ने विमलजी से गाने का अनुरोध किया। पता चला, कि नीहार और प्रतिमा गायेंगी तो विमल भी गायेंगी। और यहाँ नीहार और प्रतिमा हैं कि नीचे कॉन्फ्रेंस में व्यस्त हैं। (स्वयं ही हँसता है)

निर्मल—मैं भी इन्हींको बुलाने आया था किंतु ये दोनों यहाँ मुँह फुलाये बैठी हैं।

जगन—आखिर क्यों ? कुछ बात भी हो !

प्रतिमा—(तिक्त मुसकान से) कुछ नहीं। डाक्टर ने कहा है, कभी-कभी मुँह फुला लिया करो स्वास्थ्य अच्छा रहता है।

जगन—प्रतिमा !

प्रतिमा—आप जाइए न विमलजी का गाना सुनिए। हमारा मन ठीक नहीं।

निर्मल—नीहार !

नीहार—सीमा दीदी की उपस्थिति में आप लोग अपने को इतना भूल गये। आप को इस बात का ध्यान तक न रहा कि कोई और भी बैठा है यहाँ।

निर्मल—उन्होंने विशेषतर मुझे बुलाया था और यह बड़ी अशिष्टता होती, यदि मैं किसी प्रकार की क्षमा माँगे बिना उनके पास से उठ आता।

नीहार—जी हाँ ! आपको बुलाया था। भला कोई दूसरा था वहाँ बुलाने के लिए।

जगन—और भई सीमा मैंने तुमसे पहले ही कह दिया था। मई मुझे तो तुम्हारी दीदी पर अच्छा प्रभाव डालना था।

प्रतिमा—(व्यंग्य भरी मुसकान से) जी—!

(पृष्ठ भूमि में हारमोनियम बजता है)

निर्मल—हारकर विमलजी शायद स्वयं ही गाने लगी हैं।

[बरामदे में प्रतिमा और ज्ञान के बातें करते हुए आने की आवाज़ आती है।]

प्रतिमा—मुझे चिढ है इन फिल्मी गानों से—तुच्छ भावुक फिल्मी गाने—न जाने लोग कैसे बैठे-बैठे सुना करते हैं हूं हूं ?

निर्मल—(धीरे से) चलो चलो प्रतिमा देवी को चिढ है फिल्मी गानों से और फिल्मी गीत गानेवाला से।

जगन—(हँसते हुए धीरे से) और फिल्मी गीत गानेवालियों से। चलो-चलो इस आँगन से निकल चलो जल्दी।

[सब आँगन के दरवाजे से निकल जाते हैं। बरामदे की ओर से ज्ञान और प्रतिमा बातें करते हुए आते हैं।]

ज्ञान—आप तो फिल्मी गीत गाने का अनुरोध सुनकर ही उठीं, मैं तो सच जानिए मन से बैठा ही न था। आपके लिए चला गया था मैं तो नहीं मुझे बड़ी झुँझलाहट होती है ऐसी पार्टियों से। भला अब विमला की माताजी इस बात पर जोर दे रही हैं कि सब बातें छोड़कर विमला का गाना सुना जाये। माना किसी थर्ड-रेट फिल्म का थर्ड रेट गाना गाकर वह श्रोताओं पर कोई बड़ा उपकार कर देगी।

प्रतिमा—और मिसेज़ गुप्ता चाहती हैं कि उनकी लड़की का कथाकली डान्स देखा

जाये, (हँसती है) कथाकली डांस। किसी गरीब क्लर्क से उसका विवाह हो जायगा और सारे-का-सारा कथाकली डांस धरा रह जायगा।

[पृष्ठ-भूमि में गाने की आवाज़ आती है
मुझे तुमसे मुहब्बत र.फ्ता-र.फ्ता होती जाती है
कि गम वेदार होता है मसर्रत सोती जाती है]

—लीजिए, यह था गाना जिसे गाने के लिए विमला आतुर थी, क्षमा कीजिएगा ज्ञान साहब, आप यह दरवाजा बंद कर दीजिए, मेरा तो जी उलझने लगता है ऐसी घटिया गजलों और गानों से, मैं तो सचमुच उकता गयी हूँ यह मुहब्बत के गाने और मुहब्बत की बातें सुनकर।

ज्ञान—मुहब्बत एक सुकुमार और पवित्र भावना है, किंतु इन फ़िल्मों ने इसे सस्ती और घटिया बना दिया है, मैं प्रातः आपसे यही निवेदन कर रहा था, उच्च कोटि का प्रेम-पवित्र और चिरस्थायी होता है और पवित्र और चिरस्थायी प्रेम इतना वासनामय नहीं होता।

प्रतिभा—(हँसकर) कुरूप किंतु सुशील लड़की......

ज्ञान—(खिसियानी हँसी के साथ) वह तो मैंने एक उदाहरण दिया था, वास्तव में मेरा अभिप्राय यह था कि जिस प्रेम की नींव सहचर्य पर खड़ी हो—सुंदरता और कुरूपता का प्रश्न नहीं—उसीमें आध्यात्मिक प्रेम के बीज होते हैं, कदाचित्...... जो मैं कहना चाहता हूँ, उसे ठीक व्यक्त नहीं कर पाता, देखिए, जैसे हम एक मुद्दत से मिलते-जुलते हैं, एक दूसरे के स्वभाव को जानते और पसंद करते हैं......

प्रतिभा—(अपने विचारों की रौ में) मैं सोच रही थी कि यह घटिया फ़िल्में किस प्रकार हमारे जीवन को खोखला किये जा रही हैं, बड़े से बड़ा कट्टरपंथी अपने लड़के-लड़कियों को ये फ़िल्में दिखाने ले जाता है और जब उसके बच्चे फ़िल्मी गाने गाते हैं तो वह प्रसन्न होता है। किंतु जब वे इसी प्रकार के फ़िल्मी प्रेम के सपने देखने लगते हैं तो सदाचार, धर्म, मान-प्रतिष्ठा की तलवारें लेकर उनके सिर पर जा सवार होता है, क्या युवा लड़कियाँ और क्या युवा लड़के—सब इसी फ़िल्मी प्रेम के बहाव में बहे जा रहे हैं, अभी पार्टी में जगन और निर्मल ने मुझपर इसी प्रकार का फ़िल्मी प्रेम प्रकट करने का प्रयास किया,

ज्ञान—(आश्चर्य) फ़िल्मी!

प्रतिभा—फ़िल्मी का शब्द तो उन्होंने प्रयुक्त नहीं किया, किंतु उनके हाव-भाव, उनका कहने का ढंग वैसा ही था।

ज्ञान—दोनों ने एक ही बार?

प्रतिभा—नहीं जगन ने पहले की, मैं दोपहर ही से देख रही थी कि वह मुझसे

कुछ कहना चाहती है, यथा-सम्भव उसे टालती रही, अवसर मिलते ही उसने कह डाला . . . .

ज्ञान—क्या कहा उसने ?

प्रतिमा—(मुसकराते हुए) पहले तो कुछ हकलाया। फिर जो कुछ उसने कहा, उसका तात्पर्य यह था कि उसे बहुत देर से मुझपर श्रद्धा है। जब से उसने प्रतिमा से मेरे सम्बंध में सुना है, वह मन ही मन मुझसे प्रेम करने लगा है। उसने नीलिमा से विशेष आग्रह करके मुझे बुलवाया है और वह मुझसे मिलकर इतना प्रसन्न हुआ है जितना कभी नहीं हुआ।

ज्ञान—(हँसते हैं) वाह !

प्रतिमा—(अपनी बात को जारी रखते हुए) कि मैंने उसका काफी पीने का निमन्त्रण स्वीकार करके जीवन-भर के लिए उसे अपना बना लिया है, इस पार्टी से नीहार को इतनी प्रसन्नता नहीं हुई जिसकी वर्षगाँठ है, निर्मल को इतना हर्ष नहीं हुआ जो उसका भावी मगेतर है, किसीको इतना उल्लास नहीं हुआ जितना उसे हुआ।

ज्ञान—आपने उसे क्या उत्तर दिया ?

प्रतिमा—(हँसते हुए) मैंने उसके सिर पर हाथ फेरा और कहा—तुम बड़े बरखुरदार हो, किंतु मैं तुम्हारी संगति के योग्य नहीं। यह सच है कि मैं स्पोर्ट्स की खबरें पढ़ना पसंद करती हूँ और टेस्ट मैचों से भी मुझे दिलचस्पी है, किंतु यह दिलचस्पी केवल बौद्धिक है। तुम मेरे स्वभाव के उतार चढ़ाव से चार दिन में उकता जाओगे।

ज्ञान—(तनिक और जोर से हँसते हुए) वाह—!

प्रतिमा—प्रतिमा को उससे प्रेम है और यद्यपि उसने मुझसे कहा नहीं, किंतु मैं जानती हूँ। सो मैंने जगन से कहा कि उसे प्रतिमा तक ही अपना प्रेम सीमित रखना चाहिए और यदि संभव हो तो उसी को बैडमिंटन, पिंग-पांग या टेबल टैनिस की चैम्पियन बनाने की चेष्टा करनी चाहिए।

ज्ञान—(प्रसन्न होकर ठहाका मारते हुए) वाह ! और निर्मल..... ?

प्रतिमा—उसका बस चलता तो वह पूरे फिल्मी अभिनेताओं की भाँति सुर और लय में अपना प्रेम प्रकट करता, पर उसने फिल्मों से चुने हुए कुच्छेक वाक्य कहने पर ही बस की। जब मैंने उसे बताया कि वह अभी बच्चा है और नीहार उससे रूठकर नीचे चली गयी है तो उसका मुख कानों तक लाल हो गया और वह भाग गया। (हँसती है) अब जाकर शायद नीहार पर अपने प्रेम का रोब गाँठ रहा होगा।

ज्ञान—(दीर्घ निश्वास लेता है) परंतु प्रतिमा देवी, सिनेमा देखने से एक लाभ तो हो जाता है।

प्रतिमा—क्या ?

ज्ञान – प्रेम प्रकट करना आ जाता है।

प्रतिभा—(चुप रहती है)

ज्ञान—अब मैं हूँ, लाख चाहता हूँ अपने भाव व्यक्त करूँ......

प्रतिमा—आप !

ज्ञान— हर बार सुंदर शब्द ढूँढ़ता हूँ, किंतु मुझे वे बड़े घटिया लगते हैं। मैं आपसे प्रेम करता हूँ—यह कहना मुझे आकाश की ऊँचाइयों में उड़ते-उड़ते सहसा धरती पर आ गिरना प्रतीत होता है। तिस पर भी मैं कई बार कहना चाहता हूँ—प्रतिभा, मैं आपसे प्रेम करता हूँ—असीम प्रेम करता हूँ !

प्रतिभा—यह पार्टी का प्रभाव है, तेज गर्म चाय का, वहाँ के वातावरण का या फिर जगन और निर्मल की मूर्खता का ?

ज्ञान—प्रतिभा, आप नहीं जानती, मैं कब से यह कहने के लिए आकुल हूँ, किंतु मुझे कभी शब्द नहीं मिले, (सहसा जैसे उसे शब्द मिल रहे हों) जब मैं आपके इन सुनहले बालों को देखता हूँ, जिनमें हल्की-हल्की लहरियाँ ऊषा के प्रशस्त प्रांगन की छोटी-छोटी बदलियाँ-सी लगती हैं, जब मैं आपके नयनों की अथाह गहराइयों में झाँकता हूँ तो मुझे अनुभव होता है........

प्रतिभा—ज्ञान साहब !

ज्ञान—मुझे अनुभव होता है जैसे एक विचित्र पुलक मेरी नस-नस में दौड़ रहा है। जैसे मेरी समस्त अन्यमनस्कता धुल निखरकर स्वच्छ निर्मल उल्लास में परिणत हो गयी है।

प्रतिभा—आज ही आपने कहा था—हम लोग प्रेम के टाइफाइड से मुक्त हो गये हैं।

ज्ञान—प्रतिभा !

प्रतिभा—तो क्या मैं अब तक धोखे में रही ? तो क्या जगन, निर्मल और आप में कोई अंतर नहीं ? मैं तो आपको उन सब से कहीं ऊँचा, कहीं योग्य, कहीं समझदार समझती थी। मैं तो आपको बुद्धिवादी...........

ज्ञान—(उठते हुए) मुझे क्षमा कर दो प्रतिभा।

प्रतिभा—मुझे क्या पता था कि आप भी उसी स्तर पर उतर आयेंगे।

ज्ञान—मैं लज्जित हूँ, अपनी इस मूर्खता के लिए क्षमा चाहता हूँ। नमस्कार ! (शीघ्र-शीघ्र चला जाता है।)

प्रतिभा—(उसके पीछे जाते हुए) ज्ञान साहब !........ज्ञान साहब......!! (दरवाजे को पूर्णतया खोल देती है) ज्ञान साहब !

[प्रोफ़ेसर ज्ञान नहीं आते, पर गाने की ध्वनि फिर आने लगती है। विमला पूर्ववत् गा रही है :—

[यह गम से कुछ तआल्लुक आज कल ही का नहीं मेरा
अज़ल से जिन्दगानी बोझ गम का ढोती जाती है।]

ओह! ये लचर फ़िल्मी गाने! [ज़ोर से दरवाज़ा बंद करके कौच पर आकर थकी-थकी सी धँस जाती है।] कहीं मुक्ति नहीं—इस साधारण, भावुक, घटिया वातावरण से कहीं मुक्ति नहीं। (उठकर कमरे में घूमती है) प्रोफेसर नीलाभ! (दीर्घ निश्वास लेती है) प्रोफेसर नीलाभ! उनके बिना मुझे कहीं शांति न मिलेगी। काश वे इतने ऊँचे शिखर पर न बैठे होते, काश वे इतने विरक्त न होते। (टेलीफोन उठाती है। बाहर से हरदत्त की आवाज़ आती है)

हरदत्त—(बाहर से) प्रतिभा!

प्रतिभा—(चोंगा रख देती है) आइए।

हरदत्त—शो अभी अभी समाप्त हुआ। मैंने कहा जाते जाते नीहार को बधाई देता चलूँ। पार्टी समाप्त हो चुकी?

प्रतिभा—खाना आदि तो हो चुका, अब गाना हो रहा है। पार्टी में तो आप गये नहीं ...

हरदत्त—फ़िल्म आरंभ हो जाता।

प्रतिभा—कौन सा फ़िल्म था? (आकर कौच पर बैठ जाती है)।

हरदत्त—मुहब्बत। (उसी कौच पर, किंतु तनिक हटकर बैठता है)

प्रतिभा—तो शायद यह उसी फ़िल्म का गाना है—मुहब्बत हमको तुमसे रफ़्ता-रफ़्ता होती जाती है।

हरदत्त—क्या?

प्रतिभा—वही घटिया और भावुक गाना। आपको तो पसंद आया होगा।

हरदत्त—हाँ, मुझे तो पसंद आया। मैं कहता हूँ प्रतिभा, तुम इस साधारणता से घृणा क्यों करती हो? इन सीधे-साधे सामान्य भावों से दूर क्यों भागती हो? यह जीवन और इस जीवन का समस्त कोलाहल इसी साधारणता पर तो अवलंबित है, तुम इससे सदा दूर भागती हो, किंतु जीवन की गति तो इसी के दम से है, मुझे यह साधारणता पसंद है। रूमान-पसंद की भाँति, मैं पास की वस्तुओं से दूर नहीं भागता (हँसता है) रूमान पसंद सदैव अपनी पत्नी को छोड़कर दूसरे की पत्नी से प्रेम करेगा। वर्तमान पत्नी के बदले पहली पत्नी के गुणों का रोना रोयेगा। वह सदैव उस वस्तु के पीछे भागेगा जो उसे प्राप्त नहीं।

प्रतिभा—हूँ।

हरदत्त—और न ही संदेहशील बुद्धिवादी की भाँति मैं प्रत्येक वस्तु से असंतोष प्रकट करता हूँ (हँसता है) बुद्धिवादी प्रत्येक वस्तु से असंतुष्ट रहता है, प्रत्येक वस्तु में दोष निकालता है। रूमान पसंद को तो शांति प्राप्त हो भी सकती है, किंतु बुद्धिवादी के भाग्य में शांति नहीं।

प्रतिमा—(मुस्कराकर) श्रीमान् अपनी गिनती किनमें करते हैं ?

हरदत्त—मैं साधारण, नार्मल व्यक्ति हूँ। मैं न रूमान पसंद हूँ, न बुद्धिवादी। मैं तो यथार्थवादी हूँ।

प्रतिमा—(व्यंग्य से) यथार्थवादी'। (जोर से हँस देती हैं)

हरदत्त—(कुछ उत्साह से) किंतु तुम रूमान-पसंद भी हो और बुद्धिवादी भी। रूमान पसंदों की भाँति तुम जीवन से, जीवन की दैनिकता से डरती भी हो और उस असंतोष को प्रकट करती हो जो बुद्धिवादियों का विशेष गुण है। देखो प्रतिमा, नन्हीं-नन्हीं खुशियों से दूर न भागो। इन्हींमें जीवन को ढूँढ़ो। इन्हींमें तुम्हें शांति मिलेगी।

प्रतिमा—शांति, इस घटिया वातावरण में शांति ?

हरदत्त—तुम्हें किसी के प्रेम की आवश्यकता है।

प्रतिमा—(तिक्त मुस्कान के साथ) प्रेम की !

हरदत्त—(जरा आगे बढ़ता हुआ) तुम्हें किसी के सुदृढ़ हाथों की आवश्यकता है जो तुम्हें तुम्हारे स्वप्न-संसार से इस संसार में खींच लाये। मैं अभी जो फ़िल्म देखकर आया हूँ, इसमें भी एक तुम्हारे ही जैसी नायिका का चरित्र प्रस्तुत किया गया है। (आगे बढ़ता है। प्रतिमा तनिक पीछे खिसक जाती है)

प्रतिमा—मेरे ही जैसी ?

हरदत्त—निपट तुम्हारे जैसी, किंतु एक गुण तुम दोनों में समान-रूप से विद्यमान है। वह भी तुम्हारी तरह प्रेम को घृणा की दृष्टि से देखती है। वास्तव में वह प्रेम की अभिव्यक्ति से झिझकती है।

प्रतिमा—मैं प्रेम की अभिव्यक्ति से झिझकती नहीं, मुझे प्रेम हो भी किसी से।

हरदत्त—कभी तुम नीलाभ को चाहती थीं ?

प्रतिमा—नीलाभ को......कभी ! (हँसती है, फिर दीर्घ निश्वास छोड़ती है।) मन चिरकाल से शुष्क-शून्य-मरु बन चुका है। कहीं यदि घास के तिनके थे तो वे भी कब के मुरझा गये हैं।

हरदत्त—(तनिक और आगे बढ़ते हुए) यह भी एक भ्रम है तुम्हारा। तुम अब भी चाहती हो कि तुमसे प्रेम किया जाये। अब तुम और भी चाहती हो कि तुमसे प्रेम किया जाये। बिलकुल उस फ़िल्म की नायिका की भाँति, तुम्हें भी किसी ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता है जो तुम्हारे इस संकोच को दूर कर दे। बरबस तुम्हें अपने आलिंगन में बाँध ले। (सहसा प्रतिमा को अपनी बाहों में खींच लेता है)

प्रतिमा—(उसके बाहुपाश से अपने को मुक्त करने की चेष्टा करते हुए) हरदत्त साहब !

हरदत्त—(उसे आलिंगन में खींचते हुए) मैं तुमसे प्रेम करता हूँ तीमा ! मैंने कई बार अपने-आपको समझाने की चेष्टा की है कि मैं केवल तुम्हें पसंद करता हूँ, तुमसे प्रेम नहीं करता किंतु यह आत्म वंचना है। मुझे तुमसे प्रेम है तीमा, तुमसे असीम प्रेम है। तुम मेरी चेतना पर, मेरे समस्त अस्तित्व पर छायी जाती हो।

प्रतिमा—(उसके बाहुपाश से स्वतंत्र होकर, हाँफती हुई उठ खड़ी होती है) हरदत्त साहब!

हरदत्त—(बाहें फैलाये उसकी ओर जाते हुए) मैं जानता हूँ, तुम कहोगी—यह सस्ते भावुक फिल्मी वाक्य हैं किंतु प्रतिमा ये अनादि हैं—चाँद तारों की भाँति अनादि—साधारण किंतु सनातन ! तुम इनसे भागती क्यों हो ?

प्रतिमा—(पूर्ववत् काँपते हुए) हरदत्त साहब, वहीं रहिए। आप पागल हो रहे हैं। मेरा विचार था, आप समझदार हैं, जीवन की कटुताओं ने आपको गंभीर बना दिया होगा, किंतु आप तो अभी तक बच्चे हैं।

हरदत्त—बच्चे ! (बढ़ी हुई बाहें गिर जाती हैं) प्रत्येक व्यक्ति अपने आवरण के भीतर मात्र एक बच्चा है। प्रतिमा तुम समझती हो .

प्रतिमा—(क्रोध के कारण रुँधे हुए गले से) चले जाइए आप यहाँ से ! चले जाइए !! आपकी उपस्थिति में मेरा दम घुट रहा है, मेरा सिर चकरा रहा है। चले जाइए ! आप चले जाइए !!

हरदत्त—तीमा ! [कुछ पग बढ़ता है, किंतु प्रतिमा के आग्नेय नेत्र देखकर रुक जाता है]

प्रतिमा—जाइए।

हरदत्त—मैं जाता हूँ, पर शांत मन से मेरी बातों पर •

प्रतिमा—(चीखकर) जाइए !

हरदत्त—तुम्हारी इच्छा, किंतु ..

(कंधे झटकता हुआ चला जाता है)

प्रतिमा—(थकी हुई-सी कोच पर गिर जाती है) उफ ! कितना बचपन है इस व्यक्ति में ! (दीर्घ निश्वास लेती है) इतने दिन से यह आता है और मैं इसे जान तक न सकी (कुछ क्षण मौन रहती है, फिर धीरे धीरे अपने-आप बुदबुदाती है) प्रत्येक व्यक्ति अपने आवरण के भीतर मात्र एक बच्चा है। क्या अपने खोल के भीतर मैं भी मात्र बच्ची हूँ—मात्र बच्ची—जो चाँद को चाहती है और खिलौनों से उसे सांत्वना नहीं मिलती (फिर दीर्घ निश्वास लेती है) किंतु चाँद बहुत ऊँचा है—बहुत दूर है—नीलाभ—नीलाभ ! उफ !

[मुख को दोनों बाहों से छिपाकर सिसकने लगती है]

(पर्दा गिरता है)

द्वैमासिक साहित्य-संकलन

१

शरद

संपादक

सियारामशरण गुप्त

नगेन्द्र

श्रीपतराय

सच्चिदानन्द वात्स्यायन

अनुक्रम:

' हेस्टिंग्स रोड इलाहाबाद के लिए विरनू प्रेस, इलाहाबाद द्वारा मुद्रित।

कथा-साहित्य का भविष्य

हमारे कथा-साहित्य का भविष्य —और इसके साथ ही सभी प्रकार की साहित्यिक क्रियाशीलता का भी—हमें बहुत ही संदिग्ध दीखता है। इतनी बड़ी बात इस सरलता और निभ्रांति से कह जाना संभवतः आप लोगों को कुछ बहुत उचित न प्रतीत हो। अपनी उद्दंडता के लिए क्षमा माँग लेने में हमें कोई आपत्ति नहीं छोटे मुँह बड़ी बात भी आप मान ले सकते हैं। पर अपनी बात पर हम अडिग हैं। और हमारे कथन की पुष्टि के लिए आपको दूर भी न जाना होगा। इस महायुद्ध से पहले की दशाब्दी को लीजिए। मोटे तौर पर १९३० के राष्ट्रीय आंदोलन से लेकर इस महायुद्ध के प्रारंभ तक के काल को हम एक युग मान ले सकते हैं। वह युग हमारी बढ़ती हुई राजनैतिक और सामाजिक चेतना का युग था और इसमें हमारे साहित्य ने भी बड़ी प्रगति की। पहली बार हमें थोड़ी-सी राजनैतिक आत्म-निर्भरता का परिचय मिला था और हम एक नये उत्साह और स्फूर्ति से भर आये थे। इस युग में अच्छी साहित्यिक प्रगति हुई और साहित्य के सबसे प्रमुख और तात्कालिक अंग, कथा-साहित्य ने इतनी त्वरित गति से प्रगति की कि जितनी संभवत. पिछले तीस वर्षों में भी न की थी। सैकड़ों की संख्या में एक से एक अच्छी कहानियाँ, तथा अनेकों सफल उपन्यास इस युग को आलोकित करते हैं। हमारे साहित्यकारों में आत्म-विश्वास का जागरण हुआ यद्यपि अभी भी उनकी सामाजिक और आर्थिक अवस्था शोचनीय थी। इतनी महत्वपूर्ण साहित्यिक जागृति का कोई उदाहरण निकट भूत में हमें नहीं मिलता। इस युग की तुलना यदि युद्धारंभ, समाप्ति और उसके बाद के दो वर्षों के काल से करें तो आप देखेंगे कि इन दो युगों में बड़ा अंतर आ गया था। इस विश्वव्यापी महायुद्ध के प्रारंभ से हमारे देश के चारित्रिक पतन की गाथा का भी प्रारंभ होता है।

युद्ध के प्रारंभ होते ही जीवन की आवश्यक वस्तुओं का अभाव हुआ और उनके मूल्य बढ़े और फिर वे क्रमशः दुष्प्राप्य होने लगीं। यह क्रम अभी भी निरंतर गति से चल रहा है और हमारे भीतर की जितनी भी कुप्रवृत्तियाँ हैं वे ऊपर सतह पर आ गयी हैं। आज ईमानदारी एक अवगुण है जिसे हम घृणा की

दृष्टि से देखते हैं। यह अनावश्यक बोझ और बोदापन है। जीवन के मूल्यों में जब इस प्रकार का ह्रास होता है तब मनुष्य पतन की किन गहराइयों में पहुँचकर टिकेगा यह बताना कठिन हो जाता है। पैसे से बड़ी और कोई शक्ति मनुष्य के पतन का कारण नहीं होती। और पैसे की उसी अजेय शक्ति का आज हमें भी अनुभव और आभास होने लगा है। आपके लिए स्वाभाविक है कि आप पूछें कि इन सब टेढ़ी-सीधी बातों का आपके मुख्य प्रश्न, साहित्यिक क्रियाशीलता से क्या संबंध है। हम तो देखते हैं कि आज चहुँ ओर पहले की अपेक्षा कम दरिद्रता है, भूख और *अनाहार से कम लोगों की मृत्यु होती है, फिर यह व्यर्थ की चिल्ल पुकार क्यों?* पर हमारा मत है कि देश की इस सामाजिक पृष्ठभूमि में ही हम आज की साहित्यिक निष्क्रियता और अपनी कुंठा का कारण ढूँढ सकते हैं। आज साहित्यकार की समस्याएँ कितनी बड़ी हैं, इसका थोड़ा-सा परिचय भी आप इन बातों से पा सकते हैं। *जीवन की साधारण सुविधाएँ जुटाने में आज जितनी शक्ति का* अपव्यय होता है उतने में बहुत लाभकर काय हो सकता था। लेखक, साहित्यकार, अथवा बुद्धिजीवी सामाजिक प्राणी है और समाज में जीवित रहने के लिए आज जो शर्तें हैं वे इतनी भीषण हैं कि वे उसके अंदर की समस्त आदर्शवादी चेतना को अवरुद्ध कर देती हैं, उसकी सृजनशीलता के स्रोत सूख जाते हैं और वह मूक और स्पंदनहीन हो जाता है। प्रश्न यह नहीं है कि साधारण जनता अधिक समृद्ध है, (यद्यपि यह भी निश्चित सत्य नहीं है।) प्रश्न इससे भी अधिक मौलिक है हमारे नैतिक मानदंड क्या हैं और नैतिकता की रक्षा क्या आज संभव है?

पैसे की शक्ति ने आज हमारे इस उद्बुद्ध वर्ग को भी अपने वश में कर लिया है और उसकी प्राप्ति के लिए अपनी सारी शक्तियाँ दाँव पर लगा देता है। चारों ओर धन के लिए इतनी बड़ी होड़ लग गयी है कि जैसे इस समय न और कुछ *करणीय है, न विचारणीय—पहले धन, पीछे आदर्श। आदर्श तो चिरंतन* सनातन और अक्षुण्ण हैं, धन नश्वर, क्षणभंगुर और अस्थायी और अस्थिर—चंचला हैं न लक्ष्मी—तो पहले किसका पीछा किया जाय? आप विज्ञ हैं और इसका उत्तर आप जानते हैं। हम भी इतने अज्ञ नहीं हैं कि यह न जानें कि *मौन कब गुणकारी होता है।* पर कला, साहित्य, संस्कृति की बढ़ती के लिए *यह* समय, यह स्थिति सर्वथा प्रतिकूल है। और यही आज की हमारी समस्या है। अधिकांश वे लोग जो साहित्य के लिए काम करते या तो सिनेमा की नौकरी करके, या फिर राजनीति के माध्यम से अधिक से अधिक *धन कमाना चाहते हैं। तब साहित्य* के लिए खून-पसीना कौन एक करे? या यह कि यह एक अंधी दौड़ है जिसका न कहीं ओर है न छोर केवल दौड़ का आनंद और मार्ग का श्रम ही उसका पुरस्कार है।

साहित्य में गतिरोध के, इस प्रकार, बाह्य कारण हैं और आंतरिक भी। बाह्य कारण है जीवन का उत्तरोत्तर बढ़ता संघर्ष, आर्थिक अनिश्चितता, सामाजिक विघटन। आंतरिक कारण हैं हमारे मूल्यों में परिवर्तन; पुरानी रूढ़ियों और मर्यादाओं के प्रति विद्रोह और उसके फलस्वरूप मानसिक अशांति; जीवन की सुविधाओं के विषय में अनिश्चय से पैदा हुई एक अबूझ आशंका जो किसी भी प्रकार चैन नहीं लेने देती। इस प्रकार का संक्रांति और अशांति का समय कभी भी साहित्यक चेतना के लिए उपकारी नहीं होता। हममें से जो अधिक उग्र विचार-धारा के पोषक हैं समझते हैं कि इस गतिरोध में से एक सामाजिक और राजनैतिक क्रांति जन्म लेगी और उनका विश्वास है कि यह क्रांति अपने राजनैतिक नेता, साहित्यक द्रष्टा और कलाकार पैदा करेगी जो सांस्कृतिक नव जागृति को जन्म देंगे। उनके मत से यह गतिरोध और यह अटूट कुंठा एक क्रांतिरूपी झंझा के पूर्वसूचक हैं और हमें इसको इस रूप में वरदान समझना चाहिए। इस प्रकार की तात्विक निर्भ्रांति का सबसे बड़ा गुण उसकी चालक शक्ति होती है—क्या ही अच्छा होता यदि हम इस आस्था का समर्थन कर सकते। इसके अतिरिक्त एक और भी वर्ग है जो इतना क्रांति-विश्वासी और उग्र नहीं है। उसकी दृढ़ मान्यता है कि इस स्थिति के फलस्वरूप हमारे आज के इन्हीं साहित्यकारों में एक नयी सामाजिक चेतना और एक नयी कलानुभूति जन्म लेगी और ये ही अपनी कला को एक नया रूप प्रदान करेंगे जो आज के युग के अनुरूप होगा और उनकी यह कला आज की सामाजिक और सांस्कृतिक मांग की पूर्ति करेगी। हम समझते हैं कि ये दोनों ही पक्ष अंशों में ठीक हैं। यह कि आज के ये कलाकार ही युग की नयी माँग को पूरा करेंगे इसमें हमारा विश्वास नहीं होता। नये प्राण संभवतः पुराने शरीर में वास न करना चाहें। एक जन-क्रांति के फलस्वरूप नये कलाकार सम्मुख आ खड़े होंगे यह बात भी गले के नीचे नहीं उतरती। साहित्यकार एकाएक कभी पैदा नहीं होते। और फिर इस तर्क को मान लेना यह मानने पर विवश करता है कि आज के साहित्यकार उच्चकोटि के नहीं हैं और प्रमाणिक भी नहीं हैं क्योंकि व समय के साथ प्रगति नहीं करते। हमारी दृष्टि में ये दोनों ही मान्यताएँ दोषी हैं। सत्य यह है स्थिति बड़ी अनिश्चित है। भविष्य बड़ा अनिश्चित है। हम समझते हैं कि जन-चेतना के साथ साथ चतुर्दिक चेतना का प्रसार होगा और तब साहित्य और साहित्यकार अपनी-अपनी चिंता आप कर लेंगे। पर जन-चेतना भविष्य की बात है। आज तो गतिरोध है, कुंठा है, दुःख है और क्लेश है। इन सबसे उबरें तो भविष्य की चिंता करें।

—श्री०

राय कृष्णदास

हमारी चित्रकला : कुछ समस्याएँ

अपनी चित्रकला वाली राजस्थानी, पहाड़ी तथा मुगल शैलियों की चर्चा बहुत कुछ हो चुकी है एव हम उनके विषय में बहुत कुछ जान भी चुके हैं। किंतु ज्ञान हमारा और अज्ञ बनाता जाता है। इन शैलियों के सामने आने से हमारा ध्यान अन्य शैलियों की ओर भी गया, उदाहरणार्थ दकनी शैली—जिसका महत्व मुगल शैली से कम नहीं और जो दकन का बादशाहियों के मुगल साम्राज्य में कभी की अंतर्मुक्त हो जाने पर भी, अभी तक जीवित रही है। इस शैली का अध्ययन अब तक बिल्कुल ही अधूरा है, वस्तुत अपने शैशव में ही है। ऐसे अध्ययन बिना हमारे लिए यह जानना संभव नहीं कि पूर्वोक्त शैलियों को इस शैली से, अथवा इस शैली को उनसे क्या दाय मिला।

इसी प्रकार गुजरात शैली का प्रश्न है। वस्तुत गुजरात की अपनी कोई शैली थी व उसने दक्षिण राजस्थान से उसे पाया, इसकी तटस्थ बुद्धि से खोज आवश्यक है। फिर राजस्थानी शैली के नाम से हम जिस शैली समूह को अभिहित करते हैं उसकी प्रत्येक खाँप में इतना पृथक निजत्व है कि उसका ठीक ठीक वर्गीकरण एव स्पष्टीकरण हुए बिना न तो हम राजस्थानी शैली का पूरा रस ले सकते हैं न उसकी विशेषताएँ एव इतिहास समझ सकते हैं। सच पूछिए तो राजस्थान शैली विश्व रूप है। उसकी खाँपों का अंत नहीं।

यह बातें उदाहरणार्थ कही गयी हैं। समस्याएँ अनेक हैं। वस्तुत. भारतीय चित्रकला का अध्ययन अभी तक विनोद की वस्तु रहा है। जब तक अभ्यासी एव अध्येतागण उसमें साधना रूप में न प्रवृत्त होंगे, एव उनका ऐतिहासिक दृष्टिकोण स्पष्ट तथा विवेकपूर्ण न होगा तब तक चित्रकला का अध्ययन अशुद्ध और उथला ही रहेगा।

१० वीं शती से पहाड़ी शैली के चलने से पहले काँगड़ा जम्मू आदि पंजाब के हिमवत् प्रदेशों में कौन शैली चल रही थी, इसका स्फुट ज्ञान अभी तक नहीं हुआ है। उधर के देशावर से जो माल आता है, उनमें यदि कितने ही चित्र लोक-

कला के हैं तो कितने ही नागर-कला के भी हैं जिनकी शैली बहुत परिमार्जित एवं तैयारी वाली (फ़िनिश्ड्) है। यह चित्र पहाड़ी शैली के आरंभ से लगभग सौ वर्ष पूर्व तक के हैं। इनका अध्ययन अभी बिल्कुल ही नहीं हुआ है। जहाँगीरी चित्रकला की इन पर स्पष्ट छाप है। हम इतिहास से जानते हैं कि काँगड़े को जहाँगीर ने ही वशवर्त्ती बनाया। ऐसी दशा में वहाँ उस कला-प्रेमी सम्राट के प्रवर्त्तन का प्रभाव अवश्यंभावी था साथ ही उस शैली में जो निजत्व है वह पारंपरीण है; इस सब की छानबीन आवश्यक है।

इसी से संबंधित कश्मीर शैली की समस्या है। उपपत्ति से एवं उस्ताद रामप्रसाद की कुलगत अनुश्रुति के अनुसार कश्मीर में एक शैली चली आ रही थी। अकबर की प्रतिपालकता ने जिस चित्रकला का निर्माण किया, उसमें इस शैली के तत्त्व का भी मुख्यांश है। इतना ही नहीं उक्त हिमवत्-शैली में भी इसकी देन है। तिब्बती चित्रकला ने भी जो अजंता शैली की सीधी परंपरा में है, इस शैली को कुछ अंश प्रदान एवं उससे आदान भी किये हैं। इन सब का मंथन-विलोडन आवश्यक है।

तिब्बती शैली की चर्चा करते हुए नेपाल की याद अनायास आ जाती है। वहाँ की कला तिब्बती कला के हाथ में हाथ डाले चलती रही है। किंतु १८ वीं शती में पहाड़ी शैली के क्षेत्र को छोड़ कर, और कपनी शैली (=तथाकथित पटना शैली) को छोड़ कर जिसके स्फुलिंग इधर-उधर उड़ रहे थे, राजस्थानी शैली ने देश को ऐसा छा लिया था कि दक्षिण में तांजोर से लेकर नेपाल तक उसकी परिधि में आ जाते हैं; इस सब का शोध और स्पष्टीकरण आवश्यक है।

एक और समस्या धर्ममूलक शैलियों के निर्णय की है। क्या वस्तुतः जैन-बौद्ध-ब्राह्मण एवं मुस्लिम चित्रकलाएँ हैं अथवा अंग्रेजों ने हम में जो फूट के बीज बोये उनमें से एक यह भी है? मेरा अपना विचार है कि चित्रकला ने वस्तुतः प्रांतिक एवं राजनीतिक कारणों से ही शैलियाँ ग्रहण की हैं, फिर भी यदि धर्म विशेष से संस्कृति-विशेष के निर्माण का संबंध है तो चित्रकला संस्कृति के ही अंतर्गत है, स्वभावतः उस पर धार्मिक प्रभाव मानना पड़ेगा। ईरान का मानी नामक चित्रकार मत प्रवर्तक भी था और उसने ईरान को जो शैली प्रदान की वह उसके धर्म की प्रतीक भी थी, किंतु यह एक चूड़ांत उदाहरण है। अधिकांश उदाहरण ऐसे ही मिलेंगे जिसमें चित्रकला धर्म से बहुत कम प्रभावित हुई है, कम-से-कम उतनी प्रभावित नहीं हुई जितनी जैन आर्ट, बुद्धिस्ट आर्ट, एवं मुस्लिम आर्ट आदि नामों से वह हमारे सामने फ़िरंगियों की कूटनीति द्वारा उपस्थित की गयी है। जो हो, इसकी निष्पक्ष जाँच-परख करके ही हमें अगला क़दम रखना चाहिए।

लोक-कला का नागर कला से अपने यहाँ क्या संबंध रहा है, इसका भी स्पष्टीकरण होना चाहिये। इस स्पष्टीकरण से ही यह निर्णय हो सकेगा कि हमारी भविष्य चित्रकला में लोक कला का क्या स्थान हो और किस प्रकार उसका नागर कला से सामंजस्य हो। आज कल दोनों ही पक्षों से बहुत कुछ कहा जा रहा है किंतु यह कहा सुनी तो कला क्षेत्र के लिए बड़ी अशोभन बात है। मानव ने ग्राम और नगर दोनों हा के समप्रयोग किये हैं और यद्यपि इस समय दोनों एक दूसरे की प्रति दिशा में सोच रहे हैं फिर भी मानवता के लिए दोनों ही के अपने अपने उपयोग हैं और जिस दिन यह दोनों अवस्थान संग संग चलेंगे उसी दिन कृत युग का आरंभ होगा। कला का इस मार्ग का प्रदर्शन करना है, किंतु आज उस क्षेत्र में ही इस के विपरीत कार्य हो रहा है।

जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ अपने यहाँ की कई सौ वर्ष वाली चित्रकला में इस प्रकार का कोई भेद भाव नहीं रहा है। जिस प्रकार ग्रामगीत ही शिष्ट संगीत की आधार शिला हैं, इसी प्रकार हमारी लोक चित्रकला ही नागर-चित्रकला की आधार शिला है। साथ ही नागर चित्रकला लोक कला को आधार भी देती रही है। यह आदान प्रदान का क्रम निरंतर चलता रहा है।

किंतु ये सब समस्याएँ आराम कुर्सी पर बैठे-बैठे विचार करने की नहीं। जैसा ऊपर कह चुका हूँ, आज तक चित्रकला का अनुशीलन एक विनोदमात्र रहा है। विश्वविद्यालयों की इस ओर जो उदासीनता रही है वह अक्षम्य है। फिर भी कालातिपात नहीं हुआ है—यही ठीक समय है और इन समस्याओं की ओर अपनी उगती पौध की प्रतिभा को प्रवृत्त करना एक अनिवार्य आवश्यकता है।

राहुल सांकृत्यायन

घुमक्कड़ों का समागम

मैं अपने को अवसर-प्राप्त घुमक्कड़ कह सकता हूँ। १९०७ ई० की (चौदह साल की आयु में) घुमक्कड़ी अस्थायी थी, किंतु १९०९ में जो घुमक्कड़ी-व्रत लिया तो पाँच वर्ष जबर्दस्ती जेल में बंद रहने के समय को छोड़कर आज तक बराबर घुमक्कड़ी करता रहा। पाँच साल जबर्दस्ती बंद रहने के न भी गिने जायें तो भी चौंतीस साल घुमक्कड़ी-धर्म की सेवा की है और छप्पनवाँ साल लग जाने पर मुझे पेंशन लेने का पूरा अधिकार है। किंतु जिसने एक बार घुमक्कड़-धर्म को अपना लिया उसे पेंशन कहाँ, विश्राम कहाँ? आखिर में यह हड्डियाँ घुमक्कड़ी करते ही कहीं बिखर जायेंगी। मैं चाहता हूँ अपने देश के सभी तरुणों को घुमक्कड़ बना दूँ। मुझे जान पड़ता है, "अथातो घुमक्कड़ जिज्ञासा" कहते घुमक्कड़-शास्त्र लिखना ही पड़ेगा। अब भी मेरी यात्राओं को पढ़ कर कितने माता पिताओं को अपने सपूतों से वंचित होना पड़ा होगा, किंतु अब तो मैं खुले आम घुमक्कड़ धर्म का प्रचार करना चाहता हूँ, और हजारों माता-पिताओं का शाप और आँसुओं की वर्षा या आँधी अपने ऊपर लेना चाहता हूँ। घुमक्कड़-धर्म मुझे प्राणों से प्यारा है, भला उसका प्रचार करना मेरा सबसे बड़ा कर्तव्य क्यों नहीं होगा। मैं समझता हूँ, जातियों के उत्थान में घुमक्कड़ों का सबसे बड़ा हाथ है, हमारे स्वतंत्र देश को भी यदि महान् बनना है तो उसे हजारों घुमक्कड़ पैदा करना होगा। हाँ, जैसे-तैसे घुमक्कड़ों से इस महान् उद्देश्य की पूर्ति होना मैं नहीं मानता और न हर घूमने वाले याचक या अयाचक को घुमक्कड़ कहता हूँ। घुमक्कड़ बनने के लिए कुछ साधनों की आवश्यकता है, उन साधनों को प्राप्त कर लेने पर ही आदमी घुमक्कड़ बनने का अधिकारी बन सकता है, वह निशित छुरे की धार पर चल सकता है। खैर, साधन, अधिकार, उद्देश्य, घुमक्कड़-शास्त्र की बातें हैं, जिन पर मैं यहाँ लेखनी नहीं चला रहा हूँ, उन्हें मैं फिर लिखूँगा और आशा है नातिचिरेण। संक्षेप में यही कह सकता हूँ सच्चा घुमक्कड़ सर्व साधन संपन्न हो अपनी तपश्चर्या

से लेखक, कवि या चित्रकार के रूप में अपनी सेवायें मानव समाज के सामने उपस्थित करता है। सच्चा घुमक्कड़ धर्म, जाति, देश-काल सारी सीमाओं से मुक्त होता है, वह सच्चे अर्थों में मानवता का उपासक होता है। वह दुनिया से लेता कम और देता अधिक है।

एक घुमक्कड़ दूसरे घुमक्कड़ से जब मिलता है तो उसमें उसी मात्रा में आत्मीयता बढ़ती है जितनी मात्रा में घुमक्कड़ी साधना में वह ऊपर पहुँच चुका है। कोई-कोई घुमक्कड़-धर्म की साधना 'स्वांत. सुखाय" करते हैं, किंतु मैं उन्हें निम्न श्रेणी का घुमक्कड़ कहता हूँ। इसका यह अर्थ नहीं कि मैं उनकी कठिन यात्राओं और दुर्धर तपश्चर्याओं को हेय दृष्टि से देखता हूँ। वह अपने मूक आचरण या वार्तालाप से भी नये घुमक्कड़ों के लिए क्षेत्र पैदा करते हैं, आखिर अनपढ़ नानी ने अपनी यात्रा-कथाओं से ही मेरे हृदय में घुमक्कड़ी अँकुर पैदा किया। जिसमें कितने ही अपठित या अल्पठित घुमक्कड़ों ने जल सिंचन किया। इस यात्रा में भी मुझे कुछ घुमक्कड़ मिले हैं जिनका परिचय पाठकों से कराये बिना मैं आगे नहीं बढ़ सकता। एक एक घुमक्कड़ के परिचय के लिए एक एक पोथी चाहिये, जिसके लिए न मेरे पास अवसर है, न मैं ने उतनी सामग्री एकत्रित की। जिन घुमक्कड़ों के बारे में मैं यहाँ लिखने जा रहा हूँ उनका श्रेणी विभाजन नहीं करना चाहता उसे पाठक खुद कर लें।

अमृदो घुमक्कड

अमृदो ल्हासा से उत्तर दो मास के रास्ते पर कोकोनोर और कान्सू प्रदेश में एक इलाका है। अमृदो जाति यद्यपि भाषा और जाति से तिब्बती जाति की ही अंग है, किंतु वे तिब्बती लोगों से बहुत पहिले सभ्यता में दाखिल हुये। इनकी मुख्य भूमि पीत नदी (ह्वाङ्हो) के बडे चौकोर चक्कर से पश्चिम थी जिसे चीनी लोग हिया या हृसिया कहते। इनकी राजधानी एक बार तुङ्हान् (आधुनिक तिङ्हिया) रही। पूर्वी चिन वंश (३१०-४२० ई०) ने तगूतों (अमृदुओं) के राज्य को खतम कर दिया था, और फिर यहाँ पर सिबुग् वंश राज्य करने लगा। इसी समय ३९९ ई० में महान चीनी पर्यटक फाहियान अपनी भारत यात्रा में इधर से गुज़रा। तगूत फिर पाँचवी सदी में स्वतंत्र हो गये। ग्यारहवीं सदी में (१०४३ ई० में) चैन युयेन् हिया का सम्राट था। बारहवीं सदी के अंत में तगूत राज्य फङ्शान्सी और ओर्दुस् (ह्वांग् हो धनुता के पास) के उत्तरी नगरों तक फैला था। तगूतों ने चिंगिस् खान् का जबर्दस्त मुकाबिला किया जिसमें प्रतिशोध में चिंगिस् ने बहुत क्रूरतापूर्वक इनका दमन किया। तगूतों की पुरानी राजधानी तुङ्हान् से

रूसी शोधकों को कितने ही बौद्ध-ग्रंथ और लिखित सामग्री मिली है। यही पुराने 'तंगूत' या 'हिया' आज अम्दो के नाम से प्रसिद्ध हैं। चौदहवीं-पंद्रहवीं सदी में इस जाति ने चोङ्-ख्-पा सुमतिप्रज्ञ जैसे महान विद्वान् और सुधारक को जन्म दिया। आज तिब्बत में उसीके अनुयायी (गैलुक्-पा) धर्म और शासन के नायक हैं।

यद्यपि तिब्बत में डेपुङ्, सेरा, गन्दन् और टशील्हुन्पो जैसे महान् विद्यापीठ हैं, जिनमें से प्रत्येक में तीन हजार से सात हजार तक भिक्षु रहते हैं, किंतु वह विद्या में अम्दो के जोनी तथा कंबुम् के विहारों का मुकाबिला नहीं कर सकते। मेरी चारों तिब्बत यात्राओं के सुपरिचित डेपुङ् ल्हासा, गेशे शेरब् और टशील्हुन्पो के सम्लो गेशे विद्वत्ता में अद्वितीय थे और विद्वत्ता के लिए ही उन्हें मध्य तिब्बत में लाकर रखा गया था। मेरी दो तिब्बत यात्राओं के साथी गेशे गेंदुन्-छोम्‌फेल (संघ धर्मवर्धन) एक सर्वतोमुखी प्रतिभा के आदर्शवादी स्वतंत्र चेता विद्वान थे—या हैं कहूँ। वह तर्क और दर्शन के विद्वान तो थे ही साथ ही तिब्बती साहित्य का उनका ज्ञान बहुत व्यापक था। वह एक अच्छे चित्रकार और उससे भी बड़े कवि थे। भारत में बारह-तेरह साल रहने के बाद जब वह स्वदेश लौट रहे थे तो उन्हें उनके स्वतंत्र विचारों के लिए पकड़ कर जेल में डाल दिया गया। जहाँ दो साल से यह अद्भुत प्रतिभाशाली पुरुष सड़ रहा है। यह कोई आकस्मिक बात नहीं थी कि तिब्बत की यात्रा में मेरी जिन पंडितों से घनिष्ठता हुई, वह या तो अम्दो (तंगूत) थे या मंगोल।

अम्दो लामा, जिनसे चिनी में आकर मुलाकात हुई, वह उसी पुरातन तंगूत जाति के हैं। वह अस्पताल की एक कोठरी में ठहरे हुये थे। अस्पताल कई सालों से बिना डाक्टर का है। कंपोंडर हर किसी से झगड़ा मोल लेने को तैयार नहीं, इसलिए अस्पताल छात्रावास का भी और धर्मशाला का भी काम देता है, उसका आँगन गदहों और घोड़ों के बाँधने का स्थान है। इसी अस्पताली सराय में अम्दो घुमक्कड़ आकर ठहरे। उन्हें किसी से मेरा पता लगा, आये मिलने। अम्दो छोड़े उन्हें बीस साल के करीब हो गये। कुछ साल ल्हासा के पास के मठ में पढ़ते रहे किंतु उसमें उनका मन नहीं लगा। फिर खङ्-रिम्पोछे (हिमवंत महाराज कैलाश) के दर्शन के लिए आये, जहाँ किसी हठयोगी लामा ने उन्हें अपनी तरफ़ खींचा और सात साल से वह इधर ही विचर रहे हैं। अभी खालसर (मंडी) तीर्थ का दर्शन करके लौट रहे थे। कुछ ग्यगर-खम्पा रास्ते में मिले जिन्हें सामान दे आगे बढ़ आये। खम्पा की स्त्री प्रसव के बाद बीमार पड़ गयी जिससे वह समय पर नहीं पहुँच सके। मुझे नहीं बतलाया, किंतु पुण्य सागर से कुछ अन्न

उधार माँगा। मैंने सुना तो उन्हें मुक्त हस्त हो सहायता करने के लिए कह दिया। लेकिन दूसरे दिन लम्मा लाग आ गये। अम्दो घुमक्कड़ बचे चावल को लौटाना नहीं भूले, यद्यपि उधार के लौटाने की बात तो मैंने स्वीकार नहीं किया।

कहाँ है ह्वाङ हो (पीत नदी), कहाँ कोकोनोर (नीलसरोवर) और कान्स्! और यह व्यक्ति हमारी भाषा भी नहीं जानता किंतु भारत के बहुत से भागों में घूम आया है, सिंहल (लंका) भी हो आया है, और अब बर्मा जाने की बात कर रहा था। उसके लिए पृथ्वी का चारों खूँट जगीरी में था। दूसरे दिन हम टहलते समय अम्दो घुमक्कड़ के यजमान के डेरे पर गये, देखा हमारा पूर्व परिचित लम्मा तरुण भी वहीं है। वह भला बिना चाय पिलाये कैसे छोड़ता। अम्दो परिव्राजक प्रसूता के लिए पाठ कर रहे थे। अपनी व्यवहार बुद्धि से कुछ दवा और रोगोपचार की बात भी बतला रहे थे। वह अपने देश भाई गेशे धर्मवर्धन को पहिले ही से जानते थे। बतलाया तिब्बत में आजकल अंधाधुंध चल रही है। मानसरोवर में डाकुओं ने अड्डा जमा लिया है। ल्हासा में मठ के गुंडों का राज्य है। सेरा के एक मंगोल गेशे (निश्चय ही मेरे मित्र गेशे तन्दर्) शांत रहने के लिए कहने पर उनके क्रोध के शिकार हुये। और रिजेंट रेडिङ् लामा को भी उन्होंने मार डाला। गेशे धर्मवर्धन यह कहने के लिए जेल में डाल दिये गये कि वहाँ भी शासन में प्रजा हित सामने होना चाहिये। फिर उन्होंने भारत में युद्ध, लद्दाख पर सकट ही नहीं, बर्मा, लंका और जापान तक की बातें पूछीं। यद्यपि वह आदर्श श्रेणी के घुमक्कड़ नहीं हैं अर्थात् अपने अनुभव और अपनी आँखों से देखी बातों का दूसरों को साक्षात्कार नहीं करा सकते, किंतु उनके साहस और कष्ट सहिष्णु जीवन की कौन दाद नहीं देगा!

मंगोल घुमक्कड़

बाह्य मंगोलिया (राजधानी उर्गा, आधुनिक उलान बातोर) के निवासियों को खलखा मंगोल कहते हैं। यद्यपि मंगोलिया सोवियत् संघ के भीतर नहीं है किंतु उसने सोवियत् आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था को स्थानीय परिवर्तन के साथ स्वीकार किया है। १६१८–२० ई० से ही वहाँ नये समाज की रचना होने लगी, लेकिन उससे पहिले ही हमारे घुमक्कड़ अपने देश को छोड़ चुके थे। सुदूर मंगोलिया से छ महीने की कठिन यात्रा, मरुभूमि का तरण, हिमाच्छादित पर्वतों का उल्लंघन— डाकुओं से, संघर्ष से गुजर कर मध्य तिब्बत पहुँचना ठट्ठा नहीं है। इसीलिए बाह्य मंगोलिया, बुर्यत् मंगोलिया (बैकाल सरोवर) और दैलर (अंतर मंगोलिया) तथा , अस्त्राखान के जो मंगोल भिक्षु ल्हासा पहुँचते, वह अधिकांश लगन वाले

विद्यार्थी साचित होते। हमारे घुमक्कड़ उनके अपवाद थे और हमारी प्रथम यात्रा के साथी मंगोल सुमतिप्रज्ञ की भाँति निरक्षर भट्टाचार्य न होते भी विद्या से विशेष रुचि नहीं रखते थे। वर्षों ल्हासा की गुम्पा (मठ) में रह तीन साल ज्ञानी के पास किसी जगह एकांत ध्यान में बिताया, अब मंगोलिया लौटने की न संभावना है न इच्छा ही, इसलिए अब विचरते-विचरते जीवन बिता देने का निश्चय रखते हैं। भारत के बौद्ध तीर्थों का यह पहिला भ्रमण है, किंतु इसे आरंभ ही समझिये। तिब्बत के लोग ही गर्मियों में भारत में रहने से घबराते हैं, फिर सिबेरिया के अंचल में बसे मंगोलिया के निवासियों के बारे में क्या कहना है। जाड़ों में घूमते वह अमृतसर पहुँचे थे, उस समय वहाँ मार-काट चल रही थी। मार-काट वालों ने तो इन्हें नहीं पूछा, इनका चेहरा और लाल वस्त्र इस बात के प्रमाण थे कि वह राम खुदैया से दूर हैं। हाँ, पुलीस ने जरूर गिरफ्तार करके दो-तीन दिन बंद रखा। समझा रूसी बोलशेविक है। रंग ज्यादा साफ और अधिक लाल था, लेकिन मंगोल आँखें और श्मश्रुहीन मुँह कहीं छिपे रह सकते हैं। दो-तीन दिन बाद पुलीस ने छोड़ दिया। इतने पर भी उनकी सहानुभूति पाकिस्तान के साथ नहीं है, क्योंकि भारत उनकी धर्म-भूमि है, उससे मंगोलिया का सांस्कृतिक-संबंध है।

उनसे ल्हासा के अपने मित्रों के बारे में भी कितनी ही बातें मालूम हुईं। मेरे मित्र गेशे तन्दर् उनके देश भाई थे। वह पहिली ही यात्रा से मेरे मित्र बन गये थे। वह भी इन्हीं की भाँति खलखा भूमि (बाह्य मंगोलिया) को क्रांति से पहिले छोड़ कर तिब्बत चले आये थे। पहिले हर साल मंगोल सार्थ तीर्थ यात्रा करने ल्हासा आता। उनके हाथ सगे संबंधी सोना भेजते, जिससे मठों के मंगोल विद्यार्थी सुखपूर्वक विद्याध्ययन करते। क्रांति के बाद वह आमदनी बंद हो गयी, किंतु मंगोल मेहनती विद्यार्थी थे इसलिए सहायता मिल जाती थी। गेशे तन्दर् रेडिङ् लामा (पीछे भाटे के रिजेंट) के उस समय भी गुरू थे। सरकारी परीक्षा में उस साल के १६ 'ल्हा रम्बा' (डाक्टर) उपाधि प्राप्त करने वालों में वह सर्व प्रथम आये थे। सबसे अंतिम बार वह मुझसे १९३८ ई० में मेरी चतुर्थ तिब्बत यात्रा के समय मिले थे। वह उस समय मंचूरिया से लौट कर तिब्बत जा रहे थे— कलकत्ता कलिम्पोङ के रास्ते। वह राजनीतिक व्यक्ति नहीं थे, विद्याव्यसन ही उनके जीवन का ध्येय था; तो भी उनके हृदय में अपनी मातृभूमि का प्रेम था, और नवीन मंगोलिया के वह प्रशंसक थे। इसीलिए लामाओं के बीस बरस के विरोधी प्रोपेगंडा के बाद भी वह स्वदेश लौटना चाहते थे। मंचूरिया और मंगोलिया की सीमा पर पहुँचे भी, किंतु उसका पार करना उन्हें संभव नहीं मालूम हुआ, यदि नवीन मंगोलिया के प्रति सहानुभूति का जरा भी संकेत होता तो जापानी

उन्हें अपनी जेल में रख देते और जापान से जरा सा भी संपर्क सिद्ध होने पर मंगोल भी उसी तरह स्वागत करते। बेचारे हताश होकर लौट रहे थे। खलखा भूमि के देखने की संभावना नहीं थी। शेष जीवन तिब्बत में ही बीतने को था, और वह नौ साल से अधिक का नहीं हुआ। वह इधर सेरा महाविहार के चार में एक खन्पो (आचार्य) बना दिये गये थे। यह बडे सम्मान का पद था। सेरा के पाँच हजार भिक्षुओं के चार प्रधान आचार्यों में एक का पद प्राप्त करना भारी गौरव की बात थी। लेकिन साथ ही यह सेरा के लिए भी गौरव की बात थी जो उसे गेशे तदर् जैसा आचार्य मिला था। किंतु अब तिब्बत के यह विहार विद्या और विद्वानों के निवास स्थान नहीं गुडों के डेरे बन गये हैं। यहाँ विद्या-व्यवसनियों की नहीं रक्तपाणि राक्षसों का बोलबाला है। रेडिङ् लामा रिजेंट होकर सबको प्रसन्न कैसे कर सकते थे। उन्होंने इनके हाथ अपने प्राण खोये। गुडों को शांत करने का विफल प्रयत्न करते गेशे तदर् ने भी अपनी भविष्य की उमगों को सदा के लिए कुर्बान किया।

मंगोल घुमक्कड़ से यह भी मालूम हुआ कि गेशे धर्मवर्धन को इसलिए पकड़ा गया कि उन्होंने मंगोलिया की आधुनिक व्यवस्था की प्रशंसा की। गेशे धर्मवर्धन ने 'धम्मपद' ही नहीं 'गीता' और 'अभिज्ञान शाकुंतल' का सुंदर पद्यबद्ध अनुवाद किया है जिस पुरुष से तिब्बती साहित्य को बहुत आशा थी आज वह ल्हासा में बंद है। मंगोल घुमक्कड़ के कथनानुसार उन्हें जेल में नहीं नगर में बंद रखा गया है। उन्होंने बतलाया कि रेडिङ् की हत्या के बाद ढेपुङ् का कोई बूढ़ा रिजेंट बनाया गया है। जिसके बाद कुदेलिङ् लामा के रिजेंट होने की संभावना है। ल्हासा में बहुत से लामा और विद्वान तलवार के घाट उतारे गये हैं। बहुत से गद्दीधारी लामा गले में काठ मारे बंदी का जीवन बिता रहे हैं। यह सब है प्रभुता के लिए। दलाई लामा अभी चौदह साल का बच्चा है, अभी उससे प्रभुताकांक्षियों को भय नहीं है। किंतु क्या तिब्बत ऐसे ही रहेगा? तिब्बत के भाग्य का फैसला चीन की रणभूमि में हो रहा है।

ब्रह्मचारी चैतन्य

जब मैंने ब्रह्मचारी के साहस का बखान किया तो रे जर शर्मा ने कहा, क्या वही जो पगी में एक स्त्री के पीछे पागल हो गया? मैंने कहा आप तो सनातनी हैं, पागल क्या ब्रह्मा और शिवजी नहीं हुये? संस्कृत की सूक्ति है —

विश्वामित्र पराशरप्रभृतये वाताम्बुपर्णाशना ,
तेऽपि स्त्रीमुखपंकज सुललितं दृष्ट्वैव मोहंगताः ।

शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं ये भुंजते मानवाः
तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद् विन्ध्यस्तरेत् सागरम् ॥

(विश्वामित्र पराशर आदि जो हवा-पानी-पत्ता खाने वाले थे वह भी स्त्री के सुललित मुख पंकज को देख कर मोहित हो गये। फिर जो आदमी घी, दूध, दही सहित शाली के भात को खाते हैं, उनसे यदि इन्द्रियनिग्रह हो सके तो विंध्य पर्वत भी समुद्र में तैर जाय !)

यह कहते हुये मैंने बतलाया, उक्त दोष के होते भी यात्री के साहस की महिमा नहीं घट सकती।

ब्रह्मचारी का जन्म अल्मोड़ा ज़िले में कहीं पर आज से चालीस वर्ष पहिले हुआ था और उनकी आधी आयु भ्रमण में बीत चुकी है। उन्होंने अपना भ्रमण क्षेत्र कश्मीर-लदाख-मानसरोवर-नेपाल लेते सारे हिमालय को बनाया और कठिन से कठिन रास्तों को चाल डाला है। कह रहे थे पंद्रह-सोलह साल पहिले मैं जुब्बल के पहाड़ों में घूम रहा था, एक दूकानदार ने बड़ी खातिर की। भोजन कराने के लिए उसकी तरूणी कन्या ने हाथ मुँह धुलाया, साथ खाने के लिए बैठी। उसकी माँ ने हम दोनों को साथ बैठा कर भोजन कराया। रात को एक कोठरी में रख दिया गया। मैंने अपने ऊपर संयम किया। दूसरे दिन गृहपति ने घर जमाई बनाने का प्रस्ताव किया। इन्कार करने पर रोक रक्खा। फिर आकर अपना निश्चय बतलाऊँगा, कह कर चला आया। यह पथ की प्रथम बाधा थी। ब्रह्मचारी ने अधिक समय चम्बा-कुल्लु-जुब्बल जैसे खुले सबंध के प्रदेशों में ही बिताया है। उच्च श्रेणी के घुमक्कड़ों के लिए और योग्यताओं के साथ 'चोरी नारी-भिच्छा, और घुमक्कड़ इच्छा' इस ब्रह्म-वाक्य का पालन करना अत्यावश्यक है — 'नारी' से बंधन बनने वाली नारी का अभिप्राय है। किंतु ब्रह्मचारी से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह इस वाक्य का पालन करेंगे। उनका ब्रह्मचर्य का ढोंग भी उनके दो घटे की समाधि लगने की बात जैसा ही यात्रा के संबल का एक अंग है। वह अपने कथनानुसार एक बार मूत्र-कृच्छ्र के शिकार हो चुके है, हाँ अधिक योगाभ्यास के कारण। पर कोई आश्चर्य की बात नहीं, उनकी विचरण भूमि ही ऐसी है, जहां मूत्रकृच्छ्र, उपदंश का आँकड़ा पचहत्तर सैकड़ा से कम कोई ही कोई बतलाता है। इसमें इन लोगों का दोष नहीं, दोष है अधिक सभ्य कहलाने वाले नीचे के लोगों और गोरों का, जिन्होंने इनकी सामाजिक स्वच्छंदता का अनुचित लाभ उठाया। अपने यहां तो यौन प्रतिबंध के मारे वेश्यावृत्ति मात्र ही यौन सदाचार पालन का एक मात्र साधन बना दिया, और वेश्यायें रतिजरोग का खुला प्रसाद अपने भक्तों को बाँटती हैं। उसी को लेकर हमारे भाई पहाड़ों में पहुँचे

और यहा के मुक्त सबध के वातावरण में उनका लगाया बिरवा एक से दो, दो से चार, चार से सोलह होते आज सारे पहाड़ में फैल गया है। अब आप ही बतलाइये, गरीब पहाड़िया को आज इस दशा में पहुँचा देने का दोष किस पर है! इसका परिणाम पागलपन और कोढ का भयकर प्रहार हो रहा है, जिसका साकार रूप हृषीकेश लछमनझूला की सड़क तथा सपादू में पडे कोढ़ी-कोढ़िनों की पल्टन के रूप में दिखलाई दे रहा है। घुमक्कड़ बनने की आकांक्षा रखने वालों के मार्ग में यह बड़ा खतरा है, इसीलिए मुझे यह बात विशेष तौर से यहा लिखनी पड़ी। सरकार के लिए रतिजरोग कितनी बड़ी समस्या है इसे स्वय समझिये। यद्यपि पेनिसिलिन और दूसरी ऐसी रामबाण औषधियाँ निकल आयी हैं, जिनके चद इजेक्शन मूत्रकृच्छ्र को चुटकी बजाते बजाते भगा देते हैं; किन्तु एक हिमाचल को ही रतिजरोग निर्मुक्त करने के लिए करोड़ों डालरों की दवाइयाँ चाहिये, यह डालर कहाँ से आयेंगे! रोग मोचन तभी हो सकता है जब अपने उपयोग का पेनिसिलि हम खुद तैयार करें।

ब्रह्मचारी कश्मीर से नेपाल तक के पहाड़ों को अगुल अगुल छाने हुये हैं, यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है और ऐसे रास्तों से, जिन्हें देखकर हमारे अधिकांश पाठकों का शरीर सिहरने लगेगा। कश्मीर से लदाख होते मानसरोवर पहुँचना और सो भी परम बेसरोसामानी के साथ वैसी बात नहीं है। किंतु अजयर्यों से जा जा कर पहाड़ों पर के सरोवरों और ग्लेशियरों (हिमनदियों) में पाडवों के तपस्या स्थान और नये तीर्थों का आविष्कार करना आसान नहीं है। वह यूला गड्ड (नदी) के ऊपर के डाडे पर के सरोवरों और पाँडवों की तपस्या की बातें कर रहे थे। वहाँ एक कुड में ब्रह्मा विष्णु महेश की मूर्तियाँ हैं। मैंने समझ लिया यदि इनकी बात सच्ची हो, और उनकी सत्तर प्रतिशत बातों को मैं ऐसे ही काट देता हूँ, तो वहाँ अवलोकितेश्वर मजुश्री वज्रपाणि की त्रिमूर्ति होगी। मानसरोवर के रास्ते की एक पुराना गुम्बा में उक्त तीनों मूर्तियाँ राम लक्ष्मण सीता के रूप में मजे से पूजी जाती हैं, यह मालूम है। भक्त भाव प्रधान होते हैं, उन्हें लिंगभेद करने की फुर्सत कहाँ! मैंने कहा—इन छोटे सरोवरों के तीर्थ प्रचलित नहीं होंगे, मानसरोवर काफी है। यदि आविष्कार करना हो तो जाओ लाहुल (कुल्लू) के परले पार लदाख के रास्ते पर। वहाँ एक नगे पर्वत की जड़ से मोटी मोटी सहस्र धारायें निकल रही हैं, जिनको हिंदू आसानी से तीर्थ मान सकते हैं। यद्यपि वहाँ पहुँचने के लिए कुल्लू से दो जबर्दस्त जोतें पार करनी पड़ेंगी, जिनमें एक के पास का पर्वत तो जान पड़ता है, विशाल कछुये की तरह सरक रहा है और हर समय उस पर से पत्थर गिरते रहते हैं। किंतु इस कठिनाई को हमारी विमान-कपनियों के स्वामी धर्मात्मा सेठ

हल कर सकते हैं। वहाँ फोलक डंडा में काफ़ी मैदानी जगह है, जहाँ थोड़े से परिश्रम से छोटे पत्थरों को हटाकर हवाई मैदान बनाया जा सकता है। बल्कि आजकल तो शायद हमारे सैनिक विमान उसी आकाश से लदाख़ हर रोज जा रहे हैं ब्रह्मचारी मेरी बात को इतना ध्यान से सुन रहे थे, मानों वह कल ही वहाँ जाकर किसी तीर्थराज-का झंडा गाड़ देंगे। मैंने एक बार उस अनामतीर्थ का महातम एक सिख तीर्थ यात्री को भी बतलाया था, जो गंगोत्री की ओर गुरू गोविंद सिंह की तपोभूमि को ढूँढ़ रहे थे। कहीं ब्रह्मचारी के जाने से पहिले फोलक डंडा का अनामतीर्थ गोविंदतीर्थ न बन जाये!

ब्रह्मचारी के नेपाली गुरू चम्बा में रहते हैं जहाँ उनकी सिद्धाई की बड़ी ख्याति है। चम्बा तो उनके लिए घर-सा ही ठहरा। 'पर्यटन् विविधान लोकान्' तीन वर्ष पहिले वह किन्नर देश में पहुँचे। लद्दाख-स्पिति मान सरोवर की अनेक यात्राओं के संपर्क से वह तिब्बती भाषा का कामचलाऊ ज्ञान रखते हैं। उनके प्रतिद्वंदी घुमक्कड़ मोने रौला के पास वह ज्ञान नहीं है। साथ ही शक्ति उपासक होने से बौद्ध लामाओं के प्रति ब्रह्मचारी बहुत उदार हैं, और लोगों को आचारी वैष्णव बनाने की नहीं अभेद बुद्धि की शिक्षा देते हैं। माई के प्रसाद (मदिरा) के माई की भाँति ही अनन्य भक्त हैं। और दिन में जितनी बार मिल जाये 'अधिकस्याधिक फलम्' मानते हैं। किंतु माँस से वैसा ही सख्त परहेज़ रखते हैं जैसा माई के प्रसाद के साथ माई के सामने साष्टांग दंडवत करने वाले कितने ही गुजराती मारवाड़ी सेठ कहते हैं, '"शुद्धि" (मांस) सेवन करने पर माई हाथ से काटे बकरे का मांस मांगेगी, अभी तो मैं नारियल या कूष्मांड की बलि देकर छुट्टी ले लेता हूँ।' मैं ब्रह्मचारी की इस बात पर विश्वास करता हूँ। ब्रह्मचारी की आयु चालीस के आसपास है, शिर पर तैलाक्त दीर्घ केश और मुँह पर लंबी दाढ़ी रखते हैं, दोनों में अभी सफ़ेदी का स्पर्श नहीं हुआ है। तीन वर्ष पहिले कैलाश से विचरते वह यहाँ से छः मील आगे पंगी गाँव में पहुँच गये। दो-चार दिन ठहरे। लोगों में श्रद्धा देखी, निश्चय किया, यही योग समाधि लगानी चाहिये। जानते थे, तिब्बत के लामा तीन साल और कोई-कोई तो जन्म भर के लिए गुफ़ा में बंद हो जाते हैं। भक्त लोग उनके खान-पान को एक छिद्र से रख आया करते हैं। ब्रह्मचारी ने तीन साल की प्रतिज्ञा ली। पंगी में सड़क ८६५० फुट ऊँचाई पर है। ब्रह्मचारी ने उस से भी तीन हज़ार फुट ऊपर स्थान चुना, जहाँ पहुँचने से पहिले वृक्ष-कटिबंध समाप्त हो जाता है। भक्तों ने वहाँ उनके लिए सात कोठरियों का घर बना दिया। ऋषिकुल तैयार होगया—ब्रह्मचारी ने यही नाम अपने समाधि-मंदिर को दे रखा है। उस स्थान पर बर्फ़ की बात क्या पूछनी है चार-पाँच मास तो

ऋषिकुल बर्फ से ढँका रहता है। लेकिन योगी को चिंता करने की आवश्यकता नहीं, ऋषिकुल में लकड़ियों का गज ही नहीं, खान पान से (हाँ, पान जरूरी ठहरा, क्योंकि एक बार भी पान न मिलने पर ब्रह्मचारी का पेट दर्द करने लगता है) भंडार हर वक्त भरा रहता। पगी में तपस्या समाधि शुरू हुई। दो साल होते होते उधर इंद्र का आसन डगमगाने लगा। वह अपनी आदत से मजबूर था, जो हथियार उसने विश्वामित्र और दूसरे महर्षियों पर प्रयुक्त किया, उसी को उसने ब्रह्मचारी पर छोड़ा। यह कोई कठिन नहीं था। ब्रह्मचारी ने लामाओं की तरह एक छिद्र छोड़कर अपनी गुहा का द्वार नहीं बंद कर लिया था। भक्त जन सत्संग के लिए आया ही करते थे और अक्सर माई का प्रसाद लेकर आते। भक्तिनों का प्रवेश भी अबाध था, बल्कि ब्रह्मचारी के प्रतिद्वंदी मोने रौला के कथनानुसार तो वह छोकरियों के गाने पर हारमोनियम् बजाया करते थे। खैर, इन्हीं छोकरियों में एक इंद्र के हाथ का हथियार बनी, ब्रह्मचारी पुरातन ऋषियों के पद चिन्ह पर चलने के लिए मजबूर हो गये। 'अहं भैरव त्वं भैरवी' हो गया। भैरव हफ्ते दस दिन ऋषिकुल में अहोरात्र रह गयी। ब्रह्मचारी ने समझा, लोग इसे सिद्धाई का एक अंश समझ कर चुप हो जायगे, किंतु यह उनकी गलती थी।

ब्रह्मचारी कोठी की चंडिका माई के अनन्य भक्त थे, वहा आते जाते रहते थे। कानाफूसी हो रही थी। एक दिन सभा जुटी थी, वहाँ ब्रह्मचारी भी थे, लड़की का बाप भी था और दूसरे लोग भी। प्रसंग छिड़ा हुआ था। बाप ने भरी सभा में कहा—"मैं अपनी लड़की ब्रह्मचारी को देता हूँ।" कन्यादान मिल गया। ब्रह्मचारी फूले नहीं समाये, किंतु पिता को यह अधिकार नहीं था। लड़की का दान एक बार वह दूसरे के हाथ में कर चुका था और किनरों की प्रथा के अनुसार नगद गिना कर। पहिले दामाद ने लड़की पाने की कोशिश की, मामला आगे बढ़ते देख पिता को भी कुछ अक्ल आयी, किंतु अब लड़की नहीं मानती थी, वह ऋषि के चरणों की दासी बन गयी थी, ऋषि ने उसका ज्ञान नेत्र खोल दिया था। मामला अदालत में पहुँचा। ऋषि तहसीलदार की अदालत में आये—मोने रौला के अनुसार हथकड़ी डाल कर पकड़ मँगाया गया। खैर किनर की प्रथा के अनुसार धनी के लगे धन बीस रुपये देकर उन्हें छुट्टी मिल गयी।

अब भी पगी के सारे भगत ऋषीकुल से बागी नहीं हो गये हैं, विवेकी पुरुष हर जगह होते हैं। किंतु ब्रह्मचारी का मन उचट गया है। आज ऋषिकुल सूना है महीने भर के भीतर ही उन्होंने भैरवी को पितृकुल में भेज दिया। ३० ३१ मई को वह मुझसे मिले। उसी समय तीर्थ आविष्कार की बात उन्होंने की थी। ११ जुलाई को फिर आये। कह रहे थे "पांडव तीर्थ" पर मंदिर बनाने का प्रबंध कर आया

हूँ। आज कल आदमी नहीं मिल रहे हैं। अब कैलाश की परिक्रमा करने जा रहा हूँ।' सच्चे कैलाश की नहीं, झूठे कैलाश की, जो मेरे कमरे की खिड़की से इस समय भी दिखलाई दे रहा है। परिक्रमा में कम से कम एक चौथाई मार्ग तो अवश्य बकरियों को ही पसंद आ सकता है। परिक्रमा के लिए जाने वह यहाँ से फिर पंगी गये। मैं उनसे यह कहना भूल गया कि 'मंगोल घुमक्कड़ की भाँति तुम भी अपनी भैरवी को साथ ले जाओ।' कहता भी तो मज़ाक के ही तौर पर क्योंकि किसी को घुमक्कड़-पथ से च्युत करना बड़ा पाप है। मगोल घुमक्कड़ शक्ति-सपन्न हो गया है, किंतु यदि घुमक्कड़ी दिव्यांश का अणुमात्र भी उसके भीतर है तो उसे 'त्यक्त्वा चान्द्रायणं चरेत्' का पाबंद होना होगा।

मोने रौला

मोने रौला उसका नाम नहीं है, लेकिन यहाँ के लोगों ने उसे यही नाम दे रखा है। बस्पा उपत्यका के ऐतिहासिक ग्राम कामरू को किन्नर भाषा में मोने कहते हैं, और रौला साधु-फ़कीर को; इस तरह निवास स्थान के कारण उनका यह नाम पड़ा। मोने रौला का घर का नाम है रविलाल। उनका जन्म १६०६ के आस-पास नेपाल के पूर्वी भाग धनकुटा जिले में किंतु दार्जिलिंग के पास हुआ था। इक्कीस साल तक घर में रहे। ओनामासीधम्म, बाप पढ़े न हम। घर की खेती-पथारी का सब काम था। फिर परदेश जाने का विचार हुआ। गाँव के लोग बर्मा में नौकरी करते थे। मोने रौला भी चल पड़े। बर्मा में साल भर नौकरी करते रहे। मालूम हुआ, शान रियासत में रतन निकलता है, कुछ देश भाइयों के साथ वहाँ पहुँच गये। वहाँ रियासत की ओर से ज़मीन खोदने के लिए इस शर्त पर मिल जाती थी कि रतन का दशांश राजा को दो। बहुत लोग भाग्य परीक्षा कर रहे थे। मोने रौला के कथनानुसार उनके सामने एक आदमी को नव्वे लाख का नीलम मिला। एक आदमी ने पंद्रह हजार का रतन पाया किंतु पैसा हाथ में आते ही डाकू मार कर उसे छीन ले गये। ऐसे खून आम थे, कुछ लोग खोदकर भाग्य परीक्षा करते, और कुछ छुरा-तलवार चला कर। मोने रौला और उसके साथी परीक्षा में असफल रहे, किंतु पाँच मास में असफलता स्वीकार कर लेना कापुरुष का काम है। शायद उसी समय हो गये खून ने भी हिम्मत पस्त कर दी। बहुमूल्य धातु-पत्थरों की खानों में सारे संसार में यही सनातन धर्म मालूम होता है। केलिफ़ोर्निया, (अमरीका) और विक्टोरिया (आस्ट्रेलिया) की सोने की खानों की भी यही बात रही। दूर क्यों जाइये, हिमाचल प्रदेश के पड़ोस में जम्मू-कश्मीर की नीलम की खानों में भी ऐसा ही खतरा कुछ उलटे रूप में देखा जाता है।

यहाँ नीलम का खानों से नातिदूर कूठ का जगल भी है। कुठ सुगंधित द्रव्य है जिसके एक भार का सौ सवासौ रुपया धरा समझिये। आसपास के पहाड़ी लोग नीलम की लूट करने जाया करते थे, और शायद अब भी जाते हैं। नीलम हाथ लगी तो हजारों का वारा-न्यारा, नहीं तो कुठ चुरा कर सौ सवासौ बना लेना मामूली बात थी। हमारे दोस्त पुण्य सागर चंबा में पाँच साल तक धूनी रमाये रहे और हर साल नीलम लूटने के लिए जाया करते किंतु हाथ आता कुठ। नीलम के लुटेरे लाहुल और चंबा के अप्रचलित दुर्गम मार्गों से खान के पास पहुँचते, कहीं जंगल में पाँच पाँच, सात सात मिलकर डेरा डालते, रात को नीलम खान पर पहुँचते। नीलम खान पर कहाँ पहुँचते! वहाँ तो कश्मीर सरकार की ओर से सशस्त्र पहरा पड़ता, कुत्ते भी इसी काम के लिए रखे हुये थे। खान खोद कर नीचे फेंके गये पत्थर और मिट्टी के ढेर ही को टटोलना नीलम चोरों का काम था। इसमें क्या हरज था यदि कश्मीर सरकार शान रियासतों की भाँति दस सैंकड़ा पर लोगों को भाग्य परीक्षा की आज्ञा दे देती। नीलम चोरी में शहीद अनगिनत बतलाये जाते हैं। पुण्य सागर तो सही सलामत बच आये। कुत्तों के पीछा करने पर उन्हें भागना पड़ा। क्यलांग के एक भूतपूर्व नीलम चोर आज भी काने के रूप में मौजूद हैं।

मोने रौला साधारण व्यक्ति नहीं थे, वो नौकरी करते एक एक रुपया बटोरते रहते। उनके पास जब दो ढाई सौ रुपया हो गया तो उन्होंने मोनेवा से मनीपुर के रास्ते लौटना चाहा—यह एक बार बर्मा के दक्षिणी छोर पर पहुँच कर सिंहापुर जाने में असफल होने के बाद। मनीपुर के लिए पगडंडी का रास्ता पकड़ना मौत को बुलाना था। लेकिन मोने रौला ने १६१८ में वही रास्ता लिया। कहीं कहीं रौला को नर भक्षक नागों के देश में दिन में जंगल में सोना और रात को चलना पड़ा। अंत में एक दिन वह मनीपुर पहुँचे ही गये। बिना पास के मनीपुर पहुँचना भी अपराध था। रौला सीधे जाकर मंत्री के पास हाजिर हो गये, मंत्री दार्जिलिंग के रहने वाले थे। उन्होंने उन्हें नौकर रख़ा दिया। रौला गोरखा सिपाहियों की रोटी बनाने लगे, किंतु थोड़े ही समय बाद उन्हें पेट की भारी बीमारी लगी। लोग निराश हो गये। सूबेदार ने पास के ढाई सौ रुपयों को किसके पास भेजने के बारे में पूछा। रौला ने कहा मेरे शरीर को ब्रह्मपुत्र में प्रवाहित कर देना और रुपयों को दान पुण्य में लगा देना। रौला की अभी ब्रह्मपुत्र से भेंट नहीं थी और धरम आसरा से सीखे हुये पर सामित था। लेकिन रौला मरे नहीं, ब्रह्मपु में डुबकी लगाते ही चंगे होने लगे। उनकी उनकी श्रद्धा तीर्थों पर बढ़ी। वह कुछ साल मनीपुर में रहे।

'होनहार बिरवान के होत चीकने पात'। रौला में धीरे धीरे घुमक्कड़ी का बीज अंकुरित होने लगा, बढ़ने लगा। सात साल उन्होंने कभी कभी नौकरी करने, कभी घूमने में लगाया। माँगने की उनकी आदत नहीं थी, अब भी आदत नहीं है, जहाँ तक उनका वचन है। किंतु रौला के प्रतिद्वंदी पगी ब्रह्मचारी का कहना है, वह पत्थर में से पैसा निकालना जानते हैं। यह रौला ने भी स्वीकार किया कि एक बार महाराज पद्मसिंह ने बारह सौ रूपये दिये थे। शायद रौला का माँगने की आदत न होने से अर्थ है—अपने खाने पीने के लिए माँगना—स्कूलों के लिए चंदा माँगने से वह इनकारी हैं। माँगने की आदत न होने से एक बार रौला ने अपने प्राणों को संकट में डाल दिया। एक बार वह द्रविड़ देश में घूम रहे थे, पास का पैसा चुक गया। चार दिन भूखे रहने पर रौल भिक्षा माँगने गये। दसों घरों से दुत्कार मिली 'इल्ले, पो' (नहीं है जा)। रौला ने मरने का संकल्प कर लिया और किसी ब्राह्मण के घर के पास पड़ रहे। ब्राह्मण ने रौला की अवस्था देख कर हाल पूछा, किंतु एक दूसरे की बात नहीं समझ रहे थे। अंत में गाँव का मुसलमान बुलाया गया, उधर के मुसलमान हिंदी समझते हैं। ब्राह्मण सुन कर रो पड़ा। वह वैष्णव नहीं शैव था, इसलिए रौला जैसा आचारी वैष्णव उसके हाथ का भोजन नहीं खा सकता था। ब्राह्मण ने सामग्री दी, रौला ने बनाया। ब्राह्मण ने चलते समय आठ आना पैसा भी दिया जो महीने की यात्रा के बाद पच्चीस तीस रूपयों तक पहुँच गया।

खैर, हम कह रहे थे रौला सात साल तक नौकरी करते, घुमक्कड़ी करते रहे। जब सौ डेढ़ सौ रूपये हो जाते तो वह नौकरी को धता बता देते। रौला ने बर्मा मनीपुर में नौकरी की, बालासोर (उड़ीसा), दिल्ली में नौकरी की। हरद्वार के पास किसी पंजाबी स्वामी की गायें चरायीं। रौला ने साधु बनने या। गुरू करने में जल्दी न की, उन्हें मालूम था 'पानी पीजे छान के, गुरू कीजे जान के।' काशी-अयोध्या-हृषीकेश-हरद्वार सब जगह से बिना चेला हुए अछूते बच निकलना पहाड़ी के जीवट की बात थी।

बदरीनाथ गंगोत्री की यात्रा में रौला ने रामेश्वर के लिए गंगाजली भरी और पैदल ही बनारस-गया कलकत्ता तथा बादशाही सड़क पर, फिर जगन्नाथपुरी होते गंजाम-बेजवाड़ा (विजयवाड़ा)-मद्रास हो रामेश्वर पहुँच शंकर पर गंगाजल चढ़ाया। उसी यात्रा में किसी बैरागी वैष्णव ने रौला से पानी में से तेल निकलने की बात कही। मालूम हुआ, तोताद्रि में भगवान् के अभिषेक का वह जल है जिसमें तेल होना ही चाहिये क्योंकि लक्ष्मीनाथ बिना तेल लगाये नहा नहीं सकते। खैर, रौला को पानी से आप-रूप तेल न निकलने का अफसोस नहीं हुआ। और

वह रामानुजी वैष्णवों के शंकराचार्य जगद्गुरूरामानुजाचार्य तोताद्रि पीठ के शिष्य हो गये, नाम पड़ा रंगरामानुज दास। घुमक्कड़ी कला के तो वह रजिस्टर्ड स्नातक थे ही, किंतु धर्म की दृष्टि से उनका सारा करम धरम बिना रजिस्ट्री का मनमुखी हो रहा था, क्योंकि उनके लिए किसी रजिस्टर्ड धर्म का सदस्य होना अत्यावश्यक है। मेरी दृष्टि में रौला ने जिस रजिस्टर्ड धर्म की दीक्षा ली, वह घुमक्कड़ी जीवन के सर्वथा प्रतिकूल है, मैं यह बात अपने तजरुबे से कहता हूँ, क्योंकि मैंने भी कुछ मसों तक उस धर्म में रह कर देख लिया, घुमक्कड़ को हिंदुओं के जिस धर्म को फूटी आँख भी नहीं देखना चाहिये, जहाँ हाथ से छूने से ही नहीं आँख से देख देने में छूत लग जाती, ऐसे धर्म का निर्वाह घुमक्कड़ कैसे कर सकता है! इसीलिए इन आचारियों में तेली के कोल्हू वाले ही अत्यंत निकृष्ट श्रेणी के घुमक्कड़ निकलेंगे। वैसे वैरागी धर्म भी घुमक्कड़ी के उतना अनुकूल नहीं है, तो भी 'परम हंस', 'मधूकरी बाबा' नाम लगाकर काम कुछ चल जाता है, किंतु वह भी 'आसेतो-आहिमाद्रे' ही। बल्कि हिमालय में भी नेपाल में चावल के ऊपर अरवा रखा देख कर धर्म-संकट उपस्थित हो जाता है। आप पूछेंगे, घुमक्कड़ों के लिए सब से खरा धर्म कौन है, तो मैं कहूँगा जहाँ तक हिंदू धर्म के भीतर रहने का सवाल है वह है संन्यासी, लेकिन दंडीपतड़ी नहीं, निर्द्वंद्व, स्वच्छंद, अवधूत, सर्ववर्ण सुगम गिरी पुरी भारती आदि, और उदासीन भी। और इनके भीतर भी हीरा धर्म है शाक्त कुल सम्मत धर्म, जो भारत के सारे साधु अखाड़ों मठों का द्वार खुला रहते भी बहुत दूर तक स्वतन्त्रता देता है, क्योंकि सर्वदर्शन प्रतिष्ठापनाचार्य श्री १००८ भगवत्पाद शंकराचार्य का श्री मुखवचन है 'न वर्णा न वर्णा श्रमाचार धर्मा।' और यदि सचमुच घुमक्कड़ी के पूर्ण अनुकूल धर्म स्वीकार करना चाहते हैं तो वह है बौद्ध धर्म जो देशकाल व्यक्ति के त्रिविध पारतन्त्र्य से मुक्त कर देता है, साथ ही विश्व के बहुत बड़े भाग में अदृष्ट परिचितों की भारी संख्या भी प्रदान करता है।

खैर, रौला ने एक सौ ग्यारह नंबर वाले घर में भी सबसे निकृष्ट कोठरी का बाना लगाकर भूल की इसमें संदेह नहीं। किंतु घुमक्कड़ हर परिस्थिति में अपने लिए रास्ता निकाल लेता है, यह सर्ववादिसम्मत सिद्धांत है, चुनांचे रौला को किसी के हाथ का भोजन खाने में कोई एतराज नहीं। रौला ने एक से अधिक बार सेतुबंध तक की यात्रा की, पूर्व में सदिया परशुरामकुंड से पश्चिम में द्वारिका तक ही पहुँच पाये अर्थात् भारत सीमा पार नहीं कर सके। हिमालय में पैदा हुए, पले, रौला का उसके प्रति खास आकर्षण है चेला होकर रौला साल भर तोताद्रि में गुरू के मठ में कैंकर्य करते रहे, यहीं अक्षर से परिचय हुआ। सिर्फ एक सौ

ग्यारह लगा लेने भर से तो काम नहीं चल सकता, कुछ पाठ-पूजा आवश्यक है। रौला ने अक्षर पढ़े, और लगे गीता, रामायण, सुखसागर प्रेमसागर पर हाथ साफ़ करने। गीता सहस्त्रनाम का पाठ तो खैर वह पुरुषार्थ करते हैं किंतु 'करत-करत अभ्यास के' अब वह भाखा ग्रंथ समझ लेते हैं। हिंदी खूब बोल लेते हैं। अंधों को देखना हो कि कैसे हिंदी भारत की राष्ट्रभाषा है तो रौला को देख लें। नेपाल के एक पहाड़ी कोने में पैदा हुये रौला ने अब इतनी योग्यता प्राप्त करली है कि वह 'स्वांतः सुखाय रौला रघुनाथ गाथा' ही नहीं पढ़ लेते हैं बल्कि मोने (कामरू) में शिष्य-शिष्याओं को सुखसागर. प्रेमसागर का पाठ भी पढ़ाते हैं।

एक साल एक जगह टिक जाना रौला के लिए बहुत था। १६३६ में रौला द्रविड देश से उत्तर की ओर चले, फिर बदरीनारायण, मानसरोवर होते नेपाल, काठमांडव, आगे पूर्व में जनकपुर, निकल गये। वहाँ से फिर लौटे तो मुक्तिनारायण (नेपाल-तिब्बत सीमा) पहुँचे। अगले साल (१६३७) गंगोत्री होते मानसरोवर दूसरी बार गये, और उधर से लौट कर किन्नर देश जा निकले। तब से किन्नर रौला के घुमक्कड़ी क्षेत्र की केंद्र भूमि बन गया। और जैसा कि आरंभ में मैंने लिखा उनका नाम ही मोने रौला पड़ गया। वह चार साल लगातार किन्नर भूमि में रह गये। यहाँ रौला को पहाड़ के डांडों के फाँदने के साथ साथ एक और व्यसन लग गया, वह था गाँवों के लड़कों के लिए स्कूलों का खोलना। रौला ने कामरू, मोरङ्, ग्याबुङ्, इङ्गो आदि में स्कूल खोले। कहीं अध्यापक नहीं मिला, तो खुद पढ़ाने लग गये। यहाँ कुछ वर्षों से रियासत ने हिंदी को राजभाषा मान लिया था, नहीं तो उर्दू के ज़माने में रौला का काम आसान न होता। राजभाषा मान लेने पर आज हिमाचल सरकार के दुबारा हिंदी को राजभाषा घोषित कर देने पर भी चिनी की तहसील और थाने के सारे काम उर्दू में ही हो रहे हैं। स्कूल में भी दूसरी श्रेणी से उर्दू अनिवार्य पढ़ायी जाती है हालाँकि कनोर-बालकों को अपने अधकचरे उर्दू ज्ञान के उपयोग का कभी मौक़ा नहीं मिलेगा। रौला के स्कूल खोलने का ढंग है चंदे से रुपया जमाकर छः मास का वेतन दे अध्यापक को बैठा देना, उधर जंगल विभाग से पेड़ मांग कभी खुद भी पीठ पर पत्थर उठा स्कूल का मकान उठाने में लग जाना। गाँव में अदूरदर्शी भले ही अधिक हों, किंतु बेशर्म उतने अधिक नहीं होते कि वे साधु को अपने गाँव के लिए इतना काम करते देख आँख मूँद कर चल दें। छः-छः, आठ आठ महीने में रौला ने कई स्कूल स्वीकृत करवा लिये। रौला पहिले सिर्फ दूधाधारी थे, शायद इसमें छूत-छात वाला ख़्याल भी काम कर रहा था। महाराज पद्मसिंह ने अपने पास बुलवा कर उसे

अन्न भोजन करने पर राजी किया। अपने कथनानुसार पिछले साल निमोनिया में मरणासन्न हो जाने पर रौला ने दूसरों के हाथ का भोजन खाना शुरू किया। चार साल तक किन्नर में रह कर वह हरद्वार के मेले में गये (१६४१), फिर जगन्नाथ तक जा पलट कर हरद्वार, लाहौर और बदरीनारायण जा पहुँचे (१६४२)। वहाँ से थोड़ा नीचे उतर नीती घाटी की ओर तपोवन (तातवानी) में एक वर्ष तक तप करते रहे। फिर वहाँ से मानसरोवर (१६४३)। लौटकर शिप्की होते सराहन पहुँचे। मोरङ् के लोगों को रौला के आने का पता लगा। वे दौड़े दौड़े सराहन पहुँचे—उन्हें स्कूल चाहिये था। रौला ने जाकर वहाँ स्कूल खोल दिया और छ मास बाद उसे स्वीकृत भी करवा दिया।

१६४५ में रौला फिर निकले और अब के बबई होते त्रावकोर तक का धावा मारा। लौटने पर हङ्पा (१६४६) ग्यावङ् (१६४७) में भी अपनी ओर से स्कूल खोल कर मंजूर कराये। रौला किन्नर देश में 'स्कूल खोलने वाला बाबा' के तौर पर प्रसिद्ध हो गया है।

रौला ने पाँच बार मानसरोवर की यात्रा की है, दो बार और भी गये किंतु बीमारी के कारण वहाँ तक नहीं पहुँच सके। पाँचों बार वह अपनी पीठ पर गुड़ सत्तू चाय बाँधकर गये भोटिया लोगों के हाथ का अन्न जल न ग्रहण कर अपना सत्तू चाय घोलते गये और आये। कितनी ही बार निर्जन बियाबान में अकेले चल पड़े। एक बार रास्ता भूल गये। भटकते रहे, अंत में समझ लिया, अब मरने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं। मौत से डरना रौला के शास्त्र में नहीं लिखा है, लेकिन साहस छोड़ने को भी वह ठीक नहीं समझते। वह एक पहाड़ पर चढ़ गये। वहाँ से कोई मनुष्यावास दिखाई पड़ा और वह वहाँ पहुँच गये। मानसरोवर का इलाका इधर कितने ही सालों से डाकुओं द्वारा उत्पीड़ित हो रहा है। रौला को एक से अधिक बार उनसे मिलने का मौका मिला है। एक बार मानसरोवर की परिक्रमा में जा रहे थे, देखा एक बैरागी को डाकुओं ने एक कंधे से कमर तक काट कर दो टूक कर दिया है और दूसरा सिसक सिसक कर दम तोड़ रहा है। रौला के पहुँचते ही डाकू उन पर टूट पड़े। रौला ने अपना सारा सामान उनके सामने पटक दिया और इशारे से कहा—'लो, ले लो।' डाकुओं ने सत्तू और पट्टू (ऊनी चादर) देकर उसे छोड़ दिया। आगे दूसरे डाकुओं ने घेरा। उन्हें उसने इशारे से बतलाया, 'पीछे डाकुओं ने सब छीन लिया' और गर्दन सामने झुका कर सकेत किया, 'लो काट डालो'। डाकुओं ने छोड़ दिया। लुट जाने पर भी रौला की लंगोटी में सौ रुपये बचे थे।

रौला को देवताओं से भी कभी-कभी साक्षात्कार हुआ है। एक बार वह हनुमानजी को सिद्ध कर रहे थे। हाथी के सूँड़ और पैर की भाँति लाल-लाल हाथ पैर प्रकट होने लगे, रौला डर गये। मानसरोवर यात्रा में राह भूल अकेले वह एक गुफा में ठिठुरे पड़े थे। चारों ओर से निराश थे, समझते थे, भूख या डाकू काम तमाम करेंगे। इसी समय आवाज़ आयी, 'घबराओ नहीं, कोई अनिष्ट नहीं होगा'। रौला इधर-उधर देखने लगे, किंतु वहाँ कोई नहीं दिखलाई पड़ा। वहाँ मानसरोवर में कौन हिंदी में बोल रहा है। भय दूर होने की जगह और बढ़ने लगा जिस पर फिर वही आवाज आयी। इसी तरह एक बार और रौला निराश हो डाकुओं से भरे मानसरोवर के महान मैदान में एक जगह पड़े थे रात की चाँदनी थी। इसी समय एक आदमी उनके पास आकर खड़ा हो गया। रौला ने 'कौन है' कह कर पुकारा, किंतु कोई जवाब नहीं। रौला सोच रहे थे, 'मारना चाहता है तो मार ले इस तरह भय पैदा करने का क्या काम?' लेकिन तीसरी बार पुकारने पर मूर्ति एक ओर चली गयी।

मोने (कामरू) में रौला ने अनेक दैवी चमत्कार देखे। उनका कहना है, इस उपत्यका में देवता और भूत बहुत रहते हैं। पिछले साल एक साधारण अनपढ़ लड़की पर देवता आया। दोनों हाथों की मध्यमा अंगुलियों को केश से बाँध देने और मिर्च पाखाने का धुआँ देने की तैयारी करने पर देवता बोलने के लिए तैयार हो गया। हाँ, पहिले उसने अंगुली बाँधते समय बड़ी आपत्ति की। देवता शुद्ध हिंदी फरफर बोल रहा था, हालाँकि तरुणी हिंदी बिल्कुल नहीं जानती थी; यही नहीं उसने कांग्रेस के नेताओं के नाम बतलाये, और यह भी कि अमुक दिन अंग्रेजों का राज्य उठ जायगा। सभी बातें सच निकलीं। किन्नर देश ऐसी भूमि है जहाँ आकर सभी व्यक्ति देव-विश्वासी होकर लौटते हैं, छोड़ दीजिये मेरे जैसे अभागों को जो कहते हैं—मैं तो तब विश्वास करूँ जब देवता बतलावे चिनी के ठाकुर की तलवार, बर्तन, अंगूठी या कोई ऐसी जगह बतला दे जहाँ से प्राप्त वस्तुओं से तत्कालीन इतिहास पर प्रकाश पड़े; अथवा कोई लुप्त संस्कृत ग्रंथ बोलकर लिखा दे, किंतु हो ऐसा ग्रंथ जिसका अनुवाद भोटभाषा में मौजूद है।

मोने रौला ने देशों में भी देवताओं की करामातें देखी हैं, किंतु उनको बस्पा उपत्यका में देवता बहुत दिखलाई पड़ते हैं। रौला लड़कों-लड़कियों के स्कूल खोलने ही से संतुष्ट नहीं हैं, बल्कि सनातन वैष्णव धर्म के प्रचार में वह सतत् प्रयत्नशील रहते हैं। इसके लिए तरुण-तरुणियों को प्रेमसागर, सुखसागर पढ़ाया करते हैं। कीर्त्तन के भी वे बड़े प्रचारक हैं, और बार तो डर लगा, कहीं वह 'कीर्त्तन वाला रौला' न बन जायें! एक बार वह अपनी गुफा में पढ़ा रहे थे, कि एकाएक एक

पोड़शी अचेत होकर गिर पड़ी। रौला घबरा गये—हे भगवान् यह क्या बला आयी! मालूम हुआ, पोड़शी पर देवता आ गया—पोड़शियों और प्रौढ़ाओं तक ही देवता अपने अवतरण को सीमित रखते हैं। खैर, दोनों हाथों की मध्यमा अंगुलियाँ बांधी गयीं। गदी कड़वी धूप देने की तैयारी की गयी। 'मार के मारे भूत भागे', भूत ने बोलना शुरू किया। रौला ने हनुमान जी को आधी दूर तक ही सिद्ध करके छोड़ दिया नहीं तो बस्ती वाले लोग-लुगाइयों का वह दूसरी तरह से भी बहुत उपकार कर सकते थे।

रौला एक साहसी यात्री हैं, अपने पुरुषार्थ से उन्होंने किन्नर वालों का उपकार किया है। शिक्षा की कमी अवश्य उनके जौहर को पूरी तौर से खुलने नहीं देती।

भारतभूषण अग्रवाल

यों हमें तुलसी मिला

माधवी की देह का सिंगार सारा सूख कर मुरझा गया जब
इंद्रवज्रा, शिखरिणी के छंद पीले पड़ गये, फिर स्याह होकर खो गये
जब साम-स्वर का रंग कच्चा घड़ी-भर को क्षितिज पर चमका, बुझा
जब निराशा की घनी श्यामा उतर कर बस गई थी लोचनों में भूमि के
चारणों के कंठ के लघुदीप पलभर टिमटिमाकर मिट गये
और गहरी हो गई थी कालिमा
जब सुनाई पड़ रहे थे सभी दिशि में
श्रृंखला-च्युत आर्त ग्रामों के विकल स्वर लड़खड़ाते
किंतु जिनको अनसुनी कर विरत साधक के मुँदे दृग हेरते थे शून्य को
तभी जागा एक जन
अपनी व्यथा की चोट से बेचैन जो घर-घर गया
जिसके खुले दृग ने निहारा भूमि को, संसार को
और फिर अपनी विकलता में समोता सर्व व्यापी वेदना
जो गा उठा स्वर साधकर करुणा-भरे रस-मेघ-सा
गीत जिसके सूर्य की निष्कंप आभा-से उठे
ज्योति से अपनी जगत् को जगमगाते
घोर तम को काट कर जो रच गये पीड़ित धरा के प्राण में।

यों हमें तुलसी मिला
जिसके अनोखे नैन में हमको मिली संजीवनी
जिसके हृदय की वेदना प्रत्येक जन की वेदना बन कर खिली
विशद शतदल की तरह।
यज्ञ के शुभ-धूम-सा जिसका महासंगीत

भारतभूषण अग्रवाल

विपिनवासी, दस्यु-संहारी, तपस्वी राम को
बुला लाया झोंपड़ी की ओर।
वह महाकवि अडिग योगी की तरह
राम के ही चरण-चिन्हों पर चला
हर डगर में सत्य का जयकेतु फहराता हुआ
हर नगर में, गाँव में, घर घर जगाता
नये जीवन के नये आदर्श
देता कर्म का आह्वान
गाता गान।

है कौन सी वह दिशा
कोई है भला क्या नगर ऐसा, गाँव ऐसा
जो न अब तक गूँजता हो उस महाकवि की अमर ध्वनि से भरा
कैलाश से कन्या कुमारी तक भला है राह कोई
जहाँ अब भी सुन न पड़ते।हों चरण उज्ज्वल-व्रती उन वन-पथी सहयोगियों के।
ओ महाकवि!
आज तेरे निकट श्रद्धा से विनत हूँ मैं
कि तेरे कंठ से वह।राम-सीता की अमूल्या वीर-गाथा
बही नाना छंद, नाना रूप धर कर
और जन-जन के हृदय पर छा गई हरियालियों-सी।
कितनी गहन होगी अरे! वह वेदना
कितनी विशद वह दृष्टि
जिसमें झाँक पाया पूर्ण जीवन सर्वजन का
योग से जिसके अमृत सौंदर्य के, कल्याण के निर्झर झरे
रूप के, गुण के असंख्यों फूल प्राणों में खिले।

भक्ति-युग के महाचारण!
देश और समाज के समवेत जय स्वर।
राम के गायक!
सखा आकाश भेदी, अग्निध्वज हनुमान के!
मैं अबल, असहाय, शोषण के दलित युग का निराशा से भरा, शंका-घिरा कवि
नियति के उपहास पूरित व्यंग्य सा यह जन्म मेरा

हुआ है तेरे जयंती पर्व पर
और जिस दिन खुलीं मेरी आँख
सीता की प्रसूता
रामपद रजमयी
तेरे गान से आँजी हुई इस भूमि पर
उसी दिन से मैं निबल, निरुपाय, आँखें फाड़कर यह देखता हूँ :
किस तरह
दस्युओं ने यहाँ काँटे हैं उगाये
और उनको अलख पूँजी की विषैली शृंखला में बाँध कर
देश भर में एक निर्मम पाश यह फैला दिया है।
मैं बर बर आ रहा हूँ देखता
किस तरह
आज मेरे जन्म के युग में
गेहूँ, धान खेतों के रसीले वक्ष पर
स्वार्थ की मेखें गड़ी हैं
और जिनके बल धरा की देह पर
जड़ दी गई हैं रेल की ये पटरियाँ
रात दिन जिन पर अरे! रावण-सरीखे
धड़धड़ाते दौड़ते हैं लौह के ये चक्र हिंसा और शोषण यान के।
रौंद डाली गई है यह जानकी की अमृत दुग्धा भूमि
उसके हृदय का सब रक्त पापी पी गये हैं
और अपनी लौह-प्रभुता के विनाशक गर्व में वे
रक्त के छींटे उड़ाते हैं चतुर्दिक
हो गये हैं उन्हीं से लथपथ हमारे प्राण,
जन-जन के अटकते प्राण।

यही कारण है कि मेरे जन्म-युग में
आज घर-घर में बसी है कैकयी भी, मथरा भी,
आज जीवन-यज्ञ पूरा हो नहीं सकता
क्योंकि तुलसी!
राक्षसों के दूत से ये धातु के सिक्के
विघ्न बन कर के खड़े हैं।

आज इस विस्तृत विषैले जाल में बिंधकर हमारे चरण
हिल डुल भी नहीं सकते
आज सीता को महल के भोग भाते हैं।
और तेरा वशधर यह कवि पड़ा है बधनों में मोह के
गा रहा है कांपते स्वर में निजी दुःख वेदना के छंद छोटे
राम गाथा की अमर-ध्वनि क्षीणतर होती गई है।

किंतु फिर भी प्राण में जीवन अभी है
हे महाकवि !
आज तेरा ध्यान कर मैंने नई यह दृष्टि पाई है
कि इस वैभव हरण को अब नहीं मानव सहेगा
वह उठेगा
उठेगा क्या, उठ रहा है
आज क्रम क्रम से करोड़ों राम मिल कर बढ़ रहे हैं
चाप उनकी गूँजती है मेघ-सी
तन गया है आज जनता का धनुष इस विघ्न-तट पर
अभी पल भर में बनेगा क्षुद्र यह पीड़ा-समुद्र
और फिर कट कट गिरेंगे शीश शोषण के
जलेगी राक्षसों की स्वर्ण लंका।

म्युरियल वसी

उपन्यासकार आर्थर केस्टलर

उपन्यास एक कला-रूप है कि नहीं, इस प्रश्न पर इधर बहुत से साहित्यालोचकों ने भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये हैं। दोनों पक्षों ने अपना समर्थन करते हुए बड़े-बड़े नाम गिनाये हैं और प्रामाणिक उद्धरण दिये हैं। किंतु वास्तव में विवाद कोरी शास्त्रीय लीकों पर चला है, और 'उपन्यास' तथा 'कला' की विभिन्न परिभाषाओं के अनुरूप ही अलग-अलग परिणाम भी निकाले गये हैं। 'उपन्यास' के विभागीकरण में भी, और एक साहित्यिक रूप के तौर पर उसके विकास में भी, उपन्यास का 'सुर' महत्व रखता है। उपन्यास के इस पक्ष को लेकर आधुनिक उपन्यासकारों—बीसवीं के लेखकों—ने अनेक प्रयोग किये हैं, यद्यपि प्रथम कोटि की रचनाएँ उन प्रयोगों से अभी तक कम ही मिली हैं।

प्रयोगशीलों में प्रमुख औपन्यासिक रहे हैं, जैसे वर्जिनिया वूल्फ़, काफ़्का, जेम्स जॉएस जर्ट्रूड स्टीन। केस्टलर एक ऐसा लेखक है जिसने यद्यपि उपन्यास को एक नया संस्कार तो नहीं दे दिया है पर उसकी एक नयी शैली का अवश्य निर्माण किया है, जिस शैली के साथ और भी लेखक प्रयोग करेंगे—ऐसे लेखक जो इस शताब्दी के राजनैतिक वातावरण से, उसकी अपरिहार्य विविधता, पेचीदगी, और ट्रेजेडी से, केस्टलर के समान घनिष्ट परिचय रखते हैं।

केस्टलर के दृष्टिकोण अथवा 'सुर' की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि वह सुख के तत्व को उपन्यास की रचना के एक आवश्यक उपकरण के रूप में अस्वीकार करता है। यह अस्वीकार चाहे इच्छा-पूर्वक हो, चाहे अन्यथा। वह विकृत अथवा रुग्ण-मानस वाला लेखक नहीं है। अंतर्मुखी वह अवश्य है—नहीं तो आज उसका साहित्य पठनीय ही न होता, और शताब्दी के महान् लेखकों में उसकी गणना तो क्या ही होती। किंतु अंतर्मुखी होकर भी उसमें डास्टाएव्स्की जैसी भीतरी पैठ नहीं है, न वह अंतरात्मा की गहराइयों का अन्वेषण करने जानबूझ कर 'रोष और टेलिग्रामों' के इस बाह्य जीवन से भागता ही है। वल्कि केस्टलर व्यथा और अव्यवस्था के इस बाह्य जीवन के साथ किसी भी रूसी औपन्यासिक की अपेक्षा

अधिक संबद्ध है, क्योंकि वह मूलत एक अर्वाचीन राजनीतिक उपन्यासकार है, और इसके साथ ही वह उनकी अपेक्षा कहीं अधिक लचकीला और अननुमेय भी है, क्योंकि उसके पात्रों के चरित्र अथवा घटना के विकास का पहले से अनुमान कर सकना कम सहल है।

और यासिक केस्टलर को स्पष्टतया 'सुख में दिलचस्पी नहीं है। यही नहीं कि उसने जीवन में इस तत्व की अनदेखी करना ठीक समझा है, बल्कि उसकी धारणा है कि इस तत्व को उपन्यासों में अत्यधिक प्राधान्य दिया गया है, और इसे उस स्थान से च्युत करना चाहिए क्योंकि बीसवीं सदी के जटिल जीवन में उसकी कोई संगति नहीं रही। उसके पात्र क्लेश की लंबी अवधियों में आपेक्षिक सुविधा के क्षणिक अंतराल का सुख पा भी लें, तो सुख का कोई प्रभाव उन पर नहीं पड़ता।

ऐसा होना अप्रत्याशित नहीं है, क्योंकि केस्टलर के उपन्यासों की परिस्थितियाँ ऐसी होती ही नहीं कि उनमें सामान्य ऐहिक सुखों का निरंतर भोग करने की संभावना हो। 'आवागमन, ('एराइवल एंड डिपाचर') में जब नायक तटस्थ देश 'न्यूट्रेलिया' में पहुँच कर होटल में खाना मँगवाते हुए इस बात में रस लेता है कि वह बिना आतंक और व्याघात के उसे खा सकेगा तो हमें एक असाधारण 'साधारणत्व' का अनुभव होता है जिसे सुख भी कह सकते हैं, किंतु अभी हम उसे पूरी तरह ग्रहण भी नहीं कर पाते कि दृश्य बदल जाता है। वह दृश्य स्वभावतया अल्पकालिक ही हो सकता है, और उसमें स्थायी सुख का प्रतिबिंब नहीं मिल सकता। 'दुपहर में अँधेरा' ('डार्कनेस एट नून') उपन्यास में रुबाशोव के लिए भविष्यत् सुख नहीं तो शांति की संभावना जहाँ तहाँ होती है, किंतु उसकी परिस्थितियाँ इतनी तेजी से बदलती जाती हैं कि भय और क्लेश का तनिक थमना ही सुख का पर्याय हो जाता है।

उपन्यास से सुख के तत्व को बहिष्कृत करने में असल मुश्किल यह है कि उसका स्थानापन्न खोजना पड़ता है। क्लेश अपने आप में साहित्यिक तृप्ति या रस देने वाली वस्तु नहीं है। भावनाओं के और नाटकीय संघर्ष से उत्पन्न हुआ क्लेश अध्ययन और मनन की वस्तु अवश्य है, और मत परिवर्तन अथवा चरित्र सुधार की प्रेरणा के रूप में यातना का मनोवैज्ञानिक महत्व भी है—रूसी साहित्य में यातना का यह उन्नायक रूप बारबार चित्रित हुआ है। किंतु केस्टलर में यातना एक अपरिहार्य और सर्वदा वर्तमान तत्व के—जीवन की साधारण क्रिया का ही एक आवश्यक अंग के रूप में विद्यमान है। दुःख उसकी रचनाओं में इसलिए नहीं है कि उससे अमुक कोई चारित्रिक विपरीतता उभरती है, या अमुक कोई ज्ञान प्राप्त होता है, वह इसलिए है कि उससे निस्तार नहीं है। चरित्र अथवा व्यक्तित्व की महत्ता परखने की

कसौटी अंततोगत्वा यही है कि दुःख का सामना करने और उस पर विजय पाने का कोई उपाय निकालने में वह सफल हुआ है कि असफल। केस्टलर के 'हीरो' धीरोदात्त आदि नायकों के पुराने ढाँचों में गढ़े हुए महान् चरित्र नहीं हैं। वे सब साधारण चिंताओं, शंकाओं, और पूर्वग्रहों में बँधे हुए साधारण व्यक्ति हैं, जो परिस्थितियों के वैषम्य के कारण राजनैतिक अथवा आध्यात्मिक महत्व रखने वाली समस्याओं का निर्णय करने को बाध्य होते हैं। कभी शायद वे किसी नेक इरादे से अपने वचन से फिरने वाले व्यक्ति होते हैं; कभी ऐसे लोग जो परिस्थितियों के बदलने के साथ एक बार, दो बार, तीन बार अपना मन बदल लेते हैं। सर्वदा ही वे संघर्ष से घिरे हुए और अंतर्द्वंद्व से पीड़ित होते हैं, किंतु उनके चरित्र में इतनी गहराई मालूम होती है कि वे समकालीन समस्याओं का सामना करते हैं और उनका हल निकालने की चेष्टा करते हैं। कभी-कभी परिणाम यह मिलता है कि हल कोई नहीं है; बहुधा परिणाम व्यक्ति का कोई ऐसा विलंबित कर्म होता है, जो भले ही कालांतर के साथ अनावश्यक हो जाने वाला हो, किंतु जो उस समय चरित्र के खरेपन के साथ निभ सकने वाली एक मात्र प्रतिक्रिया जान पड़ती है।

केस्टलर ने बहुत कुछ देखा-सुना और सहा है; उसके अनुभव स्पष्ट ही इतने तीखे और मार्मिक रहे हैं कि उसके लिए अमुक किसी मतवाद का प्रचारक मात्र बन जाना, जीवन की अमुक एक परिपाटी का प्रतिपादक होना सभव नहीं है। वह सदा ही 'योगी' और 'कमिसार' के बीच द्विधा में रहता है। आज किसी भी रूढ़ि अथवा पूर्वग्रह से मुक्त हो कर केस्टलर मानवीय जीवन के उन सिद्धांतों पर भी शंका करने को तत्पर है जिन्हें हम में से अधिकांश मौलिक और स्वतः प्रमाण मान लेंगे। अगर उसके मत में किसी के प्रति निश्चित अवज्ञा है तो उनके प्रति जो समकालीन जीवन की सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं से उदासीन हैं; और उनके प्रति जो मानव व्यक्तित्व की मौलिक स्वतंत्रता को सामाजिक यंत्र अथवा उत्पीड़न पर बलि देना चाहते हैं। "एराइवल एंड डिपार्चर" उपन्यास का बर्नार्ड अगर पाठक का विरोध न उकसा कर केवल विद्रूप उकसाता है, तो इसलिए कि विद्रूप की चोट भर्त्सना से कहीं अधिक तीखी होती है।

केस्टलर के सबसे नये उपन्यास "थीव्ज़ इन द नाइट" का रवैया उसके अब तक के निष्पक्ष भाव से भिन्न है। अरब-यहूदी समस्या को आँकने में उसका रवैया ऊपरी दृष्टि से बिल्कुल तटस्थ दीखता है, और 'अनार्य' जोसेफ़ के रूप में वह तटस्थता जतलाता भी है, पर वास्तव में वह पक्ष लेता है—बौद्धिक क्षेत्र में नहीं तो भावना के क्षेत्र में ही सही। अरब मध्ययुगीनता के पक्ष में जो कुछ कहा जा सकता है, और उसके समर्थन में अंग्रेज़ शासक-वर्ग जो-जो दलीलें देता है या दिया

करता है, वे सब पाठक के सामने उपस्थित की गयी हैं। किंतु प्रत्येक महत्वपूर्ण चरित्र—सेटलमेंट के और आतंकवादी आंदोलन के मुख्य मुख्य पात्रों में तीव्र मताग्रह है और वे सब इतने स्पष्ट दमन और अत्याचार से पीड़ित हैं कि उनके लिए सहानुभूति आरंभ में ही जाग उठती है और अंत तक उन्हीं के साथ बनी रहती है। केस्टलर से यह तो अपेक्षित नहीं था कि वह अरबों का पक्ष लेगा—उसके जीवन दर्शन में एक साहसपूर्ण आधुनिकता है और उसका संपूर्ण, प्रखर बुद्धिवाद उस पक्ष को कदापि नहीं अपना सकता जो रक्त अथवा सहजवृत्तियों की दलील देते हैं। किंतु फिर भी यह अपेक्षा केस्टलर से की जा सकती थी कि 'देशी' और 'विदेशी' की भावना को वह समझेगा और यहूदी समाज की उन कमजोरियों को भी देखेगा जिनके कारण आधुनिक जगत् की उन्नत और उदार जातियों में भी वह समाज प्रायः पृथक् और बहिष्कृत हो जाता रहा है।

केस्टलर के पास अभी समय है—सौभाग्य से वह अभी हमारे बीच है और अभी लेखन और जीवन की नयी विधियों और गहराइयों का अन्वेषण कर सकता है। जिस पथ का उसने आरंभ किया है उसे निबाहना कठिन होगा—दूसरों के लिए भी और स्वयं उसके लिए भी। वह लोकप्रिय कभी नहीं होगी—और जान पड़ता है कि केस्टलर उसके लिए उत्सुक भी नहीं है। किंतु उसे अगर युग युग के स्थायी साहित्य में स्थान पाना है, तो उसमें पुराने का संतुलन कर सकने वाले किसी नये तत्व का समावेश करना ही होगा। सुख अथवा आनंद को अस्वीकार या नष्ट भी कर दिया जा सकता है, पर मानव और पाठक वर्ग निरे दुःख के सहारे नहीं जी सकता। और केस्टलर का कोई भी उपन्यास पढ़ने पर हमारी आत्मा को जो वेदना आंदोलित और उद्वेलित कर देती है, वही मात्र यह मान लेने के लिए पर्याप्त नहीं है कि केस्टलर ने जीवन को संपूर्णता को देखा और समझ लिया है।

आर्थर केस्टलर

उपन्यास का भविष्य

नाटक अथवा कविता की अपेक्षा उपन्यास जल्दी पुराने पड़ जाते हैं। इसका कारण है उपन्यास की मिथ्या निरपेक्षता। मंच पर पात्र अपनी बात कहते हैं; कवि तो स्पष्टतया सब्जेक्टिव होकर आत्मनिवेदन करता है; किंतु उपन्यास में लेखक अपने पात्रों की ओर से बोलता है और उनके विचारों, मनोवेगों और कर्मों के तटस्थ वर्णन का दावा करता है। किंतु यह दावा धोखे की टट्टी है। क्योंकि उपन्यास का वृत्त न केवल लेखक के व्यक्तिगत दर्शन, रुचि-वैचित्र्य और शैली का प्रतिबिंबन करता है (और यहाँ तक तो कोई दोष भी नहीं है); बल्कि इनके साथ-साथ तटस्थता के नाम पर समकालीन पूर्वग्रहों और मान्यताओं को भी उपन्यास में ले आता है। क्योंकि उसकी प्रतिज्ञा में ही यह निहित है कि वृत्तकार सर्वज्ञ और सर्वत्र विद्यमान होकर भी व्यक्ति के रूप में अस्तित्व नहीं रखता, इसलिए उसके मुख से युग ही बोलता है। उपन्यास का युगीन रूप परोक्ष और प्रायः अवचेतन होता है, इसीलिए वह और भी अधिक लेखक को प्रतिबिंबित करता है।

२.

एलिज़ाबेथ बावेन ने कहीं कहा है कि 'उपन्यास का उद्देश्य एक काव्यमय सत्य को एक अकाव्यमय रूप में वर्णन करना है। शब्दार्थ विज्ञान की दृष्टि से सोचूँ तो संदेह होता है कि 'काव्यमय सत्य' किसे कहते हैं यह मैं नहीं जानता, यद्यपि मैं सर्वदा मानता आया हूँ कि मैं इस पद का अर्थ समझता हूँ। मैं कल्पना करता हूँ, प्रोफ़ेसर ऑगडन क्लास में पढ़ाते हुए पूछ रहे हैं :

"साधारण बोलचाल में वैज्ञानिक सत्य इस ढंग की बात को कहते हैं जैसे कि 'दो पदार्थों का परस्पर आकर्षण उनकी दूरी के वर्गफल के विपरीत अनुपात में होता है।' मिस बावेन, आप काव्यमय सत्य का वर्णन किसे कहती हैं, इसका एक उदाहरण देंगी ?"

"जैसे—सुरा श्यामल सागर।"

"यह क्या 'कथन' हुआ! और फिर इस बात को अकाव्यमय रूप में अभिव्यक्त करने से वह उपन्यास कैसे हो जायगा?"

जो हो मैं तो मिस बावेन के ही पक्ष का हूँ यद्यपि मेरी समझ में उनके सूत्र की व्याख्या की जरूरत है। इसी विचार परंपरा को दूसरी कड़ी हाउसमैन की यह उक्ति है कि 'कविता शब्दों के अवगुंठन के पीछे दूर कहीं सनातन शब्द की प्रतिध्वनि है'। मुझे जान पड़ता है उपन्यास की घटना सदैव युगीन परिवेष और मान्यताओं के अवगुंठन के पीछे किसी सनातन घटना की प्रतिध्वनि ही होती है। 'सनातन' का अर्थ यहाँ पर प्राचीन और मौलिक है—मनोवैज्ञानिक युग का 'मूल रूप' (आर्किटाइप) यह मूल रूप मानवावस्था के जीवन में बार बार आवृत्त होने वाले अनुभवों के रूप हैं—मूल प्रवृत्तियों के संघर्षों के पीढ़ियों से क्रमागत ढाँचे, 'मानवीय इतिहास के पुराकाल में असख्यों बार आवृत्ति हुए और लगभग एक ही ढर्रे पर चलने वाले सुख दुःखों' की चेतना पर पड़ी हुई छाप। अर्थात काव्यमय सत्य का वर्णन वास्तव में किसी विशेष अनुभूति या संघर्ष या परिस्थिति के साधारण—शाश्वत—प्रतिरूप का वर्णन है।

उपन्यास के इतिहास में जितनी महान कृतियाँ आयी हैं उन सब में इसी प्रकार के कुछ एक मौलिक प्रेरणा सूत्रों का ताना बाना है। यह मूल रूप से पहले पुराण गाथा में प्रकट होते हैं और फिर बार बार युग के साहित्यिक विकास के तल पर नयी अभिव्यक्ति पाते हैं। उदाहरण के तौर पर उस जाति की कथा ले लीजिए जिसका आधार 'भोला व्यक्ति' होता है—कोई प्रतिभावान किंतु बहुत ही सरल स्वभाव का व्यक्ति। ऐसी कहानी का नायक सरलता और उदारता का प्रतिमान होता है—युग के वातावरण अथवा समाज में वह भोला, अबोध या कि मूर्ख भी दीखता है इसलिए नहीं कि उसमें बुद्धि या प्रतिभा कम है, वरन इसलिए कि तत्कालीन सामाजिक मान्यताओं अथवा रूढ़ियों से उसके निजी आदर्श अथवा विचार मेल नहीं खाते। उसका भोंदूपन भी युग की कार्यपटुता से ऊँचे तल पर होता है, फलतः तत्कालीन कार्यपटु लोग ऐसे व्यक्ति की हेठी करते हुए भी उसे ऊँचे आसन पर बैठाने को बाध्य होते हैं। ऐसी कहानी में नायक के प्रति कहानीकार का रूख लक्षणीय होता है। उसमें एक परिहासपूर्ण समवेदना होती है मानों लेखक उसका आदर करते हुए भी वैसा कहने का साहस न कर पाता हो, क्योंकि उसे संसार के सामने भी तो अपनी समझदारी का मान बनाये रखना है। इस परंपरा के उदाहरण हैं—पर्सीवल की पुराण गाथा, फिर 'आयरिश ले ऑफ दि मेंट फूल', इसी के वेल्श और जर्मन रूपांतर 'डॉन क्विग्ज़ोट', 'वुडेन स्पाइगेल',

फिर 'मेज़गील का 'दि सन', वर्नार्ड शॉ का 'ब्लैक गर्ल इन सर्च ऑफ़ गॉड', दास्तोएव्स्की का 'इडियट', थार्नटन वाइल्डर का 'हैवन इज़ माई डेस्टीनेशन', केमस का 'ल' एत्रांजेर' इत्यादि । इसी प्रकार के कुछ और मूलगत विषय हैं—दो आस्थाओं अथवा आदर्शों का संघर्ष (यथा पेनिलोपी और ट्राय युद्ध), सहज वृत्ति और मर्यादा का संघर्ष (मदाम बोवारी, एना कैरेनिना इत्यादि), उपेक्षापूर्ण समाज और समवेदनशील नायक (जिसके अंतर्गत अधिकांश जीवनीमूलक उपन्यास आ जाते हैं), आकस्मिक आघात के कारण आमूल परिवर्तन (यह रूसियों की विशेषता है, लेकिन अन्य औपन्यासिकों का भी प्रिय विषय है, यथा ई० एम० फॉर्स्टर), भय पर विजय (हरक्यूलस से लेकर हेमिंगवे की कहानियों तक), वासना पर विजय (बुद्ध से लेकर ऑल्डस हक्सले तक) । इसी प्रकार के और भी दर्जन-एक मूल विषय हो सकते हैं—इससे बहुत अधिक संख्या कदाचित् उनकी न होगी । उपन्यास के विषयों की सख्या सीमित ही है । हाँ, उनके सम्मिश्रण अनेक प्रकार के हो सकते हैं ।

जिन उपन्यासों की भीत इन मूलगत विषयों पर आधारित नहीं होती वे उथले और मिथ्या जान पड़ते हैं । वे उस मकान की तरह हैं जिसमें कि पाइप, नलके, तार, बल्ब, बटन इत्यादि तो बहुत से लगे हैं लेकिन जिनके लिए कनेक्शन लेने की बात इंजीनियर भूल गया था ।

3.

इस प्रकार उपन्यास में दो तत्व पृथक किये जा सकते हैं, एक शाश्वत और एक परिवर्त्तनशील । शाश्वत तत्व उपर्युक्त मूल रूप हैं—मानवीय जीवन से अनिवार्यतः संबद्ध तनाव की स्थितियाँ । परिवर्त्तनशील तत्व है युग का सांस्कृतिक ढाँचा और उसकी रूपाभिव्यक्ति की सचेतन और अवचेतन प्रणालियाँ ।

जहाँ तक पहले तत्व का प्रश्न है हमें उपन्यास के भविष्य के विषय में चिंता करने की आवश्यकता नहीं है जब तक मानवता निर्वाण अथवा कैवल्य नहीं पा लेती और उसके मनोवेग सामाजिक चेतना में सर्वथा विलीन नहीं हो जाते तब तक उपन्यासकारों को वस्तु का टोटा नहीं होगा । इतना ही नहीं उनकी वस्तु सदा नयी ही रहेगी क्योंकि चिर नूतनता मूल रूपों में स्वभाव में ही निहित है ।

जहाँ तक परिवर्त्तनशील तत्व का प्रश्न है, मेरी धारणा है कि दूसरे और तीसरे विश्व युद्ध के अंतराल का साहित्य मुख्यतया तीन आदर्शों की ओर प्रेरित होगा—यथार्थता, लय और संगति ।

यथार्थवाद

यथर्थवाद से मेरा अभिप्राय न तो जोला का प्रकृतवाद है, न ही 'ग्रैबिट' का सा वस्तुवाद, न ही वाइशिस्की की कूटनीति। आख्यान साहित्य में यथार्थवाद का मतलब है अपनी योग्यतानुसार यथासंभव पूर्वग्रहों, रीतियों, और अभ्यासों की उपेक्षा करके खुले मन से मानवीय अवस्था की यथार्थता के निकटतम जाने का प्रयत्न करना। उसका मतलब है उन रूढ़ियों का तिरस्करण जो कि मानव जीवन की मूल रेखाकृतियों को छिपाती हैं, और मनोविज्ञान, समाज शास्त्र और भाषा के विकास के सहारे पाये जाने वाले नये दृष्टि विस्तार का भरपूर उपयोग। इस यथार्थवाद का विपर्यय आदर्शवाद नहीं बल्कि आत्म तोष है या कि बुक-सोसाइटियों द्वारा पुरस्कृत होने की लालसा। यथार्थवाद के लिए साहस और निष्ठा की आवश्यकता है। किंतु यह दो पुरुषोचित सद्गुण ही काफी नहीं हैं, यथार्थवाद में इनसे कम प्रभावोत्पादक किंतु कहीं अधिक कठिन काम है नये दृष्टि विकास को स्वीकार करना, और इतनी पूर्णता और गहराई से स्वीकार करना कि उसके साथ पांडित्य का या कि वैज्ञानिक परिज्ञान का बिल्ला लगा न रह जाये। आज के मनोविश्लेषण मूलक उपन्यासों में नयी उपलब्धि की झलक उतनी ही स्पष्ट दीखती है जितनी कि नट्टे से बने किसी नये सेठ के ड्राइंगरूम की सजावट में

कुछ आलोचक कलाकार के लिए इस नये दृष्टि प्रसार की आवश्यकता ही नहीं मानते। वे कूपमंडूक की तरह ऐसे दावे करते रहते हैं कि 'स्टैंढाल को यह सब फ्रॉयड से कहीं पहले मालूम था' या कि 'टालसटाय को मार्क्स पढ़ने से कोई लाभ नहीं होता।' इसी परिपाटी पर तो यह भी कहा जा सकता है कि कलाकार के लिए इस बात का कोई महत्व नहीं है कि वह यह जानता है कि पृथ्वी एक ग्रह है या कि अब भी इसी विश्वास पर डटा हुआ है कि पृथ्वी एटलस की पीठ पर थाली सी स्थित है और सूर्यादि उसके आसपास घूमते हैं। प्रसिद्ध पुराने उपन्यास (यहाँ तक कि टालस्टाय और स्टैंढाल जैसे अन अति प्राचीन औपन्यासिकों के उपन्यास भी) पढ़ते समय अपने मनोभावों का विश्लेषण करने पर हम पायेंगे कि हमारे आनंदलाभ की जड़ में कुछ यह आश्चर्य भी है कि 'यह लोग उस समय भी अमुक बात मानते थे!' (यह कौतूहल मिश्रित आनंद कुछ कुछ वैसा ही है जैसा कि किसी अकाल परिपक्व बच्चे की बातें सुनकर होता है।) अर्थात् हम औपन्यासिकों पर विचार करते हुए उनको आज की माप से नहीं बल्कि तद्युगीन माप के आधार पर मूल्यांकन करते हैं।

तो इस प्रकार यथार्थता के नये रूपों को ग्रहण करने की समस्या पर हम फिर आ पहुँचते हैं। उपन्यास के विकास में यथार्थता की ओर लेखक की प्रगति क्रमिक

ही रही है। विक्टोरियन काल के औसत उपन्यास के परिदृश्य में सेक्स (काम संबंध) के स्थान में एक रिक्त ही था। आज उसके कुछ पहलू उपन्यास में प्रवेश पा सकते हैं, किंतु यह मानना भूल होगी कि इनमें साधारण लोक-प्रकृति के रोज़मर्रा के भी विचारों और मनोवेगों का चित्रण हो जाता है। नारी जीवन में ऋतु का एक अनिवार्य और महत्वपूर्ण स्थान है; आज का लेखक साहसपूर्वक उसकी ओर इंगित तो कर सकता है लेकिन आज भी वह ऐसा सहज शालीनता के साथ नहीं कर सकता। ऐसे स्थल पाठक की नज़र में काँटे से खटकते रहेंगे और स्वयं लेखक के मन में जुगुप्सा का भाव रहेगा। फिर फ्रॉयड की खोजों के संपूर्ण स्वीकार का तो कहना ही क्या—उसे पचाने के लिए तो उपन्यास को कम से कम पचास वर्ष और लगेंगे। यथार्थ अस्तित्व की सबसे मौलिक क्रिया—प्रजनन—का वर्णन करने की परिपक्वता भी अभी कला में नहीं है। हेमिंगवे सा संयत कलाकार भी इस वर्णन में असफल रहता है। सफ़री विस्तर वाले दृश्य में[1] कलाकार के शब्द पात्रों के भावों के पीछे दौड़ते ही रह जाते हैं, उन्हें किसी तरह भी पकड़ नहीं पाते।

संगति

संगति उपन्यास का वह गुण है जो कि उसे युग के बुनियादी ढाँचे से—युग की गत्यात्मक धाराओं से—संबद्ध करता है। हमारे युग में यह धाराएँ बड़ी बड़ी तरंगें हो गयी हैं जो कि किसी के निजी द्वीपों की मर्यादाएँ नहीं मानतीं। यह प्रश्न अब नहीं है कि तटस्थता या पलायन वांछनीय है या नहीं; तथ्य यह है कि तटस्थता असंभव ही हो गयी है। बोएर युद्ध या ड्रेफ़स प्रकरण[2] की उपेक्षा की जा सकती थी लेकिन, ऐटम बम की संभावनाओं की अनदेखी करना शक्य नहीं है। व्यक्ति के मस्तिष्क पर ज्यों-ज्यों सार्वजनिक उलझनों का दबाव बढ़ता जाता है त्यों त्यों उसके निजी और अंतरंग मामलों पर भी युग संगति का प्रभाव स्पष्ट होता जाता है। अगली पीढ़ियों का उपन्यास साहित्य मानो एक शक्तिशाली चुंबकीय क्षेत्र में स्थित होगा जो कि अपनी छाप उपन्यास की वस्तु पर बैठा देगा—

---

[1] अर्नेस्ट हेमिंगवे के 'फार हूम दि बेल टोल्स' के एक प्रसंग की ओर संकेत है।—अनुवादक

[2] एक फ्राँसीसी सैनिक अफ़सर जिस पर मिथ्या आरोप लगाकर दंडित किया गया था और जिसे निर्दोष सिद्ध करने के आंदोलन में ही एमील ज़ोला ने ख्याति पायी थी। ड्रेफ़स के मामले ने फ्राँस के तत्कालीन राजनीतिक जीवन में खलबली मचा दी थी।—अनुवादक

वैसे ही जैसे कि कच्चे लोहे के कणों पर चुम्बकीय क्षेत्र का प्रभाव पड़ता है। स्वेच्छया पलायनवादी ढंग के उपन्यास पर भी यह बात लागू होती है। जार्ज आर्वेल ने हाल में 'रैफल्स' से लेकर 'मिस ब्लैनडिश' तक की जुर्म और जासूसी की कहानी के विकास का विश्लेषण किया है, इसी ढंग का विश्लेषण प्राचीन रूमानी कहानी से लेकर आज की अमरीकी मासिक पत्रिकाओं की कहानी तक का किया जा सकता है। अंग्रेजी 'पंच' से लेकर अमरीकी 'न्यूयार्कर' तक के हास्य के विकास का भी अध्ययन प्रासंगिक है।

लय

अंत में लय को लीजिए। कहानी की लय उसके भीतरी कलात्मक संयम का माप है। और संयम केवल शब्दों के लाघव में नहीं बल्कि उनकी व्यंजकता में है। व्यंजकता टेकनीक का वह गुण है जो कि पाठक को स्वयं निहित अभिप्राय पा लेने के लिए बाध्य करता है भाषा कभी भी पूर्णतया अभिधामय नहीं होती—शब्द एक सीढ़ी है जिसके सहारे हम विचार के शिखरों पर उठते हैं। बात सुनते समय हमें निरंतर शब्दों के बीच में संबंध जोड़ते रहना पड़ता है नहीं तो—जैसा कि अनमने होने पर होता है—शब्द केवल एक अर्थहीन ध्वनिक्रम हो जाते हैं। इस प्रकार कला में संयम की जड़ वैचारिक वस्तु को श्रव्य अथवा दृश्य चिन्हों द्वारा दूसरों को अवगत करने की प्रणाली में है—उस प्रणाली का यत्नपूर्वक किया हुआ विकास है। कथाकार की बात के अंतरालों को पाठक अपने अनुभव के आधार पर और अपने मनोवेगों को प्रसारित करके भर लेता है। लेखक का संयम पाठक को बाध्य करता है कि वह उसकी सृजनात्मक चेष्टा का स्वयं जीवित अनुभव करे। कलाकार पाठक को अपना साझीदार बना कर ही स्वायत्त कर लेता है।

सभ्यता कला की लय को द्रुत करती है। इसलिए नहीं कि मोटरें अधिक तेज दौड़ती हैं, बल्कि इसलिए कि विचार अधिक तेज दौड़ते हैं। अखबार, रेडियो, पत्र पत्रिकाएँ पुस्तकें इन सब ने हमारी विचार संयोजना की पटरियों को चिकना बना दिया है और अब हमारी और विक्टोरियन युग की विचार संगति की रफ्तार में वही अनुपात है जो कि डाकगाड़ी और ठेले की रफ्तार में होता है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि उपन्यास की लय अनिवार्यतः ऊँची-नीची और दचके खाती हुई चलेगी (जैसे जान डोस पैसोस में) या कि स्थान स्थान पर सीढ़ लेती हुई (जैसे कि हेमिंग्वे के कथोपकथन में)। न ही यह आवश्यक है कि लेखक जेम्स जॉयस के द्रुतधावी 'यूलिसीज़' की तरह विचार संगति की डाकगाड़ी के पीछे पीछे दौड़ता चले। बल्कि आज के लेखक का कर्तव्य कुछ-कुछ रेलवे के पाइंटमैन जैसा है।

४.

यदि हम उपन्यास के विकास की मुख्य धाराओं के मापन के लिए उपर्युक्त तीन मान दंडों को स्वीकार कर लें तो हमें यह मानने को वाध्य होना पड़ेगा कि अंग्रेज़ी उपन्यास साहित्य फ्रांसीसी अथवा अमरीकी साहित्य से पिछड़ गया है। फ्रांसीसी साहित्य यथार्थवाद और संगति में आगे है; अमरीकी साहित्य यथार्थवाद और लय में। इसके कारणों का विश्लेषण यहाँ नहीं किया जा सकता। यों उनमें से एक मुख्य कारण यह है कि इग्लैंड में उपन्यासकार होना एक भद्र व्यवसाय समझा जाने लगा है—लगभग वैसा ही जैसा कि सोलिसिटर होना। कला जब चौंकाना छोड़ देती है तब उस पर यह सन्देह होने लगता है कि उसमें अब साहस नहीं रहा।

रामकुमार

मील का पत्थर

डाकबँगले के बरामदे में धूप दस बजे तक रहती है और फिर सूरज छत के ऊपर चमकने लगता है। बरामदे से नीचे तीनों ओर हरी घास के दो तीन मैदान है जहाँ धूप का आनंद दिन भर उठाया जा सकता है। कुछ सर्दी का अनुभव करके नवीन बरामदे से उठ कर घास पर एक आरामकुर्सी पर आ बैठा और एक पुस्तक के पन्नों में अपना ध्यान लगाने का प्रयास कर रहा है। नवीन के चेहरे और शरीर से उसकी आयु का अनुमान तीस और पैंतीस के बीच में लगाया जा सकता है और वास्तव में उसकी वयस भी इतनी ही है। उसका साफ़ रंग और भूरे रंग के के छोटे-छोटे बाल, लंबा चेहरा और अनार के दानों के समान उसके सफेद दाँत, पतला दुबला लंबा शरीर है। उसके चेहरे से सदा गंभीरता टपकती रहती है, उसकी आँखें सदा किसी के ध्यान में डूबी रहती हैं। अंदर को धँसती हुई छाती और पिचके हुए कंधों को देख कर उसके स्वास्थ्य के विषय में कोई अच्छा अनुमान नहीं लगाया जा सकता परंतु नवीन कभी बीमार नहीं पड़ा है, कभी भूल कर भी उसके सिर में दर्द नहीं हुआ है। नाइट सूट के ऊपर ड्रेसिंग गाउन पहन रक्खी है और मुँह में पाइप लगा हुआ है। उसके सामने ही एक छोटे से मेज़ पर तीन पुस्तकें, नोट्स की कापी और एक पेन रक्खा है।

अक्तूबर का स्वच्छ नीला आकाश है और दस हज़ार फीट की ऊँचाई पर ठंडी हवा के सांय सांय करते झोंके नवीन के शरीर का स्पर्श करते हुए आगे की ओर भागे जा रहे हैं। नवीन ने पुस्तक बंद कर दी और मेज़ पर दोनों पाँव पसार कर सामने पर्वत श्रृंखलाओं की ओर देख रहा है जो धीरे धीरे धुंधली होती जा रही हैं और अंतिम कतार में बरफ सूर्य की किरणों में चमक रहा है।

पहाड़ी शहर से लगभग बीस मील के अंतर पर लाल छत वाले इस डाकबँगले में न जाने ऐसा कौन-सा आकर्षण है जो नवीन को साल में दो-तीन बार अवश्य खींच लाता है। इस निस्तब्ध स्थान में दो तीन दिन ही रह कर नवीन अपने आप में

एक नये उत्साह और स्फूर्ति का अनुभव करता है, उसकी सारी थकान मिट जाती है और उसके मन की धुंधली ज्योति फिर देदीप्यमान हो उठती है। किताब उलटी होकर उसकी गोद में पड़ी है और वह आँखें बंद किये चुपचाप बैठा है। उसका सारा शरीर सूर्य की किरणों में धीरे-धीरे गरम हो रहा है। इस प्रकार सुस्ताना उसे बहुत अच्छा लगता है।

बैरा ने धीरे से पूछा—"साब, ब्रेकफास्ट कमरे में ही लगा दूँ ?"

नवीन ने चौंक कर आँखें खोलीं, फिर बैरा की ओर देखते हुए बोला—"नहीं, अंदर तो सर्दी होगी, बाहिर ही ले आओ।"

"जी हुजूर।" कह कर बैरा चला गया।

नवीन ने अनुभव किया कि उसे भूख भी लग रही है और फिर ब्रेकफास्ट का ध्यान आते ही प्रसन्नता से उसका मुख चमक उठा। उसने मेज़ के ऊपर से पाँव उठा लिये और सब किताबें इत्यादि भी उठा कर नीचे घास पर रख दीं। दांई ओर नज़र दौड़ाई तो सफेद पत्थर का बड़ा-सा मील का पत्थर दिखाई दिया जिस पर काले रंग से विभिन्न स्थानों के अंतर लिखे हुए हैं। नवीन जितनी बार इस डाक-बँगले में आता है, उतनी ही बार मील के इस पत्थर को देखता है और कितनी ही देर तक देखता रहता है। उसके मन में भाँति-भाँति के विचार उठने लगते हैं, उस पर काली स्याही से लिखे हुए अंतर किसी गहराई को स्पष्ट करते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य की जिंदगी का भी मील का पत्थर होता है। नवीन इसकी कल्पना में ही हँस पड़ा। मील का पत्थर...ज़िंदगी का मील का पत्थर।

घास के मैदानों के नीचे सड़क है...पीली कच्ची मिट्टी की छोटी सी सड़क। उसके पास ही लकड़ी के तख़्तों से बना हुआ "हिमालत भोजनालय" दिखाई दे रहा है जहां एक पतली-सी बैंच पर बैठे दो पहाड़ी हुक्का गुड़गुड़ा रहे हैं। उसकी दाईं ओर फलों का बगीचा है जहाँ पेड़ों पर लाल-लाल सेब लटक रहे हैं। ड्रेसिंग गाउन की लंबी जेबों में नवीन ने अपने हाथ डाल लिये और पैरों को सीधा कर लिया।

यह ज़िंदगी उसे बहुत अच्छी लगती है अपनी यह ज़िंदगी। वह पूर्ण रूप से सुखी है। उसे किसी बात की चिंता नहीं, ज़िंदगी में उत्तरदायित्व किसे कहते हैं इसका ज्ञान उसे कभी नहीं हुआ। इस संसार में माता पिता, भाई बहन इत्यादि का अभाव भी उसने कभी अनुभव नहीं किया। वह पूर्ण रूप से स्वतंत्र है। मज़े में किताबें पढ़ता है और दिन में दो-तीन घंटे कालेज में फिलासफी पर लेक्चर दे देता है—इससे अधिक उसे कुछ नहीं करना पड़ता। होस्टल से थोड़ी दूर ही उसका एक छोटा-सा मकान है जहाँ उसकी दुनियां बसी है। सर्दियों में कालेज बंद हो

जाने पर सब विद्यार्थी और प्रोफेसर नीचे चले जाते हैं परंतु नवीन वहीं डटा रहता है। उसका सारा समय अपना होता है जिसमें कोई बाधा डालने वाला नहीं होता। कालेज में अपवाद फैली हुई है कि वह बहुत कुछ लिखता रहता है, नये-नये तरीकों से दर्शनशास्त्र की समस्याएँ सुलझाता है परंतु उसका लिखा एक शब्द भी छपना तो दूर रहा किसी ने देखा तक नहीं। लोग परस्पर कहते हैं कि उसने जिंदगी में कुछ नहीं देखा, वह जिंदगी भी क्या जिसमें स्त्री का प्रेम नहीं, बच्चों का शैशव जहाँ नहीं मचलता, जिस घर में उसके अतिरिक्त अन्य कोई प्राणी नहीं। नवीन अपने मन को टटोलता है, क्या वह किसी का अभाव अनुभव करता है? क्या उसके हृदय में कोई ऐसा रिक्त स्थान है जिसकी पूर्ति होनी है? परन्तु नहीं—वहाँ पर सब कुछ है, नवीन को किसी की भी अपेक्षा नहीं। लोग कहते हैं कि वह अपने आपको धोखा दे रहा है, अपनी विवशता पर अपने को सन्तुष्ट करने के लिये ही वह ऐसा कह रहा है। और नवीन मन ही मन हँसने लगता है। परंतु कभी-कभी उसे आश्चर्य होने लगता है कि क्या वास्तव में वह अपने आप को धोखा दे रहा है?

बैरा ब्रेकफास्ट की ट्रे ले आया है। चाय का सामान, आमलेट, दलिया और करारे टोस्ट। नवीन बैरा को मेज पर सामान लगाते हुए देखता रहा। बर्तनों की खटखट का शब्द होता रहा।

बैरा ने पूछा—"लंच में चावल खाइयेगा हुजूर?"

डाकबँगले में नवीन अकेला है, बाकी के तीन कमरे खाली पड़े हैं, खाना केवल उसी के लिए बनता है, अतः बैरा उसकी राय पूछ लेता है।

"खा लूँगा।" नवीन ने चाय की केटली में आधा चम्मच चीनी मिलाते हुए कहा "क्या आजकल डाकबँगलों में कोई नहीं आता?"

"हुजूर, अंग्रेजों के चले जाने के बाद अब तो किसी की उम्मीद नहीं करनी चाहिये। कोई हिन्दुस्तानी तो इधर आने की तकलीफ करता ही नहीं। हमारे दो चार पैसे बन जाते थे सो भी गये। मुझे तो डर है कि कहीं यह डाकबँगला बंद ही न हो जाये।'

"नहीं बंद नहीं हो सकता।" नवीन ने चाय का घूंट पीते हुए कहा "सरकार तो इस सड़क को पक्का बना रही है, तिब्बत वाली सड़क भी बनेगी।"

टोस्ट पर मक्खन की तह जमा कर गर्म चाय के साथ खाना उसे बहुत अच्छा लगा। सामने के जंगलों में लगभग दस बीस मकानों के बिखरे हुए गाँव स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं। यहां रहने वालों की जिंदगी भी कितनी सीमित होती है, अपनी ही दुनियाँ में मस्त रह कर वे एक दिन सदा के लिए कूच कर जाते हैं और किसी

को पता भी नहीं चलता, नवीन की ज़िंदगी भी तो एक छोटे-से दायरे में बंद है। कालेज में लेक्चर देना और किताबों में उलझे रहना। यही उसकी ज़िंदगी है। यह सोच कर उसे प्रसन्नता ही हुई कि उसे कितने कम लोग जानते हैं और जो जानते हैं, वे उसमें दिलचस्पी नहीं रखते।

चाय पी चुकने पर उसने पाइप सुलगा ली है और मेज़ के एक कोने पर पाँव पसार कर वह लेट-सा गया है। पाइप का धुंआ वह मुँह और नाक से छोड़ रहा है। थोड़ी देर पश्चात उसने नीचे घास पर रक्खी पुस्तकों में से एक पुस्तक उठा ली। यह फ्रांस के दो प्रसिद्ध लेखकों गुस्ताव फलावेयर और जार्ज सांद के प्राइवेट पत्र हैं। फलावेयर प्रेम और स्नेह से सांद को 'डियर मास्टर' करके संबोधित करता है। इन दोनों के पत्र पढ़ कर नवीन के मन में भी किसी स्त्री को पत्र लिखने की प्रबल भावना जाग्रत हो उठती है, उसकी इच्छा होती है कि वह भी सांद जैसी किसी स्त्री को पत्र लिखे, उसे अपने घर आने का निमंत्रण दे और बातचीत करे। बड़ी विचित्र सी भावनायें उसके मन में उठने लगती हैं। ये पत्र पढ़ते समय कभी-कभी उसे अपनी ज़िंदगी एक अंधेरी घाटी सी जान पड़ती है जहाँ सूर्य कभी निकलता ही नहीं। वह जानता है कि यह पुस्तक पढ़ने पर उसकी शांति में खलबली मच जाती है। परंतु वह पुस्तक को छोड़ नहीं सकता। परंतु फिर वह अपने मन को समझाने लगता है कि उसका एकाकीपन ही उसका सब से घनिष्ठ मित्र है जो उसके कार्य में कभी बाधा नहीं डालता, जो उसके विचारों को आगे दौड़ाता है, जो उसकी स्वतंत्रता का सब से बड़ा साधन है।

वह जार्ज सांद का पत्र पढ़ रहा है जिसमें वह फलावेयर को समझाती है—"विश्व के असंख्य प्राणी हम और तुम हैं। ये दो जातियां नहीं। नहीं-नहीं लोग अपने आप को संसार से अलग नहीं रख सकते। ख़ून के रिश्ते को तोड़ा नहीं जा सकता। अपने ही भाइयों से कोई घृणा नहीं कर सकता। 'मानवता' नाम का शब्द व्यर्थ में ही नहीं गढ़ा गया। हमारी ज़िंदगी प्रेम ही की बनी हुई है और प्रेम न करने की मतलब है जीवित न रहना—"

नवीन को मालूम है कि हफ्तों फलावेयर अपने कमरे में बंद रहा करता था परंतु सांद को उसकी यह बात पसंद नहीं थी, वह उसे अखाड़े में उतर कर आम लोगों के साथ मिल जाने को कहा करती थी। ज़िंदगी से दूर रहने का मतलब है मर जाना। क्या यह सत्य है?

उसी समय थोड़ी दूर पर मोटर का हार्न सुन कर वह चौंक उठा और संभल कर उसी दिशा की ओर देखने लगा। दो मिनट पश्चात उसे सामने वाले मोड़ पर हलके नीले रंग की चमचमाती हुई बड़ी स्टुडीबेकर कार दिखलाई दी। नवीन

को आश्चर्य हुआ कि मोटर में यहाँ कौन आया ? डाकबँगले के द्वार पर ही मोटर रुक गयी। पहले उसमें से एक युवक ग्रे पैंट और काले रंग का लंबा ओवर कोट पहने उतरा, गले में दूरबीन लटक रही है, उसके काले बाल बिखरे हुए हैं। फिर उसने हाथ पकड़ कर मोटर के अंदर से एक स्त्री को निकाला। वह गहरे लाल रंग का ब्लाउज और नीले रंग की गरम पैंट पहने है, आधे कटे हुए बाल उसकी पीठ पर लहरा रहे हैं, उसने कार से उतरते ही चारों ओर देखा और फिर उस युवक का हाथ पकड़ लिया। बैरे को सामान लाने का आदेश दे कर दोनों डाकबँगले के अंदर घुस आये। नवीन बड़े ध्यान से उन दोनों को देख रहा है। वे परस्पर बातें कर रहे हैं और हँसते जाते हैं। ज्योंही उनकी दृष्टि नवीन पर पड़ी, वे चुप हो गये और एक दृष्टि उस पर डाल कर वे अंदर चले गये।

नवीन हाथ में पुस्तक लिये उन दोनों के विषय में ही सोच रहा है। कम से कम इतनी युवावस्था के लोगों के ऐसे नीरव स्थान में आने की उसने स्वप्न में भी कल्पना न की थी। मोटर से उनका नौकर सामान उतारने लगा। एक बड़ा सा बिस्तर, एक चमड़े का बक्स, दो अटेची, थरमास इत्यादि। नौकर के चले जाने पर नवीन नीचे सड़क की ओर देखने लगा। स्कूल की छुट्टी हो जाने पर पहाड़ी बच्चे अपने घरों को वापिस लौट रहे हैं। कमीज पैजामा और कोट उनके शरीर पर है, गले में चमड़े के पुराने बस्ते लटक रहे हैं। किसी का मुख पीला और प्रकाशहीन है परन्तु किसी के गाल पके हुए लाल सेबों से किसी प्रकार भी कम नहीं हैं। उनकी गर्दन पर पीछे काफी मैल जमी हुई है। वे धीरे धीरे खेलते-कूदते, लड़ते झगड़ते अपने घरों को वापिस लौट रहे हैं।

नवीन को इन छोटे-छोटे बच्चों की टोलियाँ बहुत भली लगीं। वह कुर्सी से उठ खड़ा हुआ और डाकबँगले के नीचे वाले मैदान में—जो सड़क के बिल्कुल ऊपर था—टहलने लगा। तभी दस वर्ष से नीचे एक पहाड़ी लड़के और लड़की को एक दूसरे के गले में बाहें डाल कर आगे जाता देख वह ठिठक गया। शक्ल सूरत से वे दोनों भाई बहन जान पड़ते हैं। लड़की का गोल चेहरा, छोटी सी चपटी नाक और भूरे रंग की आँखें, चौड़ा माथा है और सिर पर काले रंग का एक कपड़ा बँधा हुआ है, सफेद रंग और गुलाबी कपोल हैं। वह पट्टी का एक लंबा कोट और काले रंग का तंग पैजामा पहने है, पैरों में जूते नहीं हैं, और एक अंगूठे में चाँदी का एक छल्ला चमक रहा है। उसके मुख पर कुछ ऐसा भोलापन और सादगी है जो नवीन को अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। उसके छोटे भाई की शक्ल भी बहुत कुछ उससे मिलती-जुलती है।

नवीन ने आज तक बच्चों में कभी उत्साह नहीं दिखलाया है, वह उन्हें सदा ही जीवन का अभिशाप समझता आया है, परंतु इन पहाड़ी भाई बहन में न जाने कौन सा ऐसा जादू दिखाई दिया जिससे वह मोहित हो गया। जब तक वे सड़क पर मुड़ कर मील के पत्थर तक न पहुँच गये तब तक वह अपलक दृष्टि से उन दोनों को देखता रहा। तभी उसे विचार आया कि वह उन दोनों का स्नैप ले सकता है और इस प्रकार उन दोनों की शक्ल स्थायी रूप से उसके पास रह सकती है।

यह सोचते ही वह उसी क्षण ऊपर अपने कमरे की ओर भाग गया और दीवार पर लटकते हुए अपने कैमरे को उठा कर बाहर फाटक की ओर चल दिया। मील के पत्थर के नीचे एक पहाड़ी डलिया में रक्खी नाशपातियाँ बेच रहा है, वे दोनों उसी के पास खड़े कभी उस पहाड़ी की ओर, और कभी नाशपातियों की ओर देख रहे हैं। नवीन को आता देखकर सब का ध्यान उसी ओर आकर्षित हो गया।

नवीन धीरे-धीरे क़दम बढ़ाता हुआ उन दोनों के पास पहुँच गया और बड़े प्यार से पूछा—"क्या नाशपाती खाओगे ?"

वह लड़की चुपचाप उसकी ओर देखती रही, बोली कुछ नहीं। परंतु वह लड़का उत्साहित होकर ज़ोर से बोल उठा "हमारे पास पैसे नहीं हैं।" उधर से उसकी बहन बिगड़ उठी है और क्रोध से अपने भाई की ओर देखने लगी। "इन्हें चार आने की नाशपाती दे दो।" फिर लड़की की ओर देखते हुए नवीन ने पूछा "क्या यह तुम्हारा भाई है ?"

इस बार भी उसके मुख से कोई शब्द नहीं निकला, उसने केवल गर्दन हिला कर अपनी स्वीकृति दे दी। सूर्य की किरणों में उसका चेहरा चमक रहा है। वह कैमरे की ओर देख कर उसके विषय में अनुमान लगा रही है।

पहाड़ी नाशपाती तोलने लगा। उसे एक सड़ी हुई नाशपाती तराज़ू में डालते देखकर लड़के ने उसे निकाल कर दूसरी पकी हुई चढ़ा दी। नवीन मुस्कराने लगा। नाशपाती तोल कर पहाड़ी ने जब तराज़ू आगे बढ़ाया तो भाई ने अपनी बहन की ओर देखा और उसकी दृष्टि का मतलब समझ कर अपनी बहन के पास जाकर उसका कोट पकड़ कर खड़ा हो गया। इस बार नवीन की हँसी न रुक सकी और वह बड़े ज़ोर से हँस रहा है। फिर उसने स्वयं आगे बढ़ कर तराज़ू से नाशपातियाँ उठायीं और उन दोनों को बाँट दीं।

"अच्छा, तुम दोनों इस पत्थर के पास खड़े हो जाओ।" नवीन के सफ़ेद मील के पत्थर की ओर इशारा करते हुए कहा—"मैं तुम दोनों की तस्वीर खींचूँगा देखो, हिलना-जुलना नहीं, मेरी तरफ देखते रहना।"

वह लड़की मील के पत्थर के पीछे जाकर खड़ी हो गयी और उसकी आड़ में से नवीन की ओर देखने लगी, उसकी समझ में नहीं आ रहा है कि नवीन का क्या मतलब है, उसकी भय युक्त दृष्टि नवीन के कैमरे की ओर लगी हुई है। उसका भाई भी एक हाथ में आधी खाई हुई नाशपाती लिये आश्चर्य से नवीन की ओर देखता हुआ अपनी बहन के पास जाकर खड़ा हो गया। नवीन को उन दोनों का यह पोज बहुत पसंद आया और उसने झट से कैमरे का क्लिक दबा दिया।

नवीन को उस लड़की की बड़ी-बड़ी रस से भरी हुई आँखें बहुत पसंद आयीं। वह पास आकर पूछता है —"तुम कहाँ रहते हो?"

"वो सामने।" लड़के ने नीचे खड्ड में एक मकान की ओर संकेत कर दिया। फिर उसने अपनी बहन की ओर देखा।

"तुम्हारी छुट्टी हो गयी?"

"हाँ!" लड़के ने उत्तर दिया। उसकी बहन चुप रही, वह कभी अपने हाथ की नाशपातियों की ओर और कभी नवीन की ओर देखती है।

"तुम्हारा नाम क्या है?" नवीन ने इस बार उस लड़की से पूछा।

उसने शरमा कर अपना मुँह मील के पत्थर के पीछे छिपा लिया। उसका भाई हँस कर बोला—"इसका नाम नूरी है और मेरा नाम सुंदर।" यह कह कर ठहाका मार कर हँस पड़ा।

तभी नैरा ने आकर कहा "साब न्हाने का पानी रख दिया है।"

एक बार दोनों को देखकर नवीन डाकबँगले में वापिस लौट आया और कपड़े उतारता हुआ उसी नूरी के विषय में सोचता रहा।

आकाश में बादल घिर आये हैं, काले और घने। सूर्य छिप चुका है और सर्दी भी बहुत बढ़ गयी है। भोजन करके नवीन ने अपनी पाइप सुलगायी और बाहर बरामदे में चला आया। प्रात के आये हुए वे आगंतुक बाहर कुर्सियों पर बैठे हैं, स्त्री हल्के नीले रङ्ग की साड़ी और कश्मीरी शाल ओढ़े है, उसके छोटे-छोटे घुंघराले बाल उसकी पीठ पर लटक रहे हैं उसकी आयु चौबीस से अधिक नहीं है, मझला कद और सफेद रंग, भरा हुआ चेहरा, होठों पर गुलाबी हल्के रंग की लिपस्टिक लगी है और बढ़े नाखूनों पर लाली चमक रही है। उसका पति (नवीन के विचार में वह उसका पति ही है) ओवरकोट पहने है और आराम कुर्सी पर बैठा सिगार का धुँआ छोड़ रहा है, काले फ्रेम का चश्मा उसकी आँखों पर लगा है। उसका कद अपनी स्त्री से जरा लंबा है और शरीर भी सुडौल है। चौड़े कंधे और फैली हुई छाती है। वह युवती कुछ बुन रही है और उसका पति सिगार में मग्न है।

नवीन के कमरे का दरवाज़ा खुलने का शब्द सुनकर उस युवती ने चौंक कर पीछे देखा और नवीन पर एक दृष्टि डाल कर वह फिर बुनने में लग गयी। आकाश पर छाये हुए बादल प्रतिक्षण गहरे होते जाते हैं और हवा में भी सर्दी की मात्रा बढ़ गयी है। बूंदाबांदी होने लगी है नवीन पैंट की जेबों में हाथ डाले बरामदे में ही टहल रहा है, सफ़ेद शाल पर फैले हुए उस स्त्री के घुंघराले बाल वह देख रहा है। बौछार बरामदे में आने लगी है, पति पत्नी ने अपनी कुर्सियाँ खिसकायीं और दीवार के सहारे लगा दीं, पुरुष बैठने लगा है परंतु स्त्री का संकेत पाकर अंदर चला जाता है और फिर नवीन को कमरा बंद होने की आवाज़ सुनायी देती है।

नवीन को बड़ा अजीब-सा लग रहा है। बरामदे की सैर से ऊब कर वह भी अपने कमरे में चला आता है और चारपाई पर लेट जाता है। उसने सर्दी का अनुभव किया और कंबल अपने ऊपर डाल लिया। सूर्य छिप जाने से कमरे में अंधकार है। वह पति पत्नी के विषय में ही सोचने लगता है। स्त्री के कटे हुए बाल और लाल होंठ, और पुरुष के चौड़े कंधे और फैला हुआ वक्ष। वे दोनों पति-पत्नी हैं, पुरुष स्त्री हैं...

फिर उसे पहाड़ी लड़की नूरी का ध्यान आता है। पट्टी का कोट और काले रंग का चूड़ीदार पैजामा। उसकी आँखें कितनी सुंदर हैं। मील के पत्थर को पकड़ कर जब वह उसके पीछे खड़ी हो गयी थी तब कितनी सुंदर लग रही थी। नवीन के कालेज में जो प्रिंसिपल हैं, उनकी लड़की भी इतनी ही बड़ी है। उसका नख शिख और शक्ल सूरत भी नूरी से मिलती-जुलती है, परंतु उसके चेहरे पर नूरी जैसा भोलापन नहीं। उसे अपना अस्तित्व मालूम है।

बारिश की टपटप नवीन को सुनायी दे रही है। उसका मन बार-बार पड़ोस वाले कमरे की ओर चला जाता है मानों वह देखना चाहता है कि अंदर क्या हो रहा है, एक अजीब-सी उत्सुकता उसके मन में उठती है। अचानक वह उठ खड़ा होता है और चप्पल पहन कर दबे पाँव बाहिर निकल आता है और चुपचाप उनके कमरे की ओर बढ़ जाता है, एक छोड़ कर दूसरा कमरा उसका है। दरवाज़े के पास नवीन को कमरे के अंदर बिल्कुल शांति जान पड़ी वह क्षण भर रुक कर आगे बढ़ जाता है, खिड़की पर गहरे नीले रंग का परदा है, उसे अंदर कुछ भी दिखाई नहीं देता। नवीन लौट आता है। कमरे के अंदर आकर वह आँखें बंद करके चुपचाप उलटा होकर लेट रहता है। उसे पता नहीं कब उसकी आँख लग जाती है।

शाम को जब बैरा ने चाय के लिए उसका द्वार खटखटाया तो उसकी आँख खुली और वह उठ बैठा। बाहिर धूप निकल आयी है, दो घंटे की मूसलाधार वर्षा

के पश्चात जंगल हरे भरे होकर सूर्य की रोशनी में चमक रहे हैं। पर्वतों की अंतिम श्रेणी पर बर्फ अधिक स्पष्ट और उजली होकर चमकने लगी है। अपने दरवाजे पर खड़े होकर वह इस दृश्य का आनंद उठा रहा है। उसी समय तीसरे कमरे से वे पति पत्नी निकले, स्त्री वही कोट पैंट पहने है और उसके होठों की लाली पहले से अधिक गहरी हो गयी है। अपने कमरे का ताला बंद करके दोनों चल दिये। बरामदा पार करके वे डाकबँगले के लान पर पहुँचे और फिर सड़क पर चल दिये। स्त्री ने पुरुष का हाथ पकड़ लिया है और दोनों बढ़े हुए आगे बढ़े आ रहे हैं। जब तक वे दोनों उसकी दृष्टि से ओझल नहीं हुए, तब तक वह उन्हें निहारता रहा।

चाय पीकर उसने हाथ मुँह धोया और वह भी घूमने के लिए चल दिया। स्लेटी रंग की कार्टराय की पैंट और काश्मीरी ट्वीड का कोट पहन रक्खा है। पैरों में गर्म ऊनी मोजे हैं और स्वेड का जूता है। वह उस ऊँचे टिब्बे पर चढ़ रहा है। ज्यों ज्यों वह ऊपर चढ़ता जाता है, हवा और भी ठंडी होती जा रही है। पर्वत श्रृंखलायें और भी स्पष्ट हो कर दिखाई देती जा रही हैं। चढ़ाई बिलकुल सीधी है, कहीं कहीं तो पगडंडी का भी पता नहीं चलता और नवीन को चट्टानों पर ही पाँव रख कर ऊपर चढ़ना पड़ता है। लगभग सात पहाड़ियों को पार करने के उपरांत वह टिब्बे पर पहुँच गया। जहाँ वह खड़ा है उससे ऊँचा आसपास कोई स्थान नहीं है, नीचे चट्टानें और पेड़ों के गहरे खड्ड हैं और चारों ओर पर्वत श्रेणियाँ। सतलज नदी की धारा बल खाती हुई नागिन की भाँति पहाड़ों की गोद में विश्राम लेती हुई जान पड़ती है। हवा इतनी तेज है कि नवीन के बाल बार-बार उड़ कर हवा के रुख के साथ बह जाना चाहते हैं। उस चोटी पर अकेला नवीन खड़ा है। वह अनुभव कर रहा है कि इतनी ऊँचाई पर पहुँच कर प्रकृति भी मानव से छोटी जान पड़ती है, प्रकृति का बिखरा हुआ सौंदर्य मानव के सम्मुख है। कुछ भी उससे छिपा नहीं।

धीरे-धीरे जब सूर्य की धुंधली किरणें अपने अंतिम स्पर्श से पहाड़ों को थपथपाने लगीं तब वह नीचे उतर आया एक विजयी सैनिक की भाँति। जब वह डाकबँगले पहुँचा तो गाँव के दीपक जल चुके थे। अपने पड़ोसी के कमरे में भी उसने लैंप का धुंधला प्रकाश देखा।

लैंप का यह धुंधला प्रकाश उसे बहुत भला लगता है। बिजली की चकाचौंध करने वाली रोशनी के अपेक्षा मिट्टी के तेल की जलती हुई धीमी बाती उसे अधिक सुखदायी प्रतीत होती है। रात के भोजन में पुलाव है और बकरे का गोश्त, टिब्बे की तीन मील चढ़ाई और फिर तीन मील नीचे उतरने के पश्चात वह भूख का अनुभव कर रहा है।

खाने के पश्चात बैरा जब प्लेटें उठाने आया तभी नवीन ने बाहिर बरामदे में किसी को पुकारते सुना—"बेरा, हमारा खाना लाओ।" नवीन समझ गया कि यह उसी स्त्री का स्वर है।

उत्सुकतावश वह बैरे से पूछता है—"ये कौन लोग हैं? क्या तुम इन्हें जानते हो?"

"हाँ साब, ये अपनी शादी की पहली सालगिरह मानने आये हैं, पिछले साल भी इन्हीं दिनों शादी के बाद आये थे, बहुत अच्छे लोग हैं।"

नवीन सोचता है शादी की पहली सालगिरह। इससे अच्छा और कौन सा एकांत और मनोरम स्थान मिल सकता है इनको! आज शादी की पहली साल-गिरह मनाने आये हैं और आज से ठीक एक वर्ष पूर्व अपनी शादी की प्रथम रात्रि भी यहीं गुज़ारी होगी। इसी तरह, इसी डाकबँगले में—एक वर्ष पूर्व।

"कितने दिन ठहरेंगे ये लोग?" बैरा को चुप देख कर नवीन पूछता है।

"अभी तो एक हफ्ता कहते हैं लेकिन पद्रह दिन से कम नहीं लगेंगे। यहाँ आकर फिर लौटना किसे अच्छा लगता है। रुपये के साथ दिल भी बहुत बड़ा दिया है। पिछले साल सब को इतना इनाम दे गये कि कोई अंग्रेज़ अफ़सर भी नहीं दे गया था।"

नवीन चुप रहा। उसे चुप देख कर बैरा प्लेटें उठा कर बाहिर चला। वह मेज़ पर कोहनी का सहारा लगाये बैठा है और लैंप के प्रकाश को बड़े ध्यान से देख रहा है। कितन ही देर तक वह उसी प्रकार बैठा रहा, उसे पढ़ने-लिखने का ध्यान भी नहीं रहा। फिर मुद्रा टूटने पर उसने सर्दी का अनुभव किया, दरवाज़ा खुला है, उसी को बंद करने के लिए वह आगे बढ़ा। क्षण भर के लिए बाहिर बरामदे में झांका और रात्रि की निस्तब्धता से आकर्षित होकर बाहिर निकल आता है। घना अंधकार है, सामने बड़े बड़े चीड़ के वृक्ष भी अंधकार के आवरण में ढंक गये हैं। जंगलों में कहीं एक आधा धुंधला सा टिमटिमाता हुआ दीपक चमक रहा है। चारों ओर सन्नाटा और एक भयानक नीरवता है। नवीन ऊपर आकाश की ओर देखता है तो वह बिलकुल स्वच्छ है, तारे नज़र आ रहे हैं। कुछ समय तक वह बरामदे में झुका हुआ अपने चारों ओर देखता रहा। सब कुछ कितना अकेला है, प्रकृति में भी रात्रि को एकाकीपन समा जाता है। रात सांय-सांय कर रही है मानो शमशान भूमि हो। वह कमरे में वापिस लौट आता है, उसके मन में भी सूनापन भरा हुआ है। कपड़े बदल कर वह चारपाई पर लेट जाता है, सर्दी के दिनों के दिनों में चारपाई पर लेट कर लिहाफ़ ओढ़े सोचना उसे बहुत प्रिय है।

लैंप बुझाना उसे याद नहीं रहा। तेल समाप्त होने के पश्चात वह कब स्वयं ही बुझ गया इसका पता नवीन को नहीं लग सका।

अगले दिन बहुत देर तक नवीन सोता रहा। जब उसकी आँख खुली तो सूर्य पहाड़ी के पीछे से काफ़ी ऊपर आ गया था और धूप बरामदे से विदा ही लेना चाहती थी। वह नाइटकोट पहन कर बाहिर निकल आता है। जिस प्रकार तूफ़ान के पश्चात शांति आ जाती है, वही शांति नवीन अपने अंदर अनुभव कर रहा है। रात्रि को जो उसके मन में खंडहर जैसी नीरवता समा गयी थी वह अब नहीं है। बरामदे में धूप में बैठे पति पत्नी ब्रेकफास्ट कर रहे हैं। उन्हें देख कर नवीन खीझ उठा। रात्रि की नींद के पश्चात वह उन दोनों को भूल चुका था पर तु अब उन्हें देख कर रात की सारी बातें याद आने लगीं। कल रात्रि को उनके विवाह का पहली सालगिरह थी और आज पहाड़ों से घिरे हुए इस छोटे से डाकबंगले में धूप में अकेले बैठे वे न जाने कौन से स्वप्नों के जाल बुन रहे हैं। पर तु दूसरे ही क्षण उन दोनों के जीवन से उसे घृणा होने लगी। उन दोनों में से किसी को भी कभी एक क्षण भी अकेला न मिलता होगा कभी वे अपने विषय में नहीं सोच सकते। उन दोनों की जिंदगी एक दूसरे पर ही निर्भर है, दोनों की प्रसन्नता, उनका सुख और उनकी शांति का कारण वे दोनों ही हैं। उनका अपना अस्तित्व कुछ भी नहीं है। कभी कोई अकेला रहना चाहता हो तो वह रह नहीं सकता, जबरदस्ती एक दूसरे का साथ निभाना पड़ता है। यदि कभी दोनों एक दूसरे से अलग रहते भी हों तो भी वे एक दूसरे के विषय में ही सोचते रहते होंगे। दो व्यक्ति भला एक सी जिंदगी किस प्रकार बिता सकते हैं। यह जीवन का कितना बड़ा अभिशाप है। यह सोच कर नवीन को उन दोनों पर दया आ गयी, उसकी घृणा सहानुभूति में परिवर्तित हो गयी। एक पींजड़े में दो पक्षियों को ज़बरदस्ती बंद कर दिया गया हो। बंधनों में जकड़ा हुआ उनका शरी और उनकी आत्मा, जहाँ सांस लेने तक की स्वतंत्रता नहीं है। वह कांप उठा। कल को उनके बच्चे होंगे और फिर उनकी जिम्मेदारी इन दोनों पर पड़ेगी। प्रसन्नता की एक लहर उसके शरीर में दौड़ गयी कि वह इन सब बंधनों से कितनी दूर है और कितना अलग है। अपनी प्रसन्नता के लिए उसे दूसरों के सामने हाथ नहीं फैलाना पड़ता, दूसरों के सहारे की आवश्यकता नहीं पड़ती। उसकी बनाई अपनी ही एक दुनियाँ है जिसमें वह मग्न रहता है, सुखी रहता है।

नवीन ने एक बार फिर उन दोनों पर दृष्टि डाली। उसे ऐसा प्रतीत हुआ मानों उन दोनों की हँसी और प्रसन्नता के भीतर कोई गहरी वेदना छिपी पड़ी है। उनका सुख और आनंद एक धोखा है, कृत्रिम प्रदर्शन है। वास्तविकता क

प्रकट करते हुए उन्हें भय लगता है। वे अपने आप को धोखा देते हैं, एक दूसरे को धोखा देते और सारे संसार को धोखा देते हैं। क्या वे वास्तव में सुखी हैं ?

नवीन ने उस युवती के बिखरे घुंघराले बालों को देखा जो सूर्य की किरणों में चमक रहे हैं। उस युवक के चश्मे का काला फ्रेम और सिगार भी दिखाई दे रहा है और फिर वे सब धुंधले होते जा रहे हैं और अंत में बिलकुल विलीन हो जाते हैं।

आज लारी के आने का दिन है। सप्ताह में एक बार बस्ती से लारी आती है और एक घंटे पश्चात यहां के यात्रियों को बस्ती ले जाती है। मील के पत्थर के पास धीरे-धीरे भीड़ इकट्ठी होती जा रही है। पहाड़ी लोग अपना सामान लेकर धीरे-धीरे एकत्रित हो रहे हैं।

नवीन पहले बरामदे से उन्हें देखता रहा। कुछ पहाड़ी बच्चे भी मील के पत्थर के पास जमा हो गये हैं। नवीन बाहिर घास पर धूप में लेट गया और ऊपर नीले आकाश की ओर ताकने लगा। अक्तूबर का स्वच्छ आकाश है, बादल का एक भी टुकड़ा दिखाई नहीं दे रहा है। हवा में काफ़ी सरदी है परंतु धूप में बैठ कर उसका प्रकोप पूर्ण रूप से नहीं लगता।

यकायक वह उठ खड़ा हुआ और अपने कमरे में चला गया। धीरे धीरे वह अपना सामान बांध रहा है। वह आज लारी में बैठ कर होस्टल चला आयेगा। डाकबँगले में और रहने की उसकी तबियत नहीं है।

नवीन लारी की अगली सीट पर बैठा है। सिक्ख ड्राइवर बाहर निकल कर यात्रा की थकान उतार रहा है और एक पत्थर पर बैठी दो पहाड़नों को देख कर मुस्करा रहा है। डाकबँगले के बरामदे में वही पति पत्नी लारी के आने-जाने वालो का तांता देख रहे हैं। नवीन भी उनको देख रहा है। सामने मील का पत्थर है जिस पर अंतर लिखे हुए हैं। लारी चल पड़ती है, मील का पत्थर पीछे छूट जाता है, नवीन एक बार सब की ओर दृष्टि डाल रहा है।

बालकृष्ण शर्मा, 'नवीन'

'डेढ़ बरस का कारा जीवन' ॐ

[सात कविताएँ]

१— फिर पिंजड़े में

शुरू आज से हुआ मित्र फिर डेढ़ बरस का कारा जीवन
ताला, जँगला, कम्मन, पट्टा, वही बेड़ियों की फिर झनझन,
अजब तमाशा है कि अखरती नहीं रंच अस्वाभाविकता
अपने लेखे सभी जगह है बंधन की यह न्यूनाधिकता;
बाहर भी बंधन का झंझट, अंदर भी बंधन ही बंधन
कैसे भरें चौकड़ी, बोलो, इस बंधन में हियका स्पंदन!

अगर शान से नहीं रह सकें हम इन दीवारों के बाहर
तो फिर क्यों न रमायें धूनी इन्हीं जेलखानों के भीतर!
जिन जिन ने देखे हैं सपने वे सब आये हैं इस दर पर,
कौन अजूबा बात हुई जो हम आ पहुँचे फिर इस बड़े घर!
बाकी है उम्मीद अभी तक नव भविष्य निर्माणों की
चकनाचूर हमें करनी है ये दीवारें पाषाणों की!

ॐ कारा जीवन के ये चित्र कवि की पेंसिल से लिखी हुई उन कापियों में से लिये गये हैं जिनमें उसके कारा जीवन की काव्यमयी भावनाएँ ('चक्री जीवन चर्या') सुरक्षित हैं। प्रस्तुत कविताएँ (एक को छोड़कर, जो १९३८ की है) शेष सब १९४०-४१ में कानपुर और नैनी की जेलों में लिखी गयी थीं। —सं०

२—हम अलख निरंजन के वंशज

हमने भी पाया अजब हृदय
पर अजब तमाशा हुआ यहाँ
जिस जिसको हमने अपनाया
मरु में सनेह-वर्षण करते
हम जग को करने प्यार चले
हम सबके हो हिय हार चले
वह बेगाना हो गया यहाँ—
इस जग में हम बेकार चले !

हम रहे कुछ कैयल याँ पर
जीवन की इस डगरी में हम
जिनको हमने अपना समझा
तुम कौन हमारे होते हो !
हम इधर-उधर हिय हार चले
अपना सब कुछ ही वार चले
वे ही अब हमसे कहते हैं—
तुम गलत धारणा धार चले !

हम जन्मजात बौड़म ठहरे
इस छिन भी तो उन सबके हित
ऐसा कुछ लगता है गोया
अपना-सा कर पाने में हम
हमको कब आई अकल ज़रा !
हम हो जाते हैं विकल ज़रा।
अपने ही दिल के टुकड़े को—
हो गये यहाँ पर विफल ज़रा।

हम पास बढ़े जितना उनके
वत्सलता, स्नेह, दुलार, प्यार,
हम थे मुग़ालते में अब तक
इस खरी आँच के लगते ही
वे उतना हमसे दूर हुए,
सब उनको नामंजूर हुए;
जब ठेस लगी तब होश हुआ—
हिय के संभ्रम बेनूर हुए।

फिर भी हम तो हैं मस्ताने
हम नहीं भिखारी दर-दर के
हम अलख निरंजन के वंशज
अपना सब कुछ देने में ही
है हमें न ख्वाहिश दानों की
परवाह न निज अरमानों की,
निज मनोरथों के हम हंता
है सार्थकता इन प्राणों की।

३—किसने हमें संजोया

किसने हमें सजोया ?
हम मृण्मय को किसने अपने लोचनकणों से धोया ?

हम तो हैं वे सांध्य दीप, जो चमक उठे हैं यों ही,
अपनी बाती आप जलाकर स्वयं लुटे हैं यों ही;
घने अँधेरे को बढ़ आते हमने देखा ज्यों ही —
त्यों ही लौ सुलगाकर हमने अन्धकार को खोया
किसने हमें सँजोया ?

होंगे और दीप बड़भागी जिन्हें सँजोये कोई
जिनकी आव भगत होती हो, होती हो दिलजोई,
हमने कब स्वकर्म कणिकायें इतनी गहरी बोई !
निपट निरादृत हम घाते में सुलग उठे हैं गोया
किसने हमें सँजोया !

हमने ऐसे देखे हैं दीपक कुछ भी मतवाले,
जिन्हें नेह परियाँ रखती हैं आँचल ओट सम्हाले,
किन्तु पड़े हैं हम झंझ के और धूल के पाले,
शोणित कण से निज बत्ती को हमने सदा भिगोया,
किसने हमें सँजोया !

जिन दीपों का दान ग्रहण कर जगमग होतीं लहरें —
जिन दीपों की सिहरन लख लख लाख लाख हिय सिहरें
वे दीपक हम नहीं कि जिन पे मृदुल अँगुलियाँ विहरें
हम वह ज्योतिर्मुक्ता जिसको जग ने नहीं पिरोया,
किसने हमें सँजोया !

४—मेरे मदिर लोचन प्राण

मेरे मदिर लोचन प्राण !
हुलस बदीगृह पधारी आज चढ़ घन यान,
मेरे मदिर लोचन प्राण !

आज उठ आयी सदल-बल सजल बादल-भीर
और चमकी बीजुरी यह नभपटल को चीर,
घन गुमानी गरजते हैं, बरसता है नीर,
पीर भर आयी हृदय में देख हिय सुनसान !
मेरे मदिर लोचन प्राण !

फिर वही सैयाद का घर वही कारा वास
छिन भरे का था मिलन अब फिर वही उपवास
स्वयं अंगीकृत किये हैं सतत बंधन पाश
तब कहो क्यों कोसने बैठूँ स्वकर्म विधान !
मेरे मदिर लोचन प्राण !

किंतु लहराती हवा जब लिपटती है गात,
और हहराती घुमड़ती बरसती बरसात,
तब हृदय में उमड़ता है एक झंझावात,
औ' सिहर उठते अचानक प्राण ये अनजान !
मेरे मदिर लोचन प्राण !

निरखता हूँ कोठरी से बादलों के खेल,
मेघ निज हिय हैं धरे देते उँडेल-उँडेल,
इन्हीं लमहों में मुझे है अखर उठती जेल,
यों 'दुबारा' हूँ, नहीं हूँ मैं नया नादान !
मेरे मदिर लोचन प्राण !

गर कभी आ जाय अपने प्राणधन की याद
तो चढ़ाये व्यर्थ भौंहें क्यों, कहो, सैयाद ?
जब नहीं करते कफ़स की हम कभी फ़रियाद—
तब उसे क्या, यदि करें हम सजन के गुणगान !
मेरे मदिर लोचन प्राण !

और मैं क्या चाहता हूँ ! बस ज़री-सी बात
कि जब होता हो घनों का यह सरस उत्पात—
तब मिले बस देखने को सरल मुख-जलजात
हो लिखी जिस पर सलौनी चाँदनी मुसकान !
मेरे मदिर लोचन प्राण !

गोद में तुमको बिठा लेना बलायें रीझ
और हो उठना तरंगित आँसुओं से भीज,
फिर उठा तुम नेह करुणा से पसीज पसीज,
आह वह तो एक सपना है यहाँ, रसखान !
मेरे मदिर लोचन प्राण !

५—होली

प्राण यह होली का रस रंग,
आज फिर गूँजी मदिर मृदंग।

कहीं दूर ढोलक बजती है आती उसकी गूँज,
वह सँदेस लाई कि आ गया फागुन का रँग ढंग,
प्राण यह होली का रस रंग

क्या वसंत ! क्या फागुन निरगुन ? क्या होली का साज !
जब तुम बिन है रिक्त हमारा हृदय और उत्संग !
प्राण यह होली का रस रंग।

मन है, तुम्हें अंक में भरभर होली खेलें आज,
तव मुख शशि दर्शन से हुलसे चित्त चकोर विहंग
प्राण यह होली का रस-रंग।

तुम हो इन प्राणों की आशा, तुम हो लोचन ज्योति,
जीवन की सार्थकता तो है आह ! तुम्हारे संग।
प्राण यह होली का रस रँग।

तुम बिन गिन गिन दिन में घड़ियाँ औ' निशि में नक्षत्र,
काल कलित करते जाते हैं, हुआ पूर्ण रस भंग।
प्राण यह होली का रस-रङ्ग।

व तव मदमाते, रँगराते स्वप्निल लोचन लाल,
पंकज इव स्मर सर में विकसे, अँग-अँग उठी तरंग,
प्राण यह होली का रस-रंग।

सरस, तुम्हारे वन उपवन में फूले किंशुक फूल,
उनके रंग में रंग लेने दो हमें आज अंग-अंग;
प्राण यह होली का रस-रंग।

कंपित पवन विकंपित दश-दिशि, गगनांगन गति-लीन,
उन्मन मन तव चरण-स्मरण रत, नेह विदेह अनंग;
प्राण यह होली का रस-रंग।

वे दिन बहुत दूर हैं, प्रिय, जब होली के दिन रीझ—
तुम पर सौ-सौ बार निछावर होगी हृदय उमंग;
प्राण यह होली का रस-रंग।

कारागृह के भीतर से भी, बरबस अपने आप,
अब तो बहुत चढ़ी है ऊँची, प्रिय यह जीवन चंग,
प्राण यह होली का रस-रंग।

६—क्या है यह अंधकार

क्या है यह अंधकार ?
भूल-भुलैयाँ में मन क्यों उलझे बार बार ?

वे प्रकाश किरण जिन्हें नयन ग्रहण कर न सकें
वे किरणें जिनको दृग-अंजलियाँ भर न सकें—
जिनको दृग-कनीनिका किसी तरह धर न सकें
उन किरणों का समूह बना अंधकार भार—
क्या है यह अंधकार ?

जीवन का उजियाला और चमकने को जब
धीमा हो जाता है और दमकने को जब
तब उसको कहते हैं अंधकार जगजन सब
तभी सभी कहते हैं उसे मृत्यु का प्रसार;
क्या है यह अंधकार ?

बालकृष्ण शर्मा, 'नवीन'

देखो तो, मेरे मन, यहाँ कहाँ तिमिर अंध !
देखो तो, यहाँ कहाँ, हरण करण मरण बंध !
प्राण-हरण लीला है जीवन उत्क्रमण संध,
रंभ्र रंध्र रोमों का आज रहा यों पुकार,
क्या है यह अंधकार !

मृत्यु की मृदंग बजी, जीवन की लगी थाप,
मृत्यु नृत्य पदतल में जीवन का लक्षित छाप,
परदे में क्या न सुनी जीवन की चरण चाप !
मृत्यु-पटल अंतर में चकित जीवनाभिसार,
क्या है यह अंधकार !

७—क्या तुम जाग रहे हो प्रहरी ?

क्या तुम जाग रहे हो, प्रहरी !
आयी साँझ ढल चुकी है जीवन की प्रखर दुपहरी !
क्या तुम जाग रहे हो प्रहरी !

क्यों जागूँ ! मैं सहूँ साँझ से सोऊँगा, तू कौन, बोल, री !
जो कि बजाती आयी निधड़क जागृति का घनघोर ढोल, री !
मेरे सालस निमिष-पात्र में मत जागृति का गरल घोल, री,
सोऊँ या जागूँ, तुझको क्या ! जाग, जाग, मुझसे मत कह, री—
मैं हूँ थकित, शिथिल मन, प्रहरी !

मैं हूँ कौन ? पूछते हो तुम ! मुझको देखो रंच नयन-भर,
मैं हूँ महामृत्यु ! हैं मेरी लीलाएँ उन्निद्र, शयन हर
मैं लायी हूँ तुम्हें चुभोने जागृति के ये शूल चयन कर,
आज भंग करने आयी हूँ मैं जीवन की निद्रा गहरी—
क्या तुम जाग रहे हो, प्रहरी !

सोते रहे दिवा निद्रा में, खोलो अब तुम अपने लोचन,
जागो, ग्रहण करो यह मेरा शुभ वर, जीवन संकट मोचन,
आओ, मैं तव भाल देश पर करूँ अमृत अंजन गोरोचन,
जिसे साँझ कहते हो, वह तो चिर-चेतन-रूपा बन छहरी !
क्या तुम जाग रहे हो प्रहरी !

मेरा शुभागमन निश्चित है, मम आलिंगन है अटलाचल,
पर तुम मुझे मिलोगे कैसे ? निद्रित क्या चिर-जागृत पलपल ?
यदि तुम जगते मिले मुझे, तो वरण करोगे मुझको अविकल !
इसीलिये लहराती हूँ मैं काल-सलिल पर जागृति लहरी,
क्या तुम जाग रहे हो, प्रहरी ?

जागे नीलकंठ जीवन में, कर विषपान, अमर बन आये,
जागी शक्ति छिन्न मस्ता वह, जिसको निज शोणित कण भाये,
जागे वे बलिदानी, जिसने नित प्राणार्पण गायन गाये,
शिवि, दधीचि, नचिकेता जागे जिनकी सुयश-पताका फहरी !
क्या तुम जाग रहे हो प्रहरी ?

भगवतशरण उपाध्याय

संस्कृतियों का अंतरावलंबन

'प्रतीक' क एक पिछले अक में मैं इस शीर्षक स एक लेख लिख चुका चुका हूँ। प्रस्तुत लेख प्राय उसी के अनुक्रम में है। एक सस्कृति का दूसरे पर कितना प्रभाव पड़ा है यह उन सस्कृतियो के सापेक्ष्य अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। इस प्रसग में प्राचीन बाबुल और असुर की सभ्यताओं, विशेषकर उनके धार्मिक विश्वासों, का अध्ययन उपादेय होगा। इस वृत्तात से भारतीय सस्कृति को समझने में भी बड़ी सहायता मिलेगी। इस अध्ययन से स्पष्ट हो जायगा कि किस प्रकार एक सभ्यता की छोरें दूसरी से जा बँधी हैं और उनकी ग्रथियाँ किस कदर एक दूसरी से उलझी हुई हैं।

असुर ग्रीकों के 'असीरियन' वे ही थे जिनका उल्लेख पुराणों में विशद रूप से और पाणिनि की अष्टाध्यायी में स केत से 'असुर रूप में हुआ है। हम इस लेख में असुर को सर्वत्र असुर ही लिखेंगे। असुर असुरों के प्रधान नगर और देवता का नाम भी था। असुरों का प्राचीन आधार बाबुल था और उनकी प्राचीन सस्कृति बाबुली, तथा बाबुलियों का प्राचीन आधार सुमेर और प्राचीन स स्कृति सुमेरी (खल्दी ऊर की) थी।

इस सभ्यता का प्रसार ईसा पूर्व लगभग ४५०० से ५३८ तक प्राय ४००० वर्षों का है। प्रार भ केंगी के राजकुल के साथ हुआ। इसका पहला राजा एन् शेगु कुश् अन दक्षिणी बाबुल में केंगी का था। वह सुमेरी था या सिम्मी (Semite) नहीं कहा जा सकता। वह एन् लिल् (१२वात् बेल्) का पतेसी (पुरोहित) था। उसके राज्य की राजधानी शिरपुरला गिस (अथवा सुगिर) थी और धर्म का केन्द्र निप्पुर था। बाद में यही सु गिर सुमेर कहलाया और इसी ने दक्षिण बाबुल को अपना नाम दिया। केंगी का प्रधान राजनीतिक स्पर्धी उत्तर में कीश का सिम्मी राजकुल था। इस बाबुली आसुरी सभ्यता और स्वतत्रता का नाश ५३८ ई० पू० में हुआ जब सिप्पर पर ईरानियों का अधिकार हो गया, बाबुल ने आत्म समर्पण कर

दिया, विजेता ईरानी सम्राट् कुरुष् (सइरस) ने नगर में प्रवेश किया और बाबुल ईरानी प्रांत बन गया। असुरों की स्वतन्त्रता का तो निश्चय तब अंत हो गया परंतु निःसन्देह उनकी संस्कृति सर्वथा मिट न सकी। और अनेक धाराओं से वह ईरानी विजेताओं के धर्म तथा जनविश्वास के स्रोत में जा मिली। ग्रीक सभ्यता और कला तक को उसने अनेक प्रकार से अनुप्राणित किया। भारतीय प्राचीन आर्य संस्कृति तो उसके अजस्र प्रवाह से कबकी अभिसिक्त थी ही।

मैं यह बात आरंभ में ही कह दूँ कि अन्य जाति के राजनीतिक और सामाजिक स्तरों को समझाना भी विजाती इतिहासकार के लिए कठिन हो जाता है जब अपेक्षाकृत ये स्तर स्पष्टतर हैं, फिर संस्कृति के सूक्ष्म तत्वों का विश्लेषण तो निःसंदेह कठिन होगा। फिर भी इस दिशा में भी, निश्चित फल की संभावना सर्वथा असंदिग्ध तथा विवाद-वर्जित न होने पर भी, प्रयास करना ही होगा।

जोख़िम मेनान्त ने अस्सुरबनपाल के पुस्तकालय की सामग्री का अध्ययन कर आसुरी संस्कृति के अवयवों की एक अनुक्रमणी बनायी है। मैं उसे अनुक्रमणी इसलिए कहता हूँ कि मेनान्त के उस अध्ययन में सूचनात्मक साहित्य तो प्रस्तुत है परंतु उसे विश्लिष्ट कर स्पष्ट करने अथवा सापेक्ष्य अध्ययन का आधार नहीं बनाया गया है। प्रस्तुत निबंध में उसके विश्लेषण और तुलनात्मक अध्ययन का प्रयत्न किया जायगा जिससे कम से कम आसुरी और भारतीय संस्कृतियों के पारस्परिक प्रभावों का कुछ आभास मिल जाय।

वस्तुतः आज हमारा उस कड़ी को सही-सही समझ पाना अत्यंत कठिन हो गया है जिससे विज्ञान फलित ज्योतिष से और फलित ज्योतिष धर्म से जुड़ा है। आखिर आसुरी-खल्दी विश्वासों का कोई प्राचीन समन्वित ग्रंथ तो प्रस्तुत है नहीं जिससे उनकी मंजिलें हृदयंगम कर ली जा सकें। इस कारण हमें बाध्य हो कर उस संस्कृति की स्थान और काल के परिमाण में विस्तृत कड़ियां एकत्र कर समझने का प्रयत्न करना पड़ता है। अर्थात् हम आसुरी धर्म-तथ्य या, मूलतः और विस्तारतः, संस्कृति तत्व को पूर्णतः समन्वित कर प्रस्तुत नहीं कर सकते।

उस आसुरी संस्कृति के आंकड़ों पर हल्की से हल्की दृष्टि भी यह स्पष्ट कर देती है कि उसके धर्म-क्षेत्र में बहुसंख्यक देवताओं का राज्य है यद्यपि कोई इस प्रकार का विधान उपलब्ध नहीं जिससे उनका पारस्परिक शक्ति-क्रम जाना जा सके। देवताओं के अनुक्रम की चोटी पर निश्चय एक देवता की प्रतिष्ठा है परन्तु एक देवता होते भी वह सर्वथा अविभज्य नहीं। वैदिक देव-तत्व में जो असंख्यक रूप-गुणों का समाहार है उसकी व्यवस्था भी कुछ इसी प्रकार की है। वरुण और इन्द्र प्रबल हैं, क्रम से देवताओं के वे प्रधान भी हो गये हैं और पिछले काल में इन्द्र की संज्ञा तो

तो देवराज' तक की हो गयी है। फिर भी उस परंपरा में भी देवताओं का पारस्परिक शक्ति क्रम अस्पष्ट है आसुरी सांस्कृतिक साहित्य के बिखरे टुकड़े जो सामग्री प्रस्तुत करते हैं उससे एक अस्पष्ट सिद्धान्त का आभास अवश्य मिल जाता है और वह बहुसंख्यक देवताओं की चोटी पर एक देवता का सर्जन और घोषणा भी करता है परंतु जब हम उसकी वैयक्तिक रूप रेखा का दर्शन करना चाहते हैं तो सर्वथा असफल हो रहते हैं और हमें केवल एक अमूर्त मायावी रेखांकन का ही बोध हो पाता है। अध्ययन का निर्देश यह है कि सापेक्ष्य शक्ति क्रमिक देव समुदाय है, उसका निवास आकाश* में है,वह उस एक देव के अधीन है जो देवताओं, संसारों और मनुष्यों का शासन करता है। वह अंतरिक्ष में आसनासीन है और हमारी वर्तमान स्थिति द्वारा अप्राप्य है। उसका दर्शन हमें केवल उसके कृत्यात्मक वृत्तांतों (लीजेंड) में ही होता है। वह साधारणतः मानव संसार से उदासीन रहता है परंतु जब-जब विश्व की वस्तु स्थिति संकट में पड़ जाती है तब तब उसकी रक्षा के लिए वह शस्त्रहस्त होता है (गीता की घोषणा से यह सिद्धांत तुलनीय है—यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्। परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ४, ७-८)। ऐसी परिस्थिति में ही वह अपना एकांत छोड़ सक्रिय हो उठता है। जब नरक की देवी सिन की कन्या को बलपूर्वक अपनी छाया में रखना चाहती है तब उस परम देव का हस्तक्षेप करना इसी प्रकार का एक उदाहरण है।

मनुष्य की बुद्धि, बल, ज्ञानादि से तो वह परम देव परे है ही, अन्य देव भी उसकी परिक्रमा मात्र ही करते रहते हैं और प्रायः उसी की भाँति वे भी अमूर्त हैं। परन्तु यह तो हुई, अधिकतर सिद्धांत की बात। वास्तविक चरित में, ज्ञात सामग्री से स्पष्ट है, देवताओं का मनुष्यों के साथ व्यवहार अनेक बार प्रकटरूप से होता है। इस संबंध में उनकी स्थिति बहुत कुछ भारतीय आर्य धर्म के देवताओं की सी है। ये भी सिद्धांततः परमदेव (एक देव ब्रह्म) के शासन में हैं, जो परिभाषातः अमूर्त है, परंतु ये प्रायः सदा मनुष्यों से आदान प्रदान करते रहते हैं। अश्विनी कुमार तो मानो देवताओं और मनुष्यों के बीच एक प्रकार के संबंध विधायक अधिकारी (लियेजाँ अफसर) हैं। ऐसा ही देवता अग्नि भी है, देवताओं का पुरोहित (देखिए, ऋग्वेद की प्रारंभिक ऋचाएँ)। आसुरी धर्म जगत में भी

* ऋग्वैदिक परंपरा का अंतरिक्ष, जिसके दो स्तरों के देवता हैं (१) इन्द्र, वायु, पर्जन्य आदि और (२) वरुण, द्यास्, अश्विनौ, सूर्य, सवितृ, पूषन् और विष्णु। —ले०

परमदेव के अतिरिक्त अन्य देवता मूर्त रूप धारण करते हैं। वे अधिकतर मानव और पशु का मिश्रित शरीर धारण करते हैं। वे रूप चाहे जो धारण करें उनमें सदा पंख लगे रहते हैं जो उन्हें मनुष्येतर विमद्गामी जीव प्रमाणित करते हैं।

इन देवताओं का उच्चावच क्रम भी है और इनमें से बारह 'महादेवता' कहे गये हैं। ठीक ऋग्वैदिक देवताओं की ही भाँति इनमें से प्रत्येक देश और काल के अनुसार उच्चतम स्थान प्राप्त करता है। और जब भक्त उसकी अर्चना करता है तब उसे सर्व-शक्तिमान् जानकर ही करता है। फिर भी इस संबंध में दोनों में एक अंतर अवश्य है। आसुरी देवता की प्रधानता मानुषिक विजयों पर निर्भर करती है विजयी जाति का देवता अधिकतर विजितों के विश्वास में प्रधान हो जाता है और उनका स्थानीय देवता गौण। परंतु स्थान-स्थान के भी अपने-अपने देवता प्रधान और गौण हैं निनेवे का प्रधान देवता इलू (तुलना कीजिए अल्लाह; इक्वा) है। उसका स्वभाव कहीं वर्णित नहीं और प्रतीक रूप में भी उसकी भावना अमूर्त ही की गयी है।

असुर-राजाओं के अभिलेखों में महादेवताओं का परिगणन किया गया है, उन महादेवताओं का जिनकी पार्थिव राजा अर्चना और प्रार्थना करते हैं। उनकी संख्या अथवा अनुक्रम सर्वथा निर्णीत नहीं, इस कारण हम भी उनको यथा-लब्ध उद्धृत करते हैं इलू (अना) जिसे निनेवे में प्रायः अस्शुर माना जाता था; फिर बेल् (बाल) और अंततः अनू। ये तीनों अज्ञात अंतरिक्ष के देवता हैं। इनके बाद उनका क्रम है जो दृष्टाकाश के देवता हैं—सिन्, चन्द्रदेव; शमश्, सूर्यदेव; विन् (रम्मन् अथवा अदद्), ऊर्ध्वाकाश का देवता, तूफानों का विधाता। ऊपर हमने जिन ऋग्वैदिक देवताओं का उल्लेख किया है उनके दोनों स्तर इन आसुरी देवताओं के सर्वथा समानांतर हैं। इनके अतिरिक्त ग्रहों के भी अपने अपने देवता हैं, जैसे शनि (अरुण ?) का अदर, बृहस्पति का मर्दुक्, मंगल का नेर्गल्, बुध वेनस) का इश्तर, मर्करी का नबू।

ऋग्वैदिक देव-दम्पतियों की ही भाँति असुर-देवता भी सदा अपनी पत्नी के साथ ही अर्चना के निमित्त आहूत होता है। बिना पत्नी के वह पूर्ण नहीं माना जाता। परंतु इतना होने पर भी जिस प्रकार वहाँ इंद्र अथवा वरुण का एक सर्वथा असामान्य व्यक्तित्व है, असुर देवताओं में इश्तर का भी कुछ वैसा ही है। इश्तर की नारी का नाम बेल्तिस् है और वह असुर देवियों का समादृत स्वरूप समझ कर पूजी जाती है। उसके अतिरिक्त अन्य देवियाँ भी हैं। जर्नित विश्व की उर्वराशक्ति का देवी (ऋग्वेद की सिनीवाली) है। तस्मित (इक्वा, सरस्वती, भारती) ज्ञान बुद्धि की देवी है। देवियाँ मनुष्य लोक से मूर्त संबंध रखती हैं

परन्तु जब तब वे अदृश्य हो अज्ञात लोक का आश्रय करती हैं और केवल अन्य साधनों से अपने को व्यक्त करती हैं। इन देव देवियों से अतिरिक्त अन्य देवताओं की संख्या अनंत है और वे उन्हीं देव दम्पतियों से ही प्रसूत माने जाते हैं (तुलना कीजिए अदिति से आदित्यों, देवताओं, की उत्पत्ति, इसी प्रकार द्यावा पृथिवी से अन्य देवताओं का प्रादुर्भाव जैसा ऋग्वेद में स्पष्टतः घोषित है।※ निनेवे पुस्तकालय की एक पट्टिका पर अनू के बारह पुत्रों का उनके लक्षणों के साथ उल्लेख है (देखिए, ऋग्वेद जिसमें अदिति के पुत्र बारह आदित्यों का वर्णन है)। इन्हीं बारहों से अन्य असुर देवताओं की सृष्टि होती है। इसी प्रकार सारे आर्य देवताओं को भी अदिति से ही जन्मा मानते हैं।

बाबुल के देवता भी प्राय वही हैं परन्तु उनका उच्चावच क्रम वहाँ दूसरा है। वहाँ इलू (अना) का स्थान बेल् ले लेता है और अस्सुर का मर्दुक। इसमें तो सन्देह नहीं कि बाबुली और आसुरी दोनों सभ्यताओं के देवता समान आधार से उठे हैं, साथ ही अनेकांश में यह भी लक्षित हो जाता है कि इनका और ऋग्वैदिक देवताओं का लाक्षणिक आधार भी प्राय समान ही है।

खल्दी कला की विकास मंजिलों का भी एक संदेश है। उनसे हमें अनेक ऐसी धार्मिक स्थितियों का ज्ञान होता है जिनका उत्तरकालीन अभिलेखों से कोई संकेत नहीं। खल्दी भित्ति मूर्तियाँ अत्यंत प्राचीन हैं और उनके मूर्ति चित्रणों का निखार भी बड़ा है। काश हमारा लिखित सामग्री भी इतनी ही स्पष्ट और सार्थक होती! फिर भी हम इन भित्ति मूर्तियों में चार पाँच देवताओं को तो पहचान ही लेते हैं :—इलू, नबू, मर्दुक, इश्तर् और जर्पनित्। इन पर अनेक बार अभिलेख भी खुदे मिलते हैं परन्तु उनके आधार पर इनकी पहचान धोखे से खाली नहीं है। आसुरी विजयों के क्रम में अनेक बार ऐसा हुआ कि विजयी असुरों विजितों की देवमूर्तियाँ उठा लीं और उन पर असुर देवों के नाम खोद उन्हें विजितों को लौटा दिया। इससे उन लेखों से सर्वदा इन देवताओं की पहचान संभव नहीं। इलू की अमूर्त भावना की प्राण प्रतिष्ठा ईरानियों ने अपने देवता ओर्मुज्द में की।

आसुरी खल्दी धर्म क्षेत्र में ऋग्वैदिक की ही भाँति कर्मकांड की बड़ी महिमा थी। पुरोहित वहाँ भी बड़ा सबल था। प्रधान देवताओं को अर्पित ऋचाओं की आसुरी-खल्दी में भी एक बड़ी संख्या मिली है। वर्ष का प्रत्येक मास और मास का प्रत्येक दिन किसी न किसी स्वतन्त्र देवता की संरक्षा में था जिससे देवताओं की कम से कम ३६० संख्या तो प्रमाणित ही है। इनमें से प्रत्येक के प्रति

※ देखिए लेखक का ग्रंथ 'विमेन, इन ऋग्वेद'

अनेक ऋचाओं का स्तवन हुआ जिससे उनके प्रसार का भी अनुमान लगाया जा सकता है (यहाँ इस बात को न भूलें कि भारतीय मास और दिवस भी नक्षत्र-देवताओं की संरक्षा में हैं)। वहाँ भी नबू, सिन्, शमश्, अनुहत्, अग्नि और पंचतत्वों को सूक्तों द्वारा पूजा अर्पित हुई। नीचे निनेवे की एक पट्टिका से एक गेय सूक्त उद्धृत किया जाता है:—

'देव तमप्रकाशक जो अंधकार में प्रवेश करता है। सुदेव, जो क्लेशितों की रक्षा करता और दुर्बलों को सहारा देता है। तेरी ही ज्योति की ओर महादेवता अपने नेत्र लगाते हैं। पाताल के देवता तेरे मुख का निरंतर ध्यान करते हैं। उनके मस्तकों की......दक्षिणायन सूर्य का प्रकाश खोजती हैं। वाग्दत्ता वधू की भाँति तू आनंदमय और नित्य प्रसन्न है। अपने तेज से तू आकाश की मूर्धा का स्पर्श करता है। विस्तृत जगत् का तू पताका है। हे देव, जो जन तुझसे दूर रहते हैं तुझे ही ध्याते और प्रसन्न होते हैं।"

ऋग्वेद के विष्णु अथवा सूर्य संबंधी किसी सूक्त से यह मिला लिया जाय, भावोद्‌गार और शैली में रंच मात्र अंतर न पड़ेगा (यहाँ यह विचारने की आवश्यकता नहीं कि ऋग्वेद प्राचीनतर है कि यह आसुरी-ख़ल्दी सूक्त। उद्देश्य इस समय केवल इतना स्थापित करना है कि दोनों के भाव-तत्व एक से हैं, देव प्रसूति के आधार एक)।

आसुरी-ख़ल्दी धार्मिक क्रियाओं का संबंध बाह्य, प्रगट, मूर्त पूजा से थे जो सर्वदा सूक्तोच्चारण अथवा यज्ञ द्वारा समाप्त होती थीं। वर्तुलाकार-मूर्त दृश्यों से हमें इस प्रकार की विधिक्रियाओं का ज्ञान होता है। पुरोहित प्रायः पूजा की मुद्रा में यज्ञ देवी के सामने होता है और वेदी पर देवता की मूर्ति अथवा यज्ञ-पशु होता है। यज्ञ पशुओं में प्रधान भेड़ अथवा बकरे का पट्ठा होता था (आज भी भारत में काली अथवा अन्य देवताओं के सामने इन दोनों का वध होता है)। बगैर यज्ञ-पूजा आदि किये असुर राजा कभी युद्ध-यात्रा नहीं करते थे। (यही प्रथा भारतीय आर्य राजाओं और ग्रीक विजेताओं में भी प्रचलित थी)। विजय के पश्चात् वे विजित देश की सीमा पर यज्ञ-क्रिया करते आर्यों की सरस्वती तट के यज्ञों की ही भाँति इन असुरों के यज्ञादि भी खुले आकाश के नीचे होते यद्यपि ख़ल्द और अस्सीरिया में मंदिरों की कमी नहीं। उनके पारम्परिक मंदिर 'ज़िग्गुरत' कहलाते थे और वे एक प्रकार के सीढ़ीदार-पिरेमिड थे। प्रत्येक नगर में आसुरी देवताओं के एक-दो मंदिर (ज़िग्गुरत) थे। अस्सुर-बनपाल के पुस्तकालय में इस प्रकार के प्राचीन मंदिरों की एक सूची मिली है। इन मंदिरों में भारतीय मंदिरों की ही भाँति निरंतर चढ़ावा चढ़ता रहता था।

अस्सुरबनपाल की पट्टिकाओं सर्ग (सृष्टि) संबंधी पट्टिकाओं का बाहुल्य है। उनमें से मसर की सृष्टि संबंधी विशेषकर जलप्लावन संबंधी तो अत्यंत प्रसिद्ध हो चुकी हैं। इन पट्टिकाओं पर अपने प्रस्तुत दृष्टिकोण के विचार से हमें विशेष ध्यान देना है। ये असाधारण महत्व की हैं। भाषा संबंधी निष्कर्ष इनसे चाहे जो निकाला जाय परंतु एक विषय में इनका अद्भुत महत्व सिद्ध है। वह विषय मोजेज के वक्तव्यों से संबंध रखता है। यह निर्विवाद है कि निनेवे का पतन बाबुला-कारावास से पूर्वकालिक है और बाइबल का प्राचीन टेस्टामेंट (आज का) कारावास से उत्तरकालिक है। इस कारण बाइबिल के वृत्तांत का इन पट्टिकाओं के ऐतिह्य से तुलना अनुचित न होगी जो जबसे आसुरी प्रासाद के साथ भूमिसात हुईं कभी मानव कर से छुई न गयीं। इतना ही नहीं। ये प्राचीन आसुरी ख्यातें एक सुमेरी पाठ के अनुवाद हैं जिसे दक्षिणी खल्द के पुस्तकालयों से लेकर अस्सुरबनपाल ने नकल और अनूदित करा लिया था। और यह हमें भले प्रकार ज्ञात है कि ये पाठ सारगन प्रथम (१८०० ई० पू०) से भी पूर्व के हैं और इसी कारण वे अब्राहम के खल्द छोड़ने से कई सदी पूर्व के भी हुए। अर्थात् उस काल के जब ऋग्वेद के निर्माण का अभी प्रारंभ भी न हुआ था।

इन पट्टिकाओं के महत्व को समझने और उनका वैदिक साहित्य तथा धर्म से संबंध स्थापित करने के लिए हमें इनमें से दो वर्गों की पट्टिकाओं पर दृष्टि डालनी होगी। एक तो जिनमें सृष्टि का वर्णन है, दूसरी वे जिनपर जलप्लावन का विषय अंकित है। इनमें से पहला उपनिषदों का भी सविस्तर विषय है और दूसरा शतपथ ब्राह्मण का। और इन दोनों विषयों की छान-बीन के बीच बाबुली धर्म पर एक नजर डाल लेना उचित होगा क्योंकि वही आसुरी धर्म का आधार है। पहले हम सर्गोत्पत्ति की आसुरी कहानी कहेंगे।

सर्गोत्पत्ति की आसुरी कथा

सर्गोत्पत्ति का यह इतिहास अनेक पट्टिकाओं पर खुदा है। इनका पाठ पहले पहल १८७५ में 'ट्रैंजैक्शन्स् ऑफ दि सोसाइटी ऑफ बिब्लिकल अर्क्यालोजी' में प्रकाशित हुआ। यह उस वर्ग की छः पट्टिकाओं पर खुदा है जिन्हें आसुरी में 'प्राचीन' (एनुमा—अनव!) कहा गया है।

जार्ज स्मिथ के इस प्रकाशन के बाद भी कुछ टुकड़े मिले और एक पट्टिका जो एल० डब्ल्यू० किंग को मिली वह तो बड़े महत्व की है। उसमें मनुष्य की सृष्टि का हवाला है। किंग ने अपनी सामग्री 'सेवेन् टैब्लेट्स् ऑफ् क्रिएशन' (सृष्टि की सात पट्टिकाएँ) नामक अपने लेख में छापी। ब्रिटिश म्यूजियम के अधिकारियों ने उसके छायानुवाद का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार दिया है —

"पहली पट्टिका उस काल का वर्णन करती है जब न आकाश था, न पृथ्वी थी, जब न ग्रह थे और न देवताओं ने ही जन्म धारण किया था, और जब अथाह जल (समुद्र) सारी वस्तुओं का उद्गम और मूल था। वह पूर्व कालिक जल विस्तार अप्सु और देवी तियामत् कहलाती थीं; उनकी संतति लखमु, और लखमु और उनकी प्रसन्तति अन्शार् और किशर् और उनकी प्रप्रसतति थे अनु, वेल् इया और अन्य महादेवता। दूसरी पट्टिका में तियामत् द्वारा प्रसूत दैत्यों की एक सेना का वर्णन है जिसे उसने किंगु की अध्यक्षता में रख दिया। अपने अन्य पुत्रों—देवताओं से उसे ईर्ष्या हो आयी थी। उन्हीं से युद्ध करने के लिए उसने इन नये पुत्रों को जना। अन्शार् को इस भेद का पता चल गया और उसने अपने पिता और माता लखमु तथा लखमु को अपने चरगग द्वारा संदेश भेज दिया। तीसरी पट्टिका में लिखा है कि देवताओं ने किन साधनों से तियामत् की माया व्यर्थ की। उसमें लिखा है कि उप्शुकिक्नकु नामक स्थान पर उन्होंने अपनी सभा की। वहाँ उन्होंने एक बड़े भोज की तैयारी की और 'वहाँ उन्होंने रोटी खायी और तिल का आसव पिया।' चौथी पट्टिका में मर्दुक् (बाइबिल का मेरोदाख़) के देवताओं के नेता के रूप में निर्वाचन का वर्णन है। उसमें उस सफल युद्ध का भी वर्णन है जो मर्दुक् ने देवताओं की ओर से तियामत् के विरुद्ध किया। (यह देवासुर संग्राम है जिसमें देवपक्ष का नेता इन्द्र है और असुर पक्ष का वृत्र। आसुरी कथा में ऋग्वैदिक इन्द्र ही मर्दुक है और वहाँ तियामत् के स्थान पर वृत्र की माता दानु है और उसके पुत्र दानव)। देवताओं ने अपनी सारी शक्ति मर्दुक् को दे दी। जिससे उसने अपने को प्रस्तुत किया और अपने चार घोड़ों के रथ पर चढ़ कर (पुराणों का इन्द्र भी मातलि चालित रथ पर चढ़ता है) दैत्यों के विरुद्ध बढ़ा। नियामत को पकड़ने के लिए उसने अपना जाल (भारतीय परंपरा में इन्द्रजाल) फैलाया। उसने अपनी एकत्र की हवाएँ चलायीं (ऋग्वेद में इन्द्र की सेना मरुत्, पुराणों में उनचास पवन) जो तियामत् के कंठ में जा पैठीं। उसने (मर्दुक) ने अपना भाला उठा लिया और उसके शरीर को वेध दिया। उसने शस्त्र उसके हृदय में भोंका, उसकी अँतड़ियाँ काट डालीं। उसे पराजित कर दिया, उसका जीवन छिन्न कर दिया। उसके उसने मछली की भाँति दो टुकड़े कर डाले। इनमें से एक खंड से उसने आकाश प्रस्तुत किया। दूसरे से पृथ्वी।

"पाँचवीं पट्टिका में नक्षत्रों की सृष्टि, बारह महीनों में विभक्त वर्ष की स्थापना और 'दिन-गणना के लिए' चन्द्रमा की नियुक्ति का वर्णन है।" इस पट्टिका की लिखावट स्थान-स्थान पर मिट या टूट गयी है, परंतु शेष भाग भी पर्याप्त महत्व का है क्योंकि उसमें ज्योतिष संबंधी ज्ञान का संकेत है। इस प्राचीन काल में ही

नक्षत्रों के बीच सूर्य का मार्ग समझ लिया गया और राशियों के चिह्न नियत कर दिये गये।

छठी पट्टिका में मनुष्य की सृष्टि का वर्णन है। अभाग्यवश इस पट्टिका की लिखावट अत्यंत अस्पष्ट है। मर्दुक देवताओं के शब्द सुन एक योजना का संकल्प करता है और उसे वह इयाँ को बता देता है—"मैं अपना रक्त और अपनी अस्थियाँ लेकर मनुष्य का सर्जन करूँगा। वह मनुष्य ''करे। मैं मनुष्य का सर्जन करूँगा जो (पृथ्वी पर) बसेगा जिससे देवताओं की सेवा हो सके और उनके मंदिर बन सकें)। मर्दुक फिर कहता है कि वह देवताओं के मार्ग बदल देगा (देखिए, ऋग्वेद के वरुण का संकल्प) जिसमें वे एक साथ अत्याचार और पाप बर्दाश्त (का सामना) कर सकें। सातवीं पट्टिका में मर्दुक के पचास नामों का उल्लेख है (निश्चय यह विष्णु सहस्रनाम का आरंभ है)।

बाबुली धर्म

चूँकि बाबुल संस्कृति-संबंधी ये और अन्य पट्टिकाएँ एक आसुरी पुस्तकालय में मिली हैं, यह प्रमाणित है कि असुरों ने अपनी संस्कृति के अन्यांगों के साथ ही बाबुली धर्म भी अंगीकार कर लिया था। असुरों की प्राचीन ख्यातें, पुराण, धार्मिक सिद्धांत और उनकी यज्ञ क्रियाएँ बाबुल की तत्संबंधी क्रियाओं आदि से इतनी मिलती हैं कि बाबुल के धर्म से आसुरी धर्म का बोध होना स्वाभाविक हो गया है। बाबुली धर्म स्वयं सुमेरी धर्म से प्रभावित हुआ था। अनेक पाठ तो सुमेरी भाषा में ही लिखे मिले हैं जिनका पंक्तिपरक आसुरी अनुवाद भी उन्हीं पट्टिकाओं पर प्रस्तुत है।

बाबुली धर्म स्थानीय विश्वासों के रूप में प्रचलित था। प्रत्येक नगर का अपना देवता था जो आस पास की भूमि में मान्य था। इस प्रकार अनु की पूजा एरेख में, बेल् की निप्पुर में, इया की एरिदु में, सिन् की उरू में, शमश की लारसा और सिप्पर में होती थी। जब ये नगर सम्मिलित राजनीतिक व्यवस्था में लाये गये तब स्वभावतः ये देवता भी एक ही देव समाज के अंग बन गये और उनका पारस्परिक संबंध नगरों के पारस्परिक राजनीतिक शक्तिक्रम के अनुकूल बन गया। उदाहरणतः जब बाबुल, साम्राज्य की राजधानी बना तब उसका इष्ट देवता मर्दुक भी देवताओं में अग्रणी बन गया।

बाबुली धर्म की दूसरी विशेषता यह है कि वह प्राकृतिक दृश्यों पर अवलंबित है। ऋग्वेद का धर्म भी इसी प्रकार प्रकृति देवों पर ही आधारित है। उसके पुराण और धर्म विश्वास वस्तुतः प्रकृति-संबंधी हैं। आदि-सृष्टि संबंधी बाबुली कथा

उसी का स्वरूप है जो प्रति वर्ष घटित होता या जाड़ों की वर्षा (प्रलय) से भूमि ढक जाती थी। वसन्त का सूय (मर्दुक) उस जल (तियामत) से युद्ध करता और उस पर विजयी होता है। फिर पृथ्वी दीख पड़ने लगती है और उस पर हरी वनस्पति और प्राणियों का प्रादुर्भाव होता है। जल-प्लावन की प्रलय-काश संभवतः किसी ऐसे वर्ष से संबंध रखती है जब जल-वृष्टि और नदियों की बाढ़ असाधारण हो आयी थी, जब बाढ़ की इस भयंकरता को दक्षिणी हवा के तूफान ने अत्यंत भीषण और संहारक बना दिया था। डा॰ लियोनार्ड वूली ने ईराक में जो इधर खुदाई करायी है उससे स्पष्ट है कि उस प्रदेश के एक प्रशस्त भूखंड में जल-प्लावन हुआ था। भूमि के एक स्तर में बहे हुए जल का निःसीम विस्तार मिला है। यह जल-प्लावन इतना प्रलयंकर हुआ कि उसकी कथा अनेक प्राचीन साहित्यों में दुहरायी गयी। इब्रानी बाइबिली और वैदिक शतपथ ब्राह्मण में भी उसकी कथा गायी गयी। इश्तर् का पाताल-अवतरण सभवतः पतझड़ का द्योतक है जब सब कुछ सूख जाता है, जब सूर्य का प्रखर तेज सब कुछ नीरस कर देता है। इश्तर् पाताल में जीवन-जल (अमृत) के लिए जाता है जैसे महाभारत का भीम अथवा अनेक अन्य प्राचीन भारतीय वीर। बाबुल की दुनिया में जल निश्चय जीवन का जल या अमृत ही है। इसके बिना बाबुल सर्वथा ऊसर होता और इसके कारण उसके चतुर्दिक भूमि का नाम 'कारादुनिआश'—देवोद्यान—पड़ा।

सृष्टि-ख्यात साम्राज्य-निर्माण और बाबुल के उसका केंद्र हो जाने पर ही बनी होगी क्योंकि मर्दुक युवा होता हुआ भी देवताओं का नेता है। इन सर्ग-कथा-पट्टिकाओं को 'एनुमा एलिश' अर्थात 'जब ऊपर' कहा गया है क्योंकि इन्हीं शब्दों से मुख कथा का आरंभ होता है। इस सर्ग की कथा तो ऊपर दी ही जा चुकी है, नीचे वेरोसस् द्वारा प्रस्तुत वृतांत दिया जाता है। यह वेरोसस् ३३० ई० पू० में बाबुल में उत्पन्न हुआ था। वह वृतांत इस प्रकार है—

पहले सर्वथा अभाव था, केवल जल का विस्तार था। केवल दो जीवों का तब अस्तित्व था—अप्सु, गंभीर (जल समुद्र) और जगन्माता तियामत का। ये वे प्रारम्भिक देव-दम्पति हैं जिनसे अन्य देव वर्ग की अभिसृष्टि हुई। पहले लख्मु और लखमु फिर अन्शा और किशर तब दीर्घकाल बाद अन्य महादेवता जन्मे। अपने देव पुत्रों का प्रसव कर तियामत के मन में उनके लिए घृणा उत्पन्न हुई। उसने तब एक विशाल दैत्य समुदाय प्रसूत कर देवों से युद्ध करने के लिए उसने उनका नेतृत्व अपने पुत्र किंगु को सौंपा। जिन दैत्यों को उसने इस अर्थ जना था वे "विशालकाय सर्प, विकराल दाढ़ोंवाले, दारुण-क्रूर थे; रक्त के स्थान पर उसने उनके शरीर में बिष भरा।" (ऋग्वेद में इन्द्र और देवताओं का शत्रु दानु का

पुत्र दानव वृत्र है, जिसे वृत्रासुर भी कहा गया है और जिसका विशेषण अहि-पुच्छ है—सर्पाकार। पुराणों में पिछले देवताओं के अग्रणी विष्णु—प्राचीन सूर्य=बाबुली—आसुरी मर्दुक=ऋग्वैदिक इन्द्र—का वाहन विनता के पुत्र वैनतेय (गरुड़) का युद्ध कद्रू द्वारा प्रसूत नागों से होता है दोनों परस्पर प्रबल शत्रु हैं)। अन्शार पहले अपने पुत्र अनु (ऋग्वेद में इस नाम के एक 'जन' हैं) को तियामत के विरुद्ध लड़ने को भेजता है पर तु वह उसके सम्मुख जाने से भय खाता है। इया की युद्ध यात्रा भी उसके विरुद्ध व्यर्थ होती है और तब स्वय मर्दुक रण-क्षेत्र में उतरता है। पर तु युद्ध करने से पहले वह देवताओं को उसे अग्रणी मानने को बाध्य करता है। अन्शार तब देवताओं का भोज करता है और देवताओं को सब कुछ बता कर मर्दुक को अपना नेता चुनने का आदेश देता है। देवता उसे स्व कार कर निम्न शब्दों में उसका स्वागत करते हैं —

> "महादेवों में तू सर्वमान्य है
> तेरे भाग्य सा किसी का नहीं, अनु तेरा आदेश है।
> मर्दुक, महादेवों में तू सर्वमान्य है
> तेरे भाग्य सा किसी का नहीं, अनु तेरा आदेश है।
> आज से तेरा शब्द प्रमाण होगा, बदला नहीं जा सकता,
> अभ्युदय और पतन अब तेरे हाथ से होगा,
> तेरे मुख से उदीरित शब्द तत्काल मान्य होगा
> तेरी आज्ञा अनुल्लघनीय होगी।
> महादेवों में से कोई तेरी सीमा न लाँघ सकेगा।
>
> . .. .
>
> मर्दुक, तू हमारा प्रतिशोधक है,
> हम सारे विश्व पर तेरा शासन प्रतिष्ठित करते हैं।

मर्दुक की शक्ति-परीक्षा के लिए वे उसके सामने एक वस्त्र प्रस्तुत करके कहते हैं कि वह अपने वाक्य से उसे लुप्त करदे और फिर बुना ले। जब वह यह कार्य सम्पन्न कर देता है तब वे प्रसन्न हो कर चिल्ला उठते हैं 'मर्दुक हमारा राजा है'। सघर्ष की तैयारी कर मर्दुक तियामत और उसकी सेना के पास वज्र, माला और जाल लेकर जाता है। (ऋग्वेद में इन्द्र का अस्त्र भी वज्र है और पिछले साहित्य में उसकी माया को इन्द्रजाल कहा गया है)। वह सातों हवाओं की आत्मसृष्टि कर उन्हें साथ ले आता है। (ऋग्वेद में भी सात समुद्र, सात ऋषि, आदि सात ही

सात वस्तुओं का उल्लेख है। वहाँ मरुत ही उसके सैनिक हैं। इन मरुत रूपी हवाओं की संख्या पीछे के भारतीय साहित्य में उनचास हो गयी है। यद्यपि एक गणना से उन्हें सात भी माना है और आकाश में उनमें से प्रत्येक का अपना-अपना मार्ग भी है। सिद्धांत शिरोमणि में आवह, प्रवह, उद्वह, संवह, सुवह, परिवह आदि गगन पवनों का उल्लेख हुआ है और विष्णु पुराण में उनके मार्ग में चलने वाले ग्रहों और नक्षत्रों का भी नामोल्लेख हुआ है। कालीदास ने भी अपने शाकुंतल में *'वायोरिमं परिवहस्य वदंति मार्गम्'* (७, ६) लिखकर उस संख्या की प्रतिष्ठा की है)। मर्दुक तियामत को युद्ध के लिए ललकारता है -

"खड़ी हो! हम दोनों परस्पर युद्ध करें—"
जब तियामत ने ये शब्द सुने
तब वह विक्षिप्त हो उठी, और उसकी संज्ञा लुप्त हो गयी।
तब तियामत सस्वर बोली
उसके अंग मूल तक काँप उठे,
उसने एक मंत्र पढ़ा,
और योद्धा देवताओं से शस्त्र निकालने को कहा।
दोनों परस्पर बढ़े तियामत और मार्दुक, देवों में धीमान,
युद्ध स्थल में वे परस्पर बढ़े, युद्ध के अर्थ—
तब देवता ने अपना जाल फैला कर उसे घेर लिया,
अपने पीछे की वायु भी उसने चलायी।
जब तियामत ने अपना मुख भरपूर खोला
तब उसने उसे अपनी वायु से भर दिया जिससे वह अपने होंठ बंद
    न कर सकी।
भीषण पवनों से उसने उसका उदर भी भर दिया।
उसका हृदय...और उसने अपना मुख खोला।
उसने अपना भाला उठा लिया और उससे उसका उदर विदार डाला।
उसके अतरंग काट दिये, हृदय छेद दिया।
उसने उसकी विजय की और उसे नष्ट कर दिया, उसके शरीर को नीचे
    डाल वह उस पर चढ़ बैठा।
जब उसने तियामत, नेता, को मार डाला
तब उसकी शक्ति टूट गयी, और उसकी सेना बिखर गयी

श्रौर देवता, जो उसकी सहायता को गये, काँप उठे, सन्त्रस्त हो गये,
पीछे फिरे।
अपने निम्नवर्गीय शत्रुश्रों से निपट कर मर्दुक उस तियामत की श्रोर
लौटा जिसे उसने जीता था
मीन की भाँति उसने उसके दो खंड कर डाले
एक खंड से उसने आकाश को ढका,
उसके सामने उसने एक वज्र रखा श्रौर एक संतरी नियुक्त किया—
श्रौर उसे उसने आज्ञा दी कि वह तियामत का जल बाहर न आने दे।

बाबुली पृथ्वी को जल से घिरे कोणाकार पर्वत के रूप में मानते हैं। उसके ऊपर उनके आकाश का वितान था श्रौर उसके पीछे स्वर्गीय सागर श्रौर देवावास। आकाश के उस मंडप में दो द्वार थे जिनसे सूर्यदेव शमश् प्रात बाहर निकलता श्रौर संध्या समय प्रवेश करता था। चन्द्रमा श्रौर तारे भी उसी मंडप के भीतर थे श्रौर वे सूर्य की भाँति बाहर भीतर जाते आते न थे। पृथ्वी के मोटे तल के नीचे सारा स्थान जल से भरा था (पाताल) श्रौर उस तल के बीच ही यमसदन 'अरलु' था, मृतकों का लोक 'अनावर्तन का लोक' यह सात दीवारों से परिवेष्टित था (सप्ततल)। यद्यपि देवताश्रों का निवास आकाश मंडप के पीछे है, वे अधिकतर पृथ्वी पर ही रहते थे, श्रौर उनका सभाभवन उदयाचल पर था, उस द्वार के पास ही जहाँ से सूर्य निकलता था। बाबुली विश्वास के अंतर्गत भी सूर्य उसी प्रकार अपने उदय होने वाले पर्वत के पीछे से निकलता श्रौर अस्त होने वाले पर्वत के पीछे डूब जाता है जैसे भारतीय विश्वास का सूर्य। दोनों की अपनी अपनी भाषा में इन पर्वतों के नाम क्रमश उदयाचल श्रौर अस्ताचल ही हैं*।

बाबुली देवता प्राय मानुष हैं। पार्थिव जन परिवार की भाँति वे भी जन्मते, जीते, राग द्वेष करते श्रौर मरते हैं। उनकी संपूर्ण कल्पना भौतिक है, सर्वथा लौकिक। अल्फ्रेड जेरेमिया इस धर्म के विषय में कहते हैं —"प्राचीन काल के निवासियों के धर्म में स्पष्ट प्रयोगिक तथ्य है। उनके देवता जीवितों (मर्त्यों) के हैं, उनके साथ प्रत्येक कार्य में सहायक श्रौर प्रत्येक हानि से रक्षक की भाँति उनका सक्रिय योग है। सारी धार्मिक चेतना इहलौकिक आवश्यकताश्रों में केंद्रित है। इस उद्दिष्ट दार्शनिक चिंतन की वहाँ गुंजायश नहीं कि आत्मा कहाँ से आयी,

---

* बालगंगाधर तिलक ने 'भंडार अभिनंदन ग्रंथ' में प्रकाशित अपने लेख में इस देवलोक श्रौर पृथ्वी का सुन्दर चित्र छापा है।

कहाँ जायेगी—जो मिस्री विचारों की शिलाभित्ति है। मृत्यु के साथ ही शक्ति और जीवन का, आशा और विश्राम का अंत हो जाता है। इस कारण उनके धर्म में परलोक की भावना नहीं है" ऋग्वैदिक आर्यों के सशक्त पार्थिव धर्माचरण के संबंध में इनसे इतर संभवतः एक शब्द भी नहीं कहा जा सकता। वहाँ भी सौ वर्ष जीने की, दस पुत्रों की, हज़ार गायों की, रथों और दासों की, भोजन और वस्त्र की, शत्रुओं के नाश की, अपनी विजय की निरंतर याचना है।

प्रधान देवताओं का नामांकन ऊपर हो चुका है। महादेवों (इलानि रबुति) के अतिरिक्त अनेक साधारण देवों और अनंत भली-बुरी अलौकिक योनियों का भी बाबुली धर्म-विश्वास में उल्लेख पाया जाता है। उनका विश्वास था कि व्याधियाँ दैत्यों के ही विधान हैं और यमसदन के स्वामी अल्लतु औ नेर्गल के आदेश से पाताल की संततियाँ ही रोगों का वितरण करती रहती हैं। ऋग्वेद के दसवें मंडल के अनेक सूक्त बीमारियों के कारण स्वरूप दैत्यों के निवारण के अर्थ ही कहे गये हैं। वहाँ भी रोगों का कारण उनको ही माना गया है और उनको भगाने के लिए मंत्र और ऋचाएँ कही गयी हैं। अथर्ववेद तो इस प्रकार के सूक्तों से भरा ही हुआ है अल्लतु का मुख्य दूत, व्याधियों का प्रसारक दैत्य नम्तर् है। इसी प्रकार अन्नुतकी भी नाश की दूती है। बाबुली इनमें से कुछ दैत्यों से सदा संत्रस्त रहते थे। इसी कारण उनका साहित्य इन देवों और दैत्यों की वंदना में कहे मंत्रों से भरा है। इनमें उनसे सहायता और रक्षा की प्रार्थना की गयी है। वैदिक आर्यों के धार्मिक भास और प्रार्थना की कहानी भी सर्वथा यही है किसी कार्य का आरंभ करने के पूर्व बाबुली पहले उस संबंध में देव-याचना कर लेते थे। यदि कार्य का योग अच्छा होता था तो उसका आरंभ करते थे वरन नहीं। हिंदुओं की ही भाँति कुछ दिवस तो विशेष अशुभ माने जाते थे और उन पर कार्यारंभ वर्जित था। इन वर्जित दिनों की तिथियाँ मास की सातवीं, चौदहवीं, इक्कीसवीं और अठाईसवीं थी। बाद का यहुदी सैबथ—रविवार—इस प्रकार अशुभ तिथि ही था शुभ नहीं और कार्य के अनारंभ के कारण ही वह विराम का दिवस समझ लिया गया था। तेरह भी अशुभ माना जाता था। बाबुली पंचाग में चंद्रमासों की व्यवस्था सूर्य-वर्ष से मिलाने के लिए एक अधिक तेरहवाँ—मास जोड़ने की आवश्यकता पड़ती थी। यह तेरहवाँ मास गणना में व्यतिक्रम उत्पन्न करनेवाला समझा जाकर अशुभ माना जाने लगा। भारतीय आर्यों ने भी इसी गणना के अनुसार अपने पंचांग में भी एक तेरहवें मलमास, का विधान किया और मूल की ही भाँति उसे भी अशुभ माना। फलतः उनके यहाँ भी इस तेरहवें (मल) मास में कोई शुभ कार्य आरंभ नहीं किया जा

सकता था। बाबुली मास-गणना क्रम में तो तेरहवें अतिरिक्त मास के द्योतनार्थ बारह राशियों में एक और जोड़ना पड़ा जिसका चिह्न काक था।

अनेक पट्टिकाओं में शुभाशुभ चेतना का अंकन है। शुभाशुभ का अनुमान स्वप्नों, भूकपों, ग्रहणों नक्षत्रों और ग्रहों के संयोग आदि सभी प्राकृतिक परिस्थितियों में किया जाता था। इसी से सम्मोहन साहित्य—सूक्तों और प्रायश्चित-मंत्रों का भी संबंध है। यदि किसी के सारे प्रयत्न करने पर भी व्याधि उसे आक्रांत कर लेती है तो कुछ मंत्रों के उच्चारण और जाप से उसकी रक्षा संभव थी। यही स्थिति वैदिक आर्यों के रोग संबंधी विश्वास की भी थी। प्रत्येक बाबुली का कोई न कोई इष्टदेव अथवा इष्ट देवी होती थी जिसकी रक्षा में उसकी उत्पत्ति होती और कष्ट में जिसकी ओर वह अपना हाथ उठाता। त्रिवेन्द्रम् में होने वाले ब्राह्मण पुत्र भी इसी प्रकार पद्मनाभ की रक्षा में प्रसूत होते हैं और इसी कारण प्राय. उनके नाम भी पद्मनाभन् ही होते हैं। बाबुली की व्याधि शांति के अर्थ हिंदुओं की ही भाँति पुरोहित का पौरोहित्य आवश्यक होता था नीचे की बाबुली पट्टिका में पुरोहित और प्रयश्चत्ती दोनों के लिए प्रार्थना-वक्तव्य अभिलिखित है —

"मेरे देवता, तू क्रुद्ध है, मेरी प्रार्थना स्वीकार कर, मेरी देवी, तू क्रुद्ध है, मेरी वंदना स्वीकार कर। मेरी याचना अंगीकार कर और अपनी रूह को विश्राम दे। मेरी देवी मुझ पर दया कर और मेरी प्रार्थना स्वीकार कर। मेरे पाप क्षमा हों, मेरे दुराचरण लुप्त हों। प्रतिबंध टूट जाय, बंधन शिथिल हों। सातों हवाएँ मेरे उच्छ्वासों को उड़ा ले जायँ। मैं अपना शठता छोड़ दूँगा, पक्षी इसे आकाश में ले उड़े। मछली मेरी यातना हर ले, नदी इसे बहा ले जाय। चैन का पशु इसे मुझसे ले ले। नदी के प्रवाहित स्रोत मुझे धो कर शुद्ध कर दे।"

दु.ख का कारण जानने के लिए निम्नलिखित प्रकार के प्रश्न पूछे जाते थे। इनमें से कुछ उस काल की विकसित आचार-व्यवस्था पर भी प्रकाश डालते हैं —

"क्या उसने पिता को पुत्र से या पुत्र को पिता से विमुख कर दिया है? क्या उसने माता को कन्या से या कन्या को माता से विमुख किया है? क्या उसने भ्राता को भ्राता से या सखा से सखा को विमुख किया है? क्या उसने बंदी को बंध-मुक्त करने से इन्कार किया है? क्या उसने किसी देव या देवी के प्रति पापाचरण क्या है? क्या उसने किसी गुरुजन के प्रति हिंसा की है? क्या उसने 'हाँ' के स्थान पर 'नहीं' और 'नहीं' के स्थान पर 'हाँ' कहा है? क्या उसने मिथ्या बाटों का उपयोग किया है? क्या उसने गलत अर्थ गणना (हिसाब किताब) की है? क्या उसने खेत का गलत सीमा चिह्न गाड़ा है? क्या उसने पड़ोसी के घर में सेंध

लगायी है ? क्या उसने पड़ोसी की पत्नी का स्पर्श किया है ? क्या उसने अपने पड़ोसी का रक्त बहाया है ?"

इन प्रश्नों में समुन्नत आचार भूमि तो प्रस्तुत है ही, 'दशानुशासन' से इसका आधार कहीं विस्तृत है, और समसामयिक संस्कृतियों के 'यम-नियम' की माप के अर्थ ये प्रश्न असाधारण माप दंड प्रस्तुत करते हैं। प्राचीन जगत् की किसी सभ्यता के सदाचरण का विस्तार इतना व्यापक नहीं।

इसके अतिरिक्त इन बाबुली-आसुरी पट्टिकाओं पर खुदे अनेक प्रार्थना-सूक्त उद्धृत किये जा सकते हैं। जो भाषा के उतार-चढ़ाव, भावों की अभिव्यक्ति और कल्पना की उड़ान में ऋग्वैदिक ऋचाओं और सूक्तों के सुंदर, जब तब विरस, पूर्वगामी प्रमाणित होते हैं। झाड़ फूक के मंत्रों और व्याधियों के प्रसवक दैत्यों के त्रास में तो बाबुली और असुर ऋग्वेद और अथर्ववेद की भाव चेतना के अत्यंत निकट हैं। इस बात को न भूलना चाहिए कि परंपराओं, मान्यताओं, ख्यातों और विश्वासों के क्षेत्र में अथर्ववेद ऋग्वेद से कहीं अधिक महत्व का है, कहीं अधिक पुरोगामी-अतीतवादी।

गिल्गमिश् का वीरकाव्य

बाबुलियों और असुरों का वीरकाव्य गिल्गमिश् हमारे इस अध्ययन के क्रम में अत्यत महत्व का है। इसका कारण यह है कि उस प्राचीन जल-प्रलय की कथा है जिसकी स्मृति अनेक प्राचीन जातियों के इतिहास में बनी हुई है। इब्रानी बाइबिल और भारतीय आर्यों के शतपथ ब्राह्मण दोनों में इस जल-प्लावन की कथा का उल्लेख है। कहानी एक ही है, किसी असाधारण पुरुष का उस सर्वनाश के समय जीवों के जोड़ों को नौका पर बचा लेना और प्रलय के पश्चात् पुनः सृष्टि अथवा प्रजनन में सहायक होना। बाइबिल की कथा में उसका नायक नूह है और शतपथ ब्राह्मण की कथा में मनु। एक ही कथा के तीन स्थलों में तीन नायकों का होना समझ में नहीं आता। इसके अनेक कारण हो सकते हैं। या तो एक ही घटना तीनों स्थलों पर घटी हो या एक ही घटना विचित्र होने के कारण मूल से इतर दोनों कथाओं में स्वीकार कर उनमें अपने-अपने नायक रख लिये गये हों। या यह भी हो सकता है कि एक ही घटना की स्मृति शेष रह गयी हो परंतु नायक का स्मरण न रह गया हो, इसलिए नायक स्वतंत्र रूप से अपने-अपने इतिहास के महान् व्यक्ति चुन लिये गये हों। इनमें पहला कारण अत्यत असंभाव्य है क्योंकि उसमें कष्ट कल्पना बहुत करनी पड़ती है। और तीसरा सबसे संभाव्य है। नीचे बताएँगे कि किस कारणवश इस महाकाव्य के बाबुली आसुरी पाठ को ही प्राचीनतम मानना अनिवार्य है।

जो वीरकाव्य सातवीं सदी ई० पू० में निनेवे के राजकीय पुस्तकालय में राष्ट्रीय निधि के रूप में स रक्षित था वह हमें बाबुली इतिहास के प्राचीनतम युगों की एक झलक दे देता है। इस काव्य में 'उन राजाओं का वृत्तात है जिन्होंने पुराकाल में देश पर शासन किया था।" उसमें उस नगर का वर्णन है जो जल प्रलय के समय भी निर्तात 'प्राचीन हो चुका था, और उस काव्य के काल स्तर और प्राचीन युगों तक जा पहुँचते हैं। इसके दृश्य फरात जिले के नगरों के हैं—उरूक (एरेख) के, 'जहाजों क नगर' निप्पुर के, शेरिप्पक और बाबुल के। इसका भौगोलिक विस्तार तो और व्यापक है और दजला के पूर्व निसिर पर्वत तक, और दक्षिण में माशु के पठार अथवा सीधा ईरान की खाड़ी तक जा पहुँचता है। कथा का केंद्र उरूक नगर है जिसे उरूक सुपुरी ('पूर्णत रक्षित') कहा गया है। सुपुरी का अर्थ 'पूर्णत रक्षित' होना एक समस्या ला खड़ी करता है। ग्रीक पोलिस, पाल, पुल और स स्कृत पुर, पुरी का एक ही अर्थ है प्राचीर परिवेष्ठित नगर। पर तु दोनों आय भाषाएँ होने के कारण इ डो युरोपीय आधार से उठे हैं इससे वे कोई समस्या नहीं खड़ी करते। पर तु असुर भाषा में भी इसी अर्थ में पुरी शब्द का प्रयोग होना निश्चय एक समस्या खड़ी कर देता है। विशेषकर उसके साथ 'सु' जुड़ा होने से उसमें और पेंच पड़ जाता है। प्रश्न यह है कि किसने किससे लिया? भाषा के रूप में तो यह शब्द एक ही अर्थ मे साहित्य से अलग आर्यों और असुरों दोनों में प्रचलित रह सकता है और एक द्वारा दूसरे से लिया भी सिद्ध हो सकता है यद्यपि उससे कथा की सापेक्ष्य प्राचीनता म किसी प्रकार का अतर नहीं पड़ सकता। पर तु यह स्थान इसके निर्णय का भी नहीं है और मेरे सामने मूल इबारत न होने के कारण मैं उसका निर्णय कर भी नहीं सकता। अस्तु।

इस नगर के अभिजात कुलीनों में "पार्वतीय पु गव की भाँति शक्ति में पूर्ण और बल में वीरों से दृढ़तर" होने के कारण इज्दुबार अपने को अग्रणी और यशस्वी बना लेता है। नागरिकों की ईर्ष्या का दमन कर और नृशस राजा खुबाबा को जीतकर वहाँ एक देशी राज्य खड़ा करता है। नाम से स्पष्ट है कि खुबाबा एलाम का था। कुछ लोगों ने इसका सबध एलाम के विरुद्ध बाबुली विद्रोह से भी स्थापित किया है। इसमें तो सदेह नहीं कि यह वीरकाव्य कम से कम एलामी राजकुल के समय (२४१०— ५० ई० पू०) प्रस्तुत था, पर तु वस्तुत वह और भी प्राचीन होगा क्योंकि काव्य में उरूक नगर के जल प्लावन के समय भी अति प्राचीन होने का निर्देश है।

इस काव्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से कहीं अधिक महत्व की इसकी पौराणिक पृष्ठभूमि है। बाबुली धर्म इलहामी किताबों वाला तो धर्म है नहीं इससे उसके

साहित्य में सैद्धांतिक धर्म की चर्चा नहीं हो सकती। इसी कारण देवोत्तर संसार की कल्पना और सांसारिक सृष्टि की यह कथा लौकिक और धर्मेतर होने के कारण विशेष महत्त्व की है। इसमें महान् त्रिदेवों के दो वर्गों का वर्णन है जो बाबुली विचारों के अनुसार विश्व के तीन भागों का शासन करते हैं। इनमें से पहला वर्ग तो अनु, वेल् और इया का है जो क्रमशः आकाश, पृथ्वी और समुद्र (पाताल) के प्रतिनिधि हैं और दूसरा शमश् सिन् और इश्तर का जो आकाश के तीन मुख्य ज्योतियों सूर्य, चंद्र और बुध का निर्देश करते हैं।

महाभारत की ही भाँति इस वीरकाव्य में भी देवताओं और मनुष्यों का संबंध बच्चों की सरलता से अंकित किया है। इस काव्य के नायक इज़्दुबार का प्रेम आकर्षित करने का इश्तर प्रयत्न करती है। शमश नायक और इयाबानी में मैत्री करा देता है। अनु, वेल् और इया तीनों महादेव—उसके कान में भेद की बात डाल देते हैं। चूँकि इश्तर नगर से अपने पिता वेल के स्वर्ग को चली जाती है, देवता जल-प्लावन के त्रास से "स्वर्ग के द्वार पर कुत्तों की भाँति जा दुबकते हैं।" वे मक्खियों की भाँति यज्ञ के चारों ओर चक्कर काटते हैं और "सुर भी सूँघते हैं।"

इस कथा का महत्त्व इसके स्वप्नों में है। स्वप्नों की एक शृंखला बन गयी है। स्वप्नों द्वारा ही देवता मनुष्यों को सावधान करते और सलाह देते हैं। भारतीय पौराणिक ख्यातों में भी इसका बड़ा महत्व है। बुद्ध की माता माया को भी बुद्ध के जन्म का संवाद स्वप्न के साधन से ही मिलता है। यह स्वप्न की घटना बाबुली और आसुरी परंपराओं में साधारण है।

गिल्गमिश वीर काव्य की बारह पट्टिकाएँ हैं। ये पट्टिकाएँ और इनकी लिखावट अनेक स्थलों पर टूटी हुई है फिर भी कहानी के अध्ययन में विशेष दिक्कत नहीं पड़ती और उसकी शृंखला की कड़ियाँ मिलती चली जाती हैं। टूटी कड़ियों को प्रस्तुत करना भी आसान है। जब कथानक खुलता है तब उसका नगर कठिन घेरे से विवश है। नागरिक उस दुर्भाग्य के कारण अत्यंत कष्ट में हैं परंतु देवता उनकी सहायता नहीं करते। तीन वर्ष तक शत्रु का घेरा पड़ा रहता है, तीन वर्ष तक नगर के द्वार बंद रहते हैं। तब गिल्गमिश प्रगट होता है। पट्टिका टूटी होने के कारण नहीं कहा जा सकता कि गिल्गमिश विजेता होकर आता है या त्राता के रूप में। संभवतः वह विजेता ही था क्योंकि उसका शासन अत्यंत कठोर है और उसकी प्रजा उसके अत्याचार की शिकायत करती है। प्रजा फिर देवी अरूरू से प्रार्थना करती है कि वह गिल्गमिश की ही भाँति शक्तिमान् व्यक्ति उत्पन्न करे। अन्यत्र यह देवी मर्दुक के समागम से मनुष्य जाति की जननी

कही गयी है। अरूरू फलस्वरूप इयाबानी को उत्पन्न करती है जिसका सारा शरीर नारी के से लंबे बालों से ढका है। उसका ऊर्ध्व भाग पुरुष का है परंतु अधो भाग पशु का। यह विचित्र जीव खेत के पशुओं के साथ रहता और उन्हीं के साथ खाता-पीता है।

गिल्गमिश इस बात से डर कर कि कहीं देवता इयाबानी को उसके विरुद्ध न भेज दें उसको पकड़ कर उरूक लाने के लिए एक शिकारी को भेजता है। शिकारी तीन दिन उसकी ताक में बैठा रहता है परंतु उसकी असीम शक्ति से डर कर हमला नहीं कर पाता और नगर को लौट आता है। तब गिल्गमिश मंदिर की एक वारांगना इयाबानी को मुग्ध करने के लिए शिकारी के साथ कर देता है। यह योजना सफल हो जाती है। इयाबानी वारांगना आसत् पर आसक्त हो पशुओं को छोड़ कर नगर चला आता है।

इयाबानी गिल्गमिश के साथ अपनी शक्ति तोलना चाहता है परंतु ऐसा न करने के लिए स्वप्न में उसे चेतावनी मिलती है। गिल्गमिश को भी स्वप्न में इयाबानी के आने की सूचना मिलती है और उसकी प्रार्थना पर देवी राय देती है कि वह आगंतुक वीर से मित्रता कर ले। परंतु इयाबानी को मित्र बनाने में शमश् की सहायता अनिवार्य है।

दोनों वीर तब एलामी स्वेच्छाचारी राजा खुबाबा के विरुद्ध प्रस्थान करते हैं। इस वीरकाव्य में उस लंबी भयावनी यात्रा और खुबाबा के किले के देवदार कुंज का *वर्णन है। राह में अनेक बार स्वप्नों द्वारा गिल्गमिश को प्रोत्साहन मिला* और अंत में उनकी यात्रा सफल हुई। स्वेच्छाचारी नृपति मारा गया। परंतु घर लौटने पर गिल्गमिश इश्तर *का कोपभाजन बन गया।* इश्तर उसका अपना पति बनने को आवाहन करती है। वह उसकी अवहेलना तो करता ही है उसे अपने पूर्वगामी प्रणयियों का नाश करने के कारण घृणा प्रदर्शन भी करता है जिससे देवी अत्यंत क्रुद्ध हो जाती है। उसी दशा में वह अपने पिता अनु के पास पहुँचती है जो गिल्गमिश पर आक्रमण करने के लिए एक साँड़ उत्पन्न करता है। परंतु इयाबानी की सहायता से वह उसे भी जीत लेता है। वह उसकी सींगें शमश् को बलि देता है और गर्वोक्ति करता है वह इश्तर और साँड़ दोनों को जीत लेगा। इयाबानी संभवतः इश्तर द्वारा मारा जाता है और गिल्गमिश भी रोग से आक्रांत हो जाता है। उसे भय हो आता है कि इश्तर के कोप का शिकार उसे भी बनना होगा। वीरकाव्य में इस प्रसंग का निर्देश इस प्रकार हुआ है—

> इज्दबार,अपने मित्र इयाबानी के लिए रोया,
> दुःख से जर्जर वह खेत में लेट गया।

"मैं इया-बानी की भाँति नहीं मरूँगा,
दुःख मेरे अंतरंग में प्रवेश कर चुका है।
मैं मृत्यु से भयातुर हूँ, और खेत में लेट जाता हूँ।"

तब गिलगमिश सित-नपिश्तिम् की खोज में निकलता है जिसमें वह उसकी रोग और मृत्यु से रक्षा कर सके। अनेक मुसीबतों के बाद वह अस्ताचल माशु के पास पहुँचता है। उसके द्वार पर बिच्छू-नरों का पहरा है। उनकी कृपा से उसमें प्रवेश कर वह अंधकार में निरंतर चौबीस घंटे चलता रहता है, तब सूर्य के प्रकाश में निकलता है। पास ही बहुमूल्य रत्नों के फल वाला एक वृक्ष है। फिर वह समुद्रतट पर सबितुम् नाम की राजकुमारी द्वारा शासित प्रदेश में आता है। वह उस सित नपिश्तम् के माझी अरद-इया को ढूँढ़ने की सलाह देती है जिसमें वह उसे समुद्र पार ले जाय। अरद-इया इस प्रस्ताव को अंगीकार कर गिलगमिश की सहायता से नौका निर्मित करता है। यात्रा का सबसे कठिन भाग मृत्यु के जल-प्रसार का है। अंत में दोनों द्वीप में पहुँच जाते हैं और गिलगमिश की प्रार्थना पर सित नपिश्तिम् जल प्लावन से अपनी रक्षा की कथा कहता है:—

सित-नपिश्तिम् ने उससे कहा, गिश्दुबा (गिलगमिश) से,
मैं तेरे सामने उद्‌घाटित करूँगा, गिश्दुबा, एक भेद भरा रहस्य।
और तुम्हें देवताओं का एक भेद बताऊँगा।
शुरिप्पक का नगर तुम जानते हो फ़रात के तट पर।
नगर प्राचीन है उसके देवताओं के मन में, उन महादेवों के, जल-प्रलय की इच्छा हुई।
उनका पिता अनु वहाँ था, उनका मंत्री बेल भी,
उनका दूत निनिब, और उनका नेता एन्-नु-गी भी।
निनिगियाज़ग (इया) भी वहीं था और उसने उनके शब्द नरकट की झोपड़ी से कहे: "ओ नरकट की झोपड़ी! ओ दीवार!
नरकट की झोपड़ी सुन! दीवार समझ!
तू शुरिप्पक के नर, उबारातुतु के पुत्र,
एक घर बना, एक नौका का निर्माण कर, धन-दौलत छोड़ अपनी जान की रक्षा कर।
अपना धन-धान्य छोड़ दे, जीवन की रक्षा कर।
प्रत्येक प्रकार के जीवों का बीज उस नौका में ला, जिसका तू निर्माण करेगा।
उसका माप तू निश्चय कर ले;

उसकी चौड़ाई और शक्ति परस्पर युक्त हो।
उसे तू फिर समुद्र पर छोड़ देगा।"
मैं समझ गया और मैंने अपने स्वामी इया से कहा—
"सुन, स्वामी, जो तूने शासन दिया है।
मैं उस पर ध्यान दूँगा, उसे करूँगा।
पर तु मैं नगर को क्या उत्तर दूँगा, प्रजा को, और गुरुजनों को!"
इया ने अपना मुख खोला, मुझ अपने दास से कहा—
"तू उन सब को यह उत्तर देना :
बेल मुझसे घृणा करता है
अब मैं तुम्हारे नगर में नहीं रहूँगा, और न बेल की भूमि पर सोऊँगा ही।
मैं समुद्र की यात्रा करूँगा और वहाँ अपने स्वामी इया के साथ रहूँगा।
तब वह तुम्हारे ऊपर अत्यधिक जलवृष्टि करेगा।
प क्षियों की विशाल स ख्या मछलियों के दल के दल,
पशुओं के यूथ, छोड़ी हुई फसलें . . . ।

आगे पक्तियाँ सर्वथा टूट गयी हैं। स भवत खित नपिश्तिम् आने वाली समृद्धि की आशा दिलाकर नगरवासियों को अपने प्रस्थान के प्रति आश्वस्त करता है। अन्य विद्वानों का मत है कि इन पक्तियों द्वारा वह भावी जल प्रलय का स केत करता है तब वह अपने नौका निर्माण का वर्णन करता है, उसकी लबाई-चौड़ाई बताता है, उसमें भरी वस्तुओं की सूची देता है —

'उस नौका में मैंने अपना सारा परिवार भरा, समग्र अनुचर
खेत के मवेशी, बनैले पशु, सारे शिल्पी मैंने ला भरे।
शमश् ने एक स केत निश्चित किया था,
'अधकार का स्वामी सध्या को जल बरसायेगा।
तब नौका पर आरूढ़ हो द्वार बद कर ले।'
नियत समय आ पहुँचा,
सध्या समय अधकार के स्वामी ने जल वर्षण किया।
दिनार भ मुझे भयप्रद लगा, दिन से मैं भयभीत हो चला।
मैं नौका पर आरूढ़ हुआ और द्वार बद कर लिया।
नौका के माँझी पुजुर बेल को
मैंने नौका सौंप दी, जो कुछ उसमें था उसे दिखा दिया।

जब प्रथम प्रभात हुआ
आकाश के आधार से एक काला बादल उठा
रम्मन उसके भीतर गरज रहा था।
नबू और मर्दुक् उसके आगे थे।
नेताओं की भाँति वे पर्वत और पृथ्वी पर बढ़े।
उरगल ने लंगर उठा लिया;
निनिब निकल पड़ा और उसने तूफ़ान वर्षा किया।
अनुनाकियों ने अपनी मशालें ऊँची कीं;
उनकी चमक से पृथ्वी प्रकाशित हो उठी।
रम्मन का गर्जन आकाश में व्याप्त हो गया;
सारा प्रकाश अंधकार में विलीन हो गया।"

रम्मन तब भूमि को जल प्लावित कर देता है, दिन भर तूफ़ान चलता रहता है; प्रबल आँधी लहरों को पर्वत की भाँति उठा कर जनता पर पटक देती है।

'भाई को भाई न दिखायी पड़ा, मनुष्य पहचाने न जाते थे; आकाश में
देवता जल-प्लावन से भयभीत हो उठे थे।
वे काँप उठे, काँप कर उन्होंने अनु के स्वर्ग में शरण ली
देवता कुत्तों की भाँति दुबक कर स्वर्ग के द्वार पर जा बैठे।
इश्तर प्रसव-पीडा से आक्रांत नारी की भाँति चीख़ उठी।
देवी उच्च स्वर से रो उठी
"मनुष्य फिर मिट्टी में मिल गया
क्योंकि मैंने ही देव परिषत् को दुर्मति दी।"

इश्तर यह कह-कह कर रोती है कि उसकी संतान मछली के अंडों की भाँति हो गयी। उसके साथ ही शेष देवता भी रोते हैं। छः दिनों के बाद तूफ़ान थमता है और समुद्र शांत होता है। सित-नपि-शितम् खिड़की से बाहर झाँकता और सामने का दृश्य देख रो पड़ता है। मनुष्य जाति मिट्टी हो गयी है, संसार जल मग्न है, समुद्रमय। बारह दिन पर भूमि के दर्शन होते हैं, और निसिर पर्वत के शिखर पर नौका आ लगती है, स्थिर हो जाती है। वहीं वह छः दिन टिकी रहती है।

"जब सातवाँ दिन पास आया,
तब मैंने एक कपोती उड़ायी, वह उड़ चली। कपोती इधर-उधर उड़ी,

परंतु उसके उतरने का स्थान न होने के कारण वह लौटी।
तब मैंने एक अबाबील उड़ायी और वह भी चली गयी। अबाबील इधर-उधर उड़ी,
परंतु उसके उतरने का स्थान न होने के कारण वह लौटी।
तब मैंने एक काक उड़ाया। वह भी चला गया।
काक उड़ गया और उसने जल को घटते हुए देखा
वह लौटा, उसने काँव काँव किया, पर वह लौटा नहीं।
तब मैंने सब कुछ नौका से निकाल लिया, चारों हवाओं को बलि प्रदान की,
मैंने पर्वत शिखर पर हवि प्रस्तुत की,
सात सात करके मैंने बर्तन रखे,
(ऋग्वेद में अनेक बार 'सात सात' वस्तुओं का निर्देश हुआ है।)
उनके नीचे मैंने नरकट, देवदारू काष्ठ और धूप रखी।
देवताओं को उस सुरभि की गंध मिली, देवताओं ने सुरभि सूँघी।
देवता यज्ञ के स्वामी के चतुर्दिक मक्खियों की भाँति एकत्र हो आये।

(हवि की गंध पा देवताओं के यज्ञ में आने का ऋग्वेद में स्थान स्थान पर वर्णन है।)

जब इश्तर आती है तब वह बेल को मानव जाति का नाश करने वाला कह कर धिक्कारती है और उसे यज्ञ के समीप नहीं आने देती। बेल इसी से क्रुद्ध है कि एक जन भी उस जल प्लावन से कैसे बच रहा। इया बीच में पड़ कर सबको शांत करता है। बेल को वह डाँटता है कि मनुष्य जाति को दंडित करने में भविष्य में अन्य साधन का उपयोग होगा। तब बेल अपना दोष स्वीकार करता है और स्वयं उत नपिश्तिम् तथा उसकी पत्नी को नौका से निकाल कर उन्हें आशीर्वाद देता है। तब वे नदियों के मुहाने पर एक द्वीप में पहुँचाये जाते हैं जहाँ उनको अनंत काल तक बसना है।

जल प्लावन की कथा सुन लेने के बाद गिल्गमिश का रोग दूर हो जाता है। (भारतीय जन विश्वास में भी धार्मिक मंत्रों और कथाओं के श्रवण से व्याधियों और ग्रहों का शमन माना जाता है।) उत नपिश्तिम् उसे एक संजीवन पौधे का भी ज्ञान करा देता है। उसकी खोज में अरद इया को लेकर गिल्गमिश निकल पड़ता है। पौधा तो मिल जाता है परंतु राह में उसे एक दैत्य चुरा लेता है और गिल्गमिश उदास हो घर लौटता है। (इस प्रकार के अनेक पौधों का अथर्ववेद

में हवाला है।) घर लौट कर फिर गिलगमिश अपने मित्र इया-बानी की मृत्यु पर शोक मनाने लगता है। उसको पुनर्जीवित करने के लिए वह बारी-बारी से बेल, सिन और इया से प्रार्थना करता है परंतु उनके किये कुछ नहीं होता। परंतु मृतकों का स्वामी नर्गल उसकी सहायता करता है। वह 'पृथ्वी फाड़ कर इया-बानी की रूह वायु के झोंके की भाँति' बाहर कर देता है। पाताल अथवा मृतक-लोक का रूप पूछने पर इया-बानी कहता है; "मैं नहीं बता सकता, मेरे मित्र, मैं बता नहीं सकता।" तब वह उसे अपने पास बैठा कर विवरण के अंत तक रोने को कहता है और स्वयं उस लोक का दुःखद वृत्तांत सुनाता है। उस वृत्तांत का अंत निम्नलिखित पंक्तियों से होता है—

"पलँग पर वह (जो) पड़ा था, शुद्ध जल पीता था।
वह जो युद्धस्थल में मरा था - तूने भी देखा, मैंने भी—
उसके माता-पिता उसका सिर सम्हालते हैं
और उसकी पत्नी उसकी बगल में घुटने टेके हुए है।
वह जिसका शव खेत में पड़ा है—उसे तूने भी देखा, मैंने भी—
उसकी रूह को संसार में शांति नहीं।
वह जिसकी रूह की किसी को परवाह नहीं —उसे तूने भी देखा, मैंने भी।
पेय का अवशेष, दावत का उच्छिष्ट—जो कुछ भी सड़कों पर फेंक
दिया जाता है वही उसका भोज्य है।"

वीरकाव्य का इस प्रकार अंत होता है। यह बारह भागों में विभाजित है। कुछ विद्वानों ने इसे काल्पनिक माना है—प्राकृतिक वर्ष का काल्पनिक चित्रण। अब यहाँ इसके रचना-काल के संबंध में भी चर्चा कर लेनी उचित होगी। इस कथा की निचली सीमा पट्टिकाओं के कम से कम सातवीं सदी ई० पू० के होने से निश्चित हो जाती है। इस काल असुर बनपाल के पुस्तकालय में ये पट्टिकाएँ औरों के साथ संग्रहीत हुईं। उससे काफ़ी पूर्व वे लिखी गयी होंगी। यदि, जैसा विद्वानों का अनुमान है, इन पट्टिकाओं में एलामी शासन के विरुद्ध राष्ट्रीय बाबुली विद्रोह का हवाला है, तब कम से कम २४५० – २०५० ई० पू० की ये पट्टिकाएँ हुईं। और तब उस विद्रोह के अवसर पर उसके नायक को जल-प्लावन की कथा सुनायी जाती है जो उस काल भी अति प्राचीन है और जिसका वर्णन देवता ही अपनी स्मृति से कर सकता है। इससे कुछ आश्चर्य नहीं यदि मानव-सृष्टि वाली पट्टिकाओं की ही भाँति इन पट्टिकाओं की जल-प्रलय-कथा —जल-प्रलय-कथा मात्र— ३८०० ई० पू० सारगोन प्रथम के आस-पास की कम से कम ३००० ई० पू० की हुई।

अब हम इस कथा के दो अन्य जातीय स्वतंत्र पाठों पर विचार करें। बाइबिल की कथा इसके बाद की है इसमें तो किसी विद्वान् को आपत्ति न होगी। उसकी स्मृति ईरानियों की जेंदावेस्ता में भी सुरक्षित है परन्तु हम जानते हैं कि वह पुस्तक बाइबिल के बाद की है। रह गयी भारतीय कथा। भारतीय (संस्कृत) साहित्य में सबसे पहले जलप्रलय की कथा शतपथ ब्राह्मण (प्रथम कांड, अष्टम अध्याय) में मिलती है। फिर इसका उल्लेख महाभारत में भी होता है। साधारणतः ब्राह्मणों का रचनाकाल ८०० ई० पू० और ५०० ई० पू० के बीच माना जाता है। ब्राह्मणों में पंचविंश, तैत्तिरीय, जैमिनीय, कौशीतकि शतपथ से पहले के और गोपथ आदि बाद के माने जाते हैं। इस विचार से शतपथ मध्यकाल अर्थात् प्रायः ६५० ई० पू० के आस पास का हुआ। अधिक से अधिक शतपथ इस ब्राह्मण काल के उद्गम अर्थात् ८०० ई० पू० तक ही रक्खा जा सकता है, इससे पूर्व नहीं। इसका कारण यह है कि उसमें याज्ञवल्क्य की कथा लिखी है। याज्ञवल्क्य की गुरु परंपरा के उपरले सिरे का प्रारंभ जनमेजय के पुरोहित तुर कावषेय द्वारा होता है। महाभारत की कई पीढ़ियों के बाद हस्तिनापुर के गंगा की बाढ़ से बह जाने के बाद कुरुवंश का निचक्षु कौशाम्बी नगरी की नींव डालता है जिसका बाद का राजा उदयन अनेक संस्कृत कथाओं का नायक और बुद्ध का छठी शती ई० पू० का समकालीन है। इस प्रकार याज्ञवल्क्य और जनक विदेह (सीरध्वज जनक, जानकी के पिता नहीं, उपनिषदों के दार्शनिक विदेह जनक) नवीं शती ई० पू० से पहले किसी प्रकार नहीं रक्खे जा सकते। और उनका उल्लेख करने वाला शतपथ ब्राह्मण भी ८०० ई० पू० से पहले का नहीं हो सकता। इस प्रकार भारतीय आर्यों ने अपने साहित्य में इस जल प्रलय-कथा का वर्णन पहले पहल मूल घटना के प्रायः तीन हजार वर्ष बाद किया। इससे यह प्रश्न ही नहीं उठ सकता कि किसने किससे लिया।

अब कथा। मनु को एक छोटी मछली मिली। उसने कहा, मुझे अभय दो, जल प्रलय के समय मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा। वह बढ़ने लगी और बढ़ती गयी। घट से तालाब में, तालाब से नद में और नद से समुद्र में पहुँची क्योंकि उसके उत्तरोत्तर बधन की कोई सीमा न थी। मत्स्य की सलाह से उन्होंने एक नौका बनायी और उसमें सारे ऋषियों के जोड़े और बीज रख लिये। फिर जल प्लावन होने पर मत्स्य की नाक से नौका बाँध मनु उस पर चढ़ गये। मत्स्य नौका लिये तैरती उत्तर गिरि की ओर चली। ओघ का जल सूखने पर मनु जिस स्थान पर उतरे उसे मनोरवसर्पण कहते हैं। वहीं उन्होंने यज्ञ किया और बलि दिये। (*अपीपरं वै त्वा वृक्षे नावं प्रतिबध्नीष्व तं तु त्वा मा गिरौ संतमुदकमन्तश्छैत्सीद् यावद् यावदुदक*

समवायात्—तावत् तावदन्ववसर्पासि इति स ह तावत् तावदेवान्ववससर्प तदप्येत-दुत्तरस्य गिरे र्मनोरवसर्पणमिति ।) इस कथा में बाबुली छाप तो पूर्णतः है ही परंतु इस प्रसंग में दो बातें याद रखने की हैं—एक तो उत्तर गिरि और दूसरी पशुबलि की बात। उत्तर गिरि वस्तुतः वही बाबुलियों का निशित का पर्वत है जिसके शिखर पर नौका टिकी थी बलिवाला प्रसंग विशेष महत्व का है।

शतपथ ब्राह्मण वाली कथा में उसका अंतिम प्रसंग इस प्रकार है—"*किलाता कुली—इति हासुर ब्रह्मावसतुः तौ होचतुः—श्रद्धादेवो वै मनुः—आवंनु वेदावेति। तौ हागत्योचतुः—मनो। याजयाव त्वेति।*" इसमें और अनंतर की मनु द्वारा सृष्टि की बात छोड़ कर इस पर ध्यान देना है कि इस जल-प्लावन के संबंध में पशुबलि के समय असुर पुरोहित की आवश्यकता क्यों पड़ी। कथा के अंत में बाबुली नायक की ही भाँति मनु ने भी बलि तो दी ही उसके पुरोहित का भी उपयोग किया। शतपथ ब्राह्मण ने जब आदि से अंत तक यह बाबुली-आसुरी कथा ले ली तब पशु बलि क्यों न लेते। परंतु निश्चय यह बलि विशेष प्रकार की थी जिसका भेद वैदिक ब्राह्मण को ज्ञात न था, इससे असुर ब्राह्मण की आवश्यकता पड़ी। इस आसुरी कथा के प्रसंग में असुर-पुरोहित द्वारा यज्ञ कराया जाना इसे सिद्ध करता है कि शतपथ ब्राह्मण ने जहाँ से यह कथा ली उसका प्रमाण-चिह्न—असुर—वह न भुला सका। यदि यह कथा ख्यात रूप में वैदिक परंपरा से ही शतपथ में आयी जिसका इससे पूर्व कोई उल्लेख नहीं, तब भी 'असुर' पुरोहित का स्पष्ट संकेत उसके सुदूर मूल को व्यक्त कर देता है। किससे किसने लिया यदि अब भी यहाँ स्पष्ट न हो सका हो तो याद रखना चाहिये कि इन बाबुली-आसुरी पट्टिकाओं में शतपथ या उसके पुरोगामी साहित्य का उल्लेख नहीं है, शतपथ ही में 'असुर' पौरोहित्य का उस स्थल पर उल्लेख है जो अत्यंत सार्थक है।

एक बात और। इस प्रसंग से शतपथ ब्राह्मण के रचनाकाल पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है। ये पट्टिकाएँ अस्सुर-बनपाल के पुस्तकालय में मिली हैं। इस नृपति ने ६६८ ई० पू० में शासन आरंभ किया था। अर्थात उसने सातवीं सदी ई० पू० में इन पट्टिकाओं का असंख्य अन्यों के साथ संग्रह कराया। स्पष्ट है कि उस काल वहाँ ज्ञान और अध्ययन की एक नयी लहर चली थी। उसकी राजनीतिक शक्ति का तो कहना ही क्या! उसने प्रायः सारे पश्चिमी एशिया के साथ-साथ मिस्र को भी जीत लिया था। उसकी राजनीतिक सीमा भारत के समीप तक आ पहुँची थी। उसने निनेवे का ए-कुर-गल्-कुर्रा का मंदिर अलंकृत किया, बाबुल के इसगिला मंदिर का निर्माण पूरा किया, बोर्सिप्पा का ए-ज़िदा नाम का मंदिर सुसज्जित किया। बाबुल और अरबेला में उसने भवनों और अन्य इमारतों के निर्माण

की परंपरा बाँध दी। निनेवे में अपना विशाल प्रासाद खड़ा कर उसमें प्राचीन ज्ञान पट्टिकाएँ एकत्र कीं। उसका शासनकाल अत्यंत समृद्धि और गौरव पूर्ण था। संभव नहीं कि इस काल के भारतीयों ने उसका नाम न सुना हो विशेषकर ज्ञान क्षेत्र में किये उसके प्रयासों की कहानी न सुनी हो। कम से कम सम सामयिक जगत् के ज्ञान और धर्म ज्ञान के केंद्रों में उसके प्रति सीधा तिरछा संकेत स्वाभाविक ही है। शतपथ ब्राह्मण इसी प्रकार का एक ग्रंथ है और जब इन पट्टिकाओं की संप्राप्ति से विख्यात जल प्रलय का कथा सर्वत्र प्रचलित हुई तब वह भारत भी पहुँची और शतपथ ने उसका उल्लेख किया। प्राय. इसी सातवीं सदी ईस्वी में, असुर बनपाल के उत्तर काल में तभी संभवत. अवेस्ता का भी प्रस्तुत रूप में ग्रथन हुआ और यद्यपि असुर देश का पड़ोसी होने के कारण ईरानियों को यह कथा पहले से भी ज्ञात हो सकती थी उसका विशेष उल्लेख इसी काल असुर बनपाल के संग्रहालय के प्रस्तुत होने के बाद हुआ।

× × ×

इस प्रसंग में अब केवल इश्तर का पाताल में अवतरण नामक ख्यात लिखनी शेष रह गयी है। परंतु उससे पूर्व कुछ आसुरी और भारतीय समानांतरताओं के प्रति एक संकेत कर देना उचित होगा। असुर राजा छत्र धारण करता था, असुर रथ या घोड़े पर चढ़कर धनुष बाण से लड़ते थे। उनकी पीठ पर तरकश बँधा होता था और शरीर पर कवच। वे श्मश्रु और लंबे केश रखते थे। वे मंदिर बनाते और उनमें मूर्ति पधराकर उन्हें पूजते थे। उनके जगुरत भारतीय स्तूपों से अति प्राचीन हैं पर उन्हीं से मिलते-जुलते ठोस। उनके देवताओं में गरुड़ (वैनतेय) देवता भी है जिसका नाम दूसरा है। असुर राजाओं के रथ में उनके जुआ दंडों के बीच पंख खोले गरुड़ की मूर्ति होती थी। असुर चूँकि युद्ध में विजयी और पराक्रमी होते थे उनके शौर्य के प्रतीक गरुड़ अनेक देशों की सेना की ध्वजा पर अंकित हुआ। रोमनों ने तो उसे अपनी ध्वजा पर चिन्तित किया ही, उसी की आकृति भारतीय गुप्तों के झंडे पर भी खिंची। असुर सैनिक को देखकर तो भारतीय को स्वाभाविक रामायण अथवा महाभारत कालीन वीर की याद आ जायेगी। असुरों में मूर्तियों के जुलूस की जो व्यवस्था थी भारतीय धार्मिक जुलूस, जिसका वर्णन फाह्यान और हुएन्-त्सांग ने किया है, उससे भिन्न न था। असुरों के आतंक की छाप आर्यों की स्मृति पर पूरी थी इसमें संदेह नहीं। उन्होंने उन्हें अत्यंत शक्तिमान् (असव = प्राण) माना है और अनेक स्थलों में अपने ऋग्वैदिक देवता वरुण को असुर महान् (अहूर मज़्दा- अवेस्ता) की संज्ञा दी है। पिछले युग

में भी शतपथ ब्राह्मण ने एक विशेष प्रकार के यज्ञ में असुर पुरोहित को ही ऋत्विक बनाने का हवाला दिया। उससे कुछ ही बाद पाणिनि ने लिखा कि असुर शत्रु पर आक्रमण करते समय हेलय! हेलय! चिल्लाते हैं। असुरों का शिल्पी होना भारतीय साहित्य के मय आदि के निर्देशों से ही नहीं, बाबुल और असीरिया के अनेक भग्न वशेषों तथा भित्तिगत मूर्ति चित्रणों से भी पर्याप्त सिद्ध है। निश्चय बाबुली असुर संसार के प्राचीनतम शिल्पी थे। बाबुली ज्योतिष का तो सारा संसार ऋणी है, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

इश्तर का पातालावतरण

इश्तर मृतकों के लोक में अपने युवा पति की खोज में उतरती है। पहले तो उस लोक का सुंदर वर्णन है 'जहाँ जाकर कोई नहीं लौटता, जहाँ अंधकार है, धूल का भोजन है।' द्वारपाल को धमका कर इश्तर वहाँ प्रवेश करती है। उसे सात द्वार पार करने पड़ते हैं और प्रत्येक पर उसे अपना कोई न कोई वस्त्र छोड़ देना पड़ता है। अंत में वहाँ की शासिका देवी अल्लात् के सिंहासन के सामने वह नंगी जा खड़ी होती है।

वहाँ जाने पर वह क़ैद कर ली जाती है। और उसकी मुक्ति के लिए संसार में देवताओं में कुहराम मच जाता है। जीवन थम जाता है। इस पर इया एक अद्भुत जीव, एक प्रकार का पुरोहित उत्पन्न करता है, जो अल्लात् द्वारा प्रतिरुद्ध न हो सके। और जीवन के स्रोत (अमृत) ढूँढ निकालेगा। देवी अपने मृत पति को लौटा लाती है और अमृत छिड़क कर जिला लेती है।

स्वयं इश्तर का भाव संबंध क्या स्त्री, नारी से हो सकता है?

इसी प्रकार गरुड़ की पीठ पर चढ़ कर एताना के स्वर्ग जाने की कथा भी बाबुली-असुरी साहित्य में है। पुराणों का गरुड़ सीधा सूर्य तक उड़ता है (सम्पाती) और पंख जलने से गिर पड़ता है! प्रायः समान पर अत्यंत सुंदर बाबुली कथा है। एताना गरुड़ की पीठ पर चढ़ कर मंज़िल पर मंज़िल पार करता स्वर्ग की ओर चढ़ता है। पहली मंजिल पर पृथ्वी पहाड़-सी लगती है, समुद्र तालाब-सा। दूसरी से समुद्र पृथ्वी को घेरे-हुए सा दीखता है, अनंतर वह आलवाल के जल की भाँति हो जाता है। अनु, बेल्, और इया के द्वारों तक पहुँच कर गरुड़ और ऊपर चढ़ना चाहता है और एताना को इश्तर के आवास तक चलने को प्रोत्साहित करता है। अब वे उस ऊँचाई पर पहुँचते हैं जहाँ से पृथ्वी केवल उद्यान की क्यारी-सी जान पड़ती है परंतु इस स्थल पर गरुड़ को अनियंत्रित महत्वाकांक्षा का दंड मिलता है। दोनों स्वर्ग से पृथ्वी पर पटक दिये जाते हैं। अन्यत्र कथा है कि शमश् (सूर्य) की सहायता से नाग ने गरुड़ के साथ धोखा किया और

फलस्वरूप गरुड़ की दारुण मृत्यु हुई। भारतीय कथा में नाग कद्रू के पुत्र हैं और वैनतेय (गरुड़) विनता के। दोनों में स्वाभाविक शत्रुता है और निरंतर संघर्ष होता रहता है। वैनतेय विष्णु का वाहन बन जाता है।

फरात की घाटी में धर्म का राष्ट्र के जीवन से घना संबंध था। मंदिर ही रत्नगृह और बैंक (भारत में भी) थे। पुरोहित ही प्राड्विवाक और लेखक थे। प्रत्येक ऐतिहासिक अभिलेख में देवता को साक्षी बनाया जाता था। उसके बगैर कोई कार्य नहीं सम्पादित होता था। उनके संबंध के त्यौहार वर्ष के महत्व के दिन थे। जर्मन खनन संघ ने बाबुल और बोर्सिप्पा के बीच की उस सड़क को खोद निकाला है जिस पर नबू की मूर्ति जुलूस के साथ बाबुल में मर्दूक के पास ले आयी जाती थी। इसे लिखते जगन्नाथ की रथ यात्रा की याद हो आती है। पाटलिपुत्र के धार्मिक जुलूस का वर्णन फाह्यान ने और कनौज के जुलूस का हुएन्‌त्सांग ने किया है। बोर्सिप्पा और बाबुल के बीच वाली सड़क चमकती खपड़ैलों और सिंह आदि की मूर्तियों से सजायी जाती थी।

बाबुल और अस्सुर की सभ्यता का प्राचीन वैदिक सभ्यता के साथ कितना घना संबंध है यह इस लेख से कुछ अंशों में स्पष्ट हो जायेगा। बाबुल की सभ्यता अकेली उस प्रदेश में न थी। दज्ला और फरात नदियों का पूरा काँठा मेसोपोतामिया कहलाता है। भौगोलिक दृष्टि से उसके तीन भाग हैं। निचला, मध्य भाग, और उपरला। निचला भाग खल्दियों का था जिनकी राजधानी ऊर थी। इनकी प्राची सभ्यता 'सेमेटिक' नहीं थी, सुमेरी थी और इस भूखंड का नाम भी सुमेर था। यह दोनों नदियों के मुहानों के आसपास समुद्र तक फैला था। इसी के पास एलाम और अक्काद (अगाद) खड़े हुए जो सेमेटिक थे। ऊपर मध्य भाग में बाबुल था (ग्रीकों का बेबिलोनिया), असुरों और सुमेरियों के बीच। दोनों के सम्मिश्रण से बाबुली जाति बनी। इसने अपनी संस्कृति और सभ्यता का खूब विकास किया। इनके भी उत्तर में गर्वीले असुर थे जो अपने रक्त के शुद्ध रखने का बड़ा प्रयत्न करते थे और अधिकांश में शुद्ध रख भी सके। सुमेरी राजशक्ति बाबुलियों ने छीन ली और बाबुली राजशक्ति असुरों ने। सभ्यता का भी यही हाल हुआ। सुमेरी सभ्यता बाबुलियों ने अपनायी और बाबुली असुरों ने। दोनों को अपने-अपने हाथ में लेकर उत्तरावर्ती जातियों ने विकसित किया। सुमेर, बाबुल और अस्सुर का सम्मिलित इतिहास अद्‌भुत है, शालीन।

पंतजी की कल्पना-क्रीडा
भूमि कुमाऊँ-अंचल
का एक दृश्य
[फोटो—वात्स्यायन १९४७]

'बच्चन'

श्री सुमित्रानंदन पंत

बात कह रहा हूँ आज से लगभग पचीस बरस पहले की। प्रयाग में एक मुहल्ला कटरा है, अब उसे पुराना कटरा कहना चाहिए क्योंकि अब एक नया कटरा भी बस गया है। इसी कटरे में एक पीले शिवाले की गली है। इसमें मेरी ननिहाल है। जिस समय की बात कर रहा हूँ उस समय मैं आठवीं या नवीं कक्षा में पढ़ता था अपनी मा के साथ मामा जी के यहाँ गया था। एक दिन छत पर खेलते हुए क्या देखता हूँ कि एक अत्यंत सुंदर, सुकुमार, गौर-वर्ण, लंबे सुनहले केशों वाला व्यक्ति दो युवकों के साथ जो उसके दोनों ओर जैसे उसकी रक्षा करने के लिए चल रहे हैं गली से—अपने चारों ओर की दुनिया से बिल्कुल विरक्त, कुछ खोया-खोया-सा जा रहा है। उसे मैंने देखा तो देखता ही रह गया, क्योंकि इतना सुंदर और अनोखा आदमी मैंने कभी देखा ही नहीं था। तभी मामी ने धीमे से कानों में कहा, 'यही
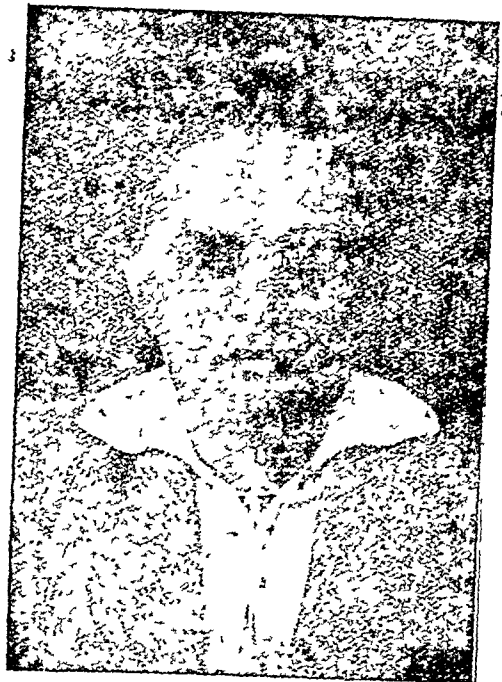
पंतजी—अल्मोड़ा १९४३

सुमित्रानंदन हैं, कवि हैं, पड़ोस की पहाड़िन बहन ने बताया था कि उनके भाई लगते हैं, पैदा होते ही मा मर गयी थी, बहुत सुकुमार हैं, पढ़ने को प्रयाग आये हैं।'

कायस्थ पाठशाला में ठाकुर विक्रमादित्य सिंह और श्री आनंदी प्रसाद श्रीवास्तव से कवि बनने की जो प्रेरणा मिली थी उसको सहसा आघात लगा। इतना सुंदर रूप मिले तब तो कवि बना जाय। सोचा, बाल तो बढ़ा ही सकता हूँ। अनुकरण बालों तक ही सीमित रहा, और बहुत दिनों के बाद मैंने यह सोचा यह अच्छा ही हुआ।

तभी किसी समय घर से स्कूल जाते हुए हिंदी मंदिर से बारह दिनों के नाश्ते के पैसे बचाकर मैंने उनका 'उच्छ्वास' खरीदा - उन दिनों मेरा घर मुहल्ला चक में था और हिंदी मंदिर, हिवेट रोड पर और मेरे स्कूल के रास्ते में पड़ता था। पुस्तक कौतूहलवश खरीद ली थी, पर पढ़ने पर कुछ पल्ले नहीं पड़ा। फिर भी यह विश्वास मन में बना रहा कि इसके अंदर कुछ रहस्यमय है उस अनोखे आदमी की रचना अनोखी होनी ही थी।

उन दिनों प्रयाग में एक श्री बरजोर सिंह थे। किसी स्कूल में अध्यापक थे, कविता भी करते थे। पड़ोस के किसी लड़के के यहाँ ट्यूशन करते थे, जान पहचान मेरी भी हो गयी। अपने को पंत जी का लँगोटिया यार बताते थे। मैंने कहा, मेरा भी परिचय उनसे करा दो। बोले, वह बड़े रिजर्व्ड आदमी हैं और साधारण लोगों से मिलना जुलना पसंद नहीं करते। असहयोग आंदोलन के बाद बहुत बड़े-बड़े 'रिजर्व्ड' आदमियों को खद्दर की भारी भरकम धोतियों को बार-बार सँभालते हुए सर्वसाधारण में मिलते जुलते देख चुकने पर इस 'रिजर्वनेस' के प्रति कोई सम्मान की भावना नहीं हुई। फिर भी सोचा वे अनोखे ही व्यक्ति हैं, उनमें कुछ अनोखापन हो तो अचरज ही क्या है।

पहली बार उनकी कविता सुनने का अवसर भी मुझे अच्छी तरह याद है। कहीं प्रयाग में ही कवि सम्मेलन था। एक एक सभापति जी ने सूचना दी कि अब श्री सुमित्रानंदन पंत कविता पढ़ेंगे। मंच पर आते ही अपनी विचित्र वेश-भूषा से उन्होंने सबको अपनी ओर आकर्षित कर लिया। सिर पर लंबे बाल, लेकिन उनके सजाने काढ़ने का ढंग ऐसा कि पहले देखा ही नहीं गया। बाल भी इतने सुनहरे कि लाल मालूम होते हैं। पहनावा अंग्रेजी ढंग का मगर जरा गौर करके देखिए तो उसमें भी कुछ निरालापन है। अंग्रेजी कोट को कुछ अपनी रुचि के अनुसार काट-छाँट दिया गया है। टाई भी है पर खुली कमीज के ऊपर। आँखों से कुछ ऐसा आभास हो रहा है कि—अरे मैं कहाँ आ पड़ा!—जैसे किसीको

पहचानते ही नहीं इतनी बड़ी भीड़ में। निस्तब्धता छा गयी, पूर्ण शांति के बिना उनकी आवाज़ पहुँचती भी कहाँ तक? उन्होंने कविता पढ़ना शुरू किया। आवाज़ भी तीखी और पतली। लग रहा था कि दोनों फेफड़ों का सारा ज़ोर लगाकर कविता पढ़ रहे हैं, दाहना हाथ भावपूर्ण ढंग से हिल रहा है। इसकी कुछ भी परवाह नहीं है कि कोई पसंद-नापसंद कर रहा है कि नहीं। फिर सहसा उन्होंने कह दिया—समाप्त। और सब लोगों ने मान लिया कि समाप्त। उनसे और सुनने की ज़िद करना निर्दयता होगी। एक ही कविता सुनाने में पसीने-पसीने हो गये हैं। कवि सम्मेलन की समाप्ति पर आँखें उन्हें खोजती हैं, पर वे तो बस अपनी कविता सुनाने के समय ही पहुँचे थे और सुनाकर चल दिये।

चिरगाँव, गुप्त बंधुओं के यहाँ—१९४८

बहुत दिनों तक उनका जो रूप मेरे मन में रहा है वह यही—सुंदर, सुकुमार, विचित्र और रिज़र्व्ड!

और अब उनसे मेरी घनिष्ठता है और महीनों उनके साथ मुझे रहने का सुयोग मिला है—साथ ही साथ उठना-बैठना, खाना पीना, सोना-जागना। सुंदर, सुकुमार और विचित्र तो उन्हें मैं आज भी कहूँगा, पर 'रिज़र्व्ड' बिल्कुल नहीं। वे कहते हैं वे 'रिज़र्व्ड' कभी भी नहीं थे, और जब मैंने एक दिन श्री बरजोर सिंह की बात बतायी तो बोले मुझे तो याद भी नहीं कि इस नाम के व्यक्ति से मेरा परिचय भी था। यदि देवता भूले नहीं, और भुलक्कड़ वे खूब हैं, तो बरजोर सिंह ने मुझपर अच्छा रंग जमाया था।

अब पंत जी पचास के निकट पहुँच चुके हैं और जब मैं उनकी पचीस बरस पहले की तस्वीर याद करता हूँ तो अक्सर मेरे दिमाग़ में उर्दू का एक शेर चक्कर कर जाता है—

> मैंने पूछा अब कहाँ है आपका हुस्नो जमाल,
> हँस के बोला वह सनम शाने खुदा थी, मै न था।

लेकिन पचास बरस की उम्र के लोगों में—इसमें आप चाहें तो औरतों को भी शामिल कर सकते हैं—अगर आप पंत जी को खड़ा कर दें तो आज भी मैं उन्हें उनकी सुंदरता के लिए सबसे ज़्यादा नंबर दूँगा। थोड़े दिन हुए एक विदेशी

चित्रकार ने उनसे कहा था कि यदि आप योरुप में होते तो आपको केवल 'माडेल' बनाने के लिए लोग हजारों रुपये देने को तैयार होते। पंत जी के बालों में अब वह सुनहलापन नहीं है, वे भूरे और सफेद भी हो चले हैं पर आज भी वे घुँघराले हैं और कवी के क्षणिक स्पर्श से इच्छित आकार प्रकार से उनके सिर पर शोभायमान हो जाते हैं। पंत जी को इन बालों से बड़ा मोह है। लोगों से बातचीत करते, चलते फिरते उनकी उँगलियाँ उन्हें ठीक करने में व्यस्त रहती हैं। और इन बालों की सुन्दरता के लिए वे नाई के ऋणी नहीं हैं। अपने जीवन में नाई को उन्होंने बहुत कम ही पैसे दिये होंगे। अपने बाल व खुद काटते-छाँटते हैं जैसे अपनी कविता की पंक्तियों को। सरस्वती के भूतपूर्व सम्पादक पंडित देवीदत्त शुक्ल कहा करते थे कि पंत जी के बालों में भी कवित्व है।

चेहरे का रंग उनका बहुत दब गया है पर नाक नक्श में अंतर नहीं आया। बल्कि मैं तो यों कहूँगा कि बढ़ती उम्र के साथ जीवन के अनेक संघर्षों के समाप्त होने, अनेक गाँठों के सुलझने और जग जीवन के अनेक प्रश्नों और समस्याओं पर सुख तोषप्रनक निर्णयों पर पहुँचने के स्निग्ध भावों ने उनके चेहरे को एक ऐसी प्रांजलता दे दी है जिसे फोटोग्राफ में भी देखा जा सकता है।

शरीर को मैं उनके सुन्दर नहीं कहूँगा। व्यायाम उन्होंने कभी नहीं किया, हाँ धीरे धीरे एकाध मील घूमने का उन्हें शौक है। चार मील फी घंटे की चाल से जो न चल सके, उसके साथ चलना मेरे लिए सबसे बड़ी सजा है। पंत जी के साथ मुझे यह सजा बहुत बार भुगतनी पड़ी है। साथी उन्हें घर से निकलने पर जरूर चाहिए। साथी न मिलने पर घर के सामने की दस बारह गज जमीन पर भी लौट फिर करके वे अपने घूमने का कोटा पूरा कर लेते हैं।

कपड़े अब भी वे अपनी विचित्र काट-छाँट के पहनते हैं। जिस दर्जी की शामत आया होती है वही उनके कपड़ों को सीने के लिए फँसता है। पैंट को छोड़कर शायद ही कोई ऐसा कपड़ा हो जिसमें उन्होंने कुछ परिवर्तन नहीं किया। उन्हें कपड़े सिलने को देते हुए मैंने देखा है—देखो, इसको यहाँ से ऐसा काटो कि यहाँ से ढीला हो, यहाँ से फिर ऐसा गोल आये, फिर यहाँ से ऐसा आड़ा आये आदि आदि। कई बार कपड़ों का ट्रायल होता है तब जाकर उन्हें अपनी पसंद की चीज मिलती है। यह मानना पड़ेगा कि उनकी पसंद और उनके डिजाइनों में सुरुचि और सुविधा दोनों का ख्याल रहता है। अगर पंत जी राजनीतिक नेता होते तो गांधी टोपी और जवाहर जैकेट के समान पंत-कुर्ता और पंत कोट तो जरूर चल पड़ते। संस्कृतमयी हिंदी का आंदोलन अगर कभी प्रबल वेग से चला तो संभव

है लोग पंत-कुर्ते और पंत-कोट को अपना लें। मैं कविवर को सलाह दूँगा कि वे अपने डिज़ाइनों को पेटेंट करा लें।

उनकी कविता पर उनके व्यक्तित्व की छाप है ही, पर उसकी बात आज मैं नहीं कर रहा हूँ। और भी जो कुछ उनका है या जो उनके संपर्क में आता है उसपर वे अपने व्यक्तित्व की छाप छोड़ना चाहते हैं। उन्होंने कभी घर नहीं बनवाया, फर्नीचर नहीं जुटाया, कमरे नहीं सजाये, बाग़ नहीं लगाया, मगर मुझे पूर्ण विश्वास है कि यदि ऐसे अवसर उन्हें मिलते तो हर एक चीज़ पर उनके व्यक्तित्व की छाप अवश्य रहती। मानी और प्रचलित वस्तुओं को उनका मन स्वभावतया नहीं ग्रहण करता, करता भी है तो उसमें कुछ परिवर्तन करके, कुछ संशोधन करके। 'लोकायन' का विधान बनाते समय इसका मुझे विशेष आभास हुआ। पदाधिकारियों को उन्होंने ऐसे-ऐसे नाम दिये जिन्हें पहले सुना नहीं गया था। सभापति और उपसभापति को उन्होंने 'लोकपति' और 'लोकव्रती' नाम दिया। प्रचलित 'मंत्री' को उन्होंने 'लोकसखा' कहा। कोषाध्यक्ष बहुत दिनों से चल रहा है, उन्होंने अपने विधान में उसे 'निधि पति' माना। इस प्रवृत्ति का एक उत्कट उदाहरण दूँ। नाम तो कोई अपना नहीं रखता, जो नाम माता पिता दे देते हैं उसीको लेकर चलता है। पंत जी ने स्वयं अपना नामकरण किया। गत वर्ष उनके बड़े भाई श्री हरदत्त पंत मेरे मेहमान थे। उन्होंने बताया कि पंतजी का दिया हुआ नाम था गोसाईंदत्त पंत, और दो भाइयों के नाम थे रघुवरदत्त पंत और देवीदत्त पंत। श्री हरदत्त पंत के कोई बिहारी मित्र थे सुमित्रानंदन सहाय; उनके पत्र अक्सर आया करते थे, बस गोसाईंदत्त जी को यह नाम पसंद आ गया और उन्होंने अपने को सुमित्रानंदन कहना शुरू किया।

इसको मैं अपना सौभाग्य और भगवान की कृपा समझता हूँ कि पंत जी लबे-लबे अरसे तक आकर मेरे पास ठहरे। इस समय मैं उनके सत्संग, वार्तालाप अथवा मधुर कविता पाठ की बात नहीं सोच रहा हूँ। यह सब तो चलता ही रहता था। पंत जी को अपने घर में रखना एक अच्छे डाक्टर को घर में रखना है। और मेरे ऐसे बाल बच्चे वाले गृहस्थ जिनके यहाँ आये दिन दुख-बीमारी लगी ही रहती है ऐसे साथी की महत्ता भली भाँति समझ सकते हैं। किसी बच्चे को कोई तकलीफ़ हुई, उन्होंने देखा और बता दिया यह रोग है, घबराने की बात नहीं, फलाँ दवा दे दो। कई बार 'नीम हकीम खतरे जान' को याद कर मैंने डाक्टर को भी बुलाया, पर हर बार डाक्टर की वही राय और दवा की तजवीज़ हुई जो उनकी थी। और कई बार उनकी दवा से मुझे जो आराम मिला वह डाक्टर की दवा से भी न मिला था। एक दाँत के डाक्टर ने अपनी मूर्खता से मेरा अच्छा-मज़बूत दाँत निकाल

पन्तजी —नेनवा तट पर १९४८ में

दिया। दर्द बहुत दिनों से था, पंत जी भी कह रहे थे कि क्या दंत मोह में पड़े हो, निकलवा डालो। जब इंजेक्शन का प्रभाव समाप्त हुआ तो मारे दर्द के प्राण जाने लगा। पंत जी ने एक दवा मँगाकर दी, और फौरन मेरा दर्द जाता रहा। मैं सोचने लगा कि आखिर डाक्टर ने यह दवा क्यों नहीं बतायी। इसी प्रकार मेरी पत्नी को भी कई बार उनकी बतायी दवाओं से फायदा हुआ। पंत जी लंबे अरसों तक दिल्ली के डा० जोशी के यहाँ ठहरते थे, शायद यह ज्ञान उन्होंने वहीं से प्राप्त किया। अपने स्वास्थ्य का पंत जी ध्यान रखते हैं और कब किस समय उन्हें कौन दवा खानी चाहिये इसे वे जानते हैं। दो-चार दवाएँ उनकी अलमारी में पड़ी रहती हैं, कोई सुबह उठते ही खाने की है तो कोई खाना खाने के आधा घंटा पहले, तो कोई सोने के पूर्व। गोकि दवा खाने की याद जरा आपको कम ही रहती है। अक्सर खाने की मेज पर दो-तीन कौर खाने के बाद उन्होंने कहा है—हाय, दवा खाना तो भूल ही गया। दवाओं को खत्म करने में जो मैंने उनकी सहायता की है, आशा है वे याद रक्खेंगे। सब स्वादिष्ट दवाओं में, चाहे वे किसी भी मर्ज की हों, मैं अपना हिस्सा लगा लेता था।

पिछली बार जब वे बम्बई से मेरे यहाँ आये तो उनके पास काले मुनक्कों की एक बोतल थी। इसे वे शाम को सोने से पहले खाते थे, सुबह उठते ही शहद में मिला कर एक हल्दी सी पीली दवा खाते थे। उन्होंने मुझसे कहा कि बम्बई में श्री नरेन्द्र शर्मा के एक गुरु हैं, उन्होंने यह मुनक्के मन्त्राभिषिक्त करके दिये हैं, थोड़े मुनक्के रहते ही इसमें और मुनक्के मिला देने से मन्त्र का असर ज्यों का त्यों नये वालों में भी आ जायगा। मुनक्के, और मैं खाने से चूक जाऊँ यह असंभव है। कई बार हिम्मत की

'यही कालिदास की वेत्रवती है ?'

श्रीसुमित्रानन्दन पन्त (कापीराइट)

[फ़ोटो—वात्स्यायन चिरगाँव १९४८]

'मुझे कुछ आता नहीं'—
पंतजी गुप्त बंधुओं के हाथ देख रहे हैं
चिरगाँव—१९४८

कि मैं भी इन मुनक्कों का मज़ा लूं पर हर बार पंत जी ने कहा, बाबा, यह मंत्रित मुनक्के हैं तुम्हें नुकसान कर सकते हैं। बस, मैंने डर के मारे उन्हें छोड़ दिया। पता नहीं मुनक्के सचमुच में मंत्राभिषिक्त थे या पंत जी ने उन्हें मुझसे बचाने के लिए ऐसा कह दिया था।

पर मंत्र-तंत्र में पंत जी को विश्वास है। जन्म-पत्र देखना भी जानते हैं, और उससे जीवन की गति विधि बतला सकते हैं। ग्रहों के अनुसार मूंगा मोती, नीलम आदि पहनने से जो लाभादि होते हैं इसके भी क़ायल हैं। किसी किसी को बताते भी सुना है कि तुम मूँगा पहनो तो तुम्हारे लिए फलदायक होगा, तुम्हारे लिए मणि उपयुक्त है, तुम्हारा पत्थर नीलम है आदि। और हाथ तो बहुत अच्छा देखते हैं—हालांकि देखने के पहले यह ज़रूर कह देते हैं कि मुझे कुछ आता नहीं। दूसरों को जो उन्होंने बताया उसमें कितना ठीक उतरा यह तो मुझे नहीं मालूम, पर मेरा हाथ देखकर उन्होंने जो बताया सब ठीक उतरा। १९४० में उन्होंने मेरा हाथ देखकर कहा था कि १९४१ में तुम्हारी शादी होगी। और वैसा ही हुआ। अब हाथ देखकर वे कहते हैं कि तुम्हारे जीवन में दो स्त्रियाँ और आएँगी और उनके कारण तुम्हें नाम और धन मिलेगा। यह सुनकर मेरी पत्नी को चिंता हो गयी है। शायद उसे समझाने के लिए यह कह देते हैं कि वे दोनों वृद्धाएँ हैं।

पत्र-पत्रिकाएँ उनके पास ढेरों आती हैं। प्रायः उनको उलट-पुलट कर नीचे डाल देते हैं--कहते हैं, कूड़ा! लोग क्यों इतना लिखते हैं, इतना छापते हैं और सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि इतना ख़रीदते हैं। उनकी आलमारी पर मैंने केवल 'हिमालय' और 'प्रतीक' की प्रतियाँ सुरक्षित देखी हैं। इससे अधिक यत्न से वे रखते हैं दो और पत्रिकाएँ - ये हैं श्री अरविंद आश्रम से निकलने वाली 'अदिति' और 'एडवेंट'। मगर एक ऐसी पत्रिका है जिसके लिए वे बहुत उत्सुक रहते हैं और जिसकी एक-एक पंक्ति वे पढ़ते हैं—कहीं कहीं रेखांकित भी करते हैं। लोग अवश्य ही यह जानने के लिए उत्सुक होंगे कि यह कौन सी पत्रिका है जिसे पंत जी इतनी रुचि के साथ पढ़ते हैं—यह है बंगलौर से निकलने वाली एक

ज्योतिष पत्रिका—जिसमें महीने भर के ग्रहों की स्थिति के फलाफल पर विचार रहता है। फिर बतलाते हैं कि इस महीने मुझे कितनी यात्रा करनी पड़ेगी, कैसा स्वास्थ्य रहेगा, किन किन,से क्या कष्ट मिलगे, किनसे होशियार रहना चाहिए, और इसी तरह की बहुत सी बातें।

पुस्तकें तो वे शायद वही पढ़ते हैं जो लोग उन्हें भेंट स्वरूप भेज देते हैं। बी० पी० उनकी केवल अरविंद आश्रम के प्रकाशन की आती है कभी यहाँ कभी वहाँ रहने के कारण उनके पास कोई निजी पुस्तकालय नहीं है। जो किताबें हमेशा उनके, साथ रहती हैं—उनमें शब्दसागर, आप्टे के सस्कृत अग्रेजी कोष और कालिदास के कुछ ग्रथ हैं जैसे शकुन्तला और रघुवश। रघुवश को वे सस्वर पढ़ते हैं और उसका अर्थ भी बतलाते हैं और इसमें काफी रस लेते हैं। मुझे कई बार उनसे रघुवश सुनने का अवसर मिला है। इधर अरविंद की रचनाओं की ओर उनका विशेष अनुराग हो गया है और उनका सपूर्ण साहित्य उनके पास है।

प्रात काल नहाने धोने के बाद वे पूजा भी करते हैं। चारा तरफ से किवाड़ बद कर लेते हैं, कुछ देर बाद निकल आते हैं। एक दिन ऐसे ही द्वार बद थे, कुछ लोग मिलने आये। मैंने कहा पूजा करते हैं, बैठिए निकले तो बोले, पूजा करते हैं कह दिया था! वे समझेंगे ठाकुर जा की मूर्ति सामने होगी और मैं फूल अक्षत चढ़ा रहा हूँगा, कहा करो ध्यान कर रहे हैं।

पत जी कब और कैसे लिखते हैं इसको जानने के लिए भी लोग उत्सुक होंगे। लिखते मैंने केवल उन्हें दिन को ही देखा है। रात को प्राय. वे काम नहीं करते। तख्त पर कभी लेटे हुए और कभी बैठ कर लिखते हैं। स्वाभाविक है कि एकांत चाहते हैं। लिखते समय किसी का आना जाना पास बैठना पसद नहीं करते। लिखने के दिनों में हर समय विचार मग्न से रहते हैं खाना पीना कम हो जाता है। एक भाव विचार को बहुत तरीकों से अभिव्यक्त करते हैं और जल्दी जल्दी सबको लिखते जाते हैं, फिर उनमें से जो पसद करते हैं उसे अलग लिख लेते हैं। प्राय जिन कागजों पर लिखते हैं उन्हें समस्त मसौदों, परिवर्तनों के साथ सुरक्षित रखते हैं। भविष्य के शोधियों के लिए यह काफी सिरदर्द का सामान होगा।

रिजर्व कभी वे रहे भी हों तो अब बिल्कुल नहीं हैं। जो भी उनसे मिलने आता है उससे अपनी सुविधा असुविधा का ध्यान किये बिना मिलते हैं। सहज-सकोची हैं और किसी को भी अप्रिय बात नहीं कहते। वश की बात होने पर किसी को निराश नहीं करते।

स्वभाव ज्यादा दौड़ धूप, सैर सपाटा करने का नहीं है। यात्रा अकेले नहीं कर सकते। रिक्शे ताँगे में भी कहीं जाना हो तो किसीको साथ लेना पसद करते

हैं। सड़क पर उन्हें अकेले चलते देखना कठिन है। सदा किसी न किसी के साथ ही रहे हैं। कभी-कभी उनको देखकर मैं सोचता हूँ कि जिस व्यक्ति को साथ की इतनी आवश्यकता थी उसने अपने अकेलेपन की कितनी भारी कीमत दी है।

उनका स्वभाव अधिक बोलने का नहीं है पर अपने व्यक्तिगत जीवन में वे इतने गंभीर नहीं हैं जितना लोग उन्हें समझते हैं। हास्य और व्यंग की मात्रा उनमें प्रचुर है। जिनके बीच वे निःसकोच उठते-बैठते हैं वे उनकी सूझ और उक्तियों से परिचित हैं। हँसी हँसी में कभी वे बड़ी गंभीर बातें कह जाते हैं। वे हँसना और हँसाना दोनों जानते हैं—वे अपने पर भी हँस सकते हैं और दूसरों पर भी। उनके हास में कटुता नहीं होती। वे उसी का मज़ाक भी बनाते हैं जो उनका प्रिय होता है—जो उनके निकट होता है। यों उनके मन में सबके लिए आदर का भाव है।

एक दिन मैं किसी बात पर झुँझलाया हुआ था। किसी बात के सिलसिले में कह गया 'कवियों की पूँछ कहीं नहीं है'। पंत जी बोले, 'बाबा जब आदमी के पूँछ नहीं रह जाती तभी वह कवि बनता है।'

मेरे घर में एक नौकर था। उसने चोरी की। मेरी पत्नी ने उसके वादा करने पर कि फिर वह ऐसा काम न करेगा उसे घर में रहने दिया। वे बाहर चली गयीं और नौकर ने फिर चोरी की। मैं बहुत झल्लाया, 'देखिए तेजी को कि चोरों पर विश्वास करती हैं।'

पंत जी बोले, 'इस पर तो तुम्हें अपने भाग्य को सराहना चाहिए।'

मैंने कहा, 'क्यों?'

बोले, 'अरे चोरों पर विश्वास करने की आदत न होती तो वे तुम्हारे साथ पंजाब छोड़कर कैसे आतीं।'

एक दिन की और बात है, मैं अपनी एक कविता सुना रहा था। पंक्तियाँ आयीं

मैं तो केवल इतना ही लिखना सकता हूँ,
अपने मन को किस भाँति लुटाया जाता है!

पंत जी बोले, 'इसमें तुमने थोड़ा-सा झूठ बोला है।'

मैंने कहा, 'कैसे?'

कहने लगे, 'सच कहते तो तुम्हें इन पंक्तियों को ऐसे लिखना था,

मैं तो केवल इतना ही सिखला सकता हूँ,
औरों के मन को कैसे लूटा जा सकता है!

कार्तिकी पूर्णिमा की बात है। गुलाबी सा जाड़ा पड़ रहा था लेकिन पंत जी महाराज चमड़े की जैकेट पहने हुए थे। मैं अपने ठंडे कपड़ों में था। मैंने कहा

'पंत जी, अचरज है कि पहाड़ी होने पर भी आपको इतनी सर्दी लगती है, मुझे देखिए पहाड़ी तो मैं हूँ।'

पंत जी बोले, 'तुम पहाड़ी नहीं हो, तुम पहाड़ हो, पहाड़ी मैं ही हूँ।'

शायद ही कोई अवसर उनसे मिलने का होता है जब मुझे उनकी हाजिर जवाबी का नमूना नहीं मिलता।

अपने स्वभाव और व्यवहार में वे पूर्ण परिष्कृत हैं। उत्तेजना की बात करते शायद ही मैंने कभी उन्हें सुना हो। एक दिन न जाने किसी बात पर मुझसे नाराज हो गये, बाद को बहुत दुखी हुए। खाना नहीं खाया। दिन भर उदास रहे और शाम को जब मुझे मना लिया तो उनका मन शांत हुआ। मेरी पत्नी उनके इस गुण पर मुग्ध हैं कि उन्होंने कभी खाने पर इंतजार नहीं कराया। कहीं गये हैं तो ठीक समय पर आ गये हैं, किसी कारणवश रुक जाना पड़ा है तो किसी से कहला दिया है। खाना नहीं खाना है तो पहले से बतला दिया है। मित्रों और परिचितों की भावनाओं का ध्यान तो उन्हें रहता ही है, अपरिचितों का भावनाओं को भी ठेस पहुँचाना उनको गवारा नहीं है। एक दिन हम दोनों ने किसी दूकान से कोई चीज खरीदी, मैं लौटाए पैसों को गिनने लगा। बोले, 'क्या पैसे गिनते हो, दूकानदार समझेगा मेरा विश्वास नहीं करते।'

अपने जीवन में वे आदर्शवादी हैं। शायद एक समय सभी आदर्श लेकर चलते हैं पर उससे अपने जीवन का मार्ग प्रशस्त होते न देखकर उन्हें छोड़ बैठते हैं। पंत जी का अनुभव भी शायद यही है कि आदर्शों को लेकर चलने में आज-कल की दुनिया में सफलता नहीं मिल सकती। पर असफल होकर भी उन्होंने अभी आदर्शों में आस्था नहीं खोयी।

———

श्रीसुमित्रानन्दन पंत

[फोटो—श्रीशांताराम। लीडर प्रेस के सौजन्य से प्राप्त]

अमृतलाल नागर

अब तो ज़माना बदल गया

सेठ बाँकेमल मेरे घुटने पर थपकी देते हुए बोले, "देखा भैयो, केवे है कि अम्मा को कहानी सुनाने से मैं कैसे कहानी लिखने लगता। और ऊपर से खी, खी, खी, खी, हँसे है। साला पढ़-लिख के अपने बाप को उल्लू बनाने है खुसकैट। ये नहीं जाने है कि मैं ऐसे न जाने कित्ते ऐसे विये फेलों को नित्ती घास चराऊँ हूँ। अबे मैंने खुद अपनी आँखों से देखा है वीर अभिमन्यू नाटक में। जब अभिमन्यू पेट में था सुसरा तो अर्जुन विसकी मैया को चक्रव्यूह भेदने का मंतर बताया करे था साब। लौंडा ऐसा हुस्यार निकला भैयो के माँ के पेट मेंई बैठे-बैठे विन्ने नौ महीने के अंदर सारा मंतर रट लिया। और फिर ऐसा व्यूह फाड़ा है म्हाराज के दुरजोधन और करन बड़े-बड़े बहादरों को सालों को खुसकैट करके धर दीना।... अहा आ। ऐसी सुसरी लड़ाई दिखायी थी नाटक में-के इत्ती बेरा भी विसका ध्यान करके जी खुस हो गया मेरा। नाटक में सुसरा सब सच्चा करके दिखा देवे हैं। क्या बात है साब नाटक की।

"एक बार बंबई से अल्फ्रेड कम्पनी आयी भैयो, वह हमलैट के लमलैट कुछ ऐसे ही नाटक दिखावे थी भैयो। विसमें हुआ क्या के लौंडे का बाप मर गया था, और विसकी साले की अम्मा ने दूसरा घर कर लीना। बड़ा खुसकैट हुआ साब लौंडा भी और विसका बाप तो यह देख के भैयो सरग में भूत हो गया। फिर तो वो-वो बातें हुई हैं कि जी खुस हो गया साला। और क्या क्या सुसरे काम करने वाले विस कम्पनी में, के तुमसे क्या कऊँ प्यारे। सीन-सीनरियाँ भी ऐसी गजब की तरकैट के लाख-लाख और दो-दो लाख रुपये की लागत आयी थी म्हाराज, एक-एक सीन-सीनरी में।

"बड़े-बड़े ठेठर थे भैयो, विस जमाने में। सूर विजय और अल्फ्रेड और कोराथिन और ऐसी ऐसी मजेदार कम्पनियाँ थीं कि जो साला एक भी खेल देख ले तो तबीयत मस्त हो जाय।.... पर प्यारे, एक बात कैवूँ तुमसे, इन सुसरे

नाटक फटक में भी वो बात नई जो अपनी भगत और नौटंकियों में है। एक एक भगत में मैयो, चार चार और पांच पांच हजार रुपये खर्च कर डालते थे हम लोग। मथरा जी से मंडली आवे थी म्हाराज। और ऐसा सुंदर राम होवे था के मालूम पड़े खुद सिरी किस्न जी अपने बाल गोपालों के साथ आये हैं। फिर बाद में काई सांगीत खेल हुआ करे था। राजा भरथरी, राजा गोपीचंद, सकरगढ़ सग्राम, लैला मजनूँ, भगत पूरनमल वगैरे बड़े-बड़े खेल थे सुसरे। ऐसे ऐसे चौबोले बोले थे, ऐसा कड़ड़धुम नगाड़ा बजा करे था के हाय प्यारे, अब तुझसे क्या कहूँ। हजारों की भीड़ होवे थी मैयो। हमारे चौबे जी नाटक फाटक के बदले भगत नौटंकी बड़ी पसंद करे थे।"

सेठ जी ने फिर पानदान सम्हाला और एक लम्बी सर्द आह भर कर बोले, "कुछ नई राम, दुनिया साली बड़ी फीकस हो गयी है अब। हम रसीकों के रहने काबल अब रही नई। अरे वो रंगीनियाँ और तरकैटियाँ ही अब नई रहीं तो हम लोग जी कैसे सकें हैं प्यारे। हाय, वो जमाने थे मैयो, कि तुझसे क्या कहूँ ! "

पान पर कत्था लगाना एक सैकिंड के लिए रुक गया। सेठ जी ध्यान करते हुए मुसकुरा उठे और धीरे से कहा, "भगत नौटंकी में मैयो, गोभियाँ सुसरी मौत कटा करे थीं। हम और चौबे जी रात रात भर ऐसे ऐसों को ही पकड़ा करे थे। भगत देखने के बहाने मौतों के सालों के चौचोंकार पूरे हुआ करे थे मैयो, किस जमाने में। और हमें सुसरा तिनों को पकड़ पकड़ के चपत लगाने में मजा आवे था। जहाँ कई कोई बारदात सुनी के किसी ने गोभी का फूल उड़ा दीना तो बस, पाँच गये साथ हम लोग। पकड़ के मरद के तो दो हाथ लगाये और औरत को पचास गालियाँ दीं के खुसकैट, तुझे सरम नई आवे है ! भले घर की बहू बेटी होके अपने बाप सुसर की नाक कटावे है साली। चल तेरा घर का है ! इत्ती जो कई मैयो तो सालियाँ पैरों पर गिर पड़ें थीं।

'पर अब तो जमानाई बदल गया सुसरा। आज कल की पढ़ी लिखी लौंडियाँ हमारी धौंस थोड़ी माने हैं। तो बात यह है मैयो, के वो साला बाईसकोप चला है न सनीमा, जिसमें रोज येई बातें बतायी जावें हैं। किसी भी साले फौकस के साथ आँखें लड़ा लीं और जो मा बाप, भला चाने वाले, मना करे तो तिनों की छाती पर सवार हो जावें हैं। गाने भी ऐसेई गाये जावे हैं के जगत् में प्रेम ही प्रेम भरा है। अबे साले जो सुसरा प्रेम भरा होता जगत् में, तो आज ये जो हिटलर-फिटलर, गाँधी-वाँधी बड़े बड़े तरकैट बहादर और म्हातमा दिखाई पड़े हैं वो भला कई दिखाई पड़ते मैयो ! प्रेम से कई पेट भरे है ! और कई ये आँखें लड़ाना प्रेम हुआ साला ! ऐसी तो मतें हो गयी हैं इस बाईसकोप के पीछे ! कोच्छु नई साला आईयोप

डेम फूल बाईसकोप। इस बाइसकोप ने ऐसी मतें बिगाड़ दी है लौंडे-लौंडियों की के हमारे म्हौल्ले में एक भले आदमी की जवान-जवान बेटी थी। विसे घर का सारा काम-काज और रामायन, महाभारत सिखाके ऐसी सलीकेदार बना दिया था कि तुझसे क्या तारीफ करूँ विसके माँ बाप की। बस भैयो, हुआ क्या कि एक दिन विसके बाप की सामत आयी। वो साब घर भर को बाईसकोप दिखाने ले गया। लौट के आयी म्हाराज तो पंद्रा दिन के अदर ही विन्ने म्हौल्ले में वो बाईसकोप कर दिखाया के बड़ी-बड़ी गरदनें नीची हो के रह गयीं म्हाराज। हुआ क्या भैयो के पड़ोस में एक लड़का रहवे था सुसरा अँग्रेजी की बीए-एमे पढ़े था। बस, विससे म्हाराज विन्ने ऐसा प्रेम जमाया साली ने, के पंद्रा दिनों बाद ही वो दोनों भाग गये साब। माँ बाप ने सिर ठोक लीना। खैर पुलिस-फुलिस में रिपोट कीनी और वो दोनों कानपूर से पकड़ के आये। लौंडिया ने भरी अदालत में कै दीना म्हाराज के मैं इस लौंडे से प्रेम करूँ हूँ। इसके बिना एक पल-छिन भी नईं जी सकती और इसके पीछे अपने माँ-बाप सालों को सफा फोक्स कर सकूँ हूँ। खैर साब वो लौंडिया थी सुसरी अठारा बरस की, बालिग हो गयी थी साली। अदालत ने छोड़ दीना भैयो। और क्या कर सके थीं अदालत बिचारी। थोड़े दिन तो वो अपने प्रेम के जोग में रये भैयो, फिर तबीयतें साली फौक्स हो गयी। अब वो लौंडिया तो रंडी हो गयी है और वो लौंडा अपने अलग मजा करे है।

"जो मैंने ये देखी तो तबीयत बड़ी खट्टी हो गयी बाईसकोप से। मेरे तो जी में ऐसी आवे है के साले बाईसकोप में आग लगा दूँ।

"एक बार भैयो ऐसेई मैं और चौबे जी बाईसकोप देखने गये। विसमें देखी क्या, के एक जवान जहान औरत अपना सारा बदन झलका के आँखें नचाती हुई गाना गा रई थी जमना जी में। और आसपास भैयो सैकड़ों आदमी सुसरे न्हा रये थे। और वो अपना खड़ी-खड़ी बेसरम-सी एक आदमी पे डोरे डाल रई थी। अब तूई बता घर की बऊ बेटियों को ये सब कुकरम दिखाने से वो बचेंगी या जायँगी?... ...कुछ नई भैयो जो होवे है सो सब ठीक ही होवे है..... इसी हमारे भारतवर्ष में औरतें सती होवें थीं, विनो को देवी मान के पूजें थे, अपनी इज्जत बचाने के लिए सुसरियाँ आग में जल के भसम हो जाया करें थीं। और अब ये जमाना आन लगा है।.... . नईं मैं जे नईं कऊ हूँ के पेले के जमाने में सब सुद्ध पवित्तर ही थे, ऐसी कोई बारदातें होवेंई नई थीं। होवें थीं पर सौ में दस पाँच, और सो भी बड़ी दबी-ढकी।

"अरे हमी लोगो ने क्या कुछ कम कीना?...पर नईं, भले घर की बऊ बेटियों पे आँच नईं आने देवें थे हम लोग। और वैसे अपना म्हाराज भगत नोटंकी भी

होवे थी, सैलें। घुटें थी, गाने बजाने हुआ करें ये गाने बजाने, ख्याल बाजी, सेर सायरी, सवैया और छद, सभी में आसक मासूकी का रंग रह्या करे था। और जिस जमाने में जो सेर सायरी हो गयी भैयो, सो क्या साके, आजकल के जमाने में होगी म्हाराज ? भागरंग छान के मजे में बगीची में पड़े हुए लहरें लेवें थे, और कैसा कैसी सेर सायरी होवे थी के हाय हाय। एक ने छेड़ दीनी, दूसरे ने म्हों ताड़ के जवाब दीना। इसमें जिंदगी का सच्चा लुतफ आवे था भैयो। एक बार म्हाराज चिचपुरी की बगीची में बड़े बड़े दिलदार आदमी जमा हुए थे भैयो। एक ने कई :—

'इस्क लगा है जब से मन में चैन गया आराम गया
दिल का जाना ठैर गया है, वो भी साला सुबे गया या साम गया'

"चौबे जी इसपे तड़प के बोले अबे जा साले। ऐसी भी आसकी मासूकी सुसरी किस काम की के चैन आराम और दिल सब फौकस कर दीना। अबे खुसकैट, मैं कैसा आसक हूँ जरा सुन ! कही है : —

जब से मैं आसक हुआ हूँ उस बुते बे पीर का
और, बादसा मैं बन गया हूँ इस्क की जागीर का'

"पुकार पड़ गयी भैयो। लोगों ने कई दीनी के हाँ चौबे जी आसकी हो तो ऐसी हो। इसपे एक बोला, के ऐसी आसकी के लिए कोई मासूक भी चोखा चइए। दूसरे ने आवाज फेंकी हाँ, वैसा, जरा बतैयो। आगे बढ़ आये और उसने अवाज फेंक के कई :—

'क्या निजाकत है कि आरिज उनके नीले पड़ गये,
और, हमने तो बोसा लिया था ख्वाब में तस्वीर का।'

"बड़ी बेढब सेर थी भैयो। इसका तोड़ किसी के पास नहीं होगा। गुरु लोगों ने ताना कसा, 'हाँ बांकेमल, देखो कैसी निजाकत है, अब इसके आगे तुमें कोई निजाकत नई मिल सकेगी सुसरी। हद कर दीनी है मेरे गैंडे ने।'

"मैंने कई अबे जे भी कोई नजाकत में नजाकत है। तिरे सालों ने तो ख्वाब में तस्वीर का बोसा भी ले लीना था, पर मेरा मासूक तो ऐसा दिलावर निजाकत वाला है के कई है : —

'क्या निजाकत है कि वो कुम्हला गये बस एकदम,
अरे हमने था रक्खा हसीनों का रजिस्टर धूप में।'

"दूसरी पाल्टी वाले बड़े झल्लाये भैयो, के ये दोनों मिल के ऐसे तोड़ पे तोड़ देके चले जा रये हैं के कोई जवाब ही नई सूझे है सुसरा। खैर, तिजे केई के देखबे, हम कैसे आसिक हैं जो सुसरे तीरे नजर से घायल होवे हैं। साले अंग्रेजों की तरह नहीं कि तोप बन्दूक से घायल होवें। सुनो जी, कई है :—

'आँख मिलने का बस एक बहाना हुआ,
और दिल तीरे नजर का निशाना हुआ।'

"चौबे जी ने डाँट बतायी। अरे क्या साले तीर-तलवार लेके आशकी-माशूकी करने चला है? अबे :—

'एक झुड़की में गिरे दोनों जमीं पर तड़ से
और यार की तलवार की ऐसी - तैसी।
अबे साले, कौन झंझट में पड़े, तेरी
और तेरे साले यार की ऐसी - तैसी॥'

"हाँ बाँके, जरा प्यारे कोई तरकेटीदार ख्याल-फयाल तो सुनइयो। मैंने कई के हाँ चौबे जी, ऐसी सुनाऊँ प्यारे के सेर सायरी और कवित्त दोनों का मजा आ जाय एकी में। आधी फारसी और आधी नागरी का ख्याल सुनाऊँ हूँ। जरा सुनो। यह के के मैं ने सुनाई भैयो।

'हो जिस पे फिदा गुलहाय चमन
देखी स्याम बरन एक कामिनिया
आरिज हैं फरेब दिल माहे फलक
लट झूम रही जैसे नागिनिया
वह अबरू मिस्सी दन्दाँ की चमक
घन बीच दमके जैसी दामिनिया
गेसू में फँसा है लतायरे दिल
चंचल मिर्ग नैनी कामिनिया।..........जी॥'

"और इसके आगे कवित्त कई भैयो के :—

'सावन की बहार है फुहार पड़े झीनी सी
गुलजार है चमन और पुकार रहे मोरा है
ऐसे में नार एक कीने सिंगार सोलै
लेके सितार मार लूटा दिल मोरा है
हो गये मिसमार यार पूछो मत हाले दिल
इस्क है सवार चैन रात है न भोरा है
भनै चौबे पारसनाथ बांकेमल प्यारे सुनो
लेना बैराग मोरा राजपाट तोरा है।'

'ऐसा फक्कड़ कवित था के लोगों ने उठ-उठ के गले से लगा लीना और कही कि प्यारे ऐसी कविताई कोई नई कर सके है।"

" तो ऐसे जमाने ये भैयो। हमारी लोगों की तो ऐसी कटीं सारी उमरें। जिंदगी भर चौबे जी के साथ मजे काटे और अब तो भगवान से जेई मनाऊँ हूँ के परमेसर अब तू मुझे भी चौबे जी के पास ही भेज दे। ये खुसकैटिया मुझसे देखो नहीं जाय हैं भैयो। जिंदगा फीकी हो गयी चौबे बिना .. तुमसे सच्ची कऊँ हूँ।"

उनकी लंबी साँस के साथ ही साथ मैंने भी एक लंबी साँस छोड़ी। घड़ी पर नजर डाली और बोला, "नहीं चाचा जी, आप अपने दिल को इतना छोटा न करें, आपकी सेवा करने के लिए हम सब लोग हैं ही। और आप तो अब घर में बैठकर राम भजन कीजिए। अच्छा, तो अब आज्ञा दीजिए, किसी दिन फिर आके आपके दर्शन करूँगा। मेरे लायक जो कुछ भी काम-काज हो वह बताइयेगा।"

सेठ जी बड़े प्रेम से मेरी पीठ पर हाथ फेरते हुए बोले, "मेरा काम काज तो भैयो, येई है के अपने को खुस रक्खो। सदा मौज से रओ। खुसकैटी में मजा नईं है प्यारे एक दिन चलो मेरे साथ राजघाट पे ठडाई-फडाई छानी जाय। चौबे जी मरे जब से, सुसरी कोई सैल ही नईं हुई। तुझे देखूं हूँ तो चौबे जी की याद आवे है भैयो तू जब छोटा सा या तो चौबे जी तुझे गोदी में लेके आया करे थे हमारे घर। अच्छा भई बस, मेरी तो येई दुआ है प्यारे, के मौज करो, भगवान तुम सबको सुखी करे। नेक पान तो खाते जाओ भैयो। ऐसी भी सुसरी क्या जरूरी है घर जाने की। जा'से जवानी के तो माने ये हैं प्यारे, कि मौके के मौके थोड़ा सबूरी भी चाहिए भैयो। क्या समझा!"

सेठ जी हँसते हुए पान लगाने लगे। लल्लू से दुकान बढ़ाने के लिए कहा। पान देते हुए मुझसे बोले, "भैयो, अब हम भी पके पान हैं प्यारे, आज हैं तो कल नईं। पर जी में कोई अरमान नईं रै गया। और सच्ची पूछो तो जिंदगी के माने भी यही हैं। एक सायर ने कई है :—

जिंदगी जिंदा दिली का नाम है
और मुरदा दिल खाक जिया करते हैं।

अच्छा जीते रहो, मौज करो।"

———

हरदयालु सिंह

बाबा

तन पर रामनामी, माथे त्रिपुंड और मुख पर ये बोल

राम नाम लड्डू गोपाल नाम घी।
हर का नाम मिसरी तू घोल-घोल पी ॥

ऐसे उन बाबा गंगादास जी को दूर ही से पहचाना जा सकता है। अवस्था तो ठीक उनकी नहीं मालूम किंतु वृद्ध उनके शरीर पर कमर अभी सीधी, और सफ़ेद चिट्टे बालों में लाल गोरे चेहरे पर आँखें चमकदार हैं। कहना न होगा कि हृष्ट-पुष्ट वह बूढ़े बाबा अभी कितने जवानों से भी जवान दीखते हैं।

किंतु वह गंगादास ही नहीं, जमनादास भी हैं। नित्य सवेरे उन खड़ाउओं पर जो घिसते-घिसते अवशेष-मात्र रह गयी हैं, करताल-सी बजाते वह जमना जी पहुँच ही जाते हैं, कौन जाने उनका वहां जाना भक्त लोगों को अच्छा भी लगता है कि नहीं। कारण कि वह न कोई आसन लगाते हैं न मुद्रा सवांरते हैं और न कोई जप न पाठ ही। ढंग-बेढंग तरीके से वह बस पुकारा करते हैं—

राम नाम लड्डू गोपाल नाम घी।
हर का नाम मिसरी तू घोल-घोल पी ॥

और रास्ते भर ऐसे ही पुकारते चलते हैं। फिर, लड्डू घी-मिसरी ही से वह संतुष्ट हो जाते हों, यह भी नहीं। मीठे के साथ उन्हें नमकीन भी चाहिए। इसलिए रास्ते में उन्हें यदि वह बुढ़िया मालन मिल गयी तो उसे उसकी मौत का शुभ संदेश सुनायेंगे और वह 'मरे तेरा बाप, तेरी मां, तेरा दादा, तेरी दादी' सात पीढ़ी पीछे तक गिना जायगी। आगे मिलेगा रज्जू— पाँच-सात साल का वह शैतान छोकरा—तो उसे लेंगे 'क्यों रे तेरी मां जो भाग गयी थी क्या आ गयी'—'उल्लू, सूअर, गधा, पाजी' न-जाने क्या-क्या सुनाकर पंडित जी का वह पेट फुला डालेगा। यह सब होता है और पंडित जी याद आते ही फिर उसी टेक पर—

राम नाम लड्डू गोपाल नाम घी।
हर का नाम मिसरी तू घोल-घोल पी ॥

मतलब यह कि यात्रा पूरी होते होते वह सभी रसों का आस्वादन कर लेते हैं और तो और—संयोग से कहीं चमनो मेहतरानी ही उस गली में बुहारती यदि मिल गयी तो उसे भी 'देवर की राम राम' दिये बिना नहीं छोड़ते और उस बेचारी को 'जाओगे भी' कह घूंघट खींच लेने के सिवा कभी कोई उत्तर नहीं सूझता।

बाबा मस्त-मौजी हैं किंतु काम काजी भी। यमुना जी से लौटे तो उस छोटी कोठरी में, जहाँ उनकी रसोई गुसलखाना और बैठक सब कुछ है, ले सरल कुछ न-कुछ कूटने छानने बैठ जाते हैं। देर नहीं होती कि कुछ बच्चे, बच्चे वाले और बच्चे वालियाँ आ उनके चारों ओर इकट्ठा हो जाते हैं। बाबा तब वैद्य बन जाते हैं। चुटकुले तो उन्हें जो याद हों सो हों, पर 'उनके हाथ की जस है' ऐसी कुछ धारणा आसपास वालों की है। सचमुच कभी कभी तो अच्छे वैद्य डाक्टरों की जहाँ नहीं चलती, उनका लटका चल जाता है। इससे बड़े-बड़े घरों तक उनकी पहुँच हो जाती है। कुछेक के तो वह बाबा ही हैं। आज कोई, कल कोई कथा कहानी के नाते उन्हें बुला ही बैठता है और इसलिए कभी वह पकाते हैं—कभी नहीं। रहा धोती दुपट्टा वह भी आ ही जाता है। यों समझिये कि उनके पास कुछ नहीं रहता और सब कुछ रहता है। बाबा बावले नहीं, सचमुच बड़े चतुर हैं।

किंतु बाबा का परिवार! वह कहना भूल ही गये। उनका एक लड़का है—बड़ा कारोबारी और कुशल। पर वह अलग रहता है। बाबा की उससे नहीं पटती। पटे भी कैसे! एक दिन वह आया उनके पास अपने किसी संकट को लेकर। अवश्य ही जिनसे अटकी थी, बाबा तनिक संकेत करते तो सब ठीक हो जाता। किंतु वह हँस दिये और बोले—

राम नाम लड्डू गोपाल नाम घी।
हर का नाम मिसरी तू घोल घोल पी॥

वह चला गया और बाबा उसी प्रकार रटते रहे।

राजेन्द्रप्रसाद सिंह

दो गीत

१. शरद्-गीत

शरद की स्वर्ण किरण बिखरी।
दूर गये कज्जल घन श्यामल
अम्बर में निखरी।
शरद की स्वर्ण किरण बिखरी।
मंद समीरण, शीतल सिहरन, तनिक अरुण द्युति छाई,
रिमझिम में भींगी धरती यह चीर सुखाने आई,
लहरित शस्य-दुकूल हरित, चंचल अंचल पट धानी,
चमक रही मिट्टी न, देह यह दमक रही नूरानी,
अंग-अंग पर धुली-धुली,
शुचि सुंदरता सिहरी।
राशि-राशि फूले फहराते काश धवल वन-वन में,
हरियाली पर तोल रही उड़ने को नील गगन में,
सजल सुरभि देते नीरज मधुकर की अबुझ तृषा को,
जागरूक हो चले कर्म के पथी लक्ष्य दिशा को,
लेकर नई स्फूर्त्ति कण-कण पर,
नवल ज्योति उतरी।
मोह-घटा फट गई प्रकृति की, अंतर्व्योम विमल है,
अंध स्वप्न की व्यर्थ बाढ़ का घटता जाता जल है,
अमलि सलिला हुई सरी शुभ स्निग्ध कामनाओं की,
छू जीवन का सत्य, वायु बह रही स्वच्छ साँसों की,
अनुभवमयी मानवी-सी यह,
लगती प्रकृति-परी।
शरद की स्वर्ण किरण निखरी।

२. दीपावली में

गा मंगल के गीत सुहागिन चौमुख दियरा बाल के।
आज शरद की साँझ अमा के इस जगमग त्योहार में—
दीपावली जलाती फिरती नभ के तिमिरागार में,
चली होड़ करने तू, लेकिन भूल न,—यह संसार है
भर जीवन का थाल दीप से, रखना पांव सँभाल के।
सम्मुख इच्छा बुला रही, पीछे संयम स्वर रोकते,
धर्म-कर्म भी बायें दायें रुकी देखकर टोकते,
अगजग की ये चार दिशायें तम से धुँधली दीखतीं,
चतुर्मुखी आलोक जला ले स्नेह सत्य का ढाल के।
दीप-दीप भावों के झिलमिल, और शिखायें प्रीति की,
गति मति के पथ पर चलना है ज्योति लिये नव रीति की,
यह प्रकाश का पर्व अमर हो तम के दुर्गम देश में,
चमकें मिट्टी की उजियाली नभ का कुहरा टाल के।

देवराज

सृष्टि-सूक्त

(रुबाइयाँ)

सत् न था, असत् भी न था, अवनि-जल-वात न थे,
तम न था, उजेला न था, कहीं दिन रात न थे;
कैसा अद्‌भुत वह समय रहा होगा साथी
तुम न थे, न थे हम, कहां घात-प्रतिघात न थे!

२

कहते हैं था उस समय समय भी नहीं कहीं,
रवि नहीं, नखत-शशि नहीं, उषा औ' साँझ नहीं;
जागृति सोई थी और नींद भी सोती थी,
जगता था केवल घनीभूत-सा 'नहीं' कहीं!

३

पोले अजगर-सा पड़ा हुआ निस्पंद मीत
शीतोष्णहीन जग था निश्छल-निर्द्वंद्व मीत;
कहते हैं कोई 'एक' साँस भी लेता था
निज स्वधा-शक्ति से क्योंकि हवा थी बंद मीत!

४

तम था तम से आच्छन्न! मृत्यु से ढका मरण,
निश्चेष्ट पड़ा था कहीं अतल में परिवर्त्तन;
थी प्रकृति? पुरुष? या निस्तरंग निष्प्रभ विद्युत!
किस भाँति 'एक' में भेद-बीज का हुआ वपन?

५

कितना तीखा था प्रथम 'काम' का वह कंपन,
कितना गहरा सत-रज-तम का वह आलोड़न;
जो शून्य-बीज से निकल पड़ा जग-महाविटप,
शाखाएँ जिसकी लोक, पत्र रवि-शशि-उडुगण?

६

यह अंबर का विस्तार, सिंधु की कुक्षि गहन
ये महाशैल, नद नदी, दीर्घ पटपर कानन
कब कैसे किससे निसृत हुए होंगे साथी
कितने भय विस्मय से भर किस दर्शक का मन !

७

विद्युत्सर्पों की तमक तड़पती मालाएँ,
ये इंद्र धनुष के चित्रों की घन शालाएँ,
किसने निर्मित कीं ! ढाल गया नभ प्याले में
रे कौन उषा संध्या का रश्मि हालाएँ !

८

नीलिमा कि सारे अंबरतल में व्याप्त हुई,
लालिमा, कल्पशत के प्रातों को प्राप्त हुई,
किस बृहत् खोह के अंतर से निकली साथी
कालिमा करोड़ों रातों में न समाप्त हुई !

९

रवि के वे अगणित सुबरन पुंखित किरण तीर,
उन रौप्य तारकों की वह नभ में महाभीड़
वासना तरंगों के असंख्य रे श्वेत नील
ले जिन्हें जलधि का ओर नदी आती अधीर।

१०

जग का द्युतिकोषागार जटित ज्योतित खगोल
महदादि तत्त्व तोलन का यह भू बाट गोल,
किस महागर्भ से निकल सके होंगे साथी
सीमा रेखाओं के सब बंधन तोड़ खोल !

अन्टोनियो बाल्डीनी

पलायन

एक व्यक्ति ने चाँद तक पहुँचने का उपाय खोज निकाला। लेकिन चाँद में पहुँचते ही उसके भीतर पृथ्वी पर लौटने की ऐसी उत्कट लालसा जगी कि उसे और कुछ भी देखने या जानने की इच्छा न रही और उसने तुरंत अपनी मशीन को पीछे को चला दिया।

वापस घर पहुँच कर वह अपने झरोखे पर कोहनी टेक कर बैठ गया और चाँद की ओर देखने लगा। नगर के गुंबदों, छतों और मीनारों पर चाँदनी बिछ रही थी।

वह सोचने लगा—वहाँ जाने के लिए इतना यत्न करना और फिर कुछ देखे बिना लौट आना? वर्षों तक सब कुछ छोड़ कर इसी एक धुन में रहना कि वहाँ तक पहुँचने के लिए क्या युक्ति की जाय और फिर ठीक सफलता के क्षण में भाग खड़े होना! जीवन की सब सभावनाओं और अवसरों को छोड़ देना, दूसरों के और स्वयं अपने प्रति सब कर्त्तव्यों को भुला देना; सबसे नाता तोड़ कर अपने ही समाज में ऐसा पराया हो जाना कि सब मुझे पागल समझने लगें; स्वय अपने लिए जीवन को सर्वथा असह्य बना लेना; और अत में, असाध्य समझी जाने वाली कठिनाइयों को पार करके, पदार्थ और प्राणीमात्र पर विजय पाकर बिना घटना के, बिना टूट-फूट के, बिना बाधा के सारी यात्रा पूरी कर लेने के बाद, ठीक जिस समय सब कुछ इतना सरल और सुकर हो गया था, उस समय ऐसे घबरा कर पलायन कर जाना—हद है......हद है।......

* * *

वह याद करने लगा कि यह घटना कैसे हुई थी:

मेरे धरती पर—बल्कि चाँद पर—पाँव रखते समय मुझमें अभी शक्ति और उत्साह भरा हुआ था और मैं चाहता तो अपना सफ़र जारी रखते हुए सूर्य तक भी चला जा सकता था—बिना कष्ट या क्लांति के। मैं हँसा, गाया, पागलों की तरह चिल्लाया—शायद मैं बहुत अधिक उत्तेजित हो गया था, तभी भीतर कहीं

कुछ टूट गया। वास्तव में मैं जैसे ही मशीन से बाहर निकला, मेरा सारा उत्साह समाप्त हो गया, मेरी कर्म प्रेरणा नष्ट हो गयी। मैंने अपने को बाध्य करने की—अपने विचारों को किसी सूत्र में गूथने की—व्यर्थ चेष्टा की।

क्षण भर में मेरे मन के भीतर किसी विस्फोट से मेरे विचार मानों छिन्न-भिन्न होकर बिखर गये, मेरा हृदय नाना दुश्चिन्ताओं और निराधार भावनाओं से घिर आया जो कि मेरी तब तक की जीवन या विचार परिपाटी के लिए सर्वथा अपरिचित और अनपेक्षित थीं। सदया पढ़ाई और आँकड़ों में डूबे रहने के कारण मैं जीवन की साधारण सुविधाओं और तृप्तियों के प्रति लगभग उदासीन सा रहता था—बल्कि मेरी इस खोये रहने की आदत के कारण ही मेरा नाम 'प्रोफेसर मेघहबर' पड़ गया था।

तो चाँद में पहुँच कर पहली चिंता मुझे यह हुई कि मैं सामने का फाटक बंद कर आया था या नहीं और रसोई के स्टोव में मैंने गैस बंद कर दी थी या नहीं! फिर एक दूसरी और बहुत ही उद्वेगकर चिंता ने आ घेरा—मैं बैरे और दाढ़िये के लिए कुछ बख्शिश नहीं छोड़ आया। फिर मुझे याद आया, चलने से पहले मैंने जो चिट्ठी डाक में छोड़ी थी उस पर शायद टिकट नहीं लगाये थे। फिर यह याद आया कि एक टैक्स देने की मियाद उसी दिन पूरी हो गया थी। इस सब से (चाँद में!) मैं बहुत उद्विग्न हो उठा। इतना ही नहीं, इन सब चिंताओं के बीच में मेरी कल्पना को और भी नई स्मृतियाँ—स्पष्ट मूर्तिमान और तीखी स्मृतियाँ—विद्ध करने लगीं। मेरे घर के आसपास की छोटी छोटी चीजें जिनके बारे में मैंने कभी नहीं सोचा था कि उनकी छाप मेरी स्मृति पर इतनी स्पष्ट और गहरी पड़ी होगी दीवार पर लिखा हुआ कोई शब्द, एक दुकान की सजावट, अधखुली झिलमिल के भीतर से शमीज पहने हुये एक मोटी स्त्री की छाया, सामने की छत की रेलिंग पर पड़े सड़ते हुए नींबू के छिलके, घरों की चिमनियों के ऊपर मँडराता हुआ वाताव रण फिर मेरे नासापुट प्याज के साथ पके हुये माँस की चिरायंध से भर उठे। आसपास देखकर अपने को यह समझाने से कोई लाभ नहीं हुआ कि 'जरा सोचो तो, तुम हो कहाँ!' जो मैं देख रहा था उसमें मुझे न केवल दिलचस्पी ही न थी, बल्कि मैं यह भी नहीं कह सकता कि मैंने उसे देखा भी। धुँधला सा याद पड़ता है एक मूर्च्छित उप काल की धुँधली रोशनी में बिना पेड़ और घरों की एक पथरीली घाटी दृश्य आकर्षक या उत्तेजक बिल्कुल नहीं था, फिर भी मुझे उससे आनंदित होना चाहिए था क्योंकि महीनों से मैं चँद्रमा के इससे भी कम प्रीतिकर दृश्यों के लिए छटपटाता रहा था। लेकिन सब व्यर्थ। यह चिरायंध न केवल मेरी अँतड़ियों को बल्कि मेरी दृष्टि को भी उद्विग्न कर रही थी। चँद्रमा के वातावरण में हलकी सी कार्बाइड की गंध थी, लेकिन उस समय मेरी घ्राणेंद्रिय इससे सर्वथा भिन्न

किसी गंध के लिए लालायित थी। और जिन गंधों के लिए मैं उस समय सबसे अधिक तरस रहा था, उनमें इस समय कहने में मुझे स्वयं ही विश्वास नहीं होता — थीं प्रेस से ताज़े छपे हुए अख़बार की गंध, तंदूर की ताज़ी सिकी हुई नान की गंध, तपी हुई तारकोल की सड़क की गंध, सद्यः सुप्तोत्थित नारी की गंध, धूप में जुटी हुई भारी भीड़ की गंध। मैंने हज़ारों बार घोषित किया कि मुझे पुरुषों और स्त्रियों से—मानव जाति मात्र से—घृणा है, किंतु उस समय सहसा सामाजिक अथवा लोक संसर्ग के आनंद की लालसा मुझमें प्रबल हो उठी। वहाँ बिताये हुये उस आध घंटे के समय में मैं अपने को लोगों की भीड़ में घिरा हुआ पाने के लिए तरस गया। अगर मैं उस समय किसी तरह अपने को किसी कहवाघर की हरी गद्दीदार कुर्सी में रविवारों की तीसरे पहर की भीड़ में पा सकता जबकि लोग किसी मेज़ के ख़ाली होने की प्रतीक्षा में खड़े रहते हैं तो इस सुख के लिए मैं आकाश-गंगा के सारे तारे लुटा देता। मैंने चाहा अपने को झकझोर कर सम्हाल लूं किंतु व्यर्थ; यत्न किया कि अनुसंधान के लिए पहाड़ की ओर जाने वाले रास्ते पर क़दम बढ़ाऊँ किंतु व्यर्थ। एक स्वर ने कहा, "बस" वह मेरा ही स्वर था लेकिन उस समय मुझे इतना ऊँचा और तीखा जान पड़ा कि मैं डर गया। चंद्रमा के वायुमंडल में स्वयं अपना स्वर ऐसा हो जाता है कि सुन कर धमनियों में रक्त जम जाय! मैंने एक बार फिर पहाड़ का रास्ता लेने की चेष्टा की। "मैंने कह दिया बस; चलो घर चलें।" मेरी गति जड़ हो गयी। कोई चारा नहीं था मैं अपने आपको कंधों पर लाद कर या कि घकियाता हुआ तो आगे ले जा नहीं सकता था। जल्दी से जल्दी पृथ्वी को लौटने की उत्कंठा इतनी तीव्र हो उठी कि मेरा शरीर थर-थर काँपने लगा। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि अगर मैं तत्काल न चल पड़ूँगा तो उस लालसा के भीतरी दबाव से फट कर उन ठंडी चट्टानों में बिखर जाऊँगा।

× × × ×

लेकिन उस व्यक्ति के पास अपने ही प्रश्न का कोई उत्तर न था। वह घर छोड़ कर नगर की सड़कों पर भटकने निकल पड़ा। रात ठंडी थी। सड़कों पर सन्नाटा था। एक कहवाघर के सामने से गुज़रते हुए वह रुका फिर तनिक गर्माई की आशा में भीतर घुस गया। उस दिन पैंठ रही थी, इसलिए कहवाघर में अब भी किसान, गाड़ीवान, दलाल, आबकारी के गुरगे, इत्यादि भरे हुए थे। मेज़ों के आस-पास गाहक खड़े थे और नीचे कुत्ते जम्हाइयाँ ले रहे थे। कोई ताश खेल रहे थे, कोई तंबाकू पी रहे थे, कोई बहस करते हुए गिलास खनखनाते और फ़र्श पर थूकते जाते थे। एक ग्रामोफ़ोन भी शोर मचाने में पूरा योग दे रहा था। शराब और चुरूट के धुएँ, किसानों और गीली लकड़ी की गंध से दम घुट रहा

था। चद्रमा से लौटे हुए पलातक ने एक रूखी मुस्कराहट के साथ अपने आपसे कहा, 'तो इसी स्निग्ध ताप के लिए आप छटपटा रहे थे! अब लीजिए मजा इसका!'' वह उसे सह नहीं सका और बाहर निकल आया। आकाश में अप्रतिम निर्मल चद्रमा चौक के पेड़ों और छज्जों पर अजस्र चाँदनी बिखरा रहा था। चद्रमा का शुभ्र चेहरा एक मोती के से प्रभामंडल से घिरा हुआ था पलातक ने सहसा जाना, उसकी गालें आँसुओं से भीग गयी हैं और एक शीतल स्पर्श उस के हृदय को छू गया है। चद्रमा की ओर मुँह उठाये हुए वह सड़क की पटरी से ठोकरें खाता और लड़खड़ाता चौक के पार हुआ और जिस गली में चाँदनी सबसे साफ थी उसी गली में चक्कर काटने लगा। चाँद का उज्ज्वल चेहरा देखकर और यह सोचकर कि वह वहीं हो आया है, उसे न जाने कैसा लगने लगा—मानो उसका घर तो वहीं चाँद में है अब

कल कल पुकारती हुई नहर के साथ साथ चलते हुए उसने सहसा अपने को नगर की दीवार के बाहर पाया। एक कुत्ता चाँद की ओर मुँह उठा कर रोने लगा। बेवकूफ कुत्ता—रोने की भला कौन सी बात है! चाँद हवा में सिहरते हुए सफेदे के पेड़ों के ऊपर शांत गति से तिरता हुआ चला जा रहा था। वह मोतियों का प्रभामंडल अब नहीं था, चाँद का मुखड़ा चाँदी के मुकुर सा स्वच्छ चमक रहा था। पलातक ने देखते हुए पहचाना, दाहिनी ओर दो धब्बों के बीच में जो बिंदु है वहीं पर वह उतरा था। उस स्थान की ओर देखते हुए वह उत्तेजित हो उठा, उसका शरीर पुलकित हो आया। 'अभी कल मैं वहाँ था'

भटकता हुआ वह फिर अपनी ही गली के सामने आ निकला। उसके घर के सामने के द्वार पर चाँद का पूरा प्रकाश पड़ रहा था जिसके कारण पहले कभी उसी मकान में रहे हुए एक सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक की स्मृति म लगाया हुआ फलक द्वार पर चमक उठा था। पलातक क्षण भर रुक कर उसे निहारता रहा फिर एक लम्बी साँस लेकर जेब में अपनी चाभियाँ टटोलने लगा। एक एक करके उसने सभी जेबें छान डालीं, चाबी उसके पास नहीं थी और घर में भी कोई नहीं था। नौकरानी मानिका अपना काम करके घर चली गयी होगी। अब क्या किया जा सकता है! कुछ नहीं। गली के दूसरे छोर से किसी शराबी का गाना हवा पर बहता हुआ धीरे धीरे पास आ रहा था

और अब चाँद मानो अपने से बच कर भागे हुए पलातक से कह रहा था, "देखा तुमने! क्या यहीं मेरे पास रह जाना अच्छा न रहा होता! अब भला तुम क्या करोगे—चाबियों के बगैर! अब भी मेरी बात मानो लौट आओ।"

समीक्षा

गिरती दीवारें

[लेखक—उपेन्द्रनाथ 'अश्क'; प्रकाशक भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद; पृष्ठ संख्या ५८५; कपड़े की जिल्द; मूल्य सात रुपया ।]

१ 'हिंदी की यथार्थवादी परंपरा का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास'

शिवदानसिंह चौहान

श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का उपन्यास 'गिरती दीवारें' लगभग छः सौ पृष्ठों का एक वृहद् उपन्यास है। स्वर्गीय प्रेमचंद के 'गोदान' के पश्चात् हिंदी में लघु उपन्यासों की प्रथा रही। अधिकांश उपन्यास दो-तीन सौ पृष्ठों से आगे नहीं बढ़ सके, केवल 'अज्ञेय' का उपन्यास 'शेखर—एक जीवनी' ही एक वृहद् उपन्यास इस बीच प्रकाशित हुआ है। उसके दो भाग निकल चुके हैं, तीसरे भाग की प्रतीक्षा की जा रही है। परंतु 'शेखर—एक जीवनी' मनोवैज्ञानिक उपन्यास है, और यद्यपि उसकी शैली अत्यंत परिष्कृत और उसकी टेकनीक अति आधुनिक है, परंतु मूलतः वह एक रोमांटिक उपन्यास है। इस के ठीक विपरीत 'गिरती दीवारें' मूलतः एक यथार्थवादी उपन्यास है, पर इस व्याख्या से उसका मूल्य 'शेखर' से किसी भी अर्थ में कम नहीं है, क्योंकि 'गिरती दीवारें' की शैली और टेकनीक भी इतनी सुगठित, सुष्ठ, परिष्कृत और कला-पूर्ण है कि निर्विवाद रूप से यह कहा जा सकता है कि प्रेमचंद के 'गोदान' की यथार्थवादी परंपरा में 'अश्क' का यह उपन्यास एक बहुत बड़ा और साहस पूर्ण कदम है। सम्भवतः इस कथन में अत्युक्ति नहीं है कि 'गिरती दीवारें' हिंदी की यथार्थवादी परंपरा के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों में गणना करने योग्य है। प्रेमचंद के 'गोदान' ने यदि किसान जीवन का सांगोपांग चित्रण किया है तो 'अश्क' ने 'गिरती दीवारें' में निम्न-मध्य वर्ग के जीवन का व्यापक चित्रण किया है। 'गिरती दीवारें' वस्तुतः निम्न-मध्य-वर्ग के युवक चेतन की जीवनी है। चेतन 'अज्ञेय' के उपन्यास के नायक शेखर की तरह

अभिजात कुल का नहीं, अतः वह प्रारंभ से ही अपनी वंशानुगत अथवा जन्म-जात प्रतिभा की प्रखर चेतना से आक्रान्त नहीं है कि सोते जागते अपने मन में अपनी प्रतिभा की माला फेरता रहे कि मैं प्रतिभावान हूँ, असाधारण हूँ। चेतन ऐसे साधारण, असंस्कृत और रूढ़ि जर्जर परिवार में पैदा हुआ था जहाँ चीकने पात वाले होनहार बिरवा भी जीवन की दुर्दम्य विषमताओं के वश, आतप, घाम में रूक्ष और धूल-धूसरित दिखाई देते हैं। इस कारण शेखर की तरह अपने जीवन की अधिकांशतः अनुकूल परिस्थितियों पर शासन करके लोगों से प्रतिभा की महत्ता स्वीकार करा लेने की समस्या चेतन को उद्वेलित नहीं करती। वह सब से पहले जीना चाहता है और जीने के लिए विपरीत परिस्थितियों से संघर्ष करता है और इस संघर्ष के दीर्घ पथ पर साहस पूर्वक चलने के क्रम में वह अपनी प्रतिभा को कठोर अनुभवों की शिला पर टकरा टकरा कर उसे तीव्रतर और उत्तरोत्तर अधिक मानवीय, सामाजिक और व्यापक बनाता जाता है। इसी कारण 'अश्क' के उपन्यास में न लम्बी चौड़ी सैद्धान्तिक बहसें हैं, न मतामत का प्रचार, न मिथ्या दार्शनिकता का ढोंग--उसमें साधारण घटनाओं से बना साधारण जीवन अपने संपूर्ण सजीव वातावरण की रूप रस गंधमय चित्रात्मकता के साथ प्रतिबिंबित हो उठा है, यही उसकी विशेषता है।

यों कहने के लिए 'गिरती दीवारें' की समस्या पुराने ढंग के अनमेल विवाह से उत्पन्न जीवन के दुर्निवार असामंजस्य की समस्या है, परन्तु वास्तव में 'अश्क' ने अपने को इस समस्या तक ही सीमित नहीं रखा है, 'गिरती दीवारें' का प्रत्येक वाक्य वर्तमान जीवन की विषमता की विचित्रता का रहस्योद्घाटन करता है और आज के संपूर्ण जीवन को अगणित समस्याओं की एक जटिल ग्रंथि के रूप में उपस्थित करता है—एक ऐसी ग्रंथि के रूप में जो अपनी जर्जरता को छिपाने के लिए अधिकाधिक निर्मम, कठोर और हिंसक बनती जा रही है, पर साथ ही जीवन के उद्दाम गति वेग और अविराम परिवर्तन के थपेड़े खाकर जिसके बंधन असह्य वेदना, गहरी निराशा और मानसिक उद्विग्नता पैदा करके टूटते जा रहे हैं।

इस विशाल रूपक को 'अश्क' ने चेतन की अपेक्षाकृत साधारण पर अशिष्ट जीवनी में अत्यंत कलात्मक ढंग से आबद्ध किया है।

गरीब निम्न मध्य वर्ग में उत्पन्न चेतन किसी प्रकार बी० ए० पास कर लेता है। काव्य और साहित्य के प्रति उसकी सहज रुचि है और स्वयं कवि और लेखक बनने की आकांक्षा भी उसमें जग चुकी है। उसके घर का जैसा कटुता-पूर्ण वातावरण है और बाहर जीवन जैसा कठोर और दुर्गम है, उसके अनुभव को व्यक्त करके जी हल्का कर लेने की जितनी इच्छा स्वतः उसमें जगती है, उससे ज्यादा परिस्थितियाँ उसे एक स्कूल का मास्टर और फिर लाहौर में जाकर एक

समाचार-पत्र में नौकरी करने के लिए विवश करके उसको साहित्य की दुनिया में ला पटकती हैं।

इसी बीच उसके माँ बाप उसकी शादी एक साधारण-सी, पर अत्यंत सरल हृदय रखने वाली लड़की चंदा से कर देते हैं, और यद्यपि चंदा का रूप-रंग उसे पसंद नहीं है और वह शादी नहीं करना चाहता, पर कठोर, निर्दय पिता शादीराम और ममता की देवी माँ के आदेश को टाल नहीं सकता। चंदा की छोटी बहिन नीला उसे प्रारंभ ही से आकर्षित करती है, परंतु जैसा रूढ़ियों में बंधे समाज में होता है चेतन को अपने भाग्य से समझौता करना पड़ता है। नीला के प्रति चेतन का आकर्षण और चेतन के प्रति नीला का आकर्षण एक अत्यंत जटिल समस्या उत्पन्न कर देता है। चेतन नीला को अपने मन से निकाल नहीं पाता। एक बार जब चेतन अपनी ससुराल में जाकर बीमार पड़ जाता है, नीला उसकी सेवा सुश्रूषा करती है और यह निकट-सहचर्य उसकी इच्छाओं को दुर्दमनीय रूप से उभार देता है। वह एक दिन नीला को बलात अंक में लेकर चूम लेता है। नीला अपने को छुड़ा कर भाग जाती है और उसका खाना-पीना छूट जाता है, लगातार रोती रहती है, संभवत: यह सोच कर कि भाग्य की विडंबना के आगे उसे सिर झुकाना पड़ेगा – चेतन उसे नहीं मिल सकता। इधर चेतन आत्म-ग्लानि से भर कर नीला के पिता को सारी घटना बता कर, चंदा को लेकर वहाँ से चल पड़ता है। परंतु इस छोटी-सी घटना की टीस दोनों के मर्म में बार-बार जीवन भर उठती रही, और नीला जैसे अपने से ही बेसुध होकर अपनी छाया बनती गयी और चेतन आत्म ग्लानि और अपने दांपत्य जीवन में सौंदर्य के अभाव से उत्पन्न आकांक्षा के बीच द्वंद में पड़ा अपने जीवन की आर्थिक परिस्थितियों से ही जूझता रह जाता है।

इस संघर्ष और द्वंद भरे जीवन में चेतन को कतिपय विचित्र और कुरूप अनुभव होते हैं। अखबारों के दफ्तरों में काम करते करते वह अपना स्वास्थ्य खो बैठता है, ऐसे ही अवसर पर लाहौर के प्रसिद्ध वैद्य रामदास से उसकी भेंट हो जाती है। अपने स्नेह का अभिनय करके वे चेतन को अपनी बातों में फंस लेते हैं और उसे शिमला ले जाते हैं। वहाँ वे चेतन से बच्चों के स्वास्थ्य रक्षा विषय पर एक पुस्तक लिखवाते हैं, पचास रुपये महीने में चेतन तीन मास के अंदर उन्हें पुस्तक लिख कर दे देता है। पुस्तक वैद्यराज रामदास के नाम से ही प्रकाशित होगी, यह चेतन को बहुत पहले मालूम हो जाता है और तब से उसका मन किसी प्रकार इस धूर्त वैद्यराज के चंगुल से निकल भागने को करता है, परंतु रामदास बात चीत का इतना मीठा और मतलब का ऐसा चौकस है कि चेतन

उसके आगे निरुपाय हो जाता है। वह चेतन से और भी पुस्तकें अपने नाम से लिखाता यदि नीला के विवाह की सूचना पाकर वह शिमले से किसी प्रकार जान छुड़ा कर भाग न निकलता।

नीला का विवाह एक अधेड़ और कुरूप व्यक्ति से हो जाता है। चेतन नीला से एकांत में मिल कर उससे क्षमा माँगना चाहता है, पर नीला जैसे अपने अस्तित्व ही को भूल चुकी है। वह गुमसुम अलग बैठी रहती है केवल विदा होने के पहले वह आँखों में आँसू भरे चेतन के कमरे में आती है और आर्द्र स्वर में चेतन से अपनी भूल चूक के लिए क्षमा माँग लेती है। और जब चेतन अपने कसूर के लिए क्षमा माँगता हुआ नीला के चरणों में झुक जाता है, नीला "जीजा जी, आप क्या करते हैं!" कह कर अपनी सिसकी को दबाती हुई नीचे भाग जाती है।

रात को चंदा गहरी नींद में सो रही थी और चेतन लेटा लेटा सोच रहा था—उसे लगा कि यह अंधकार की दीवार उसके और उसकी पत्नी के मध्य ही नहीं, नीला और त्रिलोक (नीला के जेठ का लड़का) के मध्य भी है बल्कि इस पतन देश के सभी स्त्री पुरुषों, तरुण तरुणियों, वर्गों और जातियों के मध्य ऐसी ही अनगिनती दीवारें खड़ी हैं—कविराज में और उसमें उसमें और (कविराज के क्लर्क) जयदेव में, जयदेव और (कविराज के साधारण नौकर) यादराम में—इन दीवारों का कोई अंत नहीं। उस तिमिराच्छन्न निस्तब्धता में चेतन ने अगणित प्राणों की मूक सिसकियाँ सुनीं जो इन दीवारों में बंद थीं और निकलने की राह न पा रही थीं। इन दीवारों की नींव कहाँ है? ये कब गिरें गी और कैसे गिरें गीं?

और चेतन निम्न मध्य वर्ग के उस चेतन प्राणी का सहज प्रतीक बन जाता है जो इन बंद दीवारों की नींव की थाह पाने के लिए और यह जानने के लिए कि ये कैसे गिरें गीं, सप्रश्न हो उठा है।

'गिरती दीवारें' अपनी शैली, कला और चित्रण और मानवीयता के कारण निश्चय ही हिंदी का एक अनुपम और महत्वपूर्ण उपन्यास है। 'अश्क' ने इस में चेतन, चेतन के उग्र कठोर शराबी पिता—शादी राम, आत्मभीरू, त्याग, सेवा और ममता की मूर्ति माँ—लाजवती, नवागत यौवन और सौंदर्य से दीप्त नीला, सरल हृदय पत्नी चंदा, धूर्त वैद्यराज रामदास और दर्जनों दूसरे पात्रों का चरित्र चित्रण इतना स्वाभाविक, सजीव और मार्मिक किया है कि ये पाठ स्मृति में घर बना लेते हैं। साथ ही जालंधर, इलावलपुर, लाहौर और शिमले के वे स्थान जहाँ पर इस उपन्यास में वर्णित घटनाएँ घटी हैं, उनका चित्रण भी

अत्यधिक सजीव हुआ है। एक प्रकार से 'अश्क' की यथार्थवादी शैली की यह विशेषता है कि उन्होंने वातावरण या परिवेश का चित्रण इतना विशद और सूक्ष्म किया है, जितना हिंदी के किसी लेखक ने नहीं किया। और 'गिरती दीवारें' पढ़ते समय सहज ही तुर्गनेव, दोस्तोवस्की और गोर्की के उपन्यासों का स्मरण हो आता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि 'गिरती दीवारें' अत्यंत सबल और सफल कला का उपन्यास है और यदि 'गोदान' और 'शेखर' हिंदी में अमर रहेंगे तो 'गिरती दीवारें' की अमरता पर भी आँच नहीं आयेगी।

२. 'कहीं न कहीं लेखक के आत्मदान में चूक—'

देवराज उपाध्याय

यह 'अश्क' जी का शायद दूसरा उपन्यास है। 'अश्क' जी ऐसे लेखकों में से हैं जिनके हृदय में यह धारणा बद्धमूल-सी है कि प्राचीन परंपरा में आमूल परिवर्त्तन के बिना आधुनिक युग के मानव के लिए पूर्ण से विकसित होने का अवसर नहीं मिल सकता। इतना ही नहीं, वे तो यहाँ तक बढ़ कर घोषणा-सी करते दीख पड़ते हैं कि प्राचीन लौह सीखचों में पड़ी मानवता का दम घुट रहा है, उसे साँस लेना दूभर हो रहा है, यदि चाहते हो कि उसकी जान बच जाय तो शृंखला को तोड़ कर स्वच्छ वायु में विहार करने दो। विशेषतः रोटी और सेक्स की सहूलियत होनी ही चाहिये। रोटी की चाहे एक क्षण न भी हो पर सेक्स की सहूलियत अवश्य हो। नहीं तो सेक्स का दबाव अर्द्ध-चेतन और अचेतन मन में जाकर ऐसी सड़ान पैदा करेगा कि हमारा सारा जीवन विषाक्त हो जायेगा—हो जायेगा क्या, हो रहा है जो, और नब्बे प्रतिशत समाज की उलझन हमारे कुंठित सेक्स का परिणाम हैं। यह स्पष्टतः फ्रायड के मनोविश्लेषण शास्त्र का हमारे साहित्य पर प्रभाव है। और यदि इस विचार धारा का उचित प्रयोग हो तो सचमुच इसमें हमारे समाज को उन्नत करने की अपार सम्भावनायें अंतर्निहित हैं।

'गिरती दीवारें' की यही व्यङ्ग्यात्मक ध्वनि है। यों तो प्रसंगवश और भी बहुत सी सामाजिक बुराइयों का निर्देश आ ही गया है, मध्यवर्ग के परिवार में किस तरह कलह का तांडव होता रहता है, हवा से लड़ने वाली स्त्रियों के कारण परिवार किस तरह नरक में परिणत हो जाता है, इस तरह के परिवार के नवयुवकों को जीवन संघर्ष में किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, इत्यादि बातों की चर्चा भी है। दुनिया को धोखा देने वाले साहित्यिकों, संपादकों, और दूसरों का शोषण करने वाले, मीठी छुरी से हलाल करने वाले कविराजों की, तथा नाटकों की अच्छाइयों और बुराइयों की बातें भी आ गयी हैं।

किंतु ये सब प्रसंगवश आते हैं मुख्य सुर वही है। पुस्तक के पोर पोर में, गांठ गांठ में फ्रायड की सेक्स संबंधी भावना की ध्वनि स्पष्ट रूप से सुनायी पड़ती है। चेतन इस उपन्यास का नायक मध्यवित्त परिवार में उत्पन्न व्यक्ति है और उसके हृदय के किसी कोने में जीवन के उन्नायक तत्व वर्तमान हैं और वह सोचता जरूर है कि "इधर-उधर खेतों में मुँह मारना, उगती बढ़ती फसल को दूषित करना, पकड़े जाने पर दंड पाना, अपमानित होना" सभ्य, सुशिक्षित, सुसंस्कृत व्यक्ति के लिए उचित नहीं है। पर परिस्थितियों, अर्थात् दमित भावनाओं ने उसके अंदर एक ऐसी दुर्बलता पैदा कर दी है कि इन आदर्शों की टेक बाह्य परिस्थिति की पहली ठोकर पर ही छिन्न भिन्न हो जाती है और वह बिना पेंदी के लोटे की तरह लुढ़क पड़ता है। चाहे प्रकाशो हो, चाहे मन्नी हो, चाहे नीला हो, चाहे वह नेपाली लड़की हो, सब जगह उसकी वासना प्रबल हो उठती है और वह उसी के संकेत पर नाचने लगता है। हाँ, यह बात अवश्य है कि लेखक की उस पर कृपा है अतः साधारण परिस्थितियों में ऐसे व्यक्तियों को जिस दंड का अधिकारी होना पड़ता है उससे वह बेदाग बच गया है। चेतन के चलते बेचारी नीला को किन परिस्थितियों की नारकीयता में तिलतिल कर जलना पड़ा होगा इसकी तो कल्पना ही की जा सकती है।

नीला के विधुर मिलिटरी एकाउटेंट कुरूप पति को देखकर चेतन को थोड़ी सी तसल्ली होती है कि नीला अपने तन को भले ही अपने पति के चरणों पर रख दे, उसका मन 'जीजा जी' का ही रहेगा पर जब वह पंच शर हस्त मदन से सुंदर उसके भतीजे को देखता है तो उसका विश्वास हिल जाता है और न जाने उसके मन में कौन-कौन सी भावना उत्पन्न होने लगती है। इस प्रसंग को पढ़ कर मन में यह भावना होती है कि माना कि मनुष्य में शारीरिक वासनाओं की भूख बड़ी प्रबल होती है, पर क्या इच्छा शक्ति जैसी चीज का अस्तित्व ही अस्वीकार कर दिया जाय। यदि ऐसी ही बात है तो मनुष्य और पशु में अंतर ही क्या रह गया। मनुष्य भी पशु है सही पर वह एक विशिष्ट पशु है, वह एक हद तक, एक हद तक क्या, चाहे तो बहुत दूर अपनी नियति का पथ स्वयं निर्णय कर सकता है। नर चाहे तो नारायण हो सकता है। फ्रायड ने भी आखिर सेक्स की दमित भावनाओं के उन्नयन की बात को स्वीकार कर, द्राविड़ प्राणायाम की प्रक्रिया के द्वारा हो सही, मनुष्य की आध्यात्मिकता को स्वीकृति दे दी ही है और मानव के लिए विकास का पर्याप्त क्षेत्र दिया है। मेरा विश्वास है कि यदि फ्रायड के हाथों नीला पड़ता तो जिन परिस्थितियों में वह ससुराल जा रही है उनमें चेतन की यौन भावनाओं का उदात्तीकरण अवश्य हो गया होता और

उसकी विचार धारा ने दूसरा ही रुख ग्रहण किया होता। पर लेखक ने घटनाओं के स्वाभाविक विकास की बागडोर इतनी कड़ाई से थाम रखी है कि वह उसके इशारे से टस से मस नहीं हो सकती। वह कान पकड़ कर जिस तरफ चाहता है उस तरफ उसे मोड़ता है। इन बातों को देखकर मेरे मन में यह प्रश्न होता है कि तब देवकीनंदन खत्री के उपन्यास ही क्या बुरे थे, उनसे और कुछ न हो कुछ बचकानी दिमाग के पाठकों का मनोरंजन तो हो ही जाता था। उसी तरह कुछ sex minded पाठक हैं उनका भी मनोरंजन इस उपन्यास के अध्ययन से हो ही जाता होगा।

लेखक के पक्ष में अवश्य कहा जा सकता है कि एक मध्यवर्गीय और रूढ़िग्रस्त परिवार में उत्पन्न व्यक्ति को आज के शोषण और आर्थिक वैषम्य के युग में दमित और अवरुद्ध भावनाओं के कारण उसके मानस की अवस्था किस तरह मंत्र-नियंत्रित विषधर की तरह हो जाती है जो चाहता है कि ऐसा फुफकार मारे कि समाज के पुर्जे पुर्जे हवा में उड़ जाँय—इस बात की अभिव्यक्ति में उसने पर्याप्त इमानदारी से काम लिया है और उसकी इच्छा है कि लोग उसके दिल के दर्द को समझें और इस समस्या को सुलझाने की राह पर पैर रखें। पर साहित्य में महज इमानदारी से काम नहीं चलता, हालांकि यह एक बहुत ही महत्वपूर्ण वस्तु अवश्य है। लेखक के लिए यह भी आवश्यक है कि जिस जीवनोत्कर्ष को देखा है उसको पाठक-वर्ग को दिखा सकने की क्षमता भी उसमें अवश्य हो। नहीं तो साहित्य हमारे लिए जीवनोपयोगी नहीं रह जायेगा उँसमें वह रस नहीं रहेगा जिसके आस्वादन से हृदय में एक लोकोत्तर चमत्कार के साथ गंभीर तृप्ति होती है। हो सकता है कि आज के युग में जब समाज की जड़ को हिला देने और ईंट से ईंट बजा देने का नारा बुलंदी पर हो उस समय रस और उसकी लोकोत्तरता की बात कुछ अनजँची सी लगे पर यदि 'साहित्य' को 'स हित' के साथ रहना है तो उसको आत्मा के भोग के साथ संबद्ध होना ही पड़ेगा, उसे हमारी इंद्रियों को चटखारे देने की अपेक्षा हमारी आत्मा को स्पर्श करने और अपनी अपील उस तक पहुँचाने की ओर अग्रसर होना ही पड़ेगा। यहीं पर साहित्य समाज-सुधार के अन्य साधनों से अलग होकर अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करता है क्योंकि उसकी अपील सीधे आत्मा की ओर होती है। इसी अर्थ में साहित्य को प्रोपेगैंडा भी कहा जा सकता है।

'गिरती दीवारें' के लेखक में समाज के प्रति इतनी कटुता है, इतनी आग है कि वह उसे भस्मसात् कर देना चाहता है। पर वह इसके लिए हिंसात्मक हो उठता है और उसे 'लाभालाभौ जयाजयौ' का कुछ भी ज्ञान नहीं रह जाता मानो

बालक अपने इच्छावरोध के कारण उन्मत्त हो उठा है और वह पत्थर पर सर पटक देना चाहता है।

अब रह जाती है बात उपन्यास की वाह्य रूप रेखा की। वाह्य रूप रेखा का भी अपना महत्व अवश्य होता है पर वह अतप्रेरणा से अलग नहीं होती उसी से अनुप्राणित होती है, उसकी झलक झिलमिलाती नजर आती है। इस उपन्यास के कथात्मक टेकनीक में नूतनता नहीं, वही प्रेमचद की शैली है, लेखक की कल्पना जहा कथा का सूत छोड़ती है तो वह निकलता ही जाता है टूटता नहीं। पर जब मैं इस रोक और अटूट प्रवाह की बात को कहता हूँ उस समय मेरा ध्यान लेखक की कारयित्री प्रतिमा की ओर ही है और उसी के दृष्टिकोण से यह बात मैं कह रहा हूँ। मेरे कहने का अर्थ यह नहीं है कि कथा में किसी तरह की जोड़ तोड़ का अनुभव पाठकों को नहीं होता। कितने ऐसे स्थल हैं जहाँ पर कथा की प्रगति के साथ लेखक का हस्तक्षेप बुरी तरह खटकता है।

किसी भी उपन्यासकार या साहित्यिक की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि उसकी जादू की छड़ी इस तरह फिरे कि पाठक की आलोचनात्मक बुद्धि को जागरित होने का अवसर कम से कम मिले। यही कारण है कि हमारे यहाँ काव्य के लक्षणकारों ने यह नियम सा बना दिया था कि किसी भी महाकाव्य के एक सर्ग में एक ही छदों का प्रयोग होना चाहिये क्योंकि बार बार छदों के बदलते रहने से पाठकों को कठिनता होती है। यदि आप ऐसी कोठरी में रहें जहाँ रोशनी क्षण क्षण जलायी और बुझायी जाती रहे तो आप अपने को विचित्र अवांछनीय अवस्था में पायेंगे। वही बात इस उपन्यास के पाठक को भी होती है। हम कथा पढ़ते चले जाते हैं, आनद लेते चले जाते हैं तब तक लेखक चेतन की पुरानी जीवन गाथा का सूत छेड़ देता है और हमारा ध्यान कथा की प्रगति से हट कर उधर चला जाता है, और जब तक उसकी पुरानी गाथा में रस आने लगता है कि लेखक आगे की कथा लेकर चल निकलता है। पाठक इस तरह के झकझोर और उठा पटक के बीच अपने को असहाय पाता है। मैं जानते कथा सौष्टव की दृष्टि से यह बात सवत्र पायी जाती है। उदाहरण के लिए चेतन के शिमला प्रवास की बात लीजिये। चेतन के उस प्रवास में दुर्गादास की कथा आ घुसेड़ी गयी है। उपन्यास का अतिम अश जिसमें 'अनारकली' इत्यादि नाटकों की आलोचना प्रत्यालोचना की बातें की गयी हैं, अत्यधिक रूप से ऊपर से चिपकायी गयी सी मालूम पड़ती हैं।

आज कल लोगों में जीवन के व्यापक दृष्टिकोण से समस्याओं पर विचार करने की शक्ति कम होती जा रही है है और यह सब होता है यथार्थवाद और व्यवहारिता के नाम पर। हम आज कामचलाऊ पन (expediency) के लिए मौलिक आधार

भूत तत्वों (fundamentals) की अवहेलना करने लगे हैं। 'गिरती दीवारें' इसका उदाहरण है। उसमें कोई ऐसी प्रेरणा नहीं है जो हमारे जीवन के उन्नायक तत्वों को विकसित करने में सहायक हो। मैं यह नहीं कहता कि लेखक ने लाठी लेकर हांकने की कोशिश क्यों नहीं की; गलेला देकर उपदेशामृत पिलाने का प्रयत्न क्यों नहीं किया, पर मेरी शिकायत यह है यह उपन्यास सब मिलजुल कर हृदय में चुभता क्यों नहीं, इसमें एक खोखलापन-सा क्यों नजर आता है, लेखनी गंभीर क्यों नहीं दीखती है, हमें यह ऐसी चीज क्यों नहीं देता जिसे पाकर हमारा हृदय लेखक के प्रति कृतज्ञता से भर जाता? कहीं न कहीं तो उसके आत्मदान में चूक जरूर है।

हां, यह बात अवश्य है कि चेतन के जीवन प्रवाह की घटनाओं में हम अपने ही जीवन की झलक पाते हैं, लाख कोशिश करने पर भी उसकी सत्यता में अविश्वास नहीं कर सकते। उसमें वर्णित घटनायें छाया की तरह हमारा पीछा करती हैं और उनसे पिंड छुड़ाना कठिन है। और नहीं तो आज के कुंठित जीवन का आभास तो इस उपन्यास के पढ़ने से अवश्य ही मिलेगा और उस विरति के ज्ञान से उसे पूरा करने की प्रेरणा भी स्वाभाविक रूप से लोगों में जागेगी। हम अपने जीवन की प्रचलित प्रणालियों पर मुड़ कर देखने पर बाध्य होंगे और उसकी प्रतिक्रिया के रूप में हमारे अंदर कुछ उत्कर्ष विधायक ऐसी चीज अवश्य हो जावेगी। उपन्यास की सफलता के लिए यही क्या कम है।

३. 'एक कुंठित व्यक्तित्व का दयनीय इतिहास'

नलिन विलोचन शर्मा

नदी में बाढ़ आती है। पानी तटों के ऊपर से बहने लगता है। नदी की आकृति मिट जाती है, उसकी धारा अनिश्चित, अनियंत्रित हो जाती है। ऐसी नदी के ढंग के उपन्यास भी होते हैं। ऐसे उपन्यास या तो बहुत पहले लिखे जाते थे या बहुत आधुनिक काल में। पहले 'आज़ाद कथा' जैसे उपन्यास लिखे जाते थे। इधर रोमां रोलां ने कुछ कुछ इसी प्रकार के उपन्यास की उद्भावना की थी, जिसे फ्रेंच में 'रोमन फ्लव' (roman fleuve) कहते हैं, और जो अनेकानेक जिल्दों में छपता जाता चला है—स्वयं रोलां ने एक उपन्यास के दस भाग प्रकाशित किये थे और योजना सत्ताइस भागों की थी।

हिंदी में आधुनिक काल में, 'अज्ञेय' ने इस प्रवहमान औपन्यासिक रूप का दुर्लभ आदर्श प्रस्तुत किया। 'शेखर—एक जीवनी' की धारा को 'अज्ञेय' प्रवाहित होते रहने दें इसी में इस उपन्यास की सार्थकता है—अपने में उसे इसकी योग्यता और शक्ति पर्याप्त मात्रा में है। 'गिरती दीवारें' भी वस्तुतः इसी प्रकार का

उपन्यास है। उसका प्रवाह कुछ दूर तक जाकर ही रुक जाता है, यानी, दूसरे शब्दों में, पुस्तक एक भाग में ही समाप्त हो गयी है। इस विवेकशीलता के लिए 'अश्क' जी निस्सदेह पाठकों की दृष्टि में धन्यवाद के पात्र होंगे।

बात ऐसी है कि 'गिरती दीवारें' बाह्यतः 'रोमन फ्लूव' जैसी चीज होने पर भी अंततः 'आज़ाद-कथा' की परंपरा के ही निकट है। 'अश्क' जी पर 'सरशार' का प्रभाव आसानी से समझा जा सकता है। वह उर्दू के सफल लेखक रह चुके हैं। उन्होंने अवश्य ही उर्दू के हर एक विद्यार्थी की तरह इस आचार्य का अध्ययन किया होगा। लेकिन 'सरशार' का प्रभाव और अधिक लाभदायक हो सकता था। 'अश्क' जी ने अपने उपन्यास के स्थापत्य को विशृंखल तो अवश्य रहने दिया है लेकिन क्या उसमें वह 'आजाद कथा' का विस्तार और विविधता ला पाये हैं?

और आधुनिक 'रोमन फ्लूव' में तो स्थापत्य की विशृंखलता की तह में ऐसा चारित्रिक या बौद्धिक प्रवाह बना रहता है जो व्यस्तता को भी एक परिवर्तनशील योजना प्रदान करने में समर्थ हो जाता है। इस प्रकार के उपन्यासों में एक व्यक्ति या ऐसे व्यक्तियों के समूह का चित्रण रहता है जिनका एक दूसरे के साथ पारिवारिक या बौद्धिक संबंध रहता है। इस क्षीण आधार को लेकर जिस उपन्यास की रचना होगी उसमें वह सुसंगठित स्थापत्य नहीं पाया जा सकता जो साधारणतः उपन्यासों में अपेक्षित होता है। किंतु लेखक की बौद्धिक अन्विति तथा सत्य के लिए आग्रहशीलता 'प्रवहमान उपन्यास' में भी कलात्मक योजना अनुस्यूत कर देती है। यदि लेखक में इन दोनों बातों का अभाव है तो ऐसा स्थापत्य रहित उपन्यास सर्वथा निरर्थक प्रमाणित होता है। 'गिरती दीवारें', हमें निराशा होती है, स्थापत्य रहित उपन्यास तो है किंतु सफल 'प्रवहमान उपन्यास' नहीं।

जिस एक व्यक्ति की जीवन धारा का विस्तृत वर्णन इस उपन्यास में है वह एक रीढ़ रहित, दुलमुलयकीन, कमजोर और अत्यंत साधारण मनुष्य है। इस आदमी में कहीं कोई द्वंद्व या तनाव नहीं है। वह समाज की 'गिरती दीवारों' का, टूटते और बदलते हुए ढाँचे का, प्रतिनिधि न बन कर उसमें दुबका रहने वाला दयनीय जीव भर है। वह चोटें सहता तो है, करता नहीं, वह खुद टूट टूट जाता है, तोड़ कभी नहीं पाता। दीवारें गिर रही हैं यह सच है। लेकिन उनके गिरने न गिरने से इस आदमी का कोई वास्ता नहीं। कहा जा सकता है कि 'गिरती दीवारें' इस शीर्षक का और इस शीर्षक वाले उपन्यास का एक दूसरे के साथ कोई संबंध नहीं। मुख्य पात्र ही नहीं, उपन्यास का वातावरण भी ढहती हुई प्राचीनता और उस पर उठती हुई नवीनता का आभास देने में असमर्थ है। शीर्षक सुंदर जितना भी हो, सार्थक एकदम नहीं। यह भगवतीचरण वर्मा के

नवीनतम उपन्यास और 'अश्क' जी की इस रचना का नामकरण मुझे करना होता और मेरे सामने दो नाम भी होते-- टेढ़े मेढ़े रास्ते' और 'गिरती दीवारें' तो मैं पहले के लिए दूसरा, और दूसरे के लिए पहला शीर्षक चुनना ही पसंद करता।

मैं उपन्यासकार से अतिमानव असाधारण या सबल पात्रों की सृष्टि करने की माँग नहीं करता जैसा कि कुछ आलोचकों ने इलाचंद्र जोशी से किया है और जिससे वह क्षुब्ध भी हैं। मैंने अन्यत्र फ्लावेयर के इस मत का उल्लेख किया है कि साधारणता इतनी सार्वजनीन और सर्वव्यापक है कि कलाकार उसके चित्रण-वर्णन से बच नहीं सकता, न यही आवश्यक है कि उससे बचने के लिए वह प्रयत्न ही करे।

स्वयं फ्लावेयर ने 'बूवार्द पेक्यूशे' (Bouvard et pecuehat) लिख कर अपने इस सिद्धांत को व्यवहार में परिणत भी कर दिखाया था। अगर 'अश्क' जी ने इस दृष्टिकोण से 'गिरती दीवारें' की रचना की होती तो उनके प्रयत्न की मौलिकता का अभिनंदन करने वाला कम से कम एक आलोचक तो उन्हें अवश्य प्राप्त होता जो इन पंक्तियों का लेखक भी है। किंतु इसके विपरीत 'अश्क' जी अपने उपन्यास के आकर्षक शीर्षक में जो प्रतिज्ञा करते हैं, उसमें उनके जिस उद्देश्य का इंगित है, जिस सामाजिक आलोचना का दावा है उससे असाधारण हलचल, विराट् परिवर्त्तन, ध्वंस और निर्माण की युगपत् प्रक्रिया और जीवन के चरित्रों के दर्शन की हो उम्मीद बंधती है। और सैकड़ों पृष्ठों के इस बृहत्काय उपन्यास के अध्यवसाय-पूर्ण अध्ययन के बाद हम पाते हैं सिर्फ एक उपेक्षित किशोर, ग्रामीण और ग्राम्य युवक, असफल सहकारी संपादक और लेखक—कवि के कुंठित व्यक्तित्व का दयनीय इतिहास; जिसका सबसे बड़ा कृतित्व शायद यह है कि वह अपनी पत्नी की छोटी और सुंदर बहन से लुक छिपकर प्रेम करता है और उससे बुरी तरह से फटकार खाता है!

और मेरी दृष्टि में यह सब कुछ क्षम्य होता यदि और कुछ नहीं तो पांच-छः सौ पृष्ठों को पढ़ने में जितना समय लगता है उतनी देर तक मुझे इस पुस्तक में उच्च कोटि का गद्य ही पढ़ने को मिला होता। लेकिन इसके लिए शायद लेखक दोषी नहीं कहा जा सकता। हिंदी में उपन्यासों की बहुत ज्यादा मांग है, बहुत ज्यादा खपत है। बड़े उपन्यासों के लिए प्रकाशक अच्छे पैसे देने के लिए तैयार हैं। अभावग्रस्त लेखक अवसर का फायदा उठा रहे हैं यह अस्वाभाविक नहीं। लेकिन इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता कि हिंदी का धरातल आज निम्नाभिमुख है, जिसका एक प्रमाण यह उपन्यास भी है।

'गिरती दीवारें' की शैली की हीनता के लिए यह अर्थशास्त्रीय कारण ही एक-मात्र उत्तरदायी नहीं है। विषय और दर्शन की हीनता साधारणतः शैली को भी

हीन बनाकर छोड़ती है साधारणतः इसलिए कि ऐसे भी अपवाद हैं जिनमें असाधारण प्रतिभा वाले कलाकार, शैली को ही साध्य मान कर, विषय और दर्शन की हीनता के ऊपर उठ सकने के असंभव व्यापार को भी संभव कर दिखाते हैं।

यह सब कह देने के बाद, अपनी उदारता पर बिना दबाव दिये, मैं यह भी अवश्य कह देना चाहूँगा कि इस उपन्यास को हिंदी के औसत गल्पप्रेमी सरल, मनोरंजक और समय को अतिवाहित करने के लिए सर्वथा उपयुक्त पायेंगे, हालांकि इसके लिए उन्हें काफी कीमत भी देनी पड़ेगी।

४. 'अश्क आधी मंजिल पर'

शमशेरबहादुर सिंह

इस नाविल का हीरो कौन है—बस्ती गजाँ, जालंधर, लाहौर और शिमला की तंग बसीली गलियों के नीचे-नीचे मकान और उनकी दीवारें (जो उनके बीच रहने वालों की किस्मत पर हर तरह से छा जाती हैं) —या, इन बस्तियों का तंग दस्त, तंगदिल छोटे बाबू लोगों का दबा घुटा तबका (जिस पर हाय हाय की फटकार बरसती ही रहती है या कि इसी तबके की कहानी सुनाने वाला उस तबके का एक भावुक नमूना, खुद चेतन!

मध्य वर्ग का यह व्यक्ति, चेतन, अपनी अकेली हस्ती को बहुत बड़ी चीज समझता है। यह बड़ी और कीमती चीज जब ठोस हकीकत की चट्टानों से टकराती है, तो जतन से पाले हुए उसके सपने, प्यारी प्यारी विडंबनाएँ, और सुनहरे आदर्शवाद सिसकियाँ लेने लगते हैं। ठोकरों पर ठोकरें, जहर के घूँट पर घूँट, अंदर ही अंदर नफरत और गुस्से के उबाल पर उबाल, और आखिर हार थक कर सजीले सपनों का जिंदगी के बाट बटखरों से समझौता!—और तब यह कीमती चीज बड़ी दर्दनाक हो जाती है। 'ईश्वर' और 'धर्म' की तरह 'मनुष्यता', 'संस्कृति', 'कला', और 'प्रेम', और 'मान प्रतिष्ठा'—सब पूँजी के बाजार में ही अपनी असली कीमत रखते हैं, इस सचाई को चेतन बहुत सी कागी चाटें खाकर सीखता है। चुपचाप अपने आँसू घूँट कर वह सीखता जाता है।

वह पहले 'प्रकृति' की गोद में अपनी चोटें छिपाता था, तो अब 'कला' की शरण में आ जाता है—क्योंकि इसमें, 'अपने बद्ध वातावरण से उसके पलायन' में, 'आत्माभिव्यक्ति' का सुख है, और तभी उसको कुछ त्राण मिलता है, कुछ। ...मगर 'कला' में भी उसको नजात का असली रास्ता नहीं मिलता। क्योंकि वह अभी तक अपनी अकेली हस्ती को बहुत बड़ी चीज समझता है। हालांकि वह पूरे सिलसिले की एक कड़ी है, उससे अलग कुछ नहीं—है ही नहीं।

—मगर अभी उसने सारी कड़ियाँ कहाँ गिनी ?

चेतन असल में 'गिरती दीवारें' का हीरो नहीं। इसका असली 'हीरो' एकके-पीछे-एक लगा हुआ इन कड़ियों का वह सिलसिला है, जिनके बगैर चेतन महज़ हवा में हाथ-पाँव मारने वाली एक छाया को तरह रह जाता है। इस सिलसिले के सबसे भरे-पूरे और सजीव व्यक्ति हैं—चेतन की माँ, सब्र और संतोष की देवो; उपन्यास में शायद सबसे कामयाब चित्र उसका बाप, नशे और क्रूरता का देव; उसके बड़े भाई साहब, जो हर खरखशे से बचने के लिए छड़ी उठा कर बाहर निकल जाते हैं; कुंती उसके प्यार की पहली चीज़; और उसके सबसे गहरे प्रेम को पाने वाली नीला; और इस प्रेम की आड़, उसकी भोली-भाली बीवी, चदा। और चेतन की समाजी ज़िंदगी को बनाने बिगाड़ने वाले और दूसरे लोग; जैसे, 'हुनर' साहब, गाँवों में आ-कर शहर का रंग जमाने वाले शायर; सरदार जगदीश सिंह, समाज के शरीफ़ लुटेरों के हाथ का खिलौना; ख़ास तौर से कविराज रामदास, चेतन जैसे होनहार नवयुवकों का 'भला करने' और उनकी प्रतिभा को 'चूसने वाली' एक सबसे मोटी, सबसे चिकनी, और चालाक और अच्छी भली जोंक; और प्रकाशो और मन्नी और दुर्गादास और इनके अलावा लाहौर के म्यूज़िक कालेज के प्रोफ़ेसर, और गेटी थिएटर का पूरा हलका; वगैरह वगैरह। इन सब लोगों का पूरा फ़िल्म जिस पर्दे पर चलता है, चेतन वह पर्दा है। इस हंगामे से अलग वह सिर्फ़ एक छाया है, जो आपको कभी-कभ उदास कर देती है। कभी-कभी बहुत उदास कर देती है। क्योंकि वह सारा फ़िल्म उसी पर अंकित हुआ है। अश्क ने ख़ुद उसको एक कैनवस का स्थान, और दर्जा, दिया है। वह कैनवस ख़ासा बड़ा है, इसमें संदेह नहीं।

'गिरती दीवारें', इस कैनवस पर, हर उस घटना, दुर्घटना, आशा, आकांक्षा, सफलता-असफलता, प्यार और चोट का, उनकी ऊहा पोह का, उपन्यास है, जो निचले मध्यवर्गी जीवन का ताना-बाना कसते और ढीला करते हैं—या बुनते हैं। हर गली-कूचे और मकान-ड्योढ़ी के परिचय, और घर बाहर के अपने-पराये के संबंध से एक सस्ते ओछेपन की बू आती है, जिंदगी के हर मोड़ पर सीलन को-सी ठहरी हुई ग़लीज़ बेशर्म बू; और हर चीज़, हर बात के अंदर एक हाय-हाय भरी बेकार-सी जी-तोड़ और जान-मार कोशिश...जिसका नतीजा आख़ीर में एक दीन, विपन्न, दयनीय रूप से मुस्कराती हुई हार, लाचारी, और समझौता।

बस यही रंग है हर तरफ़ इस निचली मध्यवर्गी दुनिया का। चेतन के व्यक्तित्व के ऊपर से एक समझौते की खुरंड जब उतरती है, तो नीचे से दूसरी खाल समझौते के लिए तैयार होकर निकल आती है। ये खुरंड भी इस व्यक्ति में

उन दीवारों का नमूना है, जो उसे समाज में हर तरफ से, और बहुत दूर तक, एक के बाद एक, घेरे चली गयी हैं। चेतन ने इन दीवारों के नक्शे बहुत तफसील के साथ बनाये हैं। बस्ती-बस्ती इनकी नीवें गल चुकी हैं सीली बदबू भरी, तंग, अँधेरी, नीची दीवारें — झगड़ों का मोहल्ला, बस्ती गर्जा, टल्लू मट्ठा और इनके निवासी, रूढ़ियों के कमजोर पुतले। गाली गलौज, पाखंड, व्यभिचार, ढकोसले, दिखावे, रूढ़ ईर्ष्याएँ, पल छिन सस्ती बेइमानियाँ ..। बीसियों दीवारों की तो एक एक ईंट तक अपनी कहानी कलाकार चेतन को सुना चुकी है। हर घटना, हर बात एक कहानी। यह सही है कि इनमें बाज एक् कुछ जरूरत से ज्यादा तूल खींच जाती हैं, जैसे गेटी थिएटर के सिलसिले में एक अध्याय तो नाटक पर निबंध ही हो गया है। या इससे पहले सरदार जगदीशसिंह जी का किस्सा।

मगर मध्य वर्ग का पाठक इस उपन्यास में अपने वर्ग के एक परिवार का नमूना इतनी नजदीक से देख लेता है, उस परिवार का अंदर बाहर उसके पीछे और-आगे का भरा-पूरा 'क्लोज अप' चित्र, और इतनी तरफों से लिया हुआ, उसकी आँखों के सामने आता है, कि इसका जोड़ उसे हिंदी के किसी एक नाविल में कम—और शायद ही कहीं—मिलेगा।

इस नाविल का संतुलन यानी संभाल इसलिए मुश्किल भी हो जाता है - और इस मुश्किल जिम्मेदारी को 'अश्क' पार भी कर गये है, मेरी निगाह में—कि चारों तरफ से डाली गयी लाइट में बार बार चमक उठने वाले चेतन के आगे-पीछे और चारों तरफ के सीन और चित्र इतनी सारी कहानियाँ बन जाते हैं, कि नाविल के रूप में उनका तार, उनकी बंधी हुई लड़ी, टूटने टूटने को और एक दम ढीली-ढीली सी होने को हो जाती है, खतरा यह पैदा होने लगता है कि एक-एक अध्याय कई छोटी-मोटी कहानियों का, और फिर पूरा नाविल ऐसी ढेर-सी कहानियों का, संग्रह बनने लगता है, और फिर आखिर में निबंध-जैसे शुरू हो जाते हैं। (—'अश्क' उर्दू-हिंदी के एक बहुत सफल कहानी लेखक हैं और यह शायद उनका दूसरा, मगर महत्वपूर्ण पहला ही, नाविल है) मगर इन कहानियों के गुच्छों को खासे लपेटे देकर, उनके तार अलग अलग न लटकने देकर, उनका एक लंबा रस्सा—मुख्य कथानक का—बना दिया गया है।' मुमकिन है उपन्यासकार की यह कोशिश—उपन्यास की यह जुजबंदी—बाज पाठकों को कहीं कहीं असफल सी लगे, यानी ढीली। मगर, मेरा ख्याल है कि दुबारा पढ़ने पर—और इसके कितने ही हिस्सों को फिर से पढ़ने की इच्छा होती है—नाविल काफी कसा, हुआ मालूम होगा।

'गिरती दीवारें' का टेकनीक हमारे पुराने मंदिरों की मूर्ति कला की याद दिलाता है, जिनकी दीवारें मूर्तियों से भरी होती थीं। एक बीच की बड़ी मूर्ति,

फिर अग़ल-बग़ल दो-चार, उससे छोटी, फिर इनके चारों तरफ़, इन मूर्तियों की कथा चित्रित करती हुई छोटी-छोटी अनेक मूर्तियाँ।...देवी-देवता; उनके गण; और उनके सेवक; और उनकी लीलाएँ।.

दीवार हमारे सामने खड़ी है। मगर हम जानते हैं कि वह गिर रही है। रंग तो उड़ ही चुका, उसके पलस्तर भी सब ढीले-ढाले हो चुके हैं। अब नये ज़माने की चोटों में वह और संभल न सकेगी।....'गिरती दीवारें' के सभी पात्र में मध्यवर्गीय जीवन का गया-बीतापन, उसकी सस्ती ढीला-पोली, उसका बासी रूखापन, उसका बेहँसी की हँसी लिये हुए चेहरा, उस जीवन के व्यक्तियों की कीड़ों सी तड़पन, पतिंगों की सी हाय-हाय बिलबिलाहट....जिसका इलाज है, बस, फ़िनैल का एक सैलाब।

...दीवारें हैं कि दीमकों का भटः वैद्य रामदास, हुनर साहब, चेतन के बड़े भाई साहब, सरदार जगदीश सिंह, खुद चेतन के घर के लोग, दादी और माँ और बाप और ससुर, बीबी और भाई और चेतन खुद—सबके सब जैसे कविराज रामदास की ही किसी नई पुस्तक के ('विवाह आदि के भेद' सिरीज़ में!) पात्र और उसके ख़रीदने वाले अलग-अलग रोगी हों। घुन का ढेर। रोग-कीटाणुओं के घर।

...टी० बी० के मरीज़ों का खाली किया हुआ जैसे कोई घर, जिसके कमरों में ज़रूरत है कि आग की लपट दिखाकर उसे 'शुद्ध' कर दिया जाय।

खुद चेतन. 'हीरो' जो इन सारी वास्तविकताओं से धीरे-धीरे सचेत होता जाता है, रोगी है। उसका रोग नीला, उसकी साली, नहीं—या ही नहीं। × × × कितनी सही फबती है, कि वह गेटी थिएटर में ज़ाफ़रान (बाँदी) बनता है और एनक पहने स्टेज पर चला आता है, और उसको ख़बर नहीं कि सारा हाल क्यों हँस रहा है। मध्यकालीन दरबार में इस बाँदी की नाक पर ग़लती से प्रतिभा शाली लेखक वाली ऐनक रखी रह गयी है, वह और नीचे खिसक आती है। और सारे हाल को भी ख़बर नहीं कि वह अपने ही ऊपर हँस रहा है। एक 'पैंटालून' है

नाविल भर में चेतन पर जो इस बेदर्दी से प्रहार हुए हैं, वे निम्न मध्यवर्ग के खोखलेपन को, उसके ख़ाली-पोलेपन को, आख़ीर में और भी आँखों के आगे मूर्त कर देते हैं।—जहाँ नीला की शादी दूर-पार बर्मा में एक अधेड़ से हो रही है; जिसके जवान भतीजे की आँखों में नीला खड़ी हँस रही है। वही ग़रीब नीला, चेतन की सबसे प्यारी चीज़; बेचारा चेतन,—आँखों से जीवन के उपहास का आख़िरी (आख़िरी!) पर्दा उठ रहा है। 'गिरती दीवारें' का आख़िरी सफ़र ख़त्म हो जाता है। मगर 'गिरती दीवारें' ख़त्म नहीं हुई हैं। न उनका गिरना।

इसलिए यह उपन्यास ख़त्म नहीं होता है, अधूरा रह जाता है। जहाँ आकर यह उपन्यास 'ख़त्म होता है', वह आधा मंज़िल का विराम है। इसका 'परिशिष्ट'

गिरी हुई दीवारें या नई नींवें जिनमें मजबूत मिट्टी, कूट कर भरी जा रही हो, है; और चेतन (क्योंकि वह 'चेतन' है—लेखक का, स्पष्ट ही, स्थानापन्न) उनको देख रहा है। 'गिरती दीवारें' सन् ३०-३१ के आस पास का निम्न मध्य वर्ग है। अभी तो—"लौट के 'बुद्धू' घर आया" है।

...चेतन ने बुद्धिजावी कलाकार की राह पकड़ ली है। यह राह असंतोष की है, झल्लाहट, और अपने और दुनिया भर के ऊपर क्रोध की है। इन झल्लाहटों—यानी उनके कारणों को दूर करने की है। अपने आप को बदलने की है, यानी समाज को बदलने की। भागने की नहीं, बगावत का है।

अभी चेतन के आगे बहुत से पर्दे उठने बाकी हैं। सन् ३०-३१ के बाद हमारा समाज एक बहुत तेजरो कहानी है।

सन् ३० ३८ के चेतन या तो अब तक खत्म हो लिये होंगे 'श्रीमान्', 'शर्माजी' या 'माननीय' बनकर, या वे सचमुच अपने समाज की नई चेतन शक्ति बनकर, व कलाकार बुद्धिजीवी, उससे समाज को उठा रहे होंगे अन्यथा वे जिन्दा नहीं रह सकते उन गिरती दीवारों के बीच—जिनमें बहुत सी तो सन् ४८ तक आप ही गिर चुकी होंगी। अगर्चे 'गिरती दीवारें' के आवरण पर 'पहिला भाग' कहीं नहीं लिखा हुआ है, मगर मैं समझता हूँ कि इसके बहुत से पाठक इसकी कथा के अन्दर से साफ उसका पढ़ लेंगे, और अश्क के दूसरे नाविल का सब्र के साथ इंतजार करेंगे।

द्वैमासिक साहित्य-संकलन

१०

हेमंत

संपादक
सियारामशरण गुप्त
नगेन्द्र
श्रीपतराय
सच्चिदानंद वात्स्यायन

अनुक्रम :

'दिनकर'

ओ ज्वलंत इच्छा अशेष !

ओ अनिल-स्कंध पर चढ़े हुए प्रच्छन्न अनल !
हुत-प्राण वीर की ओ ज्वलंत इच्छा अशेष !
यह नहीं तुम्हारी अभिलाषाओं की मंजिल।
यह नहीं तुम्हारे स्वप्नों से उत्पन्न देश।

काया-प्रकल्प के बीज मृत्ति में ऊँघ रहे,
हैं ऊँघ रहे आदर्श तुम्हारे महाप्राण,
बलिसिक्त भूमि में जिन्हें गिराया था मैंने,
जाने मेरे भी ऊँघ रहे वे कहाँ गान।

यह सुरभि नहीं, मधु स्वप्न तुम्हारे जलते हैं,
यह चमक ? तुम्हारे आदर्शों में लगी आग।
पहचान सकोगे लक्ष्मी को ? यद्यपि उसने
है मला तुम्हारी इच्छा का मुख पर पराग।

अंजलि-भर जल से भी उगते दूर्वा के दल,
वसुधा न मूल्य के बिना दान कुछ लेती है;
औ' शोणित से सींचते अंग हम जब उसका,
बदले में सूरज-चाँद हमें वह देती है।

सुर-निर्मित यह चाँदनी, धूप की चमक-दमक,
ये फूल और ये दीप, सभी छिप जायेंगे;
बलि की खेती पर पड़ी पपरियों को उछाल
नर के जब सूरज और चाँद उग आयेंगे।

———

सुमित्रानंदन पंत

ओ अग्नि-चक्षु ! ओ सर्वोदय के ज्योति-वाह !

[छ कविताएँ]

[१]

ओ अग्नि चक्षु अभिनव मानव !
सर्पकेंज रे तेरा पावक,
चेतना शिखा मे उठा धधक,
इसको मन नहीं सकेगा ढँक !

यह ज्वाला जग-जीवन दायक —,
स्वप्नों की शोभा से अपलक
मानस-भू सुलग रही धकधक !

ओ नव्य युगागम के अनुभव,
नव ऊषा मा स्वर्णाभ वरण
वह शक्ति उतरती ज्योति चरण,
उर का प्रकाश नव कर वितरण !

नव शोभा से लथपथ भू-मन
स्वप्नों से विस्मित जन-लोचन
अब धरा चेतना नवचेतन !

ओ अंतर्ज्ञान नयन वैभव,
भू तम का सागर रहा सिहर
जन मन-पुलिनो पर बिखर बिखर
अब ज्योति चूड नाचतीं लहर !

तिरते स्वप्नों के पोत अमर
अमरों का स्वर्णिम वैभव हर,
नव मानवीय द्रव्यों को भर !

तो गूँज रहा अंबर में रव,
मैं लोक-पुरुष, मैं युग-मानव,
मैं ही सोया भूपर नीरव,
मेरे ही भू-रज के अवयव!

अपने प्रकाश से कर उद्भव
मैं ही धारण करता हूँ भव
निज स्वप्नों का रच मनोविभव!
जय, त्रिनयन युग-संभव मानव!

[२]

मैं नवमानवता का संदेश सुनाता,
स्वाधीन देश की गौरव-गाथा गाता
मैं मनःक्षितिज के पार मौन शाश्वत की
प्रज्वलित भूमि का ज्योतिवाह बन आता!

युग के खँड़हर पर डाल सुनहली छाया,
मैं नवप्रभात के नभ में उठ मुसकाता,
जीवन-पतझर में, जन-मन की डालों पर,
मैं नवयुग के ज्वाला-पल्लव सुलगाता!

आवेगों के उद्वेलित जन-सागर में,
नव स्वप्नों के शिखरों का ज्वार उठाता!
जब शिशिर-क्रांत वन-रोदन करता भू-मन,
युग-पिक बन प्राणों का पावक बरसाता!

जड़ मिट्टी के पैरों से क्लांत जनों को,
स्वप्नों के चरणों पर चलना सिखलाता।
तापों की छाया से कलुषित अंतर को,
मैं मुक्त प्रकृति का शोभा-वक्ष दिखाता!

जीवन-मन के भेदों में खोयी मति को,
मैं आत्म-एकता में अनिमेष जगाता।
तम-पंगु वहिर्मुख जग में बिखरे मन को
मैं अंतर-सोपानों पर ऊर्ध्व चढ़ाता!

आदर्शों के मरुजल के दग्ध मृगों को,
मैं स्वर्गंगा स्मित अंतर्पथ बतलाता!
जन जन को नव मानवता में जाग्रत कर,
मैं मुक्तकंठ जीवन-रण शंख बजाता!

मैं गीत विहग, निज मर्त्य-नीड से उड़कर,
चेतना व्योम में मन के पर फैलाता!
मैं अपने अंतर का प्रकाश बरसाकर
जीवन के तम को स्वर्णिम कर नहलाता।

मैं स्वर्दूतों को बाँध मनोभावों में,
जन-जीवन का नित उनको अंग बनाता!
मैं मानव-प्रेमी नव भू स्वर्ग बसाकर
जन-धरणी पर देवों का विभव लुटाता!

मैं जन्म मरण के द्वारों से बाहर कर,
मानव को उसका अमरासन दे जाता!
मैं दिव्य चेतना का संदेश सुनाता,
स्वाधीन भूमि का नव्य जागरण गाता!

[३]

मैं गाता हूँ,
मैं प्राणों का,
स्वर्णिम पावक बरसाता हूँ!

कब टूटेंगे मन के बंधन,
चिर अंध तन्द्रा होगी चेतन,
कब प्रेम कामना की बाँहें,
खुल, तुम्हें करेंगी आलिंगन!

मैं गाता हूँ,
मैं स्वप्नों की,
नीरव कलियाँ बिखराता हूँ!

कब दीपित होगा जीवन-तम,
कब विस्मृत होगा मनुज अहम्,
कब अंतर के गोपन सपने,
भू पर विचरेंगे ज्योति-चरण ?
मैं गाता हूँ,
मैं जन-मन को,
ज्वाला का पथ बतलाता हूँ!

कब डूबेंगे सुख-दुख के क्षण,
लय होंगे तुममें विरह-मिलन,
कब तप्त लालसा के मुख पर,
तुम धर दोगे शीतल चुंबन ?
मैं गाता हूँ,
मैं मर्त्यों को,
अमरों के पास बुलाता हूँ !

शोभा के रहस उरोजों पर,
कब प्रीति धरेगी उपकृत कर,
कब मानव के आनंद-कर्म,
उर वैभव से होंगे शोभन ?
मैं गाता हूँ,
जन-धरणी पर,
जीवन का स्वर्ग बसाता हूँ !

पल्लवित प्रणय की तरुण डाल,
सुलगा प्राणों में विरह-ज्वाल-,
कब मिट्टी की मांसल ममता,
प्रिय तुम्हें करेगी आत्मार्पण ?
मैं गाता हूँ,
मैं अंतर की,
आभा में उर नहलाता हूँ !

[४]

क्या एक रात में ही सहसा,
ये हरित शुभ्र कोंपल फूटे ?
क्या एक प्रात में स्वप्न निद्र,
जीवन तरु के बंधन टूटे ?

पत्रों की मर्मर में भंकृत,
अब सुरवीणाओं के प्रिय स्वर,
शोभा की नवल शिखाओं से
प्रज्वलित धरा के दिक्प्रांतर ?

यह विश्वक्रांति मानव उर में,
सौंदर्य ज्वार आया नूतन।
मन प्राण देह की इच्छाएँ,
करतीं शिखरों पर आरोहण !

तुम क्या रटते थे जाति धर्म,
औ' वर्ग-युद्ध, जन आंदोलन ?
क्या जपते थे, आदर्श, नीति,
वे तर्कवाद, अब किसे स्मरण !

गोपन सा कुछ हो रहा आज,
जन मन के भीतर परिवर्तन,
अंतर्चेतन तारुण्य फूट,
गढता अब नव जग का जीवन !

यह मानवीय रे सत्य निखिल,
आधार चेतना, कला कुशल,
यह सृजनशील होती विकसित,
जड़ से जीवन, मन में प्रतिपल !

वह विस्मृत कड़ी जगत क्रम की,
जिससे समृद्धि परिणति संभव,
फिर आने को ऐश्वर्य ज्वार,
अब लोक-चेतना में अभिनव !

मैं मुट्ठी भर-भर बाँट सकूँ,
जीवन के स्वर्णिम पावक-कण,
वह जीवन जिसमें ज्वाला हो,
मांसल आकांक्षा हो मादन !

वह जीवन जिसमें शोभा हो
शोभा सजीव, चंचल, दीपित,
वह जीवन जिसकी मर्म प्रीति
रखती हो सुख-दुख से मुखरित !

जिसमें अंतर का हो प्रकाश
जिसमें समवेत हृदय-स्पंदन
मैं उस जीवन को वाणी दूँ
जो नव आदर्शों का दर्पण !

जीवन रहस्यमय, भर देता
स्वप्नों से जो तारापथ मन,
जीवन रक्तोज्ज्वल, करता जो
नित रुधिर शिराओं में गायन !

इसमें न तनिक संशय मुझको,
यह जन-भू जीवन का प्रांगण,
जिसमें प्रकाश की छायाएँ,
विचरण करतीं क्षण-ध्वनित चरण !

मैं स्वर्गिक शिखरों का वैभव,
हूँ लुटा रहा जन-धरणी पर,
जिसमें जग-जीवन के प्ररोह,
नव मानवता में उठें निखर !

देवों को पहना रहा पुनः,
मैं स्वप्न मांस के मर्त्य-वसन
मानव-आनन से उठा रहा,
अमरत्व ढँके जो अवगुंठन !

अरुणोदय नव, लोकोदय नव।
मंगल ध्वनि हर्षित जन-मंदिर,
गूँज रहा अंबर में मधु रव,
स्वर्णोदय नर, सर्वोदय नव!

रजत झाँझ में बजते तरुदल,
बहते स्वर्णिम निर्झर कलकल,
मुखर तुम्हारे पग पायल फिर,
भू जीवन शोभा का उत्सव!

स्वप्न-ज्वाल धरती का अंचल,
अधनार उर रहा आज जल,
स्वर्ण द्रवित हो रही चेतना,
विजय दीप्त अब 'विश्व पराभव'!

हरित पीत छायाएँ सुंदर,
लोट रहीं धरती की रज पर,
स्वर्णाग्नि आभाएँ भर भर,
लुटा रहीं अंबर का वैभव!

नव ई युग के खिलते पल्लव,
उर में भर स्वप्नों का मार्दव,
स्वर्णोज्ज्वल यौवन प्ररोह में,
फूट रहा वसुधा का शैशव!

यह जीवन मंगल का गायन,
युग संघर्षण निरत पुरातन,
जन युग के कटु हा हा रव में,
मानव युग का होता उद्भव।

———

प्रभाकर माचवे

नयी हिंदी-कविता में छंद-प्रयोग

खुल गये छन्द के बंध
प्रास के रजत-पाश,
अब गीत मुक्त
औ' युगवाणी बहती अयास ! (पंत)

तुक टूटी तो
        सिर झुकते थे,
तुक जुड़ती
        मुसका जाते थे !
जब जीवन सम्मुख आता—
बस,
उसे बेतुका बतलाते थे ! (निराला)

'मेरा कहना है ब्रजभाषा मोस्ट रही है,
        खारवां की गद्दी है,
और स्वच्छंद मेरा राग चट-बद्द है,
        छंद जो रबड़ है।' (उजबक : उग्र)

उजबक प्रहसन का पात्र चाहे जो कहे, पं० रामचद्र शुक्ल 'निराला' के संबंध में दो परस्पर-विरोधी (या परस्पर-पूरक) बातें कहते हैं।

'संगीत को काव्य के और काव्य को संगीत के अधिक निकट लाने का सबसे अधिक प्रयास निरालाजी ने किया है।'

'सबसे अधिक विशेषता आपके पद्यों में चरणों की स्वच्छन्द विषमता है। ...बेमेल चरणों की आजमाइश इन्होंने सबसे अधिक की है।'

निराला 'बंधनमय छंदों की छोटी राह' छोड़कर, छंद की कारा तोड़कर हिंदी में मुक्त-छंद को बंगाल से लाये। 'परिमल' की भूमिका में वैदिक काव्य की गण-साम्य-विहीनता का उदाहरण देकर निरालाजी ने बतलाया है कि ज्यों-ज्यों सभ्यता नियम-

जड़ित होती जाती है, उसमें चित्रमयता बढ़ती जाती है, अनुशासन जकड़ते चले जाते हैं। "छंद भी जिस तरह कानून के अन्दर सीमा के मुख में आत्मनिग्रह हो सुन्दर नृत्य करते, उच्चारण की शृंखला रखते हुए, श्रवण माधुर्य के साथ ही साथ श्रोताओं को सामा के आनन्द में झुला रखते हैं, उसी तरह मुक्त-छंद भी अपनी विषम गति में एक ही साम्य का अपार सौंदर्य देता है, जैसे एक ही अनंत महा समुद्र के हृदय का सब छोटी बड़ी तरंगें हों, दूर प्रसरित दृष्टि में एकाकार, एक ही गति में उठती और गिरती हुई। नयी हिंदी-कविता में छंद के विषय में लिखना निराला और परवर्ती कवियों के छंद विषयक प्रयोगों पर लिखना है। संक्षेप में, मुक्त-छंद पर लिखना है।

मुक्त छंद को परिभाषित करें। 'मुक्त' का अर्थ यह है कि रूढ़ छंद शास्त्र से, संस्कृत परपरा से आनेवाले हिंदी के पिंगल और देशज तर्जों या जातियों से, घिसे घिसाये या पिटे पिटाये काव्य रूपों से भिन्न, स्वतंत्र, नवीन छंदविधान। परंतु इस मुक्ति का अर्थ यह नहीं कि वह सर्वथा अराजकतापूर्ण गद्यमात्र हो। यद्यपि आधुनिक कविता में गद्य और पद्य की सीमाएँ बहुत कुछ मिटती जा रही हैं बकौल जा० एम० हॉपकिन्स के।*

फिर भी इस बँगला के अमित्र, हिंदी के भिन्नतुकांत, अतुकांत और स्वच्छंद गुजराती के अपद्यागद्य और मराठी के 'मुक्त' छंद के विषय में, जो बहुत कुछ अंग्रेजी के ब्लैंक वर्स फ्री वर्स या वर्स लीब्र से प्रभावित हैं, विशेष जानना आवश्यक है।

मूलतः इस समस्या के दो अंग हैं—(१) कविता छंद बंधन से मुक्त हो, यानी इस प्रकार बँधे बँधाये छंद से छुटकारा पाने से उसका कुछ नहीं बिगड़ता, क्योंकि छंद एक कृत्रिम, बाह्य पाश है, (२) पुराने छंद प्रकार अब चमत्कार शून्य हो गये हैं।

अब पहले तो यहां देखना होगा कि छंद क्या कविता का पहिनावा मात्र है या कि मूर्ति सत्ता है? वह कविता का बाह्य वेश है या आकार है? वह कविता की रस वस्तु से निगड़ित उससे निर्णीत कोई रूप है या उसका स्वतंत्र अस्तित्व है? फिर यह देखना होगा कि छंदस्त्व किस चीज पर निर्भर करता है—ताल पर, लय पर, अक्षर मैत्री पर, प्रास पर या गण मात्राओं की आवृत्तिमात्र पर? फिर छंद को कविता की

*वा मस्ट नॉट इन्सिस्ट आन नोइंग व्हेयर दि वर्स एंड्स ऐंड प्रोज़ (ऑर वर्सेस कॉंपोजीशन) बिगिन्स, फार दे पास इन्टू वन ऐनदर।

पद्य कहाँ समाप्त होता है और गद्य (अथवा अपद्य रचना) कहाँ आरम्भ होता है, यह जानने का आग्रह हम नहीं करना चाहिए, क्योंकि वे दोनों एक दूसरे में मिल जाया करते हैं।

संगीतात्मकता से भिन्न मानना होगा। अध्यापक रामखेलावन पांडेय अपने 'गीति-काव्य' पर अज्ञेय का गीत 'दूर-वासी मीत मेरे' उद्धृत कर आगे भाष्य में लिखते हैं १४ मात्राएँ। "पहुँच क्या तुम तक सकेंगे काँपते ये गीत मेरे'=२८ मात्राएँ। 'गीत,' 'विनीत' में रदीफ़ का मेरे में काफिर का आग्रह है। 'आज कारावास''छार जलकर' में रुबाई का ढंग स्पष्ट लक्षित है। लेकिन गायक अथवा पाठक का ध्यान इस छंद-बंध की ओर न जाकर सहज स्वाभाविक गीति-प्रवाह की ओर जाता है। शब्दों की प्रकृत संगीतात्मक शक्ति-द्वारा रागात्मक वृत्ति को स्फूर्ति मिलती है। यह गीति-काव्य वाद्य-यंत्र की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता। आवृत्ति, प्रकृति और अभिव्यक्ति के द्वारा सहज अंतस्थित संगीत की धारा फूट पड़ती है। संगीत इसकी आत्मा के साथ घुला-मिला है। संगीत स्वरूपात्मक न बनकर आत्मिक बन जाता है।...तालैक्य की दो श्रेणियाँ हैं—एक आंतरिक, दूसरी बाह्य। छंद के बंधन इस बाह्य तालैक्य की अपेक्षा रखते हैं।...अन्तर्तालैक्य का निर्वाह और अविच्छिन्न आंतरिक धारा का सफल निर्वाह-गीति-काव्य का लक्ष्य होता है।...इस प्रकार गेय काव्य से गीति-काव्य भिन्न है।

मराठी ग्रन्थ 'छंदोरचना' के आरंभ में डॉ. पटवर्धन ने सभी मात्रा-प्रबन्धों को पद्य मानकर उनके तीन विभाग किये हैं –(१) वृत्त या लगत्व भेदानुसारी अक्षर-संख्याक रचना। इसे अक्षरछंद भी कहते हैं। इसीके दो भेद हैं; (क) भिन्न मात्रा-वली के संख्याक्रम भेद से सिद्ध होनेवाले वृत्त; और दूसरे (ख) किसी विशेष गण की पुनरुक्ति से सिद्ध होनेवाले वृत्त; (२) छंद-लगत्व भेद सहित अक्षर-संख्याक रचनाएँ जिनमें पणमात्रिक ताल और अष्टमात्रिक ताल के दो भेद हैं; (३) जाति—लगत्व भेदानुसारी तथापि अक्षर-संख्याक नहीं, अपितु मात्रा-संख्याक रचना। इसमें भी मात्रा-पणमात्रिक और अष्टमात्रिक ताल के दो भेद हैं। साधारण पिंगलों में गणवृत्त, मात्रा-वृत्त और अक्षर-वृत्तों की चर्चा होती है, जैसे मालिनी, शिखरिणी और शार्दूलविक्रीडित, आदि विद्युन्माला से स्रग्धरा तक के छंद जो 'यमाताराजभानसलगम्' से बँधे रहते हैं। हिंदी के प्रिय-प्रवास और सिद्धार्थ काव्य इनमें हैं। बाद में ये छंद क्यों हिंदी में लोकप्रिय न रह पाये, पता नहीं। मराठी-गुजराती में ये छंद, विशेषतः शार्दूलविक्री-डित, मन्दारमाला आदि अभी भी बहुत प्रचलित हैं। दूसरे प्रकार से वर्णिक छंद अभी भी हिंदी में रूढ़ हो गये हैं और वे चामर, गीतिका आदि के रूप। 'मिट्टी की ओर' में दिनकरजी 'तुलसीदास' के छंद की विवेचना में पद्धरी अथवा पद्धटिका की चार पंक्तियाँ और अंत में लघ्वंत मात्राओं का वर्णन करते हैं। 'पद्धरी अथवा पद्धटिका की दो पंक्तियों का मिलित प्रवाह बहुत कुछ पिंगल के मत्तसवैया तथा शुद्ध ध्वनि छंद से मिलता-जुलता है।" इस १६ मात्राओंवाले छंद के साथ-ही-साथ १४

मात्रावाले प्रसार्‍ छंद को "उर्दू के 'मफ्ऊलो मफाईलुन, मफ्ऊलो मफाईलुन' बहर के वजन पर निकला हुआ सा" दिनकर मानते हैं। महादेवी की 'नीरजा', 'सान्ध्यगीत', 'यामा' में तथा बच्चन के 'एकांत संगीत', 'निशा निमंत्रण' आदि में गजल के काफ्य-रदीफ पद्धति की भी छाया दीखती है। परंतु ये सब वर्णिक और मात्रिक छंद अंततः रूढ़ छंद की ही कोटि में आते हैं। परंतु स्पष्ट है कि मुक्त छंद के जो प्रयोग आज हिंदी की नयी से नयी कविता में मिल रहे हैं, उन पर उर्दू, अंग्रेजी, लोकगीत की धुनों, अन्य भाषाओं के छंद प्रयोगों की स्पष्ट छाया होने पर भी हिंदी की देशी छंद पद्धति में कटकर वे प्रयोग बिलकुल अटपटे लगते—जैसे शमशेर बहादुर के कुछ नये प्रयोग, या केदारनाथ अग्रवाल का तालात्मक गद्य रचना।

और गहरे जाकर हम मुक्त छंद में भी उस तत्त्व को, जो कि उसे गद्यात्मक नहीं बनने देता, उस 'अंततालैक्य' और लय की स्वरूप सिद्धि को समझना होगा। क्योंकि लय और ताल संगीत से लिए हुए शब्द हैं, इसलिए यह स्पष्ट जान लेना होगा कि संगीत-लय से छंदालय कैसे भिन्न है।

संगीत स्वर प्रधान है। उसका आधार श्रुति, ताल, मात्रा आदि है।
छंद अक्षर प्रधान है। उसका आधार गणमात्रा, स्वराघात आदि है।
'यजुःसामनियताक्षरत्वान्नैषां छंदो न विद्यते।'
सभी संगीत छंदमय नहीं होते। कई 'चीजों' में संगीत होता है, किन्तु काव्यत्व नहीं। दादरे या ध्रुपद या अटाने के बोल संगीत के गणित के समान हैं। उनमें अर्थ प्रधान नहीं।
सभी छंद संगीतानुकूल नहीं होते। कई पद्य प्रकारों में छंदत्व होता है, परंतु संगीत-लय नहीं होता। (उदाहरणार्थ हिन्दी का डिंगल-काव्य) छंद में नाम की अपेक्षा ध्वनि चित्रों पर अधिक ध्यान होता है।
संगीत की चीजों को आप सीधे पढ़िये, या उनका 'रेसीटेशन' (ताल बद्ध आवृत्ति) कीजिए, कोई आनंद नहीं आयेगा। कभी कभी ताल भी नहीं जान पड़ेगा।
छंदमय पद्य-रचना के सीधे पढ़ने से भी साहित्य प्रेमी प्रसन्न होगा। उसमें का छंदत्व बिना गलेबाजी के भी प्रभावशाली होगा।
संगीत के लिए पद्य रचना आवश्यक नहीं। केवल अक्षर पर्याप्त होते हैं।
छंद की लय से पद्य की अक्षर रचना का नियमन होता है। मुक्त छंद भी छंदत्व से मुक्त नहीं हो सकता। अन्यथा वह गद्य हो जायगा।
'गायननादननतन इति संगान'।

'चन्दयति इति छंदः' (जो अह्लाद दे वही छंद है)।

'प्रसाद' जी ने अपनी 'काव्यकला' में लिखा है—'संगीत नादात्मक है और कविता उससे उच्चकोटि की अमूर्त कला।' तो यह हम मानकर चलें कि जिस कविता की हम चर्चा करने जा रहे हैं, उसमें सूक्ष्म छंदोलय तो एकदम आवश्यक है ही। उसके बिना वह पद्य न रहकर, गद्य-रचना बन जायगी। कभी-कभी पद्य के बीच में कहीं भावों को नाट्यात्मक ढंग से तीक्ष्णतर बनाने के लिए गद्य का भी आश्रय लिया जा सकता है, जैसे मराठी के वीरकाव्य 'पोवाड़ों' के छंदों में गति को और तीव्रता देने के लिए बीच में एक-दो पंक्तियाँ एकदम गद्यप्राय बोली जाती हैं। जैसे, बच्चन के 'बंगाल का काल'। 'गॉड हेल्प्स दोज़ हू हेल्प देमसेल्व्ज़' को गद्य नहीं तो कैसे पढ़ेंगे ?—छंद की लय के साथ यह पंक्ति बीच में ही भिन्न प्रकार की जान पड़ती है।)

हिंदी-कविता में नये कवियों ने जो इस क्षेत्र में कुछ प्रयोग किये हैं और उन्हें इस दिशा में जो कठिनाइयाँ जान पड़ी हैं, या और जो-जो संभावनाएँ इस क्षेत्र में हैं, उन पर विस्तृत विवेचना. एक-एक कवि को लेकर, उसकी. रचनाओं से उदाहरण देकर, करें। इस क्षेत्र में सबसे पहिला नाम 'निराला' जी का आता है। 'पंतजी और पल्लव' नामक निबंध में 'निराला' ने कोमल और परुष मुक्तछंद के भेद की चर्चा की है। उदाहरणार्थ पंत के 'रूपार्थ' से ये दो गीत लीजिये। इनमें गति-यति का साम्य कहाँ है ?

(१) राग, केवल राग !
छिपी चराचर के अंतर में—
अनिर्व्याप्य चिर आग,
राग, केवल राग !

प्रथम पंक्ति पढ़ने पर यह 'र-त' गण का छंद जान पड़ता है। परंतु दूसरी और तीसरी पंक्तियाँ मात्रिक छंद की हैं—१६, ११ की।

(२) तूल जलद, ऊर्ण जलद —('भ-गण, दो लघु' की पुनरावृत्ति)
तूम-धूम, जलपूर्ण जलद —(गति-भंग, मात्रिक पंक्ति, १४ मात्रा)
कात मसृण जलसूत —(११ मात्रा)
भू-पट पर जीमूत —(११ मात्रा)
हरित काढ़ते तृण, तरु, छद !—(१४ मात्रा)

(इसी प्रकार के १२, १४, ११, ११, १४ की आवृत्तिवाले आगे के सब छंद हैं।)

उर्दू का रंग नया हिंदी कविता पर इतना अधिक आ गया है, क्या आप नीचे की पंक्तियाँ पढ़कर कल्पना कर सकते हैं कि ये किसकी लिखी हुई होंगी—

लड़ाई कड़ी है मगर आखरी है
ख्यालात अपने, निगाहें निरानी!

ये पंक्तियाँ नरेन्द्र शर्मा के 'हंसमाला' संग्रह से हैं। और वीरेश्वरसिंह की ये पंक्तियाँ—

जरा अब घर की सीधी बात कह दो!
अभी बाकी है कितनी रात कह दो!

इन पंक्तियों में अ-गालिबित टार्गनिंग ह्रस्व पढ़े जाते हैं। यह उर्दू की सुविधा तथा बंगला और मराठी का अक्षरालंकृत वाला सौंदर्य खड़ी बोली को प्राप्त न होने में उसे संस्कृत परंपरा से चलना पड़ता है। फिर संस्कृत शब्दों के उच्चारण भी हिंदी में निश्चित नहीं—जैसे 'अमृत' प्रथमाक्षर पर स्वराघात में पढ़ते हैं, कहीं अमृतसुधर जैसे शब्दों में बिना आघात से। इसलिए 'निराला' के 'कुकुरमुत्ता' में मुक्त-छंद की और खड़ी बोली की (क्योंकि वह उर्दू की भाँति लचकीला नहीं) छंदालंकारसी हुई है।

उदाहरणार्थ—तीरसे खींचा धनुष में राम का

काम का—
पड़ा कन्धे पर हूँ हल बलराम का
सुबह का सूरज हूँ मैं ही
चाँद में भी शाम का।
मैं ही डाँडी से लगा पल्ला
सारी दुनिया तोलता गल्ला
मुझसे मूँछें, मुझसे कल्ला
मेरे लल्लू, मेरे लल्ला।

'फायलातुन फायलातुन फायलुन'—याद में शुरू कर बाद में यह गति बदलता चला जाता है। कहीं कवित्त के टुकड़े हैं, कहीं मानिक छंद जैसी गति है, कहीं चामर है, कहीं उर्दू वाला वजन। जहाँ नाम सूचियाँ आती हैं वहाँ ये खींचातानी असह्य हो जाती है, जैसे—

मेरी सूरत के नमूने पीरामीड्
मेरा चेला था यूक्लीड
रामेश्वर, मीनाक्षी, भुवनेश्वर,
जगन्नाथ, जितने मंदिर सुंदर,

'निराला' की ये कमजोरियाँ निरालोत्तर मुक्त-छंद-लेखकों में चलती रहीं। लिखित कविता के चरणक, पठित कविता के चरणकों से आँके जाने लगे। उर्दू मुक्तछंद अलग दिशा में चल रहा था: हिंदी मुक्तछंद जैसे परपरा से कटकर अपनी अलग धारा बनाने लगा। मगर निरे भावावेश से कुछ नहीं होता। सतर्कतापूर्वक इस छंद-नावीन्य को, छन्द में नये प्रयोगों को ग्रहण करना चाहिए, यह बात 'तारसप्तक' के कवियों के काल तक आकर मिलने लगी।

'अज्ञेय' के 'इत्यलम्' संग्रह में लोकगीतों की धुनों का असर परावर्ती छंदों में स्पष्ट है; जैसे 'ओ पिया पानी बरसा', 'फूल काचनार के, प्रतीक मेरे प्यार के'; 'वह आयेगी—धारा आती-जाती है; वह मेरी नस-नस की पहचानी है' ('आषाढ़स्य प्रथम दिवसे')! 'अज्ञेय' के मुक्त-छंद पर अंग्रेजी के आधुनिक छंद-प्रयोगों का, विशेषतः इलियट की प्रलंबित, पुनरावृत्तिवाली टेकनीक का और लारेंस की भावावेशमय गद्यात्मक ध्वनि-चित्रण-पद्धति का बहुत सूक्ष्म पर गहरा प्रभाव है। परंतु अज्ञेय के मुक्त-छंद में सरसता न आ पाने का कारण उसमें नाद-माधुर्य की जो एक मूलभूति अंतर्धारा चाहिए, उसका अभाव है। छंद की गति भी सहसा कहीं-कहीं टूट जाती है, जैसे शरणार्थी में उनका यह छंद—

'मानव की आँख'

कोटरों से गिलगिली घृणा यह झाँकती है '—(४-४-४-४ कवित्त-जैसी यति)
मान लेते यह किसी शीत-रक्त, जड दृष्टि —(वही)
जल-तलवासी तेंदुए के विषनेत्र हैं —(सहसा ३ अक्षरोंवाला अंत)
और तमजात सब जंतुओं से —(३ अक्षरों का अंत)
मानव का वैर है
क्योंकि वह सुत है प्रकाश का— —(अक्षरों का अंत)

यदि इनमें न होता यह स्थिर तप्त स्पंदन तो ? और इस पंक्ति का तो कोई नियम ही नहीं। और 'सावन-मेघ' (तारसप्तक, पृष्ठ ७७) कविता में चौथी पंक्ति की गति पहली तीन से एकदम भिन्न है। अतः इस प्रकार यदि मुक्तछंद किसी-न-किसी अंतर्लय को भी न मानेगा, तो दूसरे भाषा-भाषी पाठकों के लिए यह कठिन हो जायगा कि वे उसे पढ़ें और उससे आनंद उठा सकें।

गिरिजाकुमार माथुर ने इस दृष्टि से बहुत सफल प्रयोग किये हैं। उन्होंने सवैये को तोड़कर 'आज है केसर-रंग रँगे वन' में प्रयुक्त किया। संगीत का प्रेम होने के कारण वे शब्दों के ध्वनि-चित्रों को खूब समझते हैं; इसीलिए नये शब्दोच्चारणों की अवतारणा भी करते हैं—सूनसान, माँदी, पिरामीड इत्यादि। परन्तु

गिरिजाकुमार के अधिकांश मुक्त छंद एक योजनाबद्ध छंद प्रयोग को लेकर चलते हैं। उनके पीछे ध्वनि योजना (साउंड पैटर्न) की भी भावना होती है, जैसे 'तार-सप्तक' के 'वक्तव्य' में वे स्वयं कहते हैं—"ध्वनि विधान में मेरे प्रयोग मुख्यत स्वर ध्वनियों के हैं। व्यंजन ध्वनियों से उत्पादित संगीत को मैं कविता में संगीत नहीं मानता। प्रत्युत् रीतिकालीन रूढ़ि समझता हूँ। छायावादी कवियों में इसी कारण मैं कोई संगीत नहीं देखता। परन्तु इधर गिरिजाकुमार की कविता में गद्यमयता आती जा रही है, जैसे 'एशिया का जागरण' या 'तीन जून' इत्यादि प्रसंगनिष्ठ कविताओं में। मुश्किल यह है कि गिरिजाकुमार के जो कोमल गीत-प्रयोग प्रकाशित होने चाहिए, वे न छपकर, छपता है 'ओ बैंड बजानेवालो, साथ साथ निज कदम मिलाकर, चलो आज बाहर आओ सड़कों पर।' जन भाषा और जन-साहित्य के युग में कविता को भी जन-कविता बनाने के आग्रह में उसमें की संगीतात्मकता में, लयमयता में एक आवश्यक परिवर्तन तो आयेगा ही। परन्तु उसका अर्थ यह न हो जाय कि गद्य पद्य की सीमा-रेखाएँ इतनी मिट जायें कि काव्य और संगीत का जो सूक्ष्म और आंतरिक सुदृढ़ संबंध है, वही भंग हो जाय—जैसा कि केदारनाथ अग्रवाल, रांगेय राघव और शमशेरबहादुर की कुछ छंद रचनाओं में व्यक्त होता है। उनके बारे में तो गियोम एपोलिनेयर की ये पंक्तियाँ आती हैं—

> You read prospectuses and the catalogues and the
>   placards shouting aloud
> Here's your poetry this morning..

इधर एक बहुत मजेदार छोटी पुस्तक मेरे पढ़ने में आयी—जाक मारितेन की 'आर्ट एंड पोयट्री' उसके अंतिम निबंध 'फीडम आफ सॉंग' में यह कुछ रहस्यवादी-सा ममत्वहर चित्रकारों की चित्ररचना, स्ट्राविन्स्की के संगीत और आर्थर रीड के लेखन में तुलनाएँ देता हुआ बतलाता है कि मार्क्सवाद की ओर इन कलाकारों का झुकाव कहाँ तक उनकी कला के लिए हितावह हुआ है। लॉरी की 'डायलेक्टिकल सिम्फनी' की चर्चा तक पहुँचकर वह कहता है कि 'प्रत्येक कलाकृति के तीन अंग होते हैं—शरीर, प्राण और आत्मा। शरीर से तात्पर्य है भाषा, उसका रचन से संवाद, उस कला का टेकनिकवाला अंग, प्राण से तात्पर्य है उसमें की सक्रिय भावना-कल्पना और आत्मा है काव्यत्व।' इस कसौटी से मार्क्सवादी कलाकारों ने अपने टेकनिकल (रूपात्मक) माध्यम में बहुत सतर्क और सचेष्ट प्रायोगिकता लाने का प्रयत्न चाहे किया हो, कला की पोयटिका—उसमें का काव्यमयता न जाने क्यों सूखती जा रही है। सम्भव है, यह दोष मार्क्सवादी विचार-पद्धति का इतना न होकर, उसे कलाओं पर घटित करनेवाले हमारे प्रयोगकारों की अक्षमता का हो।

मुक्तिबोध और शमशेरबहादुर के उदाहरण इस दृष्टि से चिन्त्य हैं। अपनी एक नयी कविता 'विहान' में, जिसे वह एक 'लिरिक ड्रामा' कहकर संबोधित करते हैं, शमशेर लिखते हैं—

वह
आती है
कछनी कसे
वीरबाला:
अंग
हार हसली
करधनी
कड़ों-छड़ों में फँसे।

इसे रूढ़ कवि यों लिखते—

वह आती है कछनी कसे वीरबाला [१४ अक्षर, २२ मात्रा]
अंग हार हँसली करधनी कड़ों-छड़ों में फँसे। [१८ अक्षर, २६ मात्रा]

किसी भी तरह इन दो पंक्तियों में हिंदी की दृष्टि से ध्वनि-साम्य नहीं, सिवा 'कसे', 'फँसे' के! शमशेरबहादुर उर्दू के 'वजन' से प्रभावित हैं—परन्तु बीच-बीच में निराला के कवित्त—मुक्तछंद को लिखे जाते हैं। परिणाम—एक अराजक रचना।

आगे चलकर तो और भी मजा है जब मार्क्सिस्ट सिपाही बिलकुल गद्यप्राय बोलने लगता है। और 'समस्त नर-नारी जन-मन—ॐ जयशंकर...'वाली आरती के स्वरों में 'गीत' गाते हैं। स्पष्ट है कि शमशेर ने 'गीत' शब्द का प्रयोग बहुत ही लचीले ढंग से किया है। मुक्तिबोध तो और भी विचित्र ढग से बेचारे छंद को मरोड़ते हैं। असल में हिंदी के नये कवि अंग्रेजी और उर्दू की नयी बंदिश से अत्यधिक प्रभावित जान पड़ते हैं। ये तीन पंक्तियाँ देखिए :—

लड़ाई कड़ी है, मगर आखरी है
खयालात अपने, निगाहें बिरानी,
किसी को न मालूम अपना मग

यह नरेंद्र शर्मा की 'हंसमाला' में है। यह तुकबन्दी वीरेश्वरसिंह की 'सुबह किसकी है, शाम कह दो! छुटी क्योंकर अयोध्या, राम कह दो!' की तरह है।

तुकों के मामले में कुछ नयापन (ऑडेन के ढंग पर) भारतभूषण अग्रवाल और मैंने लाने का प्रयत्न किया है। क्योंकि मैं मराठी कविता का अध्ययन करता रहा, और प्राचीन मराठी कविता में तुकों का चमत्कार काफी है। मुक्तिबोध की बेतुकी रचना में गति भी कई बार टूटती है।

कर सको घृणा क्या इतना रखते हो अखण्ड तुम प्रेम ?
जितना अखण्ड हो सके घृणा उतना प्रचण्ड रखने क्या जीवन का व्रत नेम ?

दूसरा पाठ न अंत में गीत कैसे टूट जाता है। प्रश्न यह है कि यदि गति या गीत तोड़ना भी हो तो उसके पीछे कोई कारण, कोई स्पष्टीकरण तो होना ही चाहिए।

अंतत मुझे निवेदन इतना ही करना है कि मुक्तछंद का प्रयोग हिंदी में अभी बहुत एकरस और अराजकतापूर्ण चल रहा है। उसे संयत, समृद्ध और सजीव बनाने की ओर हम आधुनिक कवि अधिक विचार से जुटें।

———

गिरिजाकुमार माथुर

ध्वनि-सिद्धांत

१. आरम्भ में ही मैं स्पष्ट कर देना उचित समझता हूँ कि मैं अपने को काव्य का एक जागरूक और जिज्ञासु विद्यार्थी ही मानता हूँ। विज्ञान, गणित, ज्योतिष, संगीत-तंत्र अथवा भाषाओं आदि का अधिकारी अपने को नहीं मानता। इतना अवश्य है कि काव्य-सबंधी अध्ययन में यह या अन्य कुछ भी यदि दृष्टिपथ में आया है तो मैंने उसे समझने तथा उसकी कसौटी पर अपनी नूतन स्थापनाओं को परखने का प्रयत्न अवश्य किया है।

२. ध्वनि-विषयक मेरी खोज और उसके प्रयोग का एक छोटा-सा इतिहास है, और अपनी मान्यताओं की विवेचना करने से पूर्व उस आधार-भूमि को स्पष्ट करना आवश्यक है। ध्वनि से मेरा तात्पर्य शब्दों की ध्वनि-शक्ति से है, विषय की व्यंजना या काव्यगत ध्वन्यर्थ से नहीं। साधारणतया ध्वनि का अर्थ कविता में लय, विराम और गति से लिया जाता है, किंतु जिस ध्वनि-सिद्धांत का मुझे यहाँ परिचय देना है वह इससे भिन्न ही नहीं, इसके आगे की वस्तु है। मेरा तात्पर्य शब्दों की मौलिक ध्वनियों के वैज्ञानिक परिचय से है, जिनके निश्चित प्रयोग से कवि विषय या परिस्थिति के स्वाभाविक रंगों को अधिक यथार्थ रूप से प्रस्तुत करता है जहाँ ध्वनि वातावरण की आत्मा बनकर आती है, काव्य की बाह्य सजावट नहीं। वह वस्तु के संपूर्ण प्रभावों का एक प्रतीक बन जाती है। कवि को यह ज्ञात होता है कि कौन-सी ध्वनि परिस्थिति-विशेष या वस्तु-स्थिति को पूर्ण रूप से व्यक्त कर सकेगी, तथा अन्य ध्वनियों का प्रयोग या तो उस स्थिति के प्रतिकूल होगा, उसे दुरूह कर देगा, यथार्थ चित्रांकन में बाधा डालेगा या वातावरण को छिन्न ही कर देगा। काव्य में वस्तु को पुनर्निर्मित करने के लिए ध्वनि-शक्ति का ज्ञान नितांत आवश्यक है। क्योंकि विभिन्न ध्वनियों के सामंजस्य से ही उपर्युक्त अन्तसंगीत की पृष्ठभूमि बुनी जा सकती है, जिसपर विषय का अभीष्ट चित्र अंकित हो सकता है।

३. हमारी कविता के मुख्य दोष हैं अत्यधिक पुनरावृत्ति, असंबद्ध विचार-क्रम, काव्य-शिल्प (टेकनीक) का एक ओर यदि नितांत अभाव तो दूसरी ओर विकृत शैलियों को लादने के अस्वाभाविक और अधकचरे प्रयोग, जिनके कारण कविता या तो एकदम निरर्थक होती है या एक पहेली बनकर रह जाती है। हमारा अधिकांश काव्य चेष्टिक (Laboured) है, और आंग्ल-साहित्य एलीज़ाबेथ-युगीन रूढ़ियों

(Conceits) की भाँति, दूर की कौड़ी लाने के प्रयत्न में शब्दाडम्बर बनकर रह गया है। इस सबके मूल में क्या है? हमारे कवियों का खंडित व्यक्तित्व (Split personalities), सामंजस्य विहीन अनुभूतियाँ (Unintegrated Emotions), अध्ययन-हीनता और वैज्ञानिक चिंतन का अभाव। हमारे काव्य शिल्प का इसीलिए निश्चित विकास नहीं हो सका और जो एक आध उदाहरण मिलते भी हैं वे 'प्रकृति न होकर विकृति' हैं तथा साधारण के स्तर से ऊपर नहीं उठते।

४ इस कथन की पुष्टि में छायावाद और प्रगतिवादी काव्य से भी उदाहरण रखे जा सकते हैं। पहले छायावाद को ही लेता हूँ, जिसके नाम के साथ क्रांति, नवीनता, मौलिकता, कलात्मकता आदि विशेषण जुड़े हुए हैं। प्रगतिवाद के सम्बन्ध में इस समय केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि प्रयोगावस्था में होने के कारण उसका सही रूप निर्धारित नहीं हो सका, और कोई भी ऐसी पुष्ट रचना नहीं हो पायी जो सच्चे अर्थ में जन जीवन की आत्मा की आवाज बन गयी हो।

५. *इस प्रयोगकालीन काव्य में सामाजिक पक्ष का तो अभाव नहीं है, किंतु* फिर भी उसमें एक सीमा तक अस्वाभाविकता अवश्य है, जो उसे सामाजिक जीवन की यथार्थ धड़कनों से दूर किये हुए है। पिछले छायावाद काव्य के अन्य दोष, जैसे—कल्पना की कोरी उड़ान, जीवन से पलायन, असामाजिकता आदि आज सबको ज्ञात है। यह भाव, पक्ष के दोष हैं। किंतु शिल्प विषयक जो श्रेय इस काव्य को दिया जाता रहा है वह भी संतोषजनक नहीं है। छायावादी काव्य में सम्पूर्ण चित्र नहीं मिलते, न वातावरण का यथार्थ रेखांकन ही वहाँ है, जिसमें वस्तु स्थिति के प्रभाव विस्तार को लेकर दृश्यपट अंकित किया गया हो। प्रकृति का अत्यधिक मानवीकरण और मूर्तिकरण करने में रूढ़िगत माध्यमों का प्रयोग वहाँ मिलता है। इस काव्य में न केवल शब्द, चित्र, भाव, विषय और अनुभूति की एक रीतिकालीन रूढ़ि स्थापित हुई, *अपितु शब्द प्रधान भी रीतिकालीन कवियों की भाँति व्यंजन ध्वनियों* से निर्मित, अनुप्रासात्मक हो रहा। पंत का कलमल टलमल, सरमर मर्मर, महादेवी की पुलकन सिहरन या सजल धवल, प्रसाद का निलय वलय अथवा लहर-लहर, निराला के अरुण तरुण या दल बादल आदि एक नहीं सैकड़ों उदाहरण इसी ओर संकेत करते हैं। विभिन्न परिस्थितियों, दशाओं, प्रभावों या परिवर्तित वातावरणों का जैसे वहाँ कोई भेद ही नहीं है। जल का संगीत प्रत्येक दशा में कलकल ही था, वायु केवल सरसर मर्मर, मद अमंद, किरणें सदा अरुण और रंग सभी काले, धुँधले या सुनहले थे। विषय की स्थिति में अन्तर होने से शब्द-संगीत में भी कोई अन्तर होना चाहिए, इस बात का वहाँ अभाव है। अधिकांश प्रगतिवादियों के बारे में भी यही बात कही जा सकती है। और सम्भवतः इस सीमा तक भी कि प्रचलित प्रगतिवाद'

की टेढ़ी-मेढ़ी गद्यात्मकता ने शब्द-संगीत का किंचित् भी ध्यान नहीं रखा। विषय की प्रधानता के साथ उन्होंने काव्य के इस पक्ष को केवल पलायन मानकर ही छोड़ दिया।

६. ठीक इसके विपरीत अन्य साहित्यों के काव्य सम्मुख आते हैं, विशेषकर संस्कृत तथा पाश्चात्य साहित्यों के। वैदिक संस्कृत पाश्चात्य भाषाओं के समान उच्चरित (accented) थी और स्वर-ध्वनियों के विशिष्ट प्रयोग के कारण एक उदात्त संगीत की जननी थी। लौकिक संस्कृत में वाल्मीकि तथा कालिदास—जैसे शब्द-संगीत के अधिष्ठाता थे ; जिनमें ध्वनियों का प्रयोग विभिन्न वातावरण के अनुरूप हमें मिलता है। यह केवल कालांतर की लेखनशीलता अथवा शैलीगत विशेषता के कारण नहीं था। इससे विषय के समस्त पक्षों के प्रति निश्चित जागरूकता ही परिलक्षित होती है। विषय की स्थापना में उचित ध्वनियों के प्रयोग-कला का उन्हें एक स्वयंभूत ज्ञान अवश्य था। इसी कारण उनके चित्र सम्पूर्ण होने के साथ-साथ उपर्युक्त वातावरण प्रस्तुत कर देते हैं। 'मेघदूत' में जब आषाढ़ का प्रथम बादल उठता है, तब उसके साथ मालव की काली मिट्टी से उठी सोंधी सुगंध भी पाठक को आने लगती है। यही वातावरण-निर्माण की सफलता भी है।

७. एक अन्य बात का स्पष्टीकरण यहाँ आवश्यक है। काव्य में कलापक्ष के इस महत्त्व की ओर संकेत करने से मेरा उद्देश्य किसी भी रूप में कलावादियों के प्रचलित नारे की प्रतिष्ठा करना नहीं है ; क्योंकि उस नारे की निरर्थकता सिद्ध हो चुकी है। और आज के जीवनदर्शी युग में विगत आदर्शों की प्रतिष्ठा का विचार करना अज्ञानता है। कलावादी नारा, जिसमें स्वांतः सुखाय का आदर्श भी आ जाता है, सामंतवादी युग-नारा है जिसे महाजनी सभ्यता ने विभिन्न रूपों में अपनाया और प्रयुक्त किया। हमारे साहित्य में उसका प्रथम रूप रीतिकालीन परंपरा के बाद छायावादी है, दूसरा मध्यवर्गीय राष्ट्रवाद, तीसरा पहले के प्रगतिशीलों का संघर्ष के इस युग में सत्य और शिव की कल्पना करना अथवा भविष्य-द्रष्टा बनकर किसी स्वर्ण लोक के रंग के भरे युग की प्रतिष्ठा करना। यह सभी प्रवृत्तियाँ हेर-फेर से समान हैं। जीवन और उसकी परिवर्तित होनेवाली परिस्थितियों से पलायन की वृत्तियाँ हैं, संघर्ष करके उन पर विजय पाने की नहीं। एक अन्य प्रवृत्ति का उल्लेख करना मैं नहीं भूलना चाहता। वह जैनेंद्रजी के शब्दों में ही यदि रखूँ, तभी उचित है। क्योंकि वह उस श्रेणी के लेखकों का सही चित्रण करती है। जैनेंद्रजी से यह पूछे जाने पर कि आप अपनी कृतियों के विषय तथा भाषा पर पुनर्विचार करते हैं या नहीं, उन्होंने कहा था, "साहित्य तो लेखक का उपसर्ग (Excreta) है, जैसे शरीर का मैल आदि। उसे पलटकर थोड़े ही देखा जाता है।" (किंतु वह

दूसरों को पढ़ने के लिए प्रकाशित अवश्य किया जाता है—ले०)। यहाँ से लगाकर जीवन की गंदगी के चित्रण करने तक में ही दृष्टिकोण काम करता है।

८ कलापक्ष के महत्त्व की चर्चा चलाने से मेरा उद्देश्य उस अभाव को सामने लाना है जो आधुनिक हिन्दी-कविता में रहा है। विषय का स्थान सर्वप्रथम है, यह स्वीकार करते हुए ही शिल्प का विचार करना है। छायावाद के साथ यदि यह कहा जाय कि उसमें केवल कलापक्ष ही था, तो प्रगतिवाद के बारे में यह भी कहना पड़ेगा कि उसमें कलापक्ष न होने के बराबर है। यह मैं पहले ही मानकर चलता हूँ कि साहित्य का यह संधि-युग है, भविष्य में सम्भव है, दोनों ही पक्षों का सामंजस्य स्थापित हो सके। किन्तु इधर की कविता अभी तक अधिकांशतः पिछली प्रवृत्तियों की एक प्रतिक्रिया बनकर आती है और इस कारण जो काव्य कृति हुई है उसमें उन सब बातों का निषेध (Denial) है, जो पहले के काव्य में वर्तमान थीं। इस स्थिति में काव्य शिल्प की ओर संकेत करना या उसके उचित स्थान की चर्चा चलाना संभवतः कलावादिता की दुहाई समझी जा सकती है, किन्तु मेरा यह न उद्देश्य है न मेरा मत विश्वास। टेकनीक पक्ष के महत्त्व पर प्रकाश डालने से मेरा तात्पर्य केवल उसे काव्य में उसका उचित स्थान दिलाना है जो नहीं दिया जा रहा है। और भविष्य की उस कविता की ओर इंगित करना है, जो अज्ञेय और मुक्तिबोध की बोझिल दुरूहता, माचवे के अधिकांश पद्यानुलेखन (Versification), 'सुमन' और रांगेय राघव की अत्यधिक ऊहा, गिरिजाकुमार माथुर की पिछली निरी चित्रमयता, नेमिचन्द्र की पुनरावृत्ति और गद्यात्मकता तथा शमशेर के उलझे हुए हास्यास्पद प्रयोगों से अलग होगी। इन नामों में आधुनिक कविता करीब-करीब घिर जाती है क्योंकि इनमें नवीन काव्य की शैलियाँ आ जाती हैं। जो नाम छोड़ दिये गये हैं, वह इन्हीं शैलियों के विभिन्न रूपांतर हैं। यहाँ मेरा उद्देश्य केवल 'टाइप्स' से ही है। इन सब में अधिकतर जो अभाव है वह काव्य शिल्प के उचित प्रयोग का है, कहने के ढंग का है। भविष्य की कविता यदि लिखी जायगी तो 'शाम की धूप' अथवा 'अज्ञेय' की उत्तरकालीन नवीनतम रचनाओं की अत्यंत विकसित अवस्था में हो सकती है, या उर्दू कवि अली सरदार जाफरी की शैली का ऐसा परिष्कृत रूप जिसमें केवल राजनीति की ही प्रधानता न दी गई हो। उसमें मायकोव्स्की के अभिनव टेकनीक से उपजा तिक्त व्यंग्य भी हो सकता है, रामविलास अथवा नागार्जुन का निर्मम व्यंग्य नहीं।

६ हमारे काव्य के इन अभावों को देखते हुए विषय और टेकनीक के सामंजस्य का प्रश्न और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है। कुछ प्रश्न यहाँ सामने आते हैं —

१ क्या काव्य में कला शिल्प के कारण विचारों की स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है, इसलिए उन्हें उनके मूल रूप में ही प्रस्तुत करना श्रेयस्कर है?

२. क्या उत्कृष्ट काव्य की रचना कलापक्ष के अभाव में केवल प्रतिपादित विचारों से ही सम्भव है ?

३. क्या काव्य में शिल्प-पक्ष को महत्व देना जनोपयोगी साहित्य के निर्माण में बाधक होगा ?

१०. इन तीनों प्रश्नों में मैंने काव्य के नवीन युग को ही दृष्टि में रक्खा है; क्योंकि शैलीगत यही प्रश्न मुख्यतया नये लेखक के सम्मुख आते हैं। मैं न यहाँ काव्य से उपकरणों की विशेष चर्चा चलाना चाहता हूँ, न काव्य के उद्देश्य अथवा कवि के युग-धर्म की। इतना अवश्य है कि शैलीगत प्रश्न उठाने से मेरा ध्येय काव्य के उद्देश्य को दृष्टि से हटाना अथवा उसके महत्व को कम करना नहीं है। यहाँ केवल शिल्प-संबंधी प्रश्न ही मुझे लेना है तथा वह भी जो वर्तमान कविता और इस काल की विचारधारा से संबद्ध हैं। पूर्वकालीन काव्य अर्थात् छायावादी परंपरा के प्रश्नों पर विचार करना मेरा अभीष्ट नहीं है। इसका कारण यह है कि छायावादी काल में विषय तथा शिल्प अथवा काव्य के रूप-प्रकार (form) तथा वस्तु (content) संबंधी विवाद नहीं था। आज जब एक ओर काव्य में यथार्थता लाने के लिए विचारों को उनके सीधे मूल रूप में रखने का उद्देश्य अपनाया गया है, जिसमें शिल्प के माध्यम को स्वाभाविक अवरोध मानकर छोड़ दिया गया है, जब काव्य को सामाजिक या राजनैतिक अस्त्र मानकर केवल विचारों के उद्देश्य तथा उनकी उपयोगिता के दृष्टिकोण से उत्कृष्टता परखी जाती है, काव्य-शिल्प के सामंजस्य या अभाव के साथ नहीं, या जब काव्य-शिल्प को मध्यवर्गीय या आभिजात्य आडंबर मानकर जनोपयोगी साहित्य के निर्माण में बाधक समझा जाता है, तब वस्तु और आकार, विचार और शिल्प के स्थान का प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। इन तीन प्रश्नों में लगभग वह सभी विचार-स्थितियाँ आ जाती हैं, जो छायावाद की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप इस समय प्रचलित हैं, और जिनकी विवेचना यहाँ आवश्यक है। वर्तमान स्थिति में तीनों प्रश्नों की पृष्ठभूमि में केवल एक ही मान्यता है और वह यह कि कला-पक्ष का विचार पलायन का मार्ग है। इसी कारण यह तीनों प्रश्न परस्पर-संबद्ध हैं और यह नवीन हिंदी काव्य की मुख्य श्रेणियों को विभाजित करते हैं। पहली मान्यता में वह सारी रचनाएँ आ जाती हैं जिनका आदर्श भाव-जगत् के चित्रों को एकदम सीधा व्यक्त करना है, अर्थात् भौतिक जगत् की क्रियाओं के फलस्वरूप जिस रूप में विचार मन में आया है उसी रूप में वह प्रस्तुत कर दिया जाय। इस श्रेणी में पहले के छायावादी कवियों में पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', गोपालसिंह नेपाली, उत्तरकालीन बच्चन, भगवतीचरण वर्मा की राष्ट्रवादी रचनाएँ तथा एक सीमा तक सुभद्राकुमारी चौहान आदि को रक्खूँगा। नवीन

कवियों में केदारनाथ अग्रवाल, रामविलास शर्मा, प्रभाकर माचवे, नागार्जुन आदि के नाम लिये जा सकते हैं। इनके काव्य की विशेषता यही है कि विचार जैसे भी मन में आते हैं, बिना किसी शिल्प के माध्यम के प्रयुक्त किये जाते हैं। इसी कारण इन कवियों की भाषा में सफाई नहीं है, मुहावरों का मनमाना प्रयोग है, हिंदी, उर्दू अथवा प्रादेशिक बोलियों—जैसे ब्रज, अवधी, बुंदेली या मालवी आदि का एक ऐसा सम्मिश्रण है जिसमें वह अस्वाभाविकता के दोष से मुक्त नहीं कहा जा सकता। नेपाली और प्रभाकर माचवे इसके मुख्य उदाहरण हैं। किन्तु जहाँ नेपाली भावों के धारा प्रवाह से रंग लाने का यत्न करते हैं, वहाँ प्रभाकर माचवे में तीव्रता न होने के कारण गद्यात्मकता का ही सृजन होता है। केदारनाथ अग्रवाल इसमें एक भिन्न रूप उपस्थित करते हैं, यद्यपि अधिक नहीं है। केदार का अधिकांश उत्तरकालीन रचनाओं में भावविहीन सीधा सादा गद्य है और वह भी पुनरावृत्ति से दूषित। 'माचवे में पुनरावृत्ति नहीं है और विषयों का इस्पष्ट चित्रण है। केदार में जिस 'भदेसपन'' का गुण रामविलास ने ढूँढ़ा था, उसमें अब भदेसपन की ताजगी न होकर गद्यमय भोंडापन अधिक दृष्टिगोचर होता है। संभवतः इस विचार के अतिरिक्त कि कवि को अपनी कृति के प्रति अत्यधिक ईमानदार होना चाहिए, इन दोषों का कारण है। काव्य के प्रति ईमानदार होने का अर्थ एक तो यह है कि कवि जिन विचारों, मान्यताओं और आदर्शों को प्रतिष्ठित कर रहा है, उसी निश्चित दृष्टिकोण से जीवन के समस्त क्रिया कलापों को स्वयं भी परखता है, तथा दूसरा यह कि जिस वातावरण को वह प्रस्तुत करता है, वह यथार्थ जीवन से कितने समीप या दूर है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि ईमानदारी के मार्ग में काव्य शिल्प किसी भी प्रकार से अवरोध बनकर आता है। कदाचित् इसी भ्रम से इन कवियों ने विचारों को यथावत् ही रखना उचित समझा और शिल्प की ओर ध्यान नहीं दिया।

मेरा तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि नये कवि अपने काव्य के प्रति ईमानदार नहीं हैं। यह दोष उनपर नहीं लगाया जा सकता। साथ ही मैं उस काव्य को भी ईमानदार नहीं मान सकता, जो केवल नारावादिता अर्थात् शुद्ध प्रचार के ध्येय से लिखा जाता है, अथवा जिसमें एक प्रकार से कोरी रस्म निभायी जाती है। प्रगतिवाद का युग आते ही अंचल का प्रगतिवादी हो जाना इसका उदाहरण है। इन दोनों में वह समस्त कृतियाँ आ जाती हैं जिनमें एक प्रचलित परिपाटी भर ही होती है, काव्य नहीं—जैसे छायावादी काल में 'उस पार', 'प्रेयसि', 'सीमाहीन' आदि और प्रगतिवादी काल में 'जनता', 'मानवता', 'लाल सितारा'—जैसी प्रचलित शब्दावलियों के आधार पर लिखी रचनाएँ अथवा व्यक्ति और अवसर विशेष के सम्बन्ध में रस्म निभानेवाला काव्य। 'जनता' और 'लाल तारा' के निरे शब्दों वाला काव्य ही

प्रगतिशील अथवा उत्कृष्ट काव्य हो सकता है, यह स्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रगतिवादिता तो जीवन को देखने और समझने का एक सम्पूर्ण दृष्टिकोण है जो खोखला शब्दाडंबर मात्र नहीं है, गहरी और सच्ची अनुभूतियों को पाने और व्यक्त करने का एक साधन है। इस सीमा तक प्रचलित विचारों की मात्र पुनरावृत्ति करनेवाला काव्य ईमानदार नहीं कहा जा सकता। जीवन की परिस्थितियों का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अन्वेषण और विश्लेषण करनेवाला शिल्प-संतुलित काव्य ही उसका अधिकारी हो सकता है।

दूसरे प्रश्न की मान्यता पहले प्रश्न से ही उत्पन्न होती है, किन्तु उसमें प्रचार तथा सामाजिकता की जो समस्या निहित है, उसका छायावादी काल से संबंध न होकर वर्तमान काल से है। समाजवादी मूल्यांकन के कारण आज हमारे काव्य की उत्कृष्टता, उसकी सामयिकता, सामाजिक अथवा राजनैतिक उपयोगिता आदर्श-विशेष के प्रचार में समझी जाती है। किस काव्य में यह गुण कितने अधिक या कम मात्रा में वर्तमान है, उसी मात्रा में काव्य की सार्थकता मानी जाती है। यह काव्य का प्रचारवादी दृष्टिकोण है। इसके साथ प्रगतिवादी आलोचकों की वह स्थापना भी सम्मुख आती है जिसमें प्रत्येक काव्य किसी-न-किसी रूप में प्रचारात्मक समझा जाता है। तर्क का आधार है कि कवि अपने विचारों को प्रचारित करने के लिए ही काव्य रचता है। सामाजिक उपयोगिता के दृष्टिकोण से यह प्रचारित विचार कहाँ तक उपयुक्त हैं, इससे काव्य का मूल्य निर्धारित किया जाता है। इसलिए काव्य में विचार ही प्रधान तत्व हैं, अन्य सब बातें जैसे शिल्प, छन्द, भाषा, अंतःसंगीत, वातावरण आदि गौण हैं। उनका कोई स्पष्ट मूल्य नहीं माना जाता। यहीं से काव्य सामाजिक अथवा राजनैतिक अस्त्र बनता है, और एक विशेष आदर्श, दृष्टिकोण या विचार-पद्धति के प्रचार का साधन।

काव्य को जहाँ तक सामाजिकता का या विचारों की मुक्त व्यंजना का माध्यम माना जाता है वहाँ तक तो कोई दोष नहीं है। किन्तु जहाँ पर वह केवल प्रचार का साधन बनाया जाता है उसमें कवित्व समाप्त होकर एक रूढ़िगत निरर्थकता आने का भय रहता है। सामयिकता और सामाजिकता दोष नहीं हैं, दोषी वह स्थापना है जो वस्तु (Content) को ही सर्वोपरि मानकर काव्य की दूसरी आवश्यकताओं अर्थात् रूप-प्रकार (छंद, भाषा, संगीत, शिल्प) को निरर्थक मानती है। वस्तु सर्वोपरि है, यह कोई अस्वीकार नहीं करेगा। किंतु यह भी सत्य है कि शिल्प के सामंजस्य से वस्तु अधिक निखर उठती है, चाहे फिर वह मात्र प्रचार के लिए ही हो अथवा नहीं।

उपयोगिता के इसी आदर्श से तीसरा प्रश्न भी सामने आता है। जब विचारों का अधिक-से-अधिक प्रचार ही काव्य-ध्येय माना जाता है, तो जनता तक उन्हें किसी-न-किसी भाँति पहुँचा देने में ही काव्य की सार्थकता रह जाती है। यहीं

पर वस्तु और रूप प्रकार की प्रधानता और गौणता की समस्या फिर उत्पन्न होती है, और एक को दूसरे पर प्रधानता दी जाने लगती है। समाधान यह कहकर किया जाता है कि जनोपयोगी काव्य रचना में ग्राह्य माध्यमों का प्रयोग उसे दुरूह कर देगा, इस कारण जनोपयोगी साहित्य में शिल्पादि का विचार निरर्थक है। यह तर्क भी एकांगी है क्योंकि इसमें यही दोष है जो साहित्य को केवल प्रचार का अस्त्र बनाने की मान्यता में है। दोनों स्थितियों में इसके यही अर्थ हुए कि प्रश्न विचार और शिल्प की प्रधानता का नहीं है केवल प्रचार का है। ऐसी दशा में काव्य के प्रति सचाई कहाँ तक रह सकती है स्पष्ट है क्योंकि परिपाटीगत काव्य भावना शून्य ही होगा, चाहे वह परिपाटी रामानी हो या समाजवादी।

हर भाषा का लिखित साहित्य उसके जन-साहित्य से पृथक रहा है। यह भी देखा गया है कि जहाँ लिखित साहित्य देश की प्रतिष्ठित भाषा में ही रखा जाता है, वहाँ जन-साहित्य अधिकतर प्रादेशिक बोलियों (Dialects) तक ही सीमित रहता है। हमारे यहाँ भी इसके उदाहरणों की कमी नहीं है। विषय साम्य की बात मैं नहीं कहता किंतु भाषा, छन्द शिल्प भेद आदि दोनों में मिल रहे हैं। प्रतिष्ठित भाषा में रचे साहित्य का शिल्प के कारण लोकप्रिय न रहना इसलिए विवाद का विषय है। स्पष्ट है कि जनोपयोगी लोकप्रिय साहित्य के निर्माण में प्रतिष्ठित भाषा की अभिजात्य गुण ही अधिक बाधा डाल सकता है, शिल्प नहीं। इसलिए यह भी स्पष्ट है कि शिल्प का विचार प्रादेशिक बोलियों में रचे जन-साहित्य में भी साधक अवश्य होगा।

इस वैचारिक पृष्ठभूमि को लेकर मैं शिल्प-सम्बंधी अन्वेषण करने के लिए बाध्य हुआ। अपने तथा अन्य देशों के साहित्य का ऐतिहासिक विकास देखने पर मैं इस निर्णय पर पहुँचा कि शिल्प का प्रश्न न केवल महत्वपूर्ण है, बल्कि बहुत कुछ जटिल भी है। प्रत्येक कवि में उसकी शैलीगत विशेषता के साथ शिल्प का व्यक्तिगत प्रयोग अवश्य मिलता है, किंतु कहीं भी ऐसा विधान दृष्टिगोचर नहीं होता जिसमें भिन्न कवियों के शिल्पगत अनुभवों के आधार पर निष्कर्ष रूप से मूल तत्वों तक पहुँच गया हो, और इस अन्वेषण द्वारा मुख्य सिद्धांतों की स्थापना की गयी हो। शैलीगत विशेषताएं तो प्रत्येक कवि में रहती ही हैं किन्तु मैंने यह अनुभव किया कि हिन्दी काव्य तथा विशेषकर वर्तमान काल में शिल्प का निश्चित रूप रंग स्थिर होना वांछनीय है। मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि शिल्प-सम्बंधी तत्वों के एक ऐसे विधान की आवश्यकता है, जो न केवल भाषा, छन्द, गति विराम, संगीत के मूल सिद्धांतों को निश्चित कर बल्कि वह हमारे काव्य विकास में भी सहायक हो। *अलंकार शास्त्र की भाँति काव्य का गणित या व्याकरण अथवा बाह्य सजावट ही

बनकर न रह जाय। मैं यहाँ बता देना उचित समझता हूँ कि ध्वनि-सम्बन्धी मेरी स्थापनाएँ प्रयोगावस्था में ही हैं; उनमें परिष्कार अथवा विकास होते रहना सम्भव है। इन निष्कर्षों पर पहुँचने में मैंने अन्य भाषा के साहित्य के अध्ययन के साथ संगीत, गणित, प्राचीन शब्द-शास्त्र, भौतिक विज्ञान-तंत्र आदि की भी सहायता ली है। उनमें प्रतिपादित सिद्धांतों से न केवल लाभ उठाया है, उन्हें एक दूसरे के साथ जोड़कर अपने निष्कर्षों को उन पर परखने का प्रयत्न भी किया है। इस कारण यह स्थापनाएँ विभिन्न उदाहरणों-से प्राप्त हुए नैयायिक अनुभव (Inductive Process) और विश्लेषण का परिणाम हैं। कवियों की शैलीगत विभिन्नताओं में समान तत्वों की खोज करते हुए मैंने देखा कि भाषा, छंद, गति, विराम आदि के गुण-धर्म को एक विशेष शक्ति निर्धारित करती है; जो इन सबके सामंजस्य से उत्पन्न होती है; किन्तु फिर भी इनसे स्पष्ट अस्तित्व रखती है। मैंने पाया कि यह काव्यगत अन्तः संगीत ही है जो काव्य के वातावरण को सम्मुख लाता है, और जो न केवल शिल्प के तत्वों का आधार है अपितु शैलीगत विशेषताओं को भी स्पष्ट करता है। यह अन्तःसंगीत किस प्रकार उत्पन्न होता है इस पर भी मेरी दृष्टि गयी। और मैंने अनुभव किया कि छंद, विराम, गति से अधिक यह शब्द की ध्वनि-शक्ति ही है जिसके आधार पर अन्तःसंगीत उठता है। शब्दों के ध्वनि के विशेष सामंजस्य से ही वातावरण निर्मित होता है और विषय की स्थापना में शिल्प की यहीं से सहायता प्रारम्भ होती है। शब्दों के साथ भाव और उन शब्दों से उत्पन्न ध्वनि इसी कारण एक दूसरे से आबद्ध होते हैं। दोनों एक दूसरे के पूरक हो जाते हैं। कला-पक्ष के विधान में इसी कारण मैं ध्वनि को प्रथम स्थान देने के लिए बाध्य हुआ।

यहाँ तक मेरी खोज अंधकार में पथ ढूँढ़ने के समान ही थी। किन्तु शब्दों की ध्वनि का मूल्य समझ जाने पर मेरा ध्यान ध्वनियों की विभिन्नता पर गया और फिर उन समस्त कृतियों पर भी जहाँ ध्वनि का विशेष प्रयोग मिलता है। एक ओर मेरी दृष्टि में संस्कृत, अँगरेजी, बंगला, गुजराती, उर्दू आदि काव्य; दूसरी ओर हिंदी में ब्रजभाषा की काव्य-कृतियों से लेकर छायावाद काल के अंत तक के उदाहरण। एक ओर वैदिक काव्य का उदात्त गंभीर संगीत.था, दूसरी ओर हिंदी में ब्रजभाषा की काव्य-कृतियों से लेकर छायावाद-काल के अंत तक के उदाहरण। एक ओर वैदिक-काव्य का उदात्त गंभीर संगीत था; दूसरी ओर छायावाद का निर्बल स्वर। एक ओर संस्कृत के आचार्यों यास्क, पाणिनि, कात्यायनि के वर्ण, ध्वनि, उच्चारण आदि के सूक्ष्म सिद्धान्त थे, जहाँ स्वर तथा व्यंजनों का "अ इ उ ण ऋ लृ क्" से लेकर विवृत, संवृत, स्पृष्ट तथा ऊष्म, पूर्व स्वर अर्द्ध-स्वर, संधि-स्वर तथा अर्ध व्यंजन तक का सूक्ष्म ज्ञान था, दूसरी ओर मेरी दृष्टि में प्रयोगकालीन

काव्य का शिल्पहीन रूप था। मैंने यह भी देखा कि हिन्दी पाश्चात्य भाषाओं अथवा वैदिक संस्कृत की भाँति उच्चारित नहीं है, और मैंने सोचा कि प्रत्येक भाषा में चाहे अक्षर का समानता न हो कुछ विशेष ध्वनियाँ समान अवश्य होनी चाहिएँ क्योंकि भाषा के विकास के इतिहास मानव जाति के विकास से सम्बद्ध है जो साधारणतया सभी स्थानों पर समान रहा है। फिर ध्वनि का विभाजन स्वर और व्यंजन के रूप में किया गया है। इस कारण मेरा ध्यान इन दोनों ध्वनियों के भिन्न गुण तथा प्रयोगों पर भी गया है। अध्ययन में मैंने पाया कि यद्यपि व्यंजन ध्वनियाँ भी भाषा के विस्तार की ध्वनियाँ हैं एवं मौलिक ध्वनियाँ नहीं प्रत्येक भाषा में विभिन्न हैं, वहाँ स्वर ध्वनियाँ सब भाषाओं में समान हैं। मूल ध्वनियाँ होने के कारण स्वर ध्वनियाँ ही भाषा का प्राण हैं शब्द की आत्मा हैं उनको प्रधानता में रखा गया संगीत ही शब्द और इस कारण काव्य की आत्मा भी संगीत हो सकता है। इस निष्कर्ष पर पहुँचते ही मेरा द्वन्द्व मन दूर हो गया। आगे का मार्ग इसके बाद स्पष्ट था।

इस नवीन तत्त्व को मान कर लेने के बाद काव्य के अन्तःसंगीत को समझने और परखने का एक निश्चित दृष्टिकोण मुझे मिला और आँखों के आगे नये मानचित्र फैल गये। इस दृष्टिकोण से मैंने पुनः विभिन्न काव्यों का अध्ययन किया और यह देखने का प्रयत्न किया कि किन किन कवियों ने अपनी कृतियों में किस प्रकार की ध्वनियों का अधिक या कम प्रयोग किया है, और उन ध्वनियों से जो अन्तःसंगीत उत्पन्न होता है, वह उस वातावरण के कहाँ तक अनुकूल है और विषय के साथ उसका सामंजस्य रहा है अथवा नहीं। उदाहरण के लिए कर्णकटु वर्णों—जैसे टवर्ग के वर्ण या आविल ध्वनि वाले महाप्राण वर्ण—जैसे ख, घ, थ, भ, फ, ढ आदि का आधिक्य यदि किसी ऐसे विषय के वर्णन में हो जिसमें मृदुता, कोमलता, स्निग्धता आदि अपेक्षित हैं, तो वह शब्द संगीत उस वातावरण के उपयुक्त नहीं होगा। यहाँ मुझे बिहारी का वह प्रसिद्ध दोहा स्मरण हो आता है जिसकी कर्णकटुता में भी आलोचकों ने ध्वनि सौंदर्य देखा है, बिना यह विचार किये कि उस दोहे का वर्णित विषय क्या है, और किस रस का वहाँ उद्रेक वाञ्छित है, उसके अनुकूल शब्द संगीत है या नहीं। दोहा है —

जब लगि या मन सदन में, हरि आवहिं केहि बाट।
निपट विकट जब लौं जुटे, खुलहिं न कपट कपाट॥

भक्ति रस का विषय एक शांत, गम्भीर, स्निग्ध, वातावरण प्रस्तुत करता है। जहाँ "ट" का कठोर पत्थर कूटनेवाली ध्वनि नितांत अनुपयुक्त है। आलोचक ने

यह नहीं देखा कि बिहारी का उद्देश्य मात्र अनुप्रासालंकार के अंधे प्रयोग से है— भाव और शब्दों के साम्य का कोई विचार वहाँ नहीं है। दूसरी ओर देव के एक कवित्त का अंतिम चरण है जहाँ कवि ऐसी उपयुक्त ध्वनियों का प्रयोग कर गया है, (यद्यपि वह प्रयोग अनजाने ही में हुआ है) जिसमें अनुप्रास का लोभ तो है, किन्तु विषय की ओर कवि की निरंतर जागरूकता गुप्त रूप से प्रकट होती है। पंक्तियाँ हैं:—

"बंसी बट तट नट नागर नटत मो में
रास के विलास की मधुर धुनि बीन की
भरि रही भनक बनक ताल ताननि की
तनक तनक तामे भनक चुरीन की।"

अंतिम तीन पंक्तियों का शब्द-संगीत विषय और वातावरण के अनुरूप है। प्रथम और द्वितीय पंक्तियों में स्पृष्ट वर्णों की ध्वनि अधिक है (ब और म): यद्यपि प्रथम पंक्ति में "ट" की आवृत्ति मात्र अनुप्रास के लोभ के कारण वर्तमान है, और विषयानुकूल नहीं है। अलंकार-विवश कवि शब्द-संगीत के संबंध में भूल करता है— इस दिशा में वह जाग्रत नहीं है। अन्यथा वह "नटत" का प्रयोग न करके "नचत" का भी कर सकता था, और इस प्रकार अनुपयुक्त ध्वनि से बच जाता। किन्तु फिर भी एक तो प्रथम पंक्ति में अन्य हल्की ध्वनियाँ हैं— जैसे 'ब', 'म', 'स', 'त', 'ग', दूसरे आनेवाली पंक्ति में विषय की ओर जागरूक होकर वह पहिले अनुप्रास का लोभ छोड़ देता है, और अधिक मृदु ध्वनियाँ प्रस्तुत करता है। "ट" की ध्वनि इस कारण दब जाती है और बिहारी वाले दोहे की भाँति मुख्य ध्वनि नहीं बन पाती। अन्त की दोनों पंक्तियों में शब्द-संगीत बहुत उपयुक्त है और नृत्य की अन्य ध्वनियों के बीच निरंतर आनेवाली चूड़ियों की खनक का सम्पूर्ण ध्वनि-चित्र उपस्थित करती है। छायावादी कवियों की भाँति झंकार को व्यक्त करने के लिए मात्र 'झंकार' शब्द का प्रयोग ही कवि ने पर्याप्त नहीं समझा। वह झंकार के गुण-धर्म को व्यक्त करनेवाली ध्वनियों का ऐसा सामंजस्य प्रस्तुत करता है जिसमें झंकार का यथार्थ बोध भी होता है। 'भ' और 'झ' की घनत्वपूर्ण महाप्राण ध्वनियों के बीच वह 'ब', 'न', 'त', 'ल', 'म', 'क', 'च' की हल्की ईषत्-ध्वनियों को अधिकाधिक लाकर गति को स्पष्ट करता है, और 'न' की आवृत्ति से गूँज को। प्राचीन कवियों में सूरदास में इससे भी अधिक उपयुक्त ध्वनि-चित्र मिलते हैं। सूरदास संगीत-शास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे और उन्होंने अपने सभी पद किसी-न-किसी रागिनी में लिखे हैं। वे संगीत के सभी अंगों अर्थात् गायन,

वादन और निरत तीनों हा के पंडित थ। इसी कारण उनके गीता म ध्वनि का प्रयोग निश्चयात्मक ढग से हुआ है। रास-सबंधी उनके पदों म नृत्य की ताल और गति शब्दों का ध्वनि से व्यक्त हुई हैं। जैस —

"मानो माई घन घन अतर दामिनि,
जमुन, पुलिन, मल्लिका मनोहर सरद सुहाई जामिनि।"

नृत्य का शब्द चित्र और ध्वनि चित्र इससे अच्छा कदाचित् ही कहीं मिले। यह पंक्तियाँ केवल पढ़ने ही से सम्बंध नहीं रखतीं, किंतु गायन क साथ नृत्य के लिए भी लिखी गयी हैं।

पहिली पंक्ति के दो अक्षर वाले समविराम (Monosyllable) के शब्दों से नृत्य का ठहरा हुआ आरम झलक जाता है। जैसे धीरे धीरे मद ताल तथा गति नृत्य प्रारम हुआ हो। गाते हुए पहिली पंक्ति से 'घन घन' कहते समय प्रथम 'घन' पर विराम आयेगा, फिर दूसरा 'घन' कहकर उतार आता है, जैसे छननन छन, छननन छन, छननन छन क तिए क ाद उतार होता है। (ताल में यह तिग्रा तिरकट धा, तिरकट धा, तिरकट धा मे व्यक्त किया जाता है, नृत्य म पैरों की गति से, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है) इस प्रकार पहला शब्द "घन' जैसे किनारा है जिस पर लहर आकर टकराती है, मुड़ती है और फिर दूसरे "घन" पर उतर जाती है। इस पंक्ति म सबसे अधिक ध्वनि 'न' की है—'मानो, घन घन, अतर, दामिनि" इन सभी शब्दों म 'न' की प्रधानता है। 'न' ध्वनि सगीत की आदि ध्वनियों में स है। यह समस्त दृश्य जगत का नाद ध्वनि भी है। दूसरे 'न' ध्वनि तारल्य घुँघरू क बारीक स्वरों का और हल्कापन को व्यक्त करती है। दूसरी ध्वनियाँ जो इस पंक्ति म हैं वे भी बहुत मीठी हैं। 'म' की आवृत्ति तीन बार, 'इ' की ध्वनि तीन बार आती है। 'म' से हल्कापन का बोध होता है, क्योंकि 'म' कहने म ओठ बहुत धीमे से मिलते हैं। 'म' सबसे हल्की स्पष्ट ध्वनि है। 'इ' ध्वनि एक छोटा-सा घेरा चित्रित करता है क्योंकि यह सीमाओं की ध्वनि है, साथ ही झुकने का एव अगों क मोड़ तथा भावभंगिमा को सकेत करता है। 'घ' ध्वनि गांभीर्य व्यक्त करता है तथा दूसरी ध्वनियों से इसमें अधिक ठहरना पड़ता है। इसी कारण यहाँ से गति पंक्ति लहर की भाँति ऊँची उठती है। अंतिम दो शब्द "अतर' तथा "दामिनि" में कवि ने प्रथम शब्दों से एक अक्षर अधिक रखा है। इसका कारण दूसरी पंक्ति म मिल जाता है। दूसरी पंक्ति म लगभग सभी शब्द तीन अक्षरों क हैं, यथा —

'जमुन, पुलिन, मल्लिका, मनोहर, सरद, सुहाई जामिनि।'

समविराम के इन तीन अक्षर वाले शब्दों से नृत्य में चरणों की गति स्पष्ट परिलक्षित होती है। साथ ही 'न' ध्वनि की बढ़ती हुई आवृत्ति नृत्य की झंकार का ध्वनि-चित्र उपस्थित करती है। 'इ' ध्वनि भी अब अधिक हो गयी है, जैसे अंगों का भाव-प्रदर्शन बढ़ गया है। नृत्य अब अपनी तृतीय स्थिति में आ गया है। दुगन आरंभ हो गयी है। फिर अवरोह में लौटकर जब पहली पंक्ति गायी जायगी तो "घन-घन" पर गीत का तोड़ एकदम स्पष्ट हो जायगा। इस प्रकार के बहुत उदाहरण हमें सूरदास में मिलते हैं। ध्वनि का इतना वैज्ञानिक प्रयोग अन्य किसी कवि में कम है।

छायावादी कवियों ने नवीन विषयों को लेकर रीति-काल की परंपरा यद्यपि एक सीमा तक तोड़ी, फिर भी वे काव्य में अपना नवीन संगीत पूरी तरह निर्माण नहीं कर सके। अलंकारों के भार से उन्होंने कविता को मुक्त अवश्य किया, किन्तु अधिकतर अर्थालंकारों से! काव्य में संगीत के लिए उनके आधार रीतिकालीन शब्दालंकार ही रहे, और उनमें भी मुख्य अनुप्रासालंकार। यमक और श्लेष दुरु-हता के कारण अवश्य छोड़ दिये गये, किन्तु अनुप्रास के अत्यधिक प्रयोग से एक परंपरागत संगीत की ही रचना हुई। अनुप्रास का आधार व्यंजन होते हैं, जो बिना स्वर-ध्वनियों के निष्प्राण हैं। इस कारण उन पर आधारित संगीत-शब्द आत्मा का संगीत न होकर निर्बल तथा एक प्रकार से निरर्थक (Superfluous) होता है। पंत इस परंपरागत निरर्थक संगीत के मुख्य उदाहरण हैं। महादेवी और प्रसाद में भी इसकी कमी नहीं। केवल निराला इस दोष से कभी-कभी ऊपर उठ जाते हैं। उनके काव्य का संगीत छायावादियों से पृथक है। इसमें संभवतः उनका संगीत-ज्ञान भी विशेष सहायक हुआ है। उनके संगीत में व्यंजन-ध्वनियों का आधार छायावादी वातावरण के कारण अवश्य है, किन्तु शिल्प एवं रूप-प्रकार के जितने नये प्रयोग उनमें हैं, अन्य छायावादियों में नहीं हैं। यहीं से मुक्त-छंद की काव्य में प्रतिष्ठा तथा छंद के अन्य सफल प्रयोगों का काल आरंभ होता है। निराला में स्वर-ध्वनियों का उदात्त संगीत है और कहीं-कहीं विषय के अनुरूप इसका सफल प्रयोग भी। एक रचना को लेता हूँ :—

"बादल गरजो
घेर, घेर घोर गगन
धाराधर ओ!"

इसमें 'आ', 'ए', 'ओ' की गंभीर स्वर-ध्वनियाँ बादल के विस्तार, उठान और घनत्व को व्यक्त करती हैं। 'ग', 'घ' की भारी ध्वनियाँ उसके गर्जन और स्थूलाकार को। इसी प्रकार :—

"जला है जीवन ये
आतप में ही धीरात
सूखी भूमि सूखे तरु
सूखे सिक्त आलबाल
बंद हुआ गुंज
धूल धूसर हो गये कुंज
किंतु पड़ी व्योम उर
वधु नील मेघ माल।"

छोटे से रेखाचित्र में भी स्वरों का ही मुख्य उपयोग किया गया है। आठ पंक्तियों में अट्ठाईस स्वर ध्वनियाँ हैं। उन संयुक्ताक्षरों को छोड़कर जिनके पहिले का अक्षर दीर्घ माना जाता है, अर्थात् स्वर ध्वनि से युक्त। इस चित्र का अंत संगीत स्वर-ध्वनियों से निर्मित होने के कारण अधिक सशक्त है, पंत या महादेवी का अनुप्रासमूलक रूढ़िगत संगीत नहीं। निराला ने जो स्वर ध्वनियाँ प्रस्तुत की हैं उनमें अनुप्रास की भाँति कोई आवृत्ति नहीं है, क्योंकि यह व्यंजन प्रधान संगीत में ही संभव है। किंतु निराला ने 'अ', 'इ', 'उ', 'ए' की स्वर ध्वनियों के जिस शिल्प क्रम से सूत्र पिरोये हैं उनसे एक गहरा और अधिक उपयुक्त अंत संगीत उत्पन्न होता है, जो व्यंजन-संगीत की भाँति केवल एक बाह्य सजावटी मूल्य नहीं रखता, वह भावना की तह तक जाता है, यों कहना चाहिए, वहीं से उठता है और इसलिए अधिक उपयुक्त और सप्राण है। इन ध्वनियों से क्रमशः चित्र का विस्तार (अ) भावनाओं का संकोच अथवा उनकी सीमा (इ) सामीप्य अथवा बिलगाव और इस कारण स्थान या समय के अर्थ में प्राप्ति या अभाव के रूप (इसलिए जीवन में प्राप्ति या अभाव, क्योंकि समय की एक निश्चित सीमा ही जीवन है) तथा ऐसे मनोवेग का प्रतिक्षण होता उत्थान या उत्कर्ष इंगित होता है। यह इन ध्वनियों का भाव स्थिति के साथ सामंजस्य हुआ। दृश्य स्थिति में भी यह ध्वनियाँ सहायक होती हैं। स्थान-जीवन भूमि का सुनसान विस्तार, जिसमें 'अ' ध्वनि सहायक है, वातावरण—ग्रीष्म से आकाश तक उत्तप्त जिसे 'ए' की ध्वनि इंगित करती है–अपने उत्थान के गुण धर्म से। इस ताप ने सबको घेर लिया है– यह हुई उस विस्तार की भाव सीमा। अंत में नाद ध्वनि की प्रधानता से मेघ का आगमन व्यक्त होता है।

इन विभिन्न उदाहरणों से कुछ बातें स्पष्ट होती हैं। प्रथम तो यह कि काव्य में विषय और शब्द-संगीत का एक आधारभूत संबंध है, दूसरे यह कि व्यंजन तथा स्वर ध्वनियों

के संगीत में मौलिक विभिन्नता है। एक बहुत बड़ा तात्विक अंतर है, तीसरे यह कि काव्य के जिस संगीत को हमने रीतिकाल तथा छायावाद में उपयुक्त माना, वह अधिकतर बाहरी सजावट तथा चमत्कार के लिए प्रयोग में लाया गया, और हमारे आलोचकों ने अपने एकांगी दृष्टिकोण से या तो विषय का ही मूल्यांकन किया, या जो कुछ संगीत-कृति में पाया, उसका एक ऊपरी विश्लेषण किया। विषय-स्थिति तथा शब्द-संगीत को साथ रखकर नहीं देखा, एक को दूसरे पर आश्रित नहीं समझा, चौथे यह कि अनुप्रासमूलक संगीत व्यंजन ध्वनियों की प्रधानता से निर्मित होता है और अनुप्रास का संगीत काव्य की आत्मा से संबंधित न होने के कारण निर्बल है, सार्थक नहीं। इसलिए व्यंजन ध्वनियों के बल पर उठनेवाला संगीत भी सार्थक नहीं है। काव्य के अंतः-संगीत का आधार स्वर-ध्वनियाँ ही हो सकती हैं जिनका गुण-धर्म समझने पर उनका उचित सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। व्यंजनात्मक संगीत यदि इनसे मिलकर इनकी पृष्ठभूमि में रहकर आता है तभी उपयुक्त हो सकता है। न केवल स्वर-ध्वनियाँ एक अप्राण संगीत उत्पन्न करती हैं; उनसे विषय की अभिव्यंजना भी अधिक उपयुक्त होती है। इस मान्यता को स्वीकार करने के बाद यह प्रश्न सामने आता है कि स्वर-ध्वनियों का कोई स्वतंत्र रूप, आकार या गुण है, अथवा नहीं, क्योंकि स्वर तो केवल मौलिक तत्व है और भाषा के प्रसार का आधार है। व्यंजन बिना व्यंजनों के अकेले स्वर-ध्वनियों का क्या अस्तित्व है और उनका किस प्रकार प्रयोग किया जाय जिससे भावों की उपयुक्त अभिव्यंजना हो। यदि स्वर-संगीत से ही काव्य के गेय तत्व को प्राप्त करना है तो किस मात्रा में कौन-सी ध्वनि का रखना उचित है, अन्य का नहीं। फिर भावनाएँ अथवा विषय तो अनगिनती हो सकते हैं, किन्तु स्वर इने-गिने हैं, इस कारण समस्त भावनाओं का अर्थ-संकेत केवल इनसे कैसे संभव हो सकता है, यदि इनका एक निश्चित अर्थ मान भी लिया जाय। इसके पहले कि स्वरों की निश्चित रूपरेखा निर्धारित की जाती, इन सभी प्रश्नों का समाधान आवश्यक था। प्रथम तो मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि जब स्वरों में व्यंजनों से स्वतंत्र रहकर विषय के ध्वनि-भाव को अभिव्यंजित करने की शक्ति है तो उनका स्वयं कोई अर्थ या गुण अवश्य है, और इस कारण उनकी एक निश्चित गति तथा रूपरेखा भी है। अन्यथा कोई भी स्वर-ध्वनि किसी भी विषय के लिए उपयुक्त हो जाती, जैसा कि नहीं है।

यदि ऐसा होता तो फिर एक ही स्वर-ध्वनि पर्याप्त थी, अन्य ध्वनियों की आवश्यकता ही न होती। यों देखा जाय तो एक स्वर-ध्वनि 'अ' सब ध्वनियों में सम्मिलित है। इसलिए प्रत्येक स्वर-ध्वनि अलग-अलग दिशाओं में ही प्रयुक्त की जा सकती है जहाँ अन्य ध्वनि के साथ उस विशेष स्वर-ध्वनि का अधिक प्रभाव हो और इस

या वातावरण का संकेत करती है। 'उ' ध्वनि 'अंतर' की ध्वनि है, जैसे स्थान या देश का अंतर, समयान्तर, देशांतर आदि समामीप्य का विलगाव, प्राप्ति या अभाव। इसीलिए यह दूरी (proximity) व्यक्त करती है। भावपक्ष से 'उ' एकांत की ध्वनि है और अधिकतर मौनता, सुनसान, औदास्य, चिंतनस्मरण, आदि का 'मूड' उपस्थित करती है। 'ए' उत्कर्ष की ध्वनि है, क्योंकि इसकी गति धर्म-ऊर्ध्व है। एक ओर दृश्य स्थिति में यदि यह ऊँचाई व्यक्त करती है, तो दूसरी ओर भाव, स्थिति में विचारों का उद्भव और उत्थान। विस्तार के सीधे फैलाव की यह पूरक-ध्वनि है—संस्मरण की दृष्टि मे यह सूर्य, चंद्र, नक्षत्र प्रकाशाकिरन, वायु, वृक्ष, पर्वत, ऊर्ध्व शिखर धुँआ अथवा प्रज्वलित अग्नि के मानस-चित्र उभारती है।

'ओ' ध्वनि ब्रह्मांड ध्वनि है, इसी कारण वैराट्य का प्रतीक है। ब्रह्मांड-का रूप अंडाकार है जिसमें 'ओ' की रेखाचित्र निश्चित होती है। अपने गुण-धर्म से यह विशदता और निखिलत्व के चित्र उपस्थित करती है। भौतिक वस्तु-स्थिति में यदि यह आयतन (volume) और परिमाण (magnitude) की ओर संकेत करती है तो भाव-स्थिति में ओज और ओप, उदात्त तथा गंभीर भावनाओं की द्योतक है। संस्मरण-रूप में यह वेग और प्रवाह; उमड़ते जलखंड, ज्वार-भाटा, चढ़ते जनसमूह जैसे विषयों को सम्मुख लाती है।

'अं' नाद-ध्वनि है। समस्त दृश्य-जगत के शब्द-तत्व को व्यक्त करती है!

कृष्णा सोबती

"मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा !"

उस तूफानों भी-सी रात में जब ऊपर का आकाश तारों से गूँज रहा था, दो बाहों ने किसी सुंदर सुकुमार शरीर को थामकर आश्वासन दिया—"डरो मत, मैं तुम्हारा रक्षा करूँगा !"

बाहें बाहों से मिलीं और भय से सिकुड़ी हुई दो आँखें मुस्करा दीं।

आँखों से आँखें मिलीं और पृथ्वी के आँचल पर शबनम चू पड़ी। एक दिन मारो, काटो, मारो, जला दो, जिन्दाबाद इन्सान के गुलशन को रौंदते हुए वे हजारों कदम, खून में तैरती हुई वे आँखें और हथियारों को तौलते हुए वे हाथ !

एक बंद मकान में साँस रोके, दो प्राणी डोलते डोलते, डरते डरते, जिन्दगी और मौत की कशमकश में । मारो, मारो की आवाज करीब आ रहा है। और करीब, और करीब। हल्की सी चीख निकली और दो मजबूत बाहों ने उस मूर्च्छित से शरीर को सहारा देकर धीमे से कहा, 'डरो मत, मैं तुम्हारा रक्षा करूँगा।'

हजारों की भीड़, किवाड़ टूट गये। 'मार दो, काट दो' और पलक झपकते, हाथों से हाथ छूट गये, पुराने वायदे टूट गये। ' मैं, मैं इसकी रक्षा करूँगा, मैं ..

स्वर उखड़ गया। किसी ने गला दबाकर सिर दीवार के साथ दे पटका। सिर घूमा, आँखें घूमीं और उस चक्कर में देखा वह नन्हा सा मोटा शरीर गुनहगारों के हाथों में—एक धार उठी और सोने से भरी सुनहली बाँहें कट कर नीचे गिर पड़ीं।

'डरो मत, डरो मत, मैं तुम्हारी' ..

एक सुनसान दुपहरी में कैंप के सामने कुछ लारियाँ आ खड़ी हुईं। बच्चे, बूढ़े, घायल सब उतर रहे हैं भूख और प्यास से निढ़ाल, गिरते पड़ते। लेकिन इस पिछली सीट पर एक निर्जीव युवक पड़ा है, पथरायी आँखें, रूखे बाल और काले अधर।

ड्राइवर ने हमदर्दी के गीले स्वर में, उस बेजान शरीर को झकझोरकर कहा—उठो भाई, अपना वतन आ गया। वतन" !! दो सोयी सोयी बाँहें उठीं, ओंठ बड़बड़ाये डरो मत, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा ! रक्षा करूँगा ....

आवाज़ मौत की खामोशी में खो गयी, पथरायी हुई आँखों की पलकें जड़ हो गयी, वतन की यात्रा खत्म हो गयी ! और रक्षा करनेवाली बाहें हमेशा के लिए स्थिर हो गयीं !

ड्राइवर ने सर्द हाथों से उठाकर बुझे हुए लोथ को ज़मीन पर लिटा दिया। मिट्टी मिट्टी से मिल गयी। लेकिन सुनो—मिट्टी से एक उखड़ी उखड़ी आवाज़ उठ रही है–

डरो मत, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा, मैं......

जार्ज दुहामेल

छत्ता

१६१८ का शिशिर। महायुद्ध का अन्तिम वर्ष। हम गरार शापाम प्रांत में थे। कीड़ा ने जिसे खोखला कर दिया था और शिशिर के तीव्र आघात से सर्व प्रथम घायल हुए एक पेड़ की छाँह में हमारी लकड़ी के तख्तों की झोप ड़ियाँ थीं।

अभी भी सूर्य प्रकाश में शोभायमान एक दोपहर में मैं अपने विश्राम स्थान को लौट रहा था, तो मुझे हमारे पेड़ की शाखा पर लटका एक पिघल, मखमल की तरह चमकीला, एक-सी हलचल करनेवाला एक बड़ा भारी फल दिखायी दिया—वह था एक शहद का छत्ता।

मधुमक्खियों की चपलता, गुनगुनाते हुए उत्पात करना, आनन्दपूर्ण कार्य तत्परता, कहाँ गये थे वे सब सुंदर और सुखदायक सद्गुण? एक प्रकार की कार्य विमुख करनेवाली जड़ता, मौन चिंतामग्नता, हृदयविदारक निष्क्रियता उस पुंज पर फैली थी। बीच-बीच में इक्का-दुक्का चक्कर परंतु उद्योगप्रिय मधुमक्खी डरते-डरते आसपास के प्रदेश में कई चक्कर काट आती और फिर अपने दुर्भाग्य में सहभागी सखाओं की ओर जल्दी से लौट आती।

इस छत्ते का क्या करें? मधुमक्खियाँ पालनेवाले एक पड़ोसी गाँव के धर्म गुरु के पास हम सलाह पूछने गये।

'अरे, अरे!' वह बोला—'सियाले में उन्हें मैं क्या खिला सकूँगा? हम तो एकदम गरीब हैं।'

अब उस छत्ते को नष्ट होने देने के सिवा हम और कुछ नहीं कर सकते थे। सब मानवी दुःख सहना हम सीखे थे। मनुष्य के सहन करनेवाली सभी यातनाएँ और कष्ट हम रोज ही देखा करते थे, परंतु उन गरीब बेचारी मधु मक्खियों की यातनाएँ, उनकी सहनशील और उनकी हताश स्थिति से हमारे हृदय में एक नये प्रकार की दया, हृदयद्रावक अनुकंपा, निर्मित हुई।

शिशिर की दो-तीन कोहरे भरी रात निकल गयीं। हर सुबह उसमें पहिले की रात के जाड़े से पाले से मरी मक्खियों के मृत देह दुःखी दृष्टि से देखने हम जाया करते थे। शाखा के नीचे प्रेतों के ढेर जमे रहते थे, और शीघ्र ही भूमाता के

स्पर्श से वे फिर मृण्मय हो जाते। वह पिंगल, मखमल जैसा बड़ा फल एक-सा पिघल रहा था। अभी भी मृत्यु के मुख में न पड़ी मक्खियों की दुराशाग्रस्त स्थिति हमारे सैनिक मित्रों की मनःस्थिति की हमें पग-पग पर याद दिलाती थी और हमारा हृदय दुख से उमड़ता था।

एक सवेरे वर्षा से पिटी और हवा से प्रताड़ित-सी वह शाखा सूनी पड़ी थी। अंतिम मधुमक्खियाँ आखिर पीछे हट गई थीं। छत्ता जीवित रहे और फिर जाड़ा कट जाय उसके सहारे। इसके लिए सब मक्खियों ने अपने प्राण चढ़ा दिये थे।

उसी समय युद्ध-समाप्ति और विजय की घोषणा हुई। परंतु विजय का आनंद कभी भी अमिश्रित नहीं होता, यह हम पहिले से जान चुके थे।

———

जैनेंद्रकुमार

संस्कृति की बात

संस्कृति पर आपसे कुछ बात करने के लिए मैं आ तो गया हूँ, पर समझ में नहीं आता कि शुरू कैसे करूं। शब्द वह कुछ बारीक है और उस पर पूरी पकड़ नहीं बैठता है। यों भी कामकाज से वह बाहर का मालूम होता है। जैसे विद्वानों का वह शब्द हो और लिखने पढ़ने के प्रयोग में ही आता हो। आये दिन की जिंदगी से जैसे उसका वास्ता न हो और जो सवाल हम और आपको मामूली तौर पर घेरे रहते हैं, संस्कृति उनसे कुछ दूर की चीज हो।

ऐसा मालूम होना अकारण भी नहीं है। संस्कृति शब्द सीधे सादे रूप में कम ही बोलने में आता है, अधिकतर किसी न किसी विशेषण के साथ जुड़ा रहता है। कभी किसी देश के नाम के साथ, युग के साथ, जाति विशेष के या अमुक मतवाद के साथ। एसी अनेक संस्कृतियाँ बन आती हैं और हरएक पर विद्वान् लोग मेहनत करते हैं, उनका स्वरूप स्थ करते हैं, लक्षण बिठाते हैं और उनके बारे में तरह तरह की शोध में लगे रहते हैं। इस तरह प्रत्येक संस्कृति दूसरे से विशिष्ट बनती है और लोग उसकी विशिष्टता के प्रेमी और प्रचारक हो जाया करते हैं। वे उसकी खासियत को सबसे बढ़ा चढ़ा बताते हैं और उस पर जूझने के लिए तैयार हो जाते हैं। ऐसी संस्कृतियाँ आपस की बदाबदी में विग्रह पर उतार दी जाती हैं और कलह-कोलाहल उपजाने के काम आती हैं।

कलह को हम संस्कृति तो नहीं कह सकते। कलह संस्कृति हो तो विकृति किसे कहेंगे? फिर भी देखने में आता है कि संस्कृतियों को लेकर विकृति का यानी विग्रह का पोषण हो रहा है, और आदमी अमुक संस्कृति के नाम पर अधम आचरण कर उठा है।

संस्कृति यों तो अखंड है और हममें से कोई उसके अधिकार से बच नहीं सकता। क्या यह सच नहीं है कि हम इंसान हैं और जानवर नहीं हैं? तब, जो हमें नीचे पशुता में गिरने से रोकती है और मानवता में ऊपर उठाती है, वही मानव संस्कृति होनी चाहिए। उससे अन्यथा जो हो, उसे विकार मान लेना चाहिए।

अब इस धरती पर मुट्ठी भर लोग तो नहीं बसे हैं। वे करोड़ ही करोड़ हैं और

दूर-दूर देशों में फैले हुए हैं। उनमें कई भाषाएँ हैं और रहन-सहन के ढंग भी अलग हैं। पर उन सभी के लिए जरूरी रहा है कि वे एक दूसरे के सहयोग में आयें, हिल-मिल कर पनपें। और इस हेल-मेल और सहयोग-सहानुभूति का विस्तार करते जायँ। भाषा और रीति-नीति की भिन्नता इस विकास में यों बाधक जान पड़ती है। पर सच्चा संकल्प उसे भी साधक बना लेता है। कारण, भेद में वह अभेद देख पाता है और इस तरह भेद के प्रति भी आदर और प्रीति रखता है। वह तोड़ता नहीं, समन्वय और सामंजस्य साधता है। भिन्नता को देखते हम कह सकते हैं कि अमुक मानव-समुदाय की यह विशिष्ट संस्कृति है। पर स्पष्ट है कि अमुक संस्कृति की यह विशिष्टता रूप और बनाव के अंतर में ही है। अंदर मे सबकी सार्थकता एक ही है, यानी आपसी सहयोग को उत्तरोत्तर व्यापक और घनिष्ट बनाते जाना। पहरावन का भेद स्वस्थ मन में भेद नहीं डाल सकता। लेकिन वैसा भेद पड़ता हो तो यही कहना होगा कि उसमें मन का अस्वास्थ्य कारण है, और मानव-प्रकृति पर किसी विकृति का आरोप और प्रकोप हो गया है। तब स्वास्थ्य-लाभ के लिए उस रोग का निवारण जरूरी हो आता है।

सहयोग की अनिवार्यता लेकर हम आदमी पैदा होते हैं। एकाकी कोई रह नहीं सकता। इकले होकर मरा ही जाता है। जीना तो संग-साथ ही हो सकता है। पर जब यह अनिवार्यता हमारे अंदर है, तब उसको रोकने और अटकानेवाले तत्व भी हमारे अंदर हैं। इस तरह जीवन सरल नहीं, काफी उलझा हुआ तत्त्व है और संस्कृति का विकास अनिवार्य होकर भी सहज साध्य नहीं, अत्यंत प्रयत्न साध्य ही होता है। हम मनुजों में पशुता के तत्त्व भी हैं और वे नीचे खींचते हैं। वे हमें एक दूसरे की स्पर्द्धा और ईर्ष्या में लाते हैं। उनके वश होकर हम वैर-विरोध ठानते हैं। उन्हीं के नाते दूसरे को हीन रखकर अपने को उन्नत, उसको अपमानित कर अपने को सम्मानित और उसको नष्ट कर अपने को पुष्ट करने की चेष्टा दीख पड़ती है।

समाज बेशक इन दोनों प्रकार की वृत्तियों के ताने-बाने से मिल-जुलकर बनता है। अहंकार के और तरह-तरह की लिप्सा-आकांक्षाओं के वश होकर जो हम नाना व्यापार करते हैं वे तो काले और स्नेह, सहानुभूति और विवेक की चेतना से जो सेवा साधते हैं वे धौले तार कहे जा सकते हैं। इन्हीं तागों से उजला-मैला समाज का पट बुनता है। धागे जितने धौले होंगे, समाज उतना स्वच्छ और अच्छा होगा। उनमें जितनी कालिमा मिल जायगी, समाज उतना ही मैला और कड़वा बनेगा।

स्पष्ट है कि समाज की बनावट में व्यक्ति निमित्त है। पर अपनी निजता

में नहीं, अपने पारस्परिक संबंधों के द्वारा यह निमित्त बनता है। असल में वह समाज पट में ताने और बाने के जोड़ से बन गया हुआ केवल वह बिंदु है जहाँ होकर पारस्परिकता के तार आपस में छूते, खिलते मिलते और पार बढ़ जाते हैं। अब ये तार वहाँ उलझ भी सकते हैं इसलिए प्रश्न उतना व्यक्ति का नहीं है, व्यक्ति पर बंद या समाप्त नहीं है। वह तो व्यक्ति और व्यक्ति के बीच के अंतराल का, उस बीच के संबंध का है। उस संबंध के अभाव में व्यक्ति सत्ता की कल्पना ही समाप्त हो जाती है। उन संबंधों के मूलभाव में व्यक्ति सुलझा हुआ बनता है। उन संबंधों की घनता और पुष्टता व्यक्तित्व को संपन्न और सबल बनाती है। वह उलझाव हो या त्रास हो तो व्यक्ति भी हीन, दुखी और दुर्बल होता है।

इस तरह समाज और व्यक्ति का अलग से विचार होना ही संभव नहीं है। समाज अव्यक्त है, व्यक्त व्यक्ति है। इसलिए उस अव्यक्त को छूने या समझने के लिए भी व्यक्ति ही काम देता है। समाज व्यक्ति के बिना एक संज्ञा भर रह जाता है। व्यक्ति को बाद देकर चलने से समाज के साथ किसी प्रकार का सजीव संबंध स्थापित नहीं किया जा सकता है। ऐसी चेष्टा फिर भी होती है, यानी, व्यक्ति की बिना सोचे समाज को सुधार डालने के प्रयत्न ठान लिये जाते हैं। पर यह जरूरी है कि वे प्रयत्न निष्फल जाएँ। इस तरह चलने से आंदोलन अंत में प्रतिक्रिया उत्पन्न करते हैं, और सुधार की कोशिशें उलटे बिगाड़ उपजा पड़ती हैं।

व्यक्ति और समाज, हमने देखा कि दो नहीं हैं। फिर भी दो शब्द तो हैं, और इसलिए उनके द्वैत को एकाएक हवा में नहीं उड़ाया जा सकता। तो कहिए कि एक ही वास्तविकता का यह तट व्यक्ति है तो उसी का दूसरा किनारा समाज है। अब होता यह है कि उस जीवन की वास्तविकता के इस किनारे संत, महात्मा, कवि और आदर्शवादी अपने तीर्थ डालकर साधना साधते हैं, तो उस पार पर कामकाजी लोग, लौकिक और राजनीतिक, अपने अपने पक्के गढ़ बाँधकर बस जाते हैं। इधर वे जो व्यक्ति की भाषा में पूर्णता के आदर्श को देखते हैं और ईश्वर को भजते हैं, उधर वे जो दल बाँधकर समग्रता का, यानी स्टेट का, सामने रखकर सप्रयोजन संघर्ष करते हुए सामर्थ्य संपादन करना चाहते हैं। इस तरह एक तरफ आध्यात्मिकता है, जिसमें आदमी कपड़ा तक छोड़ बैठता है, दूसरी ओर पदार्थवादिता है, जहाँ सब बटोरकर भी तृष्णा समाप्त नहीं होती।

अब संस्कृति की बात करते समय न आध्यात्मिक शास्त्रों की, न सामाजिक विज्ञानों की पड़ताल जरूरी है। इधर या उधर खूँटे गाड़कर और कुछ जी सके, संस्कृति इस तरह नहीं जी सकती। दोनों किनारों के बीच, उन दोनों को छूती

हुई; उन दोनों को समझती हुई; उन दोनों तक अपनी लहरें और एक दूसरे को परस्पर का क्षेम पहुँचाती हुई, ऐसे बहती है कि प्रयोजनवादी का प्रयोजन भी नष्ट न हो, और आत्म-आनंद भी उससे मिलता रहे।

साफ है कि इन दो किनारों पर बसनेवालों का निपट द्वैत, उनके बीच का दुर्भाव और विग्रह सबके लिए त्रास का कारण बनता आया है। उससे अनंत बुद्धि-भेद उपजा है। उससे सुख-चैन उजड़ा है; और बेचैनी फैलती गयी है। जरूरी है कि वह प्रवाह सूखने न पाये, न क्षीण होने पाये, जो दोनों तटों को हरियाली दे सकता है।

अब कई-कई वाद हैं। कुछ उनमें धार्मिक हैं, कुछ लौकिक हैं। धार्मिक मतवाद जैसे—इस्लाम, ईसाइयत, बौद्ध, जैन. हिन्दू। लौकिक—जैसे समाजवाद, साम्यवाद, उपकारवाद, स्वार्थवाद आदि। 'वाद' को हिंदी में कहें बात। लेकिन सवाल बात का नहीं है, काम का है। बात का मज़ा तो बात में ही है। इसलिए अपने आप कोई 'वाद' ग़लत या सही नहीं है। बात की परख काम में होती है। जो सच्चा रास्ता और सच्चा बनता है, उसी की बा सच्ची मानी जाती है। आदमी खुद सच्चा और सही होकर अपनी बात को भी सच्ची और सही बनाता है। यही नियम व्यक्ति से आगे सामूहिक वादों पर लागू मानना चाहिए। वाद और वादे सभी ठीक हैं, उस बारे में झगड़ने का सवाल संस्कृति के या संस्कारी आदमी के लिए उठता ही नहीं है। मुसलमान को इस्लाम मुबारक और सनातनी को सनातन-धर्म। इसी तरह समाजवादी के लिए अपने वाद और गांधीवादी और साम्यवादी के लिए अपने-अपने वादों की जय चाहने और उन्हें धन्य मानने की स्वतंत्रता है। पर संस्कृति की मांग से किसी को छुट्टी नहीं हो सकती। सबको अपने होने और जीने के दावे को संस्कृति की कसौटी पर परख दिखाना होगा। कारण, हममें हर कोई इंसान है, और हर एक नागरिक भी है। हमारी जमातें भी आखिर हमारी यानी इंसानों की हैं और समूची मानव-जाति का अंग हैं। एक मतवाद को लेकर, या किसी भी दूसरे बहाने को लेकर, क्या व्यक्ति या दल को छुट्टी हो सकती है कि वह आदमियत से हाथ धो बैठे? नहीं, कभी नहीं हो सकती। संस्कृति का यही अर्थ है। उसका यह तकाजा और अधिकार है कि वह मनुष्य में से मनुष्यता ही प्राप्त होने दे और मनुष्य को उसी अपने स्वधर्म की राह पर बराबर विकसित करती जावे।*

---

*यह रचना आल इंडिया रेडियो की संपत्ति है और उसके पटना केंद्र से प्रचारित हुई थी।

स० ही० वात्स्यायन

मामूली*

नागकेसर के फूल तब पूर्ण विकसित हो चुके थे, पखुड़ियाँ झरने लगी थीं और केसर का मादक गंध छोटी छोटी पत्तियाँ और उपत्यकाओं को लाँघता हुआ शून्य में फैल रहा था। तीसरे पहर बड़े बड़े शुभ्र बादल उठते थे, और बच्चों की तरह नाना प्रकार के जंतुओं का रूप धरने की क्रीड़ा करते हुए आकाश के प्रांगण के पार निकल जाते थे। मन्दिर श्रेणी के नीचे बिछे हुए सरोवर का तल विक्षुब्ध हो उठता था, और मानो उसे पुचकारने के लिए किनारे के अशोक वृक्ष से दो चार खिले फूल झर कर उस पर आ गिरते थे।

मैंने मधुमक्खियों से बचते हुए अशोक के उन दीप्तवर्ण फूलों का एक गुच्छा तोड़ लिया। तब नहीं जानता था कि क्यों, लेकिन थोड़ी देर बाद अपने पैरों की गति देखकर जाना कि मैं शुभ्रा के घर की ओर जा रहा हूँ।

मैंने फूल शुभ्रा को दे दिये। कहा, "शुभ्रा, मैं विदा माँगने आया हूँ।"

शुभ्रा ने वे फूल अपने जूड़े में खोसते हुए मेरी ओर देखकर हँस दिया—एक खुली, सफेद बादल-सी हँसी।

मैंने फिर कहा, "भोर होते ही मैं यहाँ से चला जाऊँगा।"

उसने पूछा, "फिर कहाँ देखना होगा?"

अबकी बार मैंने हँसना आवश्यक पाया—वैसी ही खुली हँसी, क्योंकि खुलापन ही एक अभेद्य आड़ है।

फिर मैंने कहा, "फिर कभी होगा तो,—शायद। कल का क्या पता? पर अशोक तो हर साल फूलेगा, कोई ला दिया करेगा। काले केश के साथ दीप्त रंग सजता है।"

उसने मुँह फेर लिया। अशोक के फूलों से सजा हुआ कबरी-बंध मुझे पूरा दीख गया। पर मुझे नहीं लगा कि वह इसलिए उधर मुड़ी थी।

मैं जल्दी से लौट चला।

+ + +

पश्चिम के देशों के सूखे दगड़ों में बैलगाड़ी की चूँ चूँ अच्छी नहीं लगती। पर असम के वनों से घिरे पथ में वही ध्वनि पवन की सरसराहट के साथ

---

*लेखक की नयी पुस्तक 'हम यायावर' के एक परिच्छेद का अंश

मिलकर एक अद्भुत संगीत का रूप लेती है। मानों विस्तीर्ण हरियाला अंधकार अपने पूरक रक्ताभ आलोक की स्तुति में कोई मंद्र गंभीर छंद गुनगुना उठे।

तड़के तीन बजे चला था; सात बजे ब्रह्मपुत्र के तट पर पहुँच गया। अपना बोरिया-बिस्तर और उस दिन का राशन नाव में लादा। 'नावरिया' ने बड़े उल्लास के साथ कछार को लात मारी और नाव प्रवाह में डाल दी। यों तो ब्रह्मपुत्र के जिस अपूर्व द्वीप पर मुझे जाना था, उसका उत्तरी छोर तीन मील नीचे ही मिल जाता, पर वहाँ घाट की सुविधा न होती इसलिए और आठ मील नीचे धारा के साथ बहकर घाट पर जा लगने का विचार था।

नाव नदी के बीच में जाकर खड़ी हो गयी। मैंने ध्यान से किनारे की स्थिति लेकर देखा, हम बिल्कुल स्थिर खड़े हैं। हवा जोर की थी, मैंने कहा, "नावरिया, पाल खड़ी करो।"

नावरिया केवल जोर से हँस दिया।

असमिया लोग खूब हँसते हैं। बाधाओं पर और भी अधिक हँसते हैं। इसलिए कि वे बाधा मानते ही नहीं, वह तो केवल काम न करने की एक युक्ति है, और काम न करना पड़े तो क्यों न हँसा जाय। बात यह थी कि नदी का प्रवाह तो दक्खिन को था जिधर हमें जाना था, पर हवा का रुख उलटा था। पाल लगाने से तो हम तीव्रता से उल्टी दिशा में चलने लगते, बिना पाल के केवल जहाँ के तहाँ थे।

जिस तरह काश्मीरियों की उक्ति है "कुऽछ् किकिर नइ" उसी तरह असमियों की जीवनालोचना का निचोड़ जिस एक वाक्य में आ जाता है वह है "बड़ दिकदारी" मैंने हवा की ओर मुँह उठाकर कहा "बड़ डिकडारी।"— असमिया लोग 'द' का प्रायः 'ड' ही उच्चारण करते हैं।

नावरिया ने मान लिया कि मैं उससे पूर्ण सहमत हूँ, और बैठकर तंबाकू चबाने लगा।

लगभग तीन घंटे बाद हम लोग जहाँ से चले थे, उस स्थान से कुछ और ऊपर ही किनारे आ लगे। मैंने गाँव से फिर बैलगाड़ी मँगवाकर सामान लादा और दूसरी दिशा से उस द्वीप पर आक्रमण करने चल पड़ा।

नानी कहा करती थीं, 'यह लड़का न जाने कैसी घड़ी में जनमा है। उलटी गंगा बहायेगा।' गंगा तो पुण्यसलिला है, पर ब्रह्मपुत्र जरूर उलटा बहाया जा सकता है, आप मान लें।

❦ ❦ ❦

मेरे साथ मेरा अनुचर मनदोज भी था। इस लघुकाय गोरखे में सबने

बड़ा गुण यह था कि वह जब जहाँ हो, सो सकता था। फिर बैलगाड़ी में तो हम नौ घण्टे हो चुके थे—रात हो गया था

मैंने अपने लिए स्थान सामने की ओर बनाया था, उसके बाद मेरे कपड़ों का और राशन का बक्स था, फिर मनदीज के बैठने का स्थान, फिर पीछे हमारे दोनों बिस्तर। इस प्रकार गाड़ी का बैलेंस भी ठीक हो गया था और हम स्थान भी अपनी रुचि के अनुकूल मिल गया था—मुझे सामने का दृश्य देखने का चाव था और मनदीज को टाँकों की दरार में सिर कैमरे और बिस्तरा पर टाँग टाँगकर सोने का। हम लोग कुछ खाकर एक नये प्रत्यावर्तन के पथ पर चले थे, तब से एक बार आधे घण्टे के लिए मेरे जगाने पर मनदीज उठा था—हमने चाय बनाकर पी थी। अब रात के ग्यारह बजे थे। मनदीज तो सो ही रहा था—और अब मैं अब सुबह तक जागने का प्रश्न ही क्या? गाड़ीवान भी कुछ एक गीत गा गुनगुनाकर ऊब गया था और कुछ-कुछ ऊँघता हुआ बैठा था, बैल यन्त्रवत् चले जा रहे थे।

तारे थे। ऊपर छत के अर्धगोल और सामने गाड़ीवान के कन्धे के नीचे की जगह में से दो-चार तारे दीखते थे, कभी-कभी मोड़ मार्ग आने पर एक-आध अधिक दीख जाते झाँक दे जाता था। मैं भी ऊँघने लगा—ऊँघ की जादुई मरहम मेरे ऊपर आया और टूटता हटाइयों का महलान लगा।

हठात् चौंककर जागा। गाड़ी खड़ी थी। गाड़ीवान ने कहा, "हम लोग पहुँच गये।"

मैंने देखा, एक सरोवर के किनारे गाड़ी खड़ी है। अशोक का पेड़ शायद इसके पास भी होगा। पर यह फिर देखा जायगा। मैंने जोर से आवाज दी, "मनदीज! ओ मनदीज!"

नींद में भराया आवाज बोली, "जी साब।"

"उठो अब। सामान उतारो। यहीं बाहर ही बिस्तरे कर लेंगे। सवेरे देखा जायगा।"

सहसा चुप, यद्यपि मैं अनुभव कर सका कि वह सुप्ति का नहीं है, अत्यन्त सजग है।

"क्यों, मनदीज, क्या है?"

मनदीज ने अविचलित भाव से उत्तर दिया, "साब बिस्तरा तो गिर गया।"

मनवान के सोते सोते दोनों बिस्तरे गाड़ी के दचके से कहीं गिर गये थे, दचकों के कारण सामने हम पता न लगा और पीछे मनदीज की नींद न टूटी।

मैंने बड़े यत्नपूर्वक जल्दी-जल्दी मन-ही-मन दुहराना शुरू किया, 'असम बड़ा ही सुंदर देश है। यहाँ के लोग बड़े हँसमुख और मिलनसार हैं। असम बड़ा सुंदर—' क्योंकि नहीं तो मुँह से जो कुछ निकलता, वह पक्के साहबों के साथ रहे हुए मनदोज को अप्रत्याशित भले ही न लगता, मेरे लिए अवश्य पश्चात्ताप का कारण बनता।

फिर मनदोज को कुछ कहने के लिए मैंने कहा. "चाय बनाओ।" गाड़ीवान से कहा, "सामान उतारकर गाड़ी मोड़ो, हम बिस्तर खोजने चलेंगे।"

मनदोज ने तत्परता से कहा, "जी सा' ब !" और ट्रंक उतार लिये।

गाड़ीवान ने कुछ कम तत्परता से कहा, "बड़ डिकडारी।"

सौभाग्यवश अधिक दूर नहीं जाना पड़ा। कोई तीन मील दूर पर एक, और आधे मील पर और आगे दूसरा बिस्तर मिल गया। और जो एक गढ़े के पास के कीचड़ में गिरा था वह बिस्तर मेरा नहीं, मनदोज का था। जी कुछ ठंढा हुआ। तीन घंटे बाद लौटकर देखा आग जलकर ठंढी हो चली है, केतली उस पर चढ़ी है और मनदोज—ट्रंक पर सिर टेके सो रहा है।

× × ×

दोपहर होते न होते कमलाबाड़ी जा पहुँचे। घाट से बढ़कर मीरी जाति के एक गाँव के पास होकर डाकबंगले पर जा पहुँचा, सामान रख मुँह-हाथ धोया। मनदोज से प्रार्थना की कि अब कम-से-कम घंटा भर जागते रहकर कुछ डब्बे का और कुछ ताजा मिलाकर भोजन दे दे, और उसके 'जी सा' ब' की अंतर्ध्वनि से कुछ आश्वस्त होकर आरामकुरसी पर बैठकर प्रतीक्षा करने लगा।

प्यास थी। यों मनदोज को पीने के लिए पानी उबालकर रखने की आदत डाल दी थी, पर अभी फ़ौरन तो वह नहीं चलेगा; चौकीदार से पूछा तो उसने बताया कि वहाँ विलायती फिल्टर है, साहब लोग उसी का पानी पीते हैं। मैंने कहा, उसमें हाथ पंप से ताज़ा पानी डाल दे और छनने पर गिलास भर दे। दो मिनट के अंदर ही वह गिलास भर पानी ले आया तो मैंने विस्मय से पूछा, "इतनी जल्दी छन भी गया ? बासी पड़ा हुआ तो नहीं है ?"

चौकीदार ने आहत स्वर से कहा, "नहीं साहब, अभी ताज़ा डालकर लाया हूँ।"

मानवता में मेरी अपार श्रद्धा है। पर असम के पलटनिया जीवन में सीख लिया था कि पानी के बारे में कभी सहज विश्वासी न हो। मैंने जाकर फिल्टर देखा, तो उसके ऊपरी अंश में बिलकुल पानी नहीं था, चलनी के नीचे जल अब भी भरा था।

मैंने अविश्वास के साथ कहा, "सारा पानी इतनी देर में छन भी गया ?"

चौकादार की मुद्रा ने कहा, 'साहब के साथ अगर धैर्य का झगड़ा पड़ती है—पर मुझमें है।' वाणी ने कहा, 'नहीं, मैंने चलनी उठाकर भर दिया था।'

कारण ? यही कि फिल्टर करके निकालने में बहुत देर लगती है, कि 'बड़ डिकड़ारा' का बात है।

मैंने मन मारकर कहा ' भाल। ' वह चला गया, तो मैंने छिपाकर पानी नाली में डाला, और दो एक किताबें निकालकर बैठ गया कि चाय के आने तक प्यास को बहलाये रखूँ। बाद में मनरोज से फिल्टर का पानी फिंकवाकर नया भरवाया—कि रात भर में बिना 'बड़ डिकड़ारा' के छन जाय।

कुछ एक बकरियाँ डाक बगले के इहाते में चली आयीं। बिना झिझक के वे बरामदे की ओर नहीं, सीढ़ी चढ़कर बरामदे में और फिर कमरे में चली आयीं। एक बार मेरी ओर देखा, शालीनता से मेरी मान्कर मेरी उपस्थिति को क्षमा कर दिया और थूथनी से मेरी पुस्तकें उलटने लगीं।

मुझे मानवेतर प्राणियों में ठीक वैसी ही दिलचस्पी है जैसी मानव शिशुओं में—इतर जन्तुओं में शिशु के सभी गुण-अवगुण होते हैं और दोनों का समान पर्यवेक्षण सिद्धान्तों के सहज ग्राह्य बनाने के लिए सबसे अच्छी पाठशाला है। कभी कभी बहुत समय तक निश्चल बैठकर मैं एक आध ढीठ गौरैया को इतना आश्वस्त कर सका हूँ कि वह क्षण भर मेरे कंधों पर बैठकर फुर्र उड़ जाय, कुत्ते, तोते, मोर, चकोर, कबूतर, तीतर आदि के अलावा गिलहरी, बनबिलार, लगड़े कौए और चाल के बच्चे तक मन पाले हैं, और उनका विश्वास भाजन बनने में आनंद पाता हूँ, पर माफुली में पशु और मानव में जैसा साधारण सहज साहचर्य देखा वैसा और नहीं देखा। पहली यात्रा में तो यह बात छोटे-छोटे पशु पक्षियों को लेकर ही लक्षित हुई—दो एक बार हाथी अपने आप डाक बगले में आकर घुसे तक और सूंड उठाकर, सलाम करके मेरे हाथों केले के फल और मूंगफली आदि खा गये, पर ये आसपास के बगों के सिखाये हुए हाथी थे—किंतु दूसरी बार माफुली आकर मैंने देखा कि द्वीप के हिंस्र पशुओं के साथ भी मानों मानव द्वीपवासियों का अलिखित समझौता है ...

× × ×

दूसरी बार जब गया तब बाढ़ के दिन थे। बाढ़ के दिनों द्वीप की लंबाई प्राय: दो तिहाई रह जाती है, और बीच में भी जहाँ तहाँ नदी नाले दीर्घा और खाल बाल तथा 'मरा नदियाँ' अपनी मर्यादाएँ तोड़कर बहुत-सा प्रदेश लील लेती हैं, जिससे द्वीप का क्षेत्रफल शायद आठवाँ भाग ही जाता हो. द्वीप में जहाँ-जहाँ

…धरातल कुछ ऊँचा है, वहाँ गाँव बसे हैं, किंतु इतनी ऊँची भूमि बहुत कम है जो बिल्कुल सुरक्षित हो, और गाँव के घरों में बहुधा पानी आ जाता है। कुछ सब हो इतनी ऊँची जगह पर हैं कि पक्की इमारत बनाना उचित समझा जाय, नहीं तो घर प्रायः बाँस और फूस के 'बासे' हैं—संपन्न घर में दीवार पर गारे की पपड़ी जमाकर ऊपर चूने से पुताई कर दी जाती है, बस। इस वर्णन से अनुमान नहीं हो सकता कि असमिया घर कितना स्वच्छ और सुव्यवस्थित होता है—वह देखकर अनुभव करने की चीज़ है।

माफ़ुली में सबसे ऊँची जगह वहाँ की एकमात्र सड़क है। उत्तरी असम को जाने के लिए यही मार्ग है, और इसे वर्ष भर चालू रखने के लिए बहुत ऊँची पटरी पर बनाया गया है। सड़क द्वीप के आर-पार बनी है; द्वीप पार करके ब्रह्मपुत्र की दूसरी धारा सुवर्णश्री अथवा 'सुबनसिरी' फिर पार करनी पड़ती है।

बाढ़ में, जब गाँवों में पानी भर जाता है, तब नीचे प्रदेश तो डूब ही जाते हैं। तब द्वीप भर के साँप ऊँची ज़मीन पर, या पेड़ों पर चढ़ जाते हैं; वन्य पशु, जिनमें बाघ की भी पर्याप्त संख्या है, दलदल और हाथी-घास के प्रदेश से सिमटते हुए क्रमशः सड़क की पटरी की ओर बढ़ आते हैं और अंत में सड़क पर ही आ जमते हैं।

दूसरी ओर गाँवों से जल प्लवन-द्वारा खदेड़े जाकर ग्रामवासी भी ऊँची ज़मीनों पर आश्रय लेते हैं। प्रत्येक गाँव में अनेक डोंगियाँ तो होती हैं, जो निकटवर्त्ती खाल या मरी नदी में पड़ी रहती हैं; स्थानांतर करने में ये काम आती हैं। हर गाँव के अपने-अपने मचान भी बने होते हैं जिनकी देख-रेख और मरम्मत गाँव भर की जिम्मेदारी होती है। पानी अधिक बढ़ आने पर ग्रामवासी पेड़ों पर बने हुए इन मचानों का आश्रय लेते हैं और अपने ढोर-डांगरों को खदेड़-कर सड़क की पटरी पर कर देते हैं, नहीं तो सूखा पुआल डाल देते हैं।

इस प्रकार बाढ़ के दिनों में वह दस एक मील की सड़क की पटरी एक विराट् मेले का रूप ले लेती है—भेड़-बकरी, गाय-भैंस, लोमड़ी-स्यार, बाघ-बबेल-बिलार, साँप-बिच्छू सब मानों अपनी-अपनी भीटी पर आ जमते हैं। और मचानों पर बैठे मानव प्राणी धैर्यपूर्वक मेला देखा करते हैं। परदेशी वह दृश्य देखकर थर्रा जाय, किंतु जिस तरह मौसम में मौसमी बुखार होता ही है और कोई यह नहीं कहता कि महामारी फैल गयी है उसी तरह माफ़ुली के वासी भी अपने जीवन-क्रम के इस नियत अनिवार्य अंग को स्वीकार कर लेते हैं। दैव पर झल्लाया नहीं जाता, उसे सहने का उपाय किया जाता है। डिकडारी वह है निस्संदेह, किंतु ढाँचे में बैठायी हुई, साँचे में ढली हुई, इसलिए वश्य। और फिर

पानी उतर जाता है, सब लोग अपने अपने घर जाते हैं, पशु अपने बाड़ों में, बाघ अपनी मांद में और साँप अपनी बांबी में, और ढर्रा चलता रहता है। ढर्रे का चलना ही तो सनातन है, और इस सनातन तंत्र की सहज अनुभूति ही तो 'विश्व मैत्री' और 'जीव दया' का रहस्य

यह नहीं कि जीवन के अनुक्रम में व्याघात न होता हो। किंतु जीव एक दूसरे को खा ले, दो एक को धपड़िया जाय, तो भी क्या ? जिस तरह यह लम्बी हाथी दूबी घास सारी दलदल भूमि पर छा जाती है, उसी तरह विराट का नियम भी

इस सबका व्यक्तिगत अनुभव हुआ दूसरी यात्रा में किंतु पहली ही यात्रा में जब बकरियाँ मेरी पुस्तक उलट पुलटकर और कुछ चर कुछ मारी पुलकियाँ खाकर, पथ में पानी भरकर उकारियाँ जैसे ही निर्बीज भाव में कुछ हताश होकर चली गयीं, तब चाय पीते पीते मैं कल्पना में मामुली के जीवन का चित्र देखने लगा, और वह चित्र शब्दों के सूत्र में गुंथने लगा

आज भी मेमने आकर मेरी पुस्तकों को आकर उलटा जायगे,
और नीलकंठ किंशुक के ठूँठ पर ऊंघेगा
और सेमल की बुढ़िया हवा पर तैरती चली जायगी।
आज भी धुँधला आर्द्र प्रकाश बिछल जायगा
चिकनी लचकीली ग्रीवाओं और नील स्फटिक के खंडों पर ढरगायित
नितम्ब लहरी के
आज भी वस्त्र-खंडों में से कुछ मुकुलों का निर्व्याज सौन्दर्य झाँक जायगा
निरायास स्वच्छन्दता की ही आन लेकर।
आज भी फूस के छप्परों को छितरा जायगी ढोलकों की गमक
और बांसुरी का भटकता सुर
वेणुकुंज में बसी अपनी चिरंतन जननी को उत्कंठा से पुकारेगा।

और असाढ़ में नदी भरेगी, और दस्यु लहर
लूट ले जायगा कगारों की रेती, तोड़ेंगी करारे,
और फेन की ध्वजा फहराती हुई सदर्प बढ़ती चली जायेगी
अतहान सागर' की ओर।

एक बार फिर रातें अँधियारी हो जायेंगी और दिन उदास,
पत्तियाँ पीली पड़ जायेंगी और तने जलमग्न होंगे,
बिच्छू और साँप के फूत्कारों में क्रोध बेबस हो उठेगा,
बाघ आठ को मार डालेगा
और पुजारी की बहू को भँभोड़ कर छोड़ जायगा
और कुएँ के पास छः भेड़ों की अँतड़ियाँ सड़ती रहेंगी
और मानवीय खोपड़ी के आयतन पर
गंज-गंडों का विस्तार विद्रूप हँसी हँसेगा।

एक बार फिर
लड़खड़ाते तरु-शिखरों से युग-दर्शी आँखें
मटमैले सवन को हेरेंगी—
काल की भेदक व्यथा ही काल को पारदर्शी बना देगी
और झलकेगा एक स्वप्न, जिसमें
फेन का उफान हट जायगा, और बेत वृक्षों की छड़ी-सी अँगुलियों से
रेशम के पालनों पर झूलते हुए उतरेंगे
लोमहर्ष कीड़े—
बुदबुदाती दलदल की कीचड़ में खोजते
अंकुर किसी पंकाकुल जीवन के—
जिन्हें शीघ्र भूखे हाथ टोह-टोह खोद लेंगे
उनके सहारे एक बार फिर
मूर्च्छित, विपन्न प्राणों में, युग जीवन की युगातीत चेतना जगाने को!

काल का प्रवाह एक सूत्र है, पाश है, जो बाँधता है, बेबसी में।
ज्ञात एक लीक हो जो बहिष्कृत करती है!
मेरी आँखें अनभिज्ञता के झरोखे से
स्पष्ट देख पाती हैं—
युगातीत शांति इस चक्रावर्त जीवन-विवर्तन पर।

इतना ही देखता हूँ। आगे यदि देखता
और यदि जानता, और गहरे पैठता
तो शायद मेरी दृष्टि भी
रुक जाती, घिर जाती, कट जाती काल के प्रवाह की थकान से
मैं न तब देख पाता कौतूहली मेमने,
नहीं मुझे बोध होता नील स्फटिक ग्रीवा का
मेरा टिकता न ध्यान वक्ष के मुकुल पर!
एक बार और फिर, फिर और एक बार,
और एक बार फिर।
किन्तु आज ढोल की गमक पर
कीर्त्तन का स्वर है तुला रहा
चम्पक की शय्या पर देवी राधा सोयी हैं
आज कब श्याम? मिटे वेदना विरह की
मिटे श्याम उभयमुखी, ठहरे निलय में
जागे नया एक अन्तहीनता
क्योंकि जितना समर्थ अन्तहीन शक्ति श्याम की है—
उतना ही आह्वान राधा की भी प्यास है!

× × ×

कमलाबाड़ी में कालकलामुख लौहन तूफान ने घेर लिया दिन छिपते पहुँचे। पैसेंजर बस भर चुकी थी, (और इस इलाके में २४ सीट की गाड़ी तब भरती है जब ४० बैठ चुके हों!) कहने सुनने पर ड्राइवर ने मुझे और ले लिया और अपने दाहिनी ओर बैठा लिया। सामान का सामान पीछे साथ (केवल अपना बिस्तर मैंने साथ रख लिया।) बैलगाड़ी पर आने को कहा। रात जोरहाट काटी, दूसरे दिन सामान आ जाने पर दो किश्तों में बस द्वारा गोलाघाट, वहाँ से आगे बस नहीं था, आती जाती मिलिटरी लारियों में चन्दा लेते हुए रात तक नौगाँव पहुँच गये। यहाँ अपना एक मुझे लेने आने को था, यहाँ तीन सप्ताह की डाक और समाचार पत्र मिलने की आशा थी। सब मिले, किन्तु इस वरदान का आराम से भोग करने बैठूं, इससे पहले ही यह सब लेकर आये हुए मेरे विभाग के एक दूसरे अफसर ने कहा, 'कुछ और भी सामान और कमांडर की एक चिट्ठी भी तुम्हारे लिए लाया हूँ। तुम्हें अभी केन्द्र नहीं लौटना है, यहीं से दूसरा दौरा आरम्भ है—मणिपुर रोड।"

"क्यों, खैर तो है ?" कहते हुए मैंने कर्नल की चिट्ठी खोली। "पूरे समाचार तुम्हें एब (पत्रवाहक कप्तान का पुकारने का नाम) से मालूम होंगे। मणिपुर रोड से लेकर उत्तरी शिवसागर तक का सारा प्रदेश तुम्हारे जिम्मे है। कुछ खाद्य, एक-एक बोतल रम और जिन, एक रिवाल्वर और १५० कारतूस भेज रहा हूँ। और सब चीजों का उदारता से, कारतूसों का किफायत से उपयोग करना। कुछ और मँगाना हो तो एब से कह देना, और ठिकाना बता देना, अगले सप्ताह में एक हवलदार तुम्हारे साथ रहने भी भेजूँगा, वह लेता आवेगा। पीछे मैं भी आ मिलूँगा। संपर्क रखना। गुड लक।' पत्र के साथ ही, उससे भी संक्षिप्त पट्टा (मूवमेंट आर्डर) था जिसके अनुसार मुझे मणिपुर रोड और डिगबइ तक के प्रदेश में जहाँ-जहाँ चाहूँ जाने और मौखिक आदेशों के अनुसार कार्य करने की क्षमता प्रदान की गयी थी, और स्थानीय कमांडरों को मेरे कार्य में योग देने को कहा गया था।

मैंने एब स्टुअर्ट से कहा, "यह बात!" और अखबार उठाया। सुर्खी चीख रही थी—"भारत का सीमोल्लंघन—जापानियों ने मणिपुर का रास्ता काट दिया—कोहीमा का आसन्न संकट—"

मैंने फिर कहा, "अच्छा यह बात!" और उनकी बात सुनते-सुनते उनके साथ ही नकशों पर झुक गया।

अगले छः सप्ताह तक माझुली का स्मरण करने की फुरसत न मिली। उसके बाद एक गाँव के स्कूल में एक बच्ची से अचानक केवड़े के फूल का उपहार पाकर मुझे माझुली के यात्रारंभ की याद आयी, तब नागकेशर और अशोक दोनों ही के फूल लुप्त हो चुके थे, और हर समय छाये रहनेवाले काले बादलों के नीचे उनकी घनी हरियाली और काली-काली दीखने लगी थी।

रघुवीरसहाय

प्रभाती

नित्य की सी थी रात,
नीम की डालों पे गदभार पत्तियाँ, अपनी
खड़खड़ाहट को मलय गंध से कम करती थीं,
कोकाबेली के तालाबों से सिर उठा, कलियाँ
भीनी ओसों से नैश अंधकार में से
खींचे लेती थीं अपने लिए श्वेत रंग,
थकी बाहों पे व्यथित शीश टिका
हर कोई सोता था, जिसको कि सुबह जगना था।

धीरे धीरे,
किसी मन्दिर की सीढ़ियों से बहाया हुआ,
भोले पानी पे तैरता चला आया उषा का दीपक
पूर्व में भीड़ सितारों की लगी दबने, और
चिकने आकाश पे मुद्रित वह गुलाबी बादल
इस तरह गर्व से उभरा, कि अपने प्राणों में
जैसे आलोक का वह भेद छिपाये हो जिसे धरती पर अभी तक
कोई नहीं जान सका।
लो, पुरानी वह बात कल की हुई
और अकस्मात् लहक कर के नया प्रात हुआ।

फूलों ने जल्दी जल्दी रंग चुने
जो कि वे शुभ्र उजाले से अभी माँगेंगे,
चाँद ने ध्यान से एक बार मुझे फिर देखा
अपने भेजे हुए सपनों को फिर समेट लिया,
आज के दिन की व्यस्त हलचल की
कलों के शोर, थकन धूप, और दफ्तर की
उन्हें फिर याद आ गया सहसा इसलिए, शायद
दूर की बस्ती में लोग जाग उठे।

घूमकर भूमि ने देखा, कि सामने तुम थे,
नित्य मिलने का वचन पूरा किया था तुमने;
धीमी मुस्कान तुम्हारी बनती जाती थी हँसी,
इसलिए लाज से गाल धरित्री के लाल होने लगे;
प्यार की प्यास बुझेगी अभी, इस आशा में
शिथिल अंगों को रक्त रँगने लगा,
लो, कहीं फूल वनों में कई रंग दौड़ गये।
और मुख आधा छिपाकर के कृष्ण-घूँघट में,
कनखियों से तुम्हें धरती ने निहारा, आओ
आओ, स्वीकार निमत्रण यह करो,
इस अलसाये हुए साँवले तन पर झुककर,
गर्म किरणों की अंगुलियाँ मेरे केशों में फँसा,
—दूब में, क्यारियों में, खेतों में, और विजनों में—
स्नेह से माथे को सहलाओ,
नयन, मेरे नयनों में तनिक डाले रहो,
ताकि मैं भी तो मुस्कराती रहूँ।

हम भी अभिसार की करते हैं यह विनती तुमसे,
आओ स्वीकार निमत्रण यह करो,
नयन उसके नयनों में तनिक डाले रहो,
ताकि वह दृष्टि, चमकते हुए हल के फालों के संग
गीली मिट्टी से सरल प्राणों में भिदती जाये,
ताकि विश्राम में निश्चिंत बीज व्याकुल हों,
और फिर फूलों-फलों के नये अंकुर फूटें,
दोनों हाथों को उठा, मेघों का स्वागत जो करें;
हम भी अभिसार की करते हैं यह विनती तुमसे,
आओ स्वीकार निमत्रण यह करो,
ताकि, ओ सूर्य, ओ पिता जीवन के,
तुम उसे प्यार से वरदान कोई दे जाओ,
जिससे भर जाए दूध से पृथ्वी का अंचल,
जिससे यह दिन उसके पुत्रों के लिए मंगल हो।

त्रिलोचन शास्त्री

आँखों के आगे

हरा भरा संसार है आँखों के आगे
ताल भरे हैं खेत भरे हैं
नयी नयी बालें लहराये
झूम रहे ये धान हरे हैं
झरती हैं झीनी मंजरियाँ
खेल रही हैं तेज लहरियाँ
जीवन का विस्तार है आँखों के आगे
उड़ती उड़ती आ जाती है
देस देस की रंग रंग की
चिड़िया सुख से छा जाती हैं
नये नये स्वर सुन पड़ते हैं
नये भाव मन में जड़ते हैं
अनदेखा उपहार है आँखों के आगे
गाता अलबेला चरवाहा
चौपायों को साथ सँभाल
पार कर रहा है वह बाहा
गये साल तो ब्याह हुआ है
अभी अभी बस जुआ हुआ है
घर, घरनी, परिवार है आँखों के आगे।

———

महेंद्र भटनागर

संकल्प-विकल्प

आज यह कैसी थकावट ?
कर रही प्रत्येक रग-रग को शिथिल !
मन अचेतन भाव-जड़ता पर गया रुक;
ये उनींदे शांत बोझिल नैन भी थक-से गये !
क्यों आज मेरे प्राण का उच्छ्वास हलका हो रहा है,
गूँजते हैं क्यों नहीं स्वर व्योम में !
पिघलता जा रहा विश्वास मन का
मोम-सा बन,
और भावी आश भी क्यों दूर—
तारा-सी
दृष्टि-पथ से हो रही ओझल !
कि जीवन का धरातल

धूल में कंटक छिपाये राह मेरी कर रहा दुर्गम !
गगन की इन घहरती आँधियों से
आज क्यों यह दीप प्राणों का उठा रह-रह सहम ?
रे सत्य है,
इतना न हो सकता कभी भ्रम !
भूल जाऊँ ?
या थकावट से शिथिल होकर
नींद की निस्पंद श्वासों की
अनेकों झाड़ियों में स्वप्न की डोरी बना कर
झूल लूँ !
इस सत्य के सम्मुख झुका कर शीश अपना
आत्म-गति को
(रुक रही जो)
रोक लूँ ?
या सत्य की हर चाल से
संघर्ष कर लूँ आत्म-बल से।

भगवतशरण उपाध्याय

श्रीराहुल सांकृत्यायन

सन् १६-३ के नवम्बर या दिसम्बर की बात है, मैं स्वर्गीय श्रीकाशीप्रसाद जायसवाल से मिलने पटने गया हुआ था। फ्रेजर रोड की उनकी सुन्दर कोठी पर प्रायः देश-विदेश के विद्वान् एकत्र हो जाया करते थे। मैं भी अक्सर श्रीजायसवाल से मिलने जाया करता था। हाल ही मैं कालेज से निकला था और अपने ग्रंथ—'इण्डिया इन कालिदास' के लिए सामग्री एकत्र कर रहा था। जब वह सामग्री एक सिलसिले से हो जाती तब अपने निष्कर्ष के संबंध में श्रीजायसवाल का मत लेने चला जाता। इस बार जो उनसे मिलने गया तो उन्होंने मुझसे ओरियण्टल कान्फ्रेंस के संबंध में बात की, जो बड़ौदे में होनेवाला था और जिसके अध्यक्ष वे स्वयं थे।

मैं तब तक कान्फ्रेंस का सदस्य हो चुका था और दिसम्बर के अंत में होने वाले उसके अधिवेशन में शामिल होने के लिए काफी उत्सुक भी था। श्रीजायसवाल ने उस अधिवेशन के लिए कृपाकर मुझे अपना 'लिटरेरी सेक्रेटरी' बना लिया, और उसके अनुसार ही कान्फ्रेंस के मंत्री को लिख दिया। मंत्री ने श्रीजायसवाल के मार्फत ही मुझसे पूछा कि मैं कहाँ ठहरूँगा और क्या खाना पसंद करूँगा—यूरोपियनों में ठहरना और यूरोपियन खाना या भारतीयों के साथ ठहरना और भारतीय खाना। अभी मैं कुछ निर्णय न कर सका था और जाहिरा कुछ परेशानी भी दिखाई थी जिसे देख पास बैठे दीर्घकाय सुंदर सुगठ काषायमंडित सन्यासी ने पूछा—'परेशानी किस बात की है? तुम्हें निर्णय करना है कि ब्राह्मण भोजन करोगे या जैन भोजन। दोनों में से एक निश्चित कर मंत्री को लिख दो।'

मैं समझ न सका—यह ब्राह्मण और जैन भोजन का अंतर। जैन भोजन की रूपरेखा तो थोड़ा बहुत समझता था, परन्तु ब्राह्मण होकर भी इस 'ब्राह्मण भोजन' का रहस्य स्पष्ट न कर सका। मैंने जब कुछ शंकित हो उनकी ओर देखा तो उन्होंने मेरा समस्या समझी और कहा—'ओ, समझे नहीं। ब्राह्मण भोजन का अर्थ है संसार के सारे खाद्य पदार्थ—अन्न, वनस्पति, मांस, मछली जिसमें सुअर और गाय दोनों के मांस सम्मिलित हैं और जैन भोजन का मतलब है—साग सब्जी, घास पात।'

श्रीराहुल सांकृत्यायन

श्रीराहुल साङ्कृत्यायन

मैंने क्या निश्चित किया, यह यहाँ लिखना अप्रासंगिक है, परंतु इस संबंध में उन महानुभाव के व्यक्तित्व का मुझ पर जो प्रभाव पड़ा वह गहरा और चिरकालिक सिद्ध हुआ। काषायधारी महानुभाव बौद्धभिक्षु महंत राहुल सांकृत्यायन थे। उनके विषय में मैं पहले भी कुछ पढ़ चुका था और श्रीजायसवाल के मुख से भी उनकी प्रशंसा सुनी थी। आज पहली बार मैंने उन्हें देखा और उनके व्यक्तित्व से प्रभावित हुआ।

एक बात यहाँ लिख दूँ कि मैं साधारणतः स्वभाव से ही अश्रद्धालु (Sceptic) हूँ। व्यक्तित्वों का प्रभाव प्रायः मेरे ऊपर कम पड़ता है और अखबारी दुनिया के बढ़ाये चढ़ाये लोगों का प्रायः सर्वथा नहीं। कुछ प्रकृति ऐसी बन गयी है कि यद्यपि किसी के 'पर्सोना ग्रेटा' की सराहना सुनकर उसके विरुद्ध कुछ कहता नहीं, अनेक बार हाँ भी कर लेता हूँ परंतु वास्तव में एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया उसी काल से उस 'पर्सोना ग्रेटा' के विरुद्ध होने लगती है, और जब तक मैं उसके संबंध में अनुकूल या प्रतिकूल मत स्थिर नहीं कर लेता तब तक उस बात की ओर विचार बार-बार जाता है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन के व्यक्तित्व का प्रभाव जो मेरे ऊपर पड़ा, वह उन चंद प्रभावों में से एक है जिनसे मैं अलग नहीं हो सकता और जिन्हें वैयक्तिक त्रुटियों के बावजूद भी मैं गौरव के साथ धारण करता हूँ।

दूसरी बार 'ओरियंटल कांफ्रेंस' के बड़ोदा-अधिवेशन में मेरा श्रीराहुलजी से साक्षात्कार हुआ। अध्यक्ष का भाषण समाप्त हुआ और मैं श्रीजायसवाल की ओर रात्रि और सुबह के कार्यक्रम के संबंध में कुछ नोट लेने के लिए बढ़ा। राह में जिस व्यक्ति से टकरा गया वे विशालकाय डाक्टर वूलनर थे—अशोक के अभिलेखों के प्रकांड पंडित और पंजाब यूनिवर्सिटी के अंग्रेज वायसचांसलर, जिन्होंने भारतीय पुरातत्त्व को अनेक मेधावी शिष्य दिये थे—जो इस काल एक दूसरे मुकाय के सामने हाथ जोड़े घुटनों तक झुके हुए थे। दूसरे अतिकाय महापण्डित राहुल सांकृत्यायन थे। मैंने एक को दूसरे से कहते सुना—'स्वामीजी, यद्यपि किसी ने मुझे बताया नहीं, परंतु मैंने आपका आकार-प्रकार देखकर ही जान लिया था कि आप महंत राहुल होंगे।' उस अधिवेशन में डाक्टर वूलनर एक स्कंध के अध्यक्ष थे, महापंडित राहुल दूसरे के।

श्रीराहुल सांकृत्यायन अब तक तिब्बत से लाये प्राचीन भारतीय ग्रंथ-लिपियों और पताका चित्रों के कारण देश में पर्याप्त प्रसिद्ध हो गये थे और देशी-विदेशी विद्वानों ने उनकी मुक्तकंठ से प्रशंसा की थी। वहाँ से लाये ग्रंथों की संख्या तो जहाँ तक मुझे स्मरण है, हजारों थी, परंतु उनमें दो ऐसे रत्न थे जिनके लिए संसार के

पुराविद उत्कंठित थे। ये रत्न धर्मकीर्ति का 'प्रमाणवार्तिक' और 'शान्तरक्षित का 'वादन्याय' थे। कम से कम प्रमाणवार्तिक की तो एक जमाने से चर्चा हो रही थी और उसके लिए यूरोप के विद्वानों ने अपने शिष्य वर्ग और सारे सक्रिय और समृद्ध साधनों के साथ दशाब्दियों से तिब्बत में प्रवेश करने के असफल प्रयत्न किये थे। जहाँ तक मैं समझता हूँ 'प्रमाणवार्तिक' की उपलब्धि ने यूरोप के प्राच्य संस्थानों में एक विप्लव खड़ा कर दिया था। इसमें सन्देह नहीं कि यदि श्रीसांकृत्यायन और कुछ न करते, केवल प्रमाणवार्तिक और वादन्याय का पुनरुद्धार भर कर देते तो उनका स्थान इस क्षेत्र के अग्रणी पुनरुद्धारकों में बन जाता। परन्तु उनकी अनेकमुखी प्रतिभा और मान्यताएँ उनके व्यक्तित्व की परिधि को उस क्षेत्र से बाहर दूर तक फैला देता है, यद्यपि उनके सम्बन्ध में कुछ कहना मुझे यहाँ अभीष्ट नहीं।

राहुलजी अनेक बार विदेश गये और उन यात्राओं के वर्णन भी जब तब मैं पढ़ता रहा। बीच बीच में अनेक बार उनसे मुलाकात हुई और उनके नित्य प्रति प्रगतिशील विचारों की छाप मुझ पर पड़ती गयी। मैं समझता हूँ, इस प्रकार जो लोग श्रीराहुलजी के प्रगतिशील व्यक्तित्व से प्रभावित हुए, उनमें मैं अकेला न था, अनेक देशी विदेशी विद्वानों ने भी उनकी असाधारण प्रतिभा को सराहा। श्रीजायसवाल स्वयं उनमें से एक थे।

श्रीजायसवाल को मैं उन इने गिने असाधारण मेधावियों में मानता हूँ जिन्होंने भारतीय इतिहास के निर्माण में अथक और सफल प्रयत्न किया है। जहाँ तक सूझ, गहराई, कल्पना और साहस का काम है वहाँ तक मैं समझता हूँ, श्रीजायसवाल इस क्षेत्र में अद्वितीय रहे हैं और उनकी इतिहासांकन की शैली भी नितान्त वैज्ञानिक और विशुद्ध रही है। वैज्ञानिक निष्कर्ष के ऊपर भावुकता को कभी उन्होंने हावी न होने दिया। जो उस शोधाग्रणी की शैली से परिचित हैं वह मेरे इस वक्तव्य का अर्थ समझेगा। उन्हीं जायसवालजी ने उन दिनों 'माडर्न रिव्यू' में श्रीराहुल के सम्बन्ध जो लेख लिखा वह वस्तुतः 'हिरोवरशिप' से किसी प्रकार कम नहीं। डाक्टर जायसवाल द्वारा इस व्यक्तित्व का मूल्यांकन कुछ मजाक नहीं जब हम यह याद करें कि अपने उस समर्थ छात्र को सिल्वाँ लेवी से मिलाते समय लेनप्रल की मर्यादा के इतिहासकार ने कहा था—लेवी, आई प्रेजेंट टु यू माई लाइफ वर्क जायसवाल (लेवी, यह जायसवाल है, मेरी जीवन कृति)। उस जायसवाल ने माडर्न रिव्यू के उस अंक में लिखा कि जिस प्रकार बुद्ध के सामने जनता स्वतः झुक पड़ती थी उसी प्रकार महापंडित के सामने मस्तक अनायास झुक जाता है। उस लेख को पढ़े

मुझे आज एक ज़माना हो गया, परंतु अब तक उसकी स्थापना विस्मृत न हो सकी।

अनेक बार मुझे श्रीराहुल सांकृत्यायन से मिलने का अवसर मिला; अनेक बार प्राचीन और अर्वाचीन समस्याओं के संबंध में बातचीत करने का मुझे मौका मिला: अनेक बार विचारों की परस्पर विरोधी सीमाएँ भी स्पष्ट हो उठीं, परन्तु कभी एक क्षण के लिए मेरे ऊपर उनके व्यक्तित्व के बढ़ते हुए प्रभाव में तनिक भी कमी न हुई। यह हम सबका साधारण अनुभव है कि महत्ता की ऊँचाइयाँ दूर से अधिक लगती हैं, परन्तु पास पहुँचने पर धीरे-धीरे शिखर बादलों के धुंध से अलग होने लगता है और अंततः आदर्श व्यक्तित्व मुट्ठी में आ जाता है। उसकी ऊँचाई नितान्त सामान्य हो जाती है। इसी कारण वास्तविक विशालता की उपमा स्तंभ से दी जाती है, जो पहले तो दूर से नीचा दिखाई देती है, परंतु जैसे-जैसे हम उसके पास आते जाते हैं उसकी ऊँचाई बढ़ती जाती है और अंत में हम उसके समक्ष अपनी ऊँचाई का अन्दाज लगाते हैं। जिस व्यक्ति की ऊँचाई सामीप्य और सम्बधातिरेक से घटती नहीं वरन् निरंतर बढ़ती जाती है वही निस्सदेह बड़ा है। श्रीराहुल सांकृत्यायन का व्यक्तित्व इस कसौटी पर भली प्रकार कसा जा सकता है।

मेरा उनका सम्बन्ध प्रायः पंद्रह वर्षों का है और इन पन्द्रह वर्षों में मुझे ऊँची मापवाले अनेक व्यक्तियों से मिलने का अवसर मिला। मैं नहीं कह सकता कि कितने उनमें ऐसे हैं जिनको मैं अपने व्यक्तिगत पूर्वाग्रह को छोड़कर भी प्रस्तुत व्यक्तित्व के बराबर रख सकूँगा।

तीन बातें जिन्होंने मुझे इस व्यक्तित्व की ओर आकृष्ट किया है, वे ज्ञान के अतिरिक्त उसका अथक परिश्रम, सत्य के प्रति अडिग प्रेम और साहस और व्यक्तिगत निश्छल उदारता है। मुझे घंटों और दिनों श्रीराहुल जी के साथ रहने का मौका मिला है और मैंने उन्हें बहुत पास से देखा है, परंतु कभी अपवाद के रूप में भी उन्हें चुपचाप बैठे न देखा, सर्वदा काम करते ही पाया। उनको शरीर के अनकूल ही मेधा मिली है और उस मेधा के अनुकूल ही उनकी चेष्टा है, जिसकी अनिवारता का कोई मान नहीं। ट्रेन में सफर करते, बात करते, सदा उनकी लेखनी चलती रहती है। सत्य के प्रति उनका ऐसा अविछिन्न संबंध है कि एक बार उसका आलोक चमक जाने पर फिर वे बड़े से बड़े बौद्धिक कीर्तिदायक प्रयत्न तक को जहाँ का तहाँ छोड़ सकते हैं। उनकी अनेक बार की जेल-यात्राएँ इसी ओर संकेत करती हैं। विद्वानों की एक बड़ी कमजोरी यह होती है कि वे अपने प्रयत्न की सीमाएँ बना लेते हैं और बौद्धिक प्रयत्नों तथा तज्जनित यश या

उसकी स्वार्थहीन परि-समाप्ति के प्रति ही उनका इतना गहरा आकर्षण हो जाता है कि वातावरण की विषमताएँ उन्हें प्रभावित नहीं करतीं। श्रीराहुलजी ने अपने को इस मनस्वी चेतना द्वारा भी वशाभूत न होने दिया। जब जब शोषित जनों की आर्द्र चीत्कार ने उन्हें पुकारा तब तब नितान्त उत्तरदायित्व पूर्ण बौद्धिक प्रयत्न तक को जहाँ का तहाँ छोड़ वे लड़नेवालों की पहली कतार में जा खड़े हुए। दलबन्दी के अनुसार नेता नामधारी अनेक महानुभाव उनके विरुद्ध व्यक्तिगत आक्षेप पर उतर आये, अनेक बार क्षुद्र-से-क्षुद्र मनोवृत्ति से प्रभावित हो उन्होंने इन पर कायरतापूर्ण पीछे से वार किये, अपने समर्थ साधनों को शक्तिपूर्वक उन्होंने इनके विरुद्ध प्रयुक्त किया, परन्तु औचित्य के समर्थन में ये कभी न डिगे।

श्रीराहुल का व्यक्तित्व अत्यन्त सरल और आकर्षक है, यद्यपि उनकी मेधा की गहराइयाँ बहुत हैं, उनका हृदय सर्वथा बाहरी तल पर है, जिसे समझने में किसी को कभी धोखा नहीं हो सकता। उन्होंने कभी इस बात का विचार किये बिना बड़े-से बड़ी साहस भरी बात बिना घुमाव फिराव के साफ साफ कह दी कि उसका प्रभाव उनके व्यक्तित्व के प्रभाव पर क्या पड़ेगा। व्यक्तिगत आक्षेपों और प्रत्याक्षेपों का उनकी उदारता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और उनकी दृष्टि कभी क्रोध या प्रतिशोध की भावना से दूषित नहीं होती। मैं एक व्यक्ति से परिचित हूँ जिसने उनके ऊपर ऐसा आक्षेप किया था जो शायद अच्छी से अच्छी सामर्थ्य की काया नाप देता और जो साधारण अर्थ में शान्त से शान्त व्यक्ति को उत्तेजित कर देने के लिए पर्याप्त था। परन्तु उससे क्षुब्ध होना तो दूर रहा उसकी परिस्थिति एक बार कठिन हो जाने पर उन्होंने अपनी अनतिस्थूल अर्थागम से एक हजार रुपये भेंट किये।

इतना जिज्ञासु मेधा, सजग सक्रियता, असीम साहस, आकर्षक सरलता और उदार धैर्य के साथ इतनी नम्रता एकत्र मैंने अन्यत्र नहीं देखी। इन भावों को हृदय में रख जब मैं जन समाज पर दृष्टि डालता हूँ तब व्यक्तित्व की ऊँचाई उसे रोक नहीं पाती, वह उनके ऊपर से निकल जाती है।

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

लल्लूलाल-कृत

माधव-विलास

हिंदी-साहित्य के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी का जहाँ अन्य अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण स्थान है, वहाँ खड़ी बोली गद्य के क्रमबद्ध इतिहास की दृष्टि से उसका सबसे अधिक महत्व है। साथ ही खड़ी बोली गद्य का क्रमबद्ध इतिहास इसी शताब्दी में प्रारंभ होता है तो दो अन्य प्राचीन गद्य-परंपराओं—राजस्थानी गद्य-परंपरा और ब्रजभाषा गद्य-परंपरा का अंत भी इसी शताब्दी में होता है। गद्य की तीन परंपराओं में से दो परंपराओं - ब्रजभाषा और खड़ी बोली परंपराओं से लल्लूलाल (१७६१ – १८२४ के लगभग) का अविच्छिन्न संबंध है। वे न केवल खड़ी बोली गद्य के पारंभिक--प्रथम नहीं—उन्नायकों में से थे, वरन् अब तक की उपलब्ध सामग्री के आधार पर, हम उन्हें ब्रजभाषा गद्य के अंतिम प्रसिद्ध लेखक भी मान सकते हैं। उन्होंने 'सिंहासन-बत्तीसी' (१८०१), 'बैताल-पच्चीसी' (१८०१) 'शकुन्तला नाटक' (१८०१), 'माधोनल' (१८०१), 'राजनीति' (१८०२), 'प्रेमसागर' (१८०३-१८०३), 'नक़लियात या लतायफ़-इ-हिंदी' (१८१०), 'ब्रजभाषा व्याकरण' (१८११), 'सभा-विलास' (१८१५), 'माधव विलास' (१८१७) और 'लाल-चन्द्रिका' (१८१८) तथा कुछ अन्य साधारण ग्रंथों की रचना की। इनमें से 'राजनीति' और 'माधवविलास' ये दो रचनाएँ तो ब्रजभाषा गद्य में हैं, शेष रचनाएँ खड़ी बोली गद्य में हैं, अथवा विविध-गद्य-संग्रह या व्याकरण या काव्य-संग्रह (सभा-विलास) या टीका हैं। हितोपदेश पर आधारित 'राजनीति' उनकी प्रसिद्ध रचना है। उनकी अन्य रचनाओं से हिन्दी-साहित्य के विद्यार्थी परिचित हैं। 'माधव-विलास' का उल्लेख तो हिंदी-साहित्य के कई इतिहास-ग्रंथों में मिलता है, किंतु ग्रंथ के विषय से कोई लेखक परिचित प्रतीत नहीं होता। जिन एक-दो लेखकों ने उसका परिचय देने की चेष्टा की भी है उन्होंने पाठकों को और भी भ्रम में डाल दिया है। अस्तु, इंडिया आफिस लाइब्रेरी, लंदन से मंगायी गयी स्वयं लल्लूलाल द्वारा प्रकाशित प्रति के आधार पर 'माधव-विलास' का ठीक-ठीक परिचय देना प्रस्तुत लेख का उद्देश्य है। लल्लूलाल ने उसे १८१७ में अपने निजी छापेखाने में

छपवाया था। इसके अतिरिक्त कलकत्ते से भुवनचंद्र बसाक द्वारा १८६८ में प्रकाशित एक और प्रति का सरकारी विवरणों से पता चलता है।*

लल्लूलाल के अधिकतर ग्रंथों की रचना फोर्ट विलियम कालेज के आश्रय में हुई थी। किंतु संभवत 'माधव विलास' की रचना और उसका प्रकाशन उन्होंने स्वतंत्र रूप से किया था। इसीलिए फोर्ट विलियम कॉलेज के हस्त लिखित सरकारी विवरणों में इस ग्रंथ का उल्लेख नहीं मिलता। इतिहास लेखकों में सबसे पहले तासी ने इस ग्रंथ का इस प्रकार उल्लेख किया है --

' Madho bilas " les plaisirs de Madho (Krischna) , poeme Hindi traduit du Sanscrit , Agra, 1843 in—8° (' Bibliotheca Orientalis , to II, p 305 cet ouvrage est aussi Cite dan be Rag Kalpadruma[1]) et aussi Agra 1846, in—8°, avec le titre anglais de " A tale of Madho and Sulochna done into hindi ' [2]

तासी का 'माधव' से कृष्ण का अर्थ लेना भ्रमात्मक है और न यह ग्रंथ काव्य ग्रंथ है। हाँ, अंगरेजी का शीर्षक ठीक है। सर जार्ज ग्रियर्सन ने 'दि माडर्न वर्नाक्यूलर लिट्रेचर ऑव हिंदुस्तान' (पृ० १३३) में 'माधव विलास' का केवल उल्लेख भर किया है और साथ ही इसके तथा अहमदाबाद के गुजराती लेखक रघुराम कृत 'माधव-विलास' शीर्षक नाटक के बीच शंका प्रकट की है। उन्होंने अपना अंतिम-निश्चित मत भी नहीं दिया। 'शिवसिंह सरोज' और 'विनोद' में इस ग्रंथ के केवल नाम का उल्लेख है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'माधव विलास' को ब्रजभाषा पद्य का, 'सभा विलास' की भाँति संग्रह ग्रंथ बतलाकर बड़ी भारी गलती की है। शुक्लजी के बाद डा० श्यामसुन्दरदास तथा अन्य इतिहास-लेखकों ने तो लल्लूलाल के 'माधव विलास' का उल्लेख तक नहीं किया।

वास्तव में 'माधव विलास' गद्य पद्य मिश्रित रचना है। वैसे तो 'प्रेमसागर' और 'राजनीति' में भी पद्यांश मिलते हैं, किंतु 'माधव विलास' में पद्यों की संख्या कुछ अधिक है। गोसाईंजी का सदुपदेश, गंगा का सौंदर्य वर्णन आदि कुछ बातें पद्य

---

* तासी के कथनानुसार १८४३ और १८४६ में यह ग्रंथ आगरे से भी प्रकाशित हुआ।

१—दे० 'रागकल्पद्रुम', जि० ८, पृ० ६०, १३४ और २४७।

२—तासी 'इस्त्वार द ल लितेरेत्यूर ऐंदुई ऐ ऐंदूस्तानी', जि० २, पृ० २३२-२३३।

में और प्रधान कथा ब्रजभाषा गद्य में है। ग्रंथ में 'क्रिया योगसार' (पद्मपुराण के आधार पर माधव और सुलोचना की प्रेम-कथा का वर्णन है। ग्रंथ का प्रारंभ इस प्रकार है:—

'मंगलाचरण ।। श्रीगणेशायनमः ।। श्रीसरस्वत्यै नमः ।। श्रीगुरुवे नमः ।। अथ माधवविलास ग्रथ लिख्यते ।। विघनहरण सब सुखकरण श्रीवक्रतुंड कों मनाय ।। बुद्धदाता जगमाता श्रीसारदा के गुण गाय । श्रीगुरुदेव के चरणकमल कौ ध्यान धर क्रिया योगसार ग्रंथ ते माधव सुलोचना की कथा निकारि श्रीलल्लूजीलाल कवि ब्राह्मण गुजराती सहस्र अवदीच आगरेवारे ने उक्ति युक्ति करि गद्य-पद्य ब्रजभाषा में ग्रथ बनाय माधव-सुलोचना की कथा यामें है यासों याकौ नाम माधवविलास राख्यौ अरु निज छापेघर में छपवायो । संवत् १८७४ आश्वन मास में इति ।'

'माधव विलास' की कथा इस प्रकार है :—

'तालध्वज नामक नगर में चारों वर्ण और छत्तीसों जातियाँ रहती थीं। वहाँ का राजा विक्रम सर्वगुणसंपन्न, तेजस्वी और प्रजा-पालक था। उसकी पत्नी हारावलि अत्यत सुंदरी और पतिव्रता थी ।एक दिन नित्य-कर्म से निवृत्त हो जब राजा इंद्र के समान सभा में विराजमान हुआ, उस समय मृग चर्म की कोपन मारे, नख केश बढ़ाये, रुद्राक्ष की माला पहिने, भगवा वस्त्र और बाघंबर ओढ़े, एक हाथ में त्रिशूल, दूसरे हाथ में विभूति का गोला लिये, अति गौर वर्ण और रक्त नयन एक गुसाईं वहाँ आया। राजा ने उसका यथोचित आदर कर उससे पूछा—हे सतगुरु संसार में क्या सार है और वह कैसे जाना जा सकता है ? सतगुरु ने उत्तर दिया कि बिना सत्संग के संसार में कुछ भी उपलब्ध नहीं हो सकता। राजा ने पूछा—यह सत्संगति कहाँ, किस देश में मिलेगी ? वह कलियुग में किस प्रकार प्राप्त हो सकती है ? मैं तो कुसंग में पड़ा हुआ हूँ। गुसाईं ने कहा—'राजन्, संसार में पशु, पक्षी, वनस्पति, मनुष्य आदि इन सबकी जाति और उनके लक्षण पहिचानने चाहिए। लक्षण देखकर ही उनके रूप पर मोहित होना चाहिए। अपनी बुद्धि द्वारा अनमोल वस्तु पहिचानो। प्रकृति ने जिसका जैसा स्वभाव बना दिया है वह बदलता नहीं। इसलिए लक्षण पहिचानकर मन की चंचलता मिटाओ। तत्पश्चात् गुसाईं ने राजा, प्रधान, सभा-चतुर, सभा-बिगाड़, हँसता चोर, मुंशी, सयाना, दातार, सूम, कायर, मुतफन्नी, मित्र, ठग, चुगल, खुशामदी, सत्यवादी, लज्जावंत, निर्लज्ज, गुंडा, विरही, त्रिया जीत, नारी, चिकनियाँ, नास्तिक, आस्तिक, खुसमस्करा, छैलो, उपकारी आदि के लक्षण बता राजा को विवेक, प्रजा-पालन आदि की शिक्षा और आशीर्वाद दे और उसकी पूजा-भेंट स्वीकार कर विदा ली।

'बहुत दिनों बाद राजा के एक पुत्र उत्पन्न हुआ। ज्योतिषियों ने उसका नाम माधव रखा। राजा ने समय समय पर यथाविधि उसके संस्कार कर शिक्षा के लिए गुरु के पास भेजा। थोड़े ही दिनों में राजकुमार सब विद्याओं में निपुण हो गया। शुभ मुहूर्त में राजा विक्रम ने उसे राजसिंहासन पर बिठाया और स्वयं हरभजन में समय व्यतीत करने लगे। कई वर्ष बाद माधव अपने साथियों के साथ शिकार खेलने निकला। लौटते समय नगर के निकट उसने सोलह बरस की एक अत्यन्त रूपवती कन्या देखी। वह घूँघट निकाले जल भरने जाती थी। माधव लाज-लाज, शिक्षा-दीक्षा आदि भूलकर काम के वशीभूत और विवेक रहित हो उसके पीछे लग लिया। स्नान कर, गागर भर लौटी वह वापिस चली, माधव उसका रास्ता रोककर खड़ा हो गया और गान्धर्व विवाह का प्रस्ताव करते हुए उसका नाम गाँव पूछने लगा। कन्या बोली—मैं साहूकार की पुत्री हूँ और चन्द्रकला मेरा नाम है। मैं अपने स्वामी की पूजा के लिए जल लिये घर जाती हूँ। तुम पुरुष हो, राजा हो, तुम्हें अपने धर्म का पालन करना चाहिए, तुम्हें दुर्नीति का अवलम्बन ग्रहण न करना चाहिए। निर्जन स्थान देखकर यह पाप-कर्म मत करो। परमेश्वर से कुछ छिपा नहीं रह सकता। पुरुष होकर स्त्री पर बल प्रयोग कर नपुंसक मत बनो। परस्त्री संग से प्राप्त क्षण भर का आनन्द अवश्य मिलेगा, किंतु एक कल्प तक अशान्ति मिलेगी। मनुष्य शरीर पाकर पुण्य कमाना चाहिए। राजन्, हाड़ मांस की इस तुच्छ काया पर मोहित मत हो। विवेक सुख का मूल है। तुम ज्ञानी होकर स्त्री रूप मांस से आच्छादित पाप का काँटा मत निगलो, नहीं तो मछली की भाँति दुर्दशा होगी। सुनो, स्फटिक द्वीप की दिव्यवती नगरी में गुणाकर राजा की सुशीला नाम पत्नी है। उसकी कन्या सुलोचना है जिसके रूप, गुण, एवं शील विद्या का वर्णन एक मुख से नहीं हो सकता। मैं उनकी दासी थी। अब इस देश में आयी हूँ। सुलोचना के समान सुन्दरी त्रिलोक में नहीं है, इसलिए तुम उससे विवाह करो। तुम और सुलोचना दोनों सुखी होगे। उसे देखकर रति का रूप कुछ भी नहीं, मेनका उसके सामने मैल सी लगती, तिलोत्तमा उसके सामने तिल भर नहीं ठहर सकती। सिंह चाहे भूखा मर जाय, किंतु वह घास नहीं खाता। इसलिए तुम मेरे स्थान पर सुलोचना को प्राप्त करने की चेष्टा करो।

'इतना सुनकर माधव ने अपने मन का विकार छोड़ दिया और वह चन्द्रकला की सराहना करता हुआ उसकी सलाह के अनुसार एक सेवक साथ ले और उच्चैश्रवा घोड़े पर सवार हो स्फटिक द्वीप को, मालिन की सहायता से सुलोचना के दर्शनों की आशा से पूरित रवाना हुआ। घोड़ा समुद्र लाँघ माधव को दिव्यवती पुरी में ले गया। वहाँ मालिन के हाथ फूलों में पाती रख सुलोचना के पास अपना हाल लिख भेजा। उसने

विवाह विद्याधर राजा के साथ निश्चित हो चुका था। किंतु अपने कारण माधव का समुद्र लाँघकर आना सुनकर सुलोचना का हृदय माधव के प्रति सहानुभूति से भर गया। वह उसके लिए सर्वस्व त्याग कर आया था, इसलिए वह उसकी बिना मोल की दासी हुई। बिना देखे ही उसने उसे अपना पति चुन लिया। उसने मालिन के हाथ कोमल हाथों से सुंदर अक्षरों में लिखकर अपना उत्तर भेजा और कहा कि विद्याधर से विवाह चढ़ते समय मैं भवानी के मंदिर में पूजा करने आऊँगी, और परिक्रमा करते समय अपना हाथ उठाऊँगी। उस समय दीवार के पीछे से हाथ बढ़ाकर तुम मुझे खींच लेना। तत्पश्चात् उसने माधव के दर्शन भी किये। माधव ने अपना जन्म सफल जाना।

'दूसरे दिन शाम को जब विद्याधर राजा ब्याहने आया तो सुलोचना मंदिर को चली। किंतु दुर्भाग्यवश निद्रा आ जाने के कारण माधव नियत समय पर मंदिर न पहुँच सका। उस समय देख उसके दास ने खुद कन्या-रत्न हड़प लेने की सोची। जिस प्रकार माधव से तै हुआ था, ठीक उसी प्रकार सुलोचना को उठा, घोड़े पर बिठा सुबह होते होते कावापुरी के निकट पहुँचा। तब उसने सुलोचना से विश्राम करने के लिए कहा। उस समय माधव का स्वर न पहिचानकर वह अति चिंतित हुई। वह अपने भाग्य को धिक्कारने लगी। किंतु विपत्ति के समय उसने धैर्य, स्थिर-बुद्धि, दृढ़ता, कोमल वचन और युक्ति से काम लिया। उसने दास से कहा—'अब तो मैं तुम्हीं से विवाह करूँगी। दासी हो तुम्हारी सेवा करूँगी। इसलिए तुम मुझे और घोड़े को यहीं छोड़ बाजार से विवाह का सामान ले आओ। मन ही-मन अति प्रसन्न होता हुआ दास तो उधर बाजार गया, इधर सुलोचना, लोकलज्जा के कारण घर न लौट कर, इंद्रजाल की विद्या से पुरुष वेष बनाकर हरि-चरणों में चित्त लगाने के विचार से गंगासागर की ओर बढ़ी और कुछ दिनों में वह वहाँ पहुँच गयी।

'गंगासागर में महाधनवंत, सामंत, दयासागर, यशस्वी और सब शास्त्रों में निपुण सुसेन नामक एक राजा राज्य करता था। सुलोचना पुरुष-वेश में ही उसके दरबार में जा खड़ी हुई। राजा के पूछने पर उसने कहा—महाराज, मैं प्लक्ष द्वीप में दिव्यवती नगरी का रहनेवाला हूँ। मेरा नाम बीरवर है। अनेक देशों में घूम-घूमकर तीर्थ-यात्रा करने निकला था, लेकिन अब मेरा मनोरथ है कि कुछ आपकी सेवा करूँ और इस धर्मक्षेत्र में रहूँ। मेरा यह प्रण है कि जिस राजा के निकट रहता हूँ, उसका कठिन-से-कठिन कार्य भी करता हूँ। राजा के यहाँ रहते हुए उसने अपना भेद गुप्त रखा। कुछ दिन बाद उसने अति भयानक भीमनाद नामक गैंडे को मारा। गैंडे को मार जब गंगासागर में स्नान करने चली, तो उसने एक अत्यंत

दिया और मनोविनोदी व्यक्ति को तिलक लगाये, माला पहिने, वैरागी रूप धारण किये आते देखा। सुलोचना के पूछने पर उसने कहा—हे कन्या, मैं धर्मबुद्धि नामक भूप हूं। ब्राह्मणों का वध करने के कारण मुझे नरक मिला और अंत में मैंने गरुड़ का जन्म लिया। आज तुमने मेरा वध कर मुझे मुक्ति दी है। जिसके कारण तुम इतना दुःख पाती हो, वह तुम्हें शीघ्र ही मिलेगा। इतना कह कर वह राजा मुक्ति पा गया। सुलोचना अपने राजा के पास आयी। पुरुष वेष में तो वह थी ही, राजा ने प्रसन्न होकर उससे अपनी कन्या जयती का ब्याह कर दिया। वह पुरुष वेश में गंगासागर के संगम पर एक सुंदर मंदिर बनवाकर रहने लगा और संगम की चौकसी के लिए अनेक रखवाले रख दिये, ताकि कोई डूबकर प्राण न दे सके। इस प्रकार माधव मिलन की इच्छा लिये वह उस भवन में रहने लगा।

'उधर वह दास जब गाँव से विवाह का सामान लेकर लौटा तो राजकन्या को न पाकर, पछाड़ खाकर, भूमि पर लोटकर, विलाप करने लगा। अपना जीवन व्यर्थ समझ तथा दूसरे जन्म में सुलोचना को पाने की आशा से वह गंगासागर में डूबने चला। किंतु वहाँ ताराचंद (सुलोचना) के सैनिकों ने उसे बाँधकर स्वामी के सामने ला खड़ा किया। सुलोचना उसे पहिचान गयी और उसे हथकड़ी बेड़ी पहनाकर रख छोड़ा।

'वहाँ मंदिर में जब सुलोचना दिखायी न दी तो दिव्यवती नगरी में बड़ा कोहराम मचा। पिता अत्यंत दुखी हुआ। विद्याधर लज्जित हो डूबने गंगासागर चला। किंतु सैनिकों ने उसे भी पकड़ लिया। सुलोचना ने समझाते हुए उससे कहा—जिस नारी ने विवाह समय तुझे छोड़ दिया उसके लिए तू प्राण त्यागता है? वह तो किसी अन्य पुरुष पर अनुरक्त है। तू मूर्ख है। वह देवी भी जाई थी जो छल करने संसार में आती थी। अच्छे लोग स्त्री के लिए प्राण नहीं त्यागते। तू क्यों पछताता है? जीवन ही सब कुछ है। विद्याधर ने उसकी बातों को समझा-बूझा और वहीं रह गया।

'माधव जब नींद से जागा तो मालिन ने उसे सुलोचना-हरण की सूचना दी। सेवक को न पाकर वह सब रहस्य समझ गया। वह सोचने लगा—सचमुच नीच के साथ रहकर किसी ने सुख नहीं पाया। नीचों का साथ शिव ने किया फलतः वे अर्द्धनग्न अवस्था में गौरी को अर्द्धांग में धारण किये फिरते हैं। नीच का कोई विश्वास नहीं। अंत में वह भी दूसरे जन्म में सुलोचना को पाने की इच्छा से गंगासागर में प्राण-त्याग करने चला। सुलोचना के सैनिकों ने पकड़कर जब माधव को उसके सामने पेश किया, वह उसे तुरत पहिचान गयी। रात को विश्राम

करने की आज्ञा देकर उसने स्वयं राजमंदिर में नहा-धो, अंजन-मंजन लगा, बारहों आभूषण पहिन, सोलहों शृंगार कर, लक्ष्मी जैसा रूप धारण कर माधव को बुलाने के लिए एक सखी भेजी। मिलते ही दोनों अपने पिछले दुःख भूल गये। उसी समय गांधर्व-विवाह कर दोनों ने रात सुख-पूर्वक व्यतीत की। सुबह राजा सुसैन के निकट जाकर सब भेद बताया। सुसैन उनकी कहानी सुनकर अत्यंत प्रसन्न हुआ। उसने दोनों कन्याएँ (सुलोचना और जयंती) माधव को दीं। दहेज में अपना आधा राज्य दिया। उनके रहने के लिए एक अत्यंत सुंदर महल बनवाया। सुलोचना और जयंती को ले माधव धर्म-नीति के साथ राज्य करने लगा। उसने महापापी, कृतघ्नी, विश्वासघाती सेवक को दीवार में चुनवा दिया। विद्याधर को शिष्टाचारपूर्वक बुलवाकर, अति धन देकर उसके देश को विदा किया। उसके राज्य में प्रजा सुखी थी।'

जो व्यक्ति माधव-सुलोचना की कथा पढ़ेगा-सुनेगा, वह संसार में किसी से भी न ठगा जायगा और गृहस्थाश्रम में अत्यंत सुख पावेगा।

'माधव विलास' की भाषा सुसंगठित और प्रवाहयुक्त है। उसमें 'बगुत्रो', 'मलूक', 'घा', आदि बोलचाल की ब्रजभाषा के शब्दों के अतिरिक्त खड़ी बोली रूपों, अरबी-फ़ारसी शब्दों और तुकांतयुक्त वाक्यों का प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ, 'किये', 'दे', 'की', 'कृपा की', 'जाकर' आदि खड़ी बोली के रूप हैं और 'हराम', 'तमाशगीर', 'शमशेर', 'सरंजाम, 'मुशी', 'हिमायत', 'घानत', 'मुतफन्नी', 'अफसोस' आदि अरबी-फ़ारसी के शब्द हैं। 'लैबे', 'जैबे', 'ऐब' आदि कुछ पूर्वी रूपों का भी प्रयोग हुआ है। वास्तव में खड़ी बोली इस समय पूर्ण रूप से बोलचाल की भाषा हो गयी थी। साहित्यिक ब्रजभाषा का उसके प्रभाव से बचना कठिन था, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार खड़ी बोली साहित्यिक ब्रजभाषा के प्रभावों से न बच सकी थी। गद्य का एक उदाहरण इस प्रकार है :—

'...राजा ने आसन तें उठि विधिपूर्वक हस्तार्घ पादार्घ दै चंदन अक्षत पुष्प धूप दीप नैवेद्य लै वा गुसाईं की पूजा की। बहुतेक वस्त्र अलंकार रुपैया भेंट करि परिक्रमा दे सनमुख ठाढ़ो होय हाथ जोड़ हर्षकै बोल्यो। श्री गुरदेव आपने मोपै बड़ी कृपा की जो वह प्रसंग सुनायो अब कहा आज्ञा होति है। गुसाईं बोल्यौ राजा तुम धर्म विवेक सहित राज करो औ नीति सहित प्रजा कौं पालो। जैसे राज धर्म में कह्यो है औ हम अब तीर्थ-यात्रा कों जात हैं। इतनी बात कहि गुसाईं राजा कों बहुत सी असीस दे विदा भयौ औ राजा राज करन लाग्यौ। कितेक दिन पाछे भगवान की कृपा तें राजा के पुत्र भयो।...' (पृ० ४२-४३)

गद्य के बीच बीच में नाराच, हनूफा, दोहा, छप्पय, अरल, चौपाई, कवित्त, सवैया सारठा, आदि छंदों का प्रयोग हुआ है। पुस्तक में कुल ६७ पृष्ठ हैं। पृष्ठ ३ से ४० तक का अंश लगातार पद्यात्मक है। बाद में छंदों का प्रयोग स्फुट रूप में हुआ है। ३ से ४२ तक पृष्ठों में नीति, विनय और वैराग्य का उल्लेख है। पद्यात्मक अंश का रचयिता कौन है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। सम्भवतः लल्लूलाल ही इसके रचयिता हों। वैसे अन्य कवियों के छंद भी हैं, जैसे, प्रारंभ में विक्रम का स्त्री का सौंदर्य वर्णन करते समय मतिराम के छंदों का प्रयोग किया गया है। पद्यात्मक अंश में काव्य का कोई चमत्कार दृष्टिगोचर नहीं होता। विक्रम और गुसाईं के प्रसंग में शांत रस और शेष कथा में संयोग और वियोग शृंगार पाया जाता है। उदाहरण के लिए नीचे दो हनूफा छंद उद्धृत किये जाते हैं —

'देखन हि मगन द्वार।
मनों परयौ रज पगार॥
सुधि बुद्धि सबही जाय।
गुण आपनौं न सुहाय॥' पृ० १३

'लहु वस्तु गाल बजाय।
भय भाँति भाँति नसाय॥
जीद करतु नाहि डराय।
इहि भाति सरस सुभाय॥' पृ० १५

'माधव विलास' का ब्रजभाषा गद्य की दृष्टि से ही महत्व नहीं है वरन उसमें उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों के जीवन पर भी प्रकाश पड़ता है और वृक्ष, फल, फूल आदि अन्य अनेक वस्तुओं का परिचय प्राप्त होता है। इस संबंध में कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं —

चार वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।

छत्तीस जाति—रजपूत, जाट, गूजर, गौंरए, अहीर, तेली, तम्बोली, धोबी, नाई, कोली, चमार, चूहरे, खटीक, कुँजड़े, लुहार, ठठेरे, कमेरे, चुरहेरे, लखेरे, सुनार, छीपी, खुजी, धीमर, खाती, कुनमा, बढ़ई, बढ़ार, धुनिये, धानक, धान्नी, कुम्हार, भठियारे, नरियारे नारी, माली और मल्लाह।

पशु—बाघ, चीता, अरना, वराह हिरन, चीतल साबर, आदि।

कटीले झाड़—बेर बबूल, कीकर, हौंकर, रेहुर हींस, करील, मजूर, पीलू, हिंगोट, धौ करज, बाँस, बूहर, आदि।

छोटे-छोटे पेड़—झड़बेरी, कटेरी, ऊटकटेरी, चिरचिरा, सींज, नवासा, गोखरू आदि।

वृक्ष—ताल, तमाल, साल, सीसों, खैर, फरास, पीपल, पाकड़, वट, आँवला, बहेड़ा, हड़, अशोक, देवदार, कदंब, कचनार, इमली, लवली, बकुल, नीम, बकायन, चंदन, रक्तचंदन, पतंग आबनूस आदि।

फल—आम, जामुन, जामफल, खिरनी, गोंदी, गूलर, नारियल, सुपारी, कटल, बढल, बेल, कैथ, लिसौरी पिंडालू, बदाम, चिरौंजी, छुहारा, पिंड-खजूर, अखरोट, नारंगी, नीबू, कमला, संतरा, चकोतरा, जंभीरी, दाडिम, सेब अंजीर, आड़ू, सतालू, कमरख, सीताफल, अमृतफल, रंभालै आदि।

फूल—बेला, चमेली, जाती, गंधराज, सेवती, गुलाब, कठगुलाब, दौना मरुआ, केतकी, केवड़ा, मदनबान, मोगरा, मोतिया, रामबेल इत्यादि।

साधु—दंडी, संन्यासी, योगी, जंगम, रामावत, नीमावत, वल्लभी, राधावल्लभी, गौड़िये, वैष्णव, विरक्त, नानकपंथी, कबीरपंथी, दादूपंथी, चरणदासी, गूदड़, औघड़, सेवड़े, और जती।

साधु लोग या तो कोट की खाई के किनारे पड़े रहते थे अथवा मठ, मंडप, अखाड़े, मंदिर, संगत, अस्थल, पौसाल, देहरे आदि में रहते थे। वे ज्ञान की चर्चा किया करते थे और कहीं-कहीं रहट, पैर और ढेंकली लगा-लगाकर तथा उन्हें चला-चलाकर अच्छे-अच्छे गीत गाया करते और उपवन सींचा करते थे।

इनके अतिरिक्त ग्रंथ में कुरान, रुपैया, घूँघट, गुजराती पीतांबर, 'हिंदुवान तुरकान भाषा' पारसी पुराण, तिलक, छापे, बिन्दी, रक्त-चंदन, गोपी-चंदन, रोली, पेवड़ी, स्यामबंदनी आदि तथा विवाह के समय बजंत्री, ब्राह्मण, नाई, चारण, भाट इत्यादि का उल्लेख मिलता है। पुरी का उल्लेख करते हुए रचयिता का कथन है—पुरी के चारों ओर कोट है। कोट काफ़ी चौड़ा है, जिस पर चार हरिया गाडी समान चल सकती थीं। कोट के चारों ओर पत्थरों से बनी खाई थी। पुरी की रचना नपी हुई और चौपड़ के समान थी। उसमें हाट, बाट मंदिर, शिवालय, देवालय, मठ, अखारे, अथाई, धर्मशाला, पाठशाला आदि रंग-रंग के पत्थरों से बने हुए विविध स्थान थे। उन पर खुदवाँ चित्र तथा बेल-बूटे बने हुए थे। कहीं-कहीं मूर्तियाँ भी बनी हुई थीं। हर चौपर में पत्थरों से बँधी उपनदी थी। स्थान-स्थान पर बंबे और सुंदर पनघट बने हुए थे। बंबों पर लोहे, ताँबे, पीतल रूपे और सोने के बने हुए डोल लिये हुए पनिहारिनों के ठट्ट-के ठट्ट लगे रहते थे। व्यापारी कुबेर के समान थे।

'माधव विलास' की कथा का कुछ अंश आगरा स्कूल बुक सोसाइटी द्वारा प्रकाशित 'स्त्री शिक्षा-विषय' (१८४७) में भी मिलता है। इस पुस्तक में प्रागेट से लौटने के बाद माधव और चद्रकला का मिलन और वार्तालाप, माधव का दिल्यपतापुर जाना और वहाँ उसका और सुलोचना का पत्र व्यवहार और मदिर का आयोजना यहाँ तक की कथा दी गयी है। 'स्त्री शिक्षा-विषय' में राजा विक्रम और गुसाइं वाला प्रसग नहीं है। इस पुस्तक में शिक्षित और चतुर स्त्रियों द्वारा सकट के समय अपनी रक्षा करना दिखाने की दृष्टि से यह कथा रखी गयी है। अत में तत गो राजननगा लिखन 'शार्दूलीयक' आदि १६ पक्तियाँ पद्मपुराण से उद्धृत की गयी हैं।

'माधव-विलास' के बाद ब्रजभाषा गद्य में कोई दूसरा प्रसिद्ध और स्वतंत्र रचना नहीं मिलती। इस रचना के बाद तो गद्य के क्षेत्र में दिन पर-दिन खड़ी बोली का प्रभुत्व स्थापित होता गया और अत में ब्रजभाषा का प्रचार ही बद हो गया। इस दृष्टि से लल्लूलाल की यह ब्रजभाषा गद्य की अंतिम एव महत्त्वपूर्ण कृति कही जा सकती है।

विष्णु

विश्वासघात

आज बहुत दिनों के बाद मित्र-मंडली की बैठक जुड़ी थी। नये मित्रों के अतिरिक्त कहानीकार निशिकांत और याज्ञिक, कवि प्रेमकुमार तथा डा० राजेन्द्र आदि पुराने सदस्य भी पधारे थे। बाहर शरत्कालीन वायु रह-रहकर गूँज उठती थी; परन्तु अंदर अँगीठी की [illegible] के शरीर में गर्मी पैदा कर रही थी। वे फ्लश आदि खेलों में [illegible], और [illegible] बीच में बातें भी कर लेते थे। विषय सदा की भाँति घूम-फिरकर राजनीति पर आ जाता था—'महँगाई ने जीवन को मौत बना दिया है, कांग्रेस बुरी तरह आचरण-भ्रष्ट होती जा रही है; नेहरू का लंदन जाना व्यर्थ है' आदि-आदि। कभी-कभी बहस की गर्मी अँगीठी की गरमी से बढ़ जाती थी और तब रक्त जमानेवाली सर्दी में भी स्वेदकण चमक उठते थे। उस समय निशिकांत मुस्कराकर कहता—"मित्रो, पसीना जब रक्त के साथ बहता है, रस तब आता है।"

क्रांतिकारी आहत होकर चीख पड़ते—हम तुम लेखकों की तरह नहीं हैं, जो सदा अपना रक्त पीते हैं। आवश्यकता पड़ने पर हम धरती को रक्तिम बनाने की शक्ति रखते हैं।

'क्या अपने रक्त से ?'

'जी हाँ, अपने से और आपके से भी।'

यहाँ से फिर नये विवाद का सूत्रपात हो जाता है। यही क्यों, इस तरह के सूत्र में से सूत्र निकालकर उसी तरह नये विषयों की सृष्टि होती, जिस तरह पिता का पुत्र पिता बनकर पुत्र की सृष्टि करता है। परंतु उस दिन अचानक एक अद्भुत बात हो गयी। राजनीति की दम घोट देनेवाली गरमी में न जाने कब और कैसे साहित्य की बसंती वायु बह उठी, यह कोई नहीं जान सका। हम तो उस समय चौंके जब डा० राजेंद्र ने अपनी बात के प्रमाण में एक कहानी सुनाने की बात कही। पुराने कथाकार निशिकांत और याज्ञिक तब ड्रापर खेल रहे थे। उसे छोड़कर कांत ने कहा—हाँ, डाक्टर साहब, आप कहानी सुनाइये। हमें पूरा विश्वास है, वह कहानी आपकी आँखों देखी घटना होगी।

'निस्संदेह वह है' —डा० राजेंद्र बोले।

बात यह थी कि विचार का विषय राजनीति से हटकर प्रेम पर आ गया था। प्रेम आप जानते हैं युवक प्रौढ़ वृद्ध, स्त्री और पुरुष सभी की छाती में धड़कन पैदा कर देता है। उस समय वहाँ भी उन हृदयों में हिलोर उठने लगी थीं। तभी डा० राजेन्द्र ने कहा—मित्रो प्रेम के बिना मैं जीवन की कल्पना नहीं कर सकता। उस प्रसिद्ध नागरी की बात पर मुझे पूर्ण विश्वास है, जिसने कहा था I am nothing if I am not in love परन्तु इतना स्वीकार करने पर भी मैं मानता हूँ कि हमें किसी वस्तु या किसी व्यक्ति से इतना प्रेम नहीं करना चाहिए कि उसके बिना हमारा जीना दूभर हो जाय। आप जिस प्रेम को उच्चतम आदर्श कह सकते हैं, मैं उस मोह कहता हूँ। मोह डर से पैदा होता है और डर पाप है

क्रान्तिकारी मित्र तीव्रता से बोल उठे—'आपके कहने के अनुसार तो मातृभूमि के लिए प्राण देना भी पाप हो सकता है।'

'हाँ, हो सकता है।'

'हो सकता है! कैसे . ?'

'दोस्तो'—डा० ने निहायत शांति से कहा— प्राण देना आसान है। कभी कभी प्राण देने से अधिक दुःख पूर्ण कामों के लिए जीने की आवश्यकता होती है। किसी के लिए बलिदान करने अथवा अपने को मिटा देने का अर्थ मरना नहीं होता। जीते हुए भी अपने को मिटाया जाता है।

मित्र बोले—परन्तु इसका निर्णय कौन करेगा?'

'आपका विवेक।'

'कहा होता है सो सब यह नहीं है कि होना भी नहीं चाहिए। 'है' और 'चाहिए' में अन्तर है, यह तो आप मानेंगे और यह भी कि 'है' से अधिक 'चाहिए' का मूल्य है क्योंकि आदर्श की शक्ति अक्सर कायर की शक्ति होती है।'

'कायर!—वे मित्र चौंक पड़े— आप जानते हैं, आप क्या कह रहे हैं?'

'जानता हूँ'—डा० ने शांत स्वर से कहा 'आप शायद समझ नहीं रहे हैं। मैं आपको उदाहरण देकर यह बात समझाऊँगा।'

और फिर मुस्कराकर बोले—'वेद की ऋचाओं को समझाने में जब शास्त्रों की व्याख्या कुछ मदद न कर सकी तभी महाकाव्यों की सृष्टि हुई थी। उसी प्रकार अपने सूत्र को समझाने के लिए मैं आपको एक कहानी सुनाऊँगा।'

वातावरण में जो तनाव था वह कुछ ढीला पड़ गया। मित्रों ने ताश के पत्ते तथा दूसरे सब खेल फेंक दिये और उत्सुकता से डा० राजेन्द्र की ओर देखने लगे। वे अब गम्भीर हो उठे थे। उन्होंने कहा—'मित्रो! लगभग दस वर्ष की बात

है, उस साल कड़ाके का जाड़ा पड़ा था। रात के समय पानी का जम जाना साधारण बात थी, परंतु उस रक्त जमानेवाली सरदी में भी दुनिया अपना काम करती रहती थी। गति के कारण दुनिया दुनिया है, इसीलिए मुझे भी दिन-रात अपने काम में लगा रहना पड़ता था; बल्कि मैं कहूँ, मुझे उन दिनों अधिक मेहनत करनी पड़ती थी, क्योंकि वर्षा के अभाव में नमूनिये का प्रकोप बढ़ गया था। ऐसे ही एक सवेरे जब मैं बिस्तर में लेटा हुआ अपनी उँगलियों को चाय के प्याले की गर्मी से सीधा करने की कोशिश कर रहा था, तब मेरी पत्नी ने आकर कहा—'एक साहब आपको बुला रहे हैं।'

मैंने कुछ रुखाई से पूछा – 'इतने सवेरे कौन आया है ?'

'मैं उन्हें नहीं जानती। वे कहते हैं—उनका बच्चा बहुत बीमार है।'

और बिना किसी भूमिका के मेरी पत्नी तब मेरा ओवरकोट, दस्ताने और बेग ले आयी। ये सब साधारण बातें थीं, सदा होती थीं। मैं तैयार होकर उनके साथ चला गया। वे मुझे एक अच्छे शरीफ व्यक्ति जान पड़े। घर उनका साधारण से अधिक सुंदर था, परंतु जिस बीमार को मैंने देखा वह निस्संदेह असाधारण था।

मित्र ने फिर टोका—'असाधारण किस दृष्टि से ?'

डाक्टर बोले—'वह हर दृष्टि से असाधारण था। मुझे बताया गया कि उसकी आयु सत्रह वर्ष की है। परंतु मैं डाक्टर होकर भी उसे बारह वर्ष से अधिक नहीं समझ सका। उसका सारा बदन सिकुड़ा हुआ था और खाल हड्डियों से लग गयी थी। यद्यपि उसकी आँखों में मौत का डरावना अंधकार भरा पड़ा था; तथापि मुख पर स्निग्ध प्रकाश की एक स्वर्णिम रेखा रह रहकर चमक उठती थी। मित्रो ! मैं डाक्टर हूँ, मैंने असंख्य मरीजों को तिल-तिल कर प्राण देते देखा है; परंतु उसके जैसी भयानक दृष्टि कभी नहीं देखी। मैं नहीं जानता उसमें करुणा थी या कलुषता; परंतु इतना जानता हूँ, उसे देखकर मेरा कठोर अंतर्मन पीड़ा से कराह उठा था।

मैंने देखा, वह जिस बिस्तरे पर लेटा था वह अभी कुछ देर पहिले बिछाया गया है, क्योंकि उसमें किसी तरह की बदबू नहीं थी। वह रह-रहकर खाँस उठता था, परंतु जैसा कि मैंने देखा— उसे नमूनिया नहीं था। वह बहुत पुराना रोगी था। शरद ऋतु में जोड़ों के दर्द के कारण उसकी पीड़ा सदा बढ़ जाती थी। बहुत देर तक परीक्षा कर चुकने के बाद मैंने उन महाशय से पूछा—आपका लड़का है ?

वे धीरे से बोले —'जी नहीं, मेरा भतीजा है।'

'इसके पिता कहाँ हैं ?'

'जी, वे तो मर चुके।'

'आपके भाई का है, आपका नहीं।'

वे सकपकाये। फिर गिड़गिड़ाकर बोले—'आप क्या कह रहे हैं? मैं अपने भाई को प्राणों से अधिक प्यार करता था। वह देवता था। पड़ोसी उसकी मौत पर बिलख-बिलख कर रोये थे। और भाभी! वह देवी थी, डाक्टर! वह एक क्षण भी पति-वियोग नहीं सह सकी थी......'

'क्या?'

'जी हाँ! भइया की मृत्यु से पहिले ही वह बेहोश हो गयी और फिर कभी नहीं जागी, अशोक उसी सती का पुत्र है। उसका जीना बहुत जरूरी है, डाक्टर! नहीं तो, नहीं तो दुनिया कहेगी .....' मैंने टोककर पूछा—'आपके भाई क्या करते थे?'

वे क्षण भर रुके रहे, फिर गंभीरता से कहा—'डाक्टर साहब! मेरे भाई बड़े प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। वे रत्न थे। वे डाक्टरी पास करके लौटे थे।'

मैं अचकचाया। मैंने पूछा—'उन्होंने डाक्टरी कहाँ से पास की थी?'

'लखनऊ से।'

'उनका नाम?'

'प्रबोधकुमार गुप्त।'

मित्रो! नाम सुनकर मुझे रोमाञ्च हो आया था। हम और वह एक ही कालेज में पढ़े थे। वह सचमुच रत्न था, सबका प्यारा, सबसे योग्य। एम० बी० बी० एस० पास करके वह आगे पढ़ने चला गया था। कुछ दिन बीते होंगे, एक दिन समाचार आया—वह अचानक एक रात की बीमारी में चल बसा और सवेरा होते-होते उसकी पत्नी ने भी प्राण दे दिये। उस दिन मैं रो पड़ा था। मैंने अपनी पत्नी से कहा था—'प्रेम इसे कहते हैं।'

पत्नी और भी श्रद्धा से अभिभूत थी। बोली-सचमुच वह देवी थी। हम तो नरक के कीड़े हैं। वही सब बात याद करके मेरा हृदय और भी करुणा से भर उठा। मैंने उन महाशय की ओर देखकर कहा—'तो प्रबोध आपका बड़ा भाई था।'

'जी हाँ'—वे अचकचाये—'क्या आप उन्हें जानते थे?'

मैंने बताया—'वह और हम एक ही कालेज में पढ़े थे।'

अब तो उन महाशय की अवस्था बड़ी विचित्र हो गयी। वे काँपने लगे और उनके नेत्र भर आये। गिड़गिड़ाकर बोले—डाक्टर, तो क्या आप अशोक को नहीं बचा सकेंगे? क्या वह......'

मैंने एक परचे पर दवा का नाम लिख दिया। वे चले गये और मैं अंदर आकर अशोक के पास बैठ गया। वह उसी तरह निर्जीव-सा लेटा था। मैं उससे बोला नहीं। चुपचाप उसके सिर पर हाथ फेरने लगा। फिर धीरे-धीरे उसके बदन को सहलाया। सहलाता रहा...उसने आँखें खोलीं। मुझे देखा, फिर आँखें मींच लीं। फिर खोलीं, मैंने देखा-वे भयानक आँखें सजल हो उठी हैं। देखते-देखते पानी की दो तीन धाराएं उसके मास विहीन कपोलों पर गहरी रेखाएँ अंकित करती हुई मेरे हाथ पर आ गिरीं। मैं चौंक पड़ा। तब मैंने धीरे से स्नेह-कम्पित स्वर में कहा—'अशोक!'

वह बोला नहीं; काँपकर रह गया।

मैंने फिर पूछा—'अशोक, तुम्हें पिता की याद आती है?'

उसने आँखें खोलीं, मुझे देखा और देखता रहा। मैंने अपना प्रश्न फिर दोहराया। उसने सिर हिलाकर जवाब दिया—नहीं।

स्वर बड़ा कर्कश था। मैंने फिर पूछा—'माँ की?'

'नहीं!'

'किसी और की?'

'हाँ!'

'किसकी।'

'पता नहीं।'

अचरज! स्वर की कर्कशता घुलती जा रही थी। वह बराबर मुझे देखता जा रहा था। वह बोलना नहीं चाहता था, परंतु मेरी आँखें उसे विवश कर रही थीं। मैं चुप हो गया, कई क्षण तक फिर शांति रही, केवल बाहर एक दो बार चूड़ियाँ खनखनायीं। छोटा बच्चा रो उठा और पिट भी गया, लेकिन वह उसी तरह जीवन विहीन-सा लेटा रहा, परंतु मेरे मन में शांति नहीं थी। मैं बहुत कुछ जानना चाहता था। इसीलिए मैंने फिर पूछा—अशोक! एक बात बताओगे, बेटा?

उसकी पुतलियाँ फिर घूमीं। मैंने पूछा—तुम चोरी क्यों करते हो?

अचरज! इस बार वह तनिक भी नहीं हिचका। मुझे देखता हुआ बोला—मैं जो चाहता हूँ, वह मुझे नहीं मिलता, इसीलिए चोरी करता हूँ।

उत्तर जितना स्पष्ट था, उतना ही गम्भीर भी। मैं उससे प्रभावित हुआ और मुस्कराकर प्रेम से कहा—तुम्हारी बात तो ठीक है, परंतु बेटे! जो चीज न मिले, तो क्या चोरी करनी चाहिए?

पुतलियाँ जो स्थिर हो चली थीं फिर तेजी से घूमीं। जल उमड़ पड़ा और

देखते-देखते उसकी मुट्ठियाँ बँध गयीं। उसने रोते रोते कहा—आप कौन हैं? आप ऐसे क्यों बोलते हैं?

मैंने उसे शांत करने की चेष्टा नहीं की। उसी तरह कहा—मैं तुम्हारे पिता के साथ पढ़ता था। वे बहुत अच्छे आदमी थे और तुम्हारी माँ सती थी। तुम उनके बच्चे होकर ऐसा काम करते हो, यह क्या अच्छी बात है?

उसने मुझे फिर अचरज में डाला। उसके आँसू रुक गये और देखते देखते पुतलियाँ जलने लगीं। उसने तल्खी से जवाब दिया—मैं नहीं जानता, मेरे माँ-बाप कौन और कैसे थे। मुझे उनसे घृणा है, विशेषकर माँ से। वह अपने पति को प्यार करती थी परन्तु मुझे नहीं। मैं जो उसके प्रिय पति का प्रतीक था, मैं जो उसके प्यार की निशानी था, मेरे लिए उसके दिल में दर्द नहीं था। होता तो क्या वह मर सकती? परन्तु मैं पूछता हूँ, उसके प्रेम का वास्तविक अधिकारी कौन था—मैं या पिताजी? पिता जो मर चुके थे, या मैं जो जिंदा था? मुझे अनाथ छोड़कर वह सती हो गयी।

वह रुका। उसकी वाणी गहरे क्रोध और घृणा से भर उठी थी। उसकी आँखों में भयानकता छा गयी थी। उसने फिर कहा—मेरी माँ सती कहलाती है, परन्तु मैं उसे कायर समझता हूँ। उसने प्रेम के कारण नहीं, भय के कारण प्राण दिये थे। उसे पति से सच्चा प्रेम था तो उसे पति के नाम पर जीना चाहिए था, विशेषकर जब मैं उसके सामने था। मैं उसके पति की धरोहर था, मैं उसके देश की धरोहर था। जो धरोहर का अनादर करता है वह विश्वासघाती है और विश्वासघाती घृणा के अधिकारी हैं। उसका आवेग और भी तेजी से भभक उठा। उस शीतकाल में भी उसका शरीर पसीने से तर हो आया। ठीक उसी समय उसके चचा ने दवा लेकर अंदर प्रवेश किया। उन्हें देखते ही वह चिल्ला उठा—तुम यहाँ क्यों आये हो? चले जाओ। मैं दवा नहीं खाऊँगा, नहीं खाऊँगा।

चचा घबराये नहीं, बल्कि मेरी ओर मुड़कर उन्होंने कहा—देख लीजिये डाक्टर साहब! यह सदा इसी प्रकार मेरा अनादर करता है। सदा मुझे गाली देता है।

हाँ—अशोक तीव्रता से बोला—मैं तुम्हें गाली देता हूँ। तुमने मेरा जीवन नष्ट कर दिया है। तुमने . तुमने

सहसा भूकम्प का धक्का लगा, वह रो पड़ा। रोते रोते उसने कहा—मेरी गलती है, डाक्टर साहब! मुझे इन्हें गाली नहीं देनी चाहिए। गाली की हकदार मेरी माँ है, केवल मेरी माँ। उसने मेरी रक्षा नहीं की। उसने अपने पति का अपमान किया, उसने अपने देश का अपमान किया। मैं उसके नाम पर थूकता हूँ... ..

और तब बलबलाकर उसने थूक दिया। मैंने देखा —वह थूक नहीं है; वह रक्त है, जीवन का रक्त।

* * * *

डाक्टर राजेंद्र सहसा यहीं आकर रुक गये। निशिकांत चौंककर बोला—आगे डाक्टर ?

याज्ञिक ने पूछा—और अशोक मर गया डाक्टर ?

उसका जवाब दिया प्रेम ने जिसकी आँखें आँसुओं से पूर्ण थीं, स्वर भरा रहा था। उसने कहा—हाँ, वह मर गया।

उसी दिन मर गया...

डाक्टर चौंके—आः!

"मैं...मैं उसका छोटा भाई हूँ। उन चचा साहब का लड़का। मैं तब स्कूल चला गया था। उसे तपेदिक था। इस कारण हमें वहाँ तक जाने की आज्ञा भी नहीं थी। लौटने पर हमें बताया गया—भइया मर चुके हैं। आज मैं समझता हूँ माँ के स्नेह के अभाव में उनके जीवन की जड़ सूख गयी थी। इसी अभाव ने उन्हें चोरी करने पर विवश किया, लेकिन चोरी का माल भी उसने सदा बाँटकर खाया था डाक्टर...।"

उसका स्वर और भी रुँध गया। वह आगे न बोल सका। वास्तव में तब सभी मित्र इसी प्रकार अभिभूत हो चले थे, परंतु राजनीति पर तीव्र विवाद करनेवाले मित्र चुप नहीं रह सके। बोले-डाक्टर! तुम्हारी बात मैं स्वीकार करता हूँ; परंतु...

परंतु तभी उनकी आँखें डाक्टर तथा अन्य मित्रों की आँखों से मिलीं और नीचे झुक गयीं। वे फिर नहीं बोले।

तेजबहादुर चौधरी

ठोकरें

हीरा जिस गाँव में रहता था, वह एक छोटा सा, जिसमें लगभग ६० ७० घर होंगे—निरे कुरमी, लोधे और मालियों से बसा हुआ था।

उनके झोपड़े, जिनके छप्परों को बदले हुए कई कई वर्ष बीत जाते, उनके फूस गलकर काले जले-जले से हो रहे थे। जो जरा खाता पीता-सा था उसके छप्परों की मरम्मत भी ऐसी वैसी ही होती थी। ये झोपड़े इतने पास पास थे, कि उनके बीच में निकलती हुई गलियाँ तंग और साल की सभी ऋतुओं में सीली-सीली-सी रहतीं। बरसात में घुटनों-घुटनों कीचड़ में होकर, छाया से लाठियों का सहारा ले-लेकर गाँव वाले गिरते पड़ते होकर निकलते, और जाते आते रहते। उन्हें ऐसी ही आदत-सी पड़ गयी थी।

गाँव के बीच में एक कच्चा तालाब था, जिसमें उनके ढोर पानी पीते, औरतें, बच्चे, मर्द आबदस्त ले लेते, और भैंसें कभी-कभी घुसकर लोटती रहतीं। पटसन के बोझ जब उसमें दबकर, गलकर सड़ते, तो उनकी सड़ी हुई पाखाने जैसी बदबू सारे गाँव में बुरी तरह से बसी रहती। भंगियों के सूअर जब मैला खा-खाते तालाब के पास आकर उसमें पेट तक घुस पड़ते, और फिर सहसा चिंघाड़ते हुए उस पानी में लड़ते और एक-दूसरे के पीछे भागते, तो सारा पानी कीचड़ एक कर देते। कोई भी उन्हें बाहर न निकालता।

झोपड़ों के आँगनों में से ऊपर को निकले हुए नीम शहतूत के पेड़ गरमियों में उन्हें सुख देते, पर जाड़ों और बरसात में अत्यन्त दुखी कर देते थे।

एक टूटे से कुएँ पर जिसकी मन जमीन से जा मिला थी, प्रात-साय स्त्रियों, सयानी लड़कियों, दो एक पुरुषों का भीड़ लग जाती। औरतों के भारी भारी मैले लहँगों से नीचे निकली हुई उनकी सूखी-सूखी टाँगें चमकती रहतीं, और वहीं वे अपने बच्चे घड़ों को टेककर देर तक आपस में घरेलू बातें करने लग जातीं।

फूटे-टूटे घड़ों के ठीकरे कुएँ के चारों ओर बिखरे पड़े रहते, जिन्हें उनके नंगे-नंगे बालक कभी-कभी कुरेदने लग जाते, और न जाने वे उसमें क्या ढूँढते से रहते। ठीकरों को उठा उठाकर वे उन्हें अक्सर कुएँ में फिर डालने लगते। वहाँ गलियाँ

में बच्चे इधर-से-उधर, उधर-से-इधर दिन-भर मिट्टी, धूल, गारे, गोबर में सने हुए-से खेलते-फिरते, कोई उन्हें कभी मना नहीं करता। गाँव के ऊपर एक भयानक सुस्ती-सी हरदम छायी-सी रहती; उसीमें गाँववाले अपना नित्य का काम मर-खप कर पशुओं की तरह करते रहते थे।

उनका काम लकड़ी बेचना, टोकरियाँ बना-बनाकर बेचना, शहर तथा आस-पास के गाँवों में मेहनत मजूरी करना और थोड़ी-बहुत दो-चार बीघे की खेती-बारी करना था। इसीमें उनके शादी-गमी के सब कारज जैसे-तैसे होते चले जाते थे।

वहाँ दो-एक घर बनियों के भी एक ओर को थे। जिनकी सौदे, तम्बाकू, तैल, मिरच की दुकानें थी, जिनमें वे बनिये मौन-सा साधे बैठे रहते, और तमाम दिन बहिया के पन्नों को उलटते फेरते रहते। बही-खातों के पन्नों पर वासलीन के कलम को काली स्याही से भर के जब वे एक लम्बी लकीर को दो बार खर्र-खर्र खेंचते, तो कागज पर कलम के घिसटने का शब्द होता।

इन बनियों का लेन-देन यथार्थ में शहर में होता था। ये लोग गाँववालों का गल्ला सस्ते दामों में खरीदते और उसे आढ़तों में महँगे दामों बेचते, फिर वहाँ से सस्ता माल लाकर उसे मँहगे भाव में गाँववालों के हाथ बेचते रहते। सट्टा, बीजक, दलाली सभी तरह कमाते। गरीब आदमियों को सूद पर रुपये देते, मीयाद तक तकाजा न करते, जब मीयाद खत्म होने को होती, झट नोटिस देकर नलिश कर देते। बेचारे का लुटिया, थाली, खटिया, किवाड़ कुर्क होते फिरते। ये लोग किसी को पनपने न देते। गाँववाले इनकी इन बातों को जानते हुए भी इन्हीं के हाथ-पाँव जोड़ते रहते। इनके घर दो-दो भैंसें दूध देतीं, पक्के चूने से पुते इनके घर झोपड़ों के बीच ऐसे लगते जैसे कौओं में दो-तीन सारस आ खड़े हुए हों। इन लोगों ने क्रमशः गाँववालों की जमीनें, बगिये सब अपने यहाँ रेहन या कुर्क करा ली थीं। गाँव में बनियों के अतिरिक्त कोई भी लिखा पढ़ा न था।

हीरा जात का कुरमी था। जवानी आ चुकी थी, पिछले साल उसका ब्याह हुआ, और बाद में चार मास पीछे उसका बाप भी मर गया। वह और उसकी बीबी दो प्राणी उसकी झोपड़ी में रह गये।

हीरा जवान था, मगर ऐसा जवान जिसे यह भी नहीं मालूम था कि वह जवान है। मूँछें उग आयी थीं। चेहरे पर भोली गम्भीरता थी। घर के खर्च का सोच—वह हँसता भी तो औरों को दिखाने के लिए...एक वक्त जिसे दो-तीन सूखी रोटियाँ मिलें, फटे कुरते और फटी धोती में जिसका तन ढका रहे, उसका जी

मर सा चुका था। अपने अधमरे शरीर को लिये वह दिन भर मेरी तेरी मेहनत-मजदूरी करके चार पैसे कमा लेता। उसके पास एक बिस्वा धरती भी नहीं था।

उसके पड़ोस में उसकी चाची का झोंपड़ा था। उसका चाचा कलकत्ते के एक पुतलीघर में १५) रुपये महीने पर नौकर था, जिनमें से हर महीने वह उसकी चाची के पास ५-६) रु० भेजता रहता था।

जिस दिन रुपये लेकर डाकिया आता, हीरा एक लम्बी साँस लेकर रह जाता और सोचता—क्या न मैं भी कलकत्ते चला जाऊँ? मैं भी पाँच रुपये हर महीने भेजूँ, पर जाने के लिए किराया कहाँ से लाऊँ? अगर कलकत्ते पहुँच जाऊँ, तो घर में ठाठ करके दिखा दूँ।

उसके पास एक पैसा भी नहीं था, वह फिर अपने कोड़ीधूकी ओर देखता, अपनी झोंपड़ी की दुर्दशा, अपने लंगोटी के फटे हालों को, फिर घर के खर्च की ध्यान आते ही उसका सारा उत्साह जाता रहा। एक निराशा का धुआँ-सा उसके कलेजे को घेर लेता, और वह सोच फिर कई कई दिनों तक रहता।

उस दिन दोपहर को डाकिया दस रुपया का मनीआर्डर उसकी चाची के नाम लाया, हीरा बाहर बैठा मजे में नारियल गुड़गुड़ा रहा था। उससे देखा न गया, और वह उठकर अंदर अपने झोपड़े में चला गया। इससे पहले वह सोच रहा था कि 'कल से पास के गाँव के ठाकुरों के यहाँ छः आने रोज पर लगभग एक मास तक कटाई करेगा, इस प्रकार लगभग एक मास के भरण पोषण का सहारा तो हो ही जायगा।'

झोंपड़ा में से उसने डाकिये की उसकी चाची से कहते हुए सुना, डाकिया कह रहा था, "आज तो दस रुपया आये हैं, आज तो हम आठ आने लेंगे, है न?"

'ना! रहेंगे!! सब उन्हें चार आना' चाची ने हँसते हँसते मानो आठ आने बहुत हैं, कहा—वह फिर बोला, 'अरे! चार आने कौन-सा बड़ी बात है जी? बने रहें हमारे मालिक परदेस में' और उसके साथ साथ बनिया के यहाँ मनीआर्डर फार्म पर अँगूठा लगाने चला गया।

हीरा ईर्ष्या से जला जा रहा। उससे रहा न रहा गया। मुट्ठी भर दस रुपयों का क्या ठिकाना! इतने रुपयों को लेकर उसकी चाची न जाने कहाँ रखेगी? मजे में पाँच महीने भर खायेगी और पाँच बचा लेगी। साल भर में कितने हुए? उसने पागल की तरह उँगलियों पर गिनना शुरू किया, 'चार महीने में बीस, आठ महीने में दो बीसा, बारह महीने में तीन बीसा!!' उसका दिल धड़कने लगा, तीन बीसी उसके खोपड़े में से होकर निकल गया।

उसकी स्त्री सामने पुराल पर अपनी मैली ओढ़नी बिछाये सो रही थी, बेफिक्र ! तीन बीसी के चक्कर से मुक्त। सात मास के गर्भ के कारण उसका पेट आगे को उभरा हुआ, कुर्ती के ऊपर सरक जाने से तना हुआ चमक रहा था; नाभि ऊपर उठी हुई, अपने दोनों हाथों में सर को दबोचे-सी वह बेसुध पड़ी थी। सर के खुले बाल सूखे-से रीछ की तरह गुफ्फ हो रहे थे। एक तरफ चूल्हे के पास मिट्टी की काली हँडिया, पतला-सा तवा, एक थाली और एक भारी-सा लोटा रखा था। यह लोटा उसे अपनी सुसराल से मिला था। एक ओर चार-पाँच हँड़िया—किसी में दाल, किसी में नमक, किसी में आटा, कोने में उसकी लठिया।

झोंपड़े के फटे हुए छप्पर से आती हुई धूप की एक चमकीली धार—एक हवाई छड़ी-सी—'नथिया' के पीछे से छप्पर के छेद तक सीधी खड़ी थी, जिसमें कण-अणुओं के इधर-उधर मिलने-घुलने से वह सजीव-सी हो रही थी। हीरा उन चकराते कणों को देखकर सोचने लगा क्यों न मैं भी कलकत्ते चला जाऊँ ? कणों का ऊपर से नीचे तक मेला-सा लग रहा था। सोचकर हीरा ने आँखें बंद कर लीं, और वहीं पर एक ओर लुढ़क कर लेट गया। निश्चित-सा होकर वह जमकर कलकत्ते जाने की बात सोचने लगा।

'गाड़ी चल रही है, कलकत्ता आ गया, उसने एक मास वहाँ नौकरी की। उसे पंद्रह रुपये मिले, पाँच जिसमें से उसने नथिया के नाम भेज दिये। उसकी बहू को डाकिये ने पुकारा, 'ले री हीरा की बहू तेरे रुपये आये हैं...' नथिया कितनी खुश हुई, फिर एक मास बीता, पाँच फिर आये, कभी पाँच, कभी दस...।

वह उठ बैठा। नथिया खुर्राटे ले-लेकर सो रही थी। वह एक स्वप्न देख रही थी—कुएँ पर गयी है पानी भरने, पीछे कुत्ते दौड़ रहे हैं, बिना पानी भरे वह खेत की ओर भागी। गाँव से बाहर खेत में हीरा ईख खोद रहा है। फावड़ा ऊँचा उठा घट्ट से धरती में घुस गया—पसीने की बूँदें उसकी नंगी कमर पर चेचक की तरह उभर रही हैं, कुत्ते दूर हैं; पर भागे चले आ रहे हैं...

नथिया का कंधा पकड़ कर हीरा ने उसे जगाया।

'क्या ?' नथिया चौंक पड़ी। फिर 'क्या ?' अँगड़ाई लेती कहती हुई वह उठ बैठी और अपनी ओढ़नी ठीक करके अपना सर ढकने लगी। नींद—सोकर उसका चेहरा भारी-सा हो गया था।

उसने देखा झोपड़े में जले तम्बाकू की गंध फैली हुई है, बाहर दुपहरिया खिली पड़ी है।

दोनों एक दूसरे के सामने बैठे थे, "मैं यहाँ नहीं रहूँगा री !" और हाथ बढ़ाकर अपना नरियल उठा लिया और फिर उस जले तंबाकू का एक दम खींच

फर बोला, "चाची के आज दस रुपये आये हैंगे, कित्ती खुशी होयगी आज वह !"
चले तनाव का धुआँ और भी फैल गया।

नथिया से हीरा की चाची कभी-कभी लट पड़ती थी, कारण उसका अभि-मान। नथिया बेबस थी। अगर आज उसके भी पाँच रुपये आते होते, तो वह भी उसके मुँह पर जवाब दे देती। पर

नथिया से सोचा न गया। वह थोड़ी देर कुछ न बोली। दोनों ऐसे बैठे रहे मानो उनका सर्वनाश हो रहा हो, दोनों के मनों मे लपटें-सा उठने लगीं। इसने चाहा कि हीरा भी कलकत्ते चला जाय। पर–पर अभी वह उसे अपनी आँखों से अलग करना नहीं चाहती थी। ब्याह को कुल एक वर्ष हो तो हुआ था, फिर पेट जो था उसके

सामने चाची को बनियों का तरफ से आती देखकर हीरा ने बोली, "देखो, आय रही है छिनाल लोट (नोट) दबाए हाथों में।"

देखने के लिए हीरा ने नथिया के आगे अपना हाथ रखकर जरा आगे झुककर देखा। उसकी चाची घोड़े की चाल कदम-कदम चला आ रही है।

"देख ले !" कहता हुआ वह फिर पीछे को होकर बैठ गया।

गिरिजाकुमार माथुर

हेमंत की रात

कामिनी-सी अब लिपटकर सो गयी है
रात यह हेमंत की
दीप-तन बन ऊष्म करने
सेज अपने कंत की !

नयन लालिम काम-दीपित,
भुजमिलन तन-गंध-सुरभित
उस नुकीले वक्ष की
वह छुवन उकसन चुभन अलसित,

इस अगरु-सुधि से सलोनी हो गयी है
रात यह हेमंत की।
कामिनी जैसी लिपटकर सो गयी है
रात यह हेमंत की ?

धूप चंदन रेख सी
सलमा सितारा साँझ होगी
चाँदनी होगी न तपसिनि
दिन बना होगा न योगी

जब कली के खुले अंगों पर लगेगी
रंग-छाप वसंत की।
कामिनी-सी अब लिपटकर सो गयी है
रात यह हेमंत की।

शीतलासहाय श्रीवास्तव

चार प्रणय गीत

१

मैं अपने उर की प्रीति, प्रीति के गीत लुटाये बैठा हूँ,

किसको इतनी साध कि मुझको बाँध डोरियों में सुधियों की
ले क्षण भर आराध यहाँ एकाध अश्रु धारा लड़ियों की

मुझको ऐसी भूल बनी है शूल, फूल बन भूल रहा पर
संसार सौंपता हार निठुर, मैं जीत लुटाये बैठा हूँ।
मैं अपने उर की प्रीति, प्रीति के गीत लुटाये बैठा हूँ।

नील गगन के नयन, चन्द्र-रवि, मगन खुले रहते रातों दिन,
रूप धरा का किरणों से पीते रहते सुख की घड़ियाँ गिन,

यह जग कहता इसको बुरा कि देखूँ बुरा बुरा मैं सुषमा
पर अपनी मधुर विवशता पर यह रीति उठाये बैठा हूँ।
मैं अपने उर की प्रीति, प्रीति के गीत लुटाये बैठा हूँ।

भौंरों ने अपने गान गुनुन गुन तान सुनाये कलियों को,
कलियों ने अपने प्राण, मधुर से सौंपे मधुपावलियों को,

पर उनकी ऐसी रंगरेली से क्यों द्वेष कर रहा पवन निठुर,
मैं अपने प्राण जुड़ाने को संगीत जुटाये बैठा हूँ।
मैं अपने उर की प्रीति, प्रीति के गीत लुटाये बैठा हूँ।

२

प्यार तुमने कर लिया यह खिल उठा जीवन।
खिल उठा यौवन प्रणयमय खिल उठे तन मन।

चाँदनी का हास बिखरा, हँस उठी धरती,
निर्झरी नभ से किरण की आ रही झरती,
फूल हरसिंगार के सुख-स्वप्न से सींचे;
बिछ गये हैं साँस साधे वृंत के नीचे,
स्वप्न तुमने दे दिया मुसका उठे लोचन।
प्यार तुमने कर लिया, यह खिल उठा जीवन।

कौन था जन पास में बस अश्रु मेरे थे,
दो क्षणों की जिंदगी को नाश घेरे थे,
तुम न होते आज तो फिर क्या सहारा था
टूटता-सा जब गगन से हाय! तारा था,
ज्योति तुमने दी हृदय का भर उठा आँगन
प्यार तुमने कर लिया, यह खिल उठा जीवन।

रात भर मैंने विरह की बाँसुरी फूँकी
साथ स्वर के ही बहायी धार आँसू की,
खो दिया अस्तित्व मैंने प्राप्ति-आशा में,
जल गयी उर-आरती दर्शन-पिपासा में,
दे दिया संकेत यह लहरा उठा मधुवन।
प्यार तुमने कर लिया, यह खिल उठा जीवन।

३

ज्वाला दो तो चाँद! मुझे दो, दो न रूप की चाँदनी!

लहरों का कर थाम-थाम कर दौड़ रही जलधार है,
पर सागर के बंधन में कब मिला तुम्हारा प्यार है,
एक बूँद की लघुता तुम दो जो कि तुम्हें प्रिय छू सके
बादल रथ पर चढ़कर पहुँचे जहाँ रजत ससार है

मुस्काते हो छिपकर जिसमें अमर रहे वह यामिनी!
ज्वाला दो तो चाँद! मुझे दो, दो न रूप की चाँदनी!

फूलों सा तन सुखा सुखाकर, गला गलाकर प्राण ये,
करता रहा तुम्हारी पूजा गाकर वदन गान ये
तुमने मुझको स्वप्न दिये दर्शन के, आधी रात मे
पर न कभी आये जीवन मे, भरे रहे अरमान ये

सपनो की बरसात तुम्हारी किरणों में है वंदिनी !
ज्वाला दो तो चाँद ! मुझे दो, दो न रूप की चाँदनी !

हासो मे बिखरा देते हो एक नया मधुमास सा
फिर भी जाने क्यों रहता हूँ व्याकुल विकल उदास सा,
में धरती का एक प्र ासी तुम हो नभ वातास के,
तुम अमृत देते हो सबको, में तृष्णा का दास सा।

मुझे चाहिए पीडा तुम क्यों देते मादक रागिनी।
ज्वाला दो तो चाँद ! मुझे दो, दो न रूप की चाँदनी !

शरमायी कलियों के लोचन खुले किरण आघात से,
पर तुम क्यों छिप गये मेघ की ओट हाय ! निष्पात से,
कैसी आँख मिचौनी है यह जिसमे तुम ही जीतते,
बरसा देते हो माया के स्वप्न मदिर अवदात से।

हार दे रहे हो तो दो, मत दो अब जीत विलासिनी !
ज्वाला दो तो चाँद ! मुझे दो, दो न रूप की चाँदनी !

४

पूर्ण हो आज मेरी प्रणय साधना।
स्वप्न के नीड मे मैं कहाँ तक बसूँ,
इस तिमिर जाल में कब तलक छाँह लूँ
बैठ कर रश्मियों की रजत पाँख पर
आन आओ हँसो और मैं भी हँसूँ।

उड़ चलें बादलों मे लिये कल्पना।
गा उठे रागिनी मत्त हो झूम कर,
घुल चले मधुरी अरुणिमा चूम कर।
गा उठे प्रीति उन्माद में है पिकी
दे लुटा स्वर गगन में मलय घूम कर।

विश्व में खिल उठे फिर कलित कामना।
आज सूनी निशा की न साँसें बहें।
आज बिछुड़न-भरी वे न बातें रहें।
आज पलकें मिलन से पुलकमान हों,
हर्ष के अश्रु उर की कथा सी कहें।
कर रहे हों हृदय दान की याचना।

———

समीक्षा

बाणभट्ट की आत्मकथा

[लेखक—हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्राप्ति स्थान—ग्रंथ वितान, भागलपुर (बिहार), पृष्ठ संख्या ६६०, मूल्य पाँच रुपया ।

१

प्रभाकर माचवे

आत्मकथा और सो भी 'पंचबाणस्तु बाण' की ! जिसकी प्रलम्बायमान वाक्यावली वाली शैली के लिए ख्याति हो, उसकी 'डायरी' की संक्षिप्त आलोचना सर्वांगीण संभव नहीं । अत एक दो बातों को लेकर ही हजारीप्रसादजी के इस उपन्यास की चर्चा करना चाहूँगा । 'आजकल' के वार्षिकांक में चंद्रगुप्त विद्यालंकार ने इस पुस्तक पर एक स्वतंत्र लेख लिखा है । जिसमें इस उपन्यास के दो दोष बताये हैं एक तो कथानक का 'सस्पेंस' रहित होना और दूसरा भाषा का बोझिलपन । प्रश्न यह उठता है कि उपन्यास का उद्देश्य क्या है ? उसी की अपेक्षा में गुण दोष-विवेचना को कोई अर्थ है, अन्यथा नहीं । चंद्रगुप्तजी के अनुसार हर्षकालीन समाज-स्थिति चित्रित करना प्रधान, तथा बाण का व्यक्तित्व खड़ा करना और उनकी 'शैली का हिंदी में परीक्षण (?) करना' द्वितीयिक महत्त्व के उद्देश्य इस उपन्यास में हैं । मेरे मत से, चंद्रगुप्त जी उपन्यास की मूल-भित्ति को नहीं पकड़ पाये हैं, अन्यथा एक ओर बाण की शैली की प्रशंसा करके अंत में भाषा के बोझिलपन, प्रलम्बायमान रूपकों का अनौचित्य न बतलाते । जहाँ तक इस उपन्यास को मैं समझ पाया हूँ, लेखक ने अपने को बाण की आत्मा में पैठाकर कलाकार बाण और पंडित बाण के अंतर्द्वंद्व का, बाणभट्ट की मूल प्रेरणा के स्रोत का, चित्रण करने का प्रयत्न किया है । इसमें वह कहाँ तक सफल है यह सिद्ध करने के लिए हमें 'हर्षचरित' के प्रथम दोई उच्छ्वास, 'कादंबरी' और अन्य बाण की रचनाओं का आधार लेना होगा । बाणभट्ट के अंतरंग की यह उच्छ्वासमयी झाँकी प्रस्तुत करने के लिए ऐतिहासिक वातावरण तथा बाण शैली का प्रश्रय उपादान के नाते लिया गया है । मूलत. यह बाण की समस्या उतनी हो न हो हजारीप्रसाद जी द्वारा निर्मित बाण की अवश्य है, क्योंकि अंतत यह हजारीप्रसाद जी का स्वयम् की समस्या है । इस उपन्यास में

कहीं हजारीप्रसादजी का पंडित, उनमें के सूक्ष्म सौंदर्यदर्शी कलाकार पर हावी हो जाता है—वे स्थल थोड़े हैं और कच्चे हैं; अन्यथा सर्वत्र कलाकार और पंडित का समन्वय (या कहें पारस्परिक संघात) चलता रहता है। उसी बौद्धिक और हार्दिक आनंद की सृष्टि में इस कलाकृति की महानता निहित है।

परंतु इस आनंद का एक पक्ष और भी है : यह उपन्यास हर्षकालीन है; जर्जरित सामंती विलासमयी सामाजिक मनोदशा का भी इस उपन्यास के कथानक-प्रवाह की शिथिलता में योग है। हाथियों, शिबिकाओं और विटचेटों से भरे उत्सव-कालीन जुलूसों का जो चित्र पृष्ठ १२-१८ पर है, वह इस उपन्यास का प्रतीक-चित्र है। रंग है, रूप है, झलमलाहट है, अलंकार-प्रसाधन है—पर वह सब किस लिए? क्योंकि ऐसी विलासवतियों के विषय में बाणभट्ट की आत्मकथा में पृष्ठ २५४-५५ पर स्पष्ट संकेत है—"इस उत्तरापथ में लाख-लाख निरीह बहुओं और बेटियों के अपहरण और विक्रय का व्यवसाय क्या नहीं चल रहा है?...क्या निरीह प्रजा की बेटियाँ *उनकी नयनतारा नहीं हुआ करतीं? क्या राजा और सेनापति की बेटियों का* खो जाना ही संसार की बड़ी दुर्घटनाएँ हैं?...कौन नहीं जानता कि इस घृणित व्यवसाय के प्रधान आश्रय सामंतों और राजाओं के अंतःपुर हैं? आप में से किसे नहीं मालूम कि महाराजाधिराज की चामरधारिणियाँ और करकवाहिनियाँ इसी प्रकार भगायी और खरीदी हुई कन्याएँ हैं?' और पृष्ठ २६१ पर 'वह महाराज्ञी राज्यश्री की सौत है!' मैं जैसे सोते में जगा, चौंककर पूछा—'सौत?' धावक ने डाँटा—'चिल्लाते क्यों हो, इस नगर में रानियों की सौतों का विशाल जंगल है—जंगल!' और इस सारी सड़ी-गली समाज-व्यवस्था में बुर्दा-फरोशी और स्त्री को खाद्य-वस्तु की तरह पण्य मानने के मूल में था सामंतवाद! उज्जयिनी के मधुर कोमल वर्णन में बाण के मूल शब्दों में '...विकचकुवलयकान्तैरुत्फुल्लकमलधवलोदरैरनिमिष-दर्शनरमणीयैराखण्डललोचनैरिव सहस्रसंख्यैरुद्भासिता सरोभिरविरलकदलीवनकलिता-भिरमृतफेनपुञ्जपाण्डुरभिर्दिशि दिशिदन्तवलभिकाभिर्धवलकृता · यौवनमदमत्तमा-लतीकुचकलशलुलितसलिलया भगवतो महाकालस्य शिरसि सुरसरितमालोक्य समुप-जातेर्ष्ययेव सततसमाबद्धतरंगभ्रुकुटिलेखया खमिव क्षालयन्त्याशिप्रया परिक्षिप्ता सक-लभुवनख्यातयशसा हरजटाचन्द्रेणेवकोटिसारेण...।' यह उद्धरण कुछ लम्बा इसलिए दिया कि 'कादंबरी' में उज्जयिनी वर्णन वाले तीन पृष्ठ तक चलने वाले एक वाक्य का कुछ अंदाज़ मिले। तो इन कोटिसार सामंतों के प्रति, उपन्यास पढ़कर तिरस्कार तो कुछ मात्रा में उत्पन्न होता है, परंतु रोष नहीं। लेखक के आत्मकथा का माध्यम चुनने के कारण उस काल की विलास-जर्जर समाज-स्थिति में बाण कुछ अटकता-भटकता, मोह-मुग्ध रहता है। और समूची पुस्तक पढ़ने पर उस काल के सौंदर्य

पर दृष्टि टिकती है। साधारण पाठक उसी काल को लौटाने की इच्छा कर सकता है, एक एक बड़ा भय इस पुस्तक में है। 'दिव्या' या 'जय यौधेय' में भी करीब करीब उसी बात का चित्रण है परंतु यह भय वहाँ नहीं है। हजारीप्रसाद जी की पुस्तक का सबसे बड़ा गुण या दोष कहिए, उस काल के प्रति उनकी दी हुई सहानुभूति है, सहृदय सौम्य ग्राही समदृष्टि है। इस बात पर दो मत हो सकते हैं कि क्या इतिहास के काल विशेष का ऐसा चित्रण इष्ट है कि जिसमें पाठक निरा सौंदर्य लुब्ध बनकर आत्मविस्मृत हो जाय, परन्तु यह सौंदयशास्त्री आलोचकों की चिरंतन समस्या है, सौंदर्यस्रष्टा शायद उससे असंपृक्त ही रहता है, कि मोनालिसा के आकर्षक स्मित के पीछे बोर्जिया वंश की ऐयाशी और पापों का पूरा अंबार था, परन्तु चित्रकार ने उस कर्दम को नहीं देखा, कमल ही बना दिया। प्रगतिशील दृष्टिवाले मुझ जैसे आलोचक को हजारीप्रसाद जी के उपन्यास से इतनी ही शिकायत है कि काश वे समग्र सत्य का चित्रण करते, और केवल सुन्दर सत्य तक ही सीमित न रहते!

परन्तु वह काल ही वैसा था जब—

उद्वेगमहावर्ते पातयति पयोधरान्नमनकाले
सरिदिव तटमनुवर्षं विवर्धमाना सुता पितरम्'

जैसी आर्याएँ प्रकृतिवर्णनप्रसंग में भी रची जाती थीं, और हर्ष को अपने पिता के मृत्युशय्या के समय भी रुग्ण के कमरे के पास आने पर यही सुनायी देता था—'दाहो महान्! आहो हा गन् हरिणि, मणिदर्पणान्मे देहे दोह वैदेहि, हिमल नैलिम्प ललाट लीलावति, घनसारधूलिं निधेहि धवलाक्षि, कपाले कलय कुवलय कलावति, चंदनचर्चा रचय चारुमते, पाटय पटमावृत पाटलिके, मदय दाह इंदुमति अरविन्दे, जनय जलार्द्रया मुखं मदिरावति, उपनय मृणालानि मालति, तरलय तालवृन्त आवन्तिके!' और जब गालियों की बौछार भी लग जाती तो वहाँ भी वैसी ही शब्द-बाहुल्य होता, यथा—'अ पाप, क्रावोपहत, दुर्गतमन्, अज्ञ, अनार्य, ब्रह्मबन्धो, मुनिखेट, अपसद, निराकृत, आत्मम्भरिलिन विलक्ष कथ'। इस कारण शब्द-बहुलता के लिए बाण को दोषी ठहराना व्यर्थ है। और कथानक की घटना विरलता के विषय में कुमारी काम्प्टन बर्नेट का यह कथन बहुत सत्य है कि—"जहाँ तक कथानक का संबंध है, मुझे यथार्थ जीवन किसी काम का नहीं जान पड़ता। यथार्थ जीवन में कथानक कहाँ हैं? और चूँकि कथानक मैं अत्यन्त इष्ट और आवश्यक समझती हूँ, जीवन के प्रति मेरी यही शिकायत है। परन्तु कुछ लक्षण इस बात के भी चिन्हित होते रहते हैं कि विचित्र घटनाएँ घटित अवश्य होती रहती हैं, यद्यपि वे निर्मित नहीं की जा सकतीं।"

(हेनरी रीड, नावेल सिन्स १९३९, पृ० १८)

इधर एक और निबन्ध में आर्थर मेल्विल क्लार्क के 'स्टडीज़ इन लिटररी मोड्स' में पढ़ रहा था जो कि 'ऐतिहासिक उपन्यास' पर ही है। उसमें उन्होंने प्रत्यक्ष अतीत और प्रत्यक्ष अतीत के इतिहास में सूक्ष्म अंतर करते हुए बतलाया है कि उस इतिहास पर आधारित नवलिका (गुजराती में 'रोमांस' के लिए शब्द) तो और भी तीसरी अगम्य वस्तु है। जैसे सिनॉर क्रोचे काव्य की आलोचना को पूर्व की आलोचना की आलोचना मात्र मानते हैं, उसी प्रकार इतिहास का लेखन, पुराने इतिहास की आलोचना की आलोचना मात्र है। इस प्रकार अरस्तू का यह कथन कि हेरोडोटस की रचना को छंदोबद्ध कर देने से कथा-काव्य नहीं बन जाता; बल्कि इतिहास जहाँ अतीत कथा का वर्णन देता है, ऐतिहासिक कथा अतीत सभावना को चित्रित करती है। हर्षकालीन जीवन को बाण और समवर्ती रचनाकारों ने अपनी आँखों से देखा, अपनी उर्वर चिता मे सौंदर्यमय बनाकर प्रस्तुत किया; उसके कितने सदियों बाद शान्तिनिकेतन के इस असाधारण संस्कृत पंडित और मर्मग्राही पंडित ने उसी बाण के हृदय में प्रवेश कर इस पुस्तक रूपी मणि को खोज निकाला। उसमें ऐतिह्य सत्य की खोज व्यर्थ है, उसका मूल्य कलाकृति के नाते हैं। ई० एम० फार्स्टर ने अपने 'आस्पेक्ट्स आफ नावेल' में स्काट की खूब खबर ली है कि उसके पात्रों में केवल दो ही दिशा-प्रमाण हैं, तीन नहीं; वे पात्र 'फ्लैट' हैं। वह दोष हम हजारीप्रसाद जी पर कदापि नहीं लगा सकते—'निपुणिका' जो इस उपन्यास का सर्वोत्तम पात्र है एक सजीव और सर्वथा प्रिय रचना है। 'करणघेला' नामक ऐतिहासिक गुजराती उपन्यास की आलोचना में वि० प० भट्ट ने 'साहित्यसमीक्षा' में पृष्ठ २०५ पर जो दोष अधिक ऐतिहासिक विवरण देने के संबंध में बताया है, वह भी यहाँ नहीं। मराठी में ऐतिहासिक उपन्यास बहुत लिखे गये हैं—पर वे भी अधिकतर घटना-बहुल हैं, चरित्र-प्रधान नहीं जैसे 'बाणभट्ट की आत्मकथा'। राखाल बाबू के उपन्यासों से यह उपन्यास इस दृष्टि से कई सौ कदम आगे की कृति है। अब ऐसी साहित्य की गौरववर्द्धिनी कृति को पाकर हिंदी के डाक्टर लोगों को यह लिखने का साहस न रहेगा कि—'हिन्दी के अधिकाश ऐतिहासिक उपन्यास केवल नाममात्र के ऐतिहासिक हैं क्योंकि उनमें लेखकों ने इतिहास की ओट में तिलस्म, अय्यार और प्रेमप्रसंगों की ही अवतारणा की है।' (डा० लाल : आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास पृ० ३०२-३)

उज्जैन, ७-६-४८

—:००:—

देवराज उपाध्याय

हिंदी म इधर कुछ वर्षों से कथा साहित्य का प्रगति म पर्याप्त क्षिप्रता रही है और वह साहित्यिक श्रीवृद्धि का कारण रहा है। फ्रायड के मनोविश्लेषण शास्त्र, मार्क्स क साम्यवादी सिद्धांतों न तथा आज की उत्तरोत्तर प्रवृद्ध रहते रहने वाल आर्थिक और सामाजिक वैषम्य ने लखका क हृदय को बल पूर्वक झकझोर दिया है और उन्होंने इनका सहारा पाकर अपन हृदय पथ, को कथा क रूप म मानो साकार रूप देन का चेष्टा की है। पर इतना सब होत भी हिंदी साहित्य म ऐतिहासिक उपन्यास नहीं म हैं। साहित्य का यह अग आज तक उपेक्षित हो रहा है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' म द्विवदी जी का ध्यान साहित्य क इसी उपक्षित अग की ओर गया है और उन्होंने अपनी सशक्त कल्पना को इस ओर प्रवृत्त किया है।

'बाण भट्ट की आत्मकथा' प्रधानरूप म उस श्रेणी म आती है जिसे आलोचना क क्षेत्र म ऐतिहासिक उपन्यास क नाम स अभिहित किया जाता है। जैसा कि नाम स ही पता चलता है कि इसम दो तत्वों का समावेश रहता है, इतिहास का और कथा का। और य दोनों तत्व पारस्परिक विरोधी हैं। इतिहास है एक दम वस्तु जगत की वास्तविकता और कथा है कल्पनाजगत का उड़ान, एक में इसी जगत क सीधे सादे, ठोस, इन्द्रिय गोचर जीव रहते हैं और दूसरे म वैसे जीव जो लेखक की कल्पना से जन्म ग्रहण करते हैं। तब इन दो पारस्परिक विरोधी तत्वों को लेखक किस तरह एकत्र सगठित कर और इनके समन्वय स कथा को अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर करे, यह एक बड़ी विचित्र समस्या है। इसी तरह की विरोधी बातों का समन्वय ऐतिहासिक उपन्यासकार को करना पड़ता है जिसे द्विवेदी जी ने कर दिखलाने की कोशिश की है।

ऐतिहासिक उपन्यास की सफलता की कठिनता का अन्दाज इसी बात से लगाया जा सकता है कि अंग्रेजी साहित्य म इस श्रेणी का कथाओं क बाहुल्य के बावजूद भी उच्चकोटि क सफल औपन्यासिकों में स्काट और थकरे जैसे महानुभावों का ही नाम लिया जाता है। हिंदी की तो बात ही छोड़िएगा। किशोरीलाल गोस्वामी, मिश्रबंधु, तथा वृन्दावनलाल वर्मा का नाम अवश्य इस क्षेत्र के लिए ले लिया जाता है पर इस '*तसल्ली के लिए गुड़ का मलीदा*' से कुछ अधिक मूल्य नहीं दिया जा सकता। ऐतिहासिक उपन्यासों के लिए इतिहास की सहज प्रतिभा तथा कवित्वमय कल्पना इन दोनों क वाचनप्रद्यधर्मी सहयोग की अपेक्षा है। वह बात इन लोगों में नहीं थी। हाँ, वृन्दावनलाल वर्मा इस अश म औरों से कुछ अधिक सफल अवश्य हैं पर यह मानी बात है कि जिस तरह की तरल और कल्पनामय भाषा

की आवश्यकता एक सफल औपन्यासिक को है वह उन्हें प्राप्त न थी। यह उनके उपन्यासों का सब से दुर्बल अंश है। द्विवेदी जी के पास ऐतिहासिक प्रतिभा, कल्पना तथा भाषा भी है। इस तरह वे ऐतिहासिक उपन्यासों की प्रगति की ओर एक स्पष्ट कदम उठाते दीख पड़ते हैं, एक अभाव की पूर्ति करते हैं और सबसे बड़ी बात कि वे भविष्य के लेखक के लिए मार्ग निर्देश करते हैं और प्रतिभा के प्रदर्शन के लिए एक अपरिमित क्षेत्र का उद्घाटन करते हैं।

सबसे पहले 'आत्मकथा' की बाहरी रूप-रेखा पर विचार किया जाय। किसी व्यक्ति के संपर्क में आते ही हमारा—अर्थात् आलोचक बुद्धि का—ध्यान सर्वप्रथम उसकी वेश भूषा, साज-सज्जा तथा बाह्य शरीर-सौष्ठव की ओर ही जाता है। उसी को देखकर हम कुछ साधारण-सी धारणा बना लेते हैं और यदि वह धारणा अनुकूल हुई तो आगे का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। साहित्य के स्रष्टा का सर्वकर्त्तव्य यह होता है कि वह अपनी रचना के इर्द-गिर्द एक इस तरह के वातावरण की सृष्टि करे कि उसकी सत्यता की छाप लोगों पर बैठ जाय। पाठक लाख जानता रहे कि कथा सच्ची नहीं, लेखक की कल्पना की उपज है फिर भी लेखक की जादू की छड़ी कुछ इस सफाई के साथ चले कि उसकी झूठ-सच की परख करने वाली आलोचक बुद्धि सो जाय। इसी ओर लेखक की सारी प्रवृत्तियाँ उन्मुख रहती हैं। द्विवेदी जी ने इस ध्येय की प्राप्ति के लिए क्या नहीं किया है? संस्कृत साहित्य का ऋण तो है ही, अँगरेजी से भी कम नहीं लिया गया है, यहाँ तक कि बिचारी हिंदी की भी देन द्विवेदी जी की झोली में कम नहीं। वे एक सतर्क और जागरूक कलाकार हैं। और बड़ी सतर्कता के साथ छेनी की एक-एक टाँकी से उन्होंने अपने उपन्यास की मूर्ति की रचना की है।

सब से प्रथम आत्मकथा की ही बात लीजिए। इसमें नायक बाणभट्ट अपने जीवन के साहसिक कार्यों का विवरण स्वयं ही करता चला गया है। इसके कारण कथा में वास्तविकता का स्वाद आ जाता है। आत्मकथा के रूप में हिंदी में और उपन्यास नहीं हैं सो बात नहीं। इलाचन्द्र जोशी का 'पर्दे की रानी', जैनेन्द्र का 'त्याग पत्र', रविबाबू का 'घर और बाहर' ('घरे बाहिरे') ग्रंथ हैं। पर इन सब ग्रंथों के पात्र उत्पाद्य हैं, इनका जन्म लेखक की कल्पना में हुआ है। पर द्विवेदी जी के पात्र संस्कृत-गद्य के सम्राट, महाराज हर्ष के राजकवि बाणभट्ट हैं। यह द्विवेदी जी की मौलिकता है कि इस आत्मकथा वाली प्रवृत्ति को उन्होंने एक ऐतिहासिक पात्र से संबद्ध किया है और पुस्तक का नामकरण किया है 'बाणभट्ट की आत्मकथा'।

द्विवेदी जी खूब जानते हैं कि आलोचक और समझ-बूझकर चलने वाली

बुद्धि को भुलावा देने के लिए स्थगित शकावृत्ति, (सस्पेंशन ऑफ डिसबिलीफ) का सूरत पैदा कर देने के लिए यह पर्याप्त नहीं है। अत वे आस्ट्रिया की श्राशान्तिप्राय नाम की अनुसंधान प्रियता की बात सामने लाते हैं और बातें कुछ इस ढंग से करते हैं कि मालूम होता है कि मानों इस कथा की पाडुलिपि उन्हें शोण नदी के तट पर भ्रमण करते मिला था जिसका संपादन भर करके उन्होंने प्रकाशित कर दिया है। यहा पर एक बात कही जा सकती है यदि वह छोटा मुँह और बड़ी बात जैसी न लग ना। इस टकनाक के लिए द्विवेदी जी थेकरे के प्रसिद्ध उपन्यास 'हेनरी एसमंड' म नहीं तो जैनेन्द्र के 'त्यागपत्र' के अवश्य ऋणी हैं। द्विवेदी जी ने जरा आगे बढ़कर माटी पर सतर्कता पूर्वक टंगी हुमा के द्वारा यह कह ... हँसी ने तो मजाक भर है। पर इसमें सत्यता का भ्रम कितना पैदा हो जाता, इस ... आवरण को चीरकर देखना कितना कठिन हो जाता है वह इतने भर से ही पता चल सकता है कि मेरे विद्वान मित्र श्राशान्तिकुमार नेदूरराम व्यास ने अपनी पुस्तक 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' म यहाँ तक लिख दिया है कि बाण भट्ट की जीवनी की एक नई सामग्री द्विवेदी जी के हाथ लगी है और उसके प्रकाशन से बाणभट्ट का जीवनी पर नया प्रकाश पड़ेगा। द्विवेदी जी जैनेन्द्र से इस बात में बढ़े हैं कि अंत म दीदी के पत्र का उल्लेख कर पाठक की भूल पर हँसने से भी हैं। अर्थात् उनके दिमाग में अधिक पचीदगी है।

बाणभट्ट की कोई भी रचना पूरी नहीं है। 'हर्षचरित एक तरह से अधूरा ही है और 'कादम्बरी' भी। यह 'आत्मकथा' भी पूरी कैसे होता। यह बाणभट्ट की जो है। यदि पूरा होता तो पाठक को शका न होती कि यह पूरी कैसे हो गया जब और सब रचना अधूरी हैं। अत इसे भी अपूर्ण ही रहना चाहिए। प्राय यह देखा जाता है कि एक लेखक एकाधिक पुस्तकें लिखता है तो प्राय एक पुस्तक की बात दूसरी पुस्तक म ज्यों की त्यों आ जाती हैं। इस आत्मकथा में भी 'कादम्बरी' और 'हर्षचरित' की बातें क्या न पायी जाए, यह तो स्वाभाविक हा है, समानता के हा नहीं मिलने से आत्मकथा का सत्यता म शका का गुंजायश हो सकता है। कितनी सतर्कता से पाठक के लिए जाल बिछाया जा रहा है और कितनी पैतरेबाजी से उसे घेरने का बंदिश बाँधी जा रही है। और भाषा ? वह तो बाणभट्ट की है न, हिंदी भले ही हो, पर उमड़ती है तो मानों चला है "नदा नापने धरती"। हाँ इतना अवश्य है कि 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' के श्लेषगर्भत्व और विरोधाभास गर्भत्व की कमी अवश्य है पर यह है बाणभट्ट की ही, यहा पाठक समझता है। यहा है साहित्य में युग भावना का प्रतिबिंब। बाणभट्ट भले ही हों ७वीं शताब्दी के पर उनकी आत्मकथा है २०वीं शताब्दी का और उसम इसा युग का कठस्वर है।

ऊपर कह आये हैं कि ऐतिहासिक उपन्यास में इतिहास और कल्पना का समानुपातिक सम्मेलन होना चाहिए। अँग्रेजी साहित्य के प्रसिद्ध इतिहास-लेखक प्रोफेसर सेण्टस्बरी ने ऐतिहासिक-लेखक के लिए कुछ गुणों का होना आवश्यक बतलाया है। उसने यह भी बतलाया है कि ऐसे लेखकों में किन-किन बातों का अभाव होना चाहिए। पहला अभावात्मक गुण तो यह है कि कथा-प्रवाह में इतिहास की चट्टानों की व्यर्थ ठूँस-ठास से बचा जाय। द्विवेदी जी में इससे बचने का लक्ष्य तो परिलक्षित अवश्य होता है पर हर्ष के साथ तुवुरमिलिंद को ला बैठाना, और उससे हर्ष की मैत्री कराने का प्रयत्न काल-विरोध तो हो ही जाता है, साथ ही साथ पाठकों की विश्वास-भावना पर आवश्यकता से अधिक दबाव-सा डालता दीख पड़ता है। माना कि तुवुरमिलिंद का समय-निरूपण एक समस्या है, जैसा कि द्विवेदी जी ने स्वीकार किया है, पर हर्ष के समकालीन होने की कल्पना किसी ने नहीं की है। एक उपन्यास में भी उन दोनों को साथ ले घसीटना कहाँ तक समीचीन है, मैं इस पर कुछ निश्चय के साथ नहीं कह सकता। इस घटना के समावेश के पक्ष में कुछ तर्क तो दिया ही जा सकता है, महाराज हर्ष क्यों बाणभट्ट को 'भुजग' (लपट) समझते थे और उनसे अत्यधिक अप्रसन्न थे इसका एक सबल कारण उपस्थित करना था, बाणभट्ट को चंद्रदीधति मिलिंद की कन्या के उद्धार करने जैसे कार्य से कम महत्व के काम में कैसे नियुक्त किया जा सकता था। इतिहास का रूप भी बनाये रखना था इत्यादि। पर विश्वास भावना की जड़ इससे हिलती नहीं दीखती क्या ? और स्थगित शकावृत्ति एक औपन्यासिक सर्वोपरि कर्तव्य नहीं है क्या ? दूसरी बात—जिसे दूर से बचने की बात--प्रो० सेण्टस्बरी कहते हैं क्रिया तथा वार्तालाप की अपेक्षा ऐतिहासिक घटनाओं के विवरण को अधिक स्थान देने का लोभ है, यह एक ऐसी बात है जिसका लोभ संवरण करना बड़े-से-बड़े ऐतिहासिक उपन्यासकार के लिए कठिन हो जाता है। द्विवेदी जी की कथा आदि से अंत तक नाटकीय स्फूर्तियों और साहसिक कार्यों से पूर्ण है तथा वार्तालापों की सुंदर योजनाओं ने उपन्यास में गतिमयता की सृष्टि कर दी है। उदाहरण के लिए उस स्थल की ओर संकेत किया जा सकता है (पृष्ठ २१८) जहाँ सुगतभद्र ने महाराज के इस स्थल प्रश्न का उत्तर दिया है कि 'बुद्ध निर्वाण प्राप्त करने के बाद भी पूजा कैसे ग्रहण करते हैं।' और ऐसे बहुत से स्थल यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं।

हाँ, काल्पनिक अंश में द्विवेदी जी पूर्ण रूप से सफल हैं। उनकी कल्पना ने उस समय के वातावरण के पुनर्निर्माण में सहायता ही दी है। द्विवेदी जी के बाणभट्ट, शीलभद्र, वसुभूति इत्यादि ऐतिहासिक व्यक्तियों से अधिक सत्य हैं क्योंकि वे व्यक्ति न रह कर टाइप हो गये हैं, वे एक जाति का प्रतिनिधित्व करते

लग गये हैं। उनका व्यक्तित्व व्यष्टिगत न रह कर समष्टिगत हो गया है और वे उस समय की युग भावना के शरीर हो गये हैं। उस समय के लोगों के बीच किस तरह तांत्रिक सिद्धियों में विश्वास था यह तो शायद जितनी स्पष्टता से यहाँ व्यक्त किया गया है वह शायद ही कहीं दूसरी जगह मिले। कहीं-कहीं तो देवकीनन्दन खत्री का 'चन्द्रकान्ता सन्तति' एवं 'आश्चर्य वृत्तांत' जैसी पुस्तकों के पढ़ने का आनंद मिलने लगता है।

सबसे बड़ी बात इस पुस्तक में है नारी ... तत्व की व्याख्या और समाज की स्थिरता के लिए उसकी उद्भावना का जोर। नारी-तत्व ... आत्म समर्पण की भावना, दूसरे शब्दों में अहिंसा की नींव पर समाज का निर्माण। यह ... पूरे उपन्यास प्रबंध का मुख्य व्यंग्य है। सारी पुस्तक भारतीय प्राचीन सभ्यता की ... सी करती है और भारतीय जीवन में संयम का जो स्थान है उसको आधुनिक सभ्यता की आधारशिला बनाने की अपील करती है। यवनों की सभ्यता जो समाज के उच्च-नीच का विभेद नहीं मानती उसकी प्रशंसा अवश्य है पर उनकी त्रुटि की ओर भी ध्यान दिलाया गया है "उनमें संयम का अभाव है, आत्मनियंत्रण की कमी है। उन्हें यही चाहिए। भारतीय समाज ने बंधन को सत्य मानकर समाज को बहुत बड़ी बाज दी है।" प्रकारान्तर से आधुनिक समाज के निर्माताओं को यही चाहिए, यही बात सारी पुस्तक की ध्वनि है। सब मिला-जुलाकर इस पुस्तक का महत्व इसमें नहीं है कि यह पूर्णरूपेण सफल ऐतिहासिक उपन्यास है पर इसमें अधिक है कि यह भविष्य के औपन्यासिक के लिए एक विशाल क्षेत्र का उद्घाटन करती है।

३

नलिनविलोचन शर्मा

"मिस कैथराइन नामक एक आस्ट्रियन महिला को बाणभट्ट की आत्मकथा पर एक स्वतंत्र ग्रंथ की पाण्डुलिपि सोन नदी के किनारे उपलब्ध हुई है ('विशाल-भारत' जनवरी १६४३)। बाण के अन्य ग्रंथों की भाँति यह आत्मकथा भी अपूर्ण है। इसका हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत हिंदी अनुवाद 'विशालभारत' में प्रकाशित हो रहा है। मूल संस्कृत आत्मकथा का प्रकाशन संस्कृत-साहित्य का एक अपूर्व वस्तु होगी"।

हिंदी में लिखे गये जिस मामूली तरह से कामचलाऊ संस्कृत साहित्य के इतिहास से ये पंक्तियाँ उद्धृत की गयी हैं उसका पता ठिकाना नहीं देना उसके साथ अन्याय करना नहीं होगा। द्विवेदी जी की लेखनी का जादू उल्लिखित

पुस्तक के लेखकों के सर पर चढ़ कर बोल गया है। मैं एक तरफ द्विवेदी जी की मूक खिलखिलाहट की बात सोचता हूँ और दूसरी तरफ उद्धृत पंक्तियों के लेखकों की विनोद-भावना के नितांत अभाव की, और आज फिर इस आलोचना को लिखते समय मन ही मन उस तरह खिलखिला रहा हूँ जिस तरह पहली बार इस वक्तव्य को पढ़ने पर खिलखिला पड़ा था।

लेकिन गंभीरतापूर्वक विचार करने पर इस भ्रांति के लिए आत्मकथा का लेखक ही उत्तरदायी ठहरता है! उसने अपनी विनोदपूर्ण भूमिका से जितना भ्रम नहीं फैलाया है उतना तो अपनी लेखन-शैली से जो पुस्तक को इस प्रकार विश्वासोत्पादक बना देती है! द्विवेदी जी ने यह प्रगल्भ परिहास न भी किया होता तो शोध-प्रेमी यह संदेह कर सकते थे कि इन महाशय को कदाचित् कोई प्राचीन पांडुलिपि मिल गयी हो! बाणभट्ट की आत्मकथा साहित्यिक 'परकाय प्रवेश' का उत्कृष्ट उदाहरण है: द्विवेदी जी को बाणभट्ट बन जाने में पूरी सफलता मिली है।

द्विवेदी जी की सफलता का रहस्य आसानी से समझ में आ जाने की बात है। उनके और बाणभट्ट के व्यक्तित्व में एक से अधिक समान तत्त्व हैं। दोनों में ही शास्त्र के ज्ञान और जीवन के अनुभव, पांडित्य और विनोद, संयम और सहृदयता, गांभीर्य और परिहास-प्रेम का दुर्लभ संयोग है। कोई आश्चर्य नहीं, द्विवेदी जी की लिखी बाणभट्ट की जीवनी बाणभट्ट की आत्मकथा ही बन गयी है।

आत्मकथा लिखना सब के बूते की बात नहीं: पर कुछ लोगों को दूसरों की जीवनी लिखने में ऐसी सफलता मिल सकती है कि वह आत्मकथा ही मालूम पड़े। दूसरी कोटि के लेखकों के लिए इतिहास के सूक्ष्म अध्ययन के साथ कवि की शक्ति और उपन्यासकार की स्थापत्य-कुशलता भी आवश्यक है। लेखक और उसके चरित-नायक के व्यक्तित्व की समानता तो जीवनी-लेखन के लिए अनिवार्य है। और जहाँ तक इस अंतिम तत्त्व का प्रश्न है, मैंने तुरत पहले इसका निर्देश किया है।

•

बाणभट्ट के इतिहास के विषय में भी, सौभाग्य से, लेखक को पर्याप्त सामग्री सुलभ थी। सौभाग्य से इसलिए कहा क्योंकि संस्कृत के प्राचीन लेखकों का इतिहास इतिहास नहीं, अनुमान मात्र है। बाणभट्ट उन अपवादों में से हैं जिनके विस्तृत और प्रमाणित जीवन-वृत्त उपलब्ध हैं। इससे भी ज्यादा तो यह कि बाण का जीवन-वृत्त उन्हीं के द्वारा लिखा गया है। 'कादंबरी' और 'हर्षचरित' में बाण ने अपने बारे में जितना और जो कुछ लिखा है वह क्या कम है? बाणभट्ट

के काल निर्णय जैसे नीरस शास्त्रीय प्रश्नों पर भले ही उन की आत्मकथा से प्रकाश नहीं पड़ता हो किंतु उससे उनके व्यक्तित्व का अंतर्दर्शन संभव हो जाता है जो उनकी जीवनी लिखने के प्रयास को काफी सरल बना देता है।

आत्मकथा लिखने वाला अपनी केंचुली से बाहर निकल कर अपना विश्लेषण करता है, इसलिए ईमानदारी से लिखी गयी आत्मकथा जीवनी सी लगती है। इसके विपरीत जीवनी-लेखक वर्ण्य व्यक्ति से अभिन्न हो कर उसके व्यक्तित्व का संश्लेषण करता है, फलतः सफल जीवनी आत्मकथा बन जाती है। बाणभट्ट ने बिना भावुक हुए और निर्मम तटस्थता के साथ लिखा है कि एक अभिजात ब्राह्मण वंश में जन्म लेने के बावजूद वे, यौवन में संदेहास्पद चरित्रवाले समवयस्कों के साथ आवारागर्दी करते रहे, फिर सँभले और घर-गिरस्ती की ओर ध्यान दिया और साहित्य रचना में जुटे, राजा के यहाँ पहुँचने पर पहले तो उपेक्षा ही हुई, क्योंकि जवानी के कारनामों की 'प्रसिद्धि' राजा के पास तक पहुँच चुकी थी, पर बाद में उनकी प्रतिभा के कारण उनका यथोचित आदर भी हुआ। इतनी सी बात, लेकिन बाणभट्ट की लिखी हुई कवित्वपूर्ण होने पर भी कहीं असत्य नहीं, अपने बारे में होते हुए भी कहीं लीपा पोती नहीं। व्यक्ति के जीवन के इतिहास के लिए इतनी सामग्री है तो काफी है। द्विवेदी जी ने इस सामग्री की संभावनाओं को देखा और उनका सफाई के साथ उपयोग किया। बाण ने आत्मकथा लिखते हुए भी वस्तुतः जीवनी लिखी। द्विवेदी जी ने जीवनी लिखी और उसे आत्मकथा कहा और हमने उसे ऐसा पाया भी—कुछ लोगों ने तो शब्दशः।

परिमाण में सीमित इतिहास के आधार पर परिपूर्ण जीवनी—जैसी बाणभट्ट की आत्मकथा है—लिखने के लिए कवित्व शक्ति बहुत आवश्यक है। एक कवि ही, मैं ऐसा मानता हूँ, जीवनी लिख सकता है। बाण ने 'कादंबरी' और 'हर्षचरित' दो उपन्यास लिखे हैं। 'हर्षचरित' एक ऐतिहासिक उपन्यास है। वह इतिहास कम और ज्यादा उपन्यास ही है और उससे भी ज्यादा जीवनी। बाण का कवित्व तब देखने को मिलता है जब वे गहरे रंगों की विविध पृष्ठभूमियों के सहारे हर्ष के व्यक्तित्व और स्वभाव को, उनके संघर्ष तथा सरलता, कोमलता और कठोरता के साथ अभिव्यक्त करते चले जाते हैं। द्विवेदी जी ने बाण की तरह बहुत गहरे रंगों का तो प्रयोग नहीं किया है फिर भी गहरे रंगों का प्रयोग उन्होंने भी अवश्य ही किया है। गहरे रंगों की पृष्ठभूमि में यह खतरा बना रहता है कि कहीं तसवीर ओछी न पड़ जाये। बाण कहीं कहीं अपने चित्रों को, उनकी पृष्ठभूमि के फलस्वरूप, हल्का ही छोड़ देने को बाध्य हो गये हैं। द्विवेदी जी ने अपने चरित-नायक की कुशलता और असफलता दोनों से ही सीख ली है। बाणभट्ट की आत्मकथा में

शायद ही ऐसा कहीं हुआ हो कि पृष्ठभूमि प्रधान और चित्र गौण हो गया हो।' लेकिन द्विवेदी जी की तस्वीरें भी सार्थक पृष्ठभूमि पर ही उभरी हैं। और सार्थक पृष्ठभूमि के लिए कवित्व-शक्ति की ही अपेक्षा रहती है। पुस्तक के आरंभ में ही बाणभट्ट के जो विशद चित्र उपस्थित किये गये हैं उनकी परिपूर्णता के पीछे लेखक की कवित्व-शक्ति ही काम करती है। ऐसे दूसरे चित्र पुस्तक में भरे पड़े हैं। 'बाण भट्ट की आत्मकथा' निस्सदेह एक कवि-चित्रकार की रचना है।

बाणभट्ट के उपन्यासों के समान ही उनकी इस जीवनी में भी कवित्वपूर्ण वर्णनो का, एक विशेष प्रभाव को उत्पन्न करने के लिए, विन्यास पाया जाता है। विस्तृत एव सजीव वर्णनो की सहायता से, कुल मिलाकर वह वातावरण तैयार कर दिया गया है जो चरित्र-निर्माण को विश्वास्य बना पाता है। बाण के पर्यटन-काल से सबद्ध देश, तत्कालीन आचार-व्यवहार आदि के जो वर्णन आये हैं वे अपने में ही महत्वपूर्ण नही है किंतु बाण के अमर्यादित जीवन के अनिवार्य वातावरण की सृष्टि करते हैं। बाणभट्ट की आत्मकथा पढ़ते हुए हम सम्राट् हर्षवर्धन के समय के भारतवर्ष में पहुँच जाते हैं। इतिहास की पुस्तक पढ़ने पर भी पाठक को ऐसा अनुभव करना चाहिये। लेकिन इतिहासकार कवि नही होते हुए भी इतिहास लिख सकता है जबकि जीवनी लेखक कवि हुए बिना इतिहास ही लिख सकता है, जीवनी नही।

आत्मकथा के स्थापत्य में ये सभी तत्त्व आनुषगिक और आनुपातिक रूप में नियोजित हैं। कादम्बरीकार का स्थापत्य-कौशल अपने समय की दृष्टि से अद्वितीय और आज भी असाधारण है। जीवनी-लेखक अवश्य ही स्थापत्य संबधी ऐसे जटिल प्रयोग नही कर सकता। लेकिन स्थापत्य की सरलता उसकी कम महत्त्व-पूर्ण विशेषता नही। घटना वैचित्र्य, स्वतंत्र कल्पना आदि के अभाव में भी 'बाण भट्ट की आत्मकथा' एक महान् ऐतिहासिक उपन्यास बन पड़ा है। आत्मकथा जैसी लगने वाली यह जीवनी वस्तुतः एक उपन्यास ही है और द्विवेदी जी यहीं एक कुशल कलाकार के रूप में प्रकट भी होते हैं। उन्होने केवल ऐतिहासिक पृष्ठभूमि या केवल ऐतिहासिक पात्र को ही नहीं चुना है बल्कि दोनों की सकीर्ण परिधि में अपने को आबद्ध रखा है। फिर भी आत्मकथा में आद्य त औपन्यासिकता का अकृत्रिम निर्वाह हुआ है। द्विवेदी जी ने ऐतिहासिक यथातथ्य और सूक्ष्म बाह्य वर्णन के साथ बाणभट्ट के अभ्यंतर द्वंद और संघर्ष के विश्लेषण को जिस विलक्षणता के साथ गुंफित किया है वह उनके निर्माण-कौशल का परिचायक है।

आधुनिक और प्राचीन प्रणालियों का यही समन्वय आत्मकथा की शैली और

भाषा म भी दीख पड़ता है। बाण की अयत कृत्रिम और आलकारिक गद्य शैली के नक्ले आधुनिक आदर्श के अनुरूप गद्य के सहारे ही लेखक बरावर बाण की याद दिलाने रहने म सफल हुआ है। स्वय बाण, अपने सारे पाडित्य प्रदर्शन के रहते हुए भी, भावानुरूप परिवर्त्तनक्षम तथा लयपूर्ण गद्य लिख सकने थे। कई कई पृष्ठों तक फैले हुए वाक्यों क बल्ले जब दा दो, चार चार शब्दा क लघु, सरल वाक्य आने लगते हैं और फिर कुछ दूर वाद पहले का क्रम चल निकलता है तो पाठक इस शैलीगत विस्तार और सकोच की लय में वह चलता है। गद्य की यह लय पूर्णता, अपने आडबर तथा आभास रहित रूप म, द्विवेदी जी की शैली की बाण प्रेरित विशेषता है।

प्राचीनता क उपयुक्त वातावरण की सृष्टि के लिए द्विवेदी जी ने जिन अप्रचलित शब्दों का प्रयोग किया है वे बड़ी सावधानी के साथ, हिंदी की प्रकृति के अनुकूल वाक्यों म पिरोये गये हैं। यह बहुत कठिन काय है और बड़े बड़े साधारणत सफल लेखक भी इसका निर्वाह नहीं कर पाते। यों भी, गवेषणा और अध्यापन जैसे निर्जीव कामों में लगे रहने पर भी, द्विवेदी जी सर्जनशील गद्य लिखते हैं और उनकी यह सामान्य विशेषता तो आत्मकथा म है ही।

अगर मुझसे हिंदी क दो तीन उत्कृष्ट ऐतिहासिक उपन्यासों के नाम लेने को कहा जाय तो 'बाणभट्ट की आत्मकथा' उनम से एक जरूर होगी।

— * —

४
भगवतशरण उपाध्याय

श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी हिंदी क यशस्वी आलोचक हैं, आलोचको म अग्रणी हैं। परतु इस 'आत्म कथा' से प्रमाणित है कि द्विवेदी जी केवल साहित्य विश्लेषक ही नहीं, उसके मौलिक निर्माता भी हैं। और प्रस्तुत प्रयास म उन्होंने केवल मौलिक प्रयत्न ही नहीं किया है, एक प्राचीन सबल सर्जक से लोहा भी लिया है। बाणभट्ट अपने काल के साहित्य सर्जकों का नेता था। उसकी शैली अनुकरणीय है, यद्यपि हमारी आज की साहित्यिक अभिरुचि क वह सर्वथा विरुद्ध है—अत्यत दुरूह, अप्रिय भी, वैसे तो बाण वधि वह गया है और आलोचकों ने ही सही कहा है कि उसका कवित्व 'चण्डी शतक' मात्र तक सीमित नहीं है। उसके 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' में भी यह कवित्व सर्वत्र प्रवाहित है।

सही, परंतु उस कवित्व की रूप-रेखा निश्चय कठोर है। भाव भाषा की दुरूहता में छिप जाते हैं, शैली समस्त पदीय होने के कारण नितांत अग्राह्य है और इसी कारण अननुकरणीय भी—बाणभट्ट की सर्वथा अपनी। उसमें यद्यपि एक प्रकार का आकर्षण है परंतु प्रसाद का उसमें मेरी समझ में सर्वथा अभाव है। आज के युग में उसकी शैली ग्राह्य न हो सकेगी और इस दृष्टिकोण में संभवतः मैं अकेला नहीं हूँ।

परतु प्राचीन काल में यह शैली कभी स्तुत्य नहीं हुई थी और 'कादंबरी' तो आज भी पाठक के हृदय में एक विचित्र गुदगुदी उत्पन्न करती है। सुदूर अतीत में तो उसका आकर्षण अपनी एकांत असाधारणता के कारण भी था। सुबंधु के अतिरिक्त 'रोमांस' के क्षेत्र में किसी और ने लेखनी भी तो नहीं उठायी। श्री द्विवेदी जी की 'बाणभट्ट की कथा' भी बाण की 'कादंबरी' की ही भाँति एक रोमांस है। परंतु दोनों की समता का यह निरूपण उनकी कथा-वस्तु के संबंध में बिलकुल नहीं है; 'कादंबरी' की कथा-वस्तु सर्वथा अलौकिक और काल्पनिक है, 'आत्म कथा' की ऐतिहासिक और सामाजिक। 'आत्मकथा' की घटनाएँ ऐतिहासिक नहीं हैं, परंतु उनकी पृष्ठभूमि सर्वथा ऐतिहासिक है, उसका सामाजिक-तथ्य दर्पण की भाँति सातवीं सदी के भारतीय समाज को प्रतिबिंबित करता है—निपुणिका भट्ट के नटी-सूत्रधार के संबध से लेकर अघोर भैरव—महामाया भैरवी की तंत्र-प्रतिपदा तक। बौद्ध महायान् से मंत्रयान का जन्म हुआ, मंत्रयान से वज्रयान का और तभी स्वतंत्रभविकसित आगम-तंत्र का शाक्त पंथ उससे आ मिला। किन चमत्कारों ने इन्हें परस्पर एकत्र कर दिया यह कहना तो कठिन है परंतु दोनों के सयोग से कापालिक-औघड़ पंथ की परंपरा विकसित हुई, यह संभवतः अनेक स्वीकार करेंगे।

श्री द्विवेदी जी की पुस्तक में सिद्ध तंत्र की गहरी छाया में समाज के आचरण का बहुमुखी निदर्शन है, सर्वथा स्पष्ट। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के विचार से भी यह पुस्तक नितांत निर्दोष है। इतिहास का विद्यार्थी जब ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर ग्रंथ की आलोचना अथवा अध्ययन करता है तो उसमें और ग्रंथकार में एक प्रकार की होड़ लग जाती है—लुक्का-छिप्पी की। मुझे संतोष है कि अनवरत रंध्रान्वेषण के बाद भी मैं श्री द्विवेदी जी के ऐतिहासिक निरूपण में कहीं कोई छिद्र न पा सका, सिवाय इसके कि हर्ष का समाकालीन होकर भी लोरिकदेव ने जैसा पृ० २१४ पर लिखा है, समुद्रगुप्त का गरुड़ध्वज सिंधु और कुंभा के उस पार तक फहराया था। समुद्रगुप्त और हर्ष के समय मोटी दृष्टि से भी लोरिकदेव केवल साठ साल का है। कुंभा अर्थात् काबुल नदी के उस पार गरुड़ध्वज फैलाना सर्वथा ऐतिहासिक न होकर भी दृष्टोक्ति होने के कारण क्षम्य हो सकता है।

समर्थ साहित्यकार द्विवेदी जी ही बाण की शैली को पुनरुज्जीवित कर सकते थे। संस्कृत भाषा, काव्य अलंकार, आगम तन्त्रादि का उनका गहरा ज्ञान इस 'आत्मकथा' में फूट पड़ा है और यदि उनकी शैली की दुरूहता का दोष हम उसे तो उसका आरोप हम श्री द्विवेदी जी के ऊपर न कर बाण पर करेंगे यद्यपि प्रश्न यह हो सकता है कि यह ग्रंथ क्यों? यह प्रश्न हम साहित्य की साधकता के समक्ष ला खड़ा करेगा और साहित्य किसके लिए? 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' के कठिन प्रश्न का उत्तर देने को बाध्य करेगा। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए हम जितना ही बाण को दोषी ठहरायेंगे उतना ही श्री द्विवेदी जी को भी क्योंकि दोनों प्रस्तुत प्रयास में औद्धत्य आभिजात परम्परा के पोषक हैं। बाणभट्ट अपनी सम्भ्रांत शैली आदि अभिजातीयता से साधारण जनता से जितने दूर थे श्री द्विवेदी जी भी इस ग्रंथ में साधारण जनता से उतने ही दूर हैं। परन्तु इस पुस्तक की दोष वर्णना के मत्थे नहीं मढ़ा जा सकता। बाणभट्ट का मौलिक आधार चाहे दूषित हो उसका आधुनिक प्रतिनिधि कलाकार की कला का निखार उज्ज्वल है।

श्री द्विवेदी जी ने अतीत का निर्माण करना चाहा है उसमें वे सर्वथा सफल हुए हैं। प्राचीन अथवा वर्तमान को खोलकर रख देना साहित्यकार की प्रगति का एक रूप है और इसी कारण मार्क्स तथा लेनिन दोनों ने बालजक की कला की सराहना की थी। हाँ, हम जानते हैं कि केवल उसे खोल देना ही पर्याप्त नहीं है, उससे प्रयास निष्प्राण हो जाता है, आवश्यकता होती है इस बात की कि उस अतीत के साथ हमारे वर्तमान से सम्बन्ध स्थापित हो सके जिसमें उस अतीत के प्रवाह के भीतर से हमारे भविष्य तक विच्छिन्न न हो सके। इस सम्बन्ध से सुन्दर कृति को जिसे 'हर्षचरित', 'कादम्बरी', 'नागानन्द', 'रत्नावली', 'चण्डीशतक' आदि अनेक उपकरणों से द्विवेदी जी ने निर्मित किया है हम दूर से कुछ विस्मय के साथ देखते हैं और उससे अपनापा किसी प्रकार नहीं जोड़ पाते। आरम्भ में ही समर्थ साहित्यिक ने 'रचना' की पृष्ठभूमि एक आधुनिक आस्ट्रियन महिला की खोज से निर्मित की है। श्रीमती कथादिन ने उसे इस 'आत्मकथा' की पाण्डुलिपि शोण तट के गाँवों से खोज कर दी है। श्री राहुल सांकृत्यायन ने भी अपने 'सिंह सेनापति' में इस प्रकार की एक पृष्ठभूमि दी थी जिसने अनेक पाठकों को विस्मय में डाल दिया था। इस पद्धति का आरम्भ वास्तव में उस फ्रेंच महिला ने किया था जिसकी सुन्दर कृति 'द मोगल प्रिंसेज' इतिहास की रोमांचक प्रस्तुति है। श्री द्विवेदी जी द्वारा विरचित यह 'बाणभट्ट की आत्मकथा' बाण के दोष-गुणों का दर्पण है और इसकी यथातथ्यता की मात्रा में लेखक यथावत् ही सफल हुआ है।

हिंदी पाठक के नाम

[संपादक की खुली चिट्ठी]

ढंग कदाचित् पुराना है। सुधी पाठक, सहृदय पाठक, विज्ञ पाठक, रस मर्मज्ञ पाठक—आज के रूखे युग में कोरे संबोधन 'हिंदी पाठक' में भी इन मधुरतर पुराने संबोधन की अनुगूंज मन को पकड़ती है कि सुनो, मैं बरसों से तुम्हारे निहोरे कर रहा हूँ, मेरी बात का महत्त्व पहचानो और मुझे साधुवाद दो (और इस प्रकार स्वयं अपनी धीमत्ता, सहृदयता, विज्ञता या मर्मज्ञता को प्रमाणित करो—कैसा सूक्ष्म चारा डाला गया है पाठक की अहंता के भोले पंछी को!)

लेकिन हमें बात पुरानी नहीं कहनी है। न हमें ऐसे संबोधन की आड़ में वह व्यक्तिगत नाता जोड़ना है जिसके सहारे ग्राहक-संख्या बढ़ाने की अपील की जा सकती है, या कि अपने व्यक्तिगत पूर्वग्रहों और पक्षपातों के लिए व्यापक समर्थन प्राप्त किया जाता है। हम साहित्य के प्रति अपना निजी दायित्व मानते हैं अवश्य, लेकिन उसी निजी दायित्व, का अंग यह भी है कि जहाँ हम, या हमारा कार्य, आलोच्य विषय हो वहाँ व्यक्तिगत नाता जोड़कर आलोचना की व्यक्ति-निरपेक्षता में बाधा न डालें!

तो हमें आपकी सहृदयता की या मर्मज्ञता की दुहाई देकर आपका अनुमोदन नहीं माँगना है। बल्कि, जहाँ तक प्रशंसा और, श्लाघा का प्रश्न है, हम मान लें कि हम आप ग़ैर हैं, अपरिचित हैं।

हम आपको चिट्ठी यों लिखने बैठे हैं कि हमने पिछले डेढ़-दो बरसों में हिंदी साहित्य की गति-विधि का चित्र आपके लिए खींचते-खींचते थोड़ा बहुत यह भी अभ्यास किया है कि आपका चित्र हिंदी साहित्य के लिए खींचें! और आज हम सोचते हैं कि उस चित्र की धुँधली सी आकार रेखा अभी बनी है, उसे ज़रा आपके सामने रखें—दिल में आइने में सरकार का जो चित्र बना है, क्या उसे सरकार पहचानते हैं?

आप कौन हैं? 'कौन तुम अज्ञात-वय-कुल-शील मेरे मीत!' हम नहीं जानते—पहचान के लिए हमारे पास केवल यही एक तथ्य है कि आप 'प्रतीक' पढ़ते हैं—'प्रतीक' का संपादकीय तक पढ़ते हैं!

एक पाठक को हम जानते थे। वह पत्रिका—कोई पत्रिका—पढ़ने ही के लिए नहीं मँगाता था। उसके लिए कोई एक पत्रिका मँगाना मानों एक श्रद्धा की

घोषणा थी—जीवन के कर्मकांड का एक छोटा सा अंग था। वर्षों की दासता—विदेशी सत्ता की, निरक्षरता (सम्पूर्ण या पूर्णप्राय) की, अर्थ की, जाति, वर्ण, प्रदेश, पर्दे, निरक्षरी और अज्ञान की संकीर्णताओं की दासता से जो सांस्कृतिक जाड्य उसमें उत्पन्न हो गया था उसमें मानों हिंदी की कोई पत्रिका के लिए चंदा दे देना अपने देश, धर्म, जाति भाषा संस्कृति आदि के (इनको अलग अलग, इनके बीच या इनका संबंध समझने की शक्ति या प्रेरणा उसमें नहीं था—उसमें ही कैसे होती जब कि अपेक्षया प्रबुद्ध वर्ग भी 'हिंदी हिंदू हिंदुस्तान' को एक अखंड त्रय तक परंपरा मानता था—निरा भावना का सत्य नहीं!)—मसलन में अपने परलोक के—प्रति ऋण चुकाने का साधन था। 'हिंदी की पत्रिका? वह तो हमारे यहाँ आता है!' —हाँ हम अपने लोक परलोक के प्रति सावधान हैं अपने कल्याण की व्यवस्था हमने कर ली है!

वह पाठक, आप नहीं हैं।

एक और पाठक को भी हम जानते थे। वह हिंदी का प्रेम करता था। उसे अत्यन्त अपनी मानता था। ठीक उतना जितना अपनी घर वेगी को—और वह घर की भाँति उसे अन्तःपुर में रखता था। 'हिंदी पत्रिका? हाँ हमारे आती है—घर में पढ़ती है।' बाहर? बाहर कचहरी के लिए उर्दू फारसी है व्यापार के लिए, लेन देन महाजनी है, हाकिम के लिए अंग्रेजी है। मगर सदर्य' के जीवन की इन उलझनों का बाहर ही रखो, असूर्यपश्या अन्तःपुरिकाओं के—नहीं, गृहलक्ष्मी आर्य ललनाओं के—लिए चाँद की शीतल किरण ही यथेष्ट हैं।

वह पाठक भी आप नहीं हैं।

एक और पाठक को भी हम जानते हैं। वह पढ़ने को पढ़ना नहीं मानता—या यों कहें कि पढ़ने पढ़ने में भेद करता है। पढ़ना साध्य तो है नहीं, साधन है। काहे का?—उन्नति का। और उन्नति की परिभाषा स्पष्ट है—तरक्की, यानी नौकरी। पढ़ना असल में पढ़ाई करना है—और पढ़ाई कर चुकने के बाद ज्ञान वर्धन के या मानसिक विकास के लिए कौन पढ़ता है? दैनिक अखबार तक तो ठीक है—संसार की गति विधि से परिचित होना तरक्की के लिए जरूरी है और फिर अपनी का अच्छा होता है। उससे आगे—हाँ, तफरीहन पढ़ा जा सकता है—मनोरंजन तो आवश्यक है। नशा कुछ, मनोहर कुछ, मसाला कुछ, सिगरेट के धुएँ के साथ अगर सारी उलझनें और चिंताएँ फूँक कर उड़ा दी जा सकें—स्वप्न-जीवन का कारवाँ क्षण भर के लिए किसी हरे भरे तरु कुंज में जा ले, चाहे वह हरियाली माया मरीचिका ही हो ऐसा कुछ हो, तो अलबत्ता पढ़ा जा सकता है।

यह पाठक भी आप नहीं हैं।

लेकिन आप शायद अब तक सोचने लगे हों, यह भी लल्लो पत्तो का एक नया ढंग है – अमुक-अमुक आप नहीं हैं, यानी, आप इससे अच्छे हैं! और यह रेखाचित्र कहाँ है, अभी तक तो दूसरी रेखाएँ मिटायी ही जा रही हैं। ठीक है। अब पाटी साफ़ है।

या कि केवल लगभग साफ़ है; क्योंकि एक और पाठक का भी चित्र सामने आता है।

और यह पाठक पढ़ता ही नहीं। यों किताबें वह काफ़ी चाटता है, और भारी भारी शब्द, नाम, फ़िकरे और आँकड़े हरवक्त उसकी ज़बान से फिसले पड़ते हैं, लेकिन वह पढ़ता नहीं केवल पढ़ाता है। पढ़ाता किसे है, यह कहना ज़रा मुश्किल है, क्योंकि उसने सारी दुनियाँ को अलग-अलग डिब्बों में बाँट रखा है—एक डिब्बे में वह हैं, जो कभी पढ़ ही नहीं सकते; दूसरे में वह हैं जिन्हें पढ़ाना व्यर्थ है; एक में वह हैं जो पहले ही गलत पढ़ गये हैं और जिनकी विद्या को मिटाना है; और—एक में वह हैं जो सकल-ज्ञान विद्या-विशारद और परम-गुण-निधान हैं। इस प्रकार यह पाठक केवल पढ़ाता है, और अपने को ही पढ़ाता है, क्योंकि और किसे पढ़ाये?—और है ही कौन, मानव तो होता नहीं; केवल वर्ग होते हैं, और मानव वाद स्खलन है; और शाश्वत कुछ नहीं है, सब कुछ गत्यात्मक है; और जो यह खोज कर गये हैं उन्होंने जो कुछ कह दिया वह शाश्वत सत्य है और उसमें परिवर्तन लाना चाहना गुरुतर अपराध है।

यह पाठक भी – अगर आप अब तक हमें दुर्मुहा जनद्रोही कहकर, हमारे विरुद्ध चार-छः पन्ने के लेख की बंदूक अपने कागज़ी जनवादी मोर्चे पर लगा कर नहीं बैठ गये हैं!—आप नहीं हैं।

[२]

तो?

क्या आप सदाकांक्षी हैं? सदाकांक्षी लोग ही नरक की सड़कों के पत्थर कूटते हैं, क्योंकि वे केवल आकांक्षी होते हैं।

"अच्छे-बुरे का बोध मुझे है,
लेकिन अच्छे को पहचानकर
मैं बुरे के आगे झुक जाता हूँ
क्योंकि मैं सदाकांक्षी हूँ,—
मेरे लिए स्वर्ग की आशा किस नरक में होगी!"

क्या आप पारखी हैं ?

पारखी ही साहित्य क्षेत्र में कुकुरमुत्तों का बढ़ती देखकर भी निश्चिन्त पड़े रहते हैं, दाम्भिकों का शासन सहते हैं, आजकल के सस्ते मुलम्मे को सोना होने का दावा कर देने हैं—क्योंकि उन्हें क्या चिन्ता, पारस मणि तो उनके पास है ही, चाहे जिस धातु को सोना बना लगे !

क्या आप हिंदी के हितैषी हैं ?

हिंदी के हितैषियों को बारबार प्रणाम, जिनकी हितैषणा कुछ कम होती तो हिंदी का उन्नति कुछ अधिक हो पायी होती ! हितैषी-गण हिंदी की रक्षा के नाम पर उसके चारों ओर ऐसी दीवार खड़ी करके बैठे हैं कि वह न हिल डुल सके न बढ़ सके, न साँस ले सके, और बाहर से कुछ ग्रहण कर सकने की तो बात ही दूर ! बिना रास्ता देखे चला नहीं जाता तो बिना समालोचना के साहित्य निर्माण भी नहीं हो सकता, लेकिन हितैषियों के कारण आज समालोचना असम्भव है, क्योंकि जो 'सम' देखना चाहता है वह तो हिंदी द्रोही विभीषण है ! हमने गोरक्षा के नाम पर सारे भारतवर्ष को एक विराट् पिंजरा पोल बना डाला, जिसका गोधन सारे संसार में निकृष्ट कोटि का है, क्या हम हिंदी की रक्षा के नाम पर अपने साहित्य को भी एक पिंजरा पोल बना डालेंगे, जिसमें उत्पादक तो असंख्य होंगे, लेकिन सभी अधभूखे, अधमरे, निस्तेज, जिसका प्रतिभा अनुर्वर होगी और उत्पादन उपहासास्पद (यद्यपि उस पर हँसने का अनुमति किसी को न होगी !)—और जिसमें हम साहित्य नवनीत के बदले कारखानों का 'बिना हाथ के स्पर्श से' तैयार किया गया वनस्पति ही पाने को बाध्य होंगे ?

३

तो, सुधी और सहृदय पाठक, मर्मज्ञ पाठक, हमें आप से कहना यह है कि आप देखिए और सोचिए कि आपको क्या करना चाहिए और आप क्या कर सकते हैं। यह काफी नहीं है कि जब जब हिंदी का कोई अच्छा पत्र बंद हो तब-तब आप दुःख प्रकट कर दें और जब-जब कोई अच्छा लेखक मरे तो रुष्ट हो लें कि अंग्रेजी समाचार पत्रों ने यह समाचार चार दिन बाद और पृष्ठ १० कालम ५ में क्यों छापा। (और, हाँ, कवि सम्मेलनों में जाकर इसलिए हुल्लड़ कर आयें कि कवि गाकर क्यों नहीं पढ़ते !) आपका दायित्व इससे बड़ा है। हमारे साहित्य की दुर्बलता और विपन्नता के आप उत्तरदायी हैं, जैसे की उसकी पुष्टता और समृद्धि के आप विधायक हैं। आप ही नहीं, लेकिन आप भी। जब हिंदी उपेक्षित और अपमानित थी, तब उसको इसलिए शक्ति मिलती थी कि वह विद्रोह की भाषा थी

और अनवरत संघर्ष उसे माँजता था। अब उसे हमें माँजना होगा, नहीं तो वह मैली ही होगी। तूफ़ान में नाव को तैरते रखना ही सबसे बड़ा कर्त्तव्य होता है, लेकिन जब तूफ़ान नहीं होता, तब केवल तैरने से ही नाव कहीं पहुँच नहीं जाती, उसे खेना होता है, और ठीक दिशा में खेना होता है, जिसके लिए नकशों की आवश्यकता होती है, और······की······

इतनी ही हमारी बात है। स्वस्ति श्री सर्वोपमाजोग पाठक अमुक के जोग लिखी। हमारी चिट्ठी खुली चिट्ठी है, अतः उसमें जिसकी जो इच्छा हो पढ़ ले सकता है; पर इससे हमारी बात के भीतर का संदेश—और चुनौती—व्यर्थ नहीं हो जाती। और जो पाठक उसे समझता है और अपनाता है—अर्थात् उसके अनुसार कर्म करता है, वही 'स्वस्ति श्री सर्वोपमाजोग' हमारा पाठक है, और उसी को जोग लिखी।

—वा०

———

द्वैमासिक साहित्य-संकलन

११

शिशिर

संपादक

सियारामशरण गुप्त

नगेन्द्र

श्रीपतराय

सच्चिदानंद वात्स्यायन

अनुक्रमः

रोड, प्रयाग के लिए मगन कृष्ण दीक्षित द्वारा दीक्षित प्रेस

'लागि सिसिर रितु चित बैरागी'

[शिशिर-वर्णना]

'अंतरिच्छ के कानन उजड़ रहे हों'

झरते हैं पत्ते गिरते मानों बड़ी दूर से—
मानों ऊपर अंतरिच्छ के कानन उजड़ रहे हों;
उनके गिरने में एक अस्वीकार है।

रात पर रात, घोर अकेलेपन में
यह भारी पृथिवी गिरती जाती है तारों से बड़ी दूर।

हम सब गिर रहे हैं। यह हाथ भी गिर रहा है—
इस गिरने के धर्म से कोई मुक्त नहीं है।

किंतु तब भी, सदैव एक वह है, यह सब कुछ गिरता-गिरता भी
जिस के दयालु हाथों से नीचे नहीं गिर सकता।

रेनर मारिया रिल्के

जर्मन कवि १८७५-१९२६

'साँकलों से बँधी हवा'

विगत सप्ताह की तारों भरी नदी
आज धुंध में से निकलती है बर्फ़ की एक चादर बन कर;
....
हवा अंधकार के साथ लोहे की साँकलों से बँधी है।

बोरिस पैस्टर्नाक,

रूसी कवि बीसवीं शती,

'–जइसे खाँड के धार'

पूस मास, सखि परत तुसार,
रैनि भइलि जइसे खाँड के धार ॥

–भोजपुरी ग्रामगीत

प्रमदाजन प्रियं

प्ररूढशालीक्षुचयावृतक्षितिं
क्वचित् स्थित क्रौञ्च निनाद राजितम् ।
प्रकाम काम प्रमदा जनप्रिय
वरोरु काल शिशिराह्वय शृणु ॥

–कालिदास, ऋतुसंहार ५।१॥

सुंदरी । शिशिर ऋतु का वर्णन सुन । पृथ्वी धान और ईख के हरे-भरे खेतों से युक्त है । कहीं पर खड़े हुए क्रौंच पक्षियों की मधुर ध्वनि सुनायी पड़ रही है । काम की प्रबलता का यह काल प्रमदाओं का प्रिय है ।

–उपरि तूलपटो गरीयान्

द्वार गृहस्य पिहित शयनस्य पार्श्वे
वह्निर्ज्वलत्युपरि तूलपटो गरीयान् ।
अङ्केऽनुकूलमनुराग वशात्कलत्र
मित्थ करोति किमसौ स्वपतस्तुषार

–वाण

सोते हुए गृही के शयन भवन का द्वार शय्या के समीप बंद है । आग जल रही है । ऊपर मोटी रजाई पड़ी हुई है । प्रेम के कारण प्रिया गोद में लेटी हुई है । यह शिशिर की कृपा है ।

'—चित बैरागी'

लाग सिसिर ऋतु चित बैरागी। पवन उदास भए अब लागी॥

—निसार, 'युसूफ़ जुलेखा'

शीत की जिरह के थपेड़े

पेड़ों पर जम गया है कुहासा
निर्दयता से कुचलता हुआ स्वप्नों को
पत्तों के, जो उपेक्षित झर गये
मानों रूमानी कहानियाँ, जो अब दुबारा नहीं कही जायँगी।
गलियारे के नंगे पेड़ विचार-लीन खड़े हैं।
उनकी प्रभूत हरियाली की मुखरता है शांत है, फँस कर
निर्दय चक्रवात में ; नंगे वृक्ष सहते हैं
लंबी जिरह के थपेड़े दुरंत शीत के।

—डी० एच० लारेंस,
अंग्रेजी कवि, बीसवीं शती

'—होत सून हाथ-पाइ ठिरि कै'

सिसिर तुषार के बुखार से उखारत है
पूस बीते होत सून हाथ-पाइ ठिरि कै
द्यौस की छुटाई की बड़ाई बरनी न जाइ,
सेनापति पाई कछु सोचि के सुमिरि कै।
सीत तैं सहस-कर सहस-चरन ह्वै कै,
ऐसे जात भाजि तम आवत है घिरि कै।
जौ लौं कोक कोकी कौं मिलत तौ लौं होति राति
कोक अधबीच ही तैं आवत हैं फिरि कै॥

—सेनापति

कुसुमय-फलिनीर लिनीरवैर्मदविकासिभिराहित हुंकृतिः
उपवने निरभर्त्सयतप्रियान्वियुवतीर्युवतीः शिशिरानिलः॥

उपचितेषु परेष्वसमर्थतां व्रजति कालवशाद्बलवानपि
तपसि मन्दगभस्तिरभीषुमान्नहि महाहिमहानिकरोऽभवत् ॥
अभिषिषेणयिषुं भुवनानि यः स्मरमिवाख्यत लोध्ररजश्चयः
क्षुभितसैन्यपरागविपाण्डुरद्युतिरयं तिरयन्नुदभूद्दिशः ॥
शिशिरमासमपास्य गुणोऽस्य नः क इव शीतहरस्य कुचोष्मणः
इति धियास्तरुषः परिरेभिरे घनमतो नमतोऽनुमतान्प्रियाः ॥
अधिलवङ्गमयी रजसाधिकं मलिनिता सुमनोदलतालिनः
स्फुटमिति प्रसवेन पुरोऽहसत्सपदि कुन्दलता दलतालिनः ॥
गतवतामिव विस्मयमुच्चकैरसकलामलपल्लवलीलया
मधुकृतामसकृद्गिरमावली रसकलामलपल्लवलीलया ॥

—माघ, शिशुपालवध सर्ग ६

'उट्ठिउ झखड—'

सिसिर पहुत्तउ घुत्तु णाहु दूरंतरिउ।
उट्ठिउ झखड गयणि खरफरसु पवणिद्धय,
तिणि सूडिय झडि करि ओरस तहि रूय गय ॥
छाय पुप्फ फल-रहित असेविय मंडणियण,
तिमिरंतरिय दिसाय तुहिण घूइण भरिण।
मग्ग भग्ग पथियह ण पविसिहि हिमडरिण
उज्जाणहँ दसर छिअ सोसिय कुसुमवण ॥
मसमुक्क सठविउ'वि वहुगवक्खरिमु,
पिज्जइ अद्धावट्टउ रसियहि इक्खु-रसु।

—अब्दुर्रहमान (मुलतान, ग्यारहवीं शती)

ठूँठ

ठूँठ यह है आज!
गयी इसकी कला,
गया है मरल साज!

अब यह वसंत से होता नहीं अधीर,
पल्लवित झुकता नहीं अब यह धनुष-सा,
कुसुम से काम के चलते नहीं हैं तीर,
छाँह में बैठते नहीं पथिक आह भर,
झरते नहीं यहाँ दो प्रणयियों के नयन-नीर,
केवल वृद्ध विहग एक बैठता कुछ कर याद !

—सूर्यकान्त त्रिपाठी, 'निराला'
अनामिका

आ गये उदास दिन

आ गये उदास दिन, वर्ष भर में सबसे विषन्न,
सिसकती हवाओं के, नंगी वन-वीथी के, सूखी भूरी घास के !

—विलियम ब्रायंट,
अमरीकी कवि,

'चिड़चिड़ी कटु बात'

'चिड़चिड़ी कटु हो गयी है शिशिर-सीरी वात,
किंतु मीठी धूप सहलाती ठिठुरते गात !

—नरेन्द्र शर्मा
कामिनी

'कंपत कंबल बीच अहीर हैं—'

तनि गए सित ओस-वितान हू
अनिल-झार-प्रहार धरा परी
लुकन लोग लगे घर बीच हैं
विवर भीतर कीट पतंग से ॥
युग भुजा उर बीच समेटि कै,
लखहु आवत गैयन फेरि कै

कँपत कचल बीच अहीर हैं,
भरमि भूलि गयी सब तान है ॥
तम चहुँ दिशि कारिख फेरि कै
प्रकृति-रूप कियो धुँधलो सबै।
रहि गए अब शीत-प्रताप तें
निपट निर्जन घाटऽरु बाटहू ॥

—रामचन्द्र शुक्ल

लघुनि तृणकुटीरे क्षेत्र कोणे यवाना
नवकलमपलालस्रस्तरे सोपधाने।
परिहरति सुपुप्त हालिक द्वन्द्वमारात्
कुचकलशमहोष्माबद्धरेखस्तुषारः ॥

—भवभूति

'—ईंधन के लाले'

पड रहे हैं पाले
और ईंधन के लाले
सूख गये झारखड
अलाव जल रहे प्रचड
पाला हलकाया मानों, टाँग जाते साल की पकड़ ली!

काटे तो काट खाये;
और पड़ें पाले
ईंधन के लाले
और जले आग—
पास आ रहा वसत है!
पाले ने धरा का दिल तोडा हो, पर मेरा नहीं, मेरा नहीं!

अल्फ्रेड लॉर्ड टेनीसन
अंग्रेज कवि, 'द विंटो', (१८७०)

मोतीचंद

भारतीय पुरातत्त्व का विकास और उसकी समस्याएँ

भारतीय पुरातत्त्व की समस्याओं के गंभीर मनन के पहले हमें यह जान लेना उचित है कि प्राचीन स्थानों की खुदाई में उद्देश्य क्या है। आजकल कोई भी पुरातत्त्व-शास्त्री यह नहीं मानता कि केवल जमीन खोद-कर वस्तुएँ बाहर निकाल लेने से ही हमारी वैज्ञानिक मनोकामना की तृप्ति होती है। एकाएक किसी खजाने या गहनों के ढेर के मिल जाने से जनता में कुतूहल तो अवश्य होता है; पर ऐसे कुतूहलों पर पुरातत्त्व-विज्ञान नहीं खड़ा होता। उसे तो इन कुतूहलों के पीछे एक सत्य की परंपरा दीख पड़ती है, जिसकी वैज्ञानिक जाँच-पड़ताल ही उसका प्रधान उद्देश्य है।

तक्षशिला से मिले सोने के गहने तथा मोहेनजोदड़ो और हड़प्पा की प्राचीन इमारतें पहले-पहल हमारी दृष्टि में चकाचौंध डाल देती हैं, पर बाद में वे उन सब तरतीबवार वस्तुओं का एक अंग बन जाती हैं जिनके सहारे से इतिहास तैयार होता है। खुदाई खजाने के लिए नहीं की जाती, उसका तो उद्देश्य होता है उन प्राचीन वस्तुओं का, चाहे वह कितनी ही क्षुद्र क्यों न हों, संकलन और वैज्ञानिक अध्ययन जिनसे प्राचीन समाज और इतिहास का रूप खड़ा होता है।

आज प्राकृतिक विज्ञान हमारे सामने संसार का भेद खोलते चले जा रहे हैं। इस दुनिया को हमारे बाप-दादे कुछ दिनों पहले झूठी मानते थे, क्योंकि वह उनके रूढ़िगत विश्वासों में कुछ दूसरी ही थी; पर आज हम उसे इसलिए सच्ची मानते हैं, क्योंकि उसकी सत्ता बुद्धि और तर्क पर अवलंबित है। विज्ञान समय की गणना करोड़ों वर्षों और अनंत में करता है, पर इसके यह माने नहीं कि हम इसके फेर में आज या कल की बात

इस लेख के लिखने में मैंने निम्नलिखित प्रकाशनों से मदद ली है, एतदर्थ मैं उनके प्रकाशकों का आभारी हूँ—(१) सर लियोनर्ड वूली, डिगिंग अप दि पास्ट, लंदन, १९३०; रिवीलिंग इंडियाज़ पास्ट, संपादक सर जान कमिंग, लंदन, १९३९; एंशंट इंडिया १९४६-४७ के तीन अंक।

भूल जायँ और यह हो भी नहीं सकता। इसके तो केवल यही माने हैं कि अनत हमारी चेतना का एक अग है और जितना ही हम उसको वैज्ञानिक ढग से समझने की कोशिश करेंगे, उतना ही हम अपने को समझने में समर्थ हो सकेंगे। पुरातत्त्व भी समय के पैमाने में अपने को समझने का एक छोटा-सा जरिया है, इसकी दौड लाखों वर्ष न होकर केवल कुछ हजार वर्ष है, और विषय भी स्थावर जगत न होकर आज का मनुष्य है। हम तीन-चार हजार वर्ष पुराने बरतन अथवा मनके खोदते हैं और प्रेक्षक सग्रहालयों मे उन्हें देखकर इसलिए प्रसन्न होता है कि वे पुरानी हैं। लेकिन वास्तव मे अगर देखा जाय, तो उनकी महत्ता उनके नयेपन मे है, क्योंकि अगर हम केवल काल को पैमाना मानकर चलें तो तीन या चार हजार वर्षों की महत्ता भूगर्भ-शास्त्र के लाखों-करोडों के सामने क्या ठहर सकती है? पुरातत्त्व की खोज से मिली वस्तुओं की तो यही महत्ता है कि वह हमारे ऐसे ही आदमियों और हमारी जैसी ही सभ्यता के इतिहास पर प्रकाश डालती हैं।

कुछ हठधर्मियों का कहना है कि हमे अपने भूतकाल से कुछ मतलब नहीं, हमे तो वर्तमान और भविष्य की सुधि लेनी है। जो प्राचीनता के उपासक हैं वे निठल्ले और बुर्जुवा हैं। हमारे एक युग-प्रवर्तक कवि श्रीसुमित्रानन्दन पत ने भी कहा है—"नष्ट-भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन।" लेकिन हम चाहे जितनी कोशिश करें, पुरातन से हम अपने को अलग नहीं कर सकते, क्योंकि हम और हमारे पुरखे उसी की छाया मे पले हैं। हम उसी की अनुभूतियों से अपनी अनुभूतियों कि तुलना करते है। पुरातन से बाँधनेवाली उस अदृश्य डोर से हम खीमते है, उसे तोड डालना चाहते है, पर फिर भी ऐसा करने मे अपने को असहाय पाते हैं। तर्कहीन रूढिगत भूत जब हमे ऐसा करने पर बाध्य करता है तो विकास का क्रम रुक जाता है और हम जहाँ के तहाँ रह जाते हैं। विकास के लिए यह आवश्यक है कि हम उस भूतकाल से प्रेरणा लें, जो एक प्रकार से हमारा था, जिसकी गति हमारी ही जैसे स्थितिवालों ने निर्धारित की थी और जिसके नियम और धर्म हमारे आधुनिक नियम और धर्मों से पास थे। कहने का मतलब यह है कि हम अपने भूत से बहुत कुछ सीख सकते हैं, और अगर हममें तर्क-सम्मत बुद्धि है तो हम उन रूढियों को भी छोड सकते हैं जो प्रगति के मार्ग मे रोडे अटकाती रहती है। पुरातत्त्व हमे सिखाता है कि हमारे पुरखे जब तक नवीनता को अपनाते रहे

तब तक उनकी बराबर उन्नति होती रही; पर जिस दिन 'बाबा, वाक्यं प्रमाणं,' को उन्होंने मूल-मंत्र मान लिया, उसी दिन प्रगति रुक गयी और हम अधःपतन की ओर जाने लगे।

आज से पचास-साठ वर्ष पहले हमारी राजनीति और धर्म के स्रोत हमारे वेद और पुराण थे। अपनी बातों की पुष्टि के लिए हम उनमें से ही दृष्टान्त खोजते थे। इनके आगे हम रुक जाते थे, क्योंकि हमारा विश्वास था कि वेद अनादि हैं और नियम, संयम और धर्म के बारे में जो कुछ कहा जा सकता था, वेदों और पुराणों में कह दिया गया है। सनातन धर्म उनके लिए एक गढ़ा-गढ़ाया पूर्ण विकसित धर्म था, और ऐसे धर्म में ऐतिहासिक प्रगति की खोज करना वे समय का अपव्यय मानते थे। लेकिन आज इस बात को नयी दुनिया का आदमी मानने को तैयार नहीं है। पुरातत्त्व तथा मनुष्य-शास्त्र उसे बतलाते हैं कि १५०० ई० पू० में आर्यों के आने पर ही इस सभ्यता ने अपने पैर नहीं जमाये, बल्कि करीब ५००० बरस पहले सिन्धु-सभ्यता के काल में भी हम सभ्यता के ऊँचे शिखर पर पहुँच चुके थे और हिन्दू-धर्म के बहुत से अंग जैसे—शिव-पूजा इत्यादि वैदिक न होकर उस प्राग्वैदिक सभ्यता के अंग थे, जो सिंध की घाटी में बहुत दिनों तक चली। यह सभ्यता अज्ञात कारणों से करीब १५०० ई० पू० में खत्म हो गयी, लेकिन उसकी बहुत-सी देनें वेद-सम्मत हिन्दू-धर्म में आ गयीं और उसकी मुद्राओं के बहुत-से चिन्हों का प्रयोग तो हम करीब २०० ई० पूर्व तक आगत सिक्कों में करते रहे। अगर हम मौर्य काल (ई० पू० ४ शताब्दी) के आगे पुरातत्त्व से सहारे बढ़ें, तो हमें पता लगेगा कि हमारी सभ्यता की जड़ बहुत आगे तक चली गयी है। उस सभ्यता ने देश, काल और विकास के अटल सिद्धान्तों से अनुप्राणित होकर इस देश में रंग-बिरंगे पुष्प खिलाये हैं; लेकिन वास्तव में वे एक ही प्राचीन वृक्ष के बीज हैं। इस मूल वृक्ष की जाँच-पड़ताल करने के बाद हम वर्तमान और भविष्य की प्रगति की अच्छी तरह जाँच सकते हैं और उसे नियंत्रित कर सकते हैं। लेकिन यह सब तभी हो सकता है जब भारतीय पुरातत्त्व हमें मौर्य युग के और आगे ले चले। अभी तो हमारा पुरातत्त्व-शास्त्र शैशवावस्था में है और उसे यह भी पता नहीं है कि प्राग्मौर्य युग की सभ्यता क्या थी। इस तरह का ज्ञान केवल इतिहास के विद्यार्थियों के लिए ही नहीं है। अगर हम आज संसार को एक मानते हैं, तो जो कुछ ज्ञान विज्ञान प्रचीन काल में संसार के किसी कोने में परिवर्धित हुए, वे समान रूप से सारे संसार की

विरासत हैं और अगर यह बात सत्य है, तो पुरातत्त्व जो इस ज्ञान को मूर्त रूप देता है, यह भी सारी दुनिया के जानने का विषय है। पुरातत्त्व हमें इसलिए और भाता है कि वह प्रकृति विज्ञान की तरह हमें अनंत की ओर न ले जाकर मनुष्य की कृतियों से भेंट कराता है। मिट्टी के सभ्यता-प्रतीक माकर-युक्त बने मकान, नल और सड़कें तथा बच्चों के खिलौने हमें अपनी आज की स्थिति की याद दिलाते हैं। म्यूजियम में सजी प्राचीन वस्तुओं में से उन्हीं वस्तुओं को दर्शक अधिक पसन्द करता है जिनकी तुलना वह अपने आसपास की वस्तुओं से कर सकता है और जब उसे उनके पुरानेपन का पता चलता है, तो उसकी आँखें खुल जाती हैं और आँख खुलने का ही दूसरा नाम ज्ञान है।

अब प्रश्न यह उठता है कि अगर खुदाई से वे वस्तुएँ मिलती हैं, जिनका उपयोग इतिहासकार करता है, तो फिर चीज़ें जैसे-तैसे खोदकर निकाली भी जा सकती हैं, फिर खुदाई में इतने तूल-तमाल की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न का तो यही जवाब हो सकता है कि एक इमारत का नक्शा एक मामूली कारीगर भी जैसा-तैसा बना ही ले सकता है, फिर हम स्थापत्य-विद्या विशारद के पास क्यों जाते हैं? बात यह है कि जब हम ऐसा प्रश्न पूछते हैं, तो यह भूल जाते हैं कि आधुनिक पुरातत्त्व-शास्त्र वैज्ञानिक युक्तियों पर अवलंबित है और केवल वे ही लोग खुदाई कर सकते हैं, जिन्हें उस विषय की शिक्षा मिली है। आजकल तो पुरातत्त्व के माने हैं वैज्ञानिक रीतियों से प्राचीन वस्तुओं की शोध, और इसका सिद्धांत यह है कि किसी वस्तु की उपादेयता केवल उसी तक सीमित नहीं होती, बल्कि उपादेयता उसके सब की वस्तुओं को लेकर होती है और इस बात का पता केवल वैज्ञानिक ढंग से की गयी खुदाई से ही चल सकता है। साधारण खुदाई करने का उद्देश्य होता है कीमती वस्तुएँ पाना और जहाँ वे चीजें मिलीं अथवा न भी मिलीं, उसका उद्देश्य समाप्त हो जाता है। साधारण जन की तरह पुरातत्त्वान्वेषक भी अलभ्य और सुन्दर वस्तुएँ खुदाई में पाने से प्रसन्न होता है, लेकिन उसमें और सदा के लिए खोदनेवाले में फरक इतना ही है कि वह वस्तु के इतने महत्ता न कर उनके द्वारा हमारा ज्ञान कितना आगे बढ़ सकता है, इस पर अधिक ध्यान देता है।

वैज्ञानिक खुदाई का एक आदर्श है कि किसी स्थान से मिली वस्तु का ठीक तौर से वर्णन जिसे सब कोई पढ़ सकता है, लेकिन यों ही खोदकर पायी हुई

वस्तुओं के न तो स्थान का ही ठीक पता चल सकता है और न यही पता चल सकता है कि उनका ऐतिहासिक महत्त्व क्या है। विद्वान ऐसी वस्तुओं के समय और स्थान बूझने की कोशिश करते हैं, पर उनमें एक मत शायद ही कभी होता हो। हमारे संग्रहालयों में ऐसी वस्तुओं की भरमार है। उनकी कलात्मकता से तो प्रेरणा मिलती है, पर उनसे ऐतिहासिक ज्ञान की उतनी अभिवृद्धि नहीं होती जितनी वैज्ञानिक खुदाई से निकली वस्तुओं से।

खजाने के लिए खुदाइयाँ तो बहुत प्राचीनकाल से होती आयी हैं, लेकिन वैज्ञानिक खुदाई का आरंभ तो केवल ७० वरस की बात है, और इस थोड़े समय में ही इससे बहुत-से आश्चर्यजनक नतीजे निकले हैं। हजारों वरसों का इतिहास, जिसकी सौ वरस पहले कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था, आज के वैज्ञानिक पुरातत्त्व के कारण हमारे सामने हैं। इतना ही नहीं, प्राचीन इतिहासकार तो लड़ाई, झगड़े और राजाओं के कारनामे देकर ही अपने काम की इतिश्री समझते थे। उस समय के सामाजिक और दैनिक जीवन के कुछ अंगों की झलक हमें तत्कालीन साहित्य से मिल जाती है। खोदनेवाला सिक्के और लेख निकालता ही है, जिनसे हमारे ऐतिहासिक ज्ञान की अभिवृद्धि होती है, पर साथ-ही-साथ उसे तात्कालिक कला-कौशल के सामान, पूजा के स्थान, रहने के घर तथा जनता के दैनिक उपयोग की सामग्रियाँ भी मिलती हैं, जिनके सहारे वह उस काल की सभ्यता का पूरा चित्र खींच सकता है। यह सब ऐसी सामग्री है जिसका उल्लेख न तो किसी इतिहासकार ने किया है और न साहित्य ने। श्रीराखालदास बनर्जी ने जब मोहेनजोदड़ो-सभ्यता का पता पाया, उसके पहले उस सभ्यता के बारे में हमें कुछ भी पता न था। सर जान मार्शल, डा० मेके तथा श्रीवत्स की वैज्ञानिक खुदाइयों से हमें प्रागैतिहासिक सिंधु-सभ्यता का सुंदर चित्र मिल जाता है। हमें पता चल जाता है कि सिंधु-सभ्यतावालों के घर कैसे थे, वे किन देवताओं की पूजा करते थे, क्या खाते-पहनते थे और शहर की सफाई की उस युग में क्या व्यवस्था थी। मोहेनजोदड़ो से मिले एक धातु के बरतन से चिपके कुछ धागों की वैज्ञानिक जाँच से यह भी पता चल गया कि सिंधु-सभ्यतावाले कपास से कपड़े बनाते थे और इससे यह बात भी तै हो गयी कि ग्रीक शब्द सिंडान और बाबुली शब्द सिंधु, जो कपड़े के लिए व्यवहार में आते थे, वास्तव में स्थान-वाचक हैं। इसके विपरीत भारतवर्ष में और कई जगह खुदाई हुई हैं, पर वे वैज्ञानिक नहीं

कही जा सकती, क्योंकि उनसे चीजें तो मिली हैं, पर उनकी मदद से यह दिखलाने की चेष्टा नहीं की गयी और न ऐसा वर्णन ही लिखा गया है जिसकी मदद से हम मौर्य, शुंग, आन्ध्र, कुषाण और गुप्त युग के सामाजिक और दैनिक जीवन का समुचित चित्र खींच सकें। आज के दिन भी हमारे इतिहासकार इन युगों के जीवन-वृत्त के लिए केवल अर्धचित्र अथवा साहित्य की मदद लेते हैं। अगर तक्षशिला, भीटा तथा बसाढ में मोहेन-जोदडो के ढग की खुदाई की गयी होती, तो हम अपने सामाजिक इतिहास को अधिक पूर्ण रूप में देख सकते।

२—भारतीय पुरातत्त्व-विभाग

इस देश में पुरातत्त्व विभाग का इतिहास थोड़े दिनों का है। १८६२ ई० में जेनरल अलेक्जेंडर कनिंघम इस विभाग के अध्यक्ष बनाये गये और १८७१ में इन्हें 'डाइरेक्टर जनरल आर्कियोलोजिकल सर्वे, इंडिया' बनाया गया। इससे यह न समझना चाहिए की उनकी देख रेख में सारा देश था, वरन् यह कहना ठीक होगा कि उनका अधिकार उत्तर और मध्य भारत तक ही सीमित था। १८७४ में मद्रास और बम्बई में पुरातत्त्व-विभाग डा० जेम्स बर्जेस के तत्वावधान में खुले।

जेनरल कनिंघम ने भारत के ऐतिहासिक भूगोल पर खोज की, और युवान-च्वांग के आधार पर बहुत से बौद्ध तीर्थों की पहचान की। उन दिनों वैज्ञानिक पुरातत्त्व का नाम भी न था और कनिंघम की बोधगया, सारनाथ, साँची और तक्षशिला की खुदाइयों से भारतीय पुरातत्त्व को फायदे से अधिक नुकसान ही हुआ, क्योंकि उनसे बहुत से ऐसे प्राचीन सबूत नष्ट हो गये, जिनकी वैज्ञानिक खुदाई द्वारा भारतीय इतिहास पर काफी प्रकाश पड सकता था। लेकिन इससे यह मानें नहीं कि इस तरह की खुदाइयों का सारा दोष कनिंघम और डा० बर्जेस का था। ठीक बात तो यह है कि युरोप, एशिया और मिश्र सब जगह इसी तरह की खुदाई का दौर दौरा था और जेनरल कनिंघम इस प्रथा के विरुद्ध जाने में असमर्थ थे। यथार्थ में कनिंघम ने भारतीय पुरातत्त्व के लिए पथभृत का काम किया और तल तक पहुँचकर उन्होंने बहुत सी ऐतिहासिक बातों का पता लगाया।

जेनरल कनिंघम की १८६२ से १८८४ तक की २३ भागों में रिपोर्टें इस बात की साक्षी हैं कि उन्होंने कितनी मेहनत से ऐतिहासिक वस्तुओं और

अनुश्रुतियों का संकलन किया और उनके आधार पर भारतीय पुरातत्त्व और इतिहास के अनेक प्रश्नों को हल करने का प्रयत्न किया। ये रिपोर्टें उत्तर और मध्य भारत तक ही सीमित हैं।

१८८५ में कनिंघम के अवकाश ग्रहण करने पर डा० बर्जेस ने उनका पद सँभाला। उनके काल में पुरातत्त्व-विभाग के साथ प्राचीन इमारतों की रक्षा का भार भी जोड़ दिया गया और मद्रास, बंबई, पंजाब (राजपूताना और सिंध) के साथ उत्तरी-पश्चिमी सूबा (अब युक्त-प्रांत, मध्य-प्रांत और मध्य भारत के साथ) और बंगाल (आसाम के साथ) में पड़ताल करनेवाले नियुक्त किये गये। इस समय तक भी भारत-सरकार का विचार इस विभाग का सर्वदा के लिए कायम रखने का नहीं था। इरादा पड़ताल का काम समाप्त होने पर विभाग को तोड़ देने का और उसका काम सूबों की सरकारों को सौंप देने का था।

डा० बर्जेस ने अपनी जाँच-पड़ताल को एक सीमित क्षेत्र तक रखा। १८७४ से १८८२ के दर्मियान आर्कियोलाजिकल सर्वे के न्यू सीरीज से २३ मोनोग्राफ निकले, जिनमें १३ तो डा० बर्जेस ने खुद लिखे और बाकी उनके साथियों ने। इन पुस्तकों में भारत के कुछ ही भाग लिये गये, लेकिन उनमें इतना अच्छा मसाला एकत्र कर दिया गया था, जिससे कि बहुत बरसों तक वे अपने विषयों की सर्वश्रेष्ठ पुस्तकें बनी रहीं।

१८९० में डा० बर्जेस ने अवकाश ग्रहण किया और उसी दिन से पुरातत्त्व विभाग की अवनति होने लगी। आधे पड़ताल करनेवाले हटा दिये गये और पुरातत्त्व का काम सूबे की सरकारों को सौंप दिया गया, और प्राचीन स्मारकों की सूचियाँ बनाने का और रक्षा करने का काम कैसा हो रहा है, इसे देखनेवाला कोई केन्द्र-स्थित कर्मचारी नहीं रह गया। उस समय सूबे की सरकारें जो कुछ भी पुरातत्त्व के विषय में कर रही थीं, उनका वर्णन उनकी वार्षिक रिपोर्टों में है। इनके पढ़ने से पता लगता है कि अपने प्राचीन स्मारकों और जगह-जगह से मिली हुई प्राचीन मूर्तियों के प्रति युक्तप्रांत की सरकार विशेष रूप से जागरूक थी।

पुरातत्त्व-विभाग को पुनः संगठित करने की योजना १८९९ में अमल में लायी गयी। इसके अनुसार पुरातत्त्व-विभाग पाँच केन्द्रों में यथा—मद्रास, बंबई, पंजाब, युक्तप्रांत और बंगाल में बाँट देने का निश्चय हुआ। पड़ताल करनेवाले सूबों की सरकारों के अधीन कर दिये गये और उनका काम

पुरानी जगहों की सूची बनाने और प्राचीन स्मारकों की रक्षा करने तक सीमित कर दिया गया। प्राचीन शिलालेखों को पढ़ने के लिए भी एक विद्वान की नियुक्ति कर दी गयी। पुरातत्व-विभाग के भाग्य से उस समय लार्ड कर्जन भारतवर्ष के वाइसराय बनकर आये और उन्होंने आते ही एलान कर दिया कि उनके पद ग्रहण करने के बाद से पुरातत्त्व सम्बन्धी खोज और प्राचीन स्मारकों की रक्षा का भार भारत-सरकार का होगा। १८६६ के अंत तक लार्ड कर्जन ने पुरातत्त्व विभाग की उन्नति के लिए अपनी योजना भारत मन्त्री को दे दी। इस योजना का उद्देश्य पुरातत्व कि प्रगति बढाना और सूबों से उसका प्रबंध हटाकर केन्द्रित करना था। योजना ने पुरातत्त्व सम्बन्धी कार्यों को केंद्रित करने के लिए डायरेक्टर-जेनरल के पद की पुन स्थापना की माँग की। १६०२ मे योजना कार्यान्वित हुई और मि० जान मार्शल (अब सर) पुरातत्व-विभाग के डायरेक्टर जेनरल बनाये गये। इस योजना के अनुसार देशी रियासतों मे भी पुरातत्त्व-सम्बन्धी काम पुरातत्व-विभाग ने अपने हाथ में ले लिया। लार्ड कर्जन ने प्राचीन स्मारकों की रक्षा के लिए भी कानून बनाया, जो 'एशेंट मानुमेंट्स प्रिज़र्वेशन ऐक्ट' के नाम से प्रसिद्ध है।

१६०२-१६०३ तक पुरातत्त्व विभाग को बहुत से काम करने पड़े। प्राचीन स्मारकों की रक्षा, पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोज, खुदाई तथा प्राचीन लेखों का पढ़ना इत्यादि सभी काम इस विभाग को करने पड़ते हैं। पर इन सब कामों को एक साथ हाथ मे लेना, और सो भी भारतवर्ष जैसे बड़े देश मे कठिन था। १६०३-४ मे इस विभाग का पूरा बजट कुल चार लाख रुपया था, जिसमे तीन चौथाई सूबों से मिलता था और इसके अधिकार में अफसर के नाते कुल छः आदमी थे। सर जान मार्शल ने आते ही समझ लिया कि पुरातत्त्व-विभाग को आगे बढ़ाने के लिए अधिक पैसों और अफसरों की आवश्यकता थी और रुपया तभी मिल सकता था, जब खुदाई मे भारी-भरकम चीजें मिलें। बहुत दिनों तक पुरातत्त्व-विभाग इसी उद्देश्य को लेकर चला और इसमे शक नहीं कि इससे वैज्ञानिक खुदाई को काफी नुकसान पहुँचा।

१६०३ में कुछ नये विद्वान् अफसर नियुक्त किये गये जिनमें डा० डी० आर० भंडारकर और डा० आरेल स्टाइन मुख्य थे। कुछ वृत्ति देकर

विद्यार्थियों को पुरातत्त्व-विभाग के अंतर्गत शिक्षा देने का भी प्रबंध हुआ। इस प्रयत्न के फल स्वरूप कुछ दिनों बाद एक-दो विश्वविद्यालयों ने भी पुरातत्त्व की शिक्षा को स्थान दिया।

सर जान मार्शल के नियुक्त करने का पहला उद्देश्य था इस देश में वैज्ञानिक रीति से खुदाई करवाना। इसी उद्देश्य को लेकर सर जान मार्शल ने चारसद्दा, सारनाथ, कसिया, बसाढ़ तथा लौरिया नंदनगढ़ इत्यादि की खुदाइयाँ करवायीं। इन प्राचीन बौद्ध स्थानों को खोदने में दो अभिप्राय थे—(१) इन स्थानों के बारे में चीनी यात्रियों के यात्रा-वृत्तांतों से बहुत कुछ पता चल चुका था इसलिए काम करने में आसानी थी। (२) खुदाई का यह भी उद्देश्य था कि ऐसी रोचक वस्तुएँ मिलें जिनसे लोगों की रुचि पुरातत्त्व की ओर बढ़े और इस तरह इस विभाग को सरकार से अधिक सहायता मिल सके। सर जान ने इस विचार को आगे रखकर खुदाइयाँ कीं, जिनके फलस्वरूप सुन्दर मूर्तियाँ, गहने तथा और भी वस्तुएँ मिलीं। लोगों का ध्यान पुरातत्त्व-विभाग की ओर आकर्षित हुआ और इस तरह धीरे-धीरे पुरातत्त्व-विभाग सुगठित होने लगा, और उसे ऐसे काम करने के भी मौके मिले जिनकी उपयोगिता केवल विज्ञान और इतिहास को आगे बढ़ाने में ही थी।

१९०५ में पुरातत्त्व-विभाग का संगठन और आगे बढ़ा और कुछ केन्द्रों में और अफसरों की नियुक्ति हुई तथा डा० स्टेन कोनो और डा० डी० बी० स्पूनर ऐसे विद्वान पुरातत्त्व-विभाग में आये।

लार्ड कर्जन के अवकाश ग्रहण करने के छः बरस के अंदर ही इस बात का प्रयत्न हुआ कि पुरातत्त्व-विभाग पुनः सूबों के हवाले कर दिया जाय; पर भारत-मंत्री ने यह न माना। भारतीय और अंग्रेजी पत्रों ने भी इस विकेन्द्रीकरण का विरोध किया।

१९१४ के प्रथम महायुद्ध के समय पुरातत्त्व-विभाग का काम बहुत कुछ शिथिल पड़ गया; पर १९१८ की सुलह के बाद १९२१ में पुरातत्त्व-विभाग की स्थिति और भी सुदृढ़ बनी और छः नये अफसर नियुक्त हुए। पहले इसके कि कुछ काम हो सके इंचकेप कमिटी ने इस विभाग का ६० प्रतिशत खर्च घटा देने का प्रस्ताव रखा, लेकिन भारत-मंत्री और लार्ड रीडिंग की सहायता से केवल २२½ प्रतिशत कट सहकर पुरातत्त्व-विभाग बच गया।

इंचकेप कमिटी की तरह मंत्र लोगों की शनि-दृष्टि पुरातत्त्व-विभाग पर नहीं थी। भारत के अर्थ-मंत्री सर बेसिल ब्लेकेट का विचार १९२६ में पचास लाख की एक निधि पुरातत्त्व-विभाग को चलाने के लिए कायम करने का था। यह प्रस्ताव तो पास न हो सका, पर भारतीय धारासभा समय-समय पर पुरातत्त्वा-न्वेषण के लिए बराबर रुपए देती रही।

१९३१ में मंदी के बाद पुरातत्त्व-विभाग को भी अपना काम बहुत कुछ समेट लेना पड़ा और नयी खुदाइयाँ तथा अनुसंधान तो एक तरह से बंद कर देने पड़े। दूसरे महायुद्ध के कुछ पूर्व भारत-मंत्री ने इस विभाग के कार्यों की जाँच के लिए सर लियोनर्ड वूली की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की। इस कमेटी की रिपोर्ट में इस देश में खुदाई के ढंग की अवैज्ञानिकता पर कड़ी आलोचना की गयी। इसमें भारतीय पुरातत्त्वविदों की खामियों की ओर भी ध्यान दिलाया गया, और प्राचीन भग्नावशेषों को नये सिरे से मरम्मत करने की प्रथा को भी दोषपूर्ण बतलाया गया। वूली कमिटी की रिपोर्ट को ध्यान में रखकर स्वर्गीय राव बहादुर काशीनाथ दीक्षित ने अहिछत्र (रामनगर, बरेली) की खुदाई आरंभ करायी, लेकिन लड़ाई के कारण इसकी प्रगति धीमी रही और इस खुदाई का फल अभी तक हमारे सामने नहीं आया है।

१९४४ में डा० ह्वीलर पुरातत्त्व विभाग के अध्यक्ष होकर आये और आते ही उन्होंने तक्षशिला में विद्यार्थियों के पुरातत्त्व संबंधी वैज्ञानिक शिक्षा का प्रबंध किया, और कुछ ही वर्षों में बहुत-से विद्यार्थी तैयार कर दिये। उन्होंने भारतीय पुरातत्त्व के उन मसलों पर भी ध्यान दिया, जो अभी तक अछूते थे। दक्षिण में मुनियारों (मेगालिथ) की खोज जारी है, वीरमपटन की खुदाई से भारत और रोम के व्यापारिक संबंध का और भी पता चला है, तथा हड़प्पा की वैज्ञानिक खुदाई से यह भी पता चल गया कि सिंधु-सभ्यता के नगरों में चारों ओर शहर पनाहें होती थीं और कभी-कभी लोग चटाई में बाँधकर गाड़े जाते थे जैसा कि प्राचीन सुमेर में होता था। डा० ह्वीलर का सबसे अच्छा काम तो एंशंट इंडिया का प्रकाशन है। यह पत्र साल में तीन बार प्रकाशित होता है और इसमें भारतीय पुरातत्त्व-संबंधी अनेक लेख रहते हैं।

अभी हमारी यूनियन सरकार पुरातत्त्व के संबंध में अपनी नीति स्थिर नहीं कर पायी है, पर आशा तो यही है कि इस विभाग का विकेंद्री-

करण न होगा और प्रान्तों एवं विश्वविद्यालयों की सहायता से काम बहुत जोरों से आगे बढ़ेगा।

३—अनुसंधानों का विवरण

ऊपर तो हम पुरातत्त्व-विभाग के संगठन के इतिहास पर प्रकाश डाल चुके हैं। अब हम बतलाना चाहते हैं कि १९०२ से लेकर १९४७ तक इस विभाग ने अनुसंधान और खुदाई के बारे में क्या-क्या किया और उसे अब क्या करना है।

प्रागैतिहासिक और प्रति ऐतिहासिक सभ्यताएँ

भारतवर्ष में हिम-युग के पहले मनुष्य का पता नहीं चलता। प्रस्तर-युग के उप:काल में वह आदि प्रस्तर-युग (neolith) के हथियार इस्तेमाल करता था। प्राकृतिक कारणों से भी पत्थर के टुकड़े आदि प्रस्तर-युग के हथियार जैसे दीख पड़ते हैं. इसीलिए इन दोनों के भेद हम नहीं समझ पाते। जो भी हो, भारतवर्ष में इस प्राचीनतम प्रस्तर-युग की सभ्यता के औजार नहीं मिलते।

प्राचीन प्रस्तर-युग में मनुष्य चिप्पी निकले कोरवाले टेढ़े-मेढ़े पत्थर के औजार काम में लाते थे। भारतवर्ष में बहुत से ऐसे औजार मिले हैं लेकिन किसी वैज्ञानिक खुदाई से न मिलने के कारण उनके क्रमिक विकास का पता नहीं चल सकता। फिर भी युरोप से मिले इस काल के औजारों की तुलना से इनके इतिहास पर कुछ प्रकाश पड़ता है।

१८६३ में ब्रूस फुट को सबसे पहले प्राचीन प्रस्तर-युग के औजार भारत के विभिन्न भागों में मिले, जिनमें नर्मदा घाटी, बिहार, उड़ीसा, छोटा नागपुर, राजपूताना, बंबई और पंजाब मुख्य हैं। दक्षिण में ये औजार कर्नूल, चिंगलपुट, उत्तर आरकट, कडपा और पैठन में मिले हैं।

इन प्राचीन प्रस्तर.युग के औजारों में सबसे प्रसिद्ध कुल्हाड़ी है जो नाशपाती के आकार की अथवा बदामा होती है। यह कुल्हाड़ी क्वाटजाइट के हीर (Nodule) के दोनों ओर से चिप्पियाँ निकालकर बनती थी। चिप्पियों से भी बने औजार काम में आते थे।

भारतवर्ष में प्रस्तर-युग की वैज्ञानिक खोज अभी नहीं हुई है। १९३५ में डा० एच हुटेरा ने उत्तरी भारत की हिम-युग की परतों को हिमालय के गल की परतों से तुलना कर भारतीय प्रागइतिहास की भौगर्भिक नींव डाल

दी है। शिवालिक में मध्य हिम युग में आदम आ गये थे। इसका सबूत सोहन की घाटी, जम्मू, पञ्जाब और नर्मदा की घाटी में मिले औज़ारों से मिलता है। गुजरात में इस बारे में डा० हसमुखलाल सांकलिया का काम उल्लेखनीय है।

नव प्रस्तर युग और प्राचीन प्रस्तर युग का सम्बन्ध स्थापित करनेवाला मसाला अभी इस देश में नहीं मिला है, लेकिन इतना तो कहा जा सकता है कि दोनों युगों के समय का काफी अन्तर था। साबरमती की घाटी में जुम्मुपुर को इन दोनों युगों में २० वर्ष का अन्तर मिला।

नवीन प्रस्तर युग में मनुष्य का ज्ञान कितना बढ़ गया था, अब इसका पता उसके औज़ारों से लगता है। इस युग में चिप्पी निकालकर औज़ार बनाने की प्रथा का अन्त हुआ। घिसकर और पालिश करके भाँति भाँति के औज़ार बनाये जाने लगे। छेनी, कुल्हाड़ी, गदा, तीर के फल, चोर और रन्द (scraper) इस युग के विशेष औज़ार थे और अधिकतर काले ट्रेपरोक में बनते थे। 'बौने चकमक' (Pygmy flint) जो अकीक इत्यादि की चिप्पियों और चीरनों से बनते थे, शायद इसी युग की देन है।

यूरोप की भाँति भारतवर्ष में भी शायद प्रस्तर युग के बाद धातु युग का ज़माना आया। इस युग के औज़ार अधिकतर ताँबे के होते थे और ये बंगाल से बलूचिस्तान तक मिले हैं। दक्षिण भारत में ताम्र युग का पता नहीं मिलता। हो सकता है कि अफ्रिका की तरह यहाँ भी प्रस्तर युग के बाद सीधा लौह-युग आ गया हो।

युक्त प्रान्त में बिठूर (कानपुर), फतहगढ़, मैनपुरी, कोसम (इलाहाबाद), राजपुर (बिजनौर) और बदायूँ से ताँबे के प्राचीन अस्त्र मिले हैं जिनमें हारपून, तलवार और कुल्हाड़ी मुख्य हैं। गुंगेरिया (बालाघाट) से ऐसे ४०२ अस्त्र मिले थे। सिन्ध और सिन्ध की घाटी से भी ऐसे कुछ अस्त्र प्राप्त हुए हैं। इन अस्त्रों में बहुत तरह के किस्म हैं जैसे सेल्ट, तलवार, हारपून, छेनियाँ, भालों के फल इत्यादि। चपटे सेल्ट नवीन प्रस्तर युग के पत्थर के सेल्टों की नकल मान गये हैं। अफ़सोस की बात है कि ताम्र युग पर अभी बहुत कम काम हुआ है। एक डच विद्वान ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि कम से कम युक्त प्रान्त में मिले ताँबे के अस्त्र आर्यों के थे और इनका समय करीब १००० ई० पू० है। अगर उनकी इस स्थापना में सत्य है, तो यह आर्य सभ्यता के प्राचीनतम अवशेष हैं।

१६२१ तक हमारा पुरातत्त्व-विभाग अपनी खुदाइयों में मौर्य युग के आगे नहीं बढ़ सका, गोकि यह बात तो निश्चित-सी है कि इस युग के पहले महाजनपद और वैदिक युगों की सभ्यताएँ बहुत कुछ आगे बढ़ चुकी थीं। करीब ई० पू० १५०० के वैदिक आर्य इस देश की उत्तर-पश्चिमी सीमा से भीतर घुसे और सिंध की घाटी में होते हुए क्रमशः गंगा और यमुना तक जा पहुँचे। गंगा-यमुना के काँटों से अभी तक ऐतिहासिक युग की काफी सामग्री मिल चुकी है और सिंध के काँटों से आर्यों के पहले की सभ्यता का पता चल चुका है, यह सब होते हुए भी यह कहना ठीक होगा कि अब तक कहीं भी आर्य-सभ्यता का प्राचीन चिन्ह नहीं मिला है। वैदिक आर्यों ने अपनी आधिभौतिक सभ्यता का कोई चिन्ह ही नहीं छोड़ा यह कहना ठीक नहीं होगा। बात यह है कि अभी तक पुरातत्त्व-विभाग का उधर ध्यान ही नहीं गया है। हो सकता है कि भारत आने पर वैदिक आर्यों की ताम्र युग के लोगों से मुठभेड़ हुई हो। कुछ दिनों पहले तक तो लोगों का विश्वास था कि अनार्य-सभ्यता वैदिक सभ्यता से बहुत नीचे थी; लेकिन सिंधु-सभ्यता के प्रकाश में आने के बाद इस विश्वास को सत्य मानने का कोई कारण नहीं रह जाता।

सिंधु-सभ्यता के सर्वप्रथम अवशेष हड़प्पा (पंजाब) और मोहेन-जोदड़ो (सिंध) में मिले। १८७२-७३ में जेनरल कनिंघम को हड़प्पा से कुछ मुद्राएँ मिली थीं, लेकिन इनके ऐतिहासिक महत्त्व पर किसी का ध्यान नहीं गया। १६२१ में दयाराम साहनी ने हड़प्पा में थोड़ी बहुत खुदाई करके यह सिद्ध कर दिया कि हड़प्पा के टीलों में प्रागैतिहासिक सभ्यता छिपी थी। लेकिन सिंधु-सभ्यता को सर्वप्रथम प्रकाश में लाने का श्रेय श्री राखाल-दास बनर्जी को है।

मोहेनजोदड़ो के प्रागैतिहासिक सीमा का विस्तार करीब २४० एकड़ में है। १६२२ में स्तूपवाले टीले की खुदाई करते हुए श्रीबनर्जी को कुछ चित्रलिपि अंकित मुद्राएँ, चकमक की चीरें और कोर, शङ्ख की चूड़ियाँ और बहुत-से नुकीली पेंदियोंवाले मिट्टी के सादे और चित्रित बरतन मिले। श्री बनर्जी ने मोहेनजोदड़ो और मिस्र की वस्तुओं में सादृश्य देखा। यह बात तब से भ्रमात्मक साबित हो चुकी है, लेकिन बनर्जी का यह अनुमान तो निश्चय ही सत्य था कि बौद्धकालीन स्तर के नीचे के स्तूप में तीन-चार हजार वर्ष की प्राचीन सभ्यता छिपी थी।

सिंधु-सभ्यता के प्रकाश में आने पर विद्वानों में हलचल-सी मच गयी। सर जान मार्शल ने मान लिया कि सिंधु-सभ्यता सिंध की घाटी में उपजी और परिवर्धित हुई और इस सभ्यता को लोहे का ज्ञान न था। प्रोफेसर सेस ने मोहेनजोदड़ो की वस्तुओं और दक्षिण ईराक से मिली हुई प्राचीन सुमेर की वस्तुओं में कुछ समानता देखी। इन समानताओं के आधार पर सिंधु सभ्यता का समय भी निश्चित हुआ। यह मान लिया गया कि सभ्यता प्रस्तर-ताम्र-युग, की थी और इसका समय ई० पू० ३००० से ४००० वर्ष तक था। इस सभ्यता के समय पर किश से मिली सिंधु-सभ्यता की एक मुहर से विशेष प्रकाश पड़ा। जिस मंदिर के नीचे यह मुद्रा मिली, वह ई० पू० ३००० का था। इस मुहर से यह भी पता चला कि उस प्राचीन काल में भी सिंध और ईरान में व्यापारिक संबंध था।

विद्वानों के इस अपूर्व उत्साह से अनुप्राणित होकर सर जान मार्शल ने सिंधु-सभ्यता की खोज का काम आगे बढ़ाया। १९२३-२४ श्री माधोसरूप वत्स ने मोहेनजोदड़ो में दो खाइयाँ खोदकर यह पता चलाया कि पानी की सतह से लेकर ऊपर तक इमारतों की कई सतहें हैं। खुदाई के दूसरे मौसिम में श्रीदीक्षित ने कुछ इमारतें साफ कीं और उन्हें बहुत-से गहने भी मिले। उन्हीं दिनों श्रीदयाराम साहनी ने हड़प्पा में खोज का काम आगे बढ़ाया। इसके बाद सर जान मार्शल ने भारत सरकार से और अधिक आर्थिक सहायता लेकर १९२५-२६ में खुदाई का काम स्वयं सँभाल लिया। १९२६ में मोहेनजोदड़ो की खुदाई श्रीसाहनी और ई० जे० एच० मेके करते रहे, लेकिन १९२७ से १९३१ तक इस काम का पूरा भार श्रीमेके पर ही रहा।

सिंधु-सभ्यता के प्रकाश में आते ही प्रश्न हुआ कि इस सभ्यता का प्रसार कहाँ तक रहा और इसके लिए उत्तरी सिंध और बलूचिस्तान की खोज की गयी।

श्री हारग्रीव्स ने १९२५-२६ में कलात रियासत में नल स्थान पर खुदाई करके बहुत-से बहुरंगे बरतन निकाले, और इनका समय-निर्धारण करने के लिए इनकी तुलना मोहेनजोदड़ो और हड़प्पा से मिले रंगीन बरतनों से की। इस तुलना से कोई विशेष निष्कर्ष तो नहीं निकला, लेकिन इतना तो निश्चय हो गया कि नल के बरतन 'प्रस्तर-ताम्रयुग' के हैं। इन बरतनों के कुछ अलंकारों की मूसा १ में मिले अलंकारों से तुलना करने पर कुछ विद्वानों की राय है कि बलूचिस्तान में नल के बरतन किसी बाहरी सभ्यता की देन हैं।

१६२६ २७ और १६२७-२८ में सर आरेल स्टाइन ने बलूचिस्तान की जाँच-पड़ताल की। उन्हें 'प्रस्तर ताम्रयुग' के ई० पू० ३,००० से ४,००० तक के बहुत-से स्थान मिले। १६२७ में उन्होंने वजीरिस्तान की सीमा, झोब की घाटी, लोगलाई जिला और क्वेटापिशिन को खोज की। १६२८ में सर आरेल स्टाइन ने कलात के दक्खिन पच्छिम तथा ग्वादर के पास मकरान के समुद्री किनारे की खाज की। इन खोजों से मिले मिट्टी के बरतनों इत्यादि के सहारे यह कहा जा सकता है कि बलूचिस्तान में कम-से-कम दो 'प्रस्तर-ताम्रयुग' क. सभ्यताएँ थीं जिसमें पूर्वी का संबंध सिंधु-सभ्यता से था और पश्चिमी का ईरान और ईराक की सभ्यताओं से।

सिंधु-सभ्यता के विस्तार की खोज सिंध में भी की गयी। १६२५ में इस सभ्यता के अवशेष लोहुमजोदड़ो और लिमेजुनेजो में श्रीदीक्षित को मिले। १६२६-३० और १६३०-३१ में श्र ेन० जी० मजूमदार ने भी सिंधु-सभ्यता के बहुत-से स्थान खोज निकाले। इन खोजों में मिले हुए मिट्टी के बरतनों के आधार पर श्री मजूमदार ने सिंधु-सभ्यता के मट्टी के बरतनों का वर्गीकरण किया और उसके आधार पर सिंधु-सभ्यता के भिन्न-भिन्न समयों का निराकरण किया। सब पुराने बरतन अमरी में मिले। ये बरतन बहुरंगे थे और इन पर ज्यामितिक अलंकार थे। इनमें काले और चाकलेट या लाल रंग मायल खाकी का इस्तेमाल हलकी पीली अथवा लाल काबिस पर हुआ है। अमरी के बरतनों से शायद नाल के बरतन निकले। अमरी के इस पतले बरतनों की सतह के बाद मोटे दल के बरतन चाहूँजोदड़ो और अलीमुराद से मिले हैं, और इनका संबंध मोहेनजोदड़ो के बरतनों से है। एक तीसरी तरह के बरतन गाछर झील के आसपास मिले हैं। इन पर काले रंग अथवा चाकलेट (कत्थई) से अलंकार हलके लाल अथवा जर्दीमायल काबिस पर बने हैं। इनकी गरदनों पर कभी-कभी लाल मायल खाकी रंग की एक रेघारी दीख पड़ती है। अलंकारों में अधिकतर रूढ़िगत पौदे और फूल हैं। इस तरह के बरतन झूकर और लोहूमजोदड़ो में भी मिले हैं। एक चौथी तरह के काले बरतन, जिन पर खरोंचकर अलंकार बने हैं, मानघर झील के नजदीक झंगर से मिले हैं। इन काले बरतनों की तुलना मद्रास में मिले लोहसयुग के बरतनों से की जा सकती है।

शैली और शकल दोनों ही दृष्टि से अमरी और मोहेनजोदड़ो के बरतनों में काफी भिन्नता है और इसका कारण दोनों सभ्यताओं की

भिन्नता है। अमरी के बरतना का सम्बन्ध अलग्वैद, जमशेद नस्र, समर (ईराक), सूसा प्रथम, तेपे मुसयाँ, इत्यादि से मिले हुए बरतनों से है, और लगता है कि ये बाहर से आयी संस्कृति के प्रतीक हैं। श्री मजूमदार की खोजों ने यह सिद्ध कर दिया है कि सिंधु-सभ्यता के आदि युग में तो रंगीन बरतनों की चाल थी, लेकिन मोहेनजोदड़ो के युग में सादे बरतन अधिक बनने लगे थे और बरतन रंगने की प्रथा धीरे धीरे कम हो गयी थी।

सन् १९२६ से १९३१ तक श्री माधोसरूप वत्स हड़प्पा में काम करते रहे। हड़प्पा में दो खास चीजें मिली हैं, उनमें एक है कुछ समानांतर दीवारें जिनका मतलब अब भी ठीक नहीं लगता और दूसरी है एक कब्रिस्तान जो अभी पूरी तौर से नहीं खुद सका है। नीचे के स्तरों में मुरदे पूरे गाड़े जाते थे और उनके साथ बहुत से मिट्टी के बरतन रख दिये जाते थे। इसके ऊपर के स्तर में आंशिक गाड़ने की प्रथा मिलती है। सिरे अथवा हड्डियों के कुछ टुकड़े रंगीन कुंडों में रख दिये जाते थे। ऐसे कुंडे अभी तक सिंधु-सभ्यता के और किसी स्थान पर नहीं मिले हैं। इन कब्रों में और भी बहुत से बरतन मिले हैं। इनमें पशु-पक्षी और मछलियों की हड्डियाँ, सड़ा अनाज, राख और कोयला, मिट्टी की बनी तिकोनिया, खिलौने इत्यादि मिले हैं।

अभी हाल में हड़प्पा में जो खुदाई डा० ह्वीलर के तत्वावधान में हुई है उसमें दो बातों का पता चलता है,—पहिली तो यह कि जैसे पहले समझा जाता था, हड़प्पा का शहर खुला नहीं था, बल्कि इसके चारों ओर शहरपनाह थी। इससे यह पता चलता है कि सिंध सभ्यता के युग के शहरों में सर्वदा शांति का राज्य नहीं रहता था और उन्हें भी शत्रुओं का डर बना रहता था। कुछ कब्रों के खोदने से यह भी पता चला कि उसमें शव चटाइयों में लपेटकर गाड़े गये थे। प्राचीन सुमेर में भी शव चटाई में लपेटकर गाड़े जाते थे। इस बात की खोज आवश्यक है कि यह प्रथा किस देश से निकली। बौद्ध साहित्य से पता चलता है कि ऐतिहासिक युग में भी मुरदे चटाइयों में लपेटे जाते थे। आज भी महाराष्ट्र में शव के ऊपर चटाई लपेटी जाती है।

कपालों की जाँच-पड़ताल से यह पता चलता है कि सिंध-सभ्यता के युग में लंबे सिरोंवाली दो जातियाँ छोटे और चौड़े सिरोंवालों के साथ रहती थीं। अलउबैद और किश में मिले नर-कपाल भी इस

बात को साबित करते हैं। शायद प्राग्-सारगोन काल की ईराक की जातियों और सिंध-सभ्यता की जातियों में नस्ली संबंध था।

पंजाब में सिंध-सभ्यता के प्रसार की सीमा का पता अभी ठीक-ठीक नहीं लगा है। श्रीवत्स ने कोटला निहंग (रोपड़, अंबाला) और चकपुरबने सियाल (मांटगोमरी) से सिंध-सभ्यता से मिलती-जुलती चीजें जैसे बरतन, मिट्टी के खिलौने, मनके इत्यादि ढूँढ़ निकाले हैं, लेकिन इस संबंध में और भी जाँच-पड़ताल करने की आवश्यकता है।

मोहेनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाइयों से हमें सिंधु-सभ्यता पर प्रकाश डालनेवाली काफ़ी सामग्री मिली है। खास सिंध में यह सभ्यता अरब सागर तक फैली हुई थी तथा पश्चिम में खिरथार और दूसरी पहाड़ियों के बीच के जमीन के टुकड़ों में भी इसका विस्तार था। अमरी, चांहूजोदड़ो, लोहुमजोदड़ो और मोहेनजोदड़ो की आधुनिक स्थिति से यह पता चलता है कि सिंधु-सभ्यता सिंध नदी के आस-पास ही फैली हुई थी।

सिंधु-सभ्यता के युग में नदी से सींचे उपजाऊ प्रदेश में रहते हुए लोगों ने खेती-बारी की उन्नति की और सुखदात्री कला को आगे बढ़ाया। उन्हें पहाड़ों में रहनेवाले शत्रुओं के कभी-कभी धावे सहने पड़ते थे और नदी की बाढ़ से भी उन्हें नुकसान पहुँचता था, गोकि बाढ़ के पानी से जमीन अधिक उपजाऊ भी हो जाती थी। लेकिन पहाड़ी इलाके में खेती-बारी केवल बरसात और कुओं पर ही निर्भर थी और इसीलिए छोटी-छोटी बस्तियाँ सोतों पर ही बनीं। यह भी पता लगता है कि सिंधु-सभ्यता के युग में सिंध में बरसात आज से कहीं अधिक होती थी और इसके प्रमाण मोहेनजोदड़ो में नलों का अच्छा प्रबंध, पक्की ईंटों का इस्तेमाल और मुद्राओं पर शेर, गैंडे और हाथियों के चित्रण हैं, जो अधिक बरसातवाले देशों के जानवर हैं।

सिंधु-सभ्यतावालों का आधार केवल कृषि न होकर व्यापार भी था। मोहेनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाइयों से पता चलता है कि सिंधु-सभ्यता एक ही साँचे में ढली थी। दोनों का कला-कौशल, नगर-रचना और इमारतें एक-सी हैं। उस काल का राज्य-प्रबंध क्या था, यह तो नहीं कहा जा सकता; पर इसकी पूरी संभावना है कि बड़े शहरों में कोई केंद्रित संस्था

होती थी, जो नगर-रचना, सफाई और पानी लेने के प्रबंध और नलों की देख-रेख करती थी।

मैदान में इमारतें पक्की ईंटों की बनती थीं। पहाड़ी इलाके में ईंटों का इस्तेमाल नहीं होता था। पत्थर की दो-तीन फुट ऊंची दीवारें ढोके से पटी नींव पर बनायी जाती थीं, निचला भाग गारे से जुड़े हुए टपरे पत्थरों का होता था और इसके ऊपर का भाग मट्टी, सरपत और लकड़ियों से बना होता था। ईंट या पत्थर दोनों से बनी दीवारों पर कोई अलंकार नहीं होता था। ईंटों की जुडाई गारे अथवा गारे और जिप्सम (कंकरीले चूने) के बने मसाले से होती थी। छोटी इमारतों की दीवारें सीधी और बड़ी की कुछ ढलुवी होती थीं। फर्श पड़े ईंटों के बनते थे। स्नान-गृहों, चबूतरों और कुओं में ईंटें खूब सटाकर बैठायी जाती थीं।

कुछ मकानों में एक से अधिक खंड होते थे, और उनमें सीढ़ियाँ ऊपरी खंडों और छत तक ले जाने को होती थीं। छत गारा, सर और चटाइयों से बनी होती थी। अधिकतर इमारतों में कीलदार ईंटों से बने हुए कुएँ होते थे। घरों में स्नान-गृह और नलों का प्रबंध था। घरों से नल निकलकर गली की नलों में मिलती थी और ये गली की नलें मैला पानी बड़ी सड़कों के बहबच्चों में पहुँचा देती थीं। पक्के नल द्वारा अधिक पानी के निकास का भी प्रबंध था। हर एक घर में कुछ कमरे और चौक होते थे। मकानों के चक एक दूसरे से गलियों द्वारा अलग कर दिये जाते थे। कुछ बड़ी इमारतें भी मिली हैं, लेकिन इनका ठीक ठीक तात्पर्य समझ में नहीं आता।

मोहेनजोदड़ो की सबसे अधिक दर्शनीय इमारत बृहत् स्नान-कुंड है। यह एक चौकोने अहाते में स्थित है, जिसके चारों ओर बरामदे हैं और तीन तरफ छोटे-बड़े कमरे हैं। चतुष्कोण के भीतर ८ फुट गहरा, ३६ फुट लंबा और २३ फुट चौड़ा कुंड है जिसके दो तरफ सीढ़ियाँ हैं और उनके नीचे चबूतरे। इस कुंड का एक पक्के नल से संबंध है। इस बृहत् स्नान-कुंड से सटे छोटे-छोटे कुंड हैं, जिनमें पानी बहाने के लिए नल है। इस कुंड का क्या तात्पर्य है, यह ठीक-ठीक समझ में नहीं आता, और यह भी पता नहीं लगता कि कुंड भरा कैसे जाता था।

मोहेनजोदड़ो और हड़प्पा से कला-कौशल और दैनिक व्यवहार की चीजें मिली हैं, उनमें से कुछ पर ध्यान दिलाना आवश्यक है। इनमें तांबे और काँसे के औजार और हथियार मिले हैं, जिनमें भाले के फल, छुरे,

छुरियाँ, तीर के फल, मछली के काँटे, छेनियाँ, हजामत के छुरे, कुल्हाड़ियाँ, आरियाँ इत्यादि मुख्य हैं। चर्ट की चीरनों का व्यवहार भी छुरियों की जगह होता था। पत्थर की बनी वस्तुओं में गदाएँ, गोड़ेदार सिल, सिलौटियाँ और तौल के बट्टे जिनमें कुछ पर खूब पालिश की हुई है मुख्य हैं। चाक पर चढ़े मिट्टी के बरतन घरों में साधारणतः बरते जाते थे। बरतन सादे और चित्रित दोनों तरह के होते थे। मूर्तियों में स्टेटाइट, अलबास्टर और चूनिया पत्थर की कुछ मूर्तियों को छोड़कर बाकी मट्टी के खिलौनों के रूप में हैं। इनमें मातृ मूर्तियों की बहुतायत है। मोहेनजोदड़ो और हड़प्पा से मिली चित्रित मुद्राओं पर ब्राह्मनी बैल, हाथी, भैंसा, शेर गैंड़ा और कुछ कल्पित जानवरों के चित्र बड़ी खूबी से खोदे गये हैं। गहनों में सोने के मनकेवाले कंठे, जिनमें बीच-बीच में स्टेटाइट और यशब के मनके लगे हैं मिले हैं। सस्ते गहने आबदार विट्रियस पेस्ट और कच्चे शीशे (faience) के बनते थे। शंख की चीरों पर ज्यामितिक अलंकार खोदे जाते थे। हाथी दाँत के पासे और लाल काँटे भी मिले हैं।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि ताम्र-प्रस्तर-युग की सभ्यता धीमे-धीमे लौह-युग की सभ्यता में परिणत हो गयी होगी। मद्रास के तिन्नवेली जिले में इस सभ्यता के अवशेष पाये गये हैं। शायद इस सभ्यता का संबंध द्रविड़ों से हो। आदित्तणल्लूर में इस सभ्यता की खोज डाक्टर यागोर (१८७६), ए० रे (१८६६-१६०५) और लुईला पीक (१६०३-०४) ने की। खुदाई से पता लगा कि इस युग के लोग चट्टानों और सख्त जमीनों में गढ़े खोदकर उनमें अस्थिदान गाड़ते थे। कुछ कुंडों में तो पूरे पंजर मिले हैं; पर अधिकतर में कुछ चुनी हड्डियाँ और वस्तुओं के साथ मिली हैं। छोटे बरतनों पर लाल काली पालिश है। घरेलू मिट्टी के बरतन अस्थिदानों में और उनके बाहर मिले हैं। उनमें से कुछ में धान की भूसी मिलने से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उन बरतनों में मृतकों को अन्न भेंट में चढ़ाया जाता था। आदित्तणल्लूर से लोहे की तलवारें, छुरे, भालों के फल इत्यादि, सोने और काँसे के मुकुट, कांसे के कटोरे, प्याले, चलनियाँ, महिष मूर्तियाँ, रक्तमणि (कार्नीलियन) के मनके, और कटे तार के बने बहुत-से गहने मिले हैं। इन वस्तुओं में महिष-मूर्तियाँ विशेष महत्व रखती हैं, क्योंकि ऐसी ही बहुत-सी मूर्तियाँ नीलगिरि में टोडा लोगों की कब्रों में भी मिली हैं।

१६०४ से १६०८ तक श्री ए० रे ने चिंगऌपट के पेरम्बेर स्थान पर भी लौह-युग की सभ्यता की खोज की। इस सभ्यता में और आदित्तणल्लूर की सभ्यता में कुछ अंतर है। पेरुम्बेर में कब्रें पत्थरों के वृत्त के अंदर मिलती हैं। इनके मध्य में गोड़ेवाले अस्थिदान मिलते हैं। अस्थिदानों के भीतर और बाहर बहुत-से बरतन, तलवारें और शंख के गहने मिले हैं। गुम्मटदार (lugged) बरतन पेरम्बेर सभ्यता की विशेषता हैं।

१६१०-११ में श्री रे ने तेलिचेरी जिले की पेरु गुलं की लेणों की जाँच-पड़ताल की। इनके दरवाजों के पास जमीन की सतह से थोड़े-से फुट नीचे उन्हें ढकनदार भुइंधरे मिले, जिनमें एक के भीतर दूसरे ऐसे चार या पाँच खाने थे। लेणों के भीतर कोठरियों के गुंबद प्याले की तरह हैं। इनके मध्य में छत का बोझ सँभालने के लिए खंभे कटे हैं। इनमें कंकालों के अवशेष लोहे के हथियारों, सिल, लोढे और अनेक तरह के मिट्टी के बरतनों के साथ पाये गये। चार गोड़ोंवाले पालिशदार लाल कुंडे और पालिशदार काले मिट्टी के बरतन पेरु गुल सभ्यता की विशेषता हैं।

१६१३-१४ श्री ए० एच० लागहर्स्ट ने नीलगिरि पर्वत के पास कोइम्बटूर जिले में सिरमुगें नामक स्थान पर केर्न (cairn) और प्रस्तर-वृत्तों की जाँच की। एक प्रस्तर-वृत्त की कब्र में उन्हें एक लाल मिट्टी से नखे-नख भर ढकनेदार अस्थिदान मिला जिसके अंदर उन्हें खोपड़ियाँ, लोहे के हथियार, मिट्टी के बरतन और कुछ बिल्लौर के मनके मिले। पास ही के लेण में उन्हें चार गोड़ोंवाले तीन अस्थिदान मिले, जो मिट्टी और छोटे-छोटे हड्डियों के टुकड़ों से भरे थे।

सन् १६१४-१५ में श्री लागहर्स्ट ने कर्नूल जिले में गज्जलकोंड नामक स्थान पर केर्न्स (cairns) और प्रस्तर-वृत्तों की जाँच की। एक में उन्हें मिट्टी के दो ताबूत मिले, कब्र पत्थर से ढकी थी। एक दूसरे में उन्हें गोड़ेदार ताबूत मिला। इन ताबूतों में हड्डियाँ तथा मिट्टी और अन्न से भरे मिट्टी के बरतन मिले।

इन खोजों के बाद दक्षिण भारत, हैदराबाद और मैसूर से मुनियार (megalithic) सभ्यता और उसमें शव दफन करने की क्रिया के अवशेष मिले हैं। हैदराबाद में याजदानी, हुन, वेकफील्ड और डा० हंट ने इसकी खोज की है और खोज अब भी जारी है। डा० हंट को रायगिर के सिस्ट कब्रों में दो तरह के मिट्टी के बरतन—लाल बरतन और काले बरतन

जिनके पेंदे लाल होते हैं मिले। इन दोनों पर कुछ चिह्न मिलते हैं। मुनियार सभ्यता (megalithic-age) के बहुत-से अवशेष छोटा नागपुर के पठार पालामऊ से दलभूम तक मिलते हैं। श्री एस० सी० राय ने इन पर काम किया है। इन सब जगहों में पालिश किये हुए पत्थर के औजार तांबे और काँसे की और कभी-कभी लोहे की वस्तुओं के साथ मिलते हैं।

बौद्ध युग के अवशेष

सिंधु-सभ्यता की छानबीन को छोड़कर पुरातत्व-विभाग ने अधिकतर बौद्ध युग से संबंधित स्थानों की ही खोज की है, जिसमें अशोक की लाटों का प्रथम स्थान है। इन लाटों पर सुंदर ब्राह्मी अक्षरों में राजा के उपदेश खुदे होते हैं और इन्हें राजा ने प्रधान नगरों और बौद्ध तीर्थ-यात्रा के मार्ग में अपने राज्य के बारहवें वर्ष में लगवाये थे। विंसेंट स्मिथ के अनुसार अशोक ने ऐसी तीस लाटें खड़ी कीं, पर इनमें लौरिया नंदनगढ़ और बखिरा की लाटें ही पूरी बच गयी हैं। रामपुरवा की दोनों लाटों की वृषभ और सिंह की शीर्षक मूर्तियाँ १६०७-०८ में, सारनाथ के स्तंभ का भग्नावशेष और शीर्षक मूर्ति १६०४-०५ में, और साँची की लाट १६१२-१६ में मिलीं। जयपुर रियासत में बैराट की खुदाई में श्रीदयाराम साहनी को अशोक की दो लाटों के टुकड़े मिले। ये लाटें ईरानी-ग्रीक शैली से प्रभावित हैं। सर जान मार्शल का अनुमान है कि सारनाथ की लाट बनानेवाला कारीगर बाह्लीक की ग्रीककला से अवश्य प्रभावित हुआ होगा।

मौर्य युग और उसके पहले की इमारतों का बहुत कम पता इसलिए चला है, क्योंकि वे लकड़ी की बनी होती थीं। फिर भी पाटलिपुत्र को घेरे हुए मौर्यकालीन लकड़ी की बाड़ (palisade) के अंश खुदाई से प्राप्त हुए हैं। लगता है, इमारत बनाने के लिए उस समय ईंटों का व्यवहार कम हो चला था। अशोककालीन कुछ इमारतों का पता खुदाई से चला है। इनमें सारनाथ और साँची के स्तूप और पिपरहवा का स्तूप और संघाराम जिनकी खोज श्री पेपे (Peppe) ने १८६८ में की, मुख्य हैं। पिपरहवा स्तूप से मिली धातु-पेटिका के एक लेख से यह पता चलता है कि इस स्तूप में भगवान बुद्ध की धातु थी।

भरहुत—भरहुत स्तूप की वेदिकाओं, तोरणों और सूचियों का पता लगाने और उद्धार करने का श्रेय सर ए० कनिंघम को है, जिन्होंने ई० पू० दूसरी शताब्दी के उन्नतम कला के इन अवशेषों को १८७५ ई० में

इंडियन म्यूजियम पहुँचा दिया। भरहुत के तोरण और सूचियाँ स्तंभ इत्यादि यक्ष और यक्षिणियों की मूर्तियों तथा जातक कथाओं से सजे हैं। कुछ वर्ष पहले प० बृजमोहन व्यास को भरहुत से कुछ और स्तंभ एवं मूर्तियाँ मिलीं, जो अब इलाहाबाद के संग्रहालय में हैं।

साँची—साँची के स्तूपों के उद्धार का श्रेय सर जान मार्शल को है। यह काम भोपाल रियासत की सहायता से १६१२ से १६१६ तक के बीच में पूरा हुआ। साँची की इमारतों को गाँववालों की वजह से काफी नुकसान पहुँच चुका था। और भग्नावशेषों के समय के बारे में भी लोगों को काफी संदेह था। सर जान मार्शल ने इन अवशेषों के समय पर ठीक-ठीक प्रकाश डाला।

सर जान मार्शल ने १६१२ में जब साँची की खुदाई का काम अपने हाथ में लिया, तो प्राचीन अवशेष जमीन के अंदर थे। खुदाई के बाद अब हम ५१ इमारतें देख सकते हैं जिनमें स्तूप नं० २ को छोड़कर बाकी सब पहाड़ी पर हैं। ये अवशेष तीन भागों में विभाजित किये जा सकते हैं—(१) स्तूप नं० १ जिसका अंड ५४ फु० ऊँचा और १२० फु० व्यासवाला है और जिस पर परिक्रमा के लिए दोनों तरफ सीढ़ियाँ लगी हैं। निचले प्रदक्षिणा-पथ के चारों ओर पत्थर की वेदिका लगी है। पहले-पहल इस स्तूप को अशोक ने बनवाया और इसके चारों ओर काठ की वेदिका बनवायी और पत्थर की छतरी लगवायी। इस स्तूप को शायद पुष्यमित्र शुंग ने ई० पू० दूसरी शताब्दी के मध्य में नष्ट कर दिया। बाद में इस स्तूप की मरम्मत हुई और उसमें पत्थर का अस्तर बनाया गया और पत्थर की हर्मिका और छत्र चोटी पर लगे। अंत में प्रदक्षिणा-पथ के चारों ओर वेदिका लगी जिसके स्तंभ, सूचियाँ और उष्णीष बहुत-से भक्तों ने अपने पैसों से बनवाया। स्तूप के चारों ओर काफी दूर तक इस युग में पत्थर का फर्श भी लगा। आन्ध्र युग (करीब ई० पू० ७०) में स्तूप के चारों ओर तोरण बने, जिन पर अच्छे अर्ध-चित्र बने हैं, जो तत्कालीन कला, धर्म और सामाजिक अवस्था के जानने के महत्त्वपूर्ण साधन हैं।

समयान्तर में इस स्तूप के चारों ओर बहुत-से मंदिर, छोटे स्तूप और स्तंभ बने। स्तूपों का समय ई० पू० द्वितीय शताब्दी के मध्य से लेकर सातवीं शताब्दी और बाद तक का है। स्मृति-स्तंभों पर के लेखों और शैलियों से उनके समय पर प्रकाश पड़ता है। इसी तरह मन्दिरों और

संघारामों का समय गुप्त-काल से लेकर १०--११ शताब्दियों तक है, और इनसे स्थापत्य के विकास पर काफ़ी प्रकाश पड़ता है।

स्तूप नं० २ के आलंबन वाहु के अर्धचित्रों की शैली बड़े स्तूप के अर्धचित्रों की शैली से मिलती है और उसका समय भी ई० पू० प्रथम शताब्दी है। इस स्तूप के अंदर से कुछ महान् बौद्ध भिक्षुओं की, जिन्होंने अशोक के समय पाटलिपुत्र में तीसरी संगीति में भाग लिया था और जिनमें कुछ हिमालय पार धर्म-प्रचार के लिए गये थे, अस्थियाँ मिलीं। ये अस्थियाँ हाल ही में साँची में एक नये विहार में स्थापित कर दी गयी हैं।

अमरावती—मद्रास के गंटूर जिले में कृष्णा नदी के किनारे भी बौद्ध धर्म का एक बड़ा केंद्र था और यहीं अमरावती, जगय्यपेट्ट और नागार्जुनी कोंड के स्तूपों के भग्नावशेष मिले हैं। अमरावती का स्तूप १६ वीं शताब्दी के आरंभ में बहुत कुछ नष्ट हो गया था, पर उसके बचे हुए अर्धचित्र ब्रिटिश म्यूज़ियम और मद्रास म्यूज़ियम में देखे जा सकते हैं। इनका समय ई० पू० २०० से लेकर ईसा की तीसरी शताब्दी तक है। १८८२ में श्रीबर्जेस ने अमरावती से ३० मील उत्तर-पश्चिम में जगय्यपेट्ट की खोज की। नागार्जुनी कोंड का पता १९२५ में चला और श्रीलाँगहर्स्ट ने उसकी अच्छी तरह से जाँच-पड़ताल की। नागार्जुनी कुंड के बड़े स्तूप में जिसे इक्ष्वाकुरानी चंतिसिरि ने बनवाया था, भगवान् बुद्ध की धातु विराजमान थी। साँची और भरहुत की तरह इसके अंड की ऊंचाई ६० फुट थी। इसके नीचे के भाग की रचना चक्राकार थी। यहाँ के स्तूपों की एक और विशेषता यह थी कि स्तूपों के फर्श से निकलते हुए प्रत्येक दिशा की ओर चबूतरे थे। इन चबूतरों के सहारे एक-एक आयाग पट्ट और करीब २० फुट ऊँचे पाँच-पाँच खंभे थे। स्तूप नं० ६ से दो सोने के गोल पत्तर मिले, जिन पर ग्रीक शैली में इक्ष्वाकु राजा और रानी चंतिसिरी के सिर अंकित हैं। एक आयाग-पट्ट में ब्राह्मण धर्मानुयायी इक्ष्वाकु राजा के बौद्ध धर्म ग्रहण करने का चित्र है।

बड़े स्तूप के पूर्व एक पहाड़ी पर स्थित एक वर्तुलाकार (apsidal) मंदिर के फर्श में एक बड़ा लेख मिला है जिससे पता लगता है कि चैत्य उन सिंहली भिक्षुओं को अर्पित किया गया था जिन्होंने कश्मीर, गंधार, और चीन इत्यादि देशों में लोगों को बौद्ध धर्म की दीक्षा दी थी। लेख से यह भी पता चलता है कि जिस पहाड़ी पर यह चैत्य स्थित है, उसका नाम श्री

पर्वत है। तिब्बती अनुश्रुतियों के आधार पर महायान बौद्ध धर्म के संस्थापक नागार्जुन ने अपने जीवन के अंतिम दिन यहीं बिताये थे।

बौद्ध तीर्थ स्थानों की खोज

पुरातत्त्व ने बौद्धों के आठ तीर्थ-स्थलों की खोज निकाला है। इनमें से चार का बुद्ध के जीवन से संबंध है और बाकी चार का उनके जीवन की अलौकिक घटनाओं से संबंध है। लुम्बिनीवन (आधुनिक रुम्मिनदेई, नेपाल) में उनका जन्म हुआ, बोध गया में उन्हें बुद्धत्व प्राप्त हुआ, इसिपत्तन (आधुनिक सारनाथ, बनारस) में उन्होंने धर्मचक्र-प्रवर्तन किया और कुसीनगर (आधुनिक, कसया, गोरखपुर) में उन्हें महापरिनिर्वाण प्राप्त हुआ। बहुत आरंभिक काल से बौद्ध इन स्थानों पर घटी घटनाओं का आदर करते हैं और इनका चित्रण भरहुत इत्यादि के अर्धचित्रों में भी हुआ है।

बौद्धों के ये तीर्थ-स्थान करीब १२ वीं शताब्दी में लुप्त हो गये, और इनकी पहचान और पुनरुद्धार का श्रेय सर अलेक्जेंडर कनिंघम, सर जान मार्शल, डा० स्टेन कोनो, डा० जे० पीच० वोगेल, डा० हीरानंद शास्त्री और श्रीदयाराम साहनी को है।

लुम्बिनी का दर्शन अशोक ने किया, और अपनी यात्रा की स्मृति में उसने वहाँ एक स्तंभ खड़ा किया जिसके लेख से पता चलता है कि भगवान् बुद्ध की जन्मभूमि यही है। अभी रुम्मिनदेई की पूरी तौर से जाँच-पड़ताल होना बाकी है।

गया की यात्रा महावंश के अनुसार सिंहल के बौद्ध बहुत दिनों से करते आ रहे हैं। यहाँ के बौद्ध अवशेषों को पुनः बाहर निकालने का श्रेय अलेक्जेंडर कनिंघम और उनके साथियों को है। इन अवशेषों में एक बड़ा मंदिर, मंदिर और बोधिवृक्ष के चारों ओर ऊँची वेदिका के टुकड़े तथा और भी बहुत-से स्तूप और मंदिर हैं।

भरहुत के एक अर्धचित्र से पता चलता है कि बोध गया के बोधिवृक्ष के चारों ओर एक ढकी चलानवाली बाड़ थी। पहले-पहल यह बाड़ शायद काठ की थी, जिसका अब पता नहीं चलता। बाड़ का जो भाग बच गया है, उसमें कुछ हिस्सा ई० पू० दूसरी शताब्दी का और कुछ गुप्त-काल का है। एक संस्कृत लेख से पता चलता है कि करीब ई० ८०० के बंगाल के राजा धर्मपाल के राज में धर्मराज बुद्ध के स्थान में एक चतुर्मुख

शिवलिंग की स्थापना हुई। इससे यह पता लगता है कि उस युग में बौद्ध और शैव बिना किसी भेदभाव के एक साथ रहते थे।

सारनाथ—बुद्ध ने बुद्धत्व पाकर सबसे पहले यहीं धर्मचक्र-प्रवर्तन किया और अपने पहले के पाँच साथियों को उपदेश दिया। सारनाथ की खुदाई से बुद्ध उपदेश-स्थल का पता चला, जहाँ अब भी एक बड़ा स्तूप खड़ा है। खुदाई से इसिपतन में वह स्थान जहाँ उन्होंने आर्य अष्टांगिक मार्ग का उपदेश किया था, धर्मराजिक स्तूप, अशोक-स्तंभ और बहुत-से स्तूप एवं इमारतें तथा कुषाण और बाद के युग के छः संघाराम मिले हैं। मंदिरों में 'मुख्य मंदिर' और गाहडवाल राजा गोविंदचंद्र की पत्नी कुमार देवी का १२वीं शताब्दी में बनवाया धर्मचक्रजिन विहार हैं।

भारतीय कला के इतिहास की दृष्टि से भी सारनाथ का विशेष महत्त्व है। गुप्तकाल में यहाँ मथुरा की कला का आश्रय लेकर मूर्तिकला की एक स्वतंत्र शैली का जन्म हुआ। यह शैली अपनी सुंदरता और भारतीयता के लिए विख्यात है। सारनाथ १२वीं शताब्दी के अंत में मुहम्मद गोरी द्वारा नष्ट कर दिया गया।

कुसनगर—गोरखपुर जिले के कसिया से प्राचीन कुसनगर की पहचान हुई है। फा-हियन और युवानच्वांग ने महापरिनिर्वाण मुद्रा में बुद्ध की जिस मूर्ति को वहाँ देखा था, वह आज भी मौजूद है। यह मूर्ति गुप्त-काल में मथुरा में भिक्षु हरिबल के देख-रेख में बनी थी। अशोक-कालीन परिनिर्वाण स्तूप तो अभी तक नहीं मिला है। जो स्तूप मिला है उसमें मिले एक ताम्रपत्र के लेख से पता चलता है कि इस स्तूप को परिनिर्वाण चैत्य कहते थे।

सहेठ-महेठ—श्रावस्ती (आधुनिक सहेठ-महेठ, गोंडा और बहराइच की सीमा पर) में आकाश में स्थित होकर बुद्ध ने छः विधर्मियों को उपदेश दिया और यहीं जेतवन में अनाथपिंडिक ने भगवान के आराम के लिए कूटागार बनवाया। यहाँ की खुदाइयों से कुछ इमारतों के अवशेष और लेख मिले हैं। अभी यहाँ गहरी खुदाई होनी बाकी है।

संकीसा—कथा है कि श्रावस्ती से उड़कर बुद्ध त्रायत्रिंश देवलोक में गये और वहाँ से संकीसा में उतरे। अभी यहाँ बहुत मामूली खुदाई हुई है।

कौसम-कौशांबी—कौशाम्बी में भगवान बुद्ध ने अपना नवां वर्षा-वास बिताया। युवानच्वाँग ने यहाँ भगवान बुद्ध की चन्दन-प्रतिमा देखी थी। कथा है कि कौशाम्बी के पड़ोस में एक बंदर ने बुद्ध को भिक्षा दी। कौशाम्बी का खंडहर काफी बड़ा है, लेकिन खुदाई बहुत थोड़ी हुई है। यहाँ से मिली मिट्टी की मूर्तियों और सिक्के इत्यादि के सहारे यह कहा जा सकता है कि इस स्थान की वैज्ञानिक खुदाई से भारतीय पुरातत्त्व पर काफी प्रकाश पड़ सकेगा। भीटा की खुदाई से भी शुंग-काल से लेकर गुप्त काल तक के पुरातत्त्व पर काफी प्रकाश पड़ा है। यहां से मिली मुद्राओं से तत्कालीन राज्य व्यवस्था पर भी काफी प्रकाश पड़ता है।

अहिछत्र—बरेली में रामनगर से इस प्राचीन स्थान की पहचान की गयी है। यह स्थान उत्तर पांचाल देश की राजधानी थी। रायबहादुर काशी नाथ दीक्षित के तत्त्वावधान में यहाँ करीब छः साल पहले वैज्ञानिक रीति से खुदाई हुई, और यहाँ से भिन्न स्तरों में मिले मिट्टी के खिलौने और बरतनों की जाँच पड़ताल से हम मौर्य काल से गुप्त काल तक मिली वस्तुओं में अलग-अलग भांति (typo ogy) जाँच सकते हैं।

राजगीर—नालन्दा का विश्वविद्यालय ई० चौथी शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक सब विद्याओं का केंद्र रहा। बारहवीं शताब्दी के अंत में बख्तियार खिलजी ने इस विद्यालय को नष्ट कर डाला और इसका प्राचीन पुस्तकालय जला डाला। नालन्दा की खुदाई १९१५ में डा० स्पूनर ने आरंभ की और बाद में श्री जे० ए० पेज और श्री जी० सी० चन्द्रा उसे चलाते रहे। दो हजार फीट लंबी और ७०० फुट चौड़ी जगह में करीब बारह विहार पूरब और दक्खिन की तरफ और बहुत से चैत्य और स्तूप पश्चिम की तरफ मिले। स्तूप नं० ३ सबसे बड़ा है और ऐसा लगता है कि इसका परिवर्धन बहुत बार हुआ है। विहारों का नक्शा प्रायः एक सा है। ये विहार बहुधा एक मंजिल से अधिक के होते थे। नालंदा में बहुत-सी बुद्ध, बोधिसत्वों और तारा की मूर्तियाँ मिली हैं।

पहाड़पुर—पहाड़पुर (राजशाही जिला) का मंदिर एक ऊँचे चबूतरे पर स्थित है और इसके दोनों ओर मंडप और प्रदक्षिणा-पथ है। मंदिर की भित्ति इमारतें मिट्टी के और कुछ पत्थर के फलकों से सजी है, जो बौद्ध और ब्राह्मण मूर्ति-शास्त्रों पर काफी प्रकाश डालती हैं। पहाड़पुर की खुदाई डा० डी० आर०

भंडारकर, सर्वश्री दीक्षित, बनर्जी, मजूमदार और चंदा ने करवायी थी। और भी बहुत-सी छोटी-छोटी खुदाइयाँ पुरातत्त्व-विभाग ने इधर-उधर करवायी हैं जिनका उल्लेख इस छोटे लेख में नहीं हो सकता। देशी रियासतों में हैदराबाद पुरातत्त्व-संबंधी खोजों में अग्रणी है। पैठन और कोंडापुर की खुदाइयों से सातवाहन युग की सभ्यता पर काफी प्रकाश पड़ता है। माइसोर में भी चंद्रवंती और ब्रह्मगिरी में खुदाइयाँ हुई हैं। बड़ोदा और जयपुर रियासतों ने भी इस ओर कुछ काम किया है।

उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रांत और ग्रीक-सभ्यता

महाराजा रणजीतसिंह के सेनापतियों और श्री० सी० मेसन ने उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रांत में कुछ स्तूप खोदकर और सिक्के इकट्ठे करके पुरातत्त्व-विदों में हलचल डाल दी। इस इलाके से मिले बहुत-से सिक्कों पर ग्रीक नाम मिले, जिनसे पता चला कि एक समय इनका राज्य सिंध और उसकी सहायक नदियों पर था। इन सिक्कों की सुडौल बनावट में धीरे-धीरे भद्दापन आने की प्रक्रिया से यह पता चलता है कि यूनानी सभ्यता धीरे धीरे शक लड़ाकों से हारकर समाप्त हो गयी। इन शकों में शक, पह्लव और कुषाण थे।

बाद में ऊपरी सिंध के दक्खिनी किनारे से लेकर आस-पास की पर्वत-श्रेणियों तक के प्रदेश की जिसे प्राचीन काल में गंधार कहते थे, खोज करने पर पता चला कि उस प्रांत की कला पर भी काफी यूनानी प्रभाव था। बुद्ध और बोधिसत्वों की मूर्तियाँ तथा बुद्ध-जीवन के अर्धचित्र काफी तायदाद में मिले और इनकी बनावट में ग्रीक प्रभाव स्पष्ट है।

गंधार प्रदेश का वैज्ञानिक अनुसंधान सबसे पहले सर जान मार्शल ने १६०३ में चारसद्दा में किया। बाद में डा० स्पूनर ने यह काम जारी रक्खा। सहरी बहलोल की खुदाई से उन्हें बहुत-सी मूर्तियाँ मिलीं। उन्होंने तख्तबाही (होती मर्दान से नौ मील उत्तर) की खुदाई की। लोगों का विश्वास था कि वहाँ की मूर्तियाँ लूट-खसोट से समाप्त हो चुकी थीं, लेकिन डा० स्पूनर को वहाँ से भी बहुत-सी मूर्तियाँ मिलीं। स्पूनर की इस खुदाई के तीन बरस बाद श्री० एच० हारग्रीव्स ने एक ऊँचे टीले पर स्थित विहार की खुदाई का काम पूरा किया और उन्हें बहुत-से स्तूप और विशाल मूर्तियों के अवशेष मिले।

१९०८ में एक खुदाई से पेशावर के करीब कनिष्क निर्मित बौद्ध स्तूप का अवशेष मिला। इस स्तूप की शाहजी की ढेरी पर स्थिति का अनुमान युवानच्वाग के आधार पर श्री फूशे ने लगाया था। बाद में श्री स्पूनर ने १९०८ में दूसरी खुदाई में हाथ लगाया। पहली बार तो खुदाई में कुछ हाथ नहीं लगा, लेकिन दूसरे बरस शाहजी की ढेरी के दक्षिण ओर खुदाई करते हुए एक दीवार का भाग मिला, जिस पर चूने-गारे से बनी हुई मूर्तियों के अवशेष बच गये थे। इससे अनुमान लग गया कि यह दीवार किसी बड़े स्तूप अथवा चैत्य का अवशेष है। धीरे-धीरे खुदाई करने पर पूरे स्तूप का पता लग गया और इसमें से काँसे की एक धातु पेटिका मिली, जो बुद्ध-मूर्तियों, मालाधारकों और हंसपंक्तियों से अलंकृत है। इन सबके बीच में लंबा कोट और पैजामा पहने हुये कनिष्क की प्रतिमा है। इस पर खरोष्ठी लेख में कनिष्क और उसके नवकर्मिक अगिसल, जो ग्रीक अगेसिलाओस का अपभ्रंश है, के उल्लेख हैं।

उत्तरी-पश्चिमी सीमा-प्रांत की खुदाइयों से संघारामों और चैत्यों को मूर्तियों द्वारा अलंकृत करने के इतिहास का पता चला। सर जान मार्शल के अनुसार दीवारों से घिरे, स्वतंत्र समकोण चतुर्भुज संघाराम पहले पहल कुषाण युग के आदि काल में उत्तर पश्चिमी सीमा प्रांत में बने और बाद में गंगा के मैदान और दूसरी जगहों में, मध्य भारत में खुले हुए और छोटी छोटी अलग इमारतोंवाले संघाराम इस तरह के संघाराम के सामने न टिक सके। शहरपनाहवाले संघाराम का विकास उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रांत ऐसे झगडालू प्रदेश के लिए स्वाभाविक ही था।

भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रांत में बौद्ध स्तूपों इत्यादि की खोज से हमारा ज्ञान अवश्य बढ़ा, पर सर जान मार्शल की तक्षशिला की तीस वर्षों की खुदाई ने हमको इस प्रांत का ई० पू० ७ वीं शताब्दी से ई० ५ वीं शताब्दी तक के सांस्कृतिक इतिहास के संबंध का बहुत सा मसाला दिया, और यह भी बतलाया कि भिन्न-भिन्न विजेता इस प्रांत में कौन-कौन-से परिवर्तन लाये।

तक्षशिला के शिलान्यास की निश्चित तिथि बताना कठिन है, पर भीड के टीले की खुदाई के आधार पर हम इसे ई० पू० सातवीं शताब्दी में मान सकते हैं। नगर के इस प्राचीन स्तर और बाह्लीक-ग्रीकों के आने के पहले तक के स्तरों से पता चलता है कि मकानों और सड़कों के बनाने में

किसी व्यवस्था का पालन नहीं किया जाता था। शहर के पहले स्तर में मकान अनगढ़ ढोंकों (rubble) से बने हैं, जिससे पता चलता है कि उस काल के मकान बनानेवालों को पत्थर की इमारतें बनाने का बहुत कम ज्ञान था। दूसरे स्तर में भी, जो शायद हखामनी काल का हो, इमारत और सड़कों के बनाने में कोई व्यवस्था नहीं है; फिर भी इमारती सामान में कुछ उन्नति दीख पड़ती है। तीसरे स्तर में, जो मौर्यकाल का है, चूना, गारे के बिना भी इमारतों में ढोकों की जमावट काफी साफ-सुथरी है। इस युग में हम देखते हैं कि इमारत बनाने की कला में उन्नति होने के साथ-ही-साथ सांस्कृतिक जीवन में भी जैसा इस स्तर के मिले बरतनों, गहनों और खिलौनों से पता लगता है, उन्नति हुई। पहले दो स्तरों में जो भी कलात्मक वस्तुएँ मिली हैं—जैसे सिक्के, मणियाँ इत्यादि, वे तक्षशिला में बाहर से आयी थीं, लेकिन मौर्यों के प्रादुर्भाव के साथ ही हम तक्षशिला के तीसरे स्तर में पूजा करने की मूर्तियाँ, खिलौने इत्यादि पाते हैं जिनके बनाने और सजाने की कला वही है जिसे हम बिहार और युक्त-प्रांत से मिली मौर्य वस्तुओं में पाते हैं। लेकिन इन मौर्य वस्तुओं के साथ ही हमें यूनानी कारीगरी के नमूने भी मिलते हैं जिससे पता चलता है कि पश्चिमी एशिया और तक्षशिला में कितना निकट संबंध था।

उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रांत में ई० पू० दूसरी शताब्दी में युरेशियन ग्रीकों के आते ही तक्षशिला की संस्कृति का एक नया युग आरंभ होता है। पंजाब पर सिकंदर की चढ़ाई की याद का पता हमें कुछ सिक्कों और भीड़ टीले के दूसरे स्तर से मिले कुछ मिट्टी के ठीकरों और छोटी वस्तुओं से मिलता है, पर इस क्षणिक चढ़ाई का प्रभाव नगर की सभ्यता पर अधिक नहीं पड़ा। लेकिन बाह्लीक के ग्रीकों की तो बात ही दूसरी है; क्योंकि उन्होंने भारतवर्ष को अपना घर बना लिया। उन्होंने पुराना शहर छोड़कर तमरा नाला के पल्ली ओर सिरसुप में एक नया नगर बसाया। मरी की नीची पहाड़ियों से वे नगर-रक्षा का भी काम ले सकते थे। इस नये नगर की रचना उन्होंने ग्रीक वास्तु-सिद्धांतों पर की। शहर का आकार खड़ी रेखाओं को पड़ी रेखाओं से विभाजित करके किया गया जिसके फलस्वरूप नगर बहुत-से समानान्तर चतुष्कोण (rectangular) चकों में बँट गया। घर भी कतार में और समानान्तर चतुष्कोण कमरों और सहनों से युक्त बने। लेकिन शहर पनाह उन्होंने मिट्टी की ही रक्खी। इनकी संस्कृति के प्रतीक

मूर्तियाँ इत्यादि नहीं मिलतीं जिससे पता लगता है कि उनके पास न तो समय था, न इच्छा जिससे वे कला द्वारा अपने शहर को अधिक सुंदर बना सकते। जो छोटी-छोटी कलात्मक वस्तुएँ मिली हैं, उनमें सिक्के, नग (gems), मनके, मिट्टी की मूर्तियाँ और बरतन मुख्य हैं जिन पर ग्रीक प्रभाव स्पष्ट है। मौर्य-कला का इस युग में अंत हो जाता है और अब से लेकर हूणों द्वारा तक्षशिला नष्ट होने तक भारतीय कला की पहुँच यहाँ रुक-सी जाती है।

ई० पू० पहली शताब्दी में जब शकों ने ग्रीक-सत्ता को हटाया तो उन्होंने नगर के विस्तार को कम करके पत्थर की नयी शहर-पनाह बनायी, लेकिन दूसरी बातों में शहर का नक्शा ज्यों-का-त्यों रहने दिया। जो कुछ भी शक-युग की कला के अवशेष बचे हैं उनमें ग्रीक छाया विद्यमान है। और उसमें हम उस सरमाती कला के भी चिह्न पाते हैं जो काले सागर के पास मिलती है और जो सरमती नाम की अर्धशक जाति की, जिन्होंने ई० पू० तीसरी शताब्दी में अमल शकों को वहाँ से निकाल बाहर किया, प्रतीक है।

तक्षशिला की मुद्राओं से अब यह बात साफ हो गयी है कि मौर्यों के बाद पह्लवों के आने तक यहाँ देशी और विदेशी दोनों कलाओं को बहुत कम स्थान था। लेकिन ईसा की पहली शताब्दी में पह्लवों के आते ही ग्रीक और ग्रीक-रोमन कला का बोल-बाला हो गया। तक्षशिला में मिली करीब तीन चौथाई वस्तुएँ ग्रीक-रोमन-प्रभाव से प्रभावित हैं। कुछ ऐसी वस्तुएँ पश्चिमी एशिया और भूमध्य सागर से व्यापार द्वारा आयीं लेकिन अधिकतर तक्षशिला में बनीं। इमारती अलंकारों से यथा—खंभों, खंभियों, कार्निस इत्यादि में ग्रीक-प्रभाव स्पष्ट है। तक्षशिला तथा डूरायुरोपास (सीरिया) और दूसरे स्थानों से मिले हुए पह्लव अवशेषों से यह साफ पता चलता है कि वे केवल घास के मैदानों में घोड़े पर चलनेवाले फिरंदर ही नहीं थे, वे सुन्दर नगर बना सकने थे, आरामदेह घरों में रहते थे, और आराइश के सामानों से उतना ही परिचित थे जितना रोम के लोग। उनकी व्यापारिक बुद्धि भी तीव्र थी क्योंकि हमें पता है कि उनके विशाल साम्राज्य में व्यापार का अपूर्व संगठन था।

गंधार-कला में जो ग्रीक-रोमन प्रभाव हम देखते हैं, उसके कारण भी पह्लव थे। यहाँ यह बता देना अनुचित न होगा कि सरकप से मिली

गंधार-शैली की मूर्तियों से पह्लवों का ग्रीक-रोमन की कला के प्रति आकर्षण का पता चलता है। यह भी जान लेना उचित है कि तक्षशिला के पह्लव-युग की कला पूर्णविकसित नहीं है। इसका पूर्ण विकास तो उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रांत पर कुषाण राज्य स्थापित होने पर हुआ।

तक्षशिला नगर के कई स्तरों की खोज के साथ-साथ धार्मिक इमारतें, जैसे बौद्ध स्तूप, संघाराम इत्यादि आस-पास में खोदे गये। इनमें एक ग्रीक ढंग का बना जंडियाल में अग्नि-पूजकों का मंदिर भी है, जो शायद ईसा की पहली शताब्दी में बना। ग्रीक-मंदिरों की बनावट के अनुसार इसमें प्रवेशद्वार (pronaos), अतंर्गृह (naos) और पृष्ठगृह (opisthodomos) है। इन दोनों अंतिम गृहों के बीच में शायद ऊँची वेदिका थी। प्रवेशद्वार पर दो जोड़ी आयोनिक स्तंभ हैं, लेकिन साधारण स्तंभ पंक्तियों (peristyle) की जगह भीतर हवा और रोशनी जाने के लिए एक बीस खिड़कियोंवाली दीवार है।

सर जान मार्शल ने तक्षशिला में और भी बहुत-सी बौद्ध इमारतें धर्मराजिक स्तूप, गिरि, कलावन, मोहरा मोरादू, जौलियाँ, पिप्पला, भमला में खोद निकालीं। इन खुदाइयों से यह पता चला कि पश्चिमी पंजाब में बौद्ध संघाराम का किस तरह विकास हुआ। हम देख सकते हैं कि प्राचीन-तम संघारामों की रचना एक खुले स्तूप के चारों ओर होती थी और छिट-फुट घरों को लेकर संघाराम पूरा होता था। ईसा की पहिली शताब्दी के बाद रक्षा के लिए संघाराम के चारों ओर दीवारें बनीं। अन्दर समकोण चतुर्भुज चौक छोड़ दिये गये जिनके चारों ओर वासगृह, विहार और छोटे-छोटे स्तूप बने। बाद में अधिक धनवान होने पर संघाराम में रसोईघर, और भोजन-घर भी बने। अंत में मध्य-युग के प्रथम चरण में भिक्षुओं की बढ़ती हुई संख्या और हूणों के डर को देखते हुए गिरी के मजबूत किले की रचना की गयी, जिसमें संकट-काल में वे शरण पा सकते थे और जरूरत पड़ने पर मरी की पहाड़ियों की तरफ भाग भी जा सकते थे। अंत में संघारामों के जले हुए खँड़हरों के बीच हथियार और नर-कंकालों की खोज से यह पता चलता है कि ई० पाँचवीं शताब्दी के अंत में श्वेत हूणों ने किस तरह उन्हें नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।

तक्षशिला के बौद्ध अवशेषों की खुदाई से हमें एक दूसरा लाभ भी हुआ है और वह है भिन्न-भिन्न समयों में पत्थर मसाला जोड़ने की विधियों

का ज्ञान जिसके द्वारा हम भिन्न-भिन्न स्तरों के काल आसानी से निश्चित कर सकते हैं। इसी तरह तक्षशिला से हमें ई० पहली से पाँचवीं शताब्दी की मूर्तियाँ मिली हैं जिन्हें हम कालक्रम से सजा सकते हैं। इन खुदाइयों से यह भी पता चला कि ईसा की पाँचवीं शताब्दी में एक विशेष शैली थी जो गंधार-शैली की कुछ प्राचीन बातों को लेते हुए भी उससे भिन्न थी। इस शैली का पता अफगानिस्तान में भी चलने पर इसका नाम हिन्द-अफगान-शैली रख दिया गया है। हूणों के आक्रमण के कुछ ही दिनों पहले यह शैली अपने पूर्ण विकास पर पहुँच चुकी थी। प्राचीन गंधार शैली और हिंद-अफगान-शैलियों में निम्न-लिखित भेद हैं—(१) गंधार-शैली में शिस्ट तथा दूसरे मुलायम पत्थरों का व्यवहार होता था, हिंद-अफगान-शैली में केवल मिट्टी और चूने के पलस्तर का (२) गंधार-शैली में जातक दृश्यों का चित्रण एक विशेषता थी, हिन्द-अफगान-शैली में जातक नहीं पाये जाते। इनकी जगह बोधिसत्वों, देवताओं, दाताओं और भिक्षुओं से घिरी हुई बुद्ध-मूर्तियाँ पायी जाती हैं, (३) केवल मूर्तियों तक सीमित होने से हिंद-अफगान शैली के युग में आदर्श, बुद्ध, बोधिसत्व, देवता, भिक्षु और दाता की मूर्तियों का सृजन हुआ जिनकी कल्पना प्राचीन गंधार-कला में नहीं है; (४) दूसरी तरफ साँचे से हिंद-अफगान-शैली की सस्ती और भद्दी मूर्तियाँ भी ढलने लगीं, इसीलिए हम इस शैली में कलात्मक मूर्तियों के साथ रद्दी बाजारू मूर्तियाँ और अर्धचित्र पाते हैं।

इमारतों और मूर्तियों के अलावा तक्षशिला की खुदाई में सर जान मार्शल को और सोने-चांदी के गहने, घरेलू बरतन, औजार, हथियार और बहुत-से सिक्के मिले। इन सबकी सहायता से हम उत्तरी-पश्चिमी सीमा-प्रांत की सामाजिक अवस्था और सभ्यता का अच्छा खाका खींच सकते हैं।

मथुरा

मथुरा श्रीकृष्ण की जन्म-भूमि है और वैष्णवों का प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान, लेकिन जो मूर्तियाँ यहाँ से मिली हैं, उनका सर्वत्र वैष्णव धर्म से न होकर अधिकतर बौद्ध और जैन धर्मों से है।

मथुरा की जैन और बौद्ध-आश्रित कला पर कुछ ग्रीक-प्रभाव भी पाया जाता है, लेकिन इसके यह माने नहीं कि तक्षशिला की पहलव-कला ने

मथुरा की कला पर कुछ विशेष प्रभाव डाला। वेदिकाओं और तोरणों के हजारों टुकड़े, जो अब तक मिले हैं, किसी समय स्तूपों को अलंकृत करते थे। इनकी बनावट भरहुत और साँची की वेदिकाओं और तोरणों-जैसी है और इसमें कोई शक नहीं कि मथुरा की कला का स्रोत भरहुत और साँची की कला में ही मिलता है।

सर अलेक्जेंडर कनिंघम ने मथुरा में कटरा केशवदेव नामक स्थान की सबसे पहले खोज की जिससे पता लगा कि केशवदेव के मंदिर के पहले, जिसे औरंगजेब ने तोड़ डाला, वहाँ ईसा के आरंभिक शताब्दियों में कोई बौद्ध मंदिर था।

मथुरा की पुरातत्त्व-संबंधी खोज में श्री ग्राउस का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने बहुत-से टीलों की खोज करके मूर्तियाँ प्राप्त कीं और एक छोटे से संग्रहालय की स्थापना की। श्री फुहरर ने भी कंकाली टीला खोदकर प्राचीन जैन-स्तूप से बहुत-सी मूर्तियाँ प्राप्त कीं।

मथुरा से मूर्तियों के संग्रह का सबसे बड़ा श्रेय रायबहादुर पं० राधाकृष्ण को है। पुरातत्त्व-विभाग के तत्त्वावधान में उन्होंने बहुत-सी मूर्तियों, लेखों इत्यादि की खोज की। १९०७ में उन्हें बुद्ध-चरित-संबंधी आठ दृश्यों से अंकित एक स्तूप का आधार (ड्रम) मिला। १९०८ में उन्हें एक उत्कीर्ण लेख-सहित बुद्ध-मूर्ति, हुविष्क के समय के एक लेख-सहित नाग-मूर्ति, एक बहुत अच्छी नक्काशीदार तोरण की सूचि तथा परखम की यक्ष-मूर्ति मिली। १९१० में जमुना के किनारे ईसापुर से दो पत्थर के यूप मिले। इनमें एक पर वासिष्क के राज्यकाल और शक-संवत् २४ का एक लेख मिला जिससे यह पता चला कि कनिष्क और हुविष्क के बीच में एक तीसरा राजा भी हुआ। पुरातत्त्व-विभाग की सहायता से माट गाँव के एक टीले की खुदाई भी श्री राधाकृष्ण ने की। यहाँ से उन्हें लंबा चुगा, पाजामा और बूट पहने कनिष्क की एक बेसिर वाली मूर्ति मिली। यहीं से उन्हें दो और कुषाण राजाओं की मूर्तियाँ मिलीं। मथुरा से मिली इन सब मूर्तियों का संग्रह कर्जन म्यूजियम ऑफ़ आर्कियोलोजी में है, जो १९३३ में सर्वसाधारण के लिए खोल दिया गया।

[शेषांश प्रतीक—१२ : वसंत में]

विश्वंभरप्रसाद शास्त्री

कला-वस्तु तथा प्राकृत वस्तु

कला में और कला जिसकी अनुकृति होती है उसमें उतना ही अंतर है जितना पुरुष और प्रकृति में। एक में सर्वथा चैतन्य है और दूसरी में जड़ता। चैतन्य और उसकी सृष्टि जड़ प्रकृति और उसके विभिन्न रूपों से ऊँचे पर है, अतएव कला का सौंदर्य प्राकृतिक जड़ सौंदर्य से उच्च कोटि का है। कला के सौंदर्य की सृष्टि चेतन मस्तिष्क से होती है और प्राकृतिक सौंदर्य भी यदि कभी कला के विषय होते हैं तो केवल तभी जब उनमें चेतनता का आरोप किया जाता है, या उनकी स्थिति में चेतन-रहस्य की संभावना की जाती है।

कला की किसी भी कृति में हम बाह्य वस्तु के स्वरूप से संतुष्ट नहीं हो जाते। हम उस कृति के अंदर जीवन की आशा करते हैं और उसे पाकर ही संतुष्ट हो सकते हैं। किंतु इस जीवन को प्रदर्शित करने के लिए बाह्य वस्तु का ऐसा स्वरूप होना चाहिए कि वह अंतर्निहित जीवन को व्यंजित कर सके। यदि बाह्य वस्तुरूप में यह क्षमता नहीं है, तो साधारण प्रकृति की वस्तुओं में तथा कलात्मक वस्तुओं में कोई भेद ही नहीं रहेगा। प्रकृति के पत्थर में ऐसी काट-छाँट करनी चाहिए कि उसके अंदर से जीवन-युक्त प्रतिभा निकल पड़े। इसी में कला का कलात्व है।

जैसा कहा जा चुका है कला में बाह्य वस्तुओं का निर्देश स्वयं वस्तु निर्देश के लिए नहीं होता। बाह्य वस्तु तो केवल साधन है। 'उनका काम तो आंतरिक जीवन, प्रगति, भाव, आत्मा, चेतन, मन, अथवा रहस्य वस्तु का निर्देश करना है।' यही कला का प्रयोजन है और इसी में उसका साफल्य है। किसी भी कलाकृति का सौंदर्य अथवा कुरूपता इसी पर निर्भर है कि कला-वस्तु इस आंतरिक जीवन को व्यंजित करने में कहाँ तक सफल रही है। [कुरूपता का अर्थ कला में यह नहीं है कि वस्तु किसी भाव की व्यंजना न कर सके। कुरूपता के साथ भावों की व्यंजना है अवश्य, किंतु पृथक भावों की पृथक स्थानों ही पर। एक दृष्टि से देखे जाने पर व्यंजित भावों

में विरोध दीखता है, एकता नहीं। वस्तु के सभी अंग एक ही भाव की ओर निर्देश नहीं करते। किसी भी वस्तु के कुरूप होने का अर्थ यही है कि उसके सारे अवयव आपस में संबद्ध होकर एकता का आभास नहीं देते। सौंदर्य भी कृत्रिम वहीं हो जाता है जहाँ वस्तुओं की रचना विरोधात्मक भावों का प्रदर्शन करती है।] कला-वस्तु में इसी आंतरिक चैतन्य की झलक मिलती है और इसी का हम उसमें अनुभव करते हैं। बाह्य वस्तु सदैव इसी आंतरिकता की ओर संकेत करती रहती है, स्वयं अपनी स्थिति से उसे भी कोई प्रयोजन नहीं है।

कला में वस्तु और भाव का पूर्ण सामंजस्य रहता है। वस्तु का कोई भी अंग ऐसा नहीं होना चाहिए जो अंतरतम भाव में सहायक न होने के कारण अनावश्यक ठहरा दिया जाय। साथ ही वह ऐसा कोई भी भाव व्यंजित न करे जो मूल भाव की व्यंजना में विरोध उत्पन्न करे। यह आवश्यक नहीं है कि वस्तु का प्रत्येक अंग एक ही भाव को प्रदर्शित करे। कुछ अंग अन्यतर भाव को भी व्यंजित कर सकते हैं; किंतु ये व्यंग्य मूल-व्यंग्य के अंग होने चाहिएँ। शृंगार रस की उत्पत्ति के साथ हास्य को उसका अंग बनाकर उसका सन्निवेश किया जा सकता है।

फिर भी यह ध्यान रखना चाहिए कि एक भाव प्रत्येक वस्तु में उसी प्रकार प्रदर्शित नहीं किया जा सकता। वस्तु-प्रकार की भिन्नता के साथ व्यंजना की प्रक्रिया में भी भेद हो जाते हैं। भिन्न-भिन्न वस्तुओं में वही भाव भिन्न-भिन्न रूप से प्रदर्शित किया जाता है। यही कारण है कि तैलचित्र, जलचित्र, खड़ियाचित्र आदि तक में उसी रूप को प्रदर्शित करने के लिए भिन्न रीति ग्रहण करनी पड़ती है।

साधारण जीवन के उपयोग में आनेवाली वस्तुओं में तथा कला-वस्तु में बड़ा भारी अंतर है। साधारण जीवन में हम वस्तुओं को अपने से पृथक मानकर उनको अपनी तुष्टि के लिए प्रयोग में लाते हैं। क्रियाओं में हमारी आत्मा स्वतंत्र नहीं रहती। उन वस्तुओं से देह का संबंध होने के कारण हमारी आत्मा उनके प्रति क्रियाशील रहती है; परंतु बद्ध रूप में, आत्मा उनके प्रति क्रिया करके अपना दर्शन नहीं पाती; अपितु स्वयं को उनके परतंत्र जानकर असंतुष्ट रहती है। आत्मा को इन अवसरों पर बाह्य जगत् से संबंध रखना पड़ता है। इस प्रकार ये बाह्य स्थितियाँ आत्म-संतुष्टि में बाधा पहुँचाती हैं, क्योंकि आत्मा स्वतंत्र क्रीड़ा न कर बाह्य स्थितियों के

अनुकूल चलने का बाध्य है। किंतु कला में आत्मा को इस पराधीनता का अनुभव नहीं करना पड़ता। कला तो स्वयं आत्मा की व्यंजना करती है। कला की कृति से आत्मा स्वयं को पा जाती है। उस कृति में उसका बाह्य जगत् से संबंध टूटकर केवल अपने ही में रमण रहता है। यहीं पर उसे अपने स्वरूप को ज्ञात करने का अवकाश मिलता है। इसका कारण, जैसा कहा जा चुका है, यही है कि कला-वस्तु का केवल अपनी स्थिति से कोई प्रयोजन नहीं रहता, वह तो आत्मा की व्यंजना का साधन है। आत्मा की स्वतंत्रता के लिए मनुष्य सदैव ही प्रयत्न करता रहता है। बुद्ध ने भी यही किया था। अपने सांसारिक जीवन में हमें या तो आत्मा का वस्तुओं के प्रति बंधन स्वीकार करना पड़ेगा अथवा हम इन बंधनों को तोड़कर भाग ही जायेंगे, जैसा मुक्ति की इच्छा करनेवाले करते रहे। किंतु कला में वस्तु और आत्मा का ऐसा समन्वय होता है कि बाह्य रूप बंधन न होकर स्थायी रूप से आत्मा ही की तुष्टि के साधन है। हाँ, सांसारिक बंधनों से मुक्ति का यह साधन मनुष्य को पूर्ण मोक्ष नहीं दिला सकता।

कला-वस्तु द्वारा जो आनंद मनुष्य प्राप्त करता है, उसमें लोकोत्तरता है। इस लोकोत्तरता में तीन गुण विशेष रूप से दीखते हैं। कला से उत्पन्न आनंद स्थायी है, क्षणिक नहीं। संसार में अन्य वस्तुओं द्वारा जो संतोष होता है वह केवल उसी समय तक रहता है, जब तक वह वस्तु भुक्त की जाती है। साथ ही कुछ समय तक भोग करने के बाद उसकी ओर से मनुष्य की अरुचि हो जाती है। कला-वस्तु का उपभोग अनंत समय तक किया जा सकता है। दूसरे, यह आनंद वस्तु से साक्षात् संबंध रखता है। कलात्मक आनंद के लिए कलावस्तु की स्थिति की सदैव ही आवश्यकता रहती है। हम संसार के पदार्थों को खाकर, नष्ट करके अथवा उनका स्वरूप बदल करके ही अपनी तृष्णा का अपनोद-रूप आनंद प्राप्त करते हैं। भोजन इसलिए अच्छा लगता है, क्योंकि उससे क्षुधा मिटती है, क्षुधा के परितोष से आनंद मिलता है, स्वयं भोजन की स्थिति से नहीं। किंतु कला द्वारा आनंद स्वयं वस्तुस्थिति के द्वारा है। तीसरे, यह आनंद सर्व-साधारण है। इसमें ईर्ष्या का अवकाश नहीं है, क्योंकि यह बाँटने पर घटता नहीं है। सबको पूरा-पूरा मिलता है। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि कलावस्तु सब सामाजिकों को एक-रूप कर देती है, वास्तविक जगत् से भिन्न काल्पनिक और आत्मिक जगत् में बिठा देती है।

वास्तव में कला प्रकृति-संसार के ऊपर एक संशोधन है। संसार के अंदर हम कई वस्तुएँ देखते हैं और अधिकतर क्या सदा ही इनमें परस्पर विरोध दीखता रहता है। सुख ही के पास दुख , प्रेम ही के पास घृणा, ऊँचाई-निचाई, अच्छाई-बुराई साथ-साथ दीखती हैं। प्रकृति में यह अपूर्णता स्पष्ट दीखती है। कला प्रकृति की इस अपूर्णता पर विजय है। यों तो संसार की प्रत्येक वस्तु में कोई-न-कोई भावात्मक स्वरूप निहित रहता है। किंतु यह (भावात्मक स्वरूप) पार्श्वस्थित अपर अदार्थ में निहित भावात्मक रूप से विरूद्ध होने के अतिरिक्त अपूर्ण रूप में प्रकाशित रहता है। कलाकार के मन पर वस्तु का यह भाव प्रतिबिंबित हो जाता है। कलाकार उस भाव की अपूर्णता तथा अस्पष्ट व्यंग्यत्व देखकर उसे और अधिक पूर्णता तथा व्यंग्यत्व के साथ प्रकाशित करना चाहता है, किंतु इसके लिए उसे फिर सविकल्प पदार्थ (जो इस भाव की पूर्ण व्यंजकता के लिए सर्वथा उपयुक्त हो) का आश्रय लेना पड़ता है। इस प्रकार वास्तविक जगत् में जो भावना अपूर्ण रूप में थी उसको पूर्ण प्रकाश देना ही कलाकार का काम है। यों वस्तु में अपनी विशिष्टता हुआ करती है, जो जगत की अन्य वस्तुओं की विशिष्टताओं से मेल नहीं खाती। कलाकार विशिष्टताओं को छोड़कर साधारणत्व की ओर दौड़ता है। विशेषों से साधारणत्व को ग्रहण करके कला वस्तु में उसको अंकित करना ही कलाकारित्व है। किसी वस्तु के साधारणत्व को ग्रहण करके सरल और उपयुक्त इन्द्रियग्राह्य सविकल्प स्वरूप में उसकी पुनः सृष्टि कर देने में फिर से नया जीवन उत्पन्न करने में कुछ विशेषता है। यह उसी वास्तविकता का पुनः प्रकाशन नहीं है जिसको हमारी इन्द्रियाँ संसार में देखती रहती हैं। कला में तो मनुष्य प्रकृति के साथ होड़ करता है—प्रकृति के अपूर्ण प्रयोजनों को पूरा कर देता है, और उसके दोषों को शुद्ध कर देता है।

यहाँ एक आशंका होती है। उपयोगिनी कलाएँ भी तो प्रकृति की कमियों को पूरा करती हैं, उनमें और ललित कलाओं में क्या भेद रहा ? भेद अवश्य है। ललित कलाओं को औपयोगिक आवश्यकताओं से क्या प्रयोजन ? दूसरे, कला के तीन विशिष्ट गुण जो ऊपर बताये जा चुके हैं, उपयोगी कलाओं पर लागू नहीं होते। ललित कलाएँ वास्तविक जगत के ऊपर औपयोगिक सुधार नहीं करती हैं। वे तो कल्पना के सहारे केवल आदर्श अवस्था की ओर संकेत करती हैं—'जिस ओर प्रकृति अपनी

उच्चतम अवस्था में—मानव-जीवन में जहाँ उसकी इच्छा सबसे अधिक स्पष्ट है, यद्यपि उसकी असफलताएँ भी बहुत हैं—लक्ष्य करती रहता है।' कलाकार प्रकृति के अंदर बहुत सी वस्तुओं को छोड़ता रहता है जो यदि न छोड़ी जातीं तो मूल भाव में आघात पहुँचाता, मूल भाव की प्राप्ति में ठोकरों का काम करतीं। प्रकृति में केवलता का और कहीं-कहीं पर ही संकेत हैं। इन स्थानों को एकत्रित करना ही तो कलाकार का काम है। अतएव कहा गया है कि 'कलाकार उन व्यवधानात्मक मंद पर्दों को छोड़ देता है जिनके द्वारा प्रकृति शक्यत्व तथा अस्तित्व के भेद को एक साथ रखने का प्रयत्न करती है। कलाकार स्वयं अस्तित्व और शक्यत्व के सामंजस्य को दिखाता रहता है। अस्ति को शक्य तक पहुँचा देता है।

कला की कृति में स्पष्टता है। भाव की पूर्ण प्रकाशता का साधन वह सन्निकप साक्षात् रूप को धारण किये रहती है। वह वास्तविकता है छाया नहीं, किंतु ऐसी वास्तविकता जिसमें प्रकृति की कमजोरियों के स्थान पर भावों का अंतर्गान है। प्राकृतिक संसार की कृतियों से भाव स्पष्टतया व्यंजित नहीं होते कलात्मक संसार भाव का स्पष्ट व्यंजक है।

काव्य में यदि अवास्तविकता है, तो केवल इतनी ही कि वह वास्तविकता को भी पार कर जाता है। इसमें ऐसा मिथ्यात्व नहीं होता, जो कला को प्रकृति के तत्त्वों अथवा उसकी भावनात्मक प्रगतियों के विरुद्ध दिखाय। इतिहास वास्तविक घटनाओं का उल्लेख करता है। काव्य उन्हीं घटनाओं में से काट-छाँट कर के उन को चिरंतन सत्य के रूप में ढाल देता है। इतिहास के आधार पर बने हुए नाटकों में काल्पनिकता होती है किंतु वह इस प्रकार की कि घटनाएँ और अधिक सत्य दीखें—और उसी समय का सत्य नहीं अपितु संसार के किसी क्षण में भी सत्य। ऐतिहासिक घटनाओं की सत्यता के बारे में तो हमें कभी संदेह हो सकता है, क्योंकि मानव प्रकृति भावनाओं में विरोधात्मक प्रवृत्ति का निदर्शन कराती रहती है। मनुष्य के आचरणों की प्रगति के विषय में कोई तार्किक युक्ति नहीं ठहरायी जा सकती। किंतु काव्य तो उन संभवताओं पर निर्भर है जिनका किन्हीं विशेष अवस्थाओं में होना निश्चित है। काव्य संसार—दैवयोग को स्वीकार नहीं करता। 'दैवयोग तो युक्ति विरुद्ध कारण है। वह नियमहीनता और असंबद्धता को प्रदर्शित करता है।' अतएव काव्य में उसके लिए

कोई स्थान नहीं है। काव्य में आदर्श भाव—एकता—का वर्णन रहता है। दैवयोग में युक्ति का अवकाश न होने के कारण वह काव्य से दूर ही है। इसलिए काव्य प्रकृति से ऊँचे उठा रहता है। यह बुद्धिहीनता तो प्रकृति ही में है कि बिना युक्ति के किसी घटना को स्थान दे दे। और यदि काव्य में कहीं दैवयोग होगा भी तो केवल वहीं जहाँ उसका होना सप्रयोजन है। उसकी प्रयोजनवता ही उसकी स्थिति के लिए अच्छी युक्ति है। काव्य के दैवयोग की स्थिति का कारण और औचित्य हमारी समझ में आ जाता है और इसलिए हमारी बुद्धि उस घटना के प्रति विद्रोह करने के लिए खड़ी नहीं हो जाती।

कला वास्तविकता से भी आगे बढ़ जाती है, किंतु इस गति में वह सांसारिक मानव-युक्ति के विरुद्ध नहीं जा सकती। कला शक्यत्व का प्रदर्शन करती है, किंतु उसी शक्यत्व का जो युक्ति-युक्त ठहरता है अथवा जो वास्तविकता से गृहीत नियमों की भित्ति पर रचा गया है। यह शक्यत्व इस प्रकार केवल अविरोधात्मक संभावित अस्तित्व है। कला उच्चतर सत्य को निदर्शित करती है। उसकी संभवता (शक्यता) केवल यहीं तक सीमित है कि वह साधारण को उस रूप में प्रकट नहीं करती जिस रूप में वह वास्तविक जगत् में पाया जाता है—जैसा वह स्वयं है (अविकल्प भाव के रूप में) वरन् उस रूप में जिसमें वह वह इंद्रियग्राहकता का विषय हो सके। काव्य में कल्पना की उड़ान निरर्थक उड़ान नहीं है। कला में वस्तुओं का रूप इसीलिए परिवर्तित कर दिया जाता है कि साधारण भाव अधिक पूर्णता और स्पष्टता के साथ व्यंजित हो। कवि के झूठ में हम विश्वास कर लेते हैं। अन्य सांसारिक मनुष्यों के झूठ को हम पकड़ लेते हैं। इसका कारण यही है कि सांसारिक मनुष्य की कल्पना युक्ति की सीमा को लाँघ गयी थी और कवि की कल्पना वास्तविक जगत् के सत्य को पूर्ण कर रही थी।

किंतु यह भी सत्य है कि कला बौद्धिक विवेचन का विषय नहीं है। वह स्वयं को तर्कबुद्धि के समक्ष उपस्थित नहीं करती। कला का उपभोग करते समय तो सामाजिक का मन तथा बुद्धि दोनों निष्क्रिय हो जाते हैं। (उसका स्थान प्रतिभा और सहृदयत्व ले लेते हैं) मनुष्य ऐसे समय में विवेचनात्मक नहीं रह सकता; यदि विवेचनात्मक होगा तो कला के वास्त-विक आनंद की प्रतीति में बाधा उपस्थित हो जायगी। कला तो ऐंद्रिय अनुभूति

और कल्पना-शक्ति का विषय है। उसका संबंध वस्तु के शारीरिक संगठन से नहीं है, वरन् केवल बाह्य स्वरूप से—वस्तु की ऐंद्रिय प्रतीति से। इस प्रकार कला माया का प्रयोग करती है। वस्तु से उस प्रतीति का प्रतिपादन कराती है जो उसका आवयविक संगठन नहीं है। इस दृष्टि से कला का संसार शुद्ध बुद्धि से प्रकाशित संसार नहीं है। कला सत्य को देखना चाहती है किंतु उस रूप में नहीं जिसमें वह वर्तमान है। उस सत्य को—अविकल्प भाव को—वह सविकल्प प्रकटता के रूप में देखना चाहती है। कला पदार्थों की विषयात्मक वास्तविकता को कभी भी शरीर नहीं देती। पदार्थों की वास्तविकता से उसे कुछ नहीं लेना है। अधिक-से-अधिक पदार्थों के ऐंद्रिय स्वरूप को वह अपनी भाव व्यंजना का साधन बनाती है। कला ऐंद्रिय प्रतीति द्वारा अनुभूत मानव प्रवृत्तियों का परिचय कराने ही के लिए पदार्थों की वस्तु-स्थिति से संबंध रखती है, क्योंकि उसकी प्रतीति ऐंद्रिय होनी चाहिए और ऐंद्रिय होने के लिए उसमें सविकल्पता होनी चाहिए। इसीलिए कला में सौंदर्य का प्रमुख स्थान है, वरन् सौंदर्य ही कला का धर्म है, लक्षण है।

अतएव कलाकार का हाथ वस्तु की रचना में मँजा होना चाहिए। उच्चतम कोटि के भाव को धारण करना ही यथेष्ट नहीं है। उस भाव को प्रकाशित करनेवाली वस्तु की उपयुक्त रचना में भी कलाकार चतुर होना चाहिए। लोगों की अधिकतर यह धारणा है कि कला के लिए प्रेरणा और जन्मसिद्ध प्रतिभा ही की आवश्यकता है। वास्तव में कला-वस्तु की रचना में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि कलाकार जिस वस्तु को कलात्मक रूप देना चाहता है उसके प्रयोग में वह कहाँ तक कुशल है, कला-सृष्टि के व्यापार में उसका कितना पांडित्य है, मूर्तिकार पत्थर के ऊपर अपनी छेनी किस सफलता से चला सकता है? हाँ, यह भी अप्रधान नहीं है कि कलाकार मूर्ति के अंदर किस भाव को व्यंजित करना चाहता है और वह भाव कितना प्रभावोत्पादक तथा मौलिक है। कलाकार जितना ही महान होगा उतना ही वह आत्मा और मन की गंभीर अनुभूतियों को प्रदर्शित करने में प्रवीण होगा। और यह कौशल सांसारिक जीवन के विभिन्न अंगों तथा भिन्न भिन्न प्रकृतियों के ज्ञान के साथ बढ़ता जाता है। काव्य प्रकाशकार ने काव्य की रचना के लिए शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों ही की आवश्यकता समझी और यह ठीक भी है। रसगंगाधरकार ने यद्यपि प्रतिभा ही को काव्य का कारण माना है, फिर भी उसकी 'प्रतिभा' के अंदर व्युत्पत्ति और

अभ्यास का पुट वर्तमान है। प्रधानता में तो भिन्न-भिन्न लक्षणकारों के भिन्न-भिन्न मत रहे हैं, किंतु एक बात में संदेह नहीं है कि कलाकृति के स्वरूप और अंतरतम भाव में पूर्ण सामंजस्य रहना चहिए। यदि तीव्रतम उच्च भावना को कलाकार उचित ऐंद्रिय स्वरूप नहीं दे सका, तो वह कला की कृति, सामाजिकों में वैसी अनुभूति उत्पन्न नहीं कर सकती। साथ ही निकृष्ट भावों को मँजी हुई रचना में रखने से कलात्व न होकर मदारी के खेल का आभास होगा। आंतरिक भाव के अनुकूल बाह्य शरीर का होना नितांत आवश्यक है, अतएव प्रतिभा के साथ कला के साधनों में रचना-कौशल भी आवश्यक है।

क्लॉड हॉटन

'जब मेरी अपने-आपसे भेंट हुई—'

मुझे यहाँ आये काफी समय हो गया है। कम-से-कम, कुछ सप्ताह तो अवश्य। और मैं अभी यहाँ से जा भी नहीं रहा हूँ—यह पक्की बात है।

यों जगह कुछ बुरी नहीं है। आराम की मुझे जरूरत थी, इसमें कोई सन्देह नहीं। आदमी बिना जाने ही बहुत अधिक थक जा सकता है। थकान से मेरा मतलब शरीर की थकान नहीं है।

यह जगह कितनी शांत है, आप सोच नहीं सकते। दिन में आश्रम की-सी शांति, रात को समुद्र का एक स्वर। कभी यह किसी रईस का विश्रांति-भवन था। ऊँची जगह पर बना है, सब तरफ ऊँचा-नीचा लहराता बगीचा है। सड़क से घर नहीं दीखता, केवल कामदार फाटक दीखता है, और ड्योढ़ी, और घने छाये हुए रास्ते की एक लीक।

पीढ़ियों तक एक ही परिवार यहाँ रहता रहा। फिर यह मकान बेच दिया गया—सब सामान-समेत ज्यों-का-त्यों। अब भी हाल, कमरे और उसकी गैलरी से उन्हीं लोगों की शबीहें नीचे झाँकती हैं—अभिमानी, निडर, आत्म-विश्वास-भरे चेहरे। एक चित्र बहुत मार्के का है—अठारहवीं शती के कवि का जो शराब पीते-पीते मर गया। यह चित्र बैठकखाने के पास एक आले में है। ऐसा हँसता हुआ विनोदी चेहरा—ऐसी चमकदार विदग्ध आँखें! अभी उस दिन पूर्णिमा की रात को यह चित्र मानो मेरी ओर आँख मार रहा था।

मुझे अभी यहाँ एक महीना और रहना पड़ जाय तो कोई मुजायका नहीं। क्या है, समुद्र पास है, कभी रात में अचानक चौंककर जागो तो लहरों की गर्जन और फिसलन सुन पड़ती है। रात को सागर की आवाज-जैसी तसल्ली देनेवाली चीजें कम होती हैं। फिर यहाँ के नौकर-चाकर बड़े कार्य-कुशल हैं। आप कल्पना नहीं कर सकते कितने। और फिर कैसे-कैसे दिलचस्प लोगों से भेंट होती है—आप दंग रह जायँ।

यों तो कुछ-न-कुछ होनेवाला है, यह बात मैं यहाँ आने से बहुत पहले जानता था। हाँ, ज़रूर जानता था, बिलकुल ठीक जानता था। असल में यह तो मैं साल भर से जानता था कि यह सब ढर्रा जैसे चल रहा है, वैसे ज्यादा नहीं चल सकता। बल्कि बिलकुल चल ही नहीं सकता। लेकिन यह थी मार्के की बात, क्योंकि वैसे मेरे चिंतित होने का कोई कारण नहीं था, ज़रा भी नहीं। पैसे की मुझे कमी नहीं थी। जीवन में सफलता भी मुझे मिली थी। जैसी सफलता के स्वप्न देखे थे वैसी न सही, लेकिन यों तो भली ही थी। हर कोई सब कुछ थोड़े ही पा सकता है?

तो मुझे मालूम था कि कुछ-न-कुछ होनेवाला है। यह नहीं कि मैं इससे डरता था—ज़रा भी नहीं बल्कि उल्टे मुझे स्फूर्ति होती थी—उत्तेजना मिलती थी। रोज़ जैसे ही मेरी नींद खुलती, मैं मन-ही-मन कहता, "शायद आज हो कुछ।"

और—यह बड़ी अजीब बात है—जिस क्षण से मैंने सोचना शुरू किया कि कुछ होनेवाला है, उसी क्षण से मैंने लोगों को देखना छोड़ दिया। बिलकुल! मैं हर वक्त अकेला ही रहता—प्रतीक्षा करता हुआ।

और तब एक दिन वह हो गया।

अचंभे की बात यह है कि उस समय मैं कुछ सोच नहीं रहा था। स्ट्रैंड पर चला जा रहा था, बस। स्ट्रैंड में टहलता हुआ, अक्तूबर के एक धुंध भरे दिन में साढ़े बारह बजे के क़रीब जा रहा था एक शराबख़ाने की ओर जहाँ मैं अक्सर जाता था। अक्सर। ठेकेदार को मैं अच्छी तरह जानता हूँ, भला आदमी है। शराबख़ाना भी अच्छा है—ऊँचे दर्जे का, जिसमें भद्र और सफल लोग जाते हैं। वहाँ अक्सर बात होती है कि किसका कारोबार कैसा अच्छा चल रहा है। इधर-उधर कुछ मेज़ें लगी हैं। मैं हमेशा कोने वाली मेज़ पर बैठता हूँ। हाँ, अकेला— और नहीं तो क्या?

हाँ, तो मैं चला जा रहा था स्ट्रैंड पर—कुछ न सोचता हुआ। आसपास ख़ासी चहल-पहल थी—होगी ही। सब लोग जल्दी में थे—सिवाय एक मेरे।

तभी—भगवान जाने क्यों—मैंने नज़र उठायी। यह भी एक अजीब बात थी, क्योंकि मैं हमेशा नीचे पटरी की ओर देखता हुआ चलता हूँ। और क्यों नहीं—जानता हूँ कि ऐसी कोई चीज़ नहीं दीखेगी जिसे हज़ारों

बार न देख चुका हूँ। फिर मेरी नजर भी तो वैसी नहीं रही—उमर भी तो हुई अब !

ख़ैर, जो हो, मैंने नजर उठायी। और मेरे ठीक सामने पचास गज की दूरी पर—सोच सकते हो कि मैंने किसे देखा ?

अपने-आपको बीस बरस की उमर का।

इसमें रत्ती भर भी शुबहे की गुंजाइश नहीं थी—ठीक मैं था—बीस बरस की उमर का। अक्तूबर के इस धुँधले दिन में, स्ट्रैंड पर टहलता हुआ मेरी तरफ आता हुआ।

मैं थर-थर काँपने लगा। मैंने चिल्लाना चाहा। मेरा दिल सरपट दौड़ने लगा। आँखें भारी आँसुओं से भर आयीं। और—सच कहूँ हालाँकि कहने में अजब लगता है—मैं एक मूर्त्तिमान प्रार्थना हो गया। एक थरथराती दम-घुटी प्रार्थना।

मैं लड़खड़ाता हुआ आँखें फाड़कर उसे देखता खड़ा रहा।

वह स्ट्रैंड पर हड़बड़ाये आते-जाते मानवों—स्त्री-पुरुषों—के बीच देवता-सा बढ़ता चला आ रहा था। उसकी आँखों में अरमानों की दैवी चमक थी, उसके माथे पर ऐश्वर्य का स्वर्ण-तिलक।

वह लौट आया था।

मैं समझे था कि वह मर चुका।

वह लौट आया था।

स्मृति की एक लहर के थपेड़े से मेरे पाँव उखड़ गये। मुझे चक्कर आने लगा। मैं सोच न सका कि सब ट्रैफ़िक रुक क्यों नहीं जाता, सब आवाजाही बंद क्यों नहीं हो जाती। मैं चाहता था घुटने टेक देना—फरियादी बाहें पसारना—लेकिन सका इतना ही कि शराबी की तरह लड़खड़ाता रहूँ।

वह नजदीक आ गया—और भी नजदीक।

वह मेरे बिलकुल बराबर आ गया।

वह मेरी अनदेखी कर बढ़ गया।

मैंने चाहा, हँसूँ—रोऊँ—चिल्लाऊँ। मैं गिरने लगा—लोग बराबर मुझे ठेलते हुए चले जा रहे थे।

मैंने घूमकर देखा—लेकिन वह मुझे नहीं दीखा। केवल लोग, लोग—अनवरत आती और जाती हुई भीड़......

मैंने दौड़कर उसका पीछा करने की कोशिश की।

किसीने मुझे बाँह पकड़कर उठाया। किसीने पूछा कि मेरे चोट तो नहीं लगी। एक लड़की थी जवान, बल्कि बालिका। वह बहुत डरी हुई-सी भी थी, लेकिन मुझे सहारा देकर उठाया उसीने।

"तुमने देखा उसे? अभी, इसी दम? एक मिनट भी नहीं हुआ! एक कवि --वासना-विह्वल, निशाओं का चित्रक!"

वह बोली--"मैंने तो ऐसा कोई व्यक्ति नहीं देखा।"

मै उसे छोड़कर टटोलता हुआ शराबखाने की ओर बढ़ा—लड़खड़ाता हुआ उस कोने वाली मेज तक पहुँचा और धम्म से कुर्सी में गिर गया। कुछ फ़र्मायश करने की जरूरत न थी—मैं क्या पीता हूँ, वहाँ सब जानते हैं।

वेटर ने दोहरा पेग लाके दिया। उसके देखते-देखते मैंने उसे पी लिया। वह एक और ले आया।

मुझे नहीं मालूम कि मै कब तक वहाँ रहा। मैं बिलकुल थकाचूर हो गया था। मैंने मेज़ पर अपना सिर टेक दिया। पीछे, बहुत पीछे किसी ने आकर कहा कि मुझे जाना होगा—बंद होने का समय हो गया है। मैं रो रहा था।

स्पष्ट ही वेटर ने देख लिया था कि मुझे गहरा सदमा पहुँचा है, क्योंकि उसने मुझे सहारा देकर उठाया और मुझे दिलासा दिया—मुसीबतें सभी पर आती हैं...बल्कि अगर उसने मुझे सहारा देकर बाहर पहुँचा के टैक्सी न बुला दी होती तो मैं किसी तरह घर न पहुँच सकता।

जब मैं अपने फ्लैट की बैठक में पहुँचा तो एक अजीब बात हुई। मैं एक आईने के सामने खड़ा था, लेकिन उसमें प्रतिबिंब उसका नहीं था जो कि मैं आज हूँ। प्रतिबिंब मेरे बीस बरस की उम्र के समय का था। मुझसे सहन नहीं हुआ।

मैंने एक काम किया जो बरसों से नहीं किया था। बरसों से नहीं।

मैंने घुटने टेक दिये और प्रार्थना करने लगा। अजब बात—जब बरसों से प्रार्थना न की हो!

मैंने कुछ माँगा नहीं। वैसी प्रार्थना मेरी न थी। मैंने अपने अन्दर का नरक भगवान के चरणों में उडेल दिया, बस।

फिर मैं जरूर सो गया हूँगा—फर्श पर ही। जागा तब अँधेरा था। ऊपर के फ्लैट में रेडियो बज रहा था और मैंने नौ बजे की खबरें सुनीं।

वह मेरी अपने-आपसे पहली भेंट थी।

नहीं सोचा था कि दुबारा भेंट होगी। मुझे सबसे अधिक दुःख इस बात का था कि वह आँख फेरकर चला गया। या—यह तो और भी बुरी बात थी—शायद उसने मुझे पहचाना ही नहीं। मैं दिन-रात इसी ग्लानि से घुला जा रहा था।

क्या उसने नहीं पहचाना होगा कि मैं उसकी सन्तान हूँ? हाँ, उसकी संतान! वह मेरा अतीत है—मैं उसका भावी। भावी अतीत की सन्तान है। इसलिए वह मेरा है—मैं उसका हूँ। मैंने उसे पहचाना, वह क्यों नहीं मुझे पहिचानेगा।

तब मेरी उससे फिर भेंट हुई। स्ट्रैंड में, ठीक उसी जगह, ठीक उसी समय। और अजब बात यह कि मैं तब उसके बारे में नहीं सोच रहा था। बस स्ट्रैंड पर टहलता हुआ चला जा रहा था—पटरी पर नजर जमाये हुए। मैंने एक पुकार सुनी—नजर उठायी—मेरे सामने खड़ा था वह बिलकुल मेरे पास।

मैं रुका—बाँह फैलाकर, रास्ता रोककर उसका कंधा पकड़ झकझोरता हुआ चिल्लाया, "देखो—मेरी तरफ देखो! इस बार तुम बचकर नहीं जा सकते। तुम अस्वीकार नहीं कर सकते। दुनिया में अगर कोई मुझे अस्वीकार नहीं कर सकता तो वह तुम हो।"

"कौन हो तुम?"

"और नजदीक से देखो नहीं, पीछे मत हटो—तुम मुझे झाँसा नहीं दे सकते। तुम्हारा हर कदम तुम्हें मेरी ओर लाता है।"

"मगर तुम हो कौन?"

"क्या तुम कल्पना कर सकते हो कि तुम—मैं हो?"

"मैं—तुम?"

आवाज़ में तिरस्कार नहीं केवल अचंभा।

"तो तुम कल्पना नहीं कर सकते कि तुम मैं हो।"

"नहीं। क्यों करूँ ?"

"मैं तो कल्पना कर सकता हूँ कि मै और तुम एक हैं।"

मैंने उसकी आँखों में झाँका। इतनी एकाग्रता से इतने गहरे झाँका कि जो वह देखती थी, वह मुझे दीखने लगा। और वह मुझे सह्य नहीं था। अभी नहीं।

"आओ" मैंने चीखकर कहा, "हमें बहुत बातें करनी हैं। हमें मिले तो मुद्दतें गुज़र गयी हैं।"

'मैं ज्यादा देर नहीं रुक सकता—मुझे बहुत काम है।"

'तुम्हें मुझसे परिचित हो जाना होगा।"

"क्यों ?"

"क्योंकि एक दिन ऐसा आयेगा जब तुम तो हमेशा के लिए मेरे साथ रह जाओगे, लेकिन मैं तुम्हारे साथ नहीं रहूँगा।"

उसने मेरी आँखों में झाँका। इतनी एकाग्रता से और इतने गहरे झाँका कि मुझे डर लगा, कि वे जो देखती हैं वह कहीं उसे भी दीख न जाय ! वह उसे सह्य नहीं होगा। अभी नहीं।

"मैं अपना समय नष्ट नहीं कर सकता", उसने कहा, "अच्छा हो कि तुम अपने रास्ते जाओ और मैं अपने।"

"तुम्हारा रास्ता तो मुझी तक है—लेकिन मेरा रास्ता तुम तक नहीं। आओ, आओ; तुम्हें मेरे साथ बैठकर दो घूँट शराब पीनी होगी। हाँ, ज़रूर पीनी होगी। तुम पीकर भविष्य को दुआ देना, मैं अतीत को दूँगा।"

मैंने उसे शराबख़ाने का रास्ता बताया। यों उसकी कोई ज़रूरत न थी। पट्ठा सब रास्ते देखे हुए था।

उसे साथ पाकर मुझे कितना गर्व हो रहा था ! हर कोई हम लोगों की तरफ देख रहा था—हर कोई !

मैंने चाहा, हँसूँ—नाचूँ—गाऊँ ! मैं ताकती हुई भीड़ की ओर मुड़ कर चिल्लाया, "तुम लोग समझते थे, यह मर गया है। क्यों न ? मैं भी

यही समझता था। लेकिन वह लौट आया है। सुना तुमने, वह लौट आया है!"

हम लोग उसी कोने वाली मेज़ पर पहुँचे। चारों ओर भीड़ थी। हमें देखते ही लोगों ने उत्तेजित स्वरों से बातचीत करना शुरू किया। सब दंग थे। सबका ख्याल था कि मैं सिर्फ़ दुहरे पैग पीनेवाला मामूली पियक्कड़ हूँ। और आज वे मुझे देख रहे थे एक कवि के साथ—विश्व ब्रह्मांड के निर्माता के साथ!

वेटर आया—ट्रे में केवल एक गिलास रखे हुए।

"देखते नहीं, हम लोग दो हैं?"

लेकिन मैंने फिर उसे चले जाने का इशारा किया, उसकी बात ठीक थी—दोहरे पैग की ज़रूरत हममें से एक ही को थी।

"तुम क्यों यहाँ आते हो और शराब पीते हो?"

"यह मैंने कभी किसी को नहीं बताया। मैं तुम्हें याद करने के लिए पीता हूँ।"

"मुझे याद करने के लिए?"

"हाँ एक दिन तुम समझोगे - जब यह जादू की रोशनी बुझ जायगी। वह रोशनी—पलक मारते ही वह गायब हो जाती है। आँखों पर विश्वास नहीं होता—विश्वास करने का साहस नहीं होता—इतनी जल्दी वह गायब हो जाती है। लेकिन आदमी अकेला रह जाता है—घुप्प अंधकार में— और डर लगने लगता है।"

उसने मेरी ओर झुककर कहा, "अभी पल भर के लिए तुम्हारी शक्ल बदल गयी थी।"

"मैं एक स्वप्न की रूह हूँ - तुमने उस स्वप्न का प्रेत देखा होगा।"

मैंने मेज़ पर घूँसा पटक कर और शराब मँगायी। फिर मैंने कहा, "उस दिन तुमने मेरी अनदेखी क्यों की? तबसे मैं नरक की यातना सह रहा हूँ।"

"मैंने तुम्हें देखा ही नहीं।"

फिर उसने कहा, "मैं तुमसे डरता हूँ।"

"मैं भी तुमसे डरता हूँ।"

फिर मैंने पूछा, "कल मुझे यहीं पर फिर मिलोगे ?"

"हाँ"

दूसरे दिन हमारी भेंट फिर हुई। उसके बाद फिर, और फिर, और फिर। मैंने उसे बताया कि कैसे मैं धीरे-धीरे यह चीज़ बन गया जो कि स्ट्रैंड पर घिसटती हुई चलती है, पटरी पर नज़र गड़ाये हुए। यह चीज़—एक प्रेत से आविष्ट।

वह बहुत उत्तेजित हो गया। चिल्लाकर बोला, "मैं कभी तुम जैसा नहीं होऊँगा—कभी नहीं! कभी नहीं! उससे पहले तो मैं मर जाऊँगा।"

"हाँ, पहले तुम मर तो जाओगे ही।"

मैंने उसे बताया कि मर जाना कितना आसान है। इतना आसान कि आदमी को मालूम भी नहीं होता कि वह एक छोटी-सी मौत रोज़ मर जाता है।"

उसने मुझसे से समवेदना प्रकट की।

और यह मैं किसी तरह नहीं सह सका—बिलकुल नहीं सह सका।

मैं मेज़ पर लुढ़ककर सिसकने लगा—बिलकुल छोटे बच्चे की तरह।

मेरे कंधे पर किसी ने हाथ रखा। मैंने आँख उठायी—ठेकेदार था। भला आदमी है। मेरे पास बैठ कर उसने सिगरेट सुलगायी, और बोला, "देखो दद्दा, ऐसे नहीं चलेगा। अच्छा सुनो, हम तुम दोस्त हैं कि नहीं ?"

"हाँ-हाँ, पक्के"

"तो देखो, मुझे दूसरों की बात भी तो सोचनी पड़ेगी—पुराने गाहकों की।"

"मैं क्या पुराना गाहक नहीं हूँ ?"

"ज़रूर हो। लेकिन दूसरे भी तो हैं। वे अब तरह-तरह की बातें करने लगे हैं—तुम जो रोज़ यहाँ अकेले बैठे अपने-आपसे बतियाते रहते हो।"

"लेकिन मेरे साथ तो वह है। वह—"

"हाँ-हाँ, मैं जानता हूँ। लेकिन लोग तो नहीं जानते। वे समझते हैं, तुम अपने-आपसे बात करते रहते हो। खैर मेरी राय सुनो। एक डाक्टर है यहाँ—मेरा दोस्त है। भला आदमी है। उसे मैं तुम्हारे पास भेज दूँ। उसे तुम सब बात समझा दो।"

"अच्छी बात है—अगर तुम्हारी यही राय है तो। लेकिन मुझे एक टेबल और चाहिए।"

"तो ठीक है मैं उसे भेजे देता हूँ।"

तो डाक्टर मेरी मेज पर आकर बैठ गया। अच्छा, समझदार आदमी था। मैंने उसे सब बात खोलकर कह दी।

जब मैं कह चुका तब उसने बताया कि वह एक और डाक्टर को जानता है, जो उससे कहीं ज्यादा लायक है। कहीं ज्यादा लायक। और उसकी राय हुई कि उससे चलकर मिलना चाहिए, और उसे सारी बातें बतानी चाहिए।

मैंने कहा कि ठीक है। मुझे किसी की परवाह नहीं है—मैं किसी से भी अपनी बात कह दे सकता हूँ।

अगले दिन वह मेरे घर आया और हम उस आदमी को देखने गये जो कि डाक्टर से भी कहीं ज्यादा लायक था।

हार्ली स्ट्रीट के एक कमरे में उदास चेहरे वाले इस आदमी में बात सुनने का अपार धीरज था। वह केवल सुनता रहा और मुझे देखता रहा अपनी अतल गहरी आँखों से।

मैंने उसे बताया कि कैसे मेरी बीस बरस की उमर के अपने-आपसे भेंट हो गयी थी और कैसे वह मेरी अनदेखी करके बढ़ गया था। मैंने उसे सब कुछ बता दिया।

जब मैं कह चुका तब वह बोला, "तुम बहुत थक गये हो। तुम शायद इसीलिए पाते हो कि तुम थककर ऊब गए हो। क्यों न एक छुट्टी मना लो—शहर से दूर किसी विश्रांति-भवन में जाकर एक लंबी छुट्टी, जहाँ दिन भर हवा का शब्द सुन पड़े और रात को समुद्र की पुकार।"

'ओह! रात को समुद्र का स्वर। मैं बचपन में समुद्र के किनारे ही रहता था।"

मेरे इस विशाल भवन में आने की यही कहानी है। मुझे अच्छी तरह याद है कि कैसे मैंने पहले-पहल इसका विशाल कामदार फाटक देखा

था, फिर ड्योढ़ी और फिर बने छा ा हुए रास्ते की लंबी लीक। मुझे अच्छी तरह याद है, ऊँची जगह पर बने हुए ऊँचे-नीचे लहराते बगीचे से घिरे हुए मकान की पहली झाँकी। और हॉल कमरे और उसकी गैलरी से झाँकती हुई पुरखों की शबीहें अभिमानी, निडर, आत्म-विश्वास-भरे चेहरे......

और सामने दालान में जुटे हुए दिलचस्प लोगों की पहिली झाँकी भी मुझे अच्छी तरह याद है—ऐसे अद्भुत लोग कि कल्पना नहीं हो सकती! और यहाँ के नौकर-चाकर, कर्मचारी—इतने कार्य-कुशल! वह जैसे हर बात पहले से सोच रखते हैं और हर किसी की कितनी फ़िकर रखते हैं! उनके रहते हुए कभी कोई दुर्घटना हो ही नहीं सकती। अचंभा होता है।

अब जैसे मेरे आने के कुछ दिन बाद एक दिन मुझे बड़ी बेचैनी मालूम आधी रात का वक्त था, लेकिन आसमान में बड़ा-सा चाँद था। मैं रे से निकलकर उस गलियारे में हो गया जो कि बड़े हॉल कमरे की जाता है।

एकाएक मैं रुक गया। चाँदनी में आले में लगी हुई अठारहवीं सदी उस कवि की शबीह चमक रही थी, जो शराब पी-पी कर मर गया ऐसा हँसता हुआ विनोदी चेहरा, ऐसी चमकदार विदग्ध आँखें! मै खता रह गया। तभी उसने मुझे आंख मारी।

ठीक उसी वक्त न जाने कहाँ से एक सेवक आ हाजिर हुआ और हम ग मेरे कमरे की ओर चल दिये। मैंने उसे बताया कि उस कवि ने मुझे ख मारी। उसको ज़रा अचंभा नहीं हुआ। यहाँ के कर्मचारी सब ऐसे हैं।

और जानते हो, हर पखवाड़े वह गहरी आँखों और उदास चेहरे ला लायक़ आदमी मुझे देखने आता है। हाँ—हार्ली स्ट्रीट से यहाँ मुझे ने आता है। कितनी तकलीफ उठाते हैं, ये सब बेचारे। मुझे तो चरज होता है।

अभी कुछ दिन पहले जब वह आया था तब उसने एक बात कही मसे मेरे दिल में मानो पक्षी चहक उठे।

हाँ, वह बात तो बताने की है, लेकिन मुझसे कहते नहीं बनता—मैं बेचैन हो रहा हूँ।

हाँ, तो बात यों हुई। मैंने उस उदास चेहरे वाले आदमी को बताया मुझे सबसे ज्यादा दुख इस बात का है कि जब स्ट्रैंड में मेरी अपने-

आपसे भेंट हुई तब उसने मेरी अनदेखी कर दी—मुझे पहचाना नहीं। यह मुझे किसी तरह सहन नहीं होता।

जब मैं कह चुका तब वह बोला, 'अच्छा, अगर तुम अब बदल जाओ तो कैसा रहे? तब जब तुम्हारी उससे फिर भेंट होगी, वह तुम्हें पहचान सकेगा।

"अरे हाँ! यह तो अच्छी सूझ है। लेकिन—मैं बदल कैसे सकता हूँ?"

वह क्षण भर सोचता रहा। "शायद—ऐसा मैं सोचता हूँ कि शायद—अच्छा, अगर तुम शराब पीना छोड़ दो तो कैसा रहे?"

आपका क्या ख्याल है उससे मैं बहुत बदल जाऊँगा?"

"हाँ, मेरा तो ख्याल है।"

"इतना बदल जाऊँगा कि—कि वह मुझे पहचान ले?"

"क्यों नहीं पहचान लेगा? तुममें और उसमें कोई इतना ज्यादा फर्क थोड़े ही है जितना तुम समझते हो।"

"आप ऐसा मानते हैं? सचमुच ऐसा मानते हैं?"

"बिलकुल!"

मैंने उसका हाथ चूमा। मैंने सौगंध उठायी कि शराब छोड़ दूँगा—कि जो कुछ वह कहेगा करूँगा, बशर्ते कि अगली बार अपने-आपसे मेरी भेंट होने पर वह मुझे पहचान ले।

मैंने कई दिनों से शराब छुई नहीं है। यह नहीं कि तकलीफ नहीं होती—भीतर कहीं जब काग खोलने वाले पेंच कसने लगते हैं—एक के बाद एक—गहरे, और गहरे—तब—सख्त तकलीफ होती है।

कल तीसरे पहर तो ऐसी छटपटाहट हुई कि मैं कमरे में ठहर नहीं सका। सीधा नीचे दौड़ा—हॉल कमरे के पास के उस आले की ओर, जहाँ वह अठारहवीं सदी वाला कवि टँगा रहता है—और वहाँ जाकर मैंने उसे आँख मारी!

इससे जी कुछ ठंडा हुआ, कुछ चैन पड़ा।

और अब, रात को, सागर का परिवर्तन-हीन शब्द सुनते हुए मुझे लगता है कि मैं फिर एक बच्चा हो गया हूँ। एक पुराने मकान के साफ-सफेद कमरे में उजले पलँग पर बैठा हुआ बच्चा।

और हर रात को मैं स्वप्न देखता हूँ कि मैं बदल गया हूँ। हर रात को मैं स्वप्न देखता हूँ कि अब जब अपने-आपसे मेरी भेंट होगी, तो वह मुझे पहचानेगा। जरूर पहचानेगा!

सत्यवती मलिक

नीलम

पिछवाड़े, झाऊ के पेड़ के नीचे बँधा नीलम नित्यप्रति केवल निजी बात ही दोहराया करता है। सोचते-सोचते अभी तक उसके दोनों कान खड़े हो जाते हैं, वदन तमतमा उठता है, कभी-कभी ऐसा भी कि "धरती फट पड़े, और वह समा जाय।"

वही उस दिन दोपहरी के भरे सन्नाटे में, जब वह राज-पथ से धीरे-धीरे कदम गिनता हुआ जा रहा था। भूखा-प्यासा, उन्मत्त, पथ-भ्रष्ट-सा। रासें पैरों में उलझ गयी थीं। साज अस्त-व्यस्त। आँखों के सामने अँधियारा।

इन पिछले दो दिनों की बात वह तनिक भी समझ न पाया था। कैसे सवेरे-ही-सवेरे सदा की भाँति मालिश करवा, थपथपी ले, अलंकृत हो गर्वित चाल से वह चला। रास्ते में अपने ही घुँघरुओं की झनकार, अपनी ही टपटप पदचाप उसे मानो विभोर कर रही थी। आगे-आगे सफेद चेतन भी उसी गति से होड़ लगाता निकल गया था। एकाएक न-जाने कहाँ से प्रलय की आँधी उठ आयी। चमकती तलवारें, खून और भयावनी सूरतें।

उसके सामने ही तो पिछली सवारी पर वार हुआ; अगली सवारी खंभे के पास गिरी और क्षण-भर में दो साँस ले चींटी, मक्खी की भाँति चित्त हो गयी।

ताँगे से जाने कैसे वह पृथक् हो गया और भौंचक-सा, इधर-उधर गली, बाजार, चौराहे, आदि पर चक्कर काटता-काटता लान में पहुँचा। इन दो दिनों में उसने आँखें बन्द किये, सिर झुकाये सैकड़ों बाल-वृद्ध, स्त्रियों, काम-काजी जनों को शहर छोड़ते देखा। अनेक गौ, भैंसों आदि को अपनी ही तरह दिशाहीन घूमते देखा। और कान लगाकर वीभत्स हँसी के मध्य यह भी सुना—"उसके मालिक के ऐसा हजार कहने अनुनय-विनय करने पर भी वह अभी ही दो युवती कन्याओं को बचाकर आया है। वह धर्म-परिवर्तन तक को तैयार है; क्योंकि उसका नीलम है, घर में छोटे बच्चे हैं"—पर किसी ने माना नहीं—अति निर्दयता से उसका वध किया गया।

लान में पड़े-पड़े रात-भर वह इसी पागल-दशा में आकाश की ओर एकटक निहारता रहा। प्रभात होते ही दो लंबी साँसों की आवाज सुनी। आह! केना के फूलों की क्यारियों में चेतन दम तोड़ रहा है। नीलम ने उसे प्यार से सूँघकर कहा—"चेतन! मरना कायरों का काम है!"

"नीलम मरण भला! आ मुख से पड़ जा! हरी ठंडी घास है, यह तो जीना है! सुन, यह सब किसी अदले बदले में हुआ है, अब हम दर्प से उस भूमि पर नहीं चल सकते। संसार बदल गया है, भाई!"—और कहते-कहते वह चुप हो गया।

अंतिम साथी हृष्ट-पुष्ट सुंदर श्वेत चेतन को इस प्रकार करुणाजनक ढंग से बिछुड़ते देख नीलम का जी भर आया। उसकी चाल अत्यंत धीमी पड़ गयी, पर उसके मन में सब कुछ सुनकर भी संदेह बना रहा। तीन दिन का भूखा-प्यासा, कदम गिनता हुआ राज-पथ से निकला ही। संभवतः वह परिचित प्यारी आवाज उसे कहीं से बुलाये, पुकारती है। वह कोमल हाथ उसे सहलाये, थपथपी दे और वह पुनः उसी टपटप मस्तानी चाल घुँघरुओं की झनकार के साथ चले।

दिन के बारह बजे थे। पर चारों ओर अद्भुत सन्नाटा था, तीन दिन की लगातार मार-काट, लूट-पाट के अनंतर भी लोग अधखुली दुकानों, मकानों, गलियों के कोनों में भेड़ियों की भाँति छिपे बैठे थे। पुलिस की लारी तनिक आगे निकले तो वे लपकने दौड़े। उनकी आँखों में गैतानी प्यास अभी तक भरी थी।

नीलम को देखते ही भीषण अट्टहास फूट पड़ा। हा! हा! अरे यही है! बच्चा डंडे खाकर भी चित्त नहीं हुआ! कुछ साहसी वीर भी निकल आये। किसी ने उसका कान खींचना चाहा, कोई दाम लेकर भागा। गहरा व्यंग्य उपहास हो चुकने के बाद किसी के मन में दया भी उपजी।

'पानी पिला दो साले को, प्यासा है। मुँह से झाग आ रही है।"

× × ×

अंत को संध्या समय पीछे फैक्टरी के मैनेजर ने कई दिनों की बेकार भारी-भरकम गाड़ी में जोतकर पुण्य संचय किया। दो-तीन दिन तक तो वह उससे खींची ही न गयी, पाँव पड़ते न थे, पथ पहिचाना न जाता था। प्रभात होते ही, दो मोटी रस्सियों द्वारा बँध, बड़े शहर के गली-कूचों में

बोतलें पहुँचाना, रात होते ही सूखे घास की भाँति प्राणहीन, पेड़-तले पड़े बीते दिनों के स्वप्न लेना......यही उसकी ज़िंदगी है !

× × ×

पर वह नहीं जानता ? घनघोर अँधियारी रात में निर्जन पथ पर शंकर भी तो उस रात यही सोच रहा था। मोटर-बस अभी ही बारामूला से श्रीनगर की ओर गयी है ; वह पास के गाँव से अपने जले घर का, टूटा-फूटा सामान, बर्तन, बटोर पथ पर आशा से आ खड़ा हुआ था, शायद कोई आती-जाती मिलिटरी, पुलिस की सवारी उसे कृपा कर ले जाये। बस रुकी थी।

"कौन हो ?"

"शंकर"

"शकर ! कौन शंकर ? हा ! हा ! ड्राइवर ऐसे शंकरों को खूब पहचानता है.. आज तक—ये सब (एक गाली देकर)....अब पता लगेगा। और यह सब माल लूट का है—और यह बर्तनों की बोगी ! ......"

इस तीव्र उपहास और अंधकार के बीच शंकर का गोरा-गोरा, गोल, भोला मुखड़ा एकदम लाल हो उठा और चमक उठा है। आँखों में ढुलक आये —अनायास ही केवल दो आँसू !

'भूल गया है ! वास्तव में कौन है वह ?'

केवल इतना ही। कल तक वह इस महासुंदर धरणी का, गजगामिनी वितस्ता का नील-श्वेत, हिमाच्छादित शिखरों का सखा, साथी और पोषित पुत्र था। हरे कच्चे शाली के खेतों में गुलेलाला और तितलियों के पीछे दौड़ा करता था। अखरोट के पेड़ों पर सबसे पहले चढ़ जाया करता था। मंदिर के आंगन से एकदम वस्त्र उतार एवं शीतल फेनिल जलधारा में कूदता, छलाँगें लगाता. और वायु के मस्त झकोरों में झूमता हुआ, घरवालों के हजार बुलाने पर न आता था। दो ही दिनों में क्या कायापलट हुई ? वह इस समय सुनसान भयावनी निशा में. किससे विनती करे —"माँ मेरी ! आँचल पसारो, और मुझे गोद में लो।"

× × ×

नीलम को यह भी पता नहीं कि रसोई-घर की दहलीज के पास खड़ी ललिता देवी भी इसी मुद्रा में है, कुल घंटा-भर ही हुआ खाना परोस

कर वह ले गयी थी । आज उनका मन ठीक न था, रात-भर कमर के दर्द के कारण । हो सकता है हल्दी अधिक पड गयी, अथवा थाली भी साफ न हो।

पर उसे अभी-अभी पास-पडोस, नौकर-चाकर, बाल बच्चों के सामने, मानो कान पकडकर कहा गया है—"श्रीमतीजी, रास्ता उधर है, जहाँ जी चाहे ?"

ललिता के आगे आकाश-पाताल सब शून्य है । उसे तनिक भी समझ में नहीं आ रहा, पूरे बारह वर्षों से, वह इस घर के बाल-बच्चों को निरंतर जन्म देती, पालती, सुबह से शाम तक सबका मन बहलाती है । 'रानी-रानी' कहकर पुकारी जाती है।

इन चंद मिनटों में ही क्या गजब हो गया। उसकी वास्तविक स्थिति क्या है ? पगली चेष्टा करने पर भी जान नहीं पा रही – मात्र काँपती, दिशाओं, चहुँ ओर डोलते भूमंडल के बीच, रह-रह कर आवाहन कर रही है—"माँ वसुधरे ! सीता माता को तूने ह तो स्थान दिया था।"

× × ×

और ऊपर छत पर खडे विवेक, का भी तो यही हाल है। आज से छ मास पूर्व मनोविज्ञान में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होने पर, कहाँ-कहाँ के ऊँचे स्वप्न ले रहा था। घर आता था तो स्वागत था बाहर जाता तो सम्मान था। किंतु अब जहाँ-तहाँ इन्टरव्यू करते करते, दम टूट रहा है। ड्रेसिङ्ग गाउन में छेद और पायजामे के चिथडे हो चले हैं।

नीचे उतरे त, छोटे-छोटे बच्चों तक के चेहरे पर एकाएक व्यंग्य की रेखाएँ उभर आयेंगी। ऊपर रेलिंग के पास खडा सकुचाता है आफिस की चिक के पास जाते ही उसके तरुण नेत्रों में ऐसा भेद देनेवाला, कर्तव्य-विमूढ-सा भाव है। ढूँढता है कहीं कोई छिद्र दिखायी दे, तो वह इस बेढंगे संसार के पर्दे से ओट हो जाये।

× × ×

नीलम यदि गहन मे, धीमे से सुने, तनिक आँखे खोलकर देखने लगेगा। वह अकेला नहीं ! आज विश्व-भर में अधिकांश मानव समाज के हृदय से, रह रहकर यही एक मंत्र उच्चरित हो रहा है, एक ही व्यथा है। दो कर जोड कण-कण में यही पुकार है !

पर न धरती फटती है, न कोई समाता है।

वैसे नीलम भी ऐसा निराश नहीं, यद्यपि गीली धरती पर निर्जीव तृण सा पड़ा-पड़ा अपने में झाँकने लगता है? फिर सोचता है, एक बार समस्त प्राणों से, चीख कर, आकाश-पाताल में फूलों की क्यारियों में यदि कहीं चेतन हो तो स्वर पहुँचाये—"भाई, वास्तव में आज ठौर नहीं है।"

इस सहानुभूति-विहीन निर्मम, जीवित संसार से, हरी घास में मरण भला। उस दिन का दर्प सर्वथा मिथ्या था चेतन! आज मुँह इधर करे तो इसी का दोष, उधर करे तो... पर भोर होने से कुछ पूर्व ही, दूर राज-पथ की ओर से टपटप सरपट चाल, घुँघरुओं की आवाज़, इनमें मिला गीत का सुर उसे एकाएक चौंका देते हैं। जाने कौन-सी आशा इस अंधकार में भी आलोकित हो उठती है। उसके शिथिल दुखती हड्डियों-भरे गात में, क्षण-भर एक अद्भुत सिहरन दौड़ जाती है। दोनों कान चौकन्ने किये, नथुने फुलाये, सीधा खड़ा हो जाता है।

वह अभी तक जीता है, उसमें बल है, पौरुष है, प्राण अभी चुके तो नहीं। आज ही दोपहर होने पर जब देह में पूरी उष्णता आ जायगी, तो दोनों रस्सियाँ तोड़कर भाग सकता है। कोई रोकनेवाला नहीं, वह अजेय है।

× ×

पर ऐसा ही करते-करते साँझ हो आती है, दिनभर, गली-गली सोडा-वाटर की बोतलों का बोझ ढोने के बाद पीछे संकीर्ण नीरव पथ से भारी-भरकम ठेला गाड़ी के आगे जुते. नीलम की चाल बहुत धीमी क्रमशः करुणा-जनक होती जा रही है, किंतु बोतलों का व्यापार चल निकला है। वे संख्या में कहीं अधिक रंगीन व आकर्षक हैं। और गाड़ी पर का नया पीला रंग, रोगन, विज्ञापन आदि तो उसके पीठ के सफेद घावों की भाँति उत्तरोत्तर चमकने ही लगा है!

—०—

सुमित्रानंदन पंत

खोलो स्वर्गिक वातायन !

[चार प्रार्थना-गीत]

१

मैं सुंदरता में
स्नान कर सकूँ प्रतिक्षण
वह धन न नयन!

जिस स्वर्ग विभा का
करता मन आवाहन
उस रूप-शिखा में
जले न प्राण शलभ बन

तुम मुझे घेर कर
बरसो, घन शोभा-घन,
म[illegible]र-शोभा में
स्नान कर सकूँ प्रतिक्षण!

तुम प्रीति-दान कर सको
बनूँ मैं निर्भय,
तुम हृदय दे सको,
पूर्ण मैं निस्संशय,

मत दो केवल
मधु-स्वप्नों का सम्मोहन
मैं अमर प्रीति में
स्नान कर सकूँ प्रतिक्षण!

मानव उर आशाओं से
आकुल चंचल,
प्राणों की अभिलाषाओं का
क्रीड़ा-स्थल,

वह हृदय नहीं
जो करे न प्रेमाराधन,
मैं चिर-प्रतीति में
स्नान कर सकूँ प्रतिक्षण !

जो चातक की हो
साध अगाध चिरंतन
बरसायेंगे ही करुणा-कण
करुणा-घन;
भू पर श्रद्धा-विश्वास
सुरों के भूषण,
मैं कृतज्ञता में
स्नान कर सकूँ प्रतिक्षण !

व्याकुल रहता मेरा
कवि-उर का यौवन,
तुम समा सको मुझमें
उर की प्रिय उर बन;
वह क्या श्रद्धा-विश्वास
न दे जो जीवन ?
मैं नवजीवन में
स्नान कर सकूँ प्रतिक्षण !

२

खोलो, अंतर्मयि, खोलो,
अपना स्वर्गिक वातायन,
निज स्वर्णिम आभा से भर दो
मेरा स्वप्नों का मन !

नींद घनेरी भरी दृगों में
पलकें झँप-झँप जातीं,
सुख-दुख की स्मृतियाँ मानस में
सा. कँप-कँप लहरातीं:

घोर अँधेरी निशा घिरी अब
आओ शुभ्र उषा बन,
खोलो, मानसि, खोलो, अपना
श्रद्धा का वातायन!

दिव्य चेतना का प्रभात नव
बन उर में तेरा मुख
मौन मधुरिमा से अंतर को
भर दे, डूबें सुख-दुख,

नयनों में स्मित नयन भरो निज
उठा किरण अवगुंठन
मेरे अपलक उर में खोलो
शोभा का वातायन!

मेरे मानस तल में फूटे
उषा ज्योति, रक्तोज्ज्वल
फूल भास के तेरे सुंदर
चरण-कमल बन कोमल,

भर जावे जीवन में निखरा
अंतर का सूनापन—
खोलो, आभामयि खोलो
निज करुणा का वातायन!

जब-जब घिर जगत घन मुझ पर
करूँ तुम्हारा चिंतन,
ढँक जावे जब अंतर्मन में
कटु प्रतीक्षा गोपन!

जब तम की छाया गहरावे,
मानस में संशय लहरावे,
दुख विषाद का भार वहन कर
तुम्हें पुकारूँ प्रतिक्षण!

खोलो स्वर्गिक वातायन !

तुम तम का आवरण उठाओ,
करुणा कोमल मुख दिखलाओ,
मेरे भू-मन की छाया को
निज उर में कर धारण !

तुहिन-द्रवित हों वारिज-लोचन
बरसे दुख जन-प्रीति-अश्रु बन
युग विषाद के गर्जन से मन
हो जाग्रत नवचेतन !

तुम्हें करूँ जन का दुख अर्पण
आत्मदान से भरूँ धरा-व्रण
तड़ित-चकित अंतर बन जावे
विश्व-सत्य का दर्पण !

जो बाहर जीवन-संघर्षण
जो भीतर कटु पीड़ा का क्षण,
वह तुममें संतुलन ग्रहण कर
बने उन्नयन नूतन !

४

तुम जीवन के सपने !
मन को लगते आज
विश्वमय, अपने !

कब खुल गये हृदय के बंधन
अपलक-से रह गये विलोचन !
भेद-भाव खो गये अचेतन—

पलकें भर अपार शोभा से
पातीं नेक न झँपने !

मिट-सी गयी क्षितिज की रेखा,
भूल गया मन ने जो देखा,
जगी चेतना की शशि लेखा,
नव स्वप्नों को सत्य बनाने

लगे प्राण मन तपने!

सिमट गयी जीवन तम छाया,
जाग गया मन, सोयी काया,
अन्तर प्रकाश तुम्हारा छाया,
मान भार से मुक्त हृदय में

लगा हृप नव कँपने!

नव जीवन के सपने!

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

प्रयाण-बेला

[चार कविताएँ]

१ कैसा मरण सँदेसा आया ?

कैसा मरण सँदेसा आया ?
किसके कंठाभरण स्वरों ने लय-संगीत सुनाया ?

देह थकी, जर्जरित हो गयी, बिगड़ गया कुछ खटका,
संज्ञा-शून्य शरीर हो गया, लगा मृत्यु का झटका,
देख लुप्त होते जीवन को मन संभ्रम में अटका;
जीवन का रहस्य यह क्या है ? क्या यह मृण्मय माया ?
कैसा मरण सँदेसा आया ?

दो विभिन्न गतियाँ जगती में: इक जड़मय, इक चेतन,
जड़गति है घूर्णित आंदोलन, चेतन है उद्वेलन;
जब जड़ कण-समूह बन आया—चेतन का सुनिकेतन,
तब उसमें विकास गति आयी: जड़ ने जीवन पाया !
अभिनव मरण सँदेसा आया ?

जिनने मरकर चिर जीवन का रुचिर रूप पहचाना,
जिनने निज को खोने ही में शुचि निजत्व को जाना,
वे बोले कि मरण है जीवन का ही एक बहाना;
है त्रिजत्व का द्वार, मृत्यु तो है जीवन की छाया !
अभिनव मरण सँदेसा आया !

जीवन का अखंड वैश्वानर हहर-हहर कर चमका,
भय भागा संदेह हट गया, छूटा संशय तम का,
अपने 'स्व' को 'स्वधा' सम होमा, टूटा फंदा यम का;
अपने मन की हुई मृत्यु तब चिर जीवन लहराया !
नव तब मरण सँदेसा आया !

२ पहेली

खूब जानता हूँ मृत्यु जीवन की एकता में
खूब पहचानता हूँ सम्भ्रम के छल छंद
खूब जानता हूँ माया मोहिनी के हाव भाव
विभ्रम कारण मानता हूँ मन भव बंध,

किंतु अनजान प्राण अपनों को जाते लख
बरबस हाहाकार करते हैं मूढ़ मंद
मोह में कहूँ ? या इसे मानव-स्वभाव कहूँ ?
मरण-विछोह में क्यों हो साहित्य खंड-खंड ?

यह जो मरण-भीति मानव के हिय में है
वह क्या है भावी नव जीवनारम्भण-त्रास ?
यह जो विछोह-जन्य वेदना है मानव में
वह क्या है नूतन-जन्म-पीड़ा का ही विलास ?

जीवन-मरण एकरूप हो गये हैं किंतु
फिर भी समाया जग-जीवन में मोह फाँस,
आँसू हैं, हिचकियाँ हैं, प्राणों का तड़पना है,
हिय में भरा है गहरा सा एक उच्छ्वास ।

अपनों को जाते अवलोक नयनों से जब
अपनों को देखा जब होते यों निजत्व लीन—
मृत्यु-यवनिकाऽक्षेप अंतर में देखा जब
नट को पट-परिवर्तन-लीला में तल्लीन—

देखा जब पंख तौलते यों प्राण विहग को
चंचु किये उधर जहाँ है पथ अंतहीन
उस क्षण अपने ही आप आया हिय भर
झर-झर-झर उठे आप ही ये दृग दीन !

३. झाँक सकें आर-पार

क्या यह संभव हम झाँक सकें आर-पार ?
संभव है क्या कि आज मुक्त खुले मृत्यु-द्वार ?
झाँक सकें आर-पार ?

बाँध रखे माया ने ममता की डोरी से
दोनों दृग खंजन ये अपनी बरजोरी से
रंजित हैं नयन आज करुणा की रोरी से
सीमित इन की उड़ान, सीमित है सुविस्तार;
झाँकें किमि आर-पार ?

घिरी सघन मेघ-भीर, बहा सनन-सन समीर
बरसा झर-झार नीर, पावस की उठी पीर ;
चपला के चपल तीर, शून्य वक्ष चीर-चीर
तन-मन करते अधीर, पैठ गये हिय मँझार
झाँकें किमि आर-पार,?

धरती के पाहन ये पाहुन बन मारग में
करते अवरोध सतत अड़े पड़े डग-मग में
इनमें ही उलझ गये जन-गण-लोचन जग में
संभव है नहीं आज अग्रिम दर्शन-विहार ;
झाँकें किमि आर-पार ?

तरुणारुण वशीकरण आलिंगन परिरंभण
करुणारुण प्राणशरण अपरस्पर अवलंबन
छोह, मोह, नेह, टोह, ऐंद्रियता के बंधन
प्राण रमें इनमें, ये बन बैठे हृदय हार
झाँकें किमि आर-पार ?

फिर भी है जीवन में एक टोह हूक-भरी
किमिदम् ? की बेर-बेर टेर उठी कूक-भरी

परदे के पार गयी जब न दृष्टि चूक भरी
हुई और भी प्रचंड तब कोऽहं ? की पुकार ?
किमि झाँकें आर-पार ?

४. भाई आज बजी शहनाई !

आज बजी शहनाई, भाई, आज बजी शहनाई,
थकित देह के कर्ण-रन्ध्र में मन्द्र-मन्द्र ध्वनि आयी
भाई आज बजी शहनाई !

मंगल-घट ले मृत्यु खड़ी है इस प्रयाण की वेला
औ' अनंत से अगम पथ में छिटका अलख उजेला
जीवन के उपकरण छोड़कर चेतन चला अकेला
महानिष्क्रमण की स्वर-लहरी मन-आँगन में छायी,
भाई आज बजी शहनाई !

निर्ममता की अश्रु-विगलिता जो मृत्तिका पुरानी
उससे निर्मित मंगल-घट ले आयी मृत्यु भवानी
मरण-द्वार पर खड़ी हुई है ठमक-भरी ठकुरानी
ना जाने किस दूर देश से वह संदेसा लायी,
भाई आज बजी शहनाई !

मत कर सोच विचार, छोड़ तू झंझट इस बस्ती का
नहीं खात्मा होगा प्यारे ! तेरी इस हस्ती का
बंधन तोड़ चला चल पीकर प्याला अलमस्ती का
मरण एक बंधन-खंडन है मरण नहीं दुखदायी,
भाई आज बजी शहनाई !

पौ फट गयी, मिट गया क्षण में अंधकार अज्ञानी
नभ-रानी उषा मुस्कानी, भव-भय-निशा सिरानी
अनजानी की अकथ कहानी अब चेतन ने जानी
उसने आज अलख की अश्रुत पायल ध्वनि सुन पायी
भाई आज बजी शहनाई !

जब पायल की रुनुन-झुनुन से साजन स्वयं बुलावें
जब वे 'आ-आ' कहकर मंजुल निज अँगुलियाँ डुलावें
तब प्रयाण-उन्मुख उन्मन जन सुध-बुध क्यों न भुलावें ?
उस क्षण अपनी देह क्यों न यह लगाने लगे परायी ?

भाई आज बजी शहनाई !

जिस दिन चला समुद्र जग जीवन निज प्राणार्पण करने
जब वह चला पूर्ण चेतन के, ऋण का तर्पण करने
उस दिन उसे विमुक्त कर दिया महा मृत्यु के डर ने
टूटे बंध, मिट गया खटका फटी मरण की फाई,

जिस दिन बजी मुक्ति शहनाई !

नचिकेता बोला गुरु यम से: आर्य ईश हैं साक्षी
मैं मुमुक्षु हूँ मृत्यु-तत्व का मुझे न दो मीनाक्षी !
अंतक यम बोले: नचिकेतो मरणे मानु प्राक्षीः !
किंतु फँसा कब वह माया में जिसे मरण धुन भायी ?

भाई आज बजी शहनाई !
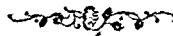
शकुंतला माथुर

तीन कविताएँ

(१)

हौले हौले की पद चाप
दबी पवन के साथ सुनाई पड़ती
तद्रिल अलकों का अटकाव
सुलझना फिर-फिर साफ सुनाई पड़ता
चुप सोई इस नई चमेली के नीचे
नूपुर झिम के मद लजीले बज उठते हैं
इतनी रात गये ।

गहरी सुर्ख केसर की
चढ़ी हुई मेंहदी के नीचे फैल रही है
पीला पड़ कर सूरज नीचे उतर रहा है
या सहमा-सा चाँद उतर कर
उलझ गया है
फूलों के झुरमुट में ।

(२)

आज मुझे लगता संसार खुशी में डूबा
क्यूँ ?
जान बूझ कर नहीं जानती ।

आज मुझे लगता संसार खुशी में डूबा—
माँ ने पाया अपना धन ज्यों
बहुत दिनों का खोया,
बहुत बड़ी क्वाँरी लड़की को सुन्दर मिला
हो दूल्हा,
मैल भरी दीवारों पर राजों ने फेरा चूना,
किसी भिखारिन के घर में, बहुत दिनों के

पीछे, मंदा जला हो चूल्हा।
बूढ़े की काया में फिर से एक बार यौवन हो कूदा।

पकड़ गया था चोर अकेले कूचे में जो
किसी तरह वह कारागृह से छूट गया हो,
या कि अचानक किसी वियोगिन का पति लौटा

उसी तरह
आज मुझे लगता संसार खुशी में डूबा
क्यूँ?
जान बूझ कर
नहीं जानती।

(३)

शून्य निशि में
और ऊँची-नीची पतली राह पर
धूल के बादल उठाती जा रही थी
एक वह सुनसान गाड़ी,
गाड़ी वाला हो उनींदा डूब जाता
दूर पड़ कर साथ चलती छांह में—

गाँव सारे भर चुके थे
रात से।
उन ग़रीबी के घरों में
मंद दीपक बुझ चले थे
पास आती फिर निकल जाती हुई
वे रोज़ संध्या की आवाजें
उन कुँओं पर अब नहीं थी दूर तक!

घाट भी सूना पड़ा था
पंछियों के स्वर समेटे
नींद में थे पड़े,
केवल वायु की कुछ सरसराहट
भय से जगा देती थी गाड़ीवान को,
और गाड़ी जा रही थी
धीरे-धीरे
चीरती सुनसान को।

नलिनविलोचन शर्मा

जैनेंद्रकुमार

जैनेंद्र पूर्णतः सरल व्यक्तित्व वाले आदमी हैं। उनका आकार-प्रकार जितना साधारण है उतना ही वेष और रहन-सहन सामान्य। वे लंबे या सिरके बाल नहीं रखते, उनके कपड़े बेतरतीब नहीं रहते, उनका कमरा गंदा नहीं रहता। इस अस्वस्थ देश के औसत आदमी की तरह पांच फुट से दो-तीन इंच ज्यादा लंबे, दुबले-पतले, गेहुँआ रंग वाले जैनेंद्र लोगों के बीच से निकल जा सकते हैं और उनकी तरफ शायद किसी की नजर तक न जाये।

खास कर जब अपने बारे में सोचता हूँ तो उनकी यह साधारणता बडी दयनीय लगती है। इस सबंध में एक बात याद आती है। पहली बार दिल्ली गया था तो जैनेंद्र जी की कृपा से ही ठहरने की व्यवस्था होने वाली थी। प्रो० देवराज उपाध्याय से उनका परिचय था। उन्होंने उनके पास लिख दिया था। मुझे, कोई कारण नहीं था, कि वह जानते। जैनेंद्र जी ने बडी सहृदयता से मुझे चले आने के लिए लिखा था। उन्होंने मेरी व्यवस्था कर दी थी, उनका आदमी मुझे स्टेशन पर मिल जायेगा। पर उन्होंने यह भी पूछा था कि उनका आदमी मुझे पहचानेगा कैसे! मैंने उत्तर में कुछ इस तरह लिखा था कि जब दिल्ली स्टेशन पर काला ओवरकोट पहन कर गाडी में उतरूंगा तब, मुझे विश्वास था, मेरी लंबाई चौडाई का कोई दूसरा आदमी वहाँ नहीं होगा। मिलने पर, जैनेंद्र जी ने स्वीकार किया था, मुझे अपने बारे में किसी तरह का भ्रम नहीं था। लेकिन खुद उनकी बात। दो-चार महीने हुए जैनेंद्र जी पटने आये। तार दे दिया था। स्टेशन पहुँचा तो गाडी आ चुकी थी। अपनी छः फुट से भी अधिक ऊँचाई से मैंने प्लेटफार्म का सिंहावलोकन किया पर, जैसा कि डर था, वे क्यों दीखते। पर तब तक वे एक दम सामने ही आ गये। यानी जब दीख पडे तो दो-चार हाथ की दूरी पर थे।

एक बार ऑस्कर वाइल्ड ने कहा था कि जो आकार-प्रकार में विशाल नहीं वह महान् हो ही नहीं सकता। कुछ अपना ध्यान भी है, कुछ-कुछ सच ही मैं वाइल्ड से सहमत हूँ। जैनेंद्र की महानता इस दृष्टि से संदिग्ध हो

सकती थी। पर वाइल्ड से ही जब यह पूछा गया था कि नेपोलियन तो ठिंगना भी था और महान् भी, ऐसा क्यों, तो इसका भी उसने ठीक ही समाधान किया था। नेपोलियन की कल्पना कीजिए तो क्या कभी मन की आँखों के सामने एक नाटे, ठिंगले आदमी की मूर्ति खड़ी होती है? कभी नहीं; हम तो एक ऐसे आदमी की उपस्थिति का अनुभव करते हैं जिससे एक वड़ा कमरा भी भरा-भरा मालूम देने लगे। इतने-से जैनेंद्र में भी कहीं, कुछ थोड़ी-बहुत ऐसी वात है जरूर।

यों, यदि आप जानते हैं कि कांग्रेसी-स्वयंसेवक या समाजवादी नेता-सा दीख पड़ने वाला यह आदमी जैनेंद्र है तो अन्य अवश्य उत्सुकता के साथ उसकी ओर देखेंगे। तब ऐसा नहीं कि आपकी उत्सुकता पुरस्कृत न हो। जैनेंद्र के मुख की रेखायें निश्चित और स्पष्ट हैं। उन्हें देख कर आकृति-विज्ञान में दिलचस्पी रखनेवाला चौंके विना नहीं रह सकता, ये रेखाएँ विश्लेपण और विश्वास को छिपने नहीं देतीं, हालाँकि उनका अधिकारी उन्हें सहज भाव से छिपाये रखने की कोशिश जरूर करता है। मुख के, युवती पर फब सकने वाले, नुकीले, कुशलतापूर्वक देते हुए त्रिकोण पर अनुपात से निश्चित रूप से लंबी श्येन-नासिका, आदमी पहचान सकने वाले के लिए साफ चेतावनी है। लेकिन जब तुरंत वाद दृष्टि तनिक मोटे होठों पर टिकती है तो मन आश्वस्त हो जाता है कि हाँ अगर ये साहव कविता नहीं करते तो जैनेंद्र हो सकते हैं—जैनेंद्र जिन्होंने सरस, यदि अश्लील नहीं भी, उपन्यास या कहानियाँ लिखी हैं।

कुछ साहित्यिक अपने जीवन में वैसी कला का समावेश किये रहते हैं जिसे वे लिख नहीं पाते। जैनेंद्र ऐसी गल्प लिखते रहे हैं जिसे जीने का साहस उनमें नहीं रहा होगा। 'सुनीता' का स्रष्टा दिल्ली के जिस मुहल्ले में रहता है वह मामूली हैसियत के भले आदमियों की वस्ती है। एक वड़े-से मकान के पिछवाड़े, दिमाग में काम खत्म होने के वाद आये हुए विचार की तरह, एक उटपटांग पर स्वयंपूर्ण फ्लैट है जिसमें वहुत दिनों से जैनेंद्र रहते आ रहे हैं। फ्लैट क्या है एक विशाल वट-वृक्ष के स्कंध पर खतरनाक ढंग से जुड़ा हुआ घोंसला ही समझ लीजिए। वह ठीक-ठीक घोंसला ही है। छोटा, आरामदेह, एक-एक तिनका अपनी जगह पर, हो-हल्ला से उतनी दूर जितना दिल्ली में संभव हो सकता है। यह किसी साधारण गृहस्थ का घर हो सकता है। घर वालों के वारे में ज्यादा से ज्यादा यही कहा जा सकता

है कि वे सफाई पसंद करते हैं और सादगी के साथ रहने के लिए विवश हैं।

जैनेंद्र का कमरा तो एक बारगी निराशाजनक है। साहित्यिकों या कलाकारों के बारे में जो लोग खास तरह की धारणा रखते हैं वे सोच सकते हैं कि न सही कलापूर्ण सजावट, कलापूर्ण बेढंगापन ही रहता। और तो और दस-बीस किताबें भी नहीं दीखतीं कि मालूम हो कि सचमुच ही यह जैनेंद्र का कमरा है। पुराने लछमन-झूला जैसी अविश्वसनीय सीढ़ी से चढ़ते ही कमरे का दरवाजा है। आगे बरामदे जैसा है जिस पर एक ओर दो-एक कमरे हैं और दूसरी ओर रसोई-घर। सबसे पहले कमरे की चर्चा कर रहा था। फर्श पर दरी या चटाई बिछी रहती है। एक तिपाई भी वहां रहती थी। जैनेंद्र जी इसी कमरे में बड़े प्रेम से अभ्यागतों का स्वागत और शरारती बच्चों को अंदर जाने का अनसुना आदेश करते हैं।

घर की तरह जैनेंद्र का परिवार भी सज्जा की दृष्टि से अकलाकारोचित है। प्रियदर्शन बच्चों में जो कुछ बड़े हैं वे पिता के साथ सरल स्नेह और साभिमान आदर का शिष्ट, समुचित व्यवहार करते हैं। लेकिन छोटे बच्चे उनसे डरते नहीं। वे काम कर रहे हैं, और सबसे जरूरी और ज्यादा समय लेने वाला उनका काम आगतुकों के साथ बातचीत है, कि बच्चा गोद में आ धमका और मचलने लगा। जैनेंद्र खीज तो जरूर उठते हैं लेकिन उन्हें शायद यह स्मरण हो आता है वे अहिंसा में विश्वास करते हैं!

अहिंसा में विश्वास करना कैसा कृच्छ-साधना है यह मैंने अपनी आंखों देखा है। जैनेंद्र सभापति के पद से भाषण, जिसे वह बातचीत ही कहना पसंद करते हैं, कर रहे थे। हाल कालेज के विद्यार्थियों से भरा हुआ था। वे बैठकर काफी धीरे-धीरे बोलते हैं। छात्र अस्वाभाविक तल्लीनता के साथ उनकी बात सुन रहे थे। उस दिन साथ में भाभी भी चली गयी थीं – भाभी, श्रीमती जैनेंद्र, जिन्हें उनके बच्चे भी भाभी कहते हैं। उनकी गोद में काफी देर से नियंत्रित धैर्य के साथ छोटा बच्चा बैठी हुई थी। अचानक वह उठी और कोई रोके इसके पहले जैनेंद्र के पास जाकर खड़ी हो गयी। दूर से सोचिये तो एक दम मामूली बात, लेकिन हाल के तनाव से भरे हुए वातावरण के लिए वह एक बड़ा ही नाटकीय क्षण था। जैनेंद्र की भौंहें एक बार आकुंचित हुईं। मैंने सोचा वक्ता श्रोता के बीच का दुर्लभ वैद्युतिक तनाव अब टूटा। पर जैनेंद्र बोलते रहे। बच्ची को उन्होंने गोद में बिठा लिया। बच्चे, गनीमत हुई,

श्री जैनेंद्रकुमार : घर में

श्रोता ही बनी रही, वक्ता बनना उसने आवश्यक नहीं समझा। अहिंसात्मकता के संबंध में मैंने लंबी-चौड़ी बातें सुनी हैं। उस दिन पहली बार उसका व्यावहारिक रूप देखा भी—जिस पर, बिना देखे, मैं किसी हालत में विश्वास नहीं कर सकता था।

भाभी के बिना जैनेंद्र का परिचय अधूरा रह जायेगा। उनकी चर्चा प्रसंगवश कर चुका हूँ। यहाँ उनके बारे में थोड़ा और कह लेना जरूरी-सा मालूम दे रहा है। मुझे अक्सर व्यक्ति और मनुष्य के रूप में महापुरुषों से निराशा हुई है। एक बड़ा नेता, एक महाकवि, एक प्रसिद्ध विद्वान् अपने क्षेत्र में असाधारण होते हुए भी बहुधा बहुत साधारण मनुष्य साबित होता है। उनकी तुलना में उनकी जीवन-संगिनी जिसे संसार जानता तक नहीं, वस्तुत: महीयसी होती है। वह अपने पति की नीतिज्ञता, प्रतिभा या पांडित्य तो नहीं पा सकती किंतु उसके अनुरूप बनने के प्रयास में वह उससे भी महान् बन जाती है। अपवाद तो होते ही हैं किंतु भाभी जैसी और दूसरी स्त्रियों को भी मैंने देखा है जो मनुष्यता की दृष्टि से अपने पतियों से कहीं ऊँचे स्थान की अधिकारिणी होती हैं—हालाँकि अगर उनसे कोई यह कहे तो उन्हें शायद अप्रसन्नता ही होगी, जिसकी आशंका मुझे भाभी से भी है।

आश्चर्य की बात तो यह है कि भाभी काफी अलग से जैनेंद्र के साहित्यिक—आजकल सांस्कृतिक—कार्यों में दिलचस्पी रखती हैं। वह उनके काम में इतना भी सहयोग नहीं देतीं कि जैनेंद्र के 'लेखक', डिक्टेशन् लेने वाले सज्जन, नहीं हैं तो थोड़ी देर को खुद बैठ जाएँ। उन्हें, हो सकता है, शीघ्रतापूर्वक लिख सकने का अभ्यास न हो लेकिन विवाहित जीवन के इतने सारे वर्षों में इस काम में दक्ष होना भला क्या मुश्किल था? भाभी की यह बात अच्छी ही लगती ही है कि वे बहुत-सी लेखक-पत्नियों की तरह अपने पति की कृतियों के संबंध में उबा देने वाली दिलचस्पी नहीं दिखातीं। जैनेंद्र ने उन्हें अपने साँचे में ढालने की कोशिश नहीं की है इसके लिए मैं उन्हें प्रशंसनीय समझता हूँ। पत्नी या संतान पर अपने आदर्श और विचार लादना नागरिक स्वतंत्रता के मूल सिद्धांत की ही अवहेलना है! हक्स्ले के प्रसिद्ध उपन्यास 'प्वाइन्ट काउंटर प्वाइन्ट' में एक वयोवृद्ध कलाकार-पात्र है जो घर वालों को सख्त हिदायत करता रहता है कि उसके छः-सात साल के पौत्र को तसवीरें खींचने के लिए कोई बढ़ावा न दे यद्यपि वह जानता है कि बच्चे में इसके लिए प्रतिभा वर्तमान है। जैनेंद्र इस सिद्धांत से शायद ही सहमत हों

किंतु भाभी को उन्होंने ठोंक-पीट कर तृतीय श्रेणी की कहानी-लेखिका नहीं बनाया यह समझदारी का काम ही कहा जायेगा।

भाभी कहानी-लेखक या दार्शनिक पति की लेखक या दार्शनिक पत्नी न हो कर भी उन्हें अपनी राह पर चलते चलने के लिए इतनी अधिक सुविधाएँ प्रदान करती हैं कि जैनेंद्र उनके अधमर्ण हैं। इसे स्वीकार करने में उन्हें संकोच नहीं होता क्योंकि जैनेन्द्र थोड़ी-सी बात के लिए भी आभार मानने वाले व्यक्ति हैं, यह तो बहुत बड़ी बात है। उनके जो मित्र यह नहीं समझ पाते कि उनके जीवन में भाभी का क्या स्थान है, वे भाभी से ज्यादा जैनेन्द्र को कष्ट पहुँचाते हैं। मुझे यह जान कर आश्चर्य नहीं होगा कि भाभी को भी इस बात का ज्ञान नहीं है।

जैनेंद्र पर लिखते-लिखते में श्रीमती जैनेंद्र पर इतना लिख गया यह अनिवार्य था—शायद आप भी अब स्वीकार कर सकें। जैनेन्द्र इतना लिख सके और बहुत अच्छा लिख सके इसका कारण है कि उन्होंने साहित्य के अतिरिक्त कोई पेशा नहीं अपनाया। उन्हें कोई पेशा अपनाने के लिए लाचार नहीं होना पड़ा इसका श्रेय जितना हिंदी के संपादकों, प्रकाशकों या पाठकों को नहीं उतना भाभी को है।

भाभी की तुलना में स्वयं जैनेन्द्र बड़े अव्यावहारिक आदमी हैं। व्यक्ति जैनेंद्र के बारे में यह नहीं कह रहा हूँ क्योंकि कम से कम मुझे तो यह कहने का कोई अधिकार नहीं—अपनी तुलना में तो उन्हें काफी व्यावहारिक ही पाया है। जो आदमी 'होल्ड-आल' ठीक-ठीक बाँध ले सकता है उसकी व्यावहारिकता में मुझे संदेह नहीं रह जाता और जैनेंद्र जी से खुद हाथ पर हाथ रख कर, अपना 'होल्ड-आल' बँधवा कर देख चुका हूँ, कि इस मामले में उन्हें किसी से कुछ सीखना नहीं भाभी से भी नहीं। अपनी गड़बड़झाले में पड़ी गृहस्थी के बारे में उनसे नसीहत भी पा चुका हूँ। मेरे कहने का अभिप्राय था कि जैनेंद्र आदमी नहीं पहचानते। वह बड़ा-बड़ी योजनाएं बनाते रहते हैं— अच्छी पर अव्याव-हारिक योजनाएँ, चिकनी-चुपड़ी बातें कहने वालों के भरोसे। मुझ तक को आश्चर्य होता है कि वे कितनी आसानी से किसी की शिष्टाचार के नाते कही गयी बातों पर अनायास विश्वास कर लेते हैं—आगे चल कर निराश और क्षुब्ध होने के लिए। दूसरी ओर जो सचमुच उनका कुछ काम कर सकते हैं पर स्पष्टवादी हैं और उनके सिद्धांत से सहमत होते हुए भी

उनकी कार्य-प्रणाली के आलोचक हैं उनके प्रति जैनेंद्र असहिष्णु हो कर काम बिगाड़ देते हैं।

आजकल जैनेंद्र इस अशिक्षित और असंस्कृत देश में सांस्कृतिक आंदोलन चलाने का स्वप्न ढोये फिर रहे हैं। आंदोलन नेता ही चला सकता है। पर दुर्भाग्यवश जैनेन्द्र में नेता के गुण नहीं हैं। हाल में इसी सिलसिले में वे पटने आये थे। उनकी बातों से मालूम हुआ कि आंदोलन चलाने के लिए जितने सरो-सामान की जरूरत हो सकती है उसका एक तरह से प्रबंध हुआ ही समझना चाहिए, जरूरत सिर्फ उत्साही कार्यकर्त्ताओं की थी। पहले तो यही देखिए कि इसका भार मुझे सौंप कर वे बहुत हद तक निश्चित हो गये—मुझ पर, जो न तो अपने उत्साह के लिए ही प्रसिद्ध है न कार्यकर्तृत्व के लिए ही! मैंने मित्रों की सहायता से किसी तरह इस संबंध में थोड़ा-बहुत किया तो सबसे पहली और सबसे बड़ी दिक्कत जो सामने आयी वह यह कि जैनेंद्र जी के पास कोई सुनिश्चित योजना थी ही नहीं। उनके महान् आदर्श और उच्च लक्ष्य से सभी प्रभावित हुए और उनसे भी अधिक अनिश्चित और उत्साहवर्धक बातें कर तथा उनके दर्शनों का लाभ उठा कर लोग चलते बने। जो लोग सचमुच कुछ करना चाहते थे वे ठोस, लिखित योजना चाहते थे, जिसे ही जैनेंद्र सर्वथा गौण सिद्ध करते रह जाते थे।

फिर प्रसंगवश आंदोलन के साधनों पर भी कुछ विस्तार के साथ उनकी मेरी बातें हुईं। पहले यह जान कर आश्चर्य-मिश्रित प्रसन्नता हुई थी कि जैनेंद्र जी ने यदि उनका प्रबंध कर लिया है तो काम रुकने का नहीं। पर अब विस्तार में जाने पर, यह मालूम हुआ कि इधर के ही एक सज्जन हैं जो किसी दूसरे सज्जन से कह कर कुछ अन्य सज्जनों से बड़ी आसानी से सारी व्यवस्था करा देंगे, ऐसा उनका विश्वास था! एक दूसरे महोदय ने भी बड़े आत्म-विश्वास के साथ कहा कि वह शहर के ही एक सेठ जी से कुछ नहीं तो चार-पाँच हजार का तो इंतजाम करा ही देंगे। सुबह मोटर आ जायेगी, जैनेंद्र जी को जाना भर है। सच ही कोई कारण नहीं था कि इन सज्जनों पर विश्वास नहीं किया जाता। जैनेंद्र जी को विश्वास हो गया था तो मुझे प्रसन्नता ही थी कि उनका काम आगे बढ़ रहा है। और कहने की जरूरत नहीं, कि हुआ कुछ भी नहीं। संभावना हो तो कोशिश जरूर करनी चाहिए, लेकिन चलते हुए

आश्वासनों पर विश्वास कर लेना नेता का गुण नहीं है। जैनेंद्र सक्रिय नेतृत्व करना चाहते हैं। कर सकते तो क्या बात, लेकिन, मुझे भय है, इसके लिए वे बने नहीं। इस बार के अनुभव से मेरी यह धारणा दृढ़ हो गयी कि जैनेंद्र जैसे साहित्यकार या चिंतक कलम के भरोसे ही नेतृत्व कर सकते हैं, राजनीतिज्ञों के तत्काल प्रभाव पैदा करने वाले साधनों के सहारे नहीं। पता नहीं, जैनेंद्र की धारणा इस अनुभव के बाद बदली है या नहीं। न बदली हो तो मुझे आश्चर्य नहीं होगा। यह उनके स्वभाव के अनुरूप ही है। *यह असाधारण व्यक्तित्व का ही काम है* कि वह असाध्य आदर्शों की सिद्धि के लिए हठपूर्वक प्रयास करता रहे। और जैनेंद्र प्रगतिवाद के नक्कारखाने में अध्यात्मवाद की तूती बजाने में, हिंदी के बदले हिंदुस्तानी का समर्थन करने में निर्भीक और दृढ़ बने रहे हैं। जैनेंद्र से हम सहमत हों या नहीं किंतु यह हम मानना पड़ेगा कि उनके अपने आदर्श और सिद्धांत हैं, उन पर उनका विश्वास है और एक हद तक, जो कम बड़ी बात नहीं, वे उन्हें कार्य में परिणत करने का प्रयास भी करते रहते हैं।

इन्हीं आदर्शों और सिद्धांतों के कारण जैनेंद्र का व्यक्तित्व सदैव तनाव से भरा रहता है। उनकी प्रकृति और शक्ति इन आदर्शों और सिद्धांतों से बहुत अंशों में मेल नहीं खाती। जैनेंद्र अपने आदर्शों के लिए अपनी प्रकृति की अवज्ञा करते हैं, अपने सिद्धांतों के अनुरूप अपनी शक्ति को मोड़ना चाहते हैं। वे कलाकार हैं पर संत बनना चाहते हैं, व्यक्तिवादी हैं पर गांधीवादी हो गये हैं, पुस्तक-प्रेमी हैं पर पुस्तकों को अज्ञान ढँकने का साधन बताते हैं, सफल गल्पकार हैं पर उपन्यास और कहानी लिखने से विरत हो चुके हैं, रचना-कौशल के विशेषज्ञ और मौलिक प्रयोगकर्त्ता हैं पर 'टेकनीक' के नाम से चिढ़ते हैं, कल्पना और भावना पर अधिकार रखते हैं पर 'जड़ की बात' ही करना पसंद करने लग गये हैं, और प्रांजल और निर्दोष हिंदी लिखते हैं पर हिंदुस्तानी का समर्थन करते हैं।

हो सकता है जैनेंद्र को जो कुछ करना था कर चुके। किंतु जैनेंद्र के व्यक्तित्व के इस घात-प्रतिघात-संघात का कोई परिणाम नहीं निकलेगा ऐसा विश्वास करना कठिन है।

शमशेरबहादुर सिंह

लुई अरागाँ : नये योरोपियन साहित्य का एक व्यक्तित्व

अरागाँ में सबसे प्यारी चीज़ शायद एल्सा के लिए उसका प्यार है, जो उसकी कितनी ही कविताओं से फूट-फूट कर छलकता है। एल्सा उसकी बीवी है, और उसके काम में, उसकी जद्दो-जेहद में बराबर की साथी है। दोनों मिलकर, साथ-साथ सारी मुसीबतें झेलते हैं—और कैसी मुसीबतें !..जब फ्रांस पर नात्सियों और विशी टोडियों का क़ब्ज़ा हो गया और ईमानदार राष्ट्र-प्रेमियों के लिए ज़िंदगी हराम हो गयी, जब पेअरलवा का दौर-दौरा था, और जान की क़ीमत सिर्फ़ राष्ट्र-प्रेम थी... उस कठिन वक्त में दोनों ने किस तरह एक-दूसरे को, साथ जूझने वाले इन्क़लाबियों की-सी, आत्मिक, बौद्धिक और मानसिक मदद दी, यह उन दोनों के साहित्य की कहानी के अंदर की छिपी हुई कहानी है।

शायद एल्सा से कम तो वह फ़्रांस को प्यार नहीं करता, क्योंकि वह समूचे फ़्रांस को—फ्रांस की नयी इन्क़लाबी ख़ूबसूरत पौध को—अपनी एल्सा के अंदर देखता है: वह नया जवान फ़्रांस जो शहीद हो रहा है...; दरअस्ल दोनों एक दूसरे के संघर्ष का आईना बन गये हैं।

फ्रांस के ज़र्रे-ज़र्रे से उसको इश्क़ है। उसकी घाटियों, मैदानों, पठारों, और उसके पहाड़ों और नदियों और शहरों और खेतों और बाज़ारों, उसकी पेरिस से, पेरिस की रातों से, पेरिस के नाचघरों, और उसकी मुँह-अँधेरी सुबहों और उसके फूलों, और उसकी इमारतों और उसकी कला और उसके काव्य से उसकी आत्मा को प्यार है। अपने इतिहास के कठिन मोड़ों पर, फ़्रांस जिस तरह योरप और दुनिया की इन्सानी आज़ादी के लिए एक राजमार्ग, और उसकी अँधेरी बीहड़ रातों के लिए टिमटिमाता हुआ चिराग़ रहा है, वह सब इस महाकवि के अंतःकरण पर नक़्श है। यह देश उसके लिए न सिर्फ़ नई कला और नये विचार और नई खोजों के सौंदर्य का, बल्कि उसके शहीदों की अमर लाली का निशान है.. जो मुसीबत में ढारस और हिम्मत और शक्ति देता है। जब वह फ़्रांस के फूल-पत्तों का, उसके ऐतिहासिक नामों का इशारों में भी कभी ज़िक्र करता

है, तो वह जानता है कि उसके हमवतनों के दिलों में कैसी कोमल टीस-सी उठने लगती है। एक ऐसा दर्द चुपचाप करवट लेने लगता है, जिसको नात्सी तो नात्सी खुद अपने घर के टोडी गुर्गे 'विशि'-वाले दुश्मन भी देख नहीं सकते, और साहित्यिक सेंसर और खुफिया के पास न ही इसका कोई इलाज सिवाय इसके कि ये गद्दार मरदूद फ्रांस की पाक मर जमीन को खाली कर दें और दफ़े हों।

अरागाँ के लिए फ्रांस के जाँनिसारों, उसके शैदाइयों और शहीदों में कोई फर्क नहीं—वे कम्युनिस्ट हों कैथलिक हों, प्रोटेस्टेंट हों, चाहे डिगालिस्ट। देश पर कुरबान होने वाले का खून एक-समान लाल है, एक समान पवित्र।[1]

---

[1] अरागाँकी एक मशहूर कविता है Bahar Laqui Chanta Dons Le Supplice. इस कविता के हीरो दो नौजवान हैं एक कैथलिक धर्म को माननेवाला और एक कम्युनिस्ट। इन दोनों को मौत की सजा मिलती है, क्योंकि फ्रांस की आजादी के लिए इन दोनों ने नात्सियों के खिलाफ हथियार उठाये हैं। इन दोनों की आपसी दुश्मनी आजादी की लड़ाई में भस्म होकर खत्म हो चुकी है। अंत में कवि कहता है कि—

"जब वेदनापूर्ण प्रभात का आगमन हुआ
जो इन्हें जीवन से मृत्यु की ओर ढकेलता था
—एक उसे, जिसे आखिरत (कयामत) पर विश्वास था
—एक उसे कि जिसका ईमान उस पर न था
"उस समय दोनों के अधरों पर उसी प्रेयसी का नाम था
जिससे न इसने विश्वासघात किया था, न उसने।
और अब उनका लाल रक्त बह रहा है,
जिसका रंग भी एक है, और जिसमें चमक भी एक सी ही है
—उसका भी जिसे आखिरत (कयामत) पर विश्वास था
—उसका भी कि जिसका ईमान उस पर न था
'वह बहता है और बहकर मिल जाता है उस मट्टी में
जो उन्हें इतनी प्रिय थी। इसीमें से
अंगूर की बेलों के ताजा उनाबी गुच्छे फैलेंगे।"

(श्री सज्जाद जहीर के अनुवाद से)

और इसी तरह अरागाँ के लिए फ्रांस के महान् कलाकारों में से एक ही मिट्टी के रस-राग की पवित्र महक उठती है। उन्होंने अगर अपने दिल के लहू से देश की कला और साहित्य के बाग़ को सींचा है, तो वह उनके आगे नतमस्तक है, वे चाहे जिस मत, और धर्म के हों।

यह कितनी अजीब बात है कि वही अरागाँ जो परंपरा से 'बाग़ी' कहलाता था और परंपरा से बाग़ियों का रहनुमा था, और उस रहनुमाई में ही जिसको शोहरत मिली थी, वही अपनी कला और साहित्य में परंपरा का सबसे जबरदस्त समर्थक साबित हो। सच तो यह है कि इस कलाकार की आत्मा को फ्रेंच साहित्य की परंपरा से जो भी खाद्य मिला था, उसी की ज़िंदा ज़मीन पर इस 'दादा' वादी और सुर्रियलिस्ट ने फ्रांस की शायरी में नये गुल खिलाये थे।

'दादाइज़्म' और 'सुर्रियलिज़्म' का जन्म 'प्रतीकवाद' और 'घनवाद' (क्यूबिज़्म) के आंदोलनों में हुआ था, जिनके अगुआ और मुखिया लोग काव्य और चित्रकारी के मैदान में, लगभग इस पिछली लड़ाई के सालों तक, अपने रास्ते पर 'आगे बढ़ते' गये थे। यह वह दुनिया थी जिसमें पहली बड़ी लड़ाई के बाद एक गहरी आध्यात्मिक बेचैनी पैदा हुई और फैली थी; और जिसने व्यक्ति को अपने ही अंदर की गहराइयों में, अपने ही सपनों और अपनी ही तड़पन और पीड़ा की अँधेरी गलियों में एकाकी घूमने के लिए मजबूर कर दिया था। अकेला अपने आप से बैठ कर जब कलाकार बातें करता था, तो वह अपने आपको उस 'आज़ाद', बे-छोर, अपरंपार दुनिया में पाता था जिसमें कि अपने उड़ते, खोते और बनते हुए सपनों के लिए वह किसी के सामने ज़िम्मेदार न था। अवचेतन की नई खोजों ने इस एकाकी दुनिया की दिलचस्पियों में और भी गहराइयाँ पैदा कर दी थीं।

इन नई संवेदना वाले, महज अपने प्रति बेहद ईमानदार, कलाकारों का एक दल जब इस आंदोलन को ऊपर उठाकर चला है, तो ऐसा मालूम हुआ जैसे कला, साहित्य, कविता, कथा और उपन्यास का पिछला युग [पहले] महायुद्ध के साथ ही ख़तम हो गया, और एक नई अकेले-अकेले लोगों की, बहुत रंगीन, बहुत दिलकश और दर्दनाक, चोट-खाई हुई, ट्रैजिक भी और आध्यात्मिक विजय से गर्वीली भी—ऐसी भरी-पूरी-

सी दुनिया के दरवाजे सहसा खुल गये। इन कलाकारों का जोर, जाहिर है कि, शब्दों—अकेले—शब्दों-रंगों-रूपों-और-सपनों-और-यादों के एक गड्डमड्ड पैटर्न पर था, जिसमें कि उस वक्त के योरपीय समाज की बौद्धिक ऊहापोह का किल्सी नक्शा तो जरूर मौजूद रहता था—जिसके कि मानी समझे या समझाये नहीं जा सकते थे, बल्कि जो सिर्फ महसूस किये जा सकते थे—'सिर्फ एहसास के जरिये ही उन्हें पकड़ा जा सकता था।" मगर हद से हद यह दुनिया मचार्ट की महज आधी दुनिया थी—इसमें शक नहीं कि पिकासो और मूर ने चित्रकारी में और मूर्तिकला में हमारी जिंदगी के बड़े ही ट्रैजिक और दर्दनाक और घिनौने पक्ष को गुने आम, जो देख और समझ सकते थे उन्हें, दिखाया, और उसमें कटुव्यंग यानी 'आलोचना'—समाज और संस्कृति के आधुनिक रूप की आलोचना—का एक पहलू भी मौजूद था। इस रविश ने अपने लिए खास-खास (पारिभाषिक) इशारे मुकर्रर कर लिये, और उसके अपने ही, बहुत से, मुहाविरे ढल गये। और वास्तव में यह एक काफी मुश्किल और बहुत गहरी कला-भावनाओं का मूर्त-रूप था। यह रूप (मसलन् अरागाँ या एलुआर का) एकाएक मुश्किल ही था समझना, साधारण साहित्य प्रेमियों के लिए, इसमें शक नहीं। ७

---

७ 'दादाइज्म' और 'सुर्रियलिज्म' —

अपने 'दादा" नाम की पत्रिका में त्रिस्तान जारा ने लिखा,

" 'दादा' आंदोलन के अनुयायी तर्क, सामाजिक भेद भाव, स्मृतियाँ और भविष्य सब को मिटा देना चाहते हैं। 'दादा' का अर्थ अनायास पैदा होनेवाले हर एक 'खुदा' पर विश्वास है।"

और उसी में यह भी है "हम तूफानी पक्कड़ हैं जो भावनाओं और प्रार्थनाओं को चादरों को फाड़ डालते हैं और बरबादी, अग्निकांड और गलने सड़ने के शानदार तमाशे की तैयारी करते हैं।" प्रोफेसर श्री सज्जाद जहीर 'इस आंदोलन की विशेषताएँ ये थीं कि यह लगभग हर चीज और हर विश्वास के प्रति विद्रोही था।"

त्रिस्तान जारा, ह्यूगो बाल, वगैरह का यह आंदोलन स्विट्जरलैंड में शुरू हुआ था, सन् १९१६ में। उन्हीं दिनों पेरिस में आद्रेब्रेतों और लुई अरागाँ वगैरह का दल पेरिस में घनवाद' (क्यूबिज्म) का झंडा ऊँचा कर रहा था। इस 'वाद' का आधार था रेखागणित की शक्लें। इन लोगों का कहना था कि—"कला का प्रारंभ वहाँ से होता है जहाँ से नकल की समाप्ति होती है।" इसीलिए

मगर क्या इसी दुनिया में रह जाना, बस जाना, इनसान को, ख़ुद कलाकार को गवारा था ? क्या जो अजीब-अजीब पौधे और बेल-बूटे कला की क्यारियों में लाकर सजाये गये थे, वे कभी मुर्झाने को न थे ?......थे, और जल्द ही। क्योंकि अव्वल तो इन नये पौधों में फलने-फूलने की शक्ति बड़े-बड़े तनावर दरख़्तों की सी न थी ; कितनों ने तो लिखना ही बंद कर दिया था, जैसे मसलन् जारा और एलुआ ने। दूसरे यह कि, कलाकार

उन्होंने यह भी कहा कि "हमेशा दूसरी चीज़ ढूँढो—हमेशा दूसरी चीज़। इसलिए कि खोज जीवन है, और पाना मृत्यु।"

स्विट्ज़रलैंड और पेरिस दोनों के कलाकार-दलों में बाक़ायदा सहयोग रहता था।

अक्तूबर, सन् १६२४ में आंद्रे बेतों ने 'सुर्रियलिज़्म' शीर्षक के साथ एक घोषणा-पत्र प्रकाशित किया। उसी समय से नयी कला का यह आंदोलन इस नाम से मशहूर हुआ और यह फ्रांस की सीमा ही में नहीं फैला, बल्कि इंग्लैंड, जर्मनी और ख़ासकर अमेरिका में भी पहुँचा—और फैला। जैसा कि सज्जाद ज़हीर लिखते हैं ("लुई अरागाँ," 'आदर्श', जुलाई १६४८) "सुर्रियलिस्ट कवियों ने प्रतीकवादियों और विशेष रूप से रिम्बो से भी काफ़ी प्रभाव ग्रहण किया। हर प्रकट और दृश्य वस्तु से इनकार, हर चारित्रिक मूल्य से घृणा, कला की प्रत्येक रूढ़ि से आपत्ति, कविता की छंद-संबंधी क़ैद से मुक्ति, उनका सिद्धांत बना। उन्होंने बिखरी हुई, अस्पष्ट, असाधारण तथा अछूती मिसालों और उपमाओं और आश्चर्यजनक अजीब चित्रों, अनदेखे उदाहरण द्वारा प्रकट कल्पनाओं, अव्यवस्थित तथा शृंखलाहीन विचारधाराओं, परेशान मस्तिष्कों, तथा हृदयग्राही रंगीनियों की एक नयी दुनिया बनाने की कोशिश की।"

अपने लेख में आगे श्री ज़हीर लिखते हैं—

"इस आंदोलन से सहानुभूति रखनेवाले एक आलोचक, रेने बर्तले, ने सुर्रियलिस्ट कविता की विशेषता इस प्रकार व्यक्त की है : 'कविता की एक नवीन परिभाषा होती है। कविता एक आपबीती वास्तविकता का एक अनायास प्रकटीकरण बन जाती है। हर प्रकार की धारा के प्रति विद्रोही. एक चमक, एक जगमगाहट, एक हृदयग्राही ध्वनि, एक मस्ती, चेतना के अविरोध संघर्ष द्वारा प्रस्फुटन का एक टुकड़ा। जीवन के आंतरिक समुद्र की सबसे अंधकारपूर्ण गहराइयों की नाप करने से इसके स्तरों पर आश्चर्यजनक सत्यों और जीवनपूर्ण अस्तित्व की संपत्ति मिलती है। वहाँ एक नवीन सौंदर्य भी मिलता है, अजीब, परेशानकुन और रोमांचकारी'।"

की रूह को आखिरकार इनसे ऊब और नफ़रत-सी होने लगी।—कम से कम कुछ को तो।—इन लोगों को खुली हवा, सादे इन्सानी सुभाव की माँग और एक-दूसरे से समाजी लेन-देन और हमदर्दी की जरूरत महसूस हुई।

यह इसलिए खास तौर से और भी महसूस हुई कि जिस समाज में ये एकाकी कलाकार रहते थे, उस समाज की हालत बहुत अबतर होती जा रही थी। रोजाना जिंदगी की कड़ुआहट बढ़ती जा रही थी। जनता की साधारण आजादी, उसकी आत्म-निष्ठा और आजादी की चेतना पर आघात होने लगे थे। एक तरफ़ अबीसीनिया पर हमला शुरू हुआ, जो फ़ासिस्ती ड्रामे का पहला एक्ट था, दूसरे एक्ट का पर्दा स्पेन में खुला, जहाँ दुनिया भर की प्रतिक्रियावादी और प्रगतिशील ताकतों ने पंजे लड़ाये—दूसरी बड़ी लड़ाई से पहले एक-दूसरे को आजमाया। हिटलर और मुसोलिनी ने फ्रैंको का खूब अच्छी तरह साथ देकर, और फ्रांस और इंग्लैंड ने बेहयाई के साथ उधर से आँखें फेर कर यह साबित कर दिया कि अब फासिस्ती हुकूमतों का दौर आने वाला है। मगर इसके साथ ही यह बात भी सामने आ गयी कि जिस पैमाने पर खुद फ्रांस और इंग्लैंड और बाकी योरप से खिंच-खिंचकर नौजवान वालंटियर स्पेन की पठारी घाटियों में लोकतंत्र के लिए शहादत का जाम पी रहे थे, उसी पैमाने पर जन-साधारण में एक नयी चेतना जन्म ले रही थी। और इस नई चेतना के बढ़ते हुए असर में जन-साधारण का, खासकर सगठित मजदूरों का जेहाद अब अपनी ढुल-मुल समझौतावादी सरकारों का मुँह न जोहेगा। इसी जेहाद के साथ थे योरप के नये कलाकार, जैसे - टोलर, जीद, मालरो, ऑडेन, स्पेंडर, रीड, आदि। यह बेदारी चीन और हिंदोस्तान से लेकर अमरीका के देशों तक फैल गयी थी। प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना भी उन्हीं दिनों हुई, और प्रेमचंद और रवीन्द्रनाथ ठाकुर उसके पहले और दूसरे सभापति हुए। उस जमाने के पंडित नेहरू के भाषण दुनिया को आज भी याद होंगे, जिन्होंने पहली मर्तबा उनको अंतर्राष्ट्रीय अहमियत दी, और नौजवान दुनिया के बड़े लीडरों में उनकी गिनती होने लगी।

नये साहित्य के इतिहास की यह एक बड़ी शानदार कहानी है कि इस मौके पर कलाकार, कवि और उपन्यासकार, जो अब तक आमतौर पर अपनी आध्यात्मिक और भावुक दुनिया के लेने-जोगे में लगे हुए थे,

उनमें लगभग सबों ने अबीसीनिया और स्पेन के हादसों को ज़ाती चोट की तरह महसूस किया। इंग्लैंड और फ्रांस के - और स्पेन का तो जिक्र ही क्या है—कितने ही होनहार साहित्यिक वहाँ जाकर शहीद हुए। उस शहादत के मैदान में कला और साहित्य ने नयी दुनिया में आने वाली अपनी एकता को रौशन कर दिखाया। राल्फ़ फाक्स और काडवेल, जिनसे इंग्लैंड की कविता और आलोचना को बड़ी-बड़ी उम्मीदें थीं – और स्पेन का फ़ाद्रिको गार्सिया लोर्का, जो पहले ही योरपीय काव्य और नाटक में बहुत गौरवशाली दर्जा रखता था, इन्हीं कलाकार शहीदों में से थे। स्पेन के इसी 'गोएर्निका' (युद्ध) की तस्वीर जो पिकासो ने खींची है—और पिकासो एक ज़बरदस्त सुर्रियलिस्ट था—वह अकेली इस ट्रैजेडी के एक आध्यात्मिक एलबम की हैसियत रखती है।[3]

अरागाँ की साहित्य और पत्रकार-कला की सारी शक्तियाँ पूरी-पूरी तरह इस नये जागरण के साथ थीं। वह पेरिस में शाम के जिस अख़बार ('से सोआ') का संपादक था, उसकी ५० लाख प्रतियाँ छपती थीं।

मगर लोकतंत्र के लिए नये संघर्ष की ओर वह इससे बहुत पहले मुड़ चुका था।

❀ ❀ ❀

सन् ३० में उसकी प्रसिद्ध कविता 'लाल मोर्चा' छपी थी। उस पर फ्रेंच सरकार ने उसे पाँच साल क़ैद की सजा भी सुनायी थी, मगर सजा मुल्तवी हो गयी थी। जिस नये सपने को कुछ ही पहले यह कवि सोवियत भूमि में सच होते हुए देख कर लौटा था, उसके मुक़ाबले में उसे अपने देश और

---

३. इससे कुछ ही पहले श्री सज्जाद ज़हीर, उर्दू के मशहूर समालोचक, अरागाँ से फ्रांस में मिले थे। वह लिखते हैं :

"प्रति दिन की राजनैतिक गतिविधियों में इस प्रकार व्यस्त, लेख लिखना, चंदा जमा करना, जलसों में भाषण देना, कमेटियों में सम्मिलित होना, तथा उनकी कार्यवाही संभालना, लेखक संघ के मंत्री के रूप में कार्य करना, एक साहित्यिक पत्र का संपादन, काम के इस जमघट में अरागाँ के जीवन का एक-एक क्षण व्यतीत होता था। इस काल में और व्यस्तता की दिशा में मुझे अरागाँ से मिलने का भाग्य प्राप्त हुआ। यह अक्तूबर सन् १९३५ की बात है।..."

समाज की झूठी, बनावटी, इश्तिहारबाजी से भरी, सस्ती, मन समझाने की, हलकी ओछी, मध्यवर्गी दुनिया एकदम घिनौनी मालूम हुई। अपने इसी अनुभव को उसने इस कविता में बड़े प्रभावकारी ढंग से पेश किया—बल्कि चित्रित किया है और यह मन और विचार दोनों में एक नयी भावुकता और गर्मी पैदा करने वाली चीज थी। 'लाल मोर्चा' ने आज़ाद ताल सुर और इशारा की छिपी चोटें, भावनाओं से दबे हुए रूढ़ियों के फोड़ों पर नश्तर का काम करती थीं।** यह एक दिलचस्प बात है कि एजरा पाउंड ने (जो महायुद्ध में मुसोलिनी के साथ था) सन् '३३ की अपनी मशहूर "एक्टिव एन्थॉलोजी" में इस कविता के एक बहुत सफल अनुवाद को मौलिक अंग्रेज़ी कविताओं के साथ जगह दी। यह संग्रह अंग्रेज़ी कविता के कुछ उन अछूते नमूनों का था, जिनमें नयी कला चेतना और प्रयोगात्मक खोज की तरफ कदम उठाया गया था।

राल्फ वाल्डो ने अरागाँ की शुरू की कविता का ज़िक्र करते हुए इस हक़ीक़त पर जोर दिया है कि अरागाँ की परंपरा से जो बगावत थी, वह दूसरे कलाकार बागियों की सी न थी। दरअसल उसके पाँव फ्रांस के इतिहास और कला की ठोस ज़मीन पर मज़बूती से जमे हुए थे, और स्वदेश के आसमानों के फैलाव बहुत गहराई तक उसकी दृष्टि में थे। इस ज़मीन के रग-रग और बोल और रस उसके मन और इंद्रियों में दूर तक बसे हुए थे। उसकी कला के रूपों में यह भरी पूरी मोहकता ही अरागाँ को इस कदर नया और प्रभावकारी और अछूता कवि बनाती है। वाल्डो के शब्दों में "अरागाँ की प्रतिभा ने फैल कर न सिर्फ फ्रांस बल्कि योरप और दुनिया में वातावरण में अपना घर बना लिया।"

यह विकास जो हम अरागाँ में देखते हैं किसी 'भावुक' या तूफानी वहशीपन के कारण न था। बल्कि यह उसके पूरे व्यक्तित्व की माँग थी। और उसके पीछे तर्क था। उसके मार्क्सवादी आदर्श जो उसने अपना लिये थे उसे मजबूर करते थे कि वह अपनी सारी शक्ति से समाज को उस सपने का एक जीता-जागता नमूना बनाने में मदद करे, जिसको साहित्य और कला से नेस्त-नाबूद करने वाली शक्तियाँ जर्मनी, स्पेन और इटली में तेज़ी से बढ़ती जा रही थीं। खुद उसकी कविता में भावना के अन्दर एक कायाकल्प सा पैदा करने की जो कोशिश हमें मिलती है—एक मसकारी चीज जो हमारे मन के पर्दे नयी दिशाओं की ओर खोलता है—उसमें नये,

'आध्यात्मिक' मूल्यों की जो पकड़—बल्कि उसको भावों के जीवन में घुला-मिला देने की जो माँग हम महसूस करते हैं, वह एक पुकार है जो ऐतिहासिक है, और अरागाँ के विकास का तर्क बन गयी है।

इस तर्क का मतलब उसके लिए यह था, कि उसे अपने उपन्यास और गीत की कला में ज्यादा सच्चा और सही रोमान, और ज़िंदगी की रौ और गहराई की ज्यादा से ज्यादा असली जानकारी लानी होगी; ताकि उस कला में ज़िंदा आब पैदा हो सके, ताकि सौंदर्य का परिचय ही नहीं, बल्कि वह आत्म-बल भी (जो सौंदर्य को ग्रहण करने के लिए पहला ज़रूरी आधार है) देने की शक्ति उसकी कला में पैदा हो सके। और अपनी कला में यह सच्ची धार और चमक व सौंदर्य लाने के लिए यह ज़रूरी था कि वह अपने देश के संघर्ष में, एक कलाकार की तरह, खुद हिस्सा ले।

इसका मतलब अरागाँ के लिए वह कशमकश थी, जिसमें फ्रांस की आत्मा की परीक्षा हो रही थी : मानव मूल्यों, व्यक्ति और समाज की रूहानी आज़ादी का सवाल था : किस तरह उनकी पवित्रता को कुचले जाने से बचाया जाय—यह सवाल था। और फिर, सन् ३९—४० में, फ्रांस की हार के बाद, देश की राजनीति इस ढर्रे पर चल रही थी कि पाँचवें दस्ते के लीडरों का खुला राज था; मो० लवा देश को हिटलर के हाथ वे कर चुके थे। विशी के 'आज़ाद' इलाक़े में अब जनता के सांस्कृतिक लीडरों को अपनी-अपनी जगह पर लोकात्मा की रक्षा करनी थी...अगर्चे वे खुलकर ऐसा नह कर सकते थे...मगर फिर फ्रांस की कला की परंपरा का तक़ाज़ा भी कुछ था।[४]

---

४. १९३५ में अरागॉं ने खुद अपने परिवर्तन के बारे में एक निबंध में लिखा :

"यह समझौते की दो चीज़ों के बीच, लाचार होकर एक अंतिम प्रयास था। प्रथम, जीवन के प्रति वर्षों से मेरा दृष्टिकोण, दूसरे, वह कठोर यथार्थ, जिससे मुझे टकराना पड़ा। इस प्रयास के अतिरिक्त जनता के सेवा-संबंधी कामों में भाग लेने ने भी मुझे अतीत के जाल में दुबारा फँसाने से बचाया। यह अतीत नितांत धुँधला था, जहाँ मेरे पहले के साथी मुझे चिल्ला-चिल्लाकर बुला रहे थे। यहाँ तक कि मेरा अपमान करके भी मुझे वहाँ रखना चाहते थे। मैं छोटे-से-छोटा

यह एक हकीकत है कि फ्रांस की हार के बाद यह जिम्मेदारी सबसे पहले अरागाँ ने महसूस की। यही वजह है कि जब दूसरों की हिम्मतें छूट गयी थीं, वह साहस नहीं हारा। बल्कि वह जुटकर तैयारी करने लगा उस दिन के लिए, जब गद्दारों की लाजमी हार के बाद, सब को मिल-जुलकर देश की सांस्कृतिक और समाजी जिंदगी के चोट खाये और टूटे हुए अंगों की मरहम-पट्टी करके उनमें शक्ति और स्फूर्ति लानी होगी।

मुझको सबसे बड़ी सिफत अरागाँ के व्यक्तित्व में—उसकी कविता और कथा-साहित्य में यही लगती है—कि वह एक सच्ची और पूरी इकाई है। यहाँ जोड़, पैबंद, समझौते, गलत निभाव, चश्मपोशियाँ वगैरह नहीं हैं। जो बात है, वह अंदर बाहर साफ-सीधी, खुली और पूरी। उसकी बात का अंदाज़ कवित्वमय हो, चाहे तर्क या सादापन लिये हुए, चह भाव और विचार की गुत्थियाँ सुलझा रहा हो चाहे लड़ाकू छापेमारों के अखबार में संपादकीय लिख रहा हो उसमें एक ऐसा ठेठपन

काम करने से भी परहेज नहीं करता था, चाहे वह कीलें गाड़ने या किसी हाल के दरवाजे पर टिकट बेचने का ही काम क्यों न हो। इस प्रकार के कामों ने उन अनन्त तर्कों के मुकाबले में जो मुझे सुरियलिस्टों के साथ करने होते थे, विषयों को साफ समझने में मेरी अधिक सहायता की।

"वास्तविकता यह है कि अगर कोई बुद्धिजीवी अपने जीवन के दो परस्पर विरोधी का" करने को बाध्य हो जाय, तो इसका एक गहरा मानवीय सत्यतापूर्ण कारण है। वह यह है कि उसका मस्तिष्क अपने विकास-काल में प्राय ऐसे सत्यों से अछूता नहीं रह सकता, जिनका तकाजा उसकी अपनी विचारधारा से भिन्न हो। किसी कल्पना का, अगर वह केवल कल्पना मात्र ही है, एक व्यक्ति पर प्रभाव नहीं रह सकता, यदि प्रारंभिक और बुनियादी सत्य उसका विरोध करते हों, जैसे, यह वास्तविकता कि मजदूरों का मुकाबला पुलिस और गोलियों से किया जाता है, या यह, कि जंग की तैयारियाँ हो रही हैं, या यह, कि कई देशों में फासिस्ती शक्तियों का साम्राज्य है। मानवीय ज्ञान का तकाजा है कि अपनी कल्पनाओं को हम घटनाओं के प्रकाश द्वारा देखें, बजाय इसके कि किसी बौद्धिक चातुर्य से यह कोशिश की जाय कि घटनाओं को अपनी कल्पना के अधीन बनाया जाय चाहे ये कल्पनाएँ कितनी ही अनोखी क्यों न हों।"—श्री सज्जाद जहीर के लेख से ('आदर्श', जुलाई, ४८)

हमें मिलता है, जो एक कवि के दिल की सच्चाई की तरह है—एक ठेठ कवि के। आईने की मिसाल झलकती है। अरागाँ की आम सूझ-समझ का यह शायराना पहलू, मैं समझता हूँ, कभी ओझल नहीं होता .... गद्य में भी, जहाँ उसने एकदम अपने गद्य को पानी कर दिया है, जरूर कभी न कभी किनारों से ही इधर-उधर अपनी झलक दे जाता है। हाँ, कविता में, उसकी तबीअत के ख़ास रंगों की मुश्किल घुलावट, और ज़ाती इशारों वाला ढंग कभी-कभी ज़ाहिरी तौर पर उसके ख़ास अर्थ को कुछ धोखे में डालता हुआ-सा लग सकता है (वह भी ज्यादातर शुरू की कविताओं में) मगर उसकी अद्भुत सजीवता और ताज़गी, बात को उठाने की कला और भावों में छिपी हुई गहरी तड़प एक महान राष्ट्र-कवि से हमारा परिचय कराती है। और हमारे दिल पर जिस इंसान की छाप पड़ती है, जो हो, वह एक बहुत खरा आदमी हमें लगता है; अपनी आन को निभानेवाला, इंसाफ-पसंद और आज़ाद तबीअत का एक बहुत ऊँचा साहित्यकार: जो लोक-जीवन में कला के मर्म और साहित्य के रसों को खूब अच्छी तरह समझ गया है। क्योंकि उसने कला को अपना शस्त्र और उस शस्त्र को अपना प्राण समझकर उसे लोक-संघर्ष की चार वर्ष की आग में अच्छी तरह तपाया है। हमें उसकी वाणी में राष्ट्रीय गौरव की दिव्यता और शक्ति का परिचय मिलता है।

अरागाँ एक ऐसा इंसान है जिस पर भरोसा किया जा सकता है। इंसानी दुख-दर्द से उसकी पहचान, और उसके ताने-बाने की कुशल जानकारी और हमारे रोज़ के इतिहास पर उसकी आलोचना की तुली हुई नज़र—ये सारी बातें हमें उससे प्यार करने को मजबूर करती हैं। उसके दिल में दुनिया के आम इंसानों के लिए कहीं हदें नहीं हैं—सिवाय, हाँ, देश को बेचने वालों और नात्सियों, काले बाज़ार वालों और दूसरे, समाज के प्राणसोख पूँजीवादी हत्यारों के। इन सब बातों की अहमियत कुछ ज्यादा न होती अगर अरागाँ में यह बात और न होती कि उसकी इंसाफ़-पसंदी और उसकी फ़राख़-दिली उसकी ज़बान को किसी भी मौक़े पर बंद नहीं रहने दे सकती। ख़ुद अपने ही हलक़ों में अपनी बात के रद किये जाने या अपनी लोक-प्रियता खोने के ख़तरे की परवाह किये बिना भी वह जिस बात को सही समझेगा, दो टूक कहेगा। इसकी कई मिसालें हैं। मसलन्, जब उसने विरोधी विचारों के कवि मॉरिस बारे की मौत पर बहुत आदर-पूर्ण लेख लिखा, जिसमें अपने दृष्टिकोण को रखते हुए, उसकी सच्ची

खूनियों का दिल खोलकर तारीफ की। एक दूसरे बुजुर्ग कवि पाल री की मौत पर—जो नात्सी फौजियों के हाथों जख्मी होकर अस्पताल में हुई—अरागाँ ने जो लेख लिखा, उसकी एक-एक पंक्ति से अपने पिछले साहित्य के लिए उसका गहरा प्यार टपकता है। इसी तरह—यद्यपि वह सुरियलिज्म के मैदान से एकदम हट चुका है, और इसी वजह से उसके कई दोस्त उससे खिंच भी गये, मगर जिन कवि गुरुओं से उस प्रतीकवादी आंदोलन की शुरूआत हुई थी, जैसे रिम्बो और मलार्मे, उनकी कविता के सौंदर्य को सच्चे दृष्टिकोण से परखना और उसके भेद और गुर समझना कोई अरागाँ से सीखे। लंदन से प्रकाशित 'एन्विल' के पहले अंक में अभी मलार्मे की अहमियत पर उसका एक लेख छपा है। अरागाँ जिस सूझ-समझ और अपनाव के साथ दूसरे कवियों की रचना की दाद देता है, वह महज रस्मी या बुजुर्गाना ढंग की चीज नहीं होती, बल्कि उसमें अच्छी कला की जाँच और तोल के साथ ऐतिहासिक परख की नजर छिपी होती है।

अरागाँ चूँकि किसी तरह के 'हमबग' यानी ढोंग और हवाई या दिखाने की बातों में विश्वास नहीं करता। वह मानव भावनाओं को जब प्रकट करता है, तो उनके सारे सजीव अंगोपांग झलकाता हुआ। और बड़ी बात यह है कि वह उन्हें प्रकट करने और झलकाने की एक मँझे हुए उस्ताद की सी अपूर्व क्षमता रखता है। यही वजह है कि वे कविताएँ जो उसने फ्रांस के पतन और राष्ट्रीय छापेमारों के जद्दो-जहद के जमाने में लिखीं, न सिर्फ लोक-प्रिय हुई, बल्कि उन्होंने अच्छे-अच्छे आलोचकों से अपना लोहा मनवा लिया। और सबसे बड़ा कारनामा उन कविताओं का यह था कि उन्होंने दूसरे हताश निराश या खोये हुए कलाकारों को नये साहित्य-सृजन के रास्ते पर लाने में मदद की। देखते-देखते कितने ही खामोश चश्मे फिर उबलने लगे, और फ्रांस में, जिसे आन्द्रेजीद के शब्दों में 'कविता का एक नया रिनैसाँ' (लोक-व्यापी सांस्कृतिक अभ्युत्थान) कहना चाहिये, आ गया। आन्द्रेजीद आगे लिखते हैं कि "फ्रांस के हर क्षेत्र में हमेशा दो धाराएँ रही हैं (और इससे फायदा ही हुआ)। दो धुरी केंद्र, दो रुझान दो पार्टियाँ, खुद हमारे क्षेत्र में एक तरफ तो दर्शनात्मक ['रिफ्लेक्टिव'] कविता है (मैं इस शब्द का दोनों अर्थ में प्रयोग कर रहा हूँ, चिंता की गहराई लिये हुए, और जैसे आईने में कोई चीज झलकती है), और दूसरी तरफ खुली-सीधी कविता है। फ्रांस में

गहरे विचार-वैभव की कविता के होते हुए, मैं इस समय खुली-सीधी कविता की ओर से नवोत्थान की आशा रखता हूँ। उस भावुकता ['मूड'] की ओर से, जिसने अरागाँ को 'भग्न हृदय' ['ल क्रेव-कूअ'] की कविताएँ लिखने की प्रेरणा दी।" और उसके 'अनधिकृत इलाक़ा' के आखिरी हिस्से को अपनी बात के उदाहरण के लिए पेश करते हैं :

एक घड़ी, दो घड़ी...मगर कहीं चैन नहीं
मन की घुंडी नहीं खुल पा रही थी, कि आखिरकार
वह था कौन-सी पीर
इसी तरह सितम्बर की भोर हो गई

तुमसे लिपटे हुए पड़े-पड़े
मैंने किसी को उठाते सुना, भोर हुए पर
बाहर, एक पुराने फ्रेंच गीत की तान
और तब खुल गया मेरे दुख का भेद, अंतर तक
वह तान नंगे पाँवों के समान
उस तलैया को, जो रात भर मौन रही, मथे डाल रही थी।

इसी दौर में, जब कविता ने दूसरे साहित्यिक साधनों को दबा लिया—क्योंकि नात्सी और विशी सरकारों की मेहरबानी से यही सीधी करोंच, देश-प्रेमियों की व्यथा को प्रकट करने के लिए, कलाकारों के पास ख़ासतौर से बच रही थी—तो सन् ३६-४० के आसपास, कवियों ने अपनी शैली को एक नया रूप देना शुरू किया। इतिहास, कथा और दृष्टांत के ऐसे इशारों से उन्होंने काम लेना शुरू किया, जो विपत्ति के मारे हुए निर्बल नागरिकों की आत्मा को बल देते थे; उनमें संघर्ष के लिए जीवट, और विजय के लिए आशा उत्पन्न करते थे। इतिहास के अजर-अमिट संस्कार मानो प्राचीन वीरों को नये मानस में जगा रहे थे। अरागाँ, पेअर सेगर्स, पाल एलुआ, जाँ कातू इसी तरह की अमर राष्ट्रीय संस्कारों की कविता लिखने वालों में से कुछ के नाम हैं। हर फ्रेंच नागरिक का हृदय इनकी बात का मतलब समझता था, उसको गुनता था, उससे सहमत होता था। ये उज्वल संस्कार बहुत तेज़ी से, बहुत व्यापक रूप से, आज़ादी के संघर्ष को आगे बढ़ा रहे थे। इसी को

अरागाँ ने अपने एक पत्र में 'कवियों का गुप्त षड्यत्र' कहा है। इसी 'षडयत्र' से जन-भावनाओं का परिष्कार होकर उनमें नयी चेतना का प्रकाश जागा। जैसा कि मैलकम कौली अपने निबंध 'महायुद्ध का कवि' में लिखते हैं—श्रेष्ठ कविता ने उसकी ज़िंदगी में वही जगह ले ली, जो वीर-गाथा काल या मध्य युग में ही उसको नसीब थी।

यह स्वयं एक बहुत बड़ा कारनामा है। अगर्चे सच यह है कि इसका सेहरा अरागाँ के सर है, वह कभी इसे स्वीकार नहीं करता। इस दौर की खूबी यह है कि अरागाँ के ही समान दूसरे और भी कई कवि जनता के दिलों में खुब गये और उनकी कविता और साहित्य ने भी क़लम का वही ज़ोर और जादू पैदा किया, जिसकी न सिर्फ़ युग की ओर से माँग थी, बल्कि जिसने काव्य और कहानी-कला में भी नये आदर्श खड़े कर दिये हैं।

❀ ❀ ❀

लेखक के कलम की मर्यादा क्या चीज़ होती है, इसकी आदर्श मिसाल खुद अरागाँ ने हमारे सामने रखी है। अरागाँ के खुले, ऊँचे और आज़ाद व्यक्तित्व की एक सजीव झाँकी देने के लिए इससे बढ़कर मैं नहीं जानता कि क्या हो सकता है कि मैं उस छोटे से लेख को यहाँ नक़्ल कर दूँ, जो एक-साथ कहानी, आत्मचरित, छोटा-सा इतिहास का अंश, कला के बाज़ार पर फ़ुट-नोट और उपन्यास-साहित्य और फ़िल्म-नाटक पर एक हलकी-सी टिप्पणी—सब कुछ है। मैं उसे 'मेन स्ट्रीम और न्यू मासेज' के अप्रैल, १९४८ के अंक से यहाँ नक़ल करता हूँ।

रीडर्स डायजेस्ट* को मेरी आवश्यकता

मुझे यह पत्र मिला है

"जाक शास्त्रँ, इन्क॰
७४५ पाँचवा एवेन्यू, न्यूयार्क
दिसम्बर १६, १९४७

"डियर सर,

'रीडर्स डायजेस्ट' को, जिसके कि योरोपीय संस्करण 'सेलक्शियाँ' से आप परिचित हैं, आपसे एक लेख प्राप्त करके बहुत प्रसन्नता होगी,

* अमरीका का एक बहुत मशहूर मासिक विविध-संग्रह।

जो या तो किसी अत्यधिक मनोरंजक व्यक्तित्व पर हो, जिससे आपका परिचय हुआ हो, या दैनिक जीवन के किसी नाटक पर। मुझे प्रधान संपादक, मि० डे-विट वालेस ने आपको सूचित करने के लिए कहा है कि वे सहर्ष आपके लेख के लिए २,००० डालर देंगे, और यह कि यदि आप उन्हें उस लेख का सारांश भेज देंगे तो वह तुरंत आपको बता सकेंगे कि वह लेख उनके पाठकों के लिए मनोरंजक होगा या नहीं।

"जैसा कि आप साथ में रखे नमूनों से देखेंगे, 'चरितनायक' आवश्यक नहीं कि कोई जाना-पहचाना व्यक्ति ही हो, किंतु वह एक संभ्रांत वित्ति और उदार भावनाओं वाला व्यक्ति हो, जिसने दैनिक जीवन में दूसरों के सामने एक अच्छा उदाहरण रखा हो। इस संबंध में कई घटनाओं का आना अपेक्षित होगा।

"यह आवश्यक है कि पहले आप लगभग एक पृष्ठ का 'सारांश' भेज दें। यदि यह 'सारांश' स्वीकृत हुआ तो मि० वालेस आपको ३०० डालर की गारंटी दे देंगे; यह रक़म उस दशा में कि आपका पूर्ण लेख वे बाद में यदि स्वीकृत न करें क्षतिपूर्ति-स्वरूप होगा।

"मैं यहाँ आंद्रे मोरा और सॉमरसेट मॉहम की ओर से साहित्यिक एजेंट हूँ; और यह कार्य यदि पूर्णरूपेण तय हो जाता है, तो मैं केवल नियमित दस प्रतिशत कमीशन लेने तक अपने को सीमित रखूँगा।

'अपनी ओर से सादर अभिवादन सहित

भवदीय

ज़ाक शाम्ब्रूँ

साथ में रखे नमूनों में से एक चीज थी विंसेंट शिएन की: 'मेरा अपना बेटा', जो 'दैनिक जीवन का नाटक' सिरीज़ में आती थी; और एक पर्ल बक का 'वह व्यक्ति जो सबसे कम मेरी याद से उतरा' जो स्पष्ट ही मि० शाम्ब्रूँ के सुझाव में रखी हुई पहली क़िस्म से थी। पहला लेख है लगभग साढ़े तीन टाइप के पृष्ठों तक का। दूसरा, जो नोबेल पुरस्कार-विजेता 'भली भूमि' की लेखिका पर्ल बक का है, ज़रा कुछ लंबा है : नौ या दस पृष्ठ। विंसेंट शिएन की मुझे याद है। बीस साल से कुछ ज्यादा हुए होंगे तब मैं पेरिस में उनसे मिला था। और १६३६ में, न्यूयार्क में, अमरीकन लेखक कॉंफ्रेंस के मंच पर तो मैंने अपने को उनके बराबर ही में

बैठा पाया था। श्रीमती पर्ल बक स्वयं इतनी ख्यातनामा हैं कि उनके बारे में मुझे कुछ कहने की आवश्यकता नहीं, इधर पिछले दिनों कुछ और चर्चा भी उनकी हुई है, जब 'हाउस' की गैर-अमरीकी कमेटी की ओर से होने वाली हॉलीउड जाँच के दिनों के करीब उन्होंने 'लाल' व्यक्तियों के विरोध में अपना मन्तव्य प्रकट किया था।

यहाँ इतना और भी बता दूँ कि ३०० डालर बराबर ३६,००० फ्रैंक के (एक पृष्ठ 'साराश' के लिए यदि वह स्वीकृत हो जाय)—और २,००० डालर (चार से दस पृष्ठ तक के लेख के लिए) बराबर २,४०,००० फ्रैंक के होते हैं।

खैर, तो यह रही मेरी कहानी—सबसे अधिक मनोरंजक चरित्र का व्यक्ति जिसे मैं जानता हूँ एक दिन मेरे *आफिस में आया। उन दिनों मैं* शाम को निकलने वाले एक दैनिक पत्र का सपादक था। (मेरे आफिस की दीवारों पर सफेद कागज का अस्तर था, और सफेद पर्दे पड़े हुए थे, और मैटल का फर्नीचर था, जिस पर चमड़ा मढ़ा था मगर यहाँ दरअस्ल इस से बहस नहीं है, और न यह ही बात यहाँ कोई महत्व रखती है कि वह फर्नीचर नाशिये दलादिए के राज मे दो साल बाद पुलिस वाले—जिन्होंने इस आफिस में 'लालों' पर धावा बोला था—चुरा ले गये थे।

यहाँ जिस मनोरंजक चरित्र का जिक हो रहा है वह, मुझे याद है, लंबे कद का आदमी था, हलके रंग के बालों वाला, चेहरे-मोहरे से *दुरुस्त, हलकी भूरी छोटी-छोटी मूँछें, एक सिनेमा के पत्र में* काम करता था, और कई साल से मैंने उसे *देखा नहीं था।* उसने बताया तो नहीं कि मुझसे मिलने आने के लिए उसे किस बात ने मजबूर किया था, मगर फौरन ही मैं समझ गया क्यों कि तीन दिन से मेरा पत्र जर्मन-नात्सी फिल्मों और यू एफ ए कपनी के विरोध में प्रचार करता आ रहा था। यद्यपि वह था यहूदी, उसने मुझे बताया, मगर वह यू एफ ए के लिए काम करता था, उसका आफिस 'शाँजेलीसे' में था, और वक्तन-फवक्तन वह बर्लिन भी *जाता ही रहता था, जहाँ डा० गोयबेल्स से* उसकी मुलाकात होती थी। 'आप अदाज नहीं लगा सकते," मुझसे उसने कहा, "कि कितनी तसल्ली और इत्मीनान मेरे दिल को होता है जब वेटिंग-रूम में मेरा नाम पुकारा जाता है और मैं गर्दन घुमाकर अपनी यहूदी नाक उस दर्बान के मुँह की तरफ करता हूँ जो उस समय मेरा ओवर कोट सँभालता होता है।"

लेकिन यह सब तो बताने के लिए, ज़ाहिर है कि वह मुझसे मिलने नहीं आया था। उसे बड़ा ताज्जुब हुआ कि मैंने फ़िल्मों के लिए कभी क़लम नहीं उठाया था। इस ओर ज़रा कोशिश कर देखना—क्या मैं पसंद न करूँगा ? मैंने जवाब दिया कि यह मेरी लाइन नहीं थी, और यह कि मैं सिर्फ़ उन्हीं कामों को हाथ लगाता था जिन्हें मैं. जानता हूँ किस तरह करना चाहिये। "अरे, इसकी तो आप पर्वाह न कीजिये," वह मुझसे बोला," मदद आप को मिल जायगी। बस, इतना ही आप को करना होगा कि एक खाका आप तैयार कर दें, तीन या चार टाइप किये हुए सफ़ों का, बस जितना कि एक फ़िल्मी आइडिया के लिए काफ़ी हो। फिर तो हमारे पास और लोग हैं, जो उसको फैला सकते हैं, उसके लिए संवाद लिख सकते हैं...हम ३,००,००० फ्रैंक देते हैं, इस तरह के खाकों के लिए। मैं तीन ऐसे खाकों का 'आर्डर' आपको देने के लिए तैयार हूँ, इसी वक्त..."

मैंने यह आफ़र नामंजूर कर दिया, और बहुत अदब के साथ उस मनोरंजक व्यक्ति को दरवाज़े का रास्ता दिखाया, "यक़ीन है, आप रास्ता तो न भूलेंगे ?" मैंने कहा, "ज़रा-सी दिक़्क़त होगी... देखिये, आप बड़े कमरे को पार करके सीढ़ियों से नीचे उतर जायँ, फिर बायीं तरफ़ मुड़ें—वहीं, बस, आपको ड्योढ़ी वाला ज़ीना मिल जायगा।..."

सच तो यह है कि मुझे दरअसल १९४५ में जाकर मालूम हुआ कि इस मनोरंजक व्यक्ति का व्यक्तित्व कितना मनोरंजक था। पेरिस में छापेमारों के 'संग्राम' पर एक फ़िल्म दिखाया जा रहा था; हालाँकि आज़ादी मिलने के बाद हर समझदार आदमी यह कहने लगा था कि छापेमारों के संग्राम पर फ़िल्म बनाना अपने सर जोखम ही मोल लेना था। धड़का यह था कि ईश्वर ही जाने १९४५ में कौन-सी सरकार आये ! फ़िल्म छापेमारों के 'संग्राम' पर दिखाया जा रहा था, जो कि 'आपत्तिजनक' की सूची में किसी भी क़िस्म के खाने में नहीं आता था : दुःस्साहस-भरी वीरता पर तो पानी डाल दिया गया था, एक भी सीन ऐसा नहीं, जिसमें लोग जेलों में, या जल्लाद निशानचियों की गोलियाँ सीने पर लेते हुए ऊँची आवाज़ में लामासाई§ गा रहे हों। ये सब बातें तो कोई बहुत मनोरंजक

§ फ्रांस का राष्ट्रीय गीत

नहीं । बात असली मनोरंजक यह है कि इस फिल्म का सिनेरियो-लेखक वही मनोरंजक व्यक्ति था जो १९३७ में मुझे मिला था। बस।

मुझे नहीं मालूम कि दैनिक जीवन की घटना से ली गयी कहानी का टाइप हुआ एक पृष्ठ का यह 'सारांश' मि० डे-विट वालेस को (३०० डालर के मूल्य) स्वीकार होगा या नहीं याकि इसको चार-पाँच गुना और बढ़ा देने पर मि० जाक शाम्ब्रें के लिए इसका मूल्य २०० डालर कमीशन की, फिर मेरे लिए कुल जमा १८०० डालर की हैसियत रखेगा भी। लेकिन १९३७ की घटना और १९४८ में मुझे दिये गये निमन्त्रण - यानी यू एफ ए फिल्मों और 'रीडर्स डायजेस्ट'—के बीच जो एक तरह की समानता है, उसमें, कहानी का नैतिक पहलू देखते हुए, निश्चय यह पूरी चीज मि० डे-विट वालेस को अत्यधिक मनोरंजक लगनी चाहिये और सचमुच उनके हृदय के तार इससे छू जाने चाहिये।

यह बिलकुल निश्चय है कि अगर मैं यू एफ ए का प्रस्ताव स्वीकार कर लेता तो मुझे अपने पत्र में उस फर्म के खिलाफ होने वाला प्रचार बंद कर देना पड़ता और अगर अब मैं 'रीडर्स डायजेस्ट' का आफर स्वीकार कर लेता हूँ तो फिर मेरे लिए अपने उन देश भाइयों का विचार-बिंदु अपनाना मुश्किल हो जायगा जिनका दृष्टिकोण इतनी काफी हद तक तो गैर अमरीकी है ही कि उसको न सिर्फ हमारे दलाद्रिये लोग बल्कि हर अपनी प्रतिष्ठा चाहने वाली टामस-रैंकिन गैर अमरीकी कमेटी भी लाल रंग में रंगा हुआ समझे।

मैं इसीलिए महसूस करता हूँ कि मेरा हलके बालों वाला मुलाकाती जिसकी छोटी-छोटी मूँछें थीं, मय अपने फरकोट, नाक नक्शा डील-डौल के, एक मनोरंजक व्यक्ति की हैसियत से 'रीडर्स डायजेस्ट, के लिए कहीं ज्यादा मौजूँ है, बनिस्बत उन होहल्ला मचाने वाले मेरे बहुत से परिचित जनों के, जिनमें इतना भी शऊर और तमीज नहीं थी कि यू० एफ० ए० फर्म के ही देशवालों की बदूकों के मुँह के सामने अड़कर 'मार्साई' कौमी गीत न गायें। वाक़ई यह व्यक्ति एक सम्भ्रांत वित्ति और उदार भावनाओं वाला आदमी है (३,००,००० फ्रैंक तीन टाइप-किये पृष्ठों के लिए) और इसमें भी जरा संदेह नहीं कि उसने दैनिक जीवन में स्वयं एक अच्छा नमूना दूसरों के लिए पेश किया है। जैसे खुद मि० जाक शाम्ब्रें के ही लिए, जो आन्द्रे मोरा और मॉमरसेट मॉहम के नाम की सनद लेकर मुझे

अपनी योग्यता से परिचित कराते हैं। इनमें पहले नामधारी को तो लगातार मार्शल पेताँ के लिए उदात्त भावना रखने के संबंध में सब बहुत अच्छी तरह जानते हैं; दूसरे सज्जन ने ब्रिटिश जासूसी विभाग के लिए १९१७ में लाल लोगों पर जासूसी करने में जो भाग लिया है, वह कुछ कम उदात्त वित्ति का नहीं।

जो हो, एक फ़र्क़ तो फिर भी ध्यान देने लायक़ है: मेरे पास कोई सबूत नहीं कि १९३७ का मेरा मुलाक़ाती, जो एक फ्रांसीसी था, मेरी आत्मा के बिकने पर दस ही परसेंट कमीशन लेता। मि० जाक शाम्ब्रूँ, जो एक सच्चे अमरीकन हैं, जानते हैं कि मेरी मान-मर्यादा पर कितना वाजवी नफ़ा उठाया जा सकता है—२०० डालर।

धन एक बड़ी और सुंदर चीज़ है। यह दैनिक जीवन की नैतिकता के लिए ठोस ज़मीन है। यह एक लेखक के अंतःकरण को ख़ुद उसकी ऊँची वित्ति और उदारता की भावना को मोल लेने की इजाज़त दे देता है। कहने-करने के क़िस्से एक तरफ़ हटाइये, तो अपने दैनिक जीवन में जिस सब से मनोरंजक व्यक्ति से मेरा परिचय हुआ है—उसके मूँछें हों या न हों, फ़र कोट हो या न हो—वह है धन। यह कहानी मैं नहीं लिखूँगा। लिखूँगा एक दूसरी : मगर उसके साथ मि० डे-विट वालेस के लिए एक पृष्ठ का 'सारांश' नहीं होगा। एक छोटी-सी 'लाल' कहानी, एक ग़ैर-अमरीकी तर्ज़ की कहानी।

❀ ❀ ❀

क्या कविता और कहानी, यह शख़्स अपने शब्दों में आईने की तरह झलकता हुआ सामने आता है।

उसकी नस-नस में फ्रेंच संस्कृति के रस और फ्रेंच इतिहास की धड़कन, का स्वास्थ्य है। फ्रेंच इतिहास की आज़ाद रूह उसके संघर्ष के ज़माने के साहित्य में बहुत बेलाग अंदाज़ से और कला के असर में रची हुई बोलती है, हमारे दिलों में बोलती है। और वह रूह सभी इंसानी आदर्शों की रूह है, इन्सानी प्यार और मोहब्बत और तड़पन की रूह है; कलाकार जैसे निरंतर इंसान के सांस्कृतिक वरसे को नये युग के पाठक को भेंट करने का उद्योग करता हो।

अरागाँ स्वयं अपने साहित्य में अपने संघर्षशील आधुनिक पाठक की आत्मा है।

❀ ❀ ❀

अरागाँ के प्रसिद्ध ग्रंथों के नाम ये हैं उपन्यास—'शताब्दी जवान थी', 'बासिल नगर के घंटे', 'रेजिडेंस चौराहा', 'ऑरेलिया', 'किस्मत के मुसाफिर'। कविता संग्रह—'भग्न हृदय', 'एल्सा के गीत', 'ग्रासेलियर्दे,' 'देवी फ्रेंच दियान'। ये संग्रह लड़ाई के जमाने के थे। सन् १९३० के बाद और पिछले महायुद्ध से पहले तक दो छोटे-छोटे संग्रह और प्रकाशित हुये थे—आरंभ की कविताएँ इनसे अलग हैं—'जिनमें से एक में वे रचनाएँ हैं जो अरागाँ ने सोवियत रूस के समष्टिगत निर्माण से प्रभावित होकर लिखीं। इन रचनाओं में सपाटपन तथा बहुत ही सरलता है। किंतु उनमें एक नया जोश है, और मानवता में अगाढ विश्वास का स्पष्टीकरण। इनमें प्रारंभ की ताजगी है लेकिन अंत की प्रौढता और गंभीरता का अभाव है।" (सज्जाद जहीर, 'आदर्श' जुलाई ४८)

लड़ाई के जमाने की रचनाओं के बारे में श्री मैलकम कौली लिखते हैं "लड़ाई के मौके पर जो कविता उसने की, उसके लिए उसी जैसी उस्तादी की जरूरत थी। वह अपने से जिज्ञासा करने का वक्त नहीं था, न पदों को माँजने या शब्दों को चमकाने का। इसी का नतीजा था कि वह छः संग्रह कविता के तैयार कर सका। उसकी इस जमाने की कविता युद्ध के भावुक पहलू की एक कथा है। महीने महीने के संघर्ष का नक्शा आँखों में उतरता आता है। जब लड़ाई शुरू होने को थी, मगर शुरू नहीं हुई थी, उस जमाने की ऊब और अकेलापन और घुटन, फिर जर्मन हमले की कुरूपता और भीषणता और पराजय का वह भीम भार जिसके नीचे से उभरने वालों में अरागाँ पहला व्यक्ति था, फिर, राष्ट्रीय आत्म-संबल को परखने के लिए, फ्रेंच इतिहास की दुबारा जाँचने की उत्तेजना, इसके बाद छापेमारों की बढ़ती शक्ति, जिसकी ओर पहले-पहल संकेत उसी ने किया, और बाद में उनकी कार्रवाइयों को अपनी वाणी में आर्टीने की तरह झलकाया, अंत में आजादी के, विजय के, उल्लास के गीत—'पेरिस'। यह सब सच्ची भावुकता की एक जीती-जागती फिल्म है।" ('लुई अरागाँ पोएट आफ् रिसजेंट फ्रांस,)

जिन लोगों ने इतिहास के इस भाग को अपने बलिदान के रक्त से लिखा, उनके लिए अरागाँ की रचनाएँ मन्त्र और गीत, साथी और सहारे का काम देती थीं। अरागाँ के गीतों और बैलेडों की लोकप्रियता सचमुच वीरगाथा-काल की परम्परा को दुहरा देते हैं। तभी तो समालोचकों ने उसको योरप के युद्धकालीन कवियों का सिरमौर कहा है।

यहाँ हम उसकी कुछ प्रसिद्ध कविताओं से थोड़े से उद्धरण देते हैं।

एल्सा, आईने के सामने

यह बात हमारी ट्रैजेडी के दिनों के बीच की है।
और सारे दिन दर्पन के सामने बैठी
वह अपने झिल-मिल से सुनहरी बालों में कंघी करती रही
मुझको ऐसा लगता रहा
जैसे उसके शांत हाथ ज्वाला शीतल कर रहे हैं
यह हमारे उन ट्रैजिक दिनों के बीच की बात है।

वह सारे दिन उस दर्पन के सामने बैठी-बैठी
अपने झिल-मिल सुनहरी बालों में कंघी करती रही
जैसे कोई सरगम बजाये

—हमारे ट्रैजिक दिनों के बीच की बात है—
सुनहरी तारों पर आस्थाहीन, निकाल देने
वे लम्बी घड़ियाँ, सारे दिन दर्पन के आगे बैठे-बैठे

अपने झिलमिल सुनहरी बालों में वह कंघी फेरती रही
और मुझे ऐसा लगता रहा जैसे

वह अपने संकल्प से स्मृतियों को शहीद करती जा रही है
सारे दिन दर्पन के आगे बैठी,
ज्वाला के बुझते फूलों को जगाती हुई,
निःशब्द। दूसरा उसकी जगह होता तो बोलता।

अपने संकल्प से वह अपनी स्मृतियों को शहीद करती रही
यह बात हमारी ट्रैजडी के दिनों के बीच की है।

उसका गहन धुंधला दर्पन उस दुनिया की छाप का नमूना था
उसकी कंघी उस रेशमी भार की ज्वाला के अंदर माँग निकालते हुए
झलका-झलका जाती थी मेरी स्मृतियों के कोने-कोने

यह हमारी ट्रैजेडी के ऐन बीच के दिनों की बात है
वैसे ही जैसे बृहस्पतिवार हफ्ते के बीच में आता है
वह अपनी स्मृति के पटल के आगे बैठी हुई
दर्पन में देख रही थी, लेकिन निःशब्द

एक-एक कर हमारी ट्रैजेडी के सारे खिलाडी
गिरते जा रहे थे इस अँधेरी दुनिया में,
वे कि जिनके गुन हम सबसे अधिक गाया करते थे।

आवश्यकता नहीं उनके नाम लेने की, जानते ही हो कि यादें किस तरह
सुलग उठती हैं अंगीठियों में, ढलते दिनों की

और उसके सुनहरी बालों में, उधर बैठी जब वह
कंघी करती जाती है, मौन, उन झिलमिलाती ज्वालाओं में।

रिचर्ड द्वितीय, चालीस में

मेरा देस एक नैया है जो बही जा रही है
जिसे छोड दिया है उसके कभी के माँझियों ने
और मेरा हाल उस बादशाह से विलग नहीं
जिसके मित्र और साथी, जब उसका सितारा डूब गया,
तो उसे छोड गये

फिर भी वह बादशाह बना रहा, अपने दुखों और मुसीबतों का।

❀ ❀ ❀

चाहे शाम हो, चाहे सवेरा
आसमान का रंग फीका-फीका और मुर्दा-सा ही रहता है
गुलफरोशों की दूकान तक अक्सर ही बहार मुर्झा जाती है
मेरी जवानी की चमकती हुई पेरिस!
अब भी बादशाह हूँ मैं, गमों और मुसीबतों का
छोड दो ये बहते चश्मे और ये वन की कुंजें
जाओ, कहीं लुक जाओ, अरी चहचहाती चिडियो, मौन हो जाओ
तुम्हारे गीतों पर बंधन है
अब तो वह दिन आ गये कि चिडीमारों का ही राज होगा,
अभी तक मैं बादशाह हूँ दुखों और मुसीबतों का।

मुसीबतें झेलने का भी एक वक्त आता है
फ्रांस के टुकड़े-टुकड़े करते जाओ, अगर जाओ तो...
वह जुलूस जब वीर कुमारी के बलिदान के लिए वोकुलाया में आया था

तब उस सुबह में भी यही पीलापन था
मैं अभी तक बादशाह हूँ अपने दुःखों का।

'क्रासवर्ड पहेलियों का समय' से

मैं उन लोगों के दल का नहीं', इसलिए कि मेरा इंसानी गोश्त
कोई पेस्ट्री नहीं है, जिसकी चाक़ू से क़ाश काट ली जाय
इसलिए कि अपनी तलाश में दरिया आगे बढ़ता है
और समुंदर को पा लेता है

इसलिए कि मेरे जीवन को अपने पहलू में एक स्त्री-जीवन की
ज़रूरत है।

गुलेलाला और गुलाब के फूल

फ्रांस के फूलों के बाग़ मुझे कभी न भूलेंगे
बिछे हुए रंगीन पन्ने उन शताब्दियों के, जो बीत गये पर भी बहुत-
कुछ हैं
न ही शाम के धुंधलके में फूलों की वह अस्त-व्यस्तता, वह श्लेष
पूर्ण हिंस्र मौन

हम जिधर-जिधर से होकर गये, हमारे रास्ते गुलाबही गुलाब से
भरे थे

वे फूल जो मुँह चिढ़ा रहे थे उन फ़ौजियों का
जो भय और आतंक के मानों पर लगाकर उड़े जा रहे थे
आतंक जो हवा की तरह उन्हें पीछे से भगा रहा था
और वे खिलखिला रहे थे पागलों सी उन पुश-चाइकों पर और
तोपों के मुँह पर और ढचर-मचर क़ाफ़िलों पर शरणार्थियों के

लेकिन एक बात जो मेरी समझ में नहीं आती, यह है कि—यह तूफ़ान
यादों का, हमेशा ही, उसी एक केंद्र-विंदु पर आकर रुक जाता है, वहीं

साईं माथे में कोई जनरल है एक काला-काला-सा धब्बा
नार्मन् युगों से चला-चला आया छोटा-सा एक नगला, वहाँ पर जगल
की हद खत्म होती है।

सब शांत है यहाँ दुश्मन का पड़ाव रात में विश्राम कर रहा है
और पेरिस ने हथियार डाल दिये हैं, यही तो अभी हमने सुना
मैं कभी न भूलूँगा वे गुलेलाला, व गुलाब
वे दो प्यार जिनका लुट जाना हमने सहा है।

वे पहले दिन के उपहार के गुलदस्ते, गुलेलाला के, फ्लैंडर्स के लाले
छायाओं-जैसे नाजुक गाल, जिन पर मौत के हाथ न कैसे पौडर मला हो
और वो तुम, हमारी पराजय की भेंट, नाजुक-नाजुक गुलाब के फूल
के गुलदस्तो, जिनमें रंग का चटकीलापन टपक रहा है
दूर युगों के कहीं, युद्ध और संघर्ष का, अतीत अजू के गुलाब के फूलो

पेरिस

जहाँ तूफान के क्रोध भरे हृदय में मंगल-भाव है,
जहाँ रजनी के तिमिरांतर में सौंदर्य है,
वायु में अल्हड़ और विपत्ति में साहस है,
जहाँ टूटी खिड़कियों में आशा की झिलमिलाहट शेष है,
और खंडहर दीवारों से गीत उठकर व्योम में गूँजते हैं।

जो कभी भी बुझी नहीं, उसी ज्वाला से पुनर्जन्म लेकर
यह अमर, दिव्य ज्योति हमारी मातृभूमि की
रास पुर्आंदुजुआ से लेकर पेअर लाशाएज़ के छोर तक
गुलाब-वाड़ियों से भरा अगस्त अत्यधिक मधुर है
सभी स्थानों के जन पेरिस का ही रक्त हैं।

श्रेष्ठ चयन ऐसा भी न होगा कहीं भू-लोक में जैसी पेरिस है
वैसा पुनीत-पावन रच भी कहीं नहीं जैसा उसकी लहरीली भवों का
विद्रोह-चक्र
कुछ भी वैसा सुदृढ़ नहीं न अग्नि, न घन-वज्र
जैसी मेरी पेरिस—कटिबद्ध अपने संकट-निवारण के लिए

कोई भी वस्तु ऐसी प्यारी नहीं जैसी कि मेरे पास मेरी पेरिस

हृदय में इस प्रकार की धड़कन किसी और चीज़ ने पहले कभी
उत्पन्न नहीं की

किसी भी चीज़ ने मेरे हास और अश्रु का कभी ऐसा मेल नहीं मिलाया
जैसा कि मेरे विजयी राष्ट्र के नारों के उद्घोप ने
कहीं कोई इतना विशाल, एक तारतार और चिथड़े-चिथड़े कफ़न-सा
नहीं

पेरिस, पेरिस अपने में स्वयं मुक्ति-प्राप्त !

नित्यानंद वात्स्यायन

डॉक्टर मृत्युंजय

सच है महामारी डॉक्टर के लिए भाग्यलक्ष्मी के रूप मे आती है।

चारों ओर हैज़े का भीषण प्रकोप था। डा० मृत्युंजय को क्षण भर के लिए भी फुर्सत न थी। अपने जीवन के प्रारंभ मे ही उसने सफलता का आस्वादन कर लिया था। इलाके भर मे वह प्रसिद्ध था—उस के जोड का डाक्टर मीलों दूर न मिलता। क्या अमीर, क्या गरीब, सब उसी के पास दौडे आते और सभी समान भाव मे ही अपना कार्य पूरा करा लेते। मानव रूप धारी पशु जब अपने शरीर पर अत्याचार करते-करते उसे पस्त कर देता—तो मृत्युंजय ही के पास आता, उसी से शक्ति ग्रहण कर पुन जीवन म स्वशरीर पर अत्याचार करने को प्रेरित होता। मृत्युंजय ने मानो अपने नाम को सार्थक कर दिया था हजारों रोगी उसके इलाज से रोग-मुक्त हुए थे अकाल काल-कवलित होने से बचे थे।

उसके हाथों मे 'जस' था और घर मे लक्ष्मी। चचला, मुद्रारूपा लक्ष्मी ही नहीं, सजीव साकार गृहलक्ष्मी रूपा लक्ष्मी। पतिगत प्राणा किशोरी लक्ष्मी पति की प्रशसा सुनकर गर्व म फूल जाती, पति के इलाज से रोग मुक्त हुए लोगों के आशीर्वाद उसके रोम रोम मे पुलक भर देते! और जब मृत्युंजय अपनी कमाई के रूपये लाकर उसके आचल मे भर देता—तो वह विभोर हो जाती, रूपये पाने के कारण नहीं—किंतु पति की कमाई की एकमात्र अधिकारिणी बन कर।

मृत्युंजय अभी युवक था। उसके जीवन मे अभी तक चिंता को स्थान न था! कार्यक्षेत्र मे सफलता मिल ही गयी थी। घर मे भी प्रेम प्रतिमा किशोरी लक्ष्मी थी ही। बैंक मे रूपया था--चिंता की उसे क्या जरूरत थी? थकावट दूर करने को घर के सामने उद्यान था, स्वय अपने हाथों से लगाया हुआ, नाना तरह के फलों से लदा हुआ। लक्ष्मी जब फूल चुन कर, माला गूँथ, हँसते-हँसते उसे पहना देती, तो वह स्वर्गीय सुख पा लेता। यही तो स्वर्ग था—सुयश, सफलता, प्रिया पत्नी, . और, एक दिन आनद

को शिखर पर पहुँचा देने वाला भी आ गया—लक्ष्मी की गोद में छोटा-सा फूल-सा एक शिशु ..सुबह की प्रथम रश्मि-सा स्निग्ध !

जीवन इसी तरह बीता जाता था। बच्चा अब उसे देख कर हँसता, माँ की गोद से छटपटा कर उसकी गोद में आता...हँसता—घुटनों चलता...मृत्युंजय ने निश्चय किया कि अभी से बच्चे की शिक्षा के लिए रूपया जमा करेगा। वह भी डाक्टर होगा—विलायत की शिक्षा प्राप्त, भारत भर में विख्यात !

तभी यह हैज़ा फैला ! मानो दैव भी उसकी सहायता करने लगा हो। मृत्युंजय की आमदनी दस गुना बढ़ गयी। रुपया अनवरत स्रोत-सा बहने लगा। रोज़ शाम को लक्ष्मी के आंचल में वह दो सौ-तीन सौ रुपये डाल देता—और लक्ष्मी शाम को अपने पति को सही सलामत देख दिन भर की व्यग्रता, उत्सुकता, चिंता भूल जाती।

दोपहर हो रही थी। आज मृत्युंजय को अवकाश था। बैठे-बैठे ओठों में सिगरेट दबाये वह सोच रहा था कि क्या हैज़ा काबू में आ गया ? सरकार की ओर से तो काफी चेष्टा हो रही थी। तो क्या सचमुच हैज़ा क़ाबू कर लिया गया ? आमदनी फिर घटेगी...मन के कोने में कोई बोला, अभी न रुके...तो इस महीने वह पांच-छः हज़ार जमा कर ले...तुरंत ही दूसरे कोने से अन्य आवाज़ आयी...छः...यह विचार जघन्य है ! मृत्युंजय ने हाथ की सिगरेट फेंक दूसरी सुलगायी, मानो वह अधजली सिगरेट ही बुरे विचारों की उत्पत्ति का कारण हो ! किंतु वह विचार न गया। आखिर उसकी कमाई का ज़रिया तो रोग ही था न ? अगर रोग ही न रहे, तो डाक्टर खाये क्या ? अपनी रोज़ी की वृद्धि तो सब कोई चाहता है न !

इसी उधेड़बुन में वह पड़ा था कि सहसा भीतर से आवाज़ आयी "देखो तो ...नूनू को क्या हो रहा है !" भयभीत, आशंकापूर्ण स्वर ! वह कांप उठा। दौड़ा गया भीतर, देखा—एक क़ै-एक दस्त...और उसी में बच्चा मृतप्राय ! मृत्युंजय कांप उठा। यह कैसा दैवी परिहास है ? उसने रोगी की मांग की थी, अपने ही बच्चे के रोगी बन जाने की नहीं ! वह विक्षिप्त हो उठा ! यह उसकी पाप भावना का दंड था !

उसने जल्दी-जल्दी दवा दी ! परंतु बच्चे की अवस्था में सुधार नहीं हुआ। फिर क़ै-दस्त ! बच्चा एकदम से क्लांत हो उठा। पसीने से तर...

सई। मृत्युंजय के चारों ओर अँधेरा छा गया। क्या यह बच्चा नहीं बचेगा? उसके बुरे विचार का दण्ड बच्चे की मृत्यु? पागल-सा वह चिल्लाया—सिरिंज लाओ। सैलाइन लाओ काँपते हाथों से उसने सैलाइन तैयार की। नस पाने की चेष्टा की किंतु उसे सफलता नहीं मिली! काहुनी के पास—व्यर्थ। टखने के पास हाथ के पीठ किंतु नस में सुई ही न जाय वह घबडा उठा! लक्ष्मी उन्मादिनी-सी खडी देख रही थी। उसकी ओर देख मृत्युंजय का रहा-सहा धीरज भी जाता रहा!

"हजारों को बचाया—क्या अपने ही बच्चे को न बचा सकोगे?" आर्त-स्वर मे लक्ष्मी ने पूछा!

कठिनाई मे अपने हाथों को स्थिर कर मृत्युंजय ने फिर चेष्टा की. किंतु व्यर्थ! बच्चे की जीवन-लीला समाप्त हो रही थी। चेहरा काला पड गया था। आँखें पथरा रही थीं मृत्युंजय ने हाथ के झटके से सैलाइन आदि दूर फेंक दिये। लक्ष्मी बच्चे को देख आर्त-स्वर मे चिल्ला उठी बच्चे पर गिर पडी! मृत्युंजय मूढ-सा खडा देखता रहा—फिर धीरे-धीरे बाहर निकल गया.

आगन भर गया था—लोग समवेदना के लिए आये। रोगी लिया जाने के लिए, किंतु मृत्युंजय का पता न मिला। वह लापता हो गया था—कहाँ गया, किधर गया—यह किसी ने न देखा था। आखिर लोगों ने सत्कार आदि किये—लक्ष्मी के पिता आये—उसे लिवाते गये।

वह छोटा-सा सुखमय संसार उजड गया था! उद्यान पुष्प-विहीन हो उठा। घास, कांस उग आये, किंतु मृत्युंजय का पता न मिला!

❀ ❀ ❀

ठाकुर चन्द्रभूषण सिह एक अच्छे जमींदार थे! पढे-लिखे थे, युवक थे, सगीत तथा फूलों से प्रेम था। अपने सुदर मकान के सामने एक छोटा-सा—परंतु सुंदर—उद्यान लगाये हुए थे!

घर मे तीन प्राणी थे, वे, उनकी पत्नी तथा उनकी पुत्री। वैसे तो आश्रितगण कई थे!

संध्या समय था, ठाकुर साहब अपनी पचवर्षीय कन्या के साथ फुलवारी मे टहल रहे थे। सहसा उनका ध्यान फाटक के बाहर खड़े एक व्यक्ति पर गया! बाल बिखरे, डाढी लम्बी-सी, फटे-पुराने—कपडे वह खड़ा

हसरत भरी निगाहों से फूलों की ओर देख रहा था ! ठाकुर साहब को कौतूहल हुआ। "क्या देख रहे हो ?" उन्होंने पूछा !

"फूल" उत्तर आया। स्वर मँजा हुआ था। ठाकुर साहब को क्या सूझी कि वे बोल उठे, "तो भीतर आकर देखो !" ठाकुर साहब अपना बगीचा दिखा कर संतोष प्राप्त करते थे।

वह व्यक्ति भीतर चला आया ! ठाकुर साहब ने देखा, सुंदर बलिष्ठ युवक था, मानो पहले सुखमय जीवन काट चुका हो ! वह व्यक्ति एक-एक क्यारी देख रहा था, और धीरे-धीरे कह रहा था—"ऐसे होता-यह फूल वहाँ होता...इसको छाँटना जरूरी है..." मानो अपने से ही बात करता हो ! ठाकुर साहब ने सुना--सोचा, उसकी बातों में सार पाया !

"तुम माली हो ?" उन्होंने पूछा।

वह व्यक्ति चौंका, सिर उठा कर उसने ठाकुर साहब की ओर देखा, फिर बोला, "हाँ"।

"नौकरी करोगे ?"

धीरे से उत्तर आया---"हाँ"।

और उसे ठाकुर साहब के यहाँ नौकरी मिल गयी।

उसने अपना नाम बताया था "मुल्लू"

उसके हाथ लगाते ही मानों बगीचा मुस्करा उठा। क्यारियाँ बन गयीं—नये फूल लगे—नये पौधे आये.. ठाकुर साहब हैरान थे कि वह कहाँ से ले आता है। उन्होंने पूछा भी—किंतु उत्तर न मिला ! अपनी समझ से ही ठाकुर साहब ने उसे रुपये दे दिये ! "जो खर्चा लगे—ले लिया करना !" उन्होंने कहा।

"अच्छा" मुल्लू ने कहा ! किंतु कभी म गा नहीं ! वह बहुत कम बोलता। दिन भर बगीचे में लगा रहता ! धूप, पानी, किसी की परवा न थी उसे ! महीना आता तो ठाकुर साहब उसे बुला कर पंद्रह रुपया दे देते। उसी रोज ठाकुर साहब देखते—उनकी लड़की चंदा के पास नये खिलौने। वह मुल्लू से बड़ी हिल गयी थी। दिन भर साथ रहती। एक-एक फूल का नाम याद हो गया था उसे। माला बनाने में तो वह सिद्धहस्त हो गयी थी।

ठाकुर साहब इस अजीब व्यक्ति के प्रति आकृष्ट हो गये थे। वह था तो माली. किंतु चेहरे पर अजीब सौष्ठव दिखायी ृ ता था—वे उस पर हुक्म

चलाना चाहते हुए भी नहीं चला सकते थे। कोई भी बात वे आदेश के रूप में न कह कर सलाह के ढंग पर ही कहते थे।

तनख्वाह के रूपयों में खिलौने खरीदने पर उन्होंने रोका था एक दिन। किंतु मुल्लू का उत्तर अजीब था। "रुपये मुझे ही दिये थे न ?" "हाँ" "मैं उन्हें खर्च कर सकता था।" "हाँ"। "तो फिर—मैंने खर्च कर दिये ठाकुर साहब !" इस तरह का उत्तर नौकर से अपेक्षित न होते हुए भी उन्हें निरुत्तर कर देता था। उन्होंने उसे रोकना छोड दिया था। सिर्फ उसके खाने-पीने, रहने का प्रबंध अपने ही यहाँ कर दिया था।

घर में, मुल्लू ने अपना स्थान बना लिया था। चंदा तो उस पर जान ही देती थी। ठाकुर साहब की स्त्री मनोरमा भी, पहले दिन से ही मुल्लू से "बहन" संबोधन सुनकर चौंकी थी। नौकर बहन कह कर संबोधन करे ? किंतु बुरा न मान सकी थी। वह भी धीरे-धीरे मुल्लू भाई कहने लग गयी थी। और चंदा "मुल्लू मामा" के उच्च स्वर से घर गुँजाती रहती थी!

लोग ठाकुर साहब के चुटकियाँ लेते। वे लज्जित से हो कहते "है शरीफ—मुसीबत का मारा—इसी से कुछ कहता नहीं"

दिन बीतते थे—

एक दिन फिर फैला हैजा चारों ओर लोग मरने लगे मुल्लू के चेहरे पर अजीब, उन्मत्त-सा भाव रहने लगा। वह हरदम भूत सा चंदा के पीछे लगा रहता। अगर उसने कभी चँदा के हाथ में कोई बाजारी चीज देख ली—मिठाई आदि—तो सीधे मनोरमा से जाकर कहता—"खबरदार जो उसे बाजार में जलपान मँगा कर दिया तो। मनोरमा खीज उठती।

किंतु मुल्लू की सावधानी का कोई फल न निकला। एक दिन चँदा पड ही तो गयी। मुहल्ले में हैजा फैल चुका था। बच्चों को कौन रोकता ? चंदा भी इधर-उधर चली ही जाती थी। एक दिन घर पहुँची तो कै हुई। फिर दस्त फिर कै मनोरमा के पाँव तले से धरती खिसक गई। ठाकुर साहब व्यग्र हो उठे। वैद्यजी आये। दवा-दारू शुरू हुई। किंतु लाभ न हुआ। आखिर शहर से डाक्टर आया। तब तक चँदा अत्यंत क्षीण हो उठी थी। आँखें धँस गयी थीं, इधर-उधर छटपटा रहीं थी। सोने-सा शरीर काला पड़ गया था!

डॉक्टर ने आते ही सैलाइन करने का निश्चय किया। सामान प्रस्तुत किया गया। किंतु लाख चेष्टा करने पर भी पानी न चढ़ा। नस मिली भी किंतु दो एक आउंस पानी जाकर रुक गया। डाक्टर ने निराश चेहरा ऊपर उठाया!

मनोरमा चीख उठी। डाक्टर के पाँव पकड़ते हुये बोली, "बचा लीजिये डाक्टर बाबू!"

ठाकुर साहब ने भी आँखें पोंछते हुये कहा, "कोशिश कीजिये डाक्टर बाबू। बचा लीजिये। माला-माल कर दूँगा!"

डाक्टर ने सहानुभूति के स्वर में कहा, "कोशिश तो कर रहा हूँ—ठाकुर साहब! पर आपने खबर बहुत देर बाद की! देखिये—खून जम गया है..."

मुल्लू कोने में खड़ा देख रहा था। आँखें चमक रही थीं—गर्दन आगे की ओर झुकी थी...अचानक सामने आ गया; और डाक्टर की ओर देख कर बोला, "तुम बुद्धू हो!"

डाक्टर साहब चौंके क्रोध आ गया उन्हें!

"यह कौन बेहूदा है?" उन्होंने पूछा।

"माली है—चंदा को बहुत मानता था – इसी से पागल हो गया है!"
ठाकुर साहब ने कहा · फिर मुल्लू से बोले "जाओ मुल्लू—अगर भगवान ने चाहा—" उनका स्वर रुँध गया। वे चुप कर गये।

डाक्टर ने फिर चेष्टा की—फिर सिर हिलाया, बोले "ठाकुर साहब! पानी चढ़ाना संभव नहीं!"

मुल्लू तब तक हाथ धो रहा था। आगे बढ़ कर डाक्टर के हाथ से सुई आदि लेते हुये अंग्रेजी में बोला, "तुम बेवकूफ हो--हटो, मैं देखता हूँ!"

ठाकुर साहब को कानों पर विश्वास न हुआ। मुल्लू अंग्रेजी बोल रहा है? डाक्टर भी माली से अंग्रेजी में डाट खाकर भौंचक रह गये थे! तब तक मुल्लू ने चंदा की नस में सुई दे दी थी—पानी चढ़ने लगा था!

आश्चर्य से डाक्टर, ठाकुर साहब, मनोरमा सभी विमूढ़ हो गये थे।

पानी चढ़ा, मुल्लू ने डाक्टर से अंग्रेजी में बात शुरू की। नुस्खा लिखा—आदेश दिये...

दवा आयी। और दूसरे दिन चंदा की हालत अच्छी थी! मुल्लू वहीं बैठा था!

चंदा ने उसकी ओर देखा "मुल्लू मामा" उसने धीरे से कहा। मुल्लू ने निश्चितता की साँस ली। और चंदा का सिर सहलाया और उठा, खड़ा हुआ। ठाकुर साहब उसका परिचय पाने को व्यग्र थे! मनोरमा कृतज्ञता से दबी जा रही थी! उसने झुक कर मुल्लू के चरण छुये। "आपने चंदा की जान बचा ली" अस्फुट स्वर में उसने कहा!

"और चंदा ने मेरी" मुल्लू की आँखों में आँसू थे। धीरे-धीरे उसने अपनी कहानी सुनायी। बच्चे के मरने पर, आत्म-विश्वास खोकर कैसे भटकते हुए वह यहाँ पहुँचा था। और आज—चंदा की जान बचाने में सफल हो—उसने पुन वह आत्म-विश्वास पाया है आज वह मुल्लू से फिर मृत्युंजय बना!

हैजे ने मृत्युंजय को मुल्लू बनाया—हैजे ने मुल्लू को मृत्युंजय।

उसका संसार फिर बसा—घर की लक्ष्मी घर आयी। किंतु अब मृत्युंजय के मन में रोग फैलने की इच्छा नहीं उठती।

लक्ष्मीनारायण मिश्र

कर्ण का अर्घ्यदान

सप्तर्षि मंडल किनारे ध्रुवलोक के
जाकर लगा है, रजनी के अवसान में,
कवि मन मानस के जैसे भावरत्न ये
हारी कविवाणी नहीं बाँध जिनको सकी।
बीती अब यामिनी, निमेष पल तारे ये
लुप्त हो रहे हैं। परिजन के विछोह में
द्रवित सुधाकर की सूख चलीं किरणें।
श्रीहत मयंक अपरा के श्वेत पट में
आनन छिपा रहा है; किंवा नीरनिधि में
पश्चिम दिगंत के चला है हाय! डूबने
होकर अधीर, धरती को अश्रु जल से
सींच कर वे, ही हिमविंदु सब ओर हैं
फैले लता, वृक्ष, वनराजि, पद्मवन में
गिरि शिखरों में। नत-शीश सृष्टि तल है
शोक में निशाकर के, किंवा अंशुमाली का
उदय समीप जान धरती झुकाती है
शीश निज भक्ति से। झुके हैं पद्म सर में,
गिरि शिखरों में झुके भुरुह लतायें हैं
नीचे झुकीं। आहा! यह प्राची के कपोल में
अरुण लगा रहा है कुंकम। दिनेश की
चिर अनुरागिनी चढ़ी है हेम रथ में
ऊषा। दिन मणि का विजय केतु व्योम में
बढ़ता अवाध, ज्यों विजय की श्री जगत को
मोद से लुटा रहा है अरुण। दिनेश के
पथ की मिटी ज्यों सभी बाधा मिटा तम है।
विजयी के यश से विपक्षी मिटते हैं ज्यों।

मिट गये. तारे, तेजहीन शशि नभ म
काँप रहा भय से कला से हीन देख के
रवि का उदय। सकुची है कुमुदावली
खिल उठा पद्मराजि, शोक म उलूक है,
चक्रवाक नाचा हर्ष में हो पख खाल के,
उड चला रिझान चक्रवाकी को पुलक मे।
अस्त हा रहा है चद्र, दिन मणि उदय है
विधि का विधान यह कना एक साथ हा
हर्ष औ विषाद मिलते हैं धरा धाम मे।
मिलता नहीं है ठौर तम को गुफा में भी
टिकने का जैसे अपकारी टिकते नहीं।
आहा! वही ऊषा रँगती मो अनुराग के
रग मे गगन को कि सोने के सलिल में
घोरती दिगत को। प्रभाती देवबाला-सी
जागी अब,, इंदीवर नेत्र खुले जिसके
अरुण वनज वन कर पद तल हैं;
विकसित मालती बनी है वह वल्लरी,
चञ्चरीक राजि अलकावली खुली है ज्यों,
पक्षिकुल कलरव अलाप स जगत का
गिरी, वन, व्योम को सचेत कर मोहिनी
सज रहा. स्वागत के हेतु दिनमणि के।
जग को जगाता यथा शिशिर प्रभात का
मंथर समीर चला मालती पराग को
लोक में बिखेरता कँपाता पद्मवन को।
हिलती लतायें, वृक्ष राजि सब ओर है
हिल रही, काँप कर फूल अविरत हैं
चूते भूमि-तल पर पराग गध फैली है।
भौंरे गूँजते जो मधुमत्त सब ओर से
रवि का विजय-गान चारण सुनाते हैं।
शीतवाही शिशिर समीर संग जिनके
काँप कर आप धरातल को कँपाता है।

पादपों के पत्र सिमटे है शीत भय से,
पंख को समेट शिखी शीश को छिपाये हैं,
ले रहे जँवाई सिंह देह को समेट के।
शिशिर समीर या कि तीर अंतरिक्ष से
चलते अलक्षित चराचर को वेधते ?
हिम बिंदु भूतल से व्योम तल फैले हैं,
रवि किरणें हैं बनी शशि की किरण-सी
शीत के प्रताप से। क्षितिज से दिनेश है
उठ रहा ऊपर को जैसे नीर-निधि से
वड़वानल ज्वाला चली।

तूर्य भोर के बजे।
वीरभूमि आहा ! कुरुभूमि, जलनिधि-सी
ध्वनिपूर्ण सहसा बनी जो वीर जग के
दिनचर्या में लगे, अग्नि अग्निहोत्र की
प्रज्वलित होने लगी, सामगान नभ में
गूँज उठा, हवि धूम जैसे स्वर्ग लोक की
रचता निसेनी अहा ! फैला व्योम तल में।
त्रिदिव निवासियों को किंवा कुरुभूमि की
कीर्तिकथा जैसे हो सुनाने चला व्योम को
पार कर, यज्ञधूप प्राविट पयोद-सा।
वंदि जन गाने लगे हर्ष-ओज स्वर में
द्वार-द्वार शिविरों के वीर विरुदावली।
गरज रहा हो सिंधु जैसे महाध्वनि से
वायु से विकंपित, चलीं हो यथा लहरें
वोरती धरा को रणभूमि ध्वनि पूर्ण है।
वाजे वजते हैं, कहीं होता वेद गान है
और कहीं इष्ट देव पूजा में निरत हो
स्तुति पाठ सस्वर सुनाते वीर जन हैं।
गज वोलते जो यथा होती मेघ ध्वनि है,
हय हींसते हैं, दुही जाने के लिए अहा !
गायें हैं रँभाती, बोलते हैं वत्स जिनके।

घटे बजते हैं ध्वनि शंख मन्त्र ओर है।
नन्दन में डूब पटमंडप समर के।
कितना कहेगा कवि कितना सुनायेगा?
एक संग आती जो अनेक ध्वनि कानों में
शब्द में उतारे कवि कैसे एक साथ ही?
काव्य के रसिक भारती के भावलोक में
पायें पथ कल्पना के और मंद कवि में
चित्रण में जो कुछ है छूटा उसे आप ही
भावना की आँखों से निरेखें।

हरगिरि सा
हिम धवल उन्नत शिविर वसुसेन का
नीर में रँगा है यथा सोन के, पड़ीं जो ये
छूट रवि-मंडल से आहा। अभी किरणें।
किरनमयी वरिष्ठ्य कर्ण युग्म हाथों में
मंगल का कलश है उठाये, शीश नत है
जल बिंदु चू रहे हैं मोती ज्यों अलक से,
भाल पर, नासिका, कपोल कंठ वक्ष में
फैले मन ओर जल-कण देह भीगी है।
स्नान कर आया अभी वीर इष्टदेव के
पूजन के हेतु, अर्घ्य दे रहा है रवि को।
सामने शिविर के घेरी जो हेम पट्टी है
जिस पर पड़े हैं जपा पुष्प, लाल पद्म ये
और अर्चनीय वस्तुयें हैं धरा विधि से।
हवन हुताशन समीप हेम पट्टी के
जल रहा हेम पात्र में है, होम द्रव्य का
अग्निदेव भोग करते जो रह-रह के
उठती शिखा जो हँसी जैसे अग्निदेव की
उठती धरातल से वलरस छूने को
आहा। दिन मणि के।

दिनेश अंतरिक्ष में
आगे बढ़ा पार कर क्षितिज प्रदेश को।

घूमता-सा जैसे चक्रगति में अरुण का
गोल पिंड लालिमा विहीन अब श्वेत हो
भास्कर परिधि में लसा जो, पूत किरणें
नाचीं महाभाग वसुसेन के ललाट में।
शीश पर नाचीं हिला वीर गद्गद् हो।
एकटक देखा वीर मणि ने दिनेश को
पद्म नेत्र डूबे अहा! जैसे भक्ति जल में।
आधी मुँदी आँखें, मुख मंडल से मोद की
दिव्य रश्मि माला चली, रवि कर जाल को
बाँधने को जैसे प्रेम बंध में कि भक्ति में
होती सी विभोर कामनायें भक्त मन की
पल में समर्पित हुई थीं इष्टदेव को।
युगल चरण जुटे भूतल में सहसा
रक्त परिधान हिला दोनों हाथ शीश पल में
हिल उठे और अहा! हाटक कलश से
अर्घ्य धारा नीचे चली, जैसे भगीरथ के
पुण्य से चली थीं सुरसरि अधोतल में
गोमुख से अहा! ज्यों अटूट पुण्य धारा-सी।
किंवा रत्नमाला यह चाँदी और सोने के
सूत्र में पिरोई गई पद्मराग मणि की
लेमेरक बीच-बीच में थे लगे जिसके।
शीश टेक भूतल से, हाटक कलश को
छोड़ धरातल पर उठा जो हाथ जोड़ के,
एक पग ठाढ़ हुआ निष्ठा और भक्ति से
देख रवि मंडल को बोला,

"हे जगत के
मूलाधार! पद्मपति! लोक-त्राणकारी हे।
पोषक अकेले इस सृष्टि के उदय हो
तुमने मिटाया तमतोम धरातल से।
प्राणमयी धरती के प्राण तुम। पल में
तेज, बल, बुद्धि और विक्रम के निधि हे।

लोक जो जगा है, और कर्म सिद्धि पाने को
कर्म में निरत हो रहा है, सो तुम्हारे ही
केवल कृपा से ! मिटी आहा ! निशा यम की
कर्म वेला आई है अनादि सखा ! सृष्टि के
कर्म के सनातन हे साक्षी ! अब तुमसे
दास क्या निवेदन करेगा ? सम भाव से
जीवन का दान तुम देते जीव तल को।
जानते हो अनुचर के मन में बसा है जो
इष्टदेव मेरे ! इस भूतल में तल क्या
कोई भी कहीं है जो कि छुटे देव गति से ?
चिर विजयी हे ! यह दास पराजय के
भय से विमुक्त रहे जब तक कर में
शस्त्र रहे मेरे ! नहीं मानव अमर है
वरण करूँ मैं मृत्यु आये जब मोद से"।
मौन हुआ वीर किरणों में अंशुमाली की
ऐसे खिला पद्म ज्यों खिला हो देवसरि में,
किंवा खड़े ध्यानमग्न सनत्कुमार हों,
ज्ञान की विभूति से मिटा हो भ्रम मन का।
शुद्ध चित्त अंतःकरण के विभव में
आनन रँगा हो, या कि देव कुल सेनानी
शक्तिधर आहा ! खड़े शक्ति की उपासना
करते हैं किंवा मूर्तिमान आप तप है।
वर्णेय केशराशि डोली कंठदेश में,
और अक्षमाला हिली वक्ष पर साथ ही,
फरकीं भुजायें, खुले नेत्र और मुख के
मंडल से फूटी दिव्य आभा दिनकर के
मंडल से जैसे बनी मूर्ति यह तेज की।
तप्त हेम द्रव से रचे हैं गये किंवा ये
अंग अंगपति के, निरेखन में जिनके
अक्षम हैं आँखें।

साहित्य में पुनर्निर्माण

आजकल योजनाओं का ज़माना है, और योजनाओं में भी पुनर्निर्माण का विशेष रूप से प्रचलन है। उसके लिए साहित्य के भी पुनर्निर्माण की कई योजनाएँ बनती हैं।

हम 'योजना-विश्वासी' के नाते बदनाम हैं। इस बदनामी को हमने सर्वदा पुरस्कार मान कर ही लिया है, क्योंकि योजना बनाना तभी दोष होता है जब उन्हें अमल में लाने की कोई नीयत न हो। वैसी भी योजनाएँ होती हैं—और ऐसी कागज़ी योजनाओं का भी कुछ कम प्रचलन नहीं है—कागज़ी मुद्रा की स्फीति के साथ-साथ कागज़ी योजनाओं की भी स्फीति होती है!—लेकिन वैसी योजनाएँ हमारी नहीं रही हैं।

जो हो, यहाँ इस समय आत्म-निरीक्षण नहीं करना है। हम साहित्यिक योजनाओं की पृष्ठभूमि की कुछ विचारणीय बातों की ओर संकेत करना चाहते हैं।

साहित्य में 'निर्माण' का अर्थ बहुत व्यापक है, और उसे केवल नये पाठ्यग्रंथों के प्रकाशन तक सीमित नहीं समझ लेना चाहिए। हमारी आवश्यकता की कोई सीमा नहीं है। हमें कोष चाहिए, परिभाषाएँ चाहिए, विज्ञान के ग्रंथ चाहिए, अनुवाद चाहिए। और अभी तो हमें एक एकरूप, सर्वमान्य साधारण हिंदी भाषा की ही आवश्यकता है। इस दृष्टि से भाषा का नियमन नहीं हुआ है और न उस ओर समुचित प्रयत्न किया गया है। भाषा के नियमन की दुहाई अभी तक तो वही लोग देते आये हैं जो कि व्याकरण को भी वेदों की भाँति शाश्वत और अपौरुषेय मानते आये हैं और इस साधारण सत्य की उपेक्षा करते हैं कि व्याकरण साधारणतया प्रयोग पर आश्रित है। हमारा विचार है कि इस दृष्टि से विचार करके कुछ साधारण और सरल नियम बनाने की ज़रूरत है जो कि एक देशव्यापी सर्वमान्य प्रयोग का रूप-निर्माण कर सकें। हम समझते हैं कि इस क्षेत्र में सरकार सहायक हो सकती है, और उसे विशेष रूप से इधर दत्तचित्त होना चाहिए। भौगोलिक नाम-रूपों का निर्माण भी इसी कोटि का प्रश्न है,

और इस पर भी तत्काल विचार होना चाहिए ताकि समाचार पत्रों में नामों की एकरूपता लायी जा सके। अभी तक तो यह होता है कि एक ही स्थान की एक ही घटना के एक ही संवाददाता द्वारा दिये गये समाचार को हिंदी में दो-तीन पत्रों में अलग अलग पढने पर अनुवाद वैचित्र्य के कारण ऐसा जान पडता है कि अलग-अलग स्थानों की घटनाओं का वर्णन है।

इन सब प्रश्नों का अपना महत्व है, और उस महत्व को कम करना हमें अभीष्ट नहीं है। लेकिन जहाँ तक साहित्य के पुनर्निर्माण का प्रश्न है, हमें यह कहना आवश्यक जान पड़ता है कि इन सब प्रश्नों से अधिक गहरा बुनियादी प्रश्न साहित्य-स्रष्टा के मन का प्रश्न है। साहित्य का मोल आँकने में यह बात बडा महत्व रखती है कि उसके स्रष्टा के मानस का विकास या उन्नयन कहाँ तक हुआ है, और साहित्योन्नति की पहली माँग उस मानस की उन्नति होती है। आजकल मतवादों का युद्ध होता है, और साहित्य के मूल्य निर्धारण अथवा अवमूल्यन की कई परिपाटियाँ चल गयी हैं, लेकिन यह बात अकाट्य है कि साहित्य की कसौटी रचयिता की मानस की कसौटी है। वाल्मीकि के द्वारा आदि काव्य के आविष्कार की कथा भी इसी सत्य की ओर संकेत करता है। वह कहानी कहानी ही है, और उसे आप एक आदिम अनुश्रुति भी कह सकते हैं। लेकिन यह वाल्मीकि के मन का गुण था कि उसमें करुणा उपजी—कवि द्रष्टा हुआ इसलिए नहीं कि उसने अनुष्टुप देखा, बल्कि इसलिए कि उसके मन ने एक नयी एकता देखी। उसी में इस अनुश्रुति का मूल्य है।

हिंदी साहित्य के निर्माण या पुनर्निर्माण की योजनाएँ बनाते समय हिंदी लेखक-मानस की स्थिति पर विचार करना और उसे समझना आवश्यक है। यह काम कम या अधिक सहानुभूतिपूर्वक किया जा सकता है, हम यथासंभव अधिक सहानुभूति देते हुए ही इसे आरंभ करें।

हिंदी का और विशेष रूप से खडी बोली का इतिहास अभी तक विद्रोह का इतिहास रहा है। वह राज्याश्रय में या कि सामंतों के संरक्षण में नहीं पली, उसने अभिजात वर्गों की उपेक्षा में निज से ही शक्ति पायी है। इधर यद्यपि उसमें इस परिस्थिति के प्रति असंतोष और विरोध बहुत मुखर हुआ है, और बहुत से लोगों ने हिंदी की न्यूनता का कारण इसी में देखा है कि वह राज्याश्रित नहीं रही और दूसरी भाषाओं के सामने उपेक्षित और तिरस्कृत होती रही, तथापि वास्तव में हिंदी की सभी विशेषताएँ और

सभी गुण इसी परिस्थिति से उत्पन्न हुए हैं। उपेक्षा से उसे प्रेरणा मिली और उसमें अधिकाधिक मात्रा में जन-जीवन और जन-संस्कृति का स्वर घोला।

आज हिंदी राजभाषा है। विद्रोह-चेष्टा से मिलने वाली प्रेरणाएँ समाप्त हो गयी हैं, क्योंकि उनका स्रोत ही बंद हो गया है। अब उसे प्रेरणा पाने के लिए दूसरे स्रोत पाने होंगे और स्वयं खोद भी निकालने होंगे। ऐसा वह नहीं कर सकती, यह हम बिल्कुल नहीं मानते। लेकिन अभी जो स्थिति है और उसके कारण जो गतिरोध हुआ है उसे भी देखना होगा। उस गतिरोध में कुछ लोगों के प्रयत्न आशा बँधाते हैं कि बहुत से नये स्रोतों से प्रेरणा का मार्ग शीघ्र खुल जायेगा। ऐसे भी हैं जो नयी स्वस्थ प्रेरणा के बदले तरह-तरह के विष और मादक द्रव्य बाँटना चाहते हैं। हिंदी आज राजभाषा बन गयी; उससे हमें 'अलफ़-लैला' के हंडिया में से निकलने वाले जिन्न की कथा याद आती है। हमने हंडिया माँजते-माँजते उसमें से एक महाकाय जिन्न निकाला है। अब प्रश्न यह है कि क्या उसे शासित करना और हमारी आवश्यकतानुसार रचनात्मक कार्य में लगाने की योग्यता और साहस हममें हैं ?

नहीं है तो होनी होगी। और उसके लिए हमें पहले देखना होगा कि कौन सा घुन हमें खा रहा है। हम देखते हैं कि जो साधारणतया अपने को 'हिंदी वाला' कहते अथवा मानते हैं उसकी दृष्टि अत्यंत संकीर्ण है। उसमें विशालतर परिपार्श्व को देखने की न क्षमता है न इच्छा। खरी दृष्टि से अपनों ही द्वारा की गयी आलोचना भी उसे सह्य नहीं है। जो आलोचना करता है वह तत्काल 'विभीषण' की पदवी पा लेता है—हमें भी एकाधिक बार यह सम्मान प्राप्त हुआ है। लेकिन आलोचना और विशेष कर आत्म-निरीक्षण के बिना उन्नति नहीं; और त्रुटि देखना आधा निराकरण है। न देखने से कुछ नहीं हो सकता। कम अनुदार लोग भी हैं जो त्रुटि देखना द्रोह नहीं, आत्मावसाद मानते हैं। लेकिन आत्म-निरीक्षण आत्मावसाद नहीं है। हम हिंदी के भविष्य के बारे में किसी के कम आश्वस्त नहीं है। पर हमारी समझ में तथाकथित 'हिंदी वाले' ही हिंदी के शत्रु होंगे अगर वे अपने घोंघे में से बाहर न निकलेंगे। संकीर्णता न केवल दृष्टि की न्यूनता है बल्कि सचाई की भी न्यूनता है। इसका एक उदाहरण उर्दू के प्रति उनकी भावनाओं में देखा जाता है। वे प्रायः

कहते हैं कि उर्दू कोई भाषा नहीं है, केवल हिंदी की एक शैली है। लेकिन साथ ही वे उर्दू का बहिष्कार भी करना चाहते हैं और यथासंभव करते हैं। अगर उर्दू सचमुच हिंदी की एक शैली है, तो उसका बहिष्कार, या बहिष्कार का निर्णय, करने वाला कोई कौन होता है? किसी संस्था को भी क्या अधिकार है? कल्पना कीजिये, कोई संस्था निश्चय करे कि श्री सुमित्रानंदन पंत या अमुक एक लेखक या लेखकों के दल की शैली का हम बहिष्कार करते हैं। क्या वह हमें सहन होगा? क्या हम इसे निरी मूर्खता से अधिक कुछ मान सकते हैं? अगर उर्दू सचमुच एक शैली है और वह शैली आपको पसंद नहीं है तो आप उस शैली में न लिखिये, इतना ही अधिकार आपको है।

इसी प्रकार हिंदी के समर्थक प्रायः कहते हैं कि अन्य भाषाएँ प्रांतीय हैं जब की हिंदी में समूचे भारत की आत्मा बोली है। यह नहीं कि इस उक्ति में सच्चाई नहीं है, और उस सच्चाई को समझने और उसे समादृत करने की बहुत आवश्यकता भी है। लेकिन जो व्यक्ति एक ओर यह दावा करता है और दूसरी ओर इतर भाषाओं के शब्द ग्रहण करने पर नाक-भौं सिकोड़ता है उसे क्या कहा जाय? किसी भी संस्कृति, किसी भी समृद्ध साहित्य ने अपने चरम विकास के समय में भी हाथ बढ़ाकर बाहर के साहित्य से ग्रहण किया है, क्योंकि वह आत्म-विश्वासपूर्वक बाहर कुछ देने भी गया है और एक बृहत्तर परिमंडल में लेन देन करने में उसे यह डर नहीं हुआ कि उसका वैशिष्ट्य मिट जायेगा। बाहरी संपर्क का डर वहीं है जहाँ देने के लिए कुछ नहीं है। 'शुद्ध संस्कृति' का नारा एक भारी छल है और संस्कृति की मुमूर्षावस्था को ढकने का तरीका है। हमारे देवता खिचड़ी हैं, हमारा धर्म खिचड़ी है हमारा पहरावा, भोजन, रीति-रस्म सब खिचड़ी है, और यह खिचड़ी हजारों वर्षों के विभिन्न अवदानों का परिणाम है। शुद्ध क्या है? जो मँजा है, संस्कारी है, वही 'शुद्ध' है। शुद्ध का और कोई अर्थ संस्कृति के प्रसंग में नहीं है। संसार में कहीं नहीं, भारत में तो और भी नहीं। संस्कृति की उन्नति में हमें छाँटना नहीं, माँजना है, सब कुछ को संस्कार देना है। और वह संस्कार पहले हममें तो हो!

और इस प्रकार हम फिर लौटकर मन संस्कार की बात पर आ जाते हैं। हमारे साहित्य की और संस्कृति की कसौटी हमारे मन की गुणों की कसौटी है। संस्कृत मन के सहारे ही हम विभिन्न समाजों के परस्पर

घर्षणों के इस बेमेल जमाव को, जो आज का भारतवर्ष है, एकरूप और समन्वित संस्कृति बना दे सकते हैं।

तथा-कथित प्रगतिशील, वर्गवादी सिद्धांतों ने परिस्थिति को उलझाने और समस्याओं को विकृत रूप में पेश करने में काफी योग दिया है। मन और वस्तु का परस्पर संबंध और परस्पर प्रभाव कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता; किंतु सारे विकास को उत्पादन के साधन पर आधारित मान लेना भूल है। विशुद्ध जड़वादी अथवा पदार्थवादी प्रतिज्ञा लेकर भी हमें मानना होगा कि उत्पादन के साधनों से पहले भी मन का अस्तित्व था। और विकास की गति मन के आविर्भाव से पहले से चली आती है—मन से पहले भी चेतना थी और उससे भी पहले जड़ पदार्थ थे। अगर हम मानते हैं कि प्रगति है और विकास होता है—और जीने के लिए यह मानना आवश्यक है—तो वह प्रगति आदिम जड़-तत्व से चली आयी है। यानी आर्थिक विकास के पहले से मन का, उससे भी पहले से चेतना का, और उससे भी पहले जड़ के अधिक संश्लिष्ट रूपों का विकास होता चला आया है। ऐसी दशा में केवल आर्थिक विकास के प्रभाव को सर्वाधिक बल्कि एकमात्र महत्त्व देना, और अन्य दीर्घकालीन प्रभावों से अस्वीकार करना प्रवंचना है। आदिम जड़ से मानव के आविर्भाव तक का विकास देखने पर यह कदापि नहीं माना जा सकता कि सृष्टि-विकास की सबसे बड़ी घटना उत्पादन साधन या कि औज़ार (टूल) का आविर्भाव है'। बल्कि बुद्धि का आविर्भाव ही उस विकास की सबसे महत्त्वपूर्ण कड़ी है, जिसने हमें औज़ार और यंत्र बनाने की और उसके बाद यंत्र की गुलामी से मुक्ति चाहने की सामर्थ्य दी है। हमारे आलोचना-शास्त्र की बुनियाद इस विवेक पर और मानव की स्वातंत्र्य-चेष्टा पर है, न कि उस यांत्रिक साधन पर जो देवता बनकर स्वयं हमारी सबसे बड़ी गुलामी का आततायी प्रभु बनता है; इतना ही नहीं, हमारी गुलामी को उस चरम सीमा तक पहुँचा देता है जिसमें कि स्वतंत्रता की भावना ही हमारे लिए आतंककारी बन जाय और गुलामी में ही हमें सुरक्षा दीखे!

—वा०

द्वैमासिक साहित्य-संकलन

१२

वसंत

संपादक

सियारामशरण गुप्त

नगेंद्र

स० ही० वात्स्यायन

श्रीपतराय

क्रम-सूची

मुद्रक : भगवतीकृष्ण दीक्षित, दीक्षित प्रेस, इलाहाबाद

जनवरी छब्बीस

आलोक-मंजूषा
'अज्ञेय'

(१)

हम अपने युगों के स्वप्न को
यह नयी आलोक-मंजूषा समर्पित कर रहे हैं।
आज हम अक्लांत, ध्रुव, अविराम गति से
बढ़े चलने का कठिन व्रत धर रहे हैं
आज हम समवाय के कल्याण के हित, स्वेच्छया,
आत्म-अनुशासन नया यह वर रहे हैं।
निराशा की दीर्घ तमसा में सजग रह
हम हुताशन पालते थे साधना का—
आज हम अपने युगों के स्वप्न को
आलोक-मंजूषा समर्पित कर रहे हैं।

(२)

सुनो हे नागरिक!
अभिनव सभ्य भारत के नये जन-राज्य के—
सुनो! यह मंजूषा तुम्हारी है।
पला है आलोक चिर-दिन यह तुम्हारे स्नेह से
तुम्हारे ही रक्त से।
तुम्ही दाता हो तुम्ही होता, तुम्ही यजमान हो।
यह तुम्हारा पर्व है।

भूमिसुत ! इस पुण्य-भू की प्रजा,
स्रष्टा तुम्हीं हो इस नये रूपाकार के
तुम्हीं से उद्भूत होकर बल तुम्हारा—
साधना का तेज, तप की दीप्ति—
तुमको नया गौरव दे रही है !
वह तुम्हारे श्रम का ही प्रस्फुरन है।
नागरिक, जय ! प्रजा-जन, जय !
राष्ट्र के सच्चे विधायक, जय !

आज हम अपने युगों के स्वप्न को
आलोक-मंजूषा समर्पित कर रहे हैं।

जन भारत के प्रति

सुमित्रानंदन पंत

स्वस्ति, स्वस्ति, हे भारत-भू, फिर से युग-लक्ष्मी
आज तुम्हें अभिषेकित करती जन गण-मन के
सिंहासन पर : अभिनंदन करती नवयुग की
उषा, तुम्हारे गौरव उन्नत रजत-भाल पर,
स्वर्ण शुभ्र किरणों का नूतन ज्योति-मुकुट धर !

वृद्ध देश, हिमश्वेत श्मश्रु, स्मित, शोभित जो तुम
पुरुष पुरातन-से निःकामप्रिय इस पृथ्वी पर
संजीवन पा आज तुम्हारे जन का यौवन
मूर्तिमान हो उठा पुनः नव लोकतंत्र में !
जय निनाद करता जन सागर उमड़ चतुर्दिक्,
हर्ष तरंगित अपने अगणित शीश उठाये,
फहराता विजयी तिरंग ध्वज इंद्र-चाप-सा
दिग्-दिगंत में रंग छटाएँ बरसा शत-शत,—
पुष्प वृष्टि करते हो ज्यों नभ से फिर सुरगण !

महाभूमि, जिसके विराट् प्रांगण में पल कर
प्रथम सभ्यता दौड़ी भू पर, भू-प्रकाश सी ;
जिसकी निभृत गुहाओं में पहले मनुष्य को
आत्मोन्मेष हुआ : युग-द्रष्टा ऋषिगण विचरे
जहाँ सत्य की अमर खोज में स्वर्ग-शिखा ले :
जिसके ज्योतिर्मय मानस के पलने में हँस
धर्म, ज्ञान, संस्कृतियाँ शतमुख फैलीं जग में :
जिसके दर्शन के स्फटिकोज्ज्वल शुभ्र सौध में
स्वतः अवतरित हो जन-गण सारथि मंगलमय
वास कर रहे मूर्त सत्य-से, पुरुष परात्पर !
गौतम, गाँधी आ कर लोटे जिसकी रज पर—
दिव्य भूमि, अभिवादन करते वाणी के सुत
तरुण उल्लसित स्वर में गा कर पुनः तुम्हारा—
वंदेमातरम् ! सुजलाम् सुफलाम् मलयज शीतलाम् !

तपोभूमि हे, राजतंत्र के युग में जिसने
राम राज्य का पूर्णादर्श दिया जगती को,
आज असंख्य विमुग्ध लोक-नयनों से निर्मित
नव युग-तोरण से प्रवेश कर रहे धन्य तुम
जन-मन दीपित लोक-चेतना के प्रांगण में,—
सर्व भूत में फिर अपने को अनुभव करने !

स्वर्गखंड हे, हाय, शंभु-से समाधिस्थ हो
विचरण करते रहे कहाँ तुम मध्य युगों में
आत्मा के सोपानों में खो उर्ध्व-उर्ध्वतर
आत्मोल्लास प्रमत्त, जगत के प्रति विरक्त हो ?
जीवन-मन के निखिल कर्म-व्यापार त्याग कर
तुम निश्चल, निश्चेष्ट, शून्य, निःसंज्ञ बन गये
स्थाणु सदृश क्यों ? बाह्य अचेतन स्थिति में अपनी
दैन्य, दासता, दुःख अविद्या के बंधन से
वेष्टित, सहते रहे आत्म-पीड़न क्या केवल
जन-भू का विष धारण करने नीलकंठ में ?

जागो हे फिर महादेश, अंत: प्रकाश से
युग युग से सोयी धरती को चेतन करने,
जन हिताय निर्माण करो फिर जन-युग में तुम
लोक-तंत्र प्रासाद नींव रच अंतरैक्य पर
जन समाज की, विश्व प्रीति के द्वार खोल बहु,
स्वर्ग-ज्योति चुंबी धर सिर पर ज्ञान का कलश !

विचरण करे प्रजायुग अभिनव भारत-भू पर
दूर-दूर तक शिक्षा-संस्कृति का प्रकाश भर,
झाड़-फूँस के भग्न घरौंदों को वैभव की
सुख स्वर्णिम किरणों से मंडित कर, युग युग से
दैन्य अविद्या के तम से जो त्रस्त-ग्रस्त हैं !
नंगे, भूखे, रुग्ण अस्थि-पंजर गत युग के
जहाँ रेंगतामार ढो रहे भू जीवन का
वर्ग-सभ्यता के उस निचले नरक में जहाँ
अन्न-वस्त्र का घोर अभाव रहा अनादि से
और सभ्यता संस्कृति की स्मित स्वर्गिक किरणें
पैठ न सकीं जहाँ, जीवन आह्लाद कभी भी
पहुँच नहीं पाया, जन-मन का नीरव क्रंदन
मात्र हृदय संगीत रहा उच्छ्वसित, अतंद्रित !

हे जन भारत, तन मन धन के रक्तदान से
पुण्य स्नात कर धरती के जन का विवरण मुख
सर्व प्रथम सौंदर्य प्रसन्न करो मानव को !
जाग्रत भारत, पुन तुम्हारी मातृ क्रोड़ में
एक अद्वितीय मानवता ले जन्म धरा पर,
नयी चेतना के प्रतिनिधि हो जो : युग युग से
विविध मतों वर्गों देशों में बिखरी भू को
मनुष्यत्व में बाँध नवल भू स्वर्ग रचे जो !
जीवन का ऐश्वर्य, प्रेम, आनंद उतर कर
अंतमन से, मूर्तिमान हो जावें जिसमें !

युद्ध-दग्ध जन-भू पर व्यापक लोक-तंत्र का
नव आदर्श करो तुम स्थापित सर्व-समन्वित,
फिर से रच जन लोक महत्, जो मानवीय हो !
युग-युग तक गावें भारत-जन एक कंठ हो
जन-गण-मन अधिनायक जय हे भारत भाग्य विधाता !

क्रेस्पो द ला सेर्ना

कला : राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय

कलाकार ऐसा व्यक्ति है जो अपने क्षेत्र में कोई महत्वपूर्ण काम नहीं कर सकता यदि वह शांतिपूर्वक और एकांत में काम करने की क्षमता न रखता हो, जहाँ उसके निजी विचार, निजी चिंतन, निजी भावनाएँ और जीवन का निजी बोध ही उसका साथी न हो। इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि वह कंदरा-वासी हो बल्कि इससे ठीक उल्टा। वह जो करना चाहता है, चित्र, मूर्ति आदि में जो कुछ अभिव्यक्त करना चाहता है वह कर सकने की उसे संपूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिये। जन साधारण के दैनिक जीवन के लिए उपयोगी नियम-कानून के बंधनों से उसे नहीं बाँधना चाहिए। वह जब कुछ निर्माण कर चुकेगा, जब उसे अपनी रचनाओं को दूसरों के सामने प्रेषित करने की आवश्यकता होगी, तब वह स्वयं अपने एकांत से बाहर निकल कर अपनी रचना, अपना सुख-दुख, अपने परिश्रम का दूसरों के साथ साझा करेगा।

आवासित पृथ्वी के देश मानव-व्यक्तियों से भिन्न नहीं हैं। ऊपर कलाकार के बारे में जो कुछ कहा गया है वही देशों पर भी लागू होता है यदि हम उन्हें इस दृष्टि से देखें कि उन्होंने ऐसी कला को क्या अवदान दिया है जिसे हम उसके विशिष्ट गुणों के कारण विश्व कला कह सकें। यह कोई नया सिद्धांत नहीं है। इतिहासकारों ने और विशेषतया कला के इतिहासकारों ने विभिन्न देशों के विकास म कालों अथवा युगों को 'संस्कृतियों' का विकास कहा है, जिनका एक निश्चित गतिक्रम होता है—जन्म, शैशव, यौवन, परिपक्वता, जरा और ह्रास, यहाँ तक कि मरण भी।

अपने शिखर पर कोई भी 'संस्कृति'—या दूसरे शब्दों में जीवन की विशिष्ट परिकल्पना और परिपाटी से उत्पन्न होने वाली सभ्यता की कोई विशेष स्थिति—दूसरी 'संस्कृतियों' के संपर्क में आने की ओर अनिवार्यतः प्रवृत्त होती है। यह प्रवृत्ति रचनाशील *मानव—वैज्ञानिक अथवा कलाकार—की प्रवृत्ति से मिलती* है। किसी भी पृथक और स्वाधीन 'संस्कृति' की विशिष्ट संभावनाओं पर आरंभ से ही पलने और पनपने वाली क्रियाएँ उस संस्कृति के चरम उत्कर्ष की अवस्था में नया प्रसार खोजती हैं—अपनी रचनाओं को बाहरी संसार के दूसरे लोगों की

रचनाओं के संमुख रखती हैं। इसके द्वारा विभिन्न संस्कृतियाँ न केवल अपनी-अपनी कला के विशिष्ट गुणों को पुष्ट करती हैं बल्कि विस्मयकारक समानताएँ भी ढूँढ़ निकालती हैं। इससे भी अधिक महत्व की बात यह है कि वे अभिव्यक्ति के नये साधन ग्रहण कर के उन्हें अपने व्यष्टि-वैचित्र्य के ऊपर आरोपित करती हैं और इस प्रकार अपनी कला को समृद्धतर बनाती हैं।

यह क्रिया प्राचीन काल से होती आयी है। पुरानी संस्कृतियों—सुमेरी, खल्दी, सम्मी, अस्सीरी, मिस्री सभ्यताओं अथवा ग्रीक, एट्रुस्कन या रोमन सभ्यताओं के अध्ययन से विकास और फिर परस्पर मिश्रण का यह अनुक्रम स्पष्ट देखा जा सकता है। (यह मिश्रण संपर्क का ही फल है, चाहे स्वेच्छया स्थापित चाहे युद्ध द्वारा।) विकास और मिश्रण का यह क्रम व्यक्ति कलाकार के उस विकास का ही प्रतिरूप है जिसके क्रम में वह अन्य कलाकारों के अथवा अपनी कला-परंपरा से भिन्न कला-प्रवृत्तियों के संपर्क में आता है।

और इन प्राचीन संस्कृतियों के बारे में जो कुछ कहा गया वही परवर्त्ती खोजों पर भी लागू होता है—उदाहरणतया अफ्रीका, अमरीका अथवा आस्ट्रेलिया की कला पर। इन देशों में कभी ऐसा भी हुआ कि स्थानीय कलाओं के लिए दूसरे दूर देशों के कला के संपर्क में आना संभव नहीं हुआ। पाश्चात्य लोग इन प्रदेशों की कला के संपर्क में आये। इन पाश्चात्यों ने प्राचीन देशों की कला की परख के स्वाभाविक विकास के साथ-साथ कला-क्षेत्र के किसी भी सच्चे उद्योग को पहचानने और उसका मूल्यांकन करने की योग्यता प्राप्त की थी। मेरी धारणा है कि विशेषतया यूरोप में यह मनःस्थिति रिनेसांस काल से आरंभ हुई, जब प्राचीन कलाओं के नये परीक्षण के बाद उनके मूल्यों को शाश्वत घोषित किया गया; जिसका परवर्त्ती कला पर गहरा प्रभाव पड़ा और कला-समीक्षा के क्षेत्र में अभी तक सारे संसार पर पड़ता है।

कला जीवन की कोई असंबद्ध घटना नहीं है, न कभी थी। नृत्य की तरह वह एक जैविक (बायोलाजिकल) आवश्यकता के रूप में उतनी ही प्राचीन है जितनी कि धर्म की आदिम अभिव्यक्तियाँ, बल्कि बहुधा अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में कला का धार्मिक प्रवृत्तियों के साथ गहरा संबंध रहा। कला प्रत्यक्ष बोध की और उस बोध को आत्मसात करके उसके निरूपण अथवा प्रकाशन की क्रिया है। नियंडर्थाल अथवा क्रो-मैग्नन मानव भी कला-सृष्टि की आवश्यकता अनुभव करने लगा था। उनके चित्र, और प्राचीन अफ्रीका तथा प्राचीन अमरीका के गुफा-चित्र दिखाते हैं कि वे लोग अपने दैनिक जीवन के परिचित विषयों का ही

आलिंगन करते थे—आखेट, मंदिर, प्रागैतिहासिक हाथी और बारासिंगा आदि। उन्हें वही चीजें आकृष्ट करती थीं जिनकी जड़ें उनके उस आदिम वन-जीवन में जमी हुई थीं।

इतिहास-गति के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जीवन की सभ्यतर परिपाटियों के विकास के साथ-साथ कला में भी मानवी व्यापारों में आने वाले परिवर्तन अनिवार्य रूप से आये। अर्थात् संसार की किसी कला को बिना उस परिमंडल के अध्ययन के कभी सम्पूर्णतया नहीं समझा जा सकता जिसमें उसका आविर्भाव हुआ। कोई भी कला रूप अपने परिमंडल के प्रति जितना सच्चा होगा उतना ही उसका रूप शुद्ध और निखरा हुआ होगा। इसीलिए एक ही प्रकार के विषयों का निरूपण करते हुए भी कुछ जातियाँ ऐसी कला-कृतियाँ उपस्थित करती हैं जिन्हें सर्वथा मौलिक, भिन्न और विशिष्ट मानना पड़ता है, जिनमें रूपाकारों और उनके संबंध की परिकल्पना अनूठी होती है। एक दूसरे से सर्वथा विलग सभ्यताओं में जहाँ ऐसी विशिष्टता प्राप्त करना उतना कठिन नहीं था, वहाँ इस पृथक कला को बाकी दुनिया की कला के साथ समन्वित करना भी संभव नहीं था। यह समन्वय बहुत बाद की घटना है और इसका श्रेय आधुनिक कलाकार, कला-समीक्षक और इतिहासकार को है।

यूरोप में मध्ययुग अथवा गॉथिक युग और विशेषतया रिनेसांस के काल में परस्पर आदान और प्रभाव की क्रिया तेजी के साथ हुई। किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि जिस प्रकार हमने अपना कानून विधान, दर्शन, धार्मिक सिद्धांत, युद्ध परिपाटियाँ, वैज्ञानिक ज्ञान और आविष्कार ग्रीस और रोम से उत्तराधिकार में पाये उसी प्रकार उनके कला-सिद्धांत और सौंदर्य शास्त्रीय मान्यताएं भी हमने ग्रहण कीं। और ग्रीस तथा रोम की सभ्यताएँ स्वयं अपने उद्भव-काल से ही एशिया की विभिन्न 'संस्कृतियों' अथवा सभ्यताओं से प्रभावित रही थीं। किंतु समूचे यूरोप के जीवन को—विशेषतया कुछ शतियों में—एक सूत्र में बाँधने वाली इस एकता के साथ साथ हम यह भी देखते हैं कि यूरोप के—जो उस समय की सब से उन्नत सभ्यता का केंद्र था—विभिन्न देशों में विभिन्न शैलियाँ अथवा प्रवृत्तियाँ विकसित हो रही थीं। आज हम फ्लेमी, जर्मन, इतालीय, इस्पानी, फ्रांसीसी या आंग्ल शैलियों की कला को आदरपूर्वक स्वीकार करते हैं तो केवल इसलिए नहीं कि हम उनमें प्रत्येक देश की मौलिक और सशक्त विशेषताओं को साफ-साफ पहचान सकते हैं बल्कि इसलिए भी कि एक सूत्र उन सब को एक ही परंपरा में बाँधे हुए है जो अत्यंत प्राचीन काल तक अखंड चली गयी है। अगर

यह सच है कि उस समय प्रत्येक देश ने इस परंपरा को—इस समान आदि-प्रवृत्ति को—अपने-अपने स्वभाव, संस्कार और धर्म के अनुसार समझा और प्रकाशित किया, तो विभिन्न शैलियों में एक समानता स्पष्ट देखी जा सकती है जो कि तत्तत् युग की कला को अनंतर अधिकाधिक ग्राह्य और बोधगम्य बनाती जायगी ।

इन विभिन्न शैलियों को 'राष्ट्रीय' नहीं कहा जा सकता । इस शब्द का अर्थ बहुत सीमित है । हम समझते हैं कि 'राष्ट्रीयता' की बात केवल इसी युग में उठी है । यदि अपने विचारों और प्रवृत्तियों के प्रति, न केवल व्यक्ति रूप से बल्कि विभिन्न समाजों के अंग रूप से भी, निष्ठावान होना उचित और रचनाशील प्रवृत्ति है, तो यह भी मानना होगा कि इसके प्रतिकूल कलाभिव्यक्ति अथवा जीवन का सामना करने में संकीर्णता अनुचित है और ईमानदारी की कमी सूचित करती है । इतना ही नहीं वह उन्नति के मार्ग में बाधक है और विशेषतया स्वयं कलाकार के लिए घातक । कला में और दूसरी रचनात्मक प्रवृत्तियों में राष्ट्रीयतावाद प्रवंचना है ।

तथापि, विशेषतया आजकल यह कहना संभव हो सकता है कि किसी एक राष्ट्र की कला अपनी मुख्य प्रवृत्तियों में दूसरे राष्ट्रों की कला से पृथक है । यह केवल वर्गीकरण का एक ढंग है । इससे अधिक गहरा महत्त्व उसे नहीं दिया जा सकता । विभिन्न देशों की कला-रचना में विशेष-रूप से आजकल बड़े स्पष्ट अंतर देखे जा सकते हैं; किंतु यह हर किसी को स्वीकार करना ही होगा कि इम्प्रेशेनिस्ट आंदोलन के समय से सारे संसार की कला पर पेरिस की शैली का प्रभाव पड़ा है—और उस शैली के द्वारा अनेक ऐसी कलाओं का जो कि पाश्चात्य परंपरा से बड़ी दूर हैं; यथा नीग्रो, चीनी, प्राक्-कोलंबी, पोलिनेसी कलाएं इत्यादि । इस प्रकार विभिन्न देशों का चरित्र अभिव्यक्त करने वाले भेद उतने तीखे नहीं रहते और सभी कला-कृतियों की एक साधारण सौंदर्य-शास्त्रीय आधार पर तुलना और समीक्षा की जा सकती है । दूसरे शब्दों में प्रत्येक कलाकृति में, उसकी रचना चाहे जिस देश-काल में हुई हो उस व्यापक समानता की खोज की जा सकती है जो उसे विश्व-कला के निकट ले जाती है ।

प्रस्तुत लेखक का देश मेक्सिको इसका श्रेष्ठ उदाहरण है कि कैसे कला-क्षेत्र में कोई भी सच्ची प्रगति प्राचीन काल की कलाओं से लाभ उठा सकती है और परंपरा के साथ आधुनिक काल को मिलाने वाली रेखाओं, आकृतियों और प्रवृत्तियों को प्रतिष्ठित कर सकती है । इसी के आधार पर समझा जा सकता है कि क्यों मेक्सिको की समकालीन कला का एक विशिष्ट व्यक्तित्व है जब कि साथ ही

उसमें प्राक्-कोलबी (माया, अज़्टेक, टारास्कन, टोल्टीकन आदि) कलाओं के प्रभाव भी पहचाने जा सकते हैं और स्थानीय तत्वों के साथ स्पानी बारोक शैली का सम्मिश्रण भी देखा जा सकता है (विशेष रूप से स्थापत्य में)। किंतु मेक्सिको की आधुनिक कला में केवल इतने ही मुख्य प्रभाव अलक्ष्य नहीं हैं। सन् १६२१ में कृषि और समाज के क्षेत्र में क्रांतिकारी संघर्ष के बाद जब मेक्सिको के कलाकारों को अपनी भावनाएँ प्रकट करने की स्वतंत्रता मिली तब उन्होंने उस स्वतंत्रता का उपयोग एक असाधारण रूप में किया। अर्थात् उन्होंने प्राचीन अमरीकी जन-जातियों की शैलियाँ पुनः ग्रहण कीं। किंतु ऐसा करते हुए उन्होंने अपने को केवल मिस्र, ग्रीस, माया और अज़्टेक परंपराओं की अनुकृति में बनाये गये भित्ति-चित्रों तक सीमित नहीं रखा बल्कि साथ-साथ सुदूर और अनतिदूर प्राचीन कालों की सभी विशेषताओं का नया मूल्यांकन भी आरंभ कर दिया।

और इस प्रकार हमने अपने कला-इतिहास के सच्चे मानदंडों का पुनः आविष्कार किया। हमने एक ऐसी वस्तु का आदर करना सीखा जिसे कि एक जर्जर और ह्रासोन्मुख अभिजात वर्ग हेय मानता आया था। हमने जनकला को पहिचाना जिसका कृतित्व बड़े विस्तीर्ण क्षेत्र पर छाया हुआ है। उसका विस्तार अज्ञातनामा शहीदों और चित्रों से लेकर खुले में बने हुए विशाल भित्ति-चित्रों तक है, वह छोटी-छोटी पानशालाओं तक को सुशोभित करती है और डिब्बों, कौट, लकड़ी और गत्ते के रंगीन खिलौनों, और मैक्सिकन जाति के दैनिक जीवन में आने वाली अनेक साधारण वस्तुओं की सजावट भी करती है।

हमारी समझ में मेक्सिकन जाति का दुनिया को सब से बड़ा उपहार यही है कि उसने जीवन के एक ऐसे क्षेत्र में अपने को पहचानने का यत्न किया है जिसमें कि किसी देश का जीवन और चिंतन सबसे अच्छी तरह व्यक्त हो सकता है। मेक्सिको दूसरा रास्ता भी ग्रहण कर सकता था—अपनी कला को विदेशी ढाँचे में ढाल देने का, लेकिन वह रास्ता उसने नहीं लिया। अपनी परंपरा और प्रकृति के प्रति निष्ठा रखते हुए मेक्सिको के कलाकारों ने संसार को उसी अद्वितीय मानवी-अभिव्यक्ति के नये रूप दिये हैं जिसका नाम कला है।

किंतु इस कला आंदोलन का एक और भी पहलू है जिसकी ओर ध्यान देना उसके अंतर्राष्ट्रीय महत्व को पहचानने के लिए आवश्यक है। मेक्सिको के कलाकार देशवासी जनता से दूर निलग जीवन नहीं बिताते। बल्कि इसके प्रतिकूल। साधारण रूप से कहा जा सकता है कि मेक्सिकन चित्र शैली की मानवीयता का एक मुख्य कारण यह भी है कि वह जनता के निकट रही है। और

उसी से अपनी अनेक कृतियों के विषय चुनती रही है जिसे उसने विशाल भित्ति-चित्रों, सबल आलिखनों और भव्य चित्रों में अभिव्यक्त किया है। इतनी मानवीय और इतनी सामाजिक हो कर मेक्सिकन कला बिना अपनी मौलिकता खोये संसार-व्यापी कला-प्रवृत्ति के साथ आ खड़ी होती है।

कला की राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियों के इस अवलोकन में इस बात का ब्यौरा देना आवश्यक नहीं है कि मेक्सिको की कला की विशिष्ट रूप-रेखा क्या है। यह प्रश्न विषय का नहीं है, यद्यपि यह कला मुख्यतः इस जाति के संघर्षों, सुख-दुःख और आकांक्षाओं का चित्रण करती रही है। यह प्रश्न आकारों और रंगों की योजना का प्रश्न हो जाता है। एक उल्लेखनीय बात यह है कि लातीनी अमरीका, कैनाडा, संयुक्त राज्य अमरीका और जापान के तथा कुछ यूरोप के कलाकारों का मेक्सिको के कलाकारों ने स्वागत किया है। इनमें से बहुत से मेक्सिको में बस गये हैं और मेक्सिकन चित्र-शैली के ही अंग माने जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि न केवल उन्हें दूर नहीं रखा गया बल्कि उनका हार्दिक स्वागत होता रहा है।

मेक्सिको के चित्रकारों, विशेषतया डीएगो रिवेरा, योज़े क्लैमेंट आसको और डेविड आल्फ़ा सिक्विएरोस ने अपने आरंभिक चित्र स्वदेश में बनाने के बाद विदेशों में सम्मान पाया। उन्हें संयुक्त राज्य अमरीका और दक्षिण अमरीका में अनेक चित्र लिखने का सुयोग मिला। इसीलिए हमारे कला-आंदोलन के इतिहास का विवेचन करते समय उन चित्रों का विचार आवश्यक हो जाता है जो हमारे चित्रकारों ने विदेशों में बनाये। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि जो कला निष्ठा-पूर्वक अपने विशिष्ट चरित्र की सशक्त अभिव्यक्ति करती है कालांतर में दूसरे देशों के कलाकारों अथवा साधारण जनता द्वारा अवश्य ग्राह्य होती है।

मेक्सिकन कला जिन आकारों, रंग-योजनाओं, संपुंजनों, लयों और समन्वयों पर आश्रित है वे सदियों की प्रक्रियाओं का परिणाम हैं। हमारी कला-प्रगति का महत्व इसी में है कि वह आरंभ से ही यह समझती रही कि किस प्रकार पुराने अनुभवों को नयी प्रवृत्ति के अनुकूल बनाते हुए ग्रहण करना चाहिए। मेक्सिकन कला एक गतानुगतिक यथार्थवाद और सूक्ष्म आकारवाद के बीच मध्यम मार्ग को अपनाती है। मानवीयता प्राप्त करने का—जो कि कला का एक प्रमुख उद्देश्य है—यह एकमात्र उपाय है। मेक्सिको के कलाकार यह भी नहीं भूलते कि दूसरे देशों के समकालीन कलाकार क्या कर रहे हैं। बल्कि उन्होंने दूसरे देशों में प्राप्त की गयी सिद्धियों को अपनाया है और उनके मूल्यों के परिबोध से अपनी संवेदना

को पुष्ट किया है। मेक्सिको की कला इस प्रकार विश्व व्यापी प्रवृत्ति से विलग नहीं है यद्यपि उसने अपनी विशिष्ट, गहन और मौलिक आत्मा का पुनरुद्घाटन किया है तथापि उसके साथ-साथ उसने सोद्देश्य, निष्ठापूर्ण और सगठित प्रयत्न द्वारा आज के ससार की कला के साथ पूर्ण समन्वय का सब से अच्छा रास्ता भी खोज लिया है।*

*सम्मिलित राष्ट्रों के शैक्षिक-सांस्कृतिक सग

विद्यानिवास मिश्र

रस-सिद्धांत और वेदांत

यहाँ जिस रस-सिद्धांत की चर्चा करनी है, वह भारतीय साहित्य-समीक्षा की परंपरा में सर्वाधिक समादृत और इसलिए लगभग सर्वमान्य उस रस-सिद्धांत की है जिसकी स्थापना अभिनवगुप्तपादाचार्य और मम्मट ने की है। रस-निष्पत्ति के संबंध में भट्ट लोल्लट, शंकुक और भट्टनायक आदि के मतों का आज एकमात्र उपयोग तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से रह गया है और दुर्भाग्यवश इनके मत आज केवल अनूदित रूप में हमें प्राप्त हैं। इनके मतों के सूक्ष्म पर्यालोकन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जिस प्रकार भारत के दार्शनिक चिंतन के विकास में न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग और पूर्वमीमांसा वेदांत के चरम उत्कर्ष तक पहुँचाने वाली सीढ़ियाँ हैं, ठीक उसी प्रकार भारतीय साहित्य शास्त्र के सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व रस के स्वरूप-परिज्ञान तक पहुँचाने के लिए उपर्युक्त विचारकों के मत भी सौकर्य-सोपान हैं। दूसरे शब्दों में इन मतों को समझे बिना प्रतिपाद्य रस-सिद्धांत को ग्रहण करना कठिन ही नहीं, अशक्य भी है। अतः अपने इस रस-सिद्धांत और वेदांत के अंतः संबंध की व्याख्या करने के पूर्व, संक्षेप में उपर्युक्त मतों के क्रमिक विकास का विश्लेषण करना असंगत न होगा।

भारतीय दर्शनों के तात्त्विक रूप से चार पक्ष हैं, पूर्वमीमांसा का विशुद्ध वस्तुवादी पक्ष, न्याय-वैशेषिक का आत्मविशिष्ट वस्तुवादी पक्ष, सांख्य-योग का वस्तुविशिष्ट आत्मवादी पक्ष और वेदांत का विशुद्ध आत्मवादी पक्ष। रस-सिद्धांत की चार प्रमुख विचारधाराओं के ऊपर क्रमशः इन्हीं चारों की छाप पड़ी है। जिस प्रकार मीमांसक के स्थूल प्रत्यक्ष के क्रमशः वेदांती के आत्म प्रत्यक्ष में परिणत होने पर सच्चिदानंद उसमें बंध जाने को विवश हो जाता है उसी प्रकार भट्ट लोल्लट का रस अनुकर्त्ता से क्रमशः संचरित होकर सामाजिक की अतींद्रिय स्वसंविदा में आकर बस जाने के लिए बाध्य हो जाता है।

अब क्रम से देखिए। भरत मुनि का सूत्र है "विभावानुभावव्यभिचार संयोगाद्रसनिष्पत्तिः" अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। कैसे और क्यों? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए मीमांसक भट्ट लोल्लट खड़े होते हैं—राम आदि का अनुकरण करने वाले नट में

वेषभूषा, वाचन और क्रिया के ठीक-ठीक अनुकरण के द्वारा विभावादि के सम्मिलन से रामादि का सीतादि विषयक इत्यादि स्थायी भाव रस के रूप में जनित होता है, अर्थात् सामाजिक को राम-सीता के नाटक के देखने से उनके प्रेम का शृंगाररस के रूप में जो रसबोध होता है, वह अपने में नहीं बल्कि उस प्रेम का सफलतापूर्वक अभिनय करने वाले नट में, और नट में रस की इस प्रकार उत्पत्ति का ज्ञान ही सहृदय सामाजिक के आनंदास्वाद का कारण बन जाता है। मीमांसक की दृष्टि में सारा जगत् कर्ममय है और इसीलिए उसकी दृष्टि कर्तृगत सुख-दुःख की ओर जाती ही नहीं।

मीमांसक के इसी छिद्र को लेकर नैयायिकों के प्रतिनिधि श्री शङ्कुक इस मत के निरसनपूर्व अपने मत की स्थापना करने के लिए खड़े होते हैं—

यदि सामाजिक में स्वयं रस नहीं उतरता और अनुकरण मात्र से नट में यदि रस उत्पन्न होने लगा, तब तो हम तो इस निष्प्रयोजन नाटक देखने से अलग हुए, भला कहीं नकली अभिनय मात्र से वास्तविक प्रेम आदि की उत्पत्ति कभी कल्पना की जा सकती है? तो वास्तविक स्थिति यह है कि राम आदि के अभिनय में वर्त्तमान नट में रामत्व की प्रतीति होती है। यह प्रतीति न तो सम्यक् प्रतीति कही जा सकती है क्योंकि सामाजिक जानता ही है कि नट राम नहीं है, और न मिथ्या प्रतीति कही जा सकती है क्योंकि सामाजिक को शुक्ति को देखकर जैसे रजत का भान होता है वैसा भान तो नट को देख कर राम का होता नहीं, और न संशय प्रतीति कही जा सकती है क्योंकि यह राम है *या यह नट है* इस प्रकार के संशय का भी यहाँ अवकाश नहीं है। और अततः न तो सादृश्य प्रतीति ही समझी जा सकती है, क्योंकि सादृश्य ज्ञान में उपमान की स्मृति का उद्बोधन होता है, यहाँ राम उपमान का प्रत्यक्ष ही नहीं है। स्मृति की तो बात ही दूर रही। अब इस प्रकार इनसे सबसे विलक्षण चित्रगत रूप की *प्रतीति* के द्वारा राम के रूप में नट, सामाजिक के मानस पटल पर गृहीत होता है और नट द्वारा अभिनयकौशलवश प्रकाशित रामादिगत विभाव, अनुभाव और सहचारी भाव सामाजिक के मन में मिथ्या होते हुए भी बिल्कुल सत्य से स्फुरित होते हैं। अपनी सहृदयता और काव्य-शिक्षा के बल पर सामाजिक इन विभावादि से उसमें अनुमित रस का अनुमान लगा लेते हैं और इस प्रकार की गयी रसानुमिति वस्तुसौंदर्य के कारण सामाजिक के आनंदास्वाद का कारण बन जाती है।

नैयायिकों की आँखों के ऊपर लिंगपरामर्शी अनुमान का मोटा चश्मा लगा रहता है। भला वे क्यों न सर्वांग और सर्वेन्द्रिय को प्रत्यक्षत अभिव्यक्त करने वाले

रस को अपने धूमबहुल अनुमान का विषय बनायें ! नैयायिक की दृष्टि केवल इतनी दूर तक पहुँची कि रस वस्तुगत नहीं है, अर्थात् रसबोध का अधिकरण नट नहीं प्रेक्षक स्वयं है, किंतु वह रस की अतींद्रिय सत्ता का स्पर्श भी नहीं कर सकी।

इसी अभाव को देखकर प्रकृति-पुरुष विवेक के द्वारा ईश्वर प्रणिधान करने वाले सांख्ययोगवादी श्री भट्ट नायक अपना मुक्तिपक्ष प्रतिपादन करने के लिए उठ खड़े होते हैं—"रसो यदा परगततया प्रतीयते तर्हि ताटस्थ्यमेव स्यात्। न च स्वगतत्वेन रामादिचरितमयात्काव्यादसौ प्रतीयते। स्वात्मगतत्वेन च प्रतीतौ स्वात्मनि रसस्योत्पत्तिरेवाभ्युपगता स्यात्। सा चायुक्ता सीतायाः। सामाजिकं प्रत्यविभावत्वात्। कांतत्वं साधारणं वासना विकासहेतु विभावतायां प्रयोजनमिति चेत्—देवतावर्णनादौ तदपिकथम्। न च स्वकांता स्मरणं मध्ये संवेद्यते। अलोकसामान्यानां च रामादीनां ये समुद्रसेतुबंधादयो विभावास्ते कथं साधारण्यं भजेयुः। न चोत्साहादिमान् एसः स्मर्यते, अननुभूतत्वात्। शब्दादपि तत्प्रतिपत्तौ न रसोपजनः। प्रत्यक्षादिव नायक मिथुनप्रतिपत्तौ। उत्पत्तिपक्षे च करुणस्योत्पादाद्दुःखित्वे करुण प्रेक्षासु पुनरप्रवृत्तिः स्यात्।"

अर्थात् रस यदि वस्तुगत के रूप में प्रतीत हो तो रसबोध में सर्वथा उदासीनता हो और यदि रस की प्रतीति आत्मगत हो तब तो सामाजिक के मन में जो रामादिगत सीतादिविषयक रति का शृंगारसक बोध होता है, वह सर्वथा अनुचित प्रतीति होगा क्योंकि सामाजिक की रति के आलंबन के रूप में सीतादि की कल्पना भी नहीं की जा सकती। यदि इसका समाधान इस प्रकार आप करें कि कांतासाधारण की रसप्रतीति-समानता सीतादि की विभावता को सामाजिक के साथ योजित करने में प्रेरक बन जाती है, तो यह ठीक नहीं क्योंकि कांतासाधारण की यह रस प्रतीति समानता केवल मनुष्यों तक ही सीमित हो सकती है और रस प्रतीति तो देव तिर्यक् सभी योनियों को आश्रय बना कर होती है। अब रस प्रतीति स्मृति के रूप में हो, इसका तो प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि स्मृति के लिए पूर्व अनुभव अपरिहार्य है, क्योंकि यहाँ सर्वदा संभाव्य नहीं हो सकता। जो लोग यह कहें कि जिस प्रकार अंधकार स्थित घट को प्रदीप ज्ञापित कराता है, उसी प्रकार अंतश्छल इत्यादि को विभावादि प्रत्यक्ष ज्ञापित करता है और यही ज्ञापन रस है, वे भूल जाते हैं कि राम सीता की प्रेमी-प्रेमिका के रूप में प्रतीति एकदम प्रत्यक्ष रहती है, उसके अज्ञात या तिरोहित होने की कोई संभावना ही नहीं हो सकती। इस प्रकार अनुमान या स्मृति के रूप में रस की प्रतीति सर्वथा निरस्त हो गयी। उत्पत्ति पक्ष तो और

भी अधिक दुर्बल है। रस की उत्पत्ति मानने पर तो करुण रस से जो करुण का परिस्फुरण होता है, वह दुःखरूप हो जाय और लोग करुणांत नाटक देखने कभी जायें ही न क्योंकि अंततोगत्वा करुणगत शोक ही तो उत्पन्न कहा जायेगा। अतः रस की प्रतीति को ठीक-ठीक समझने के लिए आवश्यक है कि हम तीन विभिन्न व्यापारों को समझें। शब्दगत अभिधा व्यापार, रसादिगत भावकत्व व्यापार और सहृदय सामाजिकगत भोग व्यापार। जब अभिधा व्यापार शब्दों के अर्थ का ठीक-ठीक बोध कराने में पर्यवसित हो जाता है, तब भावकत्व व्यापार द्वारा काव्यगत विभावादि का साधारणीकरण होता है और साधारणीकरण के अनंतर रस सहृदय के भोग व्यापार द्वारा ऐसे आस्वाद का विषय बन जाता है जिसमें रजोगुण और तमोगुण से बिल्कुल विशुद्ध होकर एकमात्र सत्त्व का उद्रेक हो जाता है।

संक्षेप में सांख्यपक्ष के अनुसार रस में स्वयं भोग व्यापार नहीं होता है और उसकी स्थिति सतोगुण के अव्यवहित प्रकाश से ऊपर नहीं जाती, या दूसरे शब्दों में रस ऐसी अलौकिकता की भूमि में पहुँच जाता है, जो लोकबुद्धि वाले सामान्य सहृदय जनों के लिए अलभ्य है।

सांख्य दर्शन है भी ज्ञान और योग का दर्शन। वेदांत सांख्य की समस्त सच्चिदात्मिका भूमिका को लेकर आनंद का प्रतिष्ठापन करता है, वेदांत "रसो वै सः", "तदेजति तन्नैजति" का समन्वय है, वह सांख्य की भाँति जडात्मा नहीं है। इसीलिए वेदांत का परब्रह्म न तो शुष्क तर्कविवाद का विषय बन कर रह जाता है और न कर्म की स्थूलता का स्वरूप बन कर विधिनिषेध की जंजीरों में बंदी ही बनकर अपने को समाप्त कर देता है, वह योगियों की गहरी समाधि की कंदरा में छिपा भी नहीं रह सकता, प्रत्युत् आचार्य शंकर के शब्दों में—

> यद्यपि गगन शून्य तथापि जलदामृतांशुरूपेण
> चातकचकोरनाम्नोर्दृढभावात्पूरयत्याशाम्।
> तद्वद्व्रजतां पुंसां दृङ्वाङ्मनसामगोचरोऽपि हरिः
> कृपया फलत्यकस्मादनिकामृत वर्षेण ॥"
>
> (प्रबोधसुधाकर)

यद्यपि गगन स्वयं शून्य है, तथापि जलद और सुधांशु के रूप में वह चातक और चकोर की दृढ भावना से आर्द्र होकर अमृत वर्षा भी करने ही लगता है। उसी प्रकार दृङ्वाङ्मनसामगोचर होने पर भी परब्रह्म कृपावश भक्तों को रूपमाधुरी की सुधा वर्षा से तृप्त करते ही हैं और यहीं तक नहीं, वह तो

दुलार से बावले आँगन की धूलि से धूसरित होने के लिए लोक प्रांगण में नाचने के लिए भी उतर आते हैं। यही कारण है समस्त दर्शनों में सर्वाधिक लोक भावना को मोह लेने वाला दर्शन वेदांत ही हो सका और समस्त भारत के उच्चतम साहित्य की मूल प्रेरणा के रूप में उसका एकच्छत्र राज्य अभी तक बना हुआ है।

वेदांत के साथ एकस्वर होकर आचार्य अभिनवगुप्त ने इस प्रकार मतस्थापन किया है—विभावादि से जिस समय रस प्रतीति होती है, उस समय विभावादि किसके हैं, इस ज्ञान का अवसर ही नहीं रह जाता और यद्यपि रसप्रतीति एक निश्चित ज्ञाता में होती है, तथापि अपनी सर्वाभिव्यापी प्रकृति के कारण व्यक्ति की सीमाओं को विगलित करती हुई और समस्त अन्य अनुभूतियों के संपर्क को छोड़कर परानंद लोक में पहुंचाती हुई सकल सहृदयों को भी समान रूप से आप्यायित करने लगती है। रस की प्रतीति हृदय में अंतर्हित इत्यादि स्थायी भाव की अभिव्यक्ति के रूप में होती है और रसप्रतीति में विभावादि का विश्लेषण भी ठीक उसी प्रकार नहीं किया जा सकता जिस प्रकार इलायची, मिर्च, खांड, बादाम आदि भिन्न-भिन्न स्वाद वाले पदार्थों के एकत्र मिलाने से जो स्वाद उत्पन्न होता है, वह इन सब के अलग-अलग स्वाद से विलक्षण होता है। वह रस कार्यरूप तो है नहीं क्योंकि विभावादि कारणों के नष्ट हो जाने पर भी उसकी उत्पत्ति हो सकती है और न वह रस घटप्रदीपन्याय के अनुसार ज्ञाप्य है क्योंकि ज्ञाप्य पदार्थ तो सिद्ध होता है और यह रस तो सिद्ध नहीं, आस्वादनस्वरूप होने के कारण साध्य है। इस प्रकार यह रस सर्वथा अनिर्वचनीय ही है।

इस पक्ष में ध्यान देने योग्य बात यह है कि साधारणीकरण और आस्वादन दोनों व्यापार रसगत माने गये हैं, सांख्य की भाँति अलग-अलग रसगत और सहृदयगत नहीं। यहां रस सच्चिदानंद से अभिन्न है। वह न तो केवल आत्मरूप है और न केवल वस्तुरूप ही।

इस प्रकार रस की अभिव्यक्ति का यह पक्ष परमानंद की चरम कोटि तक एक ओर हमें ले तो जाता है पर लोकपक्ष को छोड़कर नहीं। यही कारण है कि यही पक्ष साहित्य में सर्वाधिक मान्य बन गया है।

विष्णु प्रभाकर

दफ़्तर का एक दिन

चपरासी चला गया तब कहीं कांत बाहर आया। ऊपर जाकर कपड़े पहिने, फिर दूध पिया। नौ बज चुके थे, उसे दफ्तर की शीघ्रता थी। घर में ताला लगा कर उसने दफ्तर की राह ली। वहाँ तब तक बहुत से बाबू आ गये थे। वार्षिक पड़ताल के दिन थे। इसीलिए सब ओर हलचल थी। बड़े बाबू ने उसे देखा तो पुकार लिया, "कांत बाबू। इधर आना।"

"जी।"

वे मुस्कराये, "अरे भई! अकेले होकर भी इतनी देर कर देते हो?"

कांत भी मुस्कराया, "जी तभी तो सब काम करना पड़ता है।"

"तो विवाह कर डालो।"

कांत और भी मुस्कराया, "जी सोचता तो हूँ।"

तभी छोटे बाबू ने पुकारा, "बाबू निशिकांत। स्टाफ का फाइल भेजो।"

जवाब दिया बड़े बाबू ने, "अरे भई आकर दफ्तरी से ले लो।"

और कांत से कहा, "बैठो भाई। तुमसे एक बात कहनी है।"

कांत को बड़ा अचरज हुआ। बड़े बाबू दफ्तर में और फिर जाँच के दिनों में ऐसी बातें बहुत कम करते थे। वह चुपचाप उनके पास बैठ गया। बड़े बाबू ने मेज पर झुक कर धीरे से कहा, "मिनिस्टर सा'ब का जवाब आ गया है।" सुन कर कांत को सहसा हँसी आने लगी। वह सब कुछ जानता था फिर भी उसने कहा, "जी क्या?"

"उसमें तुम्हारा जिक्र ही नहीं है।"

"तो इसका मतलब है मैं यहीं रहूँगा।"

"और क्या। भई बड़े दुष्ट हैं ये लोग। वह तो मैं बैठा हूँ। कोई और होता तो ..."

"जी हाँ। कोई और होता तो शायद निश्चित, भई, से। बदली तो अवश्य होती।"

"वह तो हो ही जाती। पर तुम जानते हो यह क्यों हुआ?"

"क्यों?"

"बड़े साहब स्वयं मंत्री से मिले थे। मंत्री उनसे बहुत प्रसन्न हैं। वैसे तो भाई उनका राज्य है। अपना प्रभुत्व सभी जमाते हैं। बनिये, ब्राह्मण, जैनी सभी यही करते रहे हैं। फिर भी जाटों में एक बात है—पुराने आदमियों को ये लोग नहीं छेड़ेंगे। यह हमारी सबसे बड़ी विजय है।"

"जी हाँ, सो तो है।"

और कह कर बड़े बाबू शीघ्रता से ड्राफ़्ट लिखने लगे। कांत कई क्षण बैठा रहा, परन्तु जब उठकर अपने कमरे की ओर चल पड़ा तो बड़े बाबू ने फिर पुकार लिया, "ठहरो।"

"जी।"

"भई वह बटाई-काश्त वाला फ़ाइल नहीं मिल रहा है। देखना मेरे फ़ाइलों में तो नहीं है। और ढूँढ़ते वक्त कुछ और आवश्यक केस मिले तो बता देना। इतना काम है कि बस..."

अब कांत का अंतर्मन क्रोध से काँप उठा। बड़े बाबू सदा इसी तरह तंग करते रहते हैं। कभी नियम से काम नहीं करते। जब नहीं होता तो क्यों सबका भार सँभालते हैं। कायर हैं, काम लेना नहीं जानते। जो काम करता है उसी को दबाते हैं, आदि आदि...लेकिन यह क्रोध उसकी रक्षा नहीं कर सका। वह चुपचाप उनके फ़ाइल देखने लगा। बटाई का केस उसी में था। उसे निकाल कर बड़े बाबू के आगे रखा। देख कर वे बोले, "ओ यह यहाँ था। मैं जानता था तभी तो तुम्हें कहा था। अब भाई इस केस का सारा पत्र-व्यवहार अंकित कर दो..."

तभी वेतन बाबू ने आकर कहा, "कांत बाबू! ऑडीटर आपको बुलाते हैं।"

"क्यों?"

"कर्मचारियों की नियुक्ति की मंज़ूरी देखना चाहते हैं।"

"वह तो तुम दिखा सकते हो।"

"मुझे कुछ पता नहीं?"

"कैसे पता नहीं, तालिका लो और ढूँढो।"

वेतन बाबू ने ध्यान नहीं दिया और मुड़ चला। कांत को क्रोध आ गया। ने कहा, "मैं नहीं आऊँगा। मैं चपरासी नहीं हूँ। मैं केवल फ़ाइल भिजवा ता हूँ।"

वह मुड़ा तो छोटे बाबू आये, "अरे भाई कांत। रिसर्च आफ़िसर की स्कीम तो समझाना।"

"मैं समझाऊँ ?"

छोटे बाबू विनम्र थे, बोले, "अरे भई। क्रोध क्यों करते हो। तुम्हें सब पता है। ऑडीटर कुछ प्रश्न पूछते हैं।"

वे गये। स्टार बाबू ने आकर धीरे से कहा, "कांत बाबू। भई, दया करके क्रय विक्रय के फाइल तो निकलवा दो।"

"अभी लो।"

"और सरकार की स्वीकृति के पत्र भी।"

"सब तैयार हैं।"

"धन्यवाद कांत। धन्यवाद। तुम बहुत अच्छे हो।"

कांत मुस्कराया। चपरासी ने शीघ्रता से आकर कहा, "बड़े साहब सलाम देते हैं।"

"मुझे ?"

"जी हाँ।"

"क्यों ?"

"मेम साहब आयी हैं।"

कांत तुरत अंदर चला गया। साहब मेम साहब से बातें कर रहे थे। उसने हाथ जोड़ कर नमस्ते की। मेम साब बोली, "अच्छे हो, कांत बाबू ?"

"आपकी कृपा है" उसने गद्गद होकर कहा।

साहब बोले, "हाँ, जरा बैंक चले जाओ। मेम साब का ड्राफ्ट है। पाँच हज़ार रुपया लाना है, तुम्हारे नाम लिखे देता हूँ।"

"जी लिख दीजिये।"

साहब हँस कर बोले, "भाग तो नहीं जाओगे ?"

कांत मुस्कराया, "नहीं सा'ब। और वैसे यह रुपये की जाति पर निर्भर है।"

मेम साहब हँस पड़ीं—साब ने कांत के नाम प्रमाण-पत्र लिख दिया। वह मुड़ा। मेम साहब फिर बोलीं, "देखो कांत बाबू। रास्ते में जनरल स्टोर्स की बड़ी दुकान है। उनसे पूछते आना जिन आयी या नहीं ?"

"और ह्विस्की भी ?" साहब ने कहा, "आ गयी हो तो लेते आना।"

कांत ने आकर सब बातें बड़े बाबू से कहीं। वे बोले, "जाना ही पड़ेगा।"

तब बारह बज रहे थे। वह अपनी मेज़ पर नहीं जा सका था। सारी डाक उसी तरह पड़ी थी। उसने माथा ठोंक लिया, आज रात को देर तक बैठना पड़ेगा।

और तभी पोस्टमैन ने आकर उसे दो पत्रिकायें और एक कार्ड दिया।

शीघ्रता से उसने कार्ड पढ़ा; लिखा था—"मैं कहीं नहीं जा रही, वहीं लौटूँगी।"—कमला।

बस ये ही शब्द थे। न संबोधन था, न अंतिम शब्द। कांत ने कई बार कार्ड को उलट-पलट कर देखा। गाँव के डाकघर में वह २८ जुलाई को डाला गया था और २९ की उसके नगर की मोहर थी। सब कुछ देख चुका तो मन में उठा—कमला एक जटिल पहेली बनती जा रही है। कोई नहीं जानता वर्षा ऋतु के रहस्यमय आकाश की भांति उसकी कब क्या अवस्था हो सकती है। मनुष्य के लिए क्या यह अवस्था ठीक है, विशेषकर नारी के लिए.....। तभी उसे ध्यान आया—नारी स्वयं रहस्यमयी है। वह जानता था इस बार कमला का यहाँ आना आसान नहीं है। वातावरण विक्षुब्ध है। वह समाज के लिए दुराचारिणी है। ऐसी अवस्था में क्या वह यहाँ आकर समाज के सामने खड़ी हो सकेगी या एक क्षुद्रातिक्षुद्र तिनके के समान महासागर के प्रवाह में बह जावेगी।

कांत विद्रोह से भरने लगा—मनुष्य की वास्तविकता का रहस्य इसी प्रकार के वातावरण में खुलता है। उसकी शक्ति, उसका सत्य, कितने गहरे हैं; यह वह यहीं तो जान सकता है। तब कमला आकर इस वितंडावाद का सामना करती है तो उसका साहस ठीक ही है।

सोच कर अनायास ही उसका मन प्रसन्न हो उठा। तभी देखा—सामने बैंक का विशाल भवन है। विचारों का तार टूट गया। पत्र एक बार फिर पढ़ा—'मैं कहीं नहीं जा रही, वहीं लौटूँगी'—कमला। ठीक उसे लौटना ही चाहिये।—वह शीघ्रता से अंदर चला गया और जब एक घंटा बाद वह फिर उस रास्ते से लौटा तो उसकी जेब में पाँच हज़ार के नोट पड़े हुए थे और उसकी बग़ल में ह्विस्की की दो बोतलें थीं। तब सहसा मस्तिष्क में उठा—क्यों न कमला को लेकर कहीं भाग चलूँ। कहीं जहाँ न जनता हो, न अपवाद, और न रहस्य। लेकिन दूसरा क्षण आया वह ग्लानि से भर उठा—कायर संसार से भाग जाना चाहता है। तुझसे तो कमला, जो असहाया है, कितनी शक्तिशाली है। वह निडर और निर्भीक बन कर फिर कर्मभूमि में लौट रही है और तू सशक्त होकर भी डरता है!

उसने स्वयं तर्क किया—लेकिन मैं भी तो कमला के लिए भाग जाना चाहता हूँ।

"यानी आप उसे मुसीबत में डालना चाहते हैं।"

वह सहसा काँप उठा। उसने तीव्रता से अपनी गरदन को झटका दिया

और शीघ्रता से दफ्तर की ओर बढ़ चला। एक मित्र उधर ही आ रहे थे, बोले "अरे कांत! इस समय किधर?"

"देख नहीं रहे।" कह कर कांत ने बगल की बोतल को हिलाया। मित्र मुस्कराये, "तो ये रंग हैं।"

"इसमें हानि क्या है। यह भी सोम रस है। सहस्रों वर्षों की घोर तपस्या के बाद देवताओं ने इसका आविष्कार किया था। इसके लिए देवता मनुष्य का दास बनता है।"

मित्र रसिक थे, बोले, "और आज देवता व मनुष्य दोनों इसके दास बने हैं।"

"यह तो स्वाभाविक है" कांत ने कहा, "जिसे तुम प्रेम करते हो उसकी दासता स्वीकार करने में ही जीवन का कल्याण है।"

मित्र ने पूछा, "दासता क्या बहुत अच्छी चीज है?"

उत्तर में कांत ने पूछा, "किसी का हो जाना क्या अच्छा है?"

"किसी का होना और दासता क्या एक बात है?"

"निस्सदेह, मनुष्य भगवान का होना चाहता है। वह व्यापार को अपना बना लेना चाहता है। क्या यह दासता नहीं है।"

"ये तो है।"

"है तो फिर सोम-रस की दासता क्या बुरी है। यह धरती पर स्वर्ग सुख का निर्माण करती है।"

कह कर उसने मित्र को देखा, फिर हँस पड़ा। तो क्या ख्याल है घर चल कर सोम रस पान किया जाये। विश्वास रखिये जेब में पूरे पाँच हजार हैं।" मित्र कुछ सकपकाये। बोले, "अर्थात् स्वर्ग जाने का पूरा प्रबंध है।"

"बाद में कहाँ जाना होगा पुरुष इस बात की चिंता नहीं करते।"

मित्र ने धीरे से कहा, "कांत! आज तुम्हें अवश्य कोई शुभ-समाचार मिला है तभी तुम्हारा आनंद बढ़ा-बढ़ा पड़ता है।"

कांत सहसा कांपा—"सच!"

"और नहीं तो।"

"जान नहीं पड़ा। शायद कोई मिलने वाला हो। कहते हैं आने वाली घटनाओं का साया पहिले ही पड़ जाता है।"

कह कर वह हँसा। उसने बोतलों को खनखनाया, बोला "अच्छा मित्र! मेरा स्वर्ग तो आ गया है। मैं चला।"

कांत दफ़्तर की ओर मुड़ा और मित्र नगर की ओर। मेम साहब उसकी राह देख रही थीं। ऊपर से पुकारा, "मि० कांत ! ले आये !"

"जी।"

और उसने ह्विस्की की बोतलें मेज़ पर रख दीं। फिर नोट निकाल कर गिने। गिन चुका तो मेमसाहब को दे दिये। मेमसाब कृतज्ञ होकर बोलीं, "धन्यवाद, कांत" फिर उन्होंने पुकारा, "गंगाराम ! प्रसाद ले आओ।"

"प्रसाद ?"

"आज मंगल है न ?"

गंगाराम एक प्लेट में दस लड्डू ले आया था। उन्हें अपने रूमाल में बाँधता-बाँधता कांत सोचने लगा, ह्विस्की के पेग और मंगल के प्रसाद में ज्यामिति का कौन सा नियम एकता स्थापित करता है ?

तभी मन में उठा—भय। भय से भागने के लिए मनुष्य आनंद की खोज करता है और भय ही उसे भगवान की शरण में ले जाता है।

वह अपने विभाग में प्रवेश कर चुका था और अनायास ही एक लड्डू खाने लगा था। परंतु उसके सामने खड़े हुए नाटे एकाउंटेंट क्रोध से तमतमा रहे थे। तेज़ी से पूछा, "तुम कहाँ गये थे ?"

"लड्डू खाने गया था। आप भी खाइये।"

"कांत बाबू यह दफ्तर है।"

"जी, मैं इसे दफ्तर समझता हूँ।"

"आपको अपने स्थान पर रहना चाहिये। आप सरकारी नौकर हैं।"

कांत उसी तरह मुस्करा रहा था, बोला, "सरकारी नौकरी लड्डू खाने से मना नहीं करती।"

नाटे बाबू तमतमा उठे, "मि० कांत ! होश से बातें करिये।"

कांत ने कहा, "आप तो व्यर्थ में नाराज़ हो रहे हैं। लीजिये पहिले लड्डू खाइये।"

"शट अप......"

बात इतनी तेजी से कही गयी थी कि बड़े बाबू और फिर सब लोग धीरे-धीरे वहाँ आ गये। बड़े बाबू ने पूछा, "क्या बात है कांत ?"

कांत अब भी हँस रहा था, बोला, "जी मैं इनको लड्डू खिला रहा हूँ और ये कहते हैं सरकारी नौकर लड्डू नहीं खा सकता।"

उन लोगों ने बरबस अपनी हँसी रोकी। बड़े बाबू ने पूछा, "लड्डू कहाँ से लाये हो ?"

कांत ने जवाब दिया, "मेम साहब ने मंगल का प्रसाद बाँटा है वहीं से लाया हूँ।"

"ओ तो आप बड़े साब के कमरे में गये थे!"

"जी हाँ और बैंक भी।"

नाटे एकाउंटेंट ने क्रुद्ध आँखों से कांत को देखा, "तो तुमने मुझे बताया क्यों नहीं?"

"बता रहा था श्रीमान पर आप तो आगे सुने बिना क्रुद्ध हो गये।"

"आपको पहिले यह कहना था आप साहब के काम गये थे।"

"उंहू," कांत गंभीरता से मुस्कराया, "उस समय मैं लड्डू खा रहा था और तब यही पहिला काम था।"

इतना कह कर वह अपने स्थान की ओर बढ़ गया। नाटे बाबू ने सहसा मुड़कर तेजी से कहा, "अरे अरे। लड्डू कहाँ ले चले?"

"सरकारी नौकर लड्डू नहीं खा सकते?"

"ऐसी की तैसी में गये सरकारी नौकर। इधर ला।"

और फिर रूमाल उसके हाथ में से लेकर उन्होंने सबसे पहिले एक लड्डू स्वयं खाया, और फिर नाटे बाबू की ओर मुड़े, "खाइये।"

नाटे बाबू हँस पड़े। कांत ने ताली पीटी, "हियर हियर।"

फिर उनके पास आकर कहा, "आओ दोस्त! अब बताओ मुझे क्या करना होगा। घर पर कोई नहीं है। रात भर बैठ सकता हूँ। इतना क्रोध न किया करो। साली नौकरी हमारी मालिका थोड़े ही है।"

एकाउंटेंट ने प्रसन्न और लज्जित होकर कहा, "क्या बताऊँ कांत। इस नौकरी ने तंग कर दिया है मनुष्यता तो छोड़ी ही नहीं।"

कांत बोला, "सच कहते हो, जी मैं उठता है इसे आज लात मार दूँ।"

"लात तो मैं भी मार दूँ पर उसके बाद?"

कांत ने धीरे से कहा, "क्या आपको अपने ऊपर इतना भी विश्वास नहीं है, और अगर कुछ नहीं भी बनता है तो क्या दुनिया नष्ट हो जावेगी?"

"मैं तो हो जाऊँगा"—एकाउंटेंट ने कहा।

कांत मुस्कराया, "पर भाई साहब, आपके नष्ट होने पर दुनिया का क्या बिगड़ेगा! मनुष्य तो इसी तरह जिंदा रहेगा। आपके साहस से उसे लाभ ही मिलेगा।"

एकाउंटेंट दफ्तर का प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति था पर जीवन में वह दूसरों से भिन्न नहीं था। वह कांत की बात नहीं समझ सका। उसने कहा, "दुनिया मुझसे

है। मैं मर गया तो मुझे दुनिया से क्या। मुझे पहिले अपने लिए सुख चाहिये। अपने जीने के लिए साधन चाहिये।"

हाय रे! अज्ञान कितना गहरा है—कांत ने सोचा और वह चुपचाप काम में लग गया। उसके सामने बहुत से फ़ाइल पड़े थे और डाक का ढेर लगा हुआ था। उसने उन्हें छाँटा, फिर सदा की भाँति टिप्पणी लिखने लगा। धीरे-धीरे वह तन्मय हो उठा। इतना कि उसे समय का ज्ञान भी न रहा। जब उसे होश आया तो देखा—सामने वेतन बाबू खड़े थे। वे कह रहे थे, "कांत! क्या घर नहीं चलोगे। सात बज चुके हैं।"

"सात!"—कांत ने चकित होकर दृष्टि उठायी। घड़ी में सात बजे थे।

वह उठा, अँगड़ाई ली, बड़े बाबू अभी बैठे थे और एकाउंटेंट भी। उसने अपने कागज़ सँभाले और दफ़्तरी को पुकारा—"रामसिंह। कमरा बंद करो।" मैं जा रहा हूँ।"

एकाउटेंट ने कहा "मैं भी चलता हूँ, ठहरो।"

बड़े बाबू बोले, "और मैं भी चलता हूँ। काम क्या समाप्त हो सकता है?"

"जी हाँ! वह समाप्त हो जाये तो फिर हमारी क्या आवश्यकता है?"

"कहते तो तुम ठीक हो। व्यर्थ ही हमें इतना मोह है।"

एकाउटेंट ने कहा, "बिल्कुल व्यर्थ है। एक दिन चले जायेंगे। कोई पूछेगा भी नहीं। कांत ठीक कहा करता है, हम अपने को यूँही इतना महत्व देते हैं।"

बड़े बाबू दराज़ को ताला लगा रहे थे, बोले, "यह हमारी कमज़ोरी है और कमज़ोरी कानखजूरे की तरह होती है। पैर गड़ा देती है तो उतारती नहीं।"

यह ज्ञान सत्य था पर सत्य को पी जाने की शक्ति उनमें नहीं थी। उनका सत्य थकान की भित्ति पर पनपता था इसीलिए कच्ची दार्शनिकता की तरह सवेरा होते-होते ढह जाता था।

रघुवीर सहाय

दो कविताएँ

१. गीत

प्राण मत गाओ प्रयाण के गान,
पथ लगता अधिक सुनसान,
तेरे गीत गाने से।

तुम चलो चुपचाप हो कर
ताकि खा जाओ न ठोकर
और आँखों को गड़ा दो क्षितिज के भी पार।
क्योंकि बसता है क्षितिज के पार भी संसार।
अ. न मोहित कर कनखियों से मुझे
अब शांत,
सुनने दे चरण की चाप,
पथ घटता स्वयं है आप,
मन पर जीत जाने से।

दृष्टि जाती है जहाँ तक
राह जाती है वहाँ तक
और इतना तो मुझे अनुमान ही से ज्ञात।
राह मेरी और भी है दृष्टि के पश्चात्।
अ न छाया कर दुपट्टे से मुझे
अब यह
नहीं अवसर, करूँ विश्राम,
कम होगा नहीं यह घाम,
तेरी प्रीत पाने से।

२. संतोष

एक दिन की बात है साइत मुहूर्त विचार,
मैं चला घर से अकेला, राह थी सुनसान,
कुँह अँधेरे का समय था, पंचमी की रात,

जम गयी थी रेत में दिन की, नया आकाश
रख रहा था रात के अपने तहा कर वस्त्र।

❀ ❀ ❀

सिर झुकाये चल रहा था मैं बहुत चुपचाप,
ध्यान से था सोचता कुछ निष्प्रयोजन बात,
और आगे को लपकती जा रही थी राह,
व्यर्थ ही मेरे डगों से ले रही थी होड़।
देर तक चलता गया मैं जेब में दे हाथ,
जब अचानक रात धुँधली हो उठी कुछ गर्म,
भूमि से उठने लगी ठँडे गगन की छाँव,
माघ की सूखी हुई पछुआ हवा के साथ,
जाग आये सब तरफ़ से कुछ दबे से शब्द,
चहक चिड़ियों की, मजूरों की फूहड़ पद-चाप,
घर दिवालें और गलियाँ हों उठीं स्पष्ट,
स्वप्न जैसे हो रहा हो दूर पर साकार
सामने ही दिख पड़ा लंबी सड़क का मोड़,
इस तरह जैसे किसी ने कुछ दिया हो तोड़।

❀ ❀ ❀

रस्ता इस ओर घूमेगा न था अनुमान,
अति अधिक यद्यपि मुझे थी पर्यटन की चाह,
मैं समझता था कि सीधी जायगी यह राह।

❀ ❀ ❀

शुभ घड़ी वह, समय सुखमय, हो गया सब व्यर्थ,
इस तनिक सी बात से मैं हो गया असमर्थ,
रह गया निश्चित वहीं पर था जहाँ परदेश,
और मैंने सिर उठाया, और होकर खिन्न
लौट आया घर तुरत, तब खिल चुकी थी धूप,
खूब जगमग हो उठा था वस्तुओं का रूप,
घर सुपरिचित था खड़ा अपना सड़क के तीर,
बैठ कर छत पर गुलाबी धूप में चुपचाप,
यों किया संतोष मैंने; यात्रा बेकार
हो गयी, तो क्या, हुई काफ़ी सुबह की सैर।

'सलाम' मछलीशहरी

१. मैंने आखिर तुम्हें बतला ही दिया

लखनऊ की वो हसीं शाम कि जब—
दस्ते सीमीं में चमेली की बहारें लेकर
आसमानों से कोई हूर उतर आयी थी
छेड़ करती हुई मौजों में कंवल की रानी
वक्त से पहले ही कुछ और निखर आयी थी
उफ़ वो नज़्ज़ार ए ताऊस खराम
हाय वो हुस्ने मुश्कफ़ाम कि जब
लखनऊ की वो हसीं शाम कि जब—

थरथरा उट्ठे मेरे साज़ के तार—
मैंने ये सोच लिया था कि फिर एक बार सही
साज़ को छेड़ के देखूं तो सदा कैसी है
गीत गाऊँ तुम्हें चाहूं तुम्हें बतलाये बग़ैर
देखूं अबके चमने दिल की फ़िज़ा कैसी है
जल्दी-जल्दी मेरा दिल सजने लगा
हौले-हौले से चली आयी बहार
थरथरा उट्ठे मेरे साज़ के तार।

मैंने आखिर तुम्हें बतला ही दिया
सोचता था के ये जो राज़ है मेरे दिल में
मैं हमेशा इसे खुद तुमसे छिपा रक्खूँगा
और वैसे भी ये धड़कन जो किसी ने सुन ली
सीनए शौक़ में एक नामा-सा क्या रक्खूँगा
तुम कुछ इस तरह सँवर कर आये
आईना मैंने भी दिखला ही दिया
मैंने आखिर तुम्हें बतला ही दिया।

२. मैं अकेला रह न जाऊँ !

मैं अकेला रह न जाऊँ !
ऐ शगूफ़ो
ऐ सोहाने चाँद तारो देखना
राह जो मैंने चुनी है अपनी मंज़िल के लिए
वो हमारे साथियो से मुख्तलिफ़ है
एक दिन ऐसा न आये
मुझको इस रस्ते पर चल कर खुद ही पछताना पड़े
ये लतायें, ये घटायें, ये फ़िजायें जिनको मैं
अपना रस्ता जानता हूँ
ये नज़ारे जिनका दामन मैंने थामा है वही
मेरी तनहाई पे हँस कर मुझको बेबस छोड़ दें
मैं अकेला रह न जाऊँ
ऐ शगूफ़ो
ऐ सोहाने चाँद तारो देखना
मैं अकेला रह न जाऊँ !

कारवाने वक्त कहता है सहारा छोड़ दो
इन नज़ारों में न उलझो
साहेराने मग़रबी की शोब्दा बाज़ी है यह
ये शगूफ़े खारज़ारे ज़िदगी की लाश हैं
जिस्मे-आलम पर ये सारे फूल जलते कोढ़ हैं
एक तूफ़ाँ आ रहा है
यह तुम्हारी अपनी मरज़ी
या तो साहिल पर मरो या अब किनारा छोड़ दो
हम तो अब भी यह कहेंगे
इन शगूफ़ो इन सितारों का सहारा छोड़ दो।

दिल ये कहता है कि मेरा रास्ता ही ठीक है
आँख कहती है कि आगे इन बबूलों को भी देख

'सलाम' मछलीशहरी

इनके पजों में फँसी है इक सुनहरी ज़िंदगी
ज़हन कहता है कि साथी यह तेरा रास्ता नहीं
मैं अकेला रह न जाऊँ।
ऐ हिमालय के मुक़द्दस देवताओ साथ दो
ऐ जमन की पाक लहरो एक दिन ऐसा न आये
जब मेरे साथी मुझे गद्दार कह कर छोड़ दें

ऐ शगूफ़ो
ऐ सोहाने चाँद तारो देखना
मैंने पाकीज़ा इरादों का सहारा ले लिया है
मुझको शरमिंदा न करना साथियों के सामने
ये घड़ी आने से पहले तुम मुझी को लूट लेना
तुम मेरे *नौरस तख़य्युल का गला ही घोंट देना*
मैं नयी दुनिया में अपने साथियों के सामने
अपना सर ऊँचा ही रखना चाहता हूँ देखना
ऐ शगूफ़ो
ऐ नये हिंदोस्ताँ के चाँद तारो रहम करना
मैं अकेला रह न जाऊँ।

कारवाने वक़्त से कुछ दूर हूँ मैं जानता हूँ
फिर भी हुस्ने मलकूये गीती के जलवो साथ देना
कारवाने वक़्त की रफ़्तार बिजली बन गयी है
मैं अकेला रह न जाऊँ।

मोतीचन्द्र

भारतीय पुरातत्त्व का विकास और उसकी समस्याएँ*

४. आगे का कार्यक्रम और समस्याएँ

गत अंश में हमने यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि वैज्ञानिक पुरातत्त्व का अभिप्राय क्या है और आज तक पुरातत्त्व विभाग न इस दिशा में कौन-कौन से काम किये हैं। इस खंड में हम यह बतलाने का प्रयत्न करेंगे कि अभी हमें और क्या-क्या करना है और वास्तव में हमारी पुरातत्त्व संबंधी कौन-कौन-सी समस्याएँ हैं और वे कैसे हल हो सकती हैं।

अभी भारतीय पुरातत्त्व के क्षेत्र में जो कुछ भी हुआ है उसका प्रधान लक्ष्य था ऐसी वस्तुओं की जैसे मूर्तियाँ, गहने, सिक्कों इत्यादि की खोज जिनके मिलने से जनता और सरकार का ध्यान विशेष रूप से पुरातत्त्व विभाग की ओर आकृष्ट हो सके। इस कथन में सिंधु सभ्यता की खोज ही एक अपवाद स्वरूप है क्योंकि मोहेन जोदड़ो, हड़प्पा, चाँहू जोदड़ो इत्यादि की खुदाइयों में इस बात की ओर भी ध्यान रक्खा गया कि उनसे तत्कालीन सामाजिक-व्यवस्था पर कितना प्रकाश पड़ता है। इस व्यवस्था के स्पष्टीकरण के लिए छोटी-छोटी वस्तुओं का जैसे मिट्टी के बरतन, खिलौनों इत्यादि का भी यथास्थान प्रयोग किया गया और इस बात का भी पूरा ध्यान रक्खा गया कि उस युग की इमारतों, सड़कों इत्यादि से तत्कालीन रहन-सहन आदि पर क्या प्रकाश पड़ता है। वास्तव में पुरातत्त्व संबंधी खुदाइयों का केवल एक ही उद्देश्य है और वह है प्राचीन सामाजिक अवस्था तथा रहन-सहन के खाके की खानेपूरी। समाज की समय-समय पर इन व्यवस्थाओं को जानने के लिए हमारे पुराने टीलों के अंदर अगाध सामग्री पड़ी है जिसका किसी प्राचीन साहित्य और इतिहास में उल्लेख तक नहीं मिलता। लेकिन इस सामग्री का सुचारु और वैज्ञानिक रूप से संकलन सब कोई नहीं कर सकता, इसके लिए तो वैज्ञानिक पुरातत्त्व की शिक्षा नितांत आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य है। यह शिक्षा हमें बतलाती है कि चीज़ें खोद निकालने से ही पुरातत्त्वान्वेपक की कार्यसिद्धि नहीं हो जाती, उसे तो सप्रमाण यह बतलाने की आवश्यकता रहती

---

*पूर्वार्द्ध 'प्रतीक— ११ : शिशिर' में

है कि छोटी से छोटी वस्तु का हमारे प्राचीन जीवन में क्या स्थान था। पुरातत्व से हमारे इतिहास का भी ज्ञान बढ़ता है और विशेष स्तर से मिले सिक्कों, लेखों इत्यादि से हम स्तर विशेष के कालनिर्णय में सहायता पाते हैं लकिन पुरातत्व का मुख्य उद्देश्य है प्राचीन सामाजिक जीवन के पन्नों को खोल कर रखना। अभाग्य-वश भारतीय पुरातत्व इस दिशा में अभी आगे नहीं बढ़ा है। यों तो इस विशाल देश में दो-चार जगहें ही खोदी गयी हैं लेकिन जिन स्थानों पर खुदाई की गयी है और जो स्तर उनमें से मिल हैं उनसे प्राचीन भारतीय समाज और जीवन व्यवस्था पर क्या प्रकाश पड़ता है इसका तो जरा सा भी ध्यान नहीं रक्खा गया है। मिट्टी के बरतन और मूर्तियों को जिनका उपयोग वैज्ञानिक पुरातत्व ऐतिहासिक क्रम विकास के लिए पूरी तौर से करता है, इन खुदाइयों में कोई विशेष स्थान नहीं दिया गया। घरों के स्तर के स्तर खोद निकाले गये लेकिन हमें उनकी समय-समय पर बनावटों और उनमें रहते वालों के जीवन का कुछ भी पता नहीं है। स्तरों की गहराई के सबध में भी काफी गड़बड़ी रही है और अभी तक यह ठीक तौर से नहीं कहा जा सकता कि कितनी गहराई पर मौर्य युग समाप्त होकर शुंग युग शुरू होता है और आन्ध्र और शुंग स्तरों में कितना अतर है। उदाहरण के लिये बसाढ़ की खुदाई में मिले हुये ग्रीक प्रभाव से प्रभावित दो मिट्टी के सिर हैं। इनमें से एक चक्राकार (radiate) शिरोवस्त्र पहने है और दूसरा नुकीली ईरानी टोपी पहने है। बहुत खोज के बाद श्री डी० एच० गार्डन इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि पहले का समय ई० पू० पहली सदी है क्योंकि इसका मिलान गंधार के ई० पू० प्रथम शताब्दी की ग्रीक शैली से मिलता है और दूसरे का मिलान भारतीय शक अथवा पल्हव युग से मिले सिरों से खाता है, और इसका समय भी करीब-करीब ई० पू० प्रथम शताब्दी है। लेकिन खुदाई से तो इन सिरों को मौर्य युग का कहा है। यह निश्चित-सा है कि ये सिर किसी ऊपरी स्तर से नीचे आ गये हैं। यही हाल बसाढ़ से मिली परवाली कुछ देवियों की मूर्तियों का है। खुदाई के स्तर से तो ये शुंग काल की कही गयी हैं लेकिन वास्तव में यह हैं ई० पू० प्रथम शताब्दी की। इनका परदार होना ही यह साबित करता है कि इन पर ईरानी प्रभाव है और यह ईरानी प्रभाव शकों द्वारा ई० पू० प्रथम शताब्दी में भारतवर्ष में आया। अभी तक तो हमारा ख्याल था कि शकों का प्रभाव मथुरा तक ही सीमित था पर ऐसा मालूम पड़ता है कि ई० पू० पहिली शताब्दी में वे बिहार तक पहुँच गये थे। स्तर की गड़बड़ी के इस संबंध में राज-घाट (बनारस) से मिली बहुत सी मिट्टी की मुद्राओं का भी उदाहरण दिया जा सकता है। इन मुद्राओं पर नीके, अथेना, हेराक्लीस और अपोलो की मूर्तियाँ हैं। कुछ मुद्राओं पर किसी ग्रीक राजा की शबीह है जिसकी पहचान कठिन है। अब

प्रश्न यह उठता है कि ये ग्रीक मुद्रायें बनारस कैसे आयीं। अवश्य ही इनका उपयोग राजकीय कागज-पत्र के साथ किया गया होगा। कागज-पत्र तो नष्ट हो गये पर ये बच गयीं। श्री कृष्णदेव का, जिन्होंने राजघाट की थोड़ी खुदाई करायी है, कहना है कि ये मुद्राएँ बनारस और रोम के व्यापारिक संबंध की द्योतक हैं। ये मुद्राएँ उन्हें कुषाण स्तर के एक मकान से १७ फुट नीचे मिलीं इसलिए वे उनका समय ई० पहिली से तीसरी शताब्दी मानते हैं। लेकिन प्रश्न यह उठता है कि क्या ये मुद्राएँ इतनी बाद की हैं और अगर इनका संबंध व्यापार से था तो ये संयुक्त प्रांत के दूसरे भागों से अभी तक क्यों नहीं मिलीं। मथुरा और सहजाति (आधुनिक भीटा) में तो काफी व्यापार था। मथुरा से कोई ऐसी मुद्रा नहीं मिली है और भीटा की खुदाई से भी इसका कोई पता नहीं लगा है फिर इन्हें हम कैसे व्यापारिक मुद्राएँ मान सकते हैं। इस बात को मानने का भी अभी कोई प्रमाण नहीं है कि युक्त प्रांत और रोम तथा पश्चिमी एशिया से सीधा व्यापारिक संबंध था; जहाँ तक हमें पता है यह व्यापार तो दक्षिण भारत के समुद्री किनारों और उत्तरी पश्चिमी सीमाप्रांत तक ही सीमित था। अगर हम इतिहास को उठा कर देखें तब हमारी समझ में आ जायेगा कि इन एकाकी ग्रीक मुद्राओं का क्या महत्त्व है और वे ई० पहली शताब्दी की न होकर ई० पू० दूसरी शताब्दी की हैं। हमें खारवेल के हाथी गुंफ के लेख, युग पुराण, तथा पतंजलि के आधार पर यह पता है कि ई० पू० दूसरी शताब्दी में वाह्लीक से यवन राज दिमित्रियस ने पाटलिपुत्र पर चढ़ाई की। युग पुराण का तो कहना है कि पराक्रमी ग्रीक सेना साकेत (अवध में) पंचाल (जमुना गंगा के बीच का दोआब) और मथुरा को जीत कर पुष्पपुर (पाटलिपुत्र) पहुँच गयी लेकिन वह मध्य देश में इसलिए अधिक दिनों नहीं टिक सकी क्योंकि उनके अपने देश में गृहयुद्ध शुरू हो गया। इस अवतरण में साफ़-साफ़ डिमित्रियस की चढ़ाई की तरफ़ इशारा है जिसका पता हमें भारतीय और ग्रीक स्रोतों से लगता है। राजघाट से मिली ग्रीक मुद्राएँ उस चढ़ाई की यादगार मात्र हैं क्योंकि पाटलिपुत्र जाने के लिए ग्रीक सेना को राजघाट पर ही गंगा पार करनी पड़ी होगी। डा० वासुदेव शरण भी इन मुद्राओं पर मिली ग्रीक देवी-देवताओं की मूर्तियों की तुलना डिमित्रियस और युक्रातीद के सिक्कों पर मिली देव-देवियों की मूर्तियों से कर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि हो न हो ये मुद्रायें ई० पू० द्वितीय शताब्दी की हैं। इनके कुषाण काल के स्तर से मिलने की बात तो स्तर की गड़बड़ी ही सिद्ध करती है।

भारतीय पुरातत्त्व की और भी एक विशेष समस्या है जिसके ऊपर अभी

लोगों का विशेष ध्यान नहीं गया है और वह है एक विशेष काल अथवा सभ्यता के प्रतीक-वस्तुओं (typology) का संकलन जिसके द्वारा हम यह कह सकें कि फलाना स्तर फलाने युग का है। हमारे पुरातत्त्व विभाग ने खुदाइयाँ की हैं पर उसने प्रतीक वस्तुओं के संकलन की ओर कभी ध्यान नहीं दिया। ऐसा न करने में केवल उसका ध्येय कारण था जिसके अनुसार खुदाई चमत्कारिक वस्तुओं के खोज के लिए ही थी। प्रतीक वस्तुओं का संकलन कोई मामूली काम नहीं है। उसके लिए तो हर स्तर से मिले मिट्टी के बरतनों, मूर्तियों, गहनों इत्यादि की बारीक छानबीन की आवश्यकता होती है और यह भी आवश्यकता होती है कि एक स्थान से किसी स्तर से मिली वस्तुओं का दूसरे भी कई स्थानों से उसी स्तर की मिली वस्तुओं से तुलना की जाय। ऐसा करने से प्रमाण की पुष्टि होती है और प्रतीक वस्तुओं का निखरा हुआ रूप हमारे सामने आ जाता है। भारतीय पुरातत्त्व में प्रतीक वस्तुओं का भिन्न-भिन्न समयों में आधार कायम करने के लिए प्रयत्न आरम्भ हो गया है। श्री स्टुअर्ट पिगाट ने उत्तर पश्चिमी भारत की प्रागैतिहासिक सभ्यता का प्रतीक वस्तुओं के आधार पर कालक्रम से विभाजन किया है। अहिछत्रा की खुदाई में भी मौर्य युग से ई० ११०० तक के अनेक स्तरों में मिली हुई वस्तुओं के आधार पर हर एक युग की प्रतीक वस्तुओं के संकलन का प्रयत्न हो रहा है। डा० मार्टिमर ह्वीलर ने तक्षशिला, हड़प्पा, तथा अरिकमेडु (पांडिचेरी के पास) की खुदाइयों में इस तरफ विशेष ध्यान रक्खा है लेकिन आवश्यकता तो इस बात की है कि ऐसी बहुत-सी खुदाइयाँ हों, तभी प्राचीन भारतीय इतिहास और समाज का पूरा रूप खड़ा हो सकता है अन्यथा नहीं।

हम ऊपर भारतीय खुदाइयों में स्तरों की गड़बड़ी के सम्बन्ध में कुछ कह आये हैं। भविष्य में इस गड़बड़ी को दूर करने का उपाय डा० मार्टिमर ह्वीलर ने सुझाया है। उनके अनुसार स्तरों की जाँच के दो वैज्ञानिक उपाय हैं जिसे हम 'खड़ी' (vertical) और 'पड़ी' खुदाइयाँ कह सकते हैं। 'पड़ी' खुदाई के माने हैं किसी प्राचीन स्थान की पूरी तौर से या स्तर विशेष की खुदाई। खड़ी खुदाई के माने होते हैं सीमित स्थल की गहरी खुदाई जिससे पूरी अथवा क्षणिक सभ्यता के विकास का पता चल सके और काल अथवा सभ्यता के मापदंडों में उसका स्थान निश्चित हो सके। खड़ी खुदाई हमें यह जानने की कुंजी देती है कि बस्ती कितने दिनों तक रही, वह बराबर अथवा रुक-रुक कर चली, सीमित रूप में उस सभ्यता के क्या साधन थे इत्यादि। इस तरह की खुदाई से सभ्यता का पूरा चित्र नहीं मिल सकता। इसके लिए तो 'पड़ी' खुदाई का आश्रय लेना ही पड़ता है।

मोहेन जोदड़ो, हड़प्पा, चाहूँ जोदड़ो और तक्षशिला में स्तरों की नाप की समीक्षा करते हुए डा० ह्वीलर का कहना है कि इसमें वैज्ञानिकता का ख्याल कम रक्खा गया है। स्तरीकरण में स्थानिक जांच-पड़ताल को दूर रख के बेंच-लेवल का आश्रय ग्रहण किया गया है। वास्तव में प्राचीन नगर कभी समतल नहीं होता; इसका कारण है कि प्राचीन काल में कभी भी शहर पूरी तौर से नष्ट नहीं होता था और पूरी तौर से समथर करके पुनः नहीं बसाया जाता था। साधारणतः अपनी इच्छा के अनुसार लोग मकान गिराते और बनाते रहते थे और इस तरह से पूरा शहर गिरता और बनता रहता था। कुछ इमारतें अपने पड़ोस से ऊंची उठ जाती थीं, नगर उठते-उठते पहाड़ी का आकार धारण कर लेता था गोकि इसके ढाल पर बनी इमारतें चोटी पर बनी इमारतों के समकालीन ही होती थीं। ऐसी अवस्था में अगर हम बेंच-लेवल के आश्रय पर स्तर की गहराई रक्खें तो गड़बड़ी पड़ जाती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि स्तरीकरण के क्या सिद्धांत हैं और पुरातत्त्व-विद् उन्हें कैसे अलग करता है। सिद्धांत आसान हैं। बस्ती के आसपास तरह-तरह की वस्तुएँ इकट्ठी होती रहती हैं। वस्तुएँ फेंक दी जाती हैं अथवा खोकर जमीन में गड़ जाती हैं। इमारतों में नये फर्श बनाये जाते हैं और पुराने गड़ जाते हैं। इमारतें गिरती रहती हैं और उनपर नयी बनती रहती हैं। बाढ़ से एक इमारत ढह सकती है और उस पर मट्टी की तह पड़ जाती है; पुनः उसी जगह लोग बस सकते हैं। कभी-कभी बात उलटी होती है। बस्ती के निशान सड़क के धीमे-धीमे नीचे जाने से, कूड़ा अथवा मुर्दे गाड़ने के लिए गढ़े खोदने से मिटने लगते हैं। एक या दूसरी तरह एक पुराने शहर अथवा गाँव की सतह बराबर बदलती रहती है। इन अदल-बदल के सबूतों की ठीक तरह से मीमांसा करने पर ही हम स्थान विशेष और सभ्यता विशेष के उतार-चढ़ाव को समझ सकते हैं। ज़मीन इस दृष्टि से एक बंद पुस्तक के समान है जिसे वही समझ सकता है जिसने पढ़ा और गुना हो।

ऊपर हम खुदाई की खामियों की ओर ध्यान दिलाते रहे हैं, लेकिन हमें इस बात का भी विचार करना है कि भारतीय पुरातत्त्व की क्या समस्यायें हैं और उनकी गुत्थी कैसे सुलझ सकती है। इस संबंध में हम भारतीय आर्यों के प्रश्न पर ध्यान दिलाना चाहते हैं। हमें पता है कि सिंधु सभ्यता का अंत ई० पू० १५०० में हुआ और उसी के आगे पहले आर्य इस देश में आये; लेकिन ई० पू० १५०० से लेकर ई० पू० ३०० तक हमारा पुरातत्त्व शून्य है और आर्यों के इतिहास,

सभ्यता और प्रसार की कथा के लिए हमें वैदिक साहित्य का ही सहारा रह जाता है। प्राचीन सम्राटों का युग, तथा महाजनपद युग की कथाएँ तो हमें मालूम हैं लेकिन जमीन ने हमें अभी तक यह नहीं बताया है कि उन युगों की सभ्यता क्या थी। सीमा प्रांत और पश्चिमी पंजाब की खोज और खुदाइयों से इस प्रश्न पर काफी प्रकाश पड़ सकता है पर अब देश का बटवारा हो गया है। पाकिस्तान की पुरातत्त्व की ओर क्या नीति रहेगी यह नहीं कहा जा सकता। इसलिए अभी तो हमें पूर्वी पंजाब और युक्त प्रांत की ही इस संबंध में काफी खोज करनी पड़ेगी और हमें आशा है कि इससे आर्यों के प्रसार और महाजनपद युग के इतिहास और सभ्यता पर काफी प्रकाश पड़ सकेगा। दक्षिण में भी हमें पुरातत्त्व की खोज बढ़ानी है। हमें मालूम है कि तामील सभ्यता बहुत प्राचीन है पर इसका सातवीं शताब्दी के पहले का इतिहास अधूरा है और वैज्ञानिक अनुसंधान से ही यह पूरा हो सकता है।

इस देश में प्रस्तर-युग के प्रस्तार और विकास के संबंध में बहुत कम वैज्ञानिक खोज हुई है। वर्किट और डटेरा ने हमें इस ओर रास्ता दिखलाया है पर अभी काम बहुत है। हमें युक्त प्रांत और बिहार की भी आर्यों के पूर्व की प्रागैतिहासिक सभ्यता का पता लगाना है। युक्त प्रांत में आहत सिक्कों पर मोहेन जोदड़ो की मुद्राओं पर मिले कुछ लक्षण मिलते हैं पर इसे छोड़कर आर्यावर्त की सभ्यता और सिंधु सभ्यता में हम कोई समानता नहीं पाते। इस समानता से भी हम किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते क्योंकि सिंधु सभ्यता का युग तो ई० पू० १५०० में खतम हो गया और आहत सिक्कों का युग ई० पू० ७०० में आरंभ होता है। हमें तो अब यह जानने की जरूरत है कि आया ये लक्षण सिंधु सभ्यता के अवशेष हैं अथवा इस देश में कोई ऐसी सार्वभौमिक सभ्यता थी जिससे पूरा देश प्रभावित था और उसमें जिन लक्षणों का प्रयोग होता था उन्हें सिंधु सभ्यता और बाद की आर्य सभ्यता ने समान रूप से ग्रहण किया। इन सब प्रश्नों का निराकरण खोज से ही हो सकता है।

ऊपर हम भारतीय पुरातत्त्व की बहुत सी समस्याओं की ओर संकेत कर आये हैं। इन समस्याओं का निपटारा तभी हो सकता है जब सुव्यवस्थित और वैज्ञानिक रूप से खुदाइयाँ हों। अभी तक तो पुरातत्त्व विभाग ने ही खुदाइयाँ की हैं और और सो भी सीमित क्षेत्र में। अगर इस देश में पुरातत्त्व शास्त्र को आगे बढ़ना है तो इस काम को विश्वविद्यालयों तथा और सांस्कृतिक संस्थाओं को उठाना पड़ेगा। यह भार सहज नहीं है। इसके लिए विश्वविद्यालयों को पुरातत्त्व

को अपने पाठ्यक्रम में स्थान देना होगा और पुरातत्त्व के विद्यार्थियों को पुरातत्त्व विभाग की सहायता से खुदाई की वैज्ञानिक शिक्षा भी। डा० ह्वीलर ने इस ओर क़दम उठाया है और इधर दो-तीन वर्षों में बहुत से विद्यार्थियों ने खुदाई संबंधी शिक्षा उनके तत्त्वावधान में पायी भी है, पर काम को सुव्यवस्थित रूप से आगे बढ़ाने के लिए एक सेंट्रल इंस्टिटयूट ऑफ फील्ड आर्कियोलोजी की आवश्यकता है। हमें आशा है कि भविष्य में यह योजना कार्यान्वित होगी। पुरातत्त्व की खोज को आगे बढ़ाने के लिये यह भी आवश्यक होगा कि जितने पुराने टीले और स्थान हैं उनकी वैज्ञानिक पड़ताल हो। ऐसी पड़ताल सर अलेक्जेंडर कनिंघम और उनके साथियों ने देश के कुछ भाग में ८० साल पहले की थी, लेकिन यह पड़ताल इसलिए अधूरी रही कि उस समय हमें भारतीय पुरातत्त्व का बहुत कम ज्ञान था और जांच-पड़ताल की रीति भी अवैज्ञानिक थी। अब आवश्यकता यह है कि वैज्ञानिक उपादानों से लैस होकर प्राचीन स्थानों की पुनः पड़ताल की जाय और खड़ी खुदाई की मदद से भारतीय सभ्यता का कालक्रम खड़ा किया जाय और बाद में जहाँ जरूरत समझी जाय पूरी तौर से खुदाई की जाय।

वीनस के पैर

विवाह की बात यहाँ तक पक्की हो गयी है कि केवल तिथि का निश्चय बाक़ी है, और अब बुज़ुर्गों को नौजवान लड़कों की आधुनिक विचार-धारा का ख्याल हो आया है। सोच विचार की ज़रूरत तो है ही नहीं। आत्मानद को कानपुर जाकर लड़की—अपनी भावी पत्नी—को देख आना चाहिये, यह आज्ञा दी गयी। आत्मानद सोचने लगा सारी बातें जब तय ही हो गयीं तो देखने न देखने से क्या! और किसी से तो हिम्मत पड़ती नहीं, माँ से तुनक कर कहने पहुँचा, "मुझे लड़की पसद न आयी तो? मुझे ना तो कहना ही पड़ेगा। अभी ना कहने के लिए तैयार हूँ। लौटकर भी यही कहूँगा। मैं कह चुका—मैं कुछ नहीं जानता। शादी तो मुझे करनी है और मेरी ही बात सुनना कोई नहीं चाहता।" माँ के लिए यह नई बात नहीं है। लड़के के मुँह से कितनी ही बार यही बात सुन चुकी है।

आत्मानद अपनी बहन और एक दूर के रिश्ते के भाई के साथ कानपुर से लौट रहा है। लड़की मौका मिलने पर भी उसने नहीं देखी। भोजन की थाली जो परोस गया उसके पैरों पर ही आँखें रुकी रहीं। आँख उठाकर चेहरा देखने का न तो आत्मानद में साहस था और न इच्छा ही। साहस न था शायद इसीलिए इच्छा भी न थी। गाड़ी में भाई-बहन ऊपर के बर्थ पर निश्चित सो रहे हैं। जल-सेना के दो अधिकारी भी डिब्बे में हैं। एक तो 'नाना' के सस्ते संस्करण से उलझा है, दूसरा अपनी सीट पर बैठा-बैठा ताश पत्ते जमाता है और उन्हें फिर समेट लेता है। वह अकेले ही ताश खेल रहा है। कहा नहीं जाता, वह खेल रहा है या ताश उसे खिला रहे हैं, भुला रहे हैं। आत्मानद सो नहीं रहा है लेकिन उसकी आँखें बद हैं। बीच बीच में वह अपने सहयात्रियों को देख लेता है। ग्यारह बजे रात—बात करने का ठीक समय भी तो नहीं है। पर मन तो मौन नहीं रहता। आत्मानद अपने आप से ही बात कर रहा है, अपनी ही बात सुन रहा है।

कानपुर शहर गंदा है। कोयले से लदी गाड़ियाँ, मिलों के भोंपू—उनसे निकलता हुआ काला धुआँ। धुआँ दिन-रात छाया रहता है, धुएँ के बादलों में

एक आकृति बन रही है। चमकते हुए नक़ली दाँत, कपास जैसे बाल, म्लान चेहरा—आत्मानंद के विवाह की चिंता इस चेहरे पर लिखी हुई है, आखिर माँ जो है। बादल फिर दिखने लगे हैं। अब दूसरी आकृति बनने लगी है। कालेज की साथिन—इंदीवरा—न जाने क्या हाल हो ? शादी तो हो गयी है उसकी। सुना है पति डाक्टर हैं। नई दिल्ली बड़ा शहर है। अपने ही देश की राजधानी उसने अभी तक नहीं देखी। वाह ! आत्मानंद हँस रहा है। नहीं देखी तो न सही, पर हँसने की क्या बात है ! फिर वही धुएँ के बादल। बादलों में अब फिर एक चित्र बनने लगा। चेहरा नहीं रहा, काले-काले से पैर, पानी पड़ने से जिन पर रावीन्द्रिक-शिल्प के नमूने बने हुए, पैरों का साफ़ रंग जमी हुई मैल के नीचे से झाँकता है। यह चित्र ठीक नहीं है; बदल जाना चाहिए। पर बदल नहीं रहा है। गंदे, बढ़े हुए नाखून। पैर के नाखून इतने घिनौने, फिर चेहरा ? चेहरा बन ही नहीं रहा। पैर—पैरों में चमकती हुई पायल, पायल के ऊपर नयी साड़ी की बार्डर, सर-सर। साड़ी से क्या ? पैर की उँगलियाँ, पतली, बेडौल—उनके बीच की जगह काली, काजल जैसी परतें जमी हुईं। अँगूठे के पास की उँगुली लंबी, अँगूठे से आगे बढ़ी हुई, भद्दी। पैर के पंजों का यह जोड़ा उसकी तरफ़ बढ़ रहा है। वह दूर हो जाना चाहता है। पर उसका शरीर तो जैसे ज़ोर से कसा हुआ है। हिल-डुल नहीं सकता। पैर बराबर बढ़ रहे हैं। वह देखना नहीं चाहता। आँखें ताकत से बंद कर रखी हैं। फिर भी, साड़ी की सर-सर पास आ रही है, बहुत पास। साँस धौंकनी की तरह चल रही है। अब सर-सर बंद है। दोनों पैर उसकी छाती पर न जम जायँ कहीं ! वह डूबता जा रहा है, साँस फूलती जा रही है। चारों ओर पानी की-सी गहराई है, गहराई में धँसता जा रहा है। आगे अँधेरा है।

"नंद भैया, नंद भैया !" ये कौन ? रीता पुकार रही है "नंद भैया, उठिये, स्टेशन आ रहा है।"

"तुमने तो बहुत गहरी नींद ली है नंद। और यह पसीना क्यों आ रहा है तुम्हें ? लो, टॉवेल से पोंछ डालो। आँख में न चला जाय।" भाई ने कहा है।

आत्मानंद उठ बैठा है। उठते ही गाड़ी के संडास में जाकर आइने में अपना चेहरा देखने की इच्छा है। टूथपेस्ट, ब्रश, टंगक्लीनर—टंगक्लीनर न जाने कहाँ टँगा रह गया ! मिल नहीं रहा, न सही। तौलिया ले लिया है। आइने में चेहरा देखना पहले ज़रूरी है। उसकी आँखों में नींद भरी हुई है, कुछ उड़ता-उड़ता-सा भाव उनमें है। आँखें लाल हो गयी हैं। आँखों के नीचे एक गहराई, यह काला-काला-सा, यह एक ही दिन में क्या हो गया ? कल तो यह

कालापन नहीं था, रहा होगा, पर अब आईने में उसका चेहरा नहीं रह गया। फिर वही दो पैर तिनौने, मद्दे, मैल से भरे, बेडौल, बढ़े हुए नाखून—आत्मानंद देख नहीं सकता, देखना सहन नहीं कर सकता।

"नद भैया, मुझे भी मुँह धोना है, जल्दी निकलिये।" बाहर रीता पुकार रही है "अच्छा . . रख दो मिनट।"—

हाथ और मुँह में साबुन लपेट किसी तरह धो धाकर आत्मानंद तौलिये से हाथ की उँगुलियाँ रगड़ता हुआ बाहर आ गया।

❀ ❀ ❀

कानपुर में आत्मानद की शादी हो रही है। माँ ने उसके अस्वीकार का जवाब ही ऐसा दिया, वह लाजवाब हो गया। माँ की बात उसे खूब याद है।

"जिन्होंने पढ़ा लिखा कर आदमी बनाया है, उनके वचन की क़ीमत रखने के लिए तुझे अपनी मरजी के खिलाफ यह शादी करनी होगी। तेरी आद-*मियत की यह बहुत बड़ी क़ीमत नहीं है। आगे चाहे तो अपनी मर्जी से दूसरी* कर लेना।"

आत्मानद जानता है। माँ स्वय इस शादी के लिए मन से तैयार नहीं है। पर बाबूकाका का स्वभाव सब जानते हैं। उन्होंने जो कह दिया, अपनी ज़िंदगी में, आज तक बराबर निबाहा है। रानी के पिता को बाबू काका वचन दे चुके हैं। शादी होगी और शादी ज़रूर होगा। आत्मानद के पिता तो बचपन ही में चल बसे। सब जानते हैं, बाबू काका ने ही उसे आदमी बनाया है। इस उपकार के बदले में उसे उनकी आज्ञा टालने का कोई नैतिक अधिकार नहीं है। ठीक ही तो है। शादी हो रही है।

❀ ❀ ❀

बारात में सौ आदमी आये हैं। बहुत दिनों बाद इस कुटुंब में लड़के की शादी हुई है। बाबूकाका को सब रिश्तेदार बहुत मानते हैं। खानदान में सिवा उनके है ही कौन? बस-बाहर उनका एक-सा दबदबा है। पहले जैसा कारबार तो अब नहीं रहा पर रहसा भी आदत ज्यों की त्यों है। दाल के कारखानों से अब उतनी आमदनी नहीं है। जमींदारी का भी कोई ठिकाना नहीं, कब चौपट हो जाय, कोई नहीं जानता। आत्मानंद की शादी हो ले, बाबू काका अपने गाँव बेच देंगे।

२६ जुलाई, रात आधी से अधिक जा चुकी। क्या मुहूर्त चुना है माधो पंडित ने। शाम से ही पानी बरस रहा है। लोग कह रहे हैं 'रेकर्ड-रेनफ़ाल' हुआ है। कम से कम पिछले बीस साल से एक दिन में इतना पानी न गिरा होगा।

बराती प्रायः सभी सो रहे हैं ! नौकर भी उनींदे हैं ! बाबू-काका चिंतित हैं ! भावर पड़ने के पहले पानी रुक जाये, बस, एक आध-घंटा; फिर बरसता रहे ! आत्मानंद कुछ पढ़ने के प्रयत्न में हैं । न नींद आती है, न पढ़ ही पाता है । फिर भी किताब आँखों के सामने किये लेटा है । अक्षर भागते जाते हैं, पन्ने पलटते जाते हैं । क्या पढ़ रहा है उसे आप ही मालूम नहीं ! आँखें थक गयी हैं ! किताब सिरहाने रख दी है । अब अपने आपसे बोलेगा, बात करेगा । आँखें बंद हैं ।

"नंद बेटा, अच्छी तरह मुँह धोया बेटा ? देखो नाखून .खूब साफ़ रखना चाहिये । नाखून साफ़ रखने से दिमाग़ में अच्छे विचार आते हैं ! पैरों के नाखून ! नहीं, यह गंदगी नहीं चलेगी ! बड़ी भाभी ! नंद के नाखून नेल-कटर से अभी काट दीजिये ! यह तो गंदा लड़का होता जा रहा है ! यह मुझे बिल्कुल पसंद नहीं ! सब काम छोड़कर अभी नाखून काटिये । सफ़ाई का खयाल बच्चों में इसी उमर से पैदा होता है !"

"बड़ी भाभी, नंद मेरे साथ सिनेमा नहीं जायगा ! कपड़े आपने साफ़-साफ़ पहना दिये, बालों में कंघी कर दी, चप्पल पहना दिये ! क्या इसीसे वह मेरे साथ जाने लायक़ हो गया ? नाखून में ढेरों मैल जमी हुई है ! देखा आपने कैसे काले, गंदे हो गये हैं ? खूबसूरत उँगलियाँ भी ना.खूनों से भद्दी दिखने लगती है ! मैंने एक हज़ार बार कहा होगा, बच्चों के नाखून मत बढ़ने दीजिये ! नहीं, ऐसे गंदे लड़के मेरे साथ नहीं जायेंगे ! बेनी, मोटर सामने ले आ, मैं अकेला ही जाऊँगा !"

बाबू-काका की ये हिदायतें आत्मानंद ने बचपन में कई बार सुनी हैं ! आज नींद में सुन रहा है !

❀ ❀ ❀

विवाह समारोह सानंद संपन्न हो गया ! सब घर लौट आये ! नववधू रामी को देख सब .खुश हुए हैं ! आत्मानंद पर इधर-उधर से व्यंग्य-बौछारें आयीं, उसे विचार में डुबा कर निकल गयीं ! घर में शादी की .खुशी तो है ही, आत्मानंद को सेना में लेफ्टिनेंट का पद मिल गया यह भी एक तरह से .खुशी की बात है ! .खुश नहीं है तो एक माँ । और रामी ? रामी के मन की बात किसी ने जाननी नहीं चाही । श्वसुर-गृह में विवाह उपरांत सारे रस्म पूरे कर वह पितृ-कुल पहुँच गयी । आज तीसरे पहर उसे आत्मानंद का पत्र मिला । लिखा है । वह ट्रेनिंग के लिए देहरादून जा रहा है । वहाँ छः माह रहना होगा, फिर कहाँ जाना

होगा कुछ पता नहीं। रामी के लिए नंद का आदेश है कि अपनी पढ़ाई जारी रखे। कालेज में उसे शीघ्र भरती हो जाना चाहिये और कम से कम बी. ए. पास करने का उद्देश्य सामने रखना चाहिए। पढ़ाई का खर्च वह स्वयं देगा। रामी के पिता को भी इस आशय का नंद का पत्र मिला है। उन्होंने दामाद की सराहना की है। रामी को पत्र पाकर प्रसन्नता हुई या नहीं कहना कठिन है।

❀ ❀ ❀

भारत छोड़े चार बरस हो गये। कैप्टेन आत्मानंद अब इस ज़िंदगी से ऊब उठा। फ्रंट पर काम नहीं है। चेंज के लिए साथियों सहित पेरिस में अंतर्राष्ट्रीय प्रदर्शनी देखने आया है। यहाँ साथियों ने अपनी-अपनी पत्नी और बच्चों के लिए सुंदर वस्तुएँ खरीदी हैं। अविवाहित लोग ही अधिक हैं जो प्रेयसी के लिए प्रेज़ेंट्स चुनते नहीं थकते। "नंद, तू भी खरीद ले भाई कुछ भाभी के लिए।" कैप्टन अस्थाना ने जोर दिया। "जल्दी क्या है, अभी तो हफ्ते की छुट्टी है; चलते-चलते ले लूँगा।" नंद ने पीछा छुड़ाया।

❀ ❀ ❀

रामी कुछ समझ नहीं पाती। इतनी बड़ी प्रदर्शनी में उसके लायक यही एक चीज मिली है? नंद ने लिखा है संगमर्मर के यह दोनों पैर उसने २०००) देकर लिये हैं। एक स्टैंड पर सधे हुए, चलती हुई मुद्रा में, वीनस के पैरों के पंजे हैं, सुडौल पिंडलियों तक कटे हुए। पैरों की बनावट बहुत सुंदर है। लगता है चलने ही वाले हैं। रामी के सामने वीनस की पूरी मूर्ति खड़ी है। जिसके ऐसे सुंदर पैर हों उसका मुख कैसा होगा? रामी के हाथ वीनस के पैरों पर फिर रहे हैं। कितनी साफ, छोटी, पतली, एक-सी कटी हुई, उँगलियाँ हैं, हल्के गुलाबी नाखून—जैसे उनमें से निकली चाँद जायगी। और उसके पैर ....

स्टैंड रामी के हाथ से गिर गया, वीनस के पैर टूट गये।

रामकुमार

इतिहास और खंडहर

अस्पताल की ओर जाते हुए बस की खिड़की में से जब नगेंद्र ने एक मुर्दे को सफ़ेद चादर से ढँका हुआ देखा तब उसका हृदय क्षण भर के लिए काँप उठा। इस प्रकार की मिथ्या धारणाओं पर उसे विश्वास नहीं था और आज तक दूसरों की बातों की वह सदा हँसी ही उड़ाता आया है, परंतु आज स्वयं ही अपने बड़े भाई के आपरेशन के पूर्व मुर्दे को देख कर वह किसी भावी आशंका से काँप उठा। उसने बहुत शीघ्र उस दृश्य से अपनी नज़र दूसरी ओर फेर ली परंतु उसके मस्तिष्क से वह विचार दूर न हो सका, कानों में अब भी उन स्त्रियों का क्रंदन गूँज रहा था, आँखों के सामने अब भी वे शोकग्रस्त चेहरे घूम रहे थे। और उसकी बस अस्पताल की ओर बढ़ती जा रही थी, शांत और निश्चल सी मानों उसके लिए इस मृत्यु का कोई महत्व नहीं था। नगेंद्र आज तक कभी किसी मुर्दे को जाते देख कर विचलित नहीं हुआ था। (वह जानता था कि संसार के प्रत्येक प्राणी का अंत इस प्रकार होगा, यह बात नहीं कि अपनी मृत्यु का प्रश्न उसके सामने कभी आया ही न हो, कितनी ही बार वह सोचा करता था कि एक दिन वह भी इस संसार से सदा के लिए चल देगा, परंतु इतना उसे विश्वास था कि उसकी मृत्यु अभी उससे बहुत दूर है अतः उसके लिए अभी से चिंता करने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है।)

बस दौड़ी जा रही थी, उससे दो सीटें आगे स्त्रियों वाली सीट पर उसकी भाभी लेखा बैठी थीं। अचानक उसकी दृष्टि लेखा पर टिक गई। आज न जाने उनके मन में किस प्रकार के विचार उठ रहे होंगे, कैसी-कैसी दुश्चिंताओं से उनका मन भर रहा होगा। खिड़की से आते हुए हवा के झोंकों से लेखा के बाल उड़ कर उसके माथे पर बिखर रहे थे, साड़ी का आंचल सिर से गिर कर उसके कंधे पर लटक रहा था। वह चित्रलिखित सी अपनी सीट पर बैठी सामने देख रही थी।

नगेंद्र ने अपना ध्यान समाचार-पत्र की ओर आकर्षित करना चाहा परंतु उसमें तबियत नहीं लगी। उसने बंद करके उसे अपने नीचे दबा लिया। बड़े

भाई सुरेंद्र अभी महीना भर तक अस्पताल में रहेंगे तब तक उसे प्रतिदिन अस्पताल का एक चक्कर लगाना पड़ेगा, प्रात:काल गाय का ताज़ा दूध ले जाने का भार उसी पर छोड़ा गया था। अपने आपको बाँधना उसे आज तक अच्छा नहीं लगा परंतु उसकी बात दूसरी है, ऐसे आवश्यक अवसरों पर ही वह यदि काम न आया तो और वह क्या काम कर सकेगा।

अस्पताल के पास बस रुक गयी, नगेंद्र ने लेखा को आवाज देकर उतार लिया। वह हाथ में दूध का लोटा लिये आगे-आगे जा रहा था और उससे चार क़दम पीछे अपने ही ध्यान में खोई हुई लेखा चली आ रही थी। बाज़ार में पंजाब से आये हुए शरणार्थियों की भीड़ के कारण रास्ता चलना भी कठिन हो रहा था, सड़क के दोनों ओर पटरियों पर दूकानों की भरमार थी। कुछ छात्र कालेज की ओर बढ़े चले जा रहे थे और आसपास से गुज़रती हुई लड़कियों की ओर देख कर कोई अश्लील मज़ाक़ कर देते थे या एक साथी दूसरे की ओर देख कर मुसकरा उठता था।

अस्पताल पहुँच कर उसने नीचे कमरों के नम्बरों के ऊपर लिखे हुए नामों पर एक दृष्टि डाली। सात न० के कमरे पर सुरेंद्र का नाम देख कर वह आगे बढ़ा। थोड़ी दूर जाकर उसे लिफ्ट दिखायी दी। चपरासी से पूछने पर उसे पता चला कि सात नम्बर का कमरा सब से ऊपर की मंज़िल में है, कुछ सीढ़ियाँ चढ़ने का कष्ट बचाने के लिए और कुछ कौतूहलवश वह लेखा के साथ लिफ्ट पर चढ गया।

छोटा-सा एक कमरा था जिसमें एक ओर दो आलमारियाँ दीवार पर लगी थीं, सामने कपड़े टाँगने के लिए एक खूँटी और एक खिड़की थी, एक ओर बाहिर बरामदे की ओर खुलती हुई खिड़की और एक दरवाजा था। सुरेंद्र चारपाई पर लेटा आज का समाचार-पत्र पढ़ रहा था, उगलियों में एक सिगरेट दबी थी और पैरों पर सफ़ेद चादर थी।

लेखा और नगेंद्र को देख कर उसने समाचार-पत्र एक ओर को रख दिया और मुसकरा कर लेखा से कहा—"तुम क्यों आ गयीं? बेकार में तबियत खराब होगी, आज आपरेशन हो जाता तो आतीं।"

लेखा कुछ बोली नहीं, चारपाई के पास बिछी हुई चटाई पर वह बैठ गयी। नगेंद्र चारपाई के सामने रक्खी हुई एक आरामकुर्सी पर बैठ गया टेबल फैन की हवा केवल सुरेंद्र की ही ओर आ रही थी। नगेंद्र ने जेब में से रूमाल निकाल कर अपने माथे का पसीना पोंछ लिया।

"घर पर तो सब ठीक रहा न?" सुरेंद्र ने नगेंद्र की ओर देख कर पूछा।

"हाँ।" नगेंद्र ने अपनी गर्दन हिला दी।

"रात को चपरासी सोने आ गया था ?"

"हाँ।"

इसी समय दरवाज़े के सामने से एक नर्स हाथ में दवाइयों का एक डिब्बा लिये आगे निकल गयी। सुरेंद्र को देख कर हँस कर बोली—"यू शुड बी रेडी फार-दी आपरेशन नाऊ" (तुमको अब आपरेशन के लिए तैयार हो जाना चाहिये)।

"आई एम," (मैं तैयार हूँ) सुरेंद्र ने हँस कर कहा।

नगेंद्र ने कौतूहलवश अपनी दृष्टि पीछे फेरी और यूरोपियन नर्स पर एक दृष्टि डाली। नर्स की भूरी आँखों में कुछ ऐसी नम्रता और स्नेह भरा हुआ था जिसने नगेंद्र को अपनी ओर आकर्षित कर लिया। उसकी सफ़ेद वेशभूषा में कुछ ऐसी पवित्रता की झलक थी जिसमें उसे सेवा का भाव दिखाई दिया। थोड़ी देर तक वहीं बैठ कर वह बाहर बरामदे में चला गया और छज्जे से नीचे सड़क की ओर देखने लगा। पास ही आरामकुर्सी पर एक युवती बैठी कोई पुस्तक पढ़ रही थी। नगेंद्र को कमरे से बाहर निकलने की आहट पा कर उसने पुस्तक से दृष्टि उठा कर एक बार उसकी ओर देखा परंतु फिर पुस्तक में मग्न हो गयी। नगेंद्र ने भी उस पर एक दृष्टि डाली। सफ़ेद धोती थी और मद्रासी ब्लाउज़ था, पैरों में प्लास्टिक की चप्पल थी, कानों में आधुनिक फ़ैशन की छोटी-छोटी मोती की झालर सी लटक रही थी। काले बाल अच्छी तरह सँवारे हुए थे। रंग सफ़ेद था और आँखों में एक विचित्र प्रकार का आकर्षण था।

नगेंद्र नीचे चलते हुए लोगों के झुंडों को देख रहा था। साइकलों की घंटियाँ बजाते हुए क्लर्क बड़ी तेज़ी से आगे की ओर बढ़े जा रहे थे। सामने वाले मकान पर एक स्त्री अपने बाल धोकर बाहर धूप में सुखा रही थी, परंतु उसे देख कर वह अंदर कमरे में चली गयी और अगले ही क्षण उसने दरवाज़े को बन्द होते सुना। वह हंस दिया, उसे ज़ोर की हंसी आ गयी थी। दूसरे ही क्षण अपने पीछे बैठी हुई युवती का ध्यान आते ही वह लज्जा से पानी-पानी हो गया। उसने मुड़ कर देखा परन्तु वह पुस्तक की ओर ही देख रही थी, नगेंद्र ने अनुभव किया कि वह मुस्करा रही थी।

अंदर उसने सुरेंद्र को कहते सुना—"तुम तो पागल हो गयी हो। मैं डाक्टरों से पूछ चुका हूँ इस आपरेशन में ज़रा भी खतरा नहीं है, तुम व्यर्थ में अपने आपको चिंता में डाल रही हो।" थोड़ी देर रुक कर फिर कहा—"वह तो बड़ा छोटा सा आपरेशन है, मैंने तो बड़े डाक्टर से कह दिया था कि

मुझे क्लोरोफ़ार्म सुंघाने की ज़रूरत नहीं है, मैं इसी तरह आपरेशन करवा लूँगा। वह हँस दिया था।"

लेखा अब भी कुछ बोल नहीं रही थी, नगेन्द्र को उसका स्वर सुनाई नहीं दिया।

सुरेन्द्र ने कहा—"एक गिलास दूध का बना दो।"

और थोड़ी देर बाद नगेन्द्र ने दूध को उछालने की आवाज़ सुनी। वह चुपचाप मुंडेर पर खड़ा नीचे राह में चलने वालों को देखता रहा। वह सोच रहा था कि प्रातःकाल से गुम होकर रात्रि तक लोगों की भीड़ का यह तांता लगा रहता है मानों सिपाहियों की भाँति वे हथियारों से सुसज्जित होकर मशीन की भाँति लेफ्ट-राइट करते हुए आगे बढ़ते जा रहे हों। बेचारी सड़क को इतने लोगों का भार नित प्रतिदिन सहना पड़ता होगा।

पास वाले कमरे से किसी के कराहने का स्वर सुन कर चौंक कर नगेन्द्र ने पीछे मुड़ कर देखा वह युवती किताब बंद करके उसे कुर्सी पर ही रख कर पास वाले कमरे के अंदर घुस गयी। दरवाजे के ऊपर देखने से उसे पता चला कि आठ नं० कमरे में रहती है, किसी आपरेशन करवाने वाले रोगी के साथ आयी हुई है।

थोड़ी देर पश्चात वह अंदर कमरे में चला गया। अस्पताल का वातावरण गतिपूर्ण दिखाई दे रहा था, नर्सें, दूसरे डाक्टर, नौकर इधर से उधर घूम रहे थे। आज शनिवार होने के कारण आपरेशन डे था और अस्पताल में इस दिन बड़ी धूम मची रहती है।

एक नर्स आकर सुरेंद्र के इंजैक्शन लगा गयी थी और जाते समय मुस्करा कर कह गयी था—"इन ए मोमैन्ट यू विल बी टेकन टू दा आपरेशन रूम।" (क्षण भर में तुम्हें आपरेशन वाले कमरे में ले जाया जायेगा)

लेखा का मुख पीला पड़ गया था, नगेंद्र ने कनखियों से देखा और वह मन ही मन मुस्करा उठा। लेखा कितना डर रही थी, छोटा सा साधारण आपरेशन था परंतु अपने आदमी के लिए यह भय उठना स्वाभाविक ही था। वह चुपचाप कुर्सी पर बैठा रहा।

दो नौकर और एक नर्स एक स्ट्रेचर लिए कमरे में आये। नर्स ने लेखा से बाहर चले जाने के लिए कहा, वह नहीं चाहती थी कि वह अपने पति को स्ट्रेचर पर लिटाये आपरेशन रूम जाते हुए देखे, रोगी को साहस बचाने की

अपेक्षा वे स्वयं ही अपना धैय खो बैठती हैं। लेखा बड़े अन्यमनस्क भाव से कमरे से बाहर बरामदे में चली गयी।

सुरेंद्र ने स्वयं उठ कर स्ट्रेचर पर लेट जाने का प्रयास किया परंतु नर्स ने उसे ऐसा करने के लिए मना किया। दो नौकरों ने पकड़ कर उसे स्ट्रेचर पर लिटा दिया और दरवाज़े से निकल कर बाहर लिफ़्ट की ओर बढ़े। नगेंद्र, सिर से पाँव तक काँप उठा। बाहर चिक से लेखा अंदर की ओर झाँक रही थी, उसकी आँखों से आँसू बह रहे थे। क्षण भर के लिए उसने सोचा कि वह बाहर जाकर लेखा को धैर्य बंधाये परंतु फिर वह नीचे आपरेशन रूम की ओर बढ़ा। लिफ़्ट की घंटी न बजा कर वह सीढ़ियों से ही नीचे उतर गया।

आपरेशन रूम के बाहर खड़ा होकर वह इधर-उधर दौड़ती हुई नर्सों को देखता रहा, कमरे के अंदर जाने की आज्ञा उसे नहीं थी। सामने वाले कमरे में एक चीनी परिवार टिका हुआ था, कितने स्वस्थ उनके शरीर थे और कितना गोरा रंग। अंदर ही व अपने कमरे में चाय पी रहे थे, एक चीनी युवती आराम-कुर्सी पर आधी लेटी हुई थी और समाचार-पत्र उसके घुटनों पर रक्खा हुआ था, उसकी छोटी-छोटी भूरी आँखें नगेंद्र को बहुत सुंदर लगीं, यद्यपि उनमें इतना आकर्षण नहीं था जितना कि भारतीयों की बड़ी-बड़ी काली आँखों में होता है परंतु फिर भी उनके गोल भरे हुए चेहरों और चपटी नाक पर छोटी आँखें ही अच्छी लगती हैं। इस कमरे का वातावरण उसे बहुत सुंदर लगा। भाई और लेखा के साथ चाय पीते समय उसने कभी प्रसन्नता का अनुभव नहीं किया था।

वह लगभग दस मिनट तक वहीं खड़ा रहा। लेखा के पिता नारायण उसके पास आकर खड़े हो गये। नमस्कार करके वह फिर चुप हो गया। उसने समझा कि शायद अभी आपरेशन में काफ़ी देर लगेगी अतः नारायण को वहीं बेंच पर बैठा छोड़ कर वह बाज़ार में चला गया। पैंट की जेबों में हाथ डाल कर धीरे-धीरे क़दम बढ़ाता हुआ वह बाज़ार में आगे बढ़ने लगा। राह चलने वालों को वह बड़े ध्यान से देख रहा था परंतु उसके नेत्र उसके मस्तिष्क का साथ देकर उसकी भावनाओं के साथ दौड़ रहे थे। पास ही पाउडर और सैंट की सुगंधि से नाक भर जाने पर उसने दाईं ओर पीछे मुड़ कर देखा तब उसे पंजाबी वेशभूषा पहने एक स्त्री दिखाई दी, यद्यपि कपड़े उसके पुराने और किसी ज़माने के फ़ैशन के थे परंतु रंगे हुए होंठ और कनपटियों तक लाल हुए उसके कपोल और गर्दन को छोड़ कर सारा चेहरा क्रीम और पाउडर से पुता हुआ था मानों वह बीसवीं शताब्दी की माडर्न युवती का प्रदर्शन करने का विफल प्रयास कर रही थी।

नगेंद्र आगे बढ़ गया। एक फलवाले की दूकान पर उसे वही लड़की दिखाई दी जो अस्पताल के बरामदे में बैठी पुस्तक पढ़ रही थी। वह आठ नंबर के कमरे में किसी रोगी की रिश्तेदार थी, अनायास ही उसके पाँव भी उस फलवाले की ओर बढ़ गये। इस बार बहुत पास से उसने उसे देखा। उसका स्वर बहुत मीठा था, चेहरे में भी आकर्षण था और उसका दुबला पतला शरीर सफेद धोती में लिपटा हुआ नगेंद्र को बहुत सुंदर लगा। वह उसके पास जाकर खड़ा हो गया और फल खरीदने लगा। कनखियों से उस लड़की की ओर भी देखता जाता था। उसके चले जाने पर वह भी फलवाले की दूकान से आगे बढ़ गया, गली छोड़ कर वह शहर की मुख्य सड़क पर आ गया था, बस में जाने वालों की लम्बी-लम्बी कतारें खड़ी थीं। वह एक किताबों की दूकान में घुस गया, एक ओर पत्रिकाओं का ढेर बड़े से मेज़ पर पड़ा था, उनमें से एक दो के पन्ने पलटने लगा। फिर पुस्तकों पर एक दृष्टि डाली, किसी का नाम देखा और किसी के दो-चार पन्ने पलटे, एक आध वाक्य पढ़ा। परंतु उसका मन किसी में नहीं लगा और आखिर हार कर वह वहाँ से बाहिर आ गया।

लगभग आधे घंटे के पश्चात जब वह अस्पताल की सीढ़ियाँ चढ़ कर अंदर आया तो उसने अनुभव किया कि लिफ्ट में सुरेंद्र को ही स्ट्रेचर पर ले जाया जा रहा है। उसकी गति तनिक तेज़ हो गयी और वह जल्दी-जल्दी सीढ़ियाँ चढ़ने लगा परंतु आधी दूर जाकर ही उसका उत्साह समाप्त हो गया। वह फिर मंद गति से बड़ी सोच समझ कर एक-एक सीढ़ी पर पाँव रख रहा था।

कमरे के अंदर पहुँच कर उसने देखा कि सुरेंद्र चारपाई पर आँखें बंद किये लेटा है, मुँह में एक चूसने की रबड़ की नली है, बाल बिखरे हुए थे और मुख पीला पड़ गया था मानों महीनों से बीमार हो, पास वाली कुर्सी पर नारायण बैठे थे और लेखा दीवार का सहारा लिए चटाई पर चुपचाप बैठी थी।

"क्लोरोफार्म दे कर ही ऑपरेशन किया गया है, मालूम पड़ता है कि अभी तक होश नहीं आया।" नारायण ने कहा।

क्लोरोफाम का नाम सुन कर नगेंद्र चौंक पड़ा। सुरेंद्र ने तो कहा था कि बड़ा साधारण सा आपरेशन है अत: बिना क्लोरोफार्म के ही हो जायेगा, फिर अंतिम क्षण यह परिवर्तन क्यों किया गया? वह चुपचाप खड़ा सुरेंद्र के मुख की ओर ताकता रहा। नर्स एक बार सुरेंद्र को देखने के लिए आयी—"इज़ ही स्टिल अनकौनशस?" क्या ये अभी तक होश में नहीं आये? और फिर चली गयी।

नगेंद्र के मन में आया कि वह आपरेशन के विषय में नर्स से कुछ पूछे

परंतु उसका साहस ही नहीं पड़ा। वह चुपचाप सुरेंद्र के मुँह को ही देखता रहा। आँखों के नीचे कितने गहरे गड्ढे पड़ गये थे। आज पहली बार उसने सुरेंद्र को इतने निकट से और इतनी देर तक देखा था। चेहरा बड़ा विकृत-सा लग रहा था।

थोड़ी देर पश्चात सुरेंद्र के मुख से वह रबड़ की नली गिर पड़ी। नारायण ने उसे उठा लिया और तकिये के पास रख दिया। नगेंद्र भी चौकन्ना हो गया परंतु लेखा उसी प्रकार दीवार पर अपनी पीठ लगाये बैठी रही।

सुरेंद्र ने एक लंबी साँस लेकर करवट बदली। उसकी आधी खुली हुई आँखों से बड़ी भयानकता टपक रही थी। मुख पहले से भी अधिक विकृत हो गया था। एक चीख मारकर वह बड़े डरावने स्वर में अंट-संट बकने लगा, हाथ-पाँव पटकने लगा। उसके पेट के चारों ओर बड़ी मोटी-मोटी पट्टियाँ बँधी हुई थीं, उसके अधिक हिलाने-डुलने से पट्टी खुल जाने का भय था। नगेंद्र ने अब आगे बढ़कर सुरेंद्र का एक हाथ ज़ोर से पकड़ लिया। सुरेंद्र अब भी अस्फुट स्वर में चिल्ला रहा था, सारे अस्पताल में उसके चीखने का स्वर गूँज रहा था। भय के कारण नगेंद्र ने डाक्टर को बुलाने की घंटी बजा दी।

नर्स को देखकर उसके प्राणों में प्राण आये और उसने बड़ी कातर दृष्टि से उसकी ओर देखा।

नर्स ने सुरेंद्र के माथे को थपथपाने के पश्चात कहा—"हलो सर, हाऊ आर यू फीलिंग नाऊ? (कहिये अब आप कैसे हैं)"

सुरेंद्र ने क्षण भर के लिए नर्स को बड़े ध्यान से देखा, फिर चिल्लाकर कहा—"इट इज़ सिवीयर पेन नर्स, आई एम डाईंग, आई वान्ट टू डाई। (बहुत भारी दर्द हो रहा है नर्स, मैं मर रहा हूँ, मैं मरना चाहता हूँ।)"

नगेंद्र यह सुनकर सिर से पाँव तक काँप उठा। उसने सुरेंद्र का हाथ पकड़े ही उसकी ओर बड़े ध्यान से देखा। वह समझ नहीं सका कि सुरेंद्र पूर्णरूप से होश में आया कि नहीं? क्या सचमुच ही उसे बहुत तीव्र वेदना हो रही है?

नर्स ने बड़े ज़ोर से ठहाका लगाया—"वाई डू यू वांट टू डाई? यू आर स्टिल यंग? (तुम मरना क्यों चाहते हो? तुम तो अभी जवान हो?)"

"पेन नर्स, इट इज़ अनबियरेबल (दर्द नर्स, इसको सहा नहीं जा सकता।)"

"नो नो, इट इज़ बियरेबल (नहीं नहीं, यह वेदना सही जा सकती है)" नर्स ने पुनः सुरेंद्र के कपोल पर दो हल्के-हल्के चपत लगाये और बड़े प्यार से बोली—"यू विल बी आल राइट इन हाफ़ एन अवर (तुम आध घंटे में बिलकुल ठीक हो जाओगे।)"

नर्स के जाने के पश्चात् थोड़ी देर तक सुरेंद्र नगेंद्र की ओर बड़े ध्यान से देखता रहा, फिर बड़े ज़ोर से चीख मारकर कहने लगा—"मैं बच नहीं सकता, मैं मर जाऊँगा। अरे, तुम सब लोग कौन हो, यहाँ बैठे क्या कर रहे हो!"

सुरेंद्र का स्वर इतना डरावना और विकृत था कि अचानक ही नगेंद्र को लेखा का ध्यान आया। पीछे मुड़कर देखने पर उसने अनुभव किया कि उसका मुख सफ़ेद हो गया है मानों सारे शरीर में रक्त की एक बूंद भी नहीं बच रही है। लेखा के पास ही दरवाज़े पर उसने आठ नंबरवाली उस लड़की को खड़े देखा, शायद सुरेंद्र को चिल्लाते देखकर वह अंदर आ गयी थी। इस बार उस लड़की ने नगेंद्र की ओर बड़ी नम्रता और सहृदयता से देखा। नगेंद्र सुरेंद्र का हाथ छोड़कर लेखा के पास तक गया।

"भाभी, तुम बाहर जाकर बैठो, यहाँ बेकार में घबड़ा जाओगी।" उसने लेखा के पास जाकर कहा।

लेखा कुछ बोली नहीं, वह चुपचाप चारपाई की ओर टकटकी लगाये बैठी रही।

नगेंद्र ने लेखा का हाथ पकड़कर उसे उठा लिया और दरवाज़े की ओर ले गया। वह लड़की भी बाहर बरामदे में आ गयी। ज्योंही लेखा का हाथ पकड़े नगेंद्र बाहर आया उसी क्षण अंदर से सुरेंद्र की चीख सुनकर उसने लेखा का हाथ छोड़ दिया।

"आप जाइये अंदर" उस लड़की ने बिना किसी झिझक के कहा—"मैं इनका ध्यान रखूँगी।" यह कहकर उसने लेखा को बरामदे में रक्खी एक आरामकुर्सी पर लिटा दिया।

"धन्यवाद" नगेन्द्र एक बार उसे देखकर कमरे के अंदर चला गया।

बेहोशी और आपरेशन की वेदना से सुरेंद्र को अभी तक पूर्ण रूप से अपनी स्थिति का ज्ञान नहीं हुआ था। एक बार उसने चिल्लाकर कहा—"मैं बचूँगा नहीं, मुझे मौत दिखायी दे रही है, मैं उसे सामने देख रहा हूँ।" यह कहकर उसने नगेंद्र को देखा—"हे भगवान! इस नरक से छुटकारा दिला, ओह बहुत दर्द।"

नारायण चुपचाप कुर्सी पर बैठे रहे, फिर धीमे स्वर में सामने की ओर देखते हुए नगेंद्र को इंगित करके बोले—"क्लोरोफॉर्म की बेहोशी में ऐसा ही होता है, थोड़ी देर में सब ठीक हो जायगा।"

नगेंद्र ने नारायण की बात पर ध्यान नहीं दिया। वह सब कुछ समझता था, सुरेंद्र की पीड़ा का भी थोड़ा बहुत अनुमान वह लगा चुका था। उसके

माथे पर पसीने की बूँदें छलकने लगी थीं, उसने दीवार पर लटकते हुए सफ़ेद तौलिये से उसका मुख पोंछ डाला। अचानक सुरेंद्र ने उसका हाथ कसकर पकड़ लिया—"देखो, तुम कहते थे कि तुम्हें परमात्मा पर विश्वास नहीं है, बट आई एम सीईंग गौड (परन्तु मैं भगवान को देख रहा हूँ।) मौत से पहले भगवान दिखायी देता है।"

नगेंद्र फिर चौकन्ना हो गया। मृत्यु और परमात्मा—दोनों ही कितनी अस्पष्ट और कितनी धुँधली चीज़ें थीं जिनके विषय में आज तक कोई व्यक्ति स्थिर मत संसार के सम्मुख नहीं रख सका। वह काँप उठा। उसने एक बार फिर सुरेंद्र को देखा परंतु उसकी आँखें बंद थीं।

लगभग आधे घंटे तक सुरेंद्र उसी प्रकार शांत और स्थिर होकर सोता रहा। नगेंद्र एक बार बाहर बरामदे में जाकर लेखा को देख आया था, वह चुपचाप आरामकुर्सी पर बैठी थी और वह लड़की धीरे-धीरे उससे बातें कर रही थी। नगेंद्र ने उनकी बातचीत में बाधा डालना उचित नहीं समझा। वह उलटे पाँव लौट आया और चुपचाप एक कुर्सी पर आकर बैठ गया। नारायण समाचार-पत्र पढ़ने में मग्न थे। पंखे की हवा केवल सुरेंद्र पर ही आ रही थी अतः नगेंद्र पास पड़ी एक किताब से ही हवा करने लगा। थक जाने पर उसने किताब खोली। यह डास्टोवस्की की "क्राइम एन्ड पनिशमेंट" थी। यह यहाँ कैसे आयी? लेखा अपने साथ कोई पुस्तक नहीं लायी थी। उसने आरम्भ का सफ़ा खोला। बड़े सुंदर अक्षरों में लिखा था—"नलिनी की १९वीं वर्षगांठ पर—विनोद" तीन महीने पहले की तारीख पड़ी हुई थी। नगेंद्र की समझ में आया। सुरेंद्र को चिल्लाते देख वह आठ नंबरवाली लड़की यह पुस्तक लिये ही अंदर चली आयी थी, फिर लेखा को बाहर ले जाते समय शायद यह पुस्तक वह यहीं छोड़ गयी थी। उसने फिर उन अक्षरों को पढ़ा। तो इसका नाम नलिनी है। किस प्रकार नाम पता चला। वह बिना किसी मतलब के पन्ने पलटने लगा।

समय बीतने के साथ-साथ सुरेंद्र का दर्द भी धीरे-धीरे कम होता गया और दिन के दो बजे के समय वह शांत होकर सो गया। बाहर लू चलने लगी थी और खसखस के दो पतले-पतले पर्दों में से कभी-कभी कोई ठंडी हवा का झोंका अंदर आ जाता था। बहुत ज़िद करने पर लेखा ने एक गिलास लस्सी का पी लिया और नगेंद्र थोड़ी दूर स्थित पेशावरी रेस्तरां में नान और गोश्तजोश खा आया। दिन भर की शारीरिक और मानसिक थकान के साथ जब वह कुर्सी पर बैठ कर नान खाने लगा तो हस्पताल की सारी घटनाएँ उसके मस्तिष्क में

घुड़दौड़ लगाने लगीं। पास ही रेडियो पर विदेशी संगीत हो रहा था, यह नगेंद्र को बहुत अच्छा लगा, इसमें मग्न होकर उसका ध्यान इस्पताल की घटनाओं से दूर भाग गया। सामनेवाली मेज पर एक सरदार और उसके साथ एक स्त्री बैठे थे, उनके सामने तीन-चार प्रकार के मांसों की 'प्लेटें' और दो-तीन नान रक्खे थे। ध्यान से देखने पर नगेंद्र ने ऐसा अनुभव किया कि वह स्त्री मुसलमान थी और वह सरदार कहीं से भगाकर उसे लाया था। सरदार खाने में मग्न था और कभी-कभी उस स्त्री की ओर देखकर मुस्करा देता था या कोहनी से धक्का दे देता था, वह मुसकराकर चुप हो जाती थी।

लौटते समय उसी फलवाले की दूकान को देखकर अनायास ही उसको नलिनीवाली बात याद आ गयी। न मालूम उसने लेखा से क्या बातें की होंगी? वह यहाँ पर आठ नम्बरवाले कमरे में क्यों आयी है? वहाँ के रोगी से उसका क्या संबंध है? इसी प्रकार के विचारों में उसका मन उलझा रहा। अस्पताल के द्वार से अंदर जाकर दफ्तर के सामने वहाँ पर रहनेवालों के नाम और कमरों के नंबरों की सूची देखने लगा। आठ नंबर के ऊपर 'विनोद' का नाम देखकर उसे किताब की बात याद आयी। वह भी तो विनोद ने ही नलिनी को उपहार में दी थी। हाँ, यह शायद वही विनोद है? कितनी सुन्दर लिखावट था।

अपने कमरे में जाकर उसने देखा कि सुरेंद्र उसी प्रकार चारपाई पर सो रहा था, नारायण चले गये मालूम देते थे, लेखा नीचे चटाई पर अपने हाथ का सहारा लेकर लेटी सो रही थी। खसखस के पर्दे से ठंडी हवा कमरे के अंदर आ रही थी। वह उसी के पास धीरे से आराम कुर्सी बिछाकर बैठ गया। नलिनी की पुस्तक उसने तलाश की परंतु वह कमरे में उसे दिखायी नहीं दी, शायद वही उठाकर ले गयी थी। थोड़ी देर में गुसलखाने जाते समय कौतूहलवश उसने आठ नं० कमरे की खिड़की में से झाँका। एक युवक चारपाई पर लेटा था, आँखें बंद थीं, साँवला रंग, परंतु नख शिख अच्छा था। शक्ल सूरत को देखने से वह रोगी जान पड़ता था। शायद वही विनोद था। उसके सिरहाने के पास आराम-कुर्सी पर नलिनी किताब हाथ में लिये बैठी थी। वह बड़े ध्यान से विनोद के मुख की ओर देख रही थी। नगेंद्र दबे पाँव अपने कमरे में वापस लौट आया।

इस्पताल का वातावरण नगेंद्र को बुरा नहीं लगा। जीवन में उसने एक नया पहलू देखा था। वह अनुभव कर रहा था कि बीमारी में मनुष्य कितना असहाय और कितना विवश बन जाता है, वह अपना सारा भार दूसरों पर छोड़ देता है। करवट बदलने के लिए उसे दूसरों को पुकारना पड़ता है। पहले दो-तीन

दिन तक उसने सुरेंद्र को जिस अवस्था में पड़े देखा था उससे वह काँप उठा था, प्रातःकाल ही नर्स आकर उसके सारे शरीर को पोंछती थी, नित्य के क्रिया-क्रम भी उसे चारपाई पर ही करने पड़ते थे, पानी तक लेटे-लेटे पीना पड़ता था। नगेंद्र ने अब अच्छे स्वास्थ्य का महत्व जाना था। उसने मन ही मन प्रतिज्ञा की थी कि अब वह अपने स्वास्थ्य का ध्यान रक्खेगा।

उस दिन दोपहर को बड़े ज़ोर की आँधी चली थी, धूल से आकाश तक भर गया था। उसके पश्चात बड़े ज़ोर से पानी बरसा और शाम तक बड़ी ठंडी हवा चलने लगी थी। सारा दिन कमरे में पड़े-पड़े नगेंद्र तंग आ गया था। उसने छत पर चढ़कर सारा शहर देखने की सोची। वह ऊपर सीढ़ियाँ चढ़ गया। गुनगुनाता हुआ वह अपने ध्यान में मग्न छत के बीच में पहुँच गया और दूर मंदिरों के ऊँचे कलशों और यमुना की पतली-सी धारा को देखने लगा। दाँयी ओर घूमकर उसने देखा तो सामने एक कोने में नलिनी बैठी दिखायी दी। लज्जा से उसका चेहरा क्षण भर के लिए आरक्त हो गया। यदि उसका वश चलता तो वह लौट जाता परंतु अब लौटना संभव नहीं था। उसे अपने बचपने पर ही शरम आयी। वह जानता था कि नलिनी ने उसे देख लिया है। वह पीठ मोड़कर दूसरी ओर देखने लगा। एक बार उसकी इच्छा हुई कि वह उसके पास जाकर उससे बातचीत करे परंतु फिर इसे सभ्यता के विरुद्ध समझकर उसने यह विचार छोड़ दिया।

हवा बड़े ज़ोर से चल रही थी और पास के वृक्ष की शाखायें मस्त होकर झूम रही थीं। आकाश पर अभी तक बादल छाये हुए थे। नगेंद्र ने कनखियों से नलिनी की ओर देखा, वह अपने स्थान से उठ खड़ी हुई थी और हवा से उड़ते हुए अपने बालों की लटों को सँवार रही थी। हल्के नीले रंग की साड़ी का आँचल हवा में उड़ जाना चाहता था मानों उसके शरीर को चारों ओर से लपेटना उसे प्रिय नहीं लग रहा था। नगेंद्र को आशंका हुई कि कहीं नलिनी नीचे अपने कमरे की ओर न चल दे, शायद उसे देखकर उसने नमस्कार तक जो नहीं किया था उसी से क्रोधित होकर वह चली जा रही थी। वह यह नहीं चाहता था कि नलिनी नीचे चली जाये, बातचीत करने के इस सुनहरे अवसर को वह अपने हाथों से छोड़ देना नहीं चाहता था।

इसी प्रकार की उधेड़-बुन में नगेंद्र नलिनी की ओर चल दिया। "मुझे क्षमा कीजिये," उसने नलिनी के पास जाकर कहा—"कहीं मैंने आपके एकांत में विघ्न तो नहीं डाला?"

"नहीं-नहीं"—नलिनी ने अपने आँचल को गले से मोड़कर आगे खिसकाते

हुए कहा। फिर थोड़ी देर रुककर बोली—"आज का मौसम बड़ा सुंदर है, ऐसी तीव्र गरमी के बाद बारिश पड़ने से बहुत ठंडक हो जायेगी।"

नगेंद्र ने अपनी स्वीकृति देकर गर्दन हिला दी।

"आपके भाई साहब की तबियत कैसी है?" उसने नगेंद्र की ओर देखते हुए पूछा।

"अब तो ठीक है लेकिन कमजोर बहुत हैं।" नगेंद्र थोड़ी देर पश्चात् कनखियों से नलिनी की ओर देखकर बोला—"भाभी आपकी बड़ी तारीफ कर रही थीं, आपके ढाढस देने से उन्हें बड़ी सांत्वना मिली, मेरे कहने का उन पर कोई असर न पड़ता।"

उसी शाम को नगेंद्र को पता चला कि विनोद लखनऊ यूनिवर्सिटी में प्रोफ़ेसर है। वह विनोद का आपरेशन करवाने लखनऊ से यहाँ आयी हुई है। परसों आपरेशन होगा। नलिनी के विषय में उसे इतना पता चला कि वह लखनऊ में एम० ए० फाइनल की छात्रा है, उसके घरवाले पटना में रहते हैं। आपरेशन के पश्चात् वह पटना चली जायेगी क्योंकि यूनिवर्सिटी बंद हो चुकी है। नगेंद्र ने विनोद के विषय में अधिक जानना चाहा परंतु इस विषय में उसने कभी स्पष्ट रूप से खुलकर बातचीत नहीं की। बहुत कम शब्द कहकर वह चुप हो जाती थी और उसकी मुद्रा भी बदल जाती थी। एक दो बार इसका अनुभव करके फिर नगेंद्र ने विनोद के विषय में अधिक बातचीत नहीं की।

वे दोनों काफी देर तक छत पर टहलते रहे। इतनी देर तक बातचीत करने के पश्चात् दोनों एक दूसरे से भली प्रकार परिचित हो गये थे। "जब विनोद का आपरेशन हो जाये तो आप हमारे घर अवश्य आइयेगा।"

नलिनी मुस्करा दी—"पहले आपरेशन हो जाने दीजिये।"

"वह तो परसों समाप्त हो जायेगा। आपरेशन के बाद कब तक आप हस्पताल में रहेंगी?"

"१५ दिन के लगभग तो लग ही जायेगा।"

"आप दिल्ली पहली बार आयी हैं?"

नलिनी ने दूर क्षितिज पर धुँधले आकाश और पृथ्वी को देखा—"हाँ, पहली ही बार आना हुआ है।" उसने तनिक भावुकता के आवेश में कहा—"लेकिन जिन परिस्थितियों में आयी हूँ उन्हें देखते हुए तो आना न आना बराबर ही मालूम देता है।"

नगेंद्र ने थोड़ी देर चुप रहकर कहा—"वह देखती हैं सामने पतली-सी

ऊँची लाट, वह कुतुबमीनार है, इसे जरूर देखना। ऊपर पहुँचकर सारी दिल्ली दिखायी देती है। अभी परसों ही यहाँ से एक शरणार्थी युवक ने कूदकर आत्महत्या की है।"

"हाँ, मैंने अखबार में पढ़ा था।"

"और वह असेम्बली, वह सिक्रेटेरियट और वह बिरला मंदिर। और इधर देखो, यह लाल किला और जामा मस्जिद, और वह पतली सी यमुना की धारा और उसके सामने पुराने किले के खंडहर। दिल्ली खंडहरों से भरी हुई है, इसने भी कितने ही राज्यों का उत्थान और पतन देखा है।"

नगेंद्र बार-बार नलिनी की ओर देखता जाता था और हरएक चीज़ की ओर संकेत करके दिखाता जाता था, परन्तु नलिनी उसी भावुकता में बही हुई सब-को देख रही थी मानों उन सब को देखकर किसी अतीत की पुरानी स्मृतियाँ सजग हो उठती थीं या भावी आशंका से वह काँप उठती थी। आकाश में धीरे-धीरे अंधकार का आवरण छा रहा था। सड़कों और मकानों में रोशनियाँ जलने लगी थीं और मंदिरों में घंटे बजने लगे थे।

"आप एक गिलास शरबत पियेंगे?" उसने थरमस के अंदर झाँकते हुए नगेंद्र से पूछा।

"नहीं; अब रात को क्या पिऊँगा"

"बरफ तो रक्खी है, रात को पीने में क्या हर्ज है?" यह कहकर उसने दो गिलासों में बरफ डाली और आल्मारी में से शरबत की बोतल निकालकर दो गिलास तैयार किये। खुली खिड़की में से बाहर के ठंढी हवा के झोंके अंदर आ रहे थे। विनोद ने अपने सिर के नीचे से तकिया निकालकर दीवार के सहारे लगा दिया और स्वयं उठकर बैठ गया।

"मालूम पड़ता है कि आज बारह एक बजे से पहले नींद नहीं आयेगी। नलिनी, मेरे बाक्स में से बायरन की किताब निकाल देना, आज कविता पढ़ने को मन कर रहा है।" विनोद ने नलिनी की ओर देखते हुए कहा।

वह शरबत का गिलास मुँह से लगाये बैठी थी—"रात को किताब नहीं पढ़ने दूँगी।" उसने उसी प्रकार गंभीरता से कहा—"नींद नहीं आयेगी तो मैं जो कहोगे वह सुना दूँगी, पढ़ने की डाक्टर की मनाही है।"

"तुम्हें अपने साथ जगाना नहीं चाहता नलिनी।"

"तो सो जाना। नींद न आये तो लेटे रहना।" यह कहकर वह खड़ी हो गयी। गिलास धोकर उसने उसी स्थान पर रख दिया।

थोड़ी देर और बैठकर नगेंद्र चला आया। सुरेंद्र सो गया था, लेखा दरी पर बैठी कहानियों की एक पत्रिका पढ़ने में मग्न थी। वह कपड़े उतारकर बाहर बरामदे में बिछी अपनी चारपाई पर आकर लेट गया। नीचे चीनी परिवार के कमरे से विदेशी संगीत की ध्वनि रात्रि की निस्तब्धता को भंग करती हुई हस्पताल में गूँज रही थी। लेखा बत्ती बुझाकर सोने चली गयी थी। आठ नम्बर कमरे की खिड़की में से बत्ती की रोशनी बाहर बरामदे में आ रही थी। नलिनी विनोद को बायरन की कविताएँ पढ़कर सुना रही मालूम देती थी। बाकी सब सन्नाटा था। नलिनी कितने सुंदर ढंग से कविताएँ पढ़कर उनमें रस घोल रही थी। उन्हीं अस्पष्ट स्वरों को सुनता हुआ वह कब निद्रा देवी की गोद में सो गया, इसका पता उसे नहीं लग सका।

शाम की बातचीत से वह समझ गया था कि नलिनी विनोद से कितना प्रेम करती है। उसके आपरेशन के कारण वह पटना न जाकर लखनऊ से यहाँ आयी है, विनोद की बातचीत किसी नये व्यक्ति से करके वह अपने रहस्य को बाँटना नहीं चाहती थी। विनोद के विषय में कुछ अधिक जानने की उत्सुकता उसके मन में उठी, शायद वह यूनिवर्सिटी में नलिनी को पढ़ाता होगा! तभी उन दोनों का प्रेम हो गया होगा। और अब उसके आपरेशन के समय वह उसके साथ हस्पताल में आई हुयी है, दिल्ली की सड़ी हुई गर्मी में।

रात को वह विनोद के कमरे में गया, नलिनी ने उसका विनोद से परिचय करा दिया। नगेंद्र ने ध्यान से विनोद को देखा। उसका दुबला पतला शरीर और उसकी आकर्षक आँखों में एक प्रकार का नारी का-सा सौंदर्य और कोमलता भरी हुई थी, उसके काले बाल उसकी आँखों पर आ रहे थे।

वह आरामकुर्सी पर बैठ गया, नलिनी चारपाई के दूसरे कोने पर विनोद के पैरों के पास बैठी थी। 'आपको किसी चीज की जरूरत पड़े तो हिचकियेगा नहीं, हम लोग दिल्ली के ही रहनेवाले हैं।"

विनोद हँसने लगा, उसके सफेद दाँत नगेंद्र को बड़े सुंदर लगे। उसने "धन्यवाद" कहकर नलिनी की ओर देखा। नलिनी चुपचाप विनोद की ओर देखती रही। नगेंद्र ने उस दृष्टि के पीछे छिपे रहस्य को जानने का प्रयास किया। उस दृष्टि में विनोद के लिए कितना प्रेम, कितनी करुणा और कितना अपनत्व था, यह उससे छिपा नहीं रहा।

"आप आपरेशन के बाद कुछ दिन हमारे घर चलकर रहियेगा।" नगेंद्र

बोला—"इस बार दिल्ली में अधिक गरमी नहीं पड़ी, वरना हर साल टेम्परेचर ११२ पहुँच जाता था।"

नलिनी को बातचीत का यह सिलसिला कुछ भाया नहीं। वह उठ खड़ी हुई और ब्रैकेट पर रक्खी चीजों को ठीक करने लगी। दूध का गिलास धोकर आल्मारी में रख दिया, दवाइयों की शीशियों को एक साथ सजा दिया। नगेन्द्र चुपचाप उसे देखता रहा। आज बालों के जूड़े में चमेली के फूलों की माला लगी थी, मद्रासी ब्लाउज में कसा हुआ उसका शरीर और बाँहें उसके स्वस्थ सुडौल शरीर का परिचय दे रहे थे।

जिस दिन विनोद का आपरेशन होना था उस दिन प्रातःकाल से ही नगेंद्र उनके कमरे में रहा, छोटे-छोटे काम करने में उसे बड़ी प्रसन्नता मिलती थी। नलिनी अन्य दिनों की भाँति ही अपने नित्य के कार्यक्रम में मग्न थी, उसके चेहरे पर किसी प्रकार की चिंता या भय के चिह्न नहीं थे। नर्स आकर विनोद की बाँह में एक इंजेक्शन लगा गयी थी। विनोद के मुख पर भी घबराहट दिखायी नहीं देती थी। वह चुपचाप समाचार-पत्र पढ़ने में मग्न था।

९ बजे के लगभग इस्पताल का सबसे बड़ा डाक्टर आया, उसने विनोद का भली भाँति निरीक्षण किया, उससे कुछ प्रश्न पूछे और फिर नौकरों को विनोद को स्ट्रेचर में आपरेशन रूम में लाने के लिए कहकर वह दूसरे कमरे में चला गया।

स्ट्रेचर में विनोद को ले जाते समय भी नलिनी एक कोने में चुपचाप खड़ी देखती रही। नगेंद्र भी आपरेशन रूम के पास जाकर बेंच पर बैठ गया था। इस बार उसे अधिक भय नहीं लग रहा था, वह इसको इस्पताल का प्रतिदिन का कार्यक्रम समझता था जिसमें घबराने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं होती। बेंच पर बैठकर वह विनोद और नलिनी के विषय में सोचने लगा। वह विनोद के आपरेशन और उसके गिरे हुए स्वास्थ्य को समझती थी, इसी कारण से नलिनी को बड़ी चिंता थी, और आपरेशन के समय वह स्वयं इस्पताल में रहना चाहती थी। वह आपरेशन की गंभीरता को समझता था। उसने नलिनी से आपरेशन के विषय में विस्तार से जानने का एक बार प्रयास किया था परंतु उसकी उदासीनता और अनमने भाव को देखकर वह चुप रह गया था। इस चर्चा को फिर छेड़ना उसने उचित नहीं समझा था परंतु वह इतना अवश्य समझ गया था कि विनोद का आपरेशन कोई साधारण आपरेशन नहीं है। अपनी उत्सुकता को शांत करने के लिए उसने विनोद के कमरे से आती हुई नर्स से

धीमे स्वर में पूछा था—"देयर इज नो डेंजर इन दिज आपरेशन !" (इनके आपरेशन में कोई खतरा तो नहीं है ?) उसने नगेंद्र की ओर एक बार ध्यान से देखा फिर आगे क़दम बढ़ाती हुई बोली—"वी कैन ओनली होप फ़ार दी बेस्ट।" (हम अच्छे ही की आशा कर सकते हैं।)

इससे अधिक वह इस आपरेशन के विषय में नहीं जान सका था। बीमारियों के विषय में अधिक जानने का न तो उसे अवसर ही मिला था और न ही उसने कभी उत्सुकता ही दिखायी थी।

पासवाले कमरे में से चीनी परिवार का सामान बाहर जा रहा था, बाहर एक टैक्सी खड़ी थी। नगेंद्र ने मन ही मन अनुमान लगाया कि शायद सफल आपरेशन हो जाने के पश्चात् उस व्यक्ति के परिवार के सब लोग हस्पताल से जा रहे थे। नैरे इनाम पाने के लालच से दरवाजे के बाहर खड़े थे, नर्सें हंस हँसकर परिवार के सब लोगों से हाथ मिला रही थीं। यद्यपि नगेंद्र का इनसे व्यक्तिगत रूप से कभी परिचय नहीं हुआ था परंतु उनको हस्पताल में देख कर वह उनके कुछ समीप आ गया था। अब यकायक उनको जाते देखकर न जाने उसके मन में क्यों एक प्रकार की पीड़ा-सी उठने लगी। विनोद का ध्यान आते ही उसने सोचा कि उससे और नलिनी से भी उसका परिचय कितना अस्थायी है। आज वे सात और आठ नंबर के कमरों में रहते हैं, परंतु कल ही वह अपने घर वापस लौट जायेगा और वे दोनों दिल्ली से बाहर चले जायेंगे। इस विचार को वह अधिक समय तक अपने मन में नहीं रख सका।

उसी समय उसने दो-तीन नर्सों को बड़ी तेज़ी से आपरेशन रूम से बाहर निकलते देखा और क्षण भर में वे दवाइयों के कुछ और डिब्बे लिये अंदर वापस लौट गयीं। नगेंद्र ने उनको बाहर निकलते देखकर सोचा था कि वह उनसे आपरेशन के विषय में कुछ पूछेगा परंतु उनकी फ़ुर्ती को देखकर उसे कुछ भी पूछने का साहस नहीं हुआ।

बाहर सड़क पर आने-जानेवालों का ताँता बढ़ता जा रहा था। नगेंद्र भीड़ के इस प्रवाह को देखता जा रहा था। किसी पर भी उसकी दृष्टि जम नहीं रही थी। वहाँ से उकताकर वह ऊपर नलिनी के पास चला गया। वह विनोद की चारपाई के पास चुपचाप खड़ी थी। हाथ में वही रातवाली बायरन की कविताओं की पुस्तक थी। अचानक नगेंद्र को देखकर उसने वह किताब आलमारी में रख दी और कमरे के दूसरे सामान को यथा स्थान लगाने लगी।

नगेंद्र क्षण भर के लिए उसे चुपचाप देखता रहा।

"कितनी देर अभी और लगेगी आपरेशन में ?" उसने पूछा।

उसी क्षण एक नर्स नगेंद्र के उत्तर देने से पूर्व ही कमरे में घुसी और नलिनी की ओर देखकर बड़े शांत स्वर में हाँफते हुए कहा—"डाक्टर इज़ कालिंग यू इन दी आपरेशन रूम। (डाक्टर आपको आपरेशन रूम में बुला रहे हैं।)"

नलिनी चुपचाप नर्स की ओर ताकती रही।

"बात क्या है ?" नगेंद्र ने पूछा—"इज़ दी आपरेशन सक्सेसफुल ? (क्या आपरेशन सफल हुआ ?)"

"आई एम अफरेड, इट इज़ नाट, हरी अप लेडी (मुझे भय है कि नहीं। जल्दी करो।)" यह कहकर वह दरवाज़े की ओर मुड़ी।

नलिनी अब भी चुपचाप मूर्तिवत् खड़ी थी मानों स्थिति को पूर्णरूप से समझने का प्रयास कर रही हो।

"जल्दी चलो नीचे नलिनी" यह कहकर वह लपककर नीचे सीढ़ियाँ उतरने लगा। एक बार उसने पीछे मुड़कर देखा, नलिनी चुपचाप उद्देश्यहीन-सी कदम आगे बढ़ाये जा रही थी।

आपरेशन रूम में जाकर नगेंद्र ने विनोद को लेटे पाया। उसका मुख हल्दी की भाँति पीला पड़ गया था। आँखें बन्द थीं सारा शरीर एक श्वेत चादर से ढँका हुआ था, पास ही सबसे बड़ा डाक्टर मित्रा विनोद की कलाई अपने हाथ में लिये था।

"आई एम वेरी सारी (मुझे बहुत शोक है)" डाक्टर मित्रा ने नलिनी को देखकर कहा—"मैंने अपनी पूरी कोशिश की लेकिन विनोद इतने कमजोर थे कि आपरेशन स्टेज को सह नहीं सके। मैंने तो केस हाथ में लेने से पहले ही आपको खतरे से परिचित करा दिया था लेकिन आपरेशन न होता तो भी ये बच नहीं सकते थे।"

नगेंद्र चुपचाप कभी डाक्टर के मुख की ओर और कभी विनोद की ओर देख रहा था। नलिनी की ओर देखने का साहस उसे नहीं हो रहा था।

नलिनी ने आगे बढ़कर विनोद को देखा—"क्या ये समाप्त हो गये ?"

"नहीं, अभी दस पंद्रह मिनट तक और हैं लेकिन बोल नहीं सकते, सुन नहीं सकते और देख नहीं सकते।"

नलिनी ने अपना हाथ विनोद के माथे पर रख दिया मानों उस अंतिम स्पर्श से ही वह अपनी अन्तिम इच्छाएँ पूरी कर रही थी।

लगभग दस मिनट व१ तीनों चुपचाप खड़े रहे।

वह दिन विनोद की अ तिम क्रियाकम करने में बीत गया।

अगले दिन रात को जब नगेंद्र नलिनी को पटनावाली गाड़ी पर चढ़ा कर हस्पताल वापस लौट रहा था तो वह ऐसा अनुभव कर रहा था कि उसके हृदय की शून्यता में जिसने पाँच-छः दिन के लिए अपना स्थान बनाया था अब वह फिर रिक्त हो गया है। मानों वह अपना कुछ खो बैठा है। उसने अपनी जेब में से एक सिगरेट निकालकर सुलगायी और धुँआ छोड़ता हुआ आगे बढ़ रहा था। उसने वही लाल किले की दीवार और जामा मस्जिद देखी परन्तु उसे दोनों में कुछ अन्तर जान पड़ा।

हस्पताल में पहुँचकर जब वह अपने कपड़े वगैरा बदलकर बाहर बरामदे में लेटने गया तो आठ नंबर कमरे को अँधेरा देखकर उसका हृदय चीत्कार कर उठा। कल यहीं बायरन की कविताएँ पढ़ी जा रही थीं, यहीं दो आत्मायें सुनहरे भविष्य के जाल बुन रही थीं परन्तु आज यहीं खण्डहर बन गये थे, उसी प्रकार के ऐतिहासिक खण्डहर, जैसे लाल किला और पुराना किला—जहाँ कभी बहार थी, जहाँ मधुमास था परन्तु आज जहाँ उल्लू बोलते हैं, जहाँ की ईंटें चुपचाप पुरानी स्मृतियों को याद करके सिसका करती हैं। यह आठ नम्बर कमरा भी खण्डहर था कल के इतिहास का।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

यशपाल

यशपाल से मेरा परिचय न घना है न पुराना; उस इंद्रधनुष के परिचय-सा है जिसका एक सिरा नीचे के बादलों में गुम हो और दूसरा आकाश के विस्तार में खो गया हो और दो-चार बार ही जिसकी झलक मुझे मिली हो।

यशपाल के अतीत को मैं अधिक नहीं जानता। केवल इतना सुना है कि स्व० चंद्रशेखर आजाद की सोशलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी से उनका संबंध था; उन्होंने 'बम की फ़िलॉसफ़ी' नाम से एक पैंफ़्लेट लिखा था जिसकी उन दिनों बड़ी चर्चा थी; लाहौर षड्यंत्र तथा गवर्नर की गाड़ी को उड़ाने आदि के मामलों से उनका संबंध था; बहुत देर तक वे पुलिस के हाथ नहीं आये, जब आये तो चंद्रशेखर आज़ाद शहीद हो चुके थे; इलाहाबाद में पकड़े गये; चौदह वर्ष की सज़ा हुई; १९३७ में कांग्रेस ने जब सरकार से सहयोग किया और प्रांतों में कांग्रेस सरकारें बनीं तो यशपाल भी रिहा हुए, जेल ही में उनकी शादी प्रकाशजी से हो गयी थी, जो स्वयं क्रांतिकारियों के साथ रही थीं, (अथवा यों कहना चाहिए कि प्रकाशजी ने जेल के अधिकारियों से प्रार्थना कर श्रीयशपाल से शादी कर ली थी।) अभी यशपाल की सजा काफ़ी शेष थी पर बीमार हो जाने और डाक्टरों के यक्ष्मा घोषित करने से उन्हें छोड़ दिया गया। पंजाब के किस प्रदेश में उन्होंने जन्म लिया, कहाँ पले, पढ़े, क्रांतिकारी बनने से पहले क्या करते थे, क्रांतिकारी दल में उनका क्या स्थान था—ये और उनके अतीत की बीसियों बातों का मुझे कोई ज्ञान नहीं। उनका अतीत काफी घटनामय रहा। भविष्य कैसा रहेगा, इसके संबंध में भी मैं कुछ नहीं कह सकता, क्योंकि पुरुष का भाग्य जब देवता नहीं जानते तो मैं मनुष्य क्या जानूँगा! कुछ वर्षों के व्यक्तिगत संपर्क में मैंने उनकी जो झलक देखी उसी का उल्लेख मैं कर सकूँगा।

मैंने यशपाल को पहली बार शिमले में हिंदी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर देखा और इस बात के अतिरिक्त कि मैंने क्रांतिकारी यशपाल को देख लिया है,

अन्य किसी बात का प्रभाव मेरे मन पर नहीं रहा। बात यह थी कि २८-२६ की सनसनियों का जमाना बीत चुका था, भगत सिंह और राजगुरु को फाँसी लगे बरसों हो गये थे, कांग्रेस असहयोग की नीति को छोड़कर सरकार के साथ सहयोग कर रही थी। इसलिए यशपाल उस जमाने की राजनीति में महत्त्व खो बैठे थे। यदि मुझे कहीं उन्हें उस जमाने में देखने का अवसर मिलता जब देश भर में हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी की सरगर्मियों के चरचे थे, तो मुझे विश्वास है कि उस मेरठ का गहरा प्रभाव मेरे मन पर रहता। १६३८ में हिंदी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर पधारनेवाले 'प्रतिष्ठित सज्जनों' में से वे भी एक थे और उनकी अपेक्षा कई अन्य व्यक्तित्व मेरे लिए अधिक महत्त्व रखते थे।

हिंदी साहित्य सम्मेलन के उन दिनों की अस्पष्ट-सी याद आज भी मेरे हृदय में बनी हुई है। हम लोग चार बाज़ार की धर्मशाला में ठहरे थे। ऊपर की मंज़िल पर थियेटर अथवा सिनेमा का हाल था। हाल का फ़र्श लकड़ी का था। वहीं हम लोगों के बिस्तर लगे थे। मुझसे कुछ ही दूर निराला जी का बिस्तर था, पर मेरे लिए निराला तब उस पहाड़ के सदृश थे जिसकी भव्यता दूर ही से देखने का मन करता है, जिसके शिखरों की ऊँचाई और खड्डों की निचाई की कल्पना जिसके निकट जाने से रोकती है। यह जानकर कि क्रान्तिकारी यशपाल भी हाल ही में ठहरे हैं, उन्हें देखने की उत्सुकता हुई। बच्चन, सुमन आदि स्टेज पर बिस्तर जमाये थे। वहीं मैं यशपाल को देखने गया। पहली दृष्टि में मुझे यशपाल में क्रान्तिकारियों की-सी कोई बात न लगी। अथवा यों कहना ठीक होगा कि अपनी कल्पना में क्रांतिकारियों का जो रूप मैंने बना रखा था, यशपाल उस पर पूरे न उतरे। क्रांतिकारी 'अज्ञेय' का एक चित्र मैंने देखा था। हृष्ट-पुष्ट देह, लंबे-लंबे घुँघराले बाल, गहरी अनुभूति प्रवण आँखें, नंगे शरीर पर धोती और चादर, यही चित्र उनके पहले कविता संग्रह 'भग्न-दूत' में छपा भी था। उसी के अनुरूप मैंने यशपाल की कल्पना की थी। हृष्ट-पुष्ट देह की बात न सही, लेकिन लंबे बालों और कुछ वैराग्यवादी के भाव की आशा तो थी ही। मैंने देखा—बढ़िया सूट पहने हुए मँझले कद और साँवले रंग का एक युवक, सफ़ाई से कटे-छटे छोटे बाल, चौड़े खुले-खुले अंग, मोटे ओठ, घनी भवें और कड़े चिपके हुए कल्ले—किसी क्रांतिकारी के बदले मुझे यशपाल किसी बिगड़े हुए ईसाई अफ़सर-से लगे। तब मेरी उत्सुकता का केंद्र यशपाल के बदले बच्चन अधिक थे। इसलिए एक नज़र यशपाल को देखने के बाद मेरा ध्यान बच्चन की ओर मुड़ गया। बिल्कुल उसी तरह जैसे अजायबघर में आदमी प्राचीन काल की

किसी अनूठी चीज़ को एक नजर लख, नये ज़माने के अजायबात को देखने के लिए बढ़ जाय।

लेकिन सभी मेरे जैसे हों, यह बात नहीं। दिल्ली के पंडित चंद्रशेखर शास्त्री सुबह-शाम यशपाल के पीछे पड़े रहते थे। वे 'हिटलर महान्' और 'मुसोलिनी महान्' का सृजन करने के बाद उन दिनों भारत के क्रांतिकारियों के इतिहास का निर्माण कर रहे थे। लिखे मसौदे का पुलंदा बग़लमें दबाये वे सुबह-सुबह यशपाल को घेर लेते थे। मुझे उन्हें बनाना अच्छा लगता था। फक्कड़पन के दिन थे, क्या कहते और क्या बकते हैं, कभी इस पर ध्यान न दिया था। एक सुबह हम जाकू की सैर को गये तो शास्त्रीजी से मेरी झड़प हो गयी। छेड़ा उन्होंने पहले था, मैंने उत्तर दिया तो वे झुंझला उठे। स्वयं मजाक करके दूसरे के मज़ाक को सहना हर किसी के बस का है भी नहीं। झगड़ा होते-होते बचा। तनाव को कम करने के लिए मैंने कुछ हास्य रस के शेर सुनाने आरंभ किये। तभी शास्त्रीजी ने थककर जमाही ली और मैंने शेर पढ़ा :

जब उठता है जंगल में जमाही लेकर
याद आ जाता है नक्शा तेरी अँगड़ाई का!

मित्र ठहाके पर ठहाके लगाने लगे। बच्चन, सुमन और दूसरे मित्रों के साथ-साथ यशपाल भी थे। मुझे अच्छी तरह स्मरण है वह चुपचाप अपने बड़प्पन को लिये-दिये साथ-साथ चलते रहे। बच्चन, सुमन तथा अन्य मित्र हँसी-ठठोली में भाग लेते रहे, पर यशपाल मुस्कराये चाहे हों, (यद्यपि इसकी याद मुझे नहीं) परंतु एक बार भी उनके ओठों से ठहाका नहीं निकला।

और शिमले से जब मैं लौटा तो पंजाबियों के सामने हिंदी कवियों के निजी मतभेद के प्रदर्शन और उसमें बच्चन के प्रमुख भाग लेने के बावजूद, जिससे "ग़ैर" के सामने हिंदी का सर ऊँचा देखने की इच्छा रखनेवाले हर पंजाबी की भाँति मुझे भी दुख पहुँचा, जाकू की वह सैर और उसकी ऊँचाई पर बच्चन के सुरीले गले से सुनी हुई कविताओं का माधुर्य सदा के लिए मेरे मन पर खुश-गवार असर छोड़ गया। यशपाल से भी शिमले में भेंट हुई, इस बात को मैंने कोई महत्व नहीं दिया।

लेकिन धीरे-धीरे शिमले की वह भेंट, जिसमें हम एक दूसरे से बोले तक नहीं, महत्व प्राप्त कर गयी और जब बारह-तेरह वर्ष बाद गत वर्ष अल्मोड़ा में

उनसे मिला तो मैंने उसी भेंट का तार पकड़ा। हुआ यों कि यशपाल से मिलने पर भी जो परिचय गहरा न हुआ था वह दिन दिन गहरा होता गया, और उसी अनुपात से शिमले की वह भेंट महत्व प्राप्त करती गयी।

शिमला से आने के बाद मैंने सहसा 'विशाल भारत' में एक कहानी देखी। शीर्षक था "परसराम" और रचयिता का नाम लिखा था—यशपाल। उन दिनों मेरे परिचितों में दो यशपाल थे। लाहौर के 'यश'जी—'हिंदी मिलाप' के मालिक महाशय (अब महात्मा) खुशहालचंद के छोटे लड़के, जो उन दिनों अपने भाई श्रीरणवीर सिंह 'वीर' के अनुकरण में कहानी लिखने लगे थे, और दिल्ली के यशपाल जैन—श्रीजैनेंद्रकुमार के सहृदय भानजे। लाहौर के यशजी की कहानी 'विशाल भारत' में छपी है, इसका तो विश्वास न था, क्योंकि वह तब बहुत छोटे थे और फिर 'विशाल भारत' में तब हर किसी की चीज़ भी न छपती थी। जैनेंद्र 'विशाल भारत' ग्रुप में से थे, ख्याल यही हुआ कि दिल्लीवाले यशपाल की ही कहानी है। और यह सोच मैं उसे पढ़ने लगा।

कहानी पंजाब के पहाड़ी प्रदेश की थी। चंद सतरें पढ़ने पर फिर ख्याल आया कि शायद लाहौर के यश ही की है, पर ज्यों-ज्यों मैं कहानी पढ़ता गया, महसूस करता गया कि यह उन दोनों में से किसी की नहीं हो सकती। कहानी के अंत पर पहुँचकर यह विश्वास और भी पक्का हो गया। दोनों की प्रतिभा से मैं अभिज्ञ था। दोनों में से कोई भी ऐसी सुंदर कहानी लिख सकता है, इसकी कोई संभावना न थी। तब सहसा ख्याल आया कि कहीं यह क्रांतिकारी यशपाल की कहानी न हो। किसी से सुना था कि वह भी कहानी लिखते हैं और लखनऊ से पत्र निकालने जा रहे हैं। कुछ दिन बाद मैंने अनारकली के चौराहे पर फज़ल के स्टाल में 'विप्लव' के दर्शन भी किये। (खरीदने की शक्ति तब थी नहीं) 'विप्लव' को देखकर मुझे पूरा विश्वास हो गया कि कहानी क्रांतिकारी यशपाल ही की थी। और इस विश्वास के साथ शिमला की वह भेंट विस्मृति के गर्त से निकलकर सामने आ गयी।

यदि मैं लाहौर रहता, 'विप्लव' खरीदकर अथवा कहीं से लेकर उसमें यशपाल की चीज़ें पढ़ता, तो मैं निश्चय उस संक्षिप्त परिचय को घनिष्ट बनाने का प्रयास करता। पर मैं प्रीतनगर चला गया। प्रीतनगर नाम से नगर था, पर उसमें उस समय केवल अठारह कोठियाँ बनी थीं और वह नगर छोड़ अटारी की सड़क से भी दस मील दूर मध्य पंजाब के देहात में बन रहा था। वहाँ जाकर मैं साहित्यिक वातावरण से एकदम दूर हो गया।

बहुत दिन बाद, याद नहीं, प्रीतनगर में, लाहौर अथवा दिल्ली में, मैंने यशपाल की एक और कहानी पढ़ी—'ज्ञानदान' और यद्यपि न मुझे इस कहानी के आधारभूत विचार में नवीनता लगी और न 'परसराम'-सा प्यारापन, पर यशपाल के कहानीकार की शक्तिमत्ता का उससे अवश्य आभास मिला। उर्दू के प्रसिद्ध कहानीकार 'मंटो' की भाँति यशपाल का कथाकार भी अपने पाठकों को चौंका देना पसंद करता है। मंटो की इस शॉक टैक्नीक (Shock technique) का उल्लेख करते हुए उर्दू की एक दूसरी प्रसिद्ध कथाकार इस्मत-चग़ताई ने लिखा कि मंटो की बातचीत हो, अथवा साहित्य, अपने सुनने और पढ़नेवालों को चौंकाना अधिक रुचिकर है। यदि लोग साफ़-सुथरे कपड़े पहने बैठे हों तो मंटो वहाँ इसलिए शरीर पर मिट्टी पोते पहुँच जायगा कि लोग उसे देखकर चौंक पड़ें। यशपाल के संबंध में यह बात कही जा सकती है या नहीं, यह मैं नहीं कह सकता। इसमें संदेह नहीं कि मंटो ही की भाँति यशपाल की कई कहानियों में यह चौंका देनेवाला गुण वर्तमान है। 'ज्ञानदान' के बाद 'प्रतिष्ठा का बोझ' और 'धर्मरक्षा' इसके उदाहरण हैं। पर यशपाल केवल चौंकाने के लिए नहीं चौंकाते। उन्होंने अपने नये कहानी संग्रह 'फूलों का कुर्ता' की प्रथम कहानी (अथवा पुस्तक की भूमिका) में, अपनी इन कहानियों के उद्देश्य का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि "बदली स्थिति में भी परंपरागत संस्कार से ही नैतिकता और लज्जा की रक्षा करने के प्रयत्न में क्या से क्या हुआ जा रहा है, समाज अपने आदर्शों को ढकने के प्रयास में कितना उघाड़ता चला जा रहा है, प्रगतिशील लेखक यही बताना चाहता है और समाज को उसकी बातें बड़ी उघड़ी-उघड़ी लगती हैं।"

जो भी हो, इन कहानियों के मुकाबिले में कहीं सुंदर कहानियाँ यशपाल ने लिखी हैं, जिनकी आर्द्रता, संवेदना, जिनके आधारभूत विचारों की यथार्थता और उस यथार्थता को कहानी में रखने के ढंग की नवीनता अपूर्व है। दुर्भाग्य से यशपाल कहानी का नाम रखने में सतर्क नहीं, इसलिए इस समय जब कई कहानियों के नाम याद आ रहे हैं कई के भूल गये हैं। केवल उनकी स्मृति शेष है। 'पराया सुख', 'राज', 'उसकी जीत', 'गंडेरी', और 'ज़िम्मेवारी', तो बहुत ही सुंदर बन पड़ी हैं। 'संन्यासी', 'दो मुँह की बात', 'दूसरी नाक', 'सीमा का साहस' आदि कितनी ही कहानियाँ हैं जो दो बार पढ़ने पर भी उतना ही आनंद देती हैं।

लेकिन १९४७ तक 'परशुराम' और 'ज्ञानदान' के अतिरिक्त मैं यशपाल की और कोई कहानी न पढ़ पाया था। एक दो बार फ़तहपुरी की एक दुकान पर यशपाल की पुस्तकें दिखायी दीं, पर मुखपृष्ठ सुन्दर न लगने से खरीद न पाया। जिस प्रकार यशपाल अपनी कहानी के शीर्षक की चिंता नहीं करते उसी प्रकार मुखपृष्ठ पर ध्यान नहीं देते। आर्ट पेपर और जिल्द की बात तो दूर रही, अच्छी क्वालिटी का सफ़ेद कागज भी नहीं लगाते। यशपाल का खयाल है कि देश की जनता महँगी पुस्तकें नहीं खरीद सकती। पर मेरा दुर्भाग्य है कि मैं अच्छी पुस्तक के साथ अच्छा मुख-पृष्ठ भी चाहता हूँ और फिर मेरा ख्याल है कि जो लोग रोज़ सिनेमा देख सकते हैं, वे चाहें तो महीने में एक दो महँगी पुस्तकें भी खरीद ही सकते हैं। दूसरी बातों के अतिरिक्त यह बात भी मेरे मार्ग की बाधा बनी रही।

दिल्ली तीन साल बिताकर मैं बंबई चला गया। वहीं 'नया साहित्य' में मैंने यशपाल की एक और कहानी 'साग' पढ़ी। उसका व्यंग्य और तीखापन पूर्वपरिचित था। उन्हीं दिनों मैं एक दिन 'हिंदी ग्रंथ रत्नाकर' किसी काम से गया और यशपाल की जितनी भी पुस्तकें दुकान पर थीं, खरीद लाया।

खरीद लाया पर पढ़ने का अवसर फिर भी न मिला। केवल एक पुस्तक पढ़ पाया 'पार्टी कामरेड'। न जाने मैं किसी फिल्मी कहानी का सिनारियो लिख रहा था, या अपना नाटक, लिखते-लिखते जी कुछ घबराया तो यशपाल के सेट में सबसे छोटी पुस्तक उठाकर पढ़ने लगा। वहीं कुर्सी पर पीछे को झुका, टाँगें मेज़ से टिकाये, मैं सारी की सारी पुस्तक एक ही बार पढ़ गया। पुस्तक बड़ी नहीं, पर मैं काम में रत था और उस स्थिति में मेरा सारी की सारी पुस्तक को पढ़ जाना कम से कम उसके सबसे बड़े गुण मनोरंजकता का द्योतक तो है ही। वहीं बैठे बैठे मैंने यशपाल को एक लंबा पत्र लिखा, 'पार्टी कामरेड' के गठन और उसकी कला की सुंदरता के संबंध में।

शिमले की उस भेंट के बाद यशपाल को यही मेरा पहला पत्र था। यशपाल ने उसका उत्तर भी दिया, पर बंबई के व्यस्त जीवन में यह पत्र-व्यवहार अधिक न चल सका। यशपाल की कहानियों का सेट भी उसी तरह पड़ा रहा। कुछ नई किताबें आयीं, रैक की पुरानी किताबें अलमारी में चली गयीं। फिर जब १९४८ में मैंने फ़िल्म की नौकरी छोड़ दी तो मेरी पत्नी और सामान के साथ पुस्तकें भी लाहौर ले गयी और यशपाल का वह सेट उस समय तक मेरे हाथ न आया जब तक मैं अपनी बीमारी के छः महीने सैनेटोरियम में काटकर

पंचगनी ही में, बाहर एक बंगले में न आ गया। समय काफ़ी था; दिन-रात वर्षा होती रहती थी, लिखने और पढ़ने के अतिरिक्त कोई काम न था। लाहौर में और तो बहुत कुछ रह गया, पर पुस्तकें बच गयी। स्थान की तंगी के कारण भाई साहब ने उन्हें जालंधर पहुँचा दिया था, जहाँ से वे वापस बंबई होती हुई पंचगनी पहुँचीं। यशपाल की कहानियों के जितने संग्रह उस सेट में थे, वे सब मैंने एक साथ पढ़ डाले।

हिंदी कथा-साहित्य में जैनेंद्र के पथ-भ्रांत होने के साथ कई भावी कथाकार अंधेरे में टामक-टोए मारने लगे थे। प्रेमचंद जब जीवित थे तो कथाकारों का एक अच्छा-खासा गिरोह कहानी-साहित्य का भंडार भर रहा था। तब उर्दू पत्र-पत्रिकाओं में हिंदी कहानियों के अनुवाद रहते थे। लेकिन जब प्रचार-कुशल जैनेंद्र अपनी अतुल प्रतिभा किंतु परिमित निधि के साथ बरबस प्रेमचद के आसन पर आ विराजे तो कई कथाकार अपना मार्ग छोड़ उनका अनुकरण करने लगे। परंतु जैनेंद्र तो कहानी का अँचल छोड़ वर्धा के विचारकों के पथ पर बढ़ गये और हिंदी के कथाकार अनायास भटक गये। इसी समय उर्दू कहानी प्रगति के पथ पर बड़ी तेजी से अग्रसर हुई। कृष्णचंद्र, बेदी, मंटो, इस्मत के साथ उर्दू कथाकारों का एक दल का दल मैदान में आ गया और फिर वह भी समय आया कि हिंदी पत्र-पत्रिकाओं में धड़ाधड़ उर्दू कहानियों के अनुवाद होने लगे।

इस बीच में जब हिंदी के अधिक कथाकार चुप हो गये, अथवा दूसरे क्षेत्रों में चले गये थे, यशपाल धीरे-धीरे अपने पाँव जमाते गये। और समय आया कि जैनेंद्र के बाद जो स्थान रिक्त हो गया था, उसे उन्होंने भर दिया। अब फिर हिंदी कहानी में बढ़ती के लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे हैं और वह गर्त भरता-सा दिखायी दे रहा है जो जैनेंद्र के पथ-भ्रांत होने से हिंदी कथा-साहित्य की गति में अनायास आ गया था।

['अज्ञेय' इस बीच में अवश्य लिखते रहे, पर 'अज्ञेय' के लिखने की गति कभी तेज़ नहीं रही। दिनों तेवर चढ़ाये मौन रहकर जैसे वे कभी अनायास बड़े प्यारे ढंग से मुस्कराने लगते हैं, इसी प्रकार महीनों की चुप्पी के बाद उनकी लेखनी कोई सुंदर कहानी सृजती है। फिर 'अज्ञेय' की कहानियाँ सर्वसाधारण के लिए ज्ञेय भी नहीं होतीं।]

प्रेमचंद्र और जैनेंद्र के बाद हिंदी में लोकप्रिय सामाजिक कहानियों का

जो अभाव मुझे हिंदी के पाठक की हैसियत से खटकता था, वह यशपाल की कहानियों को पढ़कर बड़ी हद तक दूर हो गया।

देश का विभाजन हो जाने से लाहौर हमारे लिए पराया हो गया था, मित्रों की सन्निकटता के कारण बीमारी के बाद स्वस्थ होकर हम इलाहाबाद बसने की सोच रहे थे। मेरे मन में कई बार यह विचार उठता था कि इलाहाबाद रहें तो लखनऊ जाने का अवसर अवश्य मिलेगा। लखनऊ जाऊँगा तो यशपाल से अवश्य मिलूँगा। शिमले के उस हल्के-से परिचय पर समय की जो धूल पड़ गयी है, उसे झाड़कर उसे कुछ गहरा बनाऊँगा। लेकिन इलाहाबाद आकर मैं ऐसे संघर्ष में रत हो गया जैसा जीवन में कभी नहीं किया। यही कारण था कि दो बार लखनऊ जाने पर भी मैं यशपाल से, इच्छा रखते भी, न मिल सका। फिर जब एक दिन लखनऊ में समय निकालकर उनसे मिलने चला तो मालूम हुआ कि सरकार ने उन्हें नजरबंद कर दिया है।

पिछले वर्ष गर्मी का एक डेढ़ महीना काटने के लिए मैंने अलमोड़ा जाने का निर्णय किया। रास्ते में दो दिन काम से लखनऊ रुका। यशपाल के संबंध में पता चलाया तो मालूम हुआ कि सरकार ने छोड़ तो दिया है पर लखनऊ से निकाल दिया है और वह अपने निष्कासन का समय भुवाली में काट रहे हैं।

भुवाली अलमोड़ा के मार्ग ही में है। यह खबर सुनकर मुझे प्रसन्नता हुई। सोचा कि अलमोड़ा में रहने-खाने का प्रबन्ध हो जाय तो फिर एक दिन भुवाली जाकर यशपाल से भी पुराने परिचय के तार नये सिरे से जोड़े जायँ।

मैं अलमोड़ा कवि पंतजी के कारण गया था। उनके अतिरिक्त मैं वहाँ किसी को न जानता था। 'देवदार होटल' की एक छोटी सी काटेज जो एक बड़ी सुन्दर घाटी के किनारे बनी थी, उन्होंने मेरे लिए तय कर रखी थी। नौकर भी चंद दिन में मिल गया। श्रीदेवीदत्त पंत, श्रीहरीश जोशी, श्रीगणेश जोशी, श्री धर्मचंद्र और अन्य बंधुओं के स्नेह में अलमोड़े का प्रवास सुखद लगने लगा। इतने में इलाहाबाद विश्वविद्यालय में छुट्टियाँ हो गयीं और 'इप्टा, (जननाट्य संघ') के कुछ कार्यकर्ता और लखनऊ तथा ग्वालियर के कुछ युवक भी अलमोड़ा आ पहुँचे, जिनमें लखनऊ की स्टूडेंट यूनियन के मंत्री भी थे। उन्हीं से मैंने एक दिन भुवाली चलकर यशपाल से मिलने की इच्छा प्रकट की। हमें अभी प्रोग्राम बना ही रहे थे कि एक सुबह इलाहाबाद के एक युवक छात्र ताराचंद ने आकर बताया कि यशपाल अलमोड़ा पधारे हैं और डाक बँगले में ठहरे हैं। मैं उसी

वक्त डाक बंगले को चलने के लिए तैयार हुआ, पर मालूम हुआ कि वह देवदा से मिलने गये हुये हैं। उन्हें मेरे यहाँ होने का पता है और वे देवदा से मिलकर मेरे ही यहाँ आयेंगे।

देवदा श्रीसुमित्रानंदन पंत के बड़े भाई हैं। एडवोकेट हैं। अलमोड़ा कांग्रेस कमेटी के प्रधान हैं और अब तो भारत की पार्लियामेंट के सदस्य भी हैं। पार्लियामेंट में चोर बाजारी की समस्या पर बहस में अपने भाषण के मध्य उन्होंने 'सौंदर्य की चोर बाजारी' का जो उल्लेख किया वह उनके स्वभाव की चौंका देनेवाली प्रवृत्ति, प्रतिभा की मौलिकता और प्रत्युत्पन्नमति का द्योतक है। उनकी बातों में उलझे यशपाल शीघ्र न लौट सकेंगे, इस बात का मुझे पूरा विश्वास था, और मेरा अनुभव ठीक ही था क्योंकि यद्यपि यशपाल उनके पास से सीधे मेरे यहाँ आये थे तो भी बारह-एक बजने को थे।

मेरी काटेज बड़ी सड़क के नीचे थी। सड़क से जब कोई आदमी मेरी काटेज को उतरता था तो अपनी खिड़की से मैं पहले ही जान जाता था। खाना खाकर मैं लेटा ही था जब मैंने सीढ़ियों पर पाँवों की चाप सुनी और ताराचंद को मार्ग दिखाते पाया। मैं उठकर बैठ गया। ताराचंद के पीछे यशपाल दुर्गा भाभी के साथ आ रहे थे। इन दस-बारह वर्षों से यशपाल का बड़प्पन कुछ और बढ़ गया था। उनके बाल पक गये थे। घनी काली भँवें श्वेत हो गयी थीं और चेहरे पर समय ने रेखाएँ अंकित कर दी थीं। दाँत वे उन दिनों निकलवा रहे थे इसलिए कल्ले उनके धँसे हुए थे और जबड़े की हड्डियाँ उभरी हुई थीं। लेरिंजाइटिस अथवा उसी प्रकार का कोई गले का रोग उन्हें था। स्वर बड़ा भारी था जो उनके व्यक्तित्व के बड़प्पन को और भी बढ़ाता था। वेश-भूषा पूर्ववत् साहबी थी। मैं दरवाजे के बाहर निकल आया। वे खुलकर मुझसे गले मिले। फिर उन्होंने दुर्गा भाभी* से मेरा परिचय कराया। मैंने नौकर से चाय बनाने को कहा और हम अंदर आ बैठे। पहली बात जो हमने की वह शिमला के कवि सम्मेलन के संबंध में थी। यशपालजी उसे भूले न थे। जाकू की सैर, हमारा हास-हुलास और चंद्रशेखर शास्त्री के साथ मेरी झड़प सब बातें उन्हें याद थीं।

यशपाल भुवाली से पैदल पहाड़ी प्रदेश की सैर करते आ रहे थे। दो दिन को अलमोड़े से तेरह-चौदह मील दूर सेबों के बाग के किसी जागीरदार मालिक के यहाँ आतिथ्य स्वीकार कर और वहाँ के अतुल शिष्टाचार और सीमित मानसिक

---

* लाहौर षड्यंत्र केस के कामरेड स्व० भगवतीचरण वर्मा की पत्नी।

परिधि से घबराकर निकल भागे थे। इतने बड़े जगीरदार के अतिथि कुलियों के साथ पैदल ११ मीलों की मंजिल मारते पधारे हैं, यह देखकर उन लोगों को जो आश्चर्य और असुविधा हुई उसका उल्लेख मजा लेकर यशपाल ने किया। दुर्गा भाभी को शिकायत थी कि वह महाशय जहाँ जाते हैं अपना वादविवाद ले बैठते हैं। भला जागीरदार क्या समझे मार्क्स और उसके सिद्धांतों को।

बातचीत में चाय आ गयी। यद्यपि चाय का समय न था लेकिन गर्म चाय के प्याले को यशपाल कभी नहीं ठुकराते। चाय के मध्य मैंने पूछा कि अलमोड़ा कितने दिन रहने का इरादा है? यशपाल ने कहा कि अलमोड़ा उन्हें पसंद आया है, यदि रहने का कोई प्रबंध हो जाय तो वे डेढ़-दो महीने वहीं काटेंगे। मैंने कहा कि यदि एक छोटे से कमरे में आपको असुविधा न हो तो जब तक मकान का प्रबंध नहीं हो जाता, आप यहीं दूसरे कमरे में आ जाइये।

यशपाल ने उठकर कमरा देखा। चूंकि पंद्रह-बीस दिन बाद मेरी पत्नी बच्चे को लेकर आनेवाली थी, इसलिए मालिक मकान से कहकर मैंने उसमें फर्श लगवा दिया था। कमरा काफी छोटा था, पर यशपाल ने कहा कि ठीक है और यदि मुझे कोई असुविधा नहीं तो उन्हें भी नहीं। फिर उन्हें मेरी पत्नी के आने का ख्याल आया, पर जब मैंने कहा कि अव्वल तो कौशल्या दस-एक दिन बाद आयेगी, और तब तक आपको मकान मिल जायगा और यदि न भी मिला तो आप दोनों उस कमरे में रह लीजियेगा और हम दोनों इस कमरे में रह लेंगे तो यशपाल सन्तुष्ट हो गये। मैं तो चाहता था कि वे उसी शाम उठ आयें पर यशपाल सबसे पहले बाजार की सैर करना चाहते थे। वह कहीं नयी जगह जाते हैं तो पहले बाजार की सैर करते हैं इसलिए तय हुआ कि रात वह डाक बंगले ही में गुजारेंगे, दूसरे दिन सुबह ही मेरे यहाँ आ जायेंगे।

यशपाल सात दिन मेरे साथ रहे। इस बीच में देवदा ने शक्ति कार्यालय का एक कमरा उनके लिए खाली करा दिया और यशपाल वहाँ उठ गये। शक्ति कार्यालय मेरी काटेज से आध-एक फरलांग ही के अन्तर पर था, इसलिए उन सात दिनों के निकट-सहचर्य के बाद भी मैं जब तक अलमोड़े रहा, यशपाल से रोज साँझ सवेरे एक न एक बार भेंट होती रही।

यशपाल में सबसे पहले जो बात मुझे अच्छी लगी और जिससे मुझे ईर्ष्या भी हुई, वह उनका लिखने का ढंग है। यशपाल दिन भर सैर-सपाटा और गप-शप करके रात-रात भर लिख सकते हैं। मैं जीवन में पहले भी अधिक सैर-सपाटा (इच्छा रहने के बावजूद) नहीं कर पाया और अब तो शरीर में उतनी शक्ति

नहीं। यशपाल को सैर सपाटे का बेहद शौक है। 'अज्ञेय' की भाँति वह भी पैदल काफ़ी घूमे हैं। अलमोड़े में आते ही उन्होंने सारे बाजार अच्छी तरह देख डाले। दुर्गा भाभी को उनसे भी अधिक शौक है। कई बार मैंने देखा कि यशपाल थके हैं, पर दुर्गा भाभी तैयार हुईं, वह भी सैनिक झोला कंधे पर लेकर तैयार हो गये। मैं इधर वर्षों से सैर-सपाटे का आनंद नहीं ले पाया और जब यशपाल अपने मित्रों के संग घूमते रहे मैं अपनी काटेज में घुटा लिखता-पढ़ता रहा।

लेकिन दो बार तो उन्होंने मुझे भी साथ घसीट ही लिया। एक बार हम सब सिनोला की पिकनिक को गये। सिनोला की पहाड़ी देवदारु होटल से सात आठ मील दूर है। वहीं खाना-वाना रहा, खूब आनंद आया, लेकिन मैं बेहद थक गया। फिर कभी दूरी और चढ़ाई की सैर पर न जाने का प्रण करके पड़ा रहा।

एक रात बाज़ार से काफ़ी सैर कर हम लौटे तो चाँद निकल आया था। यशपाल ने तब होटल के ऊपर कैंटोन्मेंट में देवदारों की पंक्तियों के नीचे जाने की सलाह की। साढ़े नौ बज चुके थे। साधारणतः उस समय मुझे सो जाना चाहिए। लेकिन यशपाल ने साथ घसीट लिया। भरी चांदनी में गगनचुंबी देवदारों की छितरी छाया में कैंटोन्मेंट की एकाकी सड़कों पर घूमने में जो आनंद आया वह अकथ्य है। ऊपर जाकर हम गिरजे के एक ओर बैठ गये। चाँदनी में गिरजा किसी सोये हुए स्वप्न महल की भाँति दिखायी दे रहा था। नीचे घाटी और देवदार के पेड़, हल्की-हल्की हवा की सरसराहट और चाँद......मैं उतनी रात गये शायद कभी घर से न निकलता। कैंटोन्मेंट की उन सड़कों, वीथियों, देवदारुओं की पंक्तियों में चाँदनी का जो दृश्य मैंने देखा उसके लिए यशपाल का आभारी हूँ।

यशपाल प्रायः दो-एक बैठकों में ही चीज़ लिख लेते हैं, पर वह लिखे को वेदवाक्य नहीं समझते (यद्यपि मेरी तरह बार बार काट छाँट भी नहीं करते पर जैनेंद्र की तरह उसे वही* भी नहीं समझते।) दूसरी बार वह लिखी चीज़ को देखते हैं तो उसमें काट-छाँट करते हैं।

लोगों को यशपाल के अहं की शिकायत है। मैंने पचमढ़ी ही में प्रयाग के प्रगतिशील लेखक सम्मेलन के संबंध में श्रीरहबर का 'रिपोर्ताज' पढ़ा था जिसमें उन्होंने यशपाल के अहं की ओर इशारा किया था। यशपाल में अहं न हो, यह बात नहीं। मुझे भी उनमें यह बात लगी। लेकिन पहली बात तो यह है कि जैनेन्द्र

*इलहाम, ईश्वरीय संदेश।

से लेकर सत्येन्द्र तक यह हिंदी के हर लेखक में है। हिंदी का प्रत्येक लेखक (कदाचित परंपरा के कारण) थर्डरेट चीज़ लिखकर भी अपने आपको 'स्रष्टा' मानकर चलता है। "आप आजकल हिंदी को क्या दे रहे हैं?" "मैंने हिंदी को तीन नयी कहानियाँ दे दी हैं।" आदि वाक्य साधारण हैं, और फिर अपने बराबर किसी दूसरे को न समझना लेखकों की साधारण दुर्बलता है। स्वयं धीरेश्वर, जिन्हें इस बात पर आपत्ति है कि यशपाल को अपने आगे कोई कथाकार पसन्द नहीं, अपने सामने किसी दूसरे को नहीं गिनते। हिंदी के महान लेखकों को मैंने अनायास अपने से छोटों का अपमान करते देखा है।

कभी-कभी मुझे आश्चर्य होता है कि लेखक जो अपने आपको मनोविज्ञान का पंडित समझते हैं, क्यों इस ज़रा-से तथ्य को नहीं समझ सकते कि दूसरे के पास भी दिल है और उसमें भी "खुदी" की नन्ही-सी कन्दील रौशन है। और वह कन्दील तिलमिलाकर ज्वाला भी बन सकती है, जिसके प्रकाश से स्वयं उनकी आँखें चौंधियाँ जायँ। दूसरों से अपने अहं की रक्षा चाहते हुए क्यों वे दूसरे के अहं की रक्षा नहीं कर सकते? मैंने ऐसे महान् लेखकों को देखा है जो बड़े नेताओं, सेठों अथवा अफसरों के दरबारों में और ही होते हैं और अपने साथी लेखकों अथवा पाठकों के सामने और। यशपाल को मैंने ऐसा नहीं पाया। स्नॉब के लिए वह स्नॉब अवश्य हैं, पर अपने साधारण पाठक अथवा साधारण लेखक के लिए सरल हैं। उनका अहं अपनी कला के खरेपन के प्रति उनके विश्वास का प्रतीक है और उनका अक्खड़पन दूसरों के अहं से अपनी रक्षा करने का साधन, पर अपनी कला में विश्वास के साथ यह अच्छा होता यदि वे अपने अन्य साथियों की कला का भी रसास्वादन कर सकते। लेकिन यह हानि उनके साथियों की नहीं यशपाल की अपनी है।

यशपाल अधिक बातचीत नहीं करते। इधर तो गले की बीमारी के कारण और भी कम बोलते हैं लेकिन जब बोलते हैं तो उनकी बातचीत काफी रोचक और व्यंग्यात्मक होती है। विनोद-प्रियता उनमें बहुत है और जिसे अंग्रेजी में 'टसना खींचना' कहते हैं वह उनके स्वभाव का आवश्यक अंग है। अपने अहं को अक्षुण्ण रखते हुए वे कितने बड़े तमाशाई हैं, इसे वे ही लोग जान सकते हैं, जिन्होंने उनके मुँह से यह सुना हो कि उन्होंने मिश्र बन्धुओं को कैसे अपनी कहानी सुनायी।

यशपाल जीवन को जीने में विश्वास रखते हैं। खाने-पीने और जीवन को ढंग से जीने में उनका दृढ़ विश्वास है। बढ़िया सूट-बूट के साथ नब्बे-सौ का धूप-

नना चाहते हैं, रेफ्रिजरेटर में रखे पेय का आनंद उठाना चाहते और अधिक से अधिक खर्च करना चाहते हैं। इसका एक कारण तो वह ग़रीबी और अभाव हो सकता है जिसमें उनका बचपन और जवानी का अधिकांश बीता, और दूसरा उनकी नास्तिकता और आवागमन में उनका अविश्वास। वे इसी जीवन में विश्वास रखते हैं और दूसरे जीवन की चिंता में इसे बिगाड़ने के बदले इसे ही बनाना चाहते हैं। यह बात कि कौसानी में जिस जगह बैठकर महात्मा गांधी को अनासक्तियोग लिखने का विचार आया वहीं यशपाल को आसक्तियोग लिखने की सूझी, जहाँ उनके प्रचंड अहं की ओर संकेत करती है वहाँ उस अंतर की ओर भी इंगित करती है जो महात्मा गांधी और यशपाल की धारणाओं में है।

लेकिन अच्छा खाने-पीने की और उससे और भी अच्छा खाने-पीने की वांछा रखने के बावजूद यशपाल के स्वभाव में अभिजातवर्गीय 'नखरा' नहीं। उनका अहं भी अभिजात का अहं नहीं जो मजदूर के निकट हो तो नाक पर रूमाल रख ले कि उसके पसीने की गंध हवा से उड़कर उसके नथनों को न छू ले, या अपने गाँव के किसी जरूरतमंद छात्र को कई बार की मुलाकात के बावजूद पहचानने से इन्कार कर दे, या फस्ट क्लास में सफ़र करे और साथ में एक साधारण-सा कंबल बिस्तरे के रूप में रखने की रियाकारी करे। मैंने यशपाल को इस अहं के बावजूद कि उन्हें किसी दूसरे कथाकार की चीज अपने मुकाबिले में अच्छी नहीं लगती, खुले स्वभाव और सरल प्रकृति का पाया है। अलमोड़े के डेढ़ महीने के प्रवास में याद रखनेवाली चीज़ यशपाल का ससंग है, शेष अनुभव तो खासे कटु हैं।

अलमोड़े में मैंने यशपाल का उपन्यास 'मनुष्य के रूप' पढ़ा और अलमोड़ा से आकर मैंने 'दिव्या' और 'देशद्रोही' देखे। 'मनुष्य के रूप' और 'दिव्या' में मुझे कुछ स्थल अच्छे लगे। जहाँ तक उपन्यास की कला का संबंध है, क्योंकि ये उपन्यास कथानक प्रधान हैं, मुझे उनकी कला में अनावश्यक नाटकीयता लगी। 'दिव्या' तो यशपाल ने निश्चय ही सिनेमा को ध्यान में रखकर लिखा है। उसका अंत सिनेमा के पर्दे पर बड़ा प्रभावोत्पादक हो सकता है। तनिक और सावधानी से यशपाल 'दिव्या' से ऐसे दोष निकाल सकते थे (यही बात 'मनुष्य के रूप' के संबंध में कही जा सकती है) जिनके कारण उपन्यासों में अस्वाभाविकता का दोष आ गया है। इन दोनों उपन्यासों की तुलना में, जहाँ तक उपन्यास-गठन का सम्बन्ध है, मुझे 'देशद्रोही' यशपाल के शेष उपन्यासों से 'पार्टी कामरेड' को छोड़कर) अच्छा लगा। कहानी 'देशद्रोही' की भी यथार्थ नहीं, यशपाल के अधिकांश उपन्यासों की भाँति काल्पनिक है, इस विचार से यशपाल यथार्थवादी

लेखक हैं भी नहीं लेकिन वह संभाव्य तो है। 'मनुष्य के रूप' और 'दिव्या' में यह समानता जगह नहीं रखती। यशपाल की यथार्थवादिता उनके कथानक अथवा पात्रों के चरित्र-चित्रण में नहीं, उन कथानकों अथवा चरित्रों द्वारा प्रस्तुत किये आधारभूत सत्यों में रहती है। आधारभूत सत्यों को लेकर वे उन पर अपनी कल्पना से कहानी अथवा उपन्यास का महल खड़ा कर देते हैं। यशपाल द्वारा किया गया सत्य का निरूपण किसी को अच्छा लगे या न लगे पर उसकी सत्यता से प्रायः इन्कार नहीं किया जा सकता। यद्यपि कई जगह उस सत्य को दर्शाने की आवश्यकता और उपादेयता, जैसे उनकी कहानी 'प्रतिष्ठा का बोझ' में, मेरी समझ में नहीं आयी।

अलमोड़ा से आने के बाद कार्यवश मुझे दो-एक बार लखनऊ जाना पड़ा और पहाड़ी प्रदेश में उन्मुक्त सैर-सपाटा करनेवाले यशपाल को मैंने मशीनों और प्रूफों में जुटे अनवरत काम करते देखा। यशपाल ने प्रिंटिंग मशीन लगा रखी है और उन्हें इस फन में काफी महारत हो गयी है। मशीन का अपना यह ज्ञान उन्हें प्रिय भी है और इसका उन्हें गर्व भी है। मशीन के हर मूड को वे अपनी संगिनी के मूड [मनोभावों) की भाँति जानते हैं। ऊपर तीसरी मंज़िल पर अपने कमरे में बैठे वह नीचे मशीन की आवाज़ सुनकर ही समझ जाते हैं कि उसे क्या 'तकलीफ़' है। और फिर दफ्तर का काम करते, प्रूफ पढ़ते, मशीन दुरुस्त करते मैंने उन्हें किसी प्रकार की सुस्ती दिखाते नहीं पाया। एक रात साढ़े ग्यारह बजे तक प्रूफ निकालनेवाली छोटी-सी दस्ती मशीन ठीक करते रहे और जब वह ठीक प्रूफ निकालने लगी तो थकावट के बावजूद दर्प से उनका चेहरा खिल गया और सोने चले गये। उनकी पत्नी जाने कब तक बैठी प्रूफ निकालती रहीं।

बहुत-सी बातें मामी और यशपाल में मिलती हैं। लेकिन शायद मामी में धैर्य, गाम्भीर्य और काम करने की शक्ति यशपाल की अपेक्षा अधिक है। मैंने सुबह उठते ही उन्हें काम में जुटे पाया, और फिर उसी निष्ठा से दिन भर काम करते रहकर गयी रात तक अनथक उसी में रत देखा। इस पर भी मैंने उन्हें झुँझलाते, चिड़चिड़ाते या खीझते नहीं देखा। नदी जैसे अनायास कंकर-पत्थरों और गढ़ों के ऊपर बहती चली जाती है मैंने उन्हें दैनिक कार्यक्रम के ऊबड़-खाबड़ ढलान पर धैर्य से बहते देखा। वह खाना खाने आयीं कि नीचे से आवाज़ पड़ी, वे चली गयीं, फिर कुछ देर बाद आकर खाना खाने लगीं।

वह बैठी प्रूफ पढ़ रही हैं कि कोई आदमी मिलने आ गया, किसी बात पर वाद-विवाद हुआ, वह चला गया तो बिना माथे पर बल डाले प्रूफ पढ़ने लगीं। यशपाल के एक मित्र ने मेरी पत्नी को परामर्श दिया था कि वह लखनऊ जायँ तो श्रीमती पाल से अवश्य मिलें, उन्हें प्रेरणा मिलेगी। कौशल्या स्वयं अनथक काम करने-वाली है, पर इसमें संदेह नहीं कि भ मी के काम और विश्वास को देखकर उसे प्रेरणा मिली। और मुझे तो यशपाल के जीवन को देखकर महाकवि ठाकुर के नाटक 'चित्रा' की अंतिम पंक्तियाँ याद आ जाती हैं। चित्रा जैसा आत्म-विश्वास, दिलेरी और अपने संगी के साथ जीवन के ऊबड़-खाबड़ पथ पर, सुख और संकट में पग से पग मिलाकर चलने की भावना, उनमें है। ऐसी संगिनी को पाकर अर्जुन की भाँति कौन संगी न कह उठेगा :—

Beloved, my life is full.

म्युरिएल बर्सी

उपन्यासकार ग्रैहम ग्रीन

जो लोग उपन्यास को साहित्य का एक हल्का रूप मानते हैं, उन लोगों के लिए ग्रैहम ग्रीन का नाम बहुत अच्छा जवाब हो सकता है। क्योंकि ग्रीन, यद्यपि वह स्वीकार करता है कि उपन्यास का पहला कर्तव्य कहानी कहना है, और यद्यपि उसके शिल्प पर कभी उँगली नहीं उठायी जा सकी, तथापि वह एक सचेतन उद्देश्य से लिखता है। उसका उद्देश्य 'मानव के समक्ष ईश्वर की सफाई' देनी नहीं होती—क्योंकि उसके प्राय: सब उपन्यास एक प्रश्न पर समाप्त होते हैं और पाठक को अंधकार में टटोलता हुआ छोड़ देते हैं—उसका उद्देश्य यह है कि मानव और ईश्वर के अविच्छेद्य सम्बंध पर आग्रह करे।

साधारणतया जो लेखक ईश्वर को स्वयंसिद्ध तत्त्व मानकर चलते हैं उनके प्रति आलोचक का दृष्टिकोण दया का ही होता है, क्योंकि ऐसा विश्वास जीवन और चिंतन के क्षेत्र में एक भोलापन ही समझा जाता है। किंतु ग्रैहम ग्रीन के साथ पाठक को तत्काल यह बोध होता है कि लेखक की बुद्धि अनीश्वरवाद और तटस्थता के अनेक रूप भेदती हुई बोध तक पहुँचती है और अंत में ऐसे विश्वास को अपनाती है जिससे सृष्टि सार्थक और साभिप्राय जान पड़े। ग्रैहम ग्रीन का कृतित्व समझने के लिए यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि वह ऐसा कैथ-लिक है जो रोमन कैथलिकवाद का समर्थन करने में अपना समय नष्ट नहीं करता, जैसा कि अन्य कई कम बुद्धिवाले प्रचारकों ने उससे पहले किया है, यथा चेस्टर्टन और हनरी हालैंड आदि ने। ग्रैहम ग्रीन रोम के चर्च के सिद्धांतों का सीधे सीधे सामना करता है और उन सिद्धांतों में विश्वास रखनेवाले ऐसे चरित्र प्रस्तुत करता है जो सर्वदा अच्छे तो नहीं होते लेकिन सभी ऐसी निष्ठा रखते हैं जिसे उपन्यासकार मुक्ति के लिए सत्कर्म से भी अधिक आवश्यक मानता है।

दर्शनक के लिए हमेशा यह समस्या रही है कि कैसे दर्शन के पद गौरव और उद्देश्य का सामंजस्य उपन्यास के साथ हो, जो कि साधारण जन के मनोरंजन का साधन है। मनोरंजन करने का काम साधारणतया वे लोग ज्यादा

अच्छी तरह कर सकते हैं जिनके पैर दृढ़तापूवक भूमि पर टिके हों और जिनकी आँखें तारों की ओर न उठी रहें। ग्रीन ने यह सामंजस्य स्थापित करने के लिए यह उपाय निकाला है कि अपनी घटना-बहुल कहानियों से कोई नैतिक शिक्षा तो नहीं, बल्कि सूक्ष्म तत्वों के प्रति एक ऐसा दृष्टिकोण प्रस्तुत करे जो पाठक को चिन्तन के लिए बाध्य करे। उसके उपन्यास 'ब्राइटन रॉक' पर, जो कि सनसनीदार घटनाओं से भरा हुआ है, अथवा 'मिनिस्ट्री आफ़ फ़ीयर' पर जो कि जासूसी कहानी है, यह बात लागू होती है। ये दोनों ग्रीन के अन्य उपन्यासों की भाँति संघर्षों से भरे हुए हैं। बहुधा एक बुद्धिहीन निष्ठा को नेकी और सत्कर्म से अधिक मूल्यवान दश या गया है। उदाहरणतया 'ब्राइटन रॉक' में पिंकी के लिए रोज़ का प्रेम, उनका पीछा करनेवाली एक स्त्री के अदम्य कौतूहल के (जो कि प्रोटेस्टेंट व्यक्तिवाद का प्रतीक है) मुकाबले में रखा गया है। प्रेमियों का पीछा करके उनके विनाश का कारण बननेवाली इस स्त्री का काम ठीक और 'उचित' है, तथापि उसका चित्रण न तो लेखक को न पाठक को उसके अनुकूल बनाता है।

'इंग्लैंड मेड मी' उपन्यास का संघर्ष कुछ कम परिचित ढंग का है, किंतु ग्रीन के उपन्यास में यह भी बार-बार मिलेगा। इस उपन्यास और 'मिनिस्ट्री आफ़ फ़ीयर' में, भाई-बहन का उत्कट स्नेह दूसरे उपन्यास में एक दृढ़तर प्रेम के सामने झुक जाता है लेकिन एक बड़े त्रासदायक संघर्ष के बाद ही। पहले उपन्यास में उसका अन्त अपात्र नायक की मृत्यु के कारण हो जाता है। लेकिन इस प्रेम या निष्ठा की परिणति चाहे जो हो, ग्रैहम ग्रीन के लिए उस निष्ठा का अस्तित्व ही प्रधानतया विचारणीय है; उस निष्ठा का जो कि तर्कातीत, रहस्यमय और अत्यन्त दृढ़ है।

'द पावर एंड द ग्लोरी' तथा 'द हार्ट ऑफ़ द मैटर' में ग्रीन की प्रतिभा और भी परिपक्व है; और उस निष्ठा पर उसका आग्रह और भी दृढ़ जो कि करुणा के रूप में प्रकट होती है। पहले उपन्यास में पादरी नायक का उसकी नाजायज़ और अयोग्य संतान के प्रति स्नेह केवल 'उत्तरदायित्व' नहीं है बल्कि एक ऐसी भावना है जो प्रेम के अत्यन्त निकट है। इससे वह अद्भुत साहस उत्पन्न होता है जो उसे एक कैथलिक गुंडे की मृत्यु-शय्या के पास ले जाता है। वह जानता है की उसकी वहाँ उपस्थिति का निश्चित परिणाम उसके लिए मृत्यु होगा, लेकिन उसका हठपूर्ण विश्वास है कि पादरी को मृत्यु-शय्या के निकट होना ही चाहिए, चाहे जो परिणाम होता हो। ऐसा ही हठपूर्ण विश्वास

उसे बार बार उस समाज में ले जाता है जिसको उसके प्रति आस्था नहीं रही है, और उसकी पुत्री के भी जो कि उससे रत्ती भर भी स्नेह नहीं करती। 'द हार्ट आफ द मैटर' में, जो की ग्रहम ग्रोन का सर्वोत्तम उपन्यास है, स्कोबी की हताशा एक धर्म-सिद्धान्त के प्रति अन्ध-श्रद्धा का ही परिणाम है। अपने पापमय जीवन में रहते हुए वह यूकेरिस्ट का प्रसाद नहीं ग्रहण कर सकता, और पाप से वह तब तक मुक्त नहीं हो सकता जब तक कि वह अपराध स्वीकार करके उस स्त्री से सम्बन्ध-विच्छेद न कर ले जिससे वह प्रेम करने लगा है। उसके पाप का आतंक ही उसे अंधा बना देता है, यहाँ तक कि उस करुणा को भी नष्ट कर देता है जिसके कारण वह उपन्यास के आरम्भिक परिच्छेदों में एक मूर्ख पत्नी के प्रति दयापूर्ण बर्ताव करता रहा है। स्कोबी में करुणा एक प्रधान गुण रहा है, सुदूर अफ्रीका की एक पुलिस चौकी के सिपाही के लिए एक असाधारण गुण, लेकिन स्कोबी असाधारण सिपाही है। उसका पुलिसमैन होना केवल एक आकस्मिक घटना है, क्योंकि मानवीय शक्ति और दुर्बलता को वह हमारे जाने हुए किसी भी पुलिस कर्मचारी की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह समझता है। एक बहुत संवेदनापूर्ण पादरी ही सहज बोध के कारण यह समझ पाता है कि यह व्यक्ति, जो चर्च के लिखित विधान के अनुसार आत्महत्या के लिए नरक का भागी है, वास्तव में भगवान्प्रेमी रहा, और उसकी निराशा भी अत्यधिक निष्ठा या श्रद्धा के कारण ही हुई जैसा कि और भी अनेकों में होता है जिनको नरक का भागी समझ लिया जाता है।

अपने उपन्यासों के पात्रों द्वारा ग्रैहम ग्रीन साधारण पाठक के सामने कैथॉलिक धर्म-मत का जो पहलू उपस्थित करता है, और इन पात्रों को, जो कि सभी साधारण मानव हैं, वह जिन अद्भुत संघर्षमय परिस्थितियों में रखता है, वे *आधुनिक अविश्वासी जगत् के लिए विशेषरूप से विचारोत्तेजक हैं। क्योंकि कैथॉलिक मतवाद की स्वीकृति के बावजूद ग्रीन श्रद्धा-विरोधी तर्क-परम्परा को भी समझ सकता है। इसी कारण उसके उपन्यासों में एक विशेष* प्रकार की असम्पूर्णता है। *पाठक की कल्पना पर और उसके विवेक पर* बहुत कुछ छोड़ दिया जाता है। *तथापि उपन्यासों का अन्तिम स्वर अवश्यमेव अखिल मानवता-व्यापी* होता है। *रोज जब पादरी को बिना पश्चात्ताप के यह सूचित करती है कि वह कदाचित मृत पिंकी की सन्तान धारण किए हुए है* तब पादरी उसे कहता है, "उसे शक्ति और अपना भोलापन देना वह सन्त होकर *अपने पिता के लिए* प्रार्थना करे"। पाठक सोचने लगता है *क्या सचमुच ऐसा व्यक्ति-रूप* ईश्वर है, जो कि

विकी की समस्याओं में रुचि रखता होगा, और क्या एक अभी अज्ञात शिशु की प्रार्थनाएँ बीस वर्ष के पाप को धोने में समर्थ हो सकती हैं ? और पाठक सोचता रह जाता है।...

'द हार्ट आफ द मैटर' में भी एक पादरी मिसेज स्कोवी को इसलिए फटकारता है कि वह मानवी प्रेम में विश्वास करती है और मानव पर ईश्वर के प्रेम को कम महत्व देती है। "ईश्वर के प्रेम के बारे में आप जानती क्या हैं ?" यहाँ भी पाठक सोचता रह जाता है, क्या आत्महत्या के पाप के बावजूद स्कोवी की आत्मा चिर-शान्ति पा गयी है ?

'द पावर एंड द ग्लोरी' में पाठक निश्चयपूर्वक मानता है कि जिस पादरी ने मरते हुए गुंडे को अन्तिम धर्मोपदेश देने के लिए अपनी जान जोखम में डाली है वह मुक्ति का पात्र है: लेकिन पादरी ने विधान के विरुद्ध आचरण तो किया ही है, और उस विधान के अनुसार नरक का भागी है।

जो पाठक रोमन कैथलिक मतवाद से परिचित हैं, उनके लिए ग्रीन के द्वारा चित्रित संघर्ष अधिक बोधगम्य हों यह स्वाभाविक ही है इन पुस्तकों में अगर कोई प्रचारात्मक उद्देश्य है तो वह नये लोगों को कैथलिक धर्म में दीक्षित करने का नहीं है, बल्कि धर्मावलम्बियों की निष्ठा को पुष्ट करने का ही है किन्तु उस साधारण पाठक के लिए, जिसे कोई धार्मिक मताग्रह नहीं है, यह उपन्यास अगर चिरस्थायी नहीं तो कम से कम उस कोटि के अवश्य हैं जिनका चित्रण, आन्तरिक संघर्ष और उद्देश्य दो-एक पीढ़ियों तक मिट नहीं जाता बल्कि उन व्यक्तियों के विचारों को उत्तेजित करता रहता है जो जानते हैं कि 'काल का भी अन्त है।'

भारतभूषण अग्रवाल

आह्वान के स्वर

आज मेरे गीत सारे सो गये,
आज मेरे देवता चुप हो गये।
अब अनागत की प्रतीक्षा व्यर्थ है,
शून्य में आह्वान के स्वर खो गये॥

प्रभाकर माचवे

छत्ता

पिपालिका श्रमजीवी है, केवल संग्रह करती जाती,
रानी-चींटी के लिए निरत है यह लंबी, काली पाँती,
सीखो इन से सहकार्य, मनुज, गृहरचना, श्रम का बँटवारा,
चींटी को संग्रह ही प्रिय है, कब दान-इच्छा उसको भाती?

इससे उलटे हैं उर्णनाभ, यह नहीं जानता कुछ लाना,
अपने ही अंदर से बाहर बुनते जाता ताना-बाना,
सीखो इसमें एकांत सृष्टि, अध्यवसायी, अश्रांत सतत
यह नहीं जुलाहा अष्टपाद, यह बड़ा शिकारी मनमाना॥

पर मनुज नहीं चींटी या मकड़ी ही, वह है मन की सत्ता,
वह मधुमक्खी-सा चुन चुनकर संग्रह करता, रचता छत्ता,
अपने अंदर से कुछ निकाल मोम-सा, संग्रहित कर, मधु-रस,
देता भी है कुछ स्वास्थ्य-जनक मानों इतिहास, कला, सत्ता।

अनंतकुमार 'पाषाण'

सिंधु-गीत

खाता पछाड़, मुड़कर दहाड़, हुंकार मुखर, मारुत थरथर!
कँप जाता स्वर भीषणता से उसका वह भारी भरकम स्वर!
अति वेग प्रबल, कंपित तृण-दल, नंगा भीषणतर अट्टहास!
झुर्रियाँ पड़ गयीं अंबर में, क्षत-विक्षत नत हत महात्रास!
ऊँची लहरें उठतीं ऊपर, क्षण भर में तोड़ें महाकाश!
जल की लपटों-सी बल खाकर गिर पड़तीं नभ भरकर प्रकाश!
थर्राता—भर्राता गाता, टकराता दारुण विकट राग!
उकसाता नभ-चुम्बी अक्षय, जर-जर, विप्लव की प्रखर आग!
पागल, खलखल उन्माद नवल, पारुष आगर नागर सागर!
उसके इंगित पर नर्तित है विस्मित परिवर्तन-क्षण-अक्षर!
उसके लोहित-लोचन दुख मोचन करते हैं भीषण प्लावन!
सूखी धरणी में भर देता जो है अबाध विकसित जीवन!
उसकी टक्कर से खा चक्कर गिरते कगार कर महानाद।
अपनी प्रचंड बल-क्रीड़ा पर होता उसको उन्मुक्त ह्लाद!
वह शांत, धीर-गंभीर-वीर जब तट से आकर टकराता,
तब शेषनाग का नत मस्तक लोहित हत मोहित चकराता!

किरणें गागर लेकर उतरीं, उनको भी है भर देता वह!
उसका अपुष्ट बदन-गठन है हं शक्ति-पुष्ट होता अहरह!
पर ताप प्रखर किरणें देतीं, तब उबल देखता है ऊपर!—
झर कर सत्वर जल लौटातीं मूसलाधार, कंपित थरथर!
इक बार तनिक मुख ऊपर कर देखा—धरणी है हरित-भरित,
विकसित, हर्षित प्रमुदित पुलकित सित, चित्रित मित, आनंद-स्वरित!
गति का रिचायक वह गायक, मतिमान, प्रबल जीवन-नायक!

उल्लसित, अमित सुज्ञान-ध्यान, समाम-कुशल बल-उन्नायक!
वह चपल-चवल आलोडित कर देता, रुकते उन्चास पवन!
मरुकृति से द्रुततर पर खरतर बढते हैं उसकी गति के चरण!
वह छिन्न-भिन्न कर क्लिन्न चूर्ण करता है पर्वत पत्थर,
फिर हो सुस्थिर करता प्रहार है सिंहनाद करके तत्पर!
अवरोध-रहित, मित वेग सहित, पडते हैं दृढ मारुत से पग!
आसवमय महोल्लास से रंजित, कजिव लोहित-मोहित दृग!
है वेगवान, कितना महान्! कितना विराट्!! विस्तृत सागर!!!
खाता पछाड, गुडकर दहाड, हुँकार मुखर, मारुत थरथर!!!!

उगती सरस्वति का सर्वजयी उन्मत्त नाद!
भर गयी काव्य की मेरे हरित-भरित घाटी
कुसुमित ममर-पुलकित! सस्मित लहरा उठती
वह गूँज! हृदय री कँच-डार भी झुक जाती!

काली-काली पंक्तियाँ काव्य की खग-भौंरें
नीले कागज पर उडी जा रहीं पग खल!
सन्ध्या-तारा सा चमका नाम सुकविता का,
स्वर की तितलियाँ मधुर फूलों पर रहीं डोल!

कल्याण भाव के झरने भरते झरझर झर,
बहता समीर गन्धाकुल नत मथर-मथर।
आया जनयुग, आया वसन्त, कविता-घाटी,
शत-शत नन्दन वन में खिल उठती है सुंदर!

अनुभूति कोकिला बोल उठी सगीत-रता,
वह नृत्यरता सरिता-सम रागिनि की शुचिता!
वह परम्परा गिरिमालाऐं सब गूँज उठीं,
मृदु अन्तहीन बन गयी- गूँज मेरी कविता!

नरेशकुमार मेहता

सनोवर के फूल

—एक सामाजिक व्यंग्यात्मक रेडियो रूपक

उदयन—और वानीरा के लिए ये है वो नीला पेपर नीलकंठ! पूरा सूट है एकदम, जानते हो मसूरी के सबसे बेहतरीन सिंधी टेलर्स की शाप से सिलवाकर मँगवाया है।

नीलकंठ—तुम्हें नीला रंग बहुत पसंद है उदयन! मगर वानीराजी तो कदाचित् लाल रंग पसंद करती हैं?

उदयन—तुम नहीं जानते, मुझे नीला रंग इसलिए पसंद है क्योंकि यह भारतीय रंग है, और फिर अवतारों का वर्ण भी तो......

नीलकंठ—(कुछ हँसते हुए) वानीराजी! वो रामचंद्रजी के मित्र कौन से थे, जिनका नीला रंग था, मैं नाम भूल रहा हूँ.....

वानीरा—(कुछ व्यंग्यात्मक हँसी में) कदाचित् तुम भी तो उसी जाति के हो, और केवल कंठ ही आप लोगों का नीला रह गया है।—अच्छा छोड़िये, देखिये ये तो मेरे लिए इतनी सारी चीज़ें ख़रीद लाये और मुझे कुछ नहीं ख़रीदने दिया। मैं तो इनके लिए एक पन्ने की अँगूठी ही ख़रीद सकी हूँ। पहले दिन पन्ना ही पहना था इन्होंने।

उदयन—(उत्साहपूर्वक) काश, नीलकंठ! वह सब लौट आता फिर से; ओह, वानीरा की वे कुँआरी आँखें...

नीलकंठ—(हँसते हुए) शायद बाहरी व्यक्ति को ऐसे समय ही दम्पति के बीच से चला जाना चाहिए।

[लम्बी हँसी]

वानीरा—(मीठे ताने के साथ) उदयन! तुम्हें शर्म भी नहीं आती?

[ऑल इंडिया रेडियो लखनऊ के सौजन्य से प्राप्त]

नीलकंठ—कदाचित इसी चीज का देकर हो तो ये इतनी बड़ी किर्मे छाये हैं—[सबका हँसी]

उदयन—व नीरा, ये पूरब वाली खिड़की खोल ना !!

[पैरों की आहट.. खिड़की का शब्द]

नीलकंठ ! ये कितने सनोवर तुम देख रहे हो ?

नीलकंठ—जान है, क्यों ?

उदयन—ये हमारे प्रणय के चिह्न हैं जानते हो ? प्रत्येक वर्ष हम दोनों अपने हाथों से सनोवर अपने इस बगीचे में लगाते रहे हैं। हमारे प्रणय में कैसे सुंदर फूल निकल आये हैं। अरे हाँ, ये हमारा एलबम देखा

[एलबम के पन्नों की आवाज़]

नीलकंठ—वाह क्या शेर है, ये कौन कौन हैं और इसमें ?

वानीरा—ये, ये तो मम है, ये फादर हैं। हम लोग जब यूरप गये थे तो स्विट्जरलैण्ड भी गये थे, वहाँ के होटल के पास वाली एक झील पर यह फोटो लिया था। अरे उदयन ! ममी का यह कुत्ता कितना साफ आया है !

[तीन चार पन्ने एक साथ पलटने का शब्द]

उदयन—नीलकंठ ! ये हैं वो चित्र, जो इन सनोवरों के नीचे लिए गये थे। जानते हो ? कल साँझ का डिनर भी इन्हीं सनोवरों के नीचे दिया जायगा।

वानीरा—[गहरी साँस से] कैसे छोटे छोटे कासनी के फूलों जैसे इसके फूल धरती पर बिछ जाते हैं। एक दम हल्के, नीलकंठ ! बिलकुल हल्के

उदयन—एकदम मंगलवर्षा की भाँति। मेरा आत्मा तो कीट्स के नाइटिंगेल की भाँति गाने लगता है,

Forlorn, the very word is like a bell

नीलकंठ—[हल्का हँसा स]—मगर यह तो मात्र पलायन है, और वह भी तुम्हारा जैसे अभिजात वर्ग का।

वानीरा—मद्रास में जब तुमने पहली बार भेंट हुई थी नीलकंठ, तब से आज तक तुम्हें समझ नहीं पायी हूँ। शायद तुम संसार के सब सुंदर विचारों, बातों एवं चीज़ों से घृणा करते हो !

नीलकंठ—[हँसते हुए] मैं विचार या बात या चीज को वही मानता हूँ जो वह है, बिना किसी विशेषण के। और इस लिए तो मैं अच्छे बुरे के झंझट से बच जाता हूँ।

उदयन—[गंभीर ढंग से]—नीलकंठ ! कदाचित तुम्हारा यह विद्रोही मन प्रेम जैसी चीजों को तो मानता ही होगा।

नीलकंठ—[लापरवाही से] मैं अपनी छोटी-सी बातों के लिए बड़ी संज्ञायें कभी नहीं देता। प्रेम !! समाज द्वारा नारी के ओठों से कहा गया सृष्टि का सबसे बड़ा घातक असत्य।

वानीरा—[व्यंग्य से]—सृष्टि का निर्माण नहीं कर पाओगे नीलकंठ यह मैं कहे देती हूँ, अपकार भले ही कर दो।

नीलकंठ—[हलके आवेश के साथ]—ये जो आपकी खिड़की से दिखता हुआ 'स्विमिंग पूल' है वहाँ, उन तैरते हुए व्यक्तियों के ओठों की हँसी क्या फरेब की नहीं है ? और जिसे ये बड़े बड़े नाम देकर अपने लिए पगडंडियाँ निकाल लेते हैं।

उदयन—[गंभीर ढंग से] देखो, हवा में घूँसा मत मारो नीलकंठ ! सामाजिक आचार भी तो कोई चीज़ है ?

नीलकंठ—[बड़ी जोर की हँसी के बाद]—तुम भी उदयन अजीब संतोषी प्राणी हो।

वानीरा—यह कौन बात हुई जिस पर हँस रहे हो ?

नीलकंठ—उदयन सुखी है जीवन में, क्योंकि वह तर्क नहीं करता; वरन सब कुछ मान लेता है; बिल्कुल बड़े आदमियों के लड़कों जैसा—[हँसते हुए] क्यों उदयन ! क्या इसी भाँति अपना डिपार्टमेंट चलाते हो ?

उदयन—[गंभीर ढंग से] मैं तुम्हारी भाँति इतना बड़ा अविश्वास लेकर लक्ष्य के सत्य को प्राप्त करने से तो रहा। मैं तो बीती पीढ़ी के अनुभवों की नींव पर ही आगे चलता हूँ।

वानीरा—अच्छा नीलकंठ ! मनुष्य ने आज तक जो कुछ विकास किया...क्या नैतिक दृष्टि से.........

नीलकंठ—मैं सच कहता हूँ वानीराजी ! वह विकास ग़लत हुआ। बेचारे मनुष्य ने जाने किस आशा में मांसाहार छोड़ा, पकवान छोड़े, कीड़े मकोड़ों की हत्या न हो इसलिए सूरज डूबने के पहले खाना प्रारंभ किया, यहाँ तक की वनस्पतियों तक की हिंसा छोड़ी, और आज उपवास की सीमा में पहुँचे हुए गरीब को कहाँ ले जाना चाहती हैं आप ! बताइये !

[फोन बेल] ट्रिन, ट्रिन, ट्रिन ...

उदयन—हलो, मैं हूँ उदयन—अथवा मिस्टर परांजपे ! वो स्टेटमेंट टाइप

हो गया ? ठीक, कल सुबह सबजेक्ट कमेटी की बैठक है, पाइल्स लगवा दें जियेगा, गुड ईवनिंग।—हाँ तो तुम उपन्यास की बात कर रहे थे क्या नीलकंठ !

वानीरा—प्रतिक्रिया सत्य पर पर्दा डाल देती है।

नीलकंठ—आप जैसे अभिजात इसे प्रतिक्रिया कहते हैं। क्योंकि वह आदर्श को इस बनारसी वर्ग का कगार नहीं बनने देना चाहती। चरित्र और धर्म के नकली यूकेलिप्टिस खड़े कर बेचारों को आस्ट्रेलिया का धोखा देना चाहते हैं, ताकि वह जिन्दा रहे, और जब मरे तो पीछे बच्चे छोड़ता जाये जिससे आपका मनरंजन बराबर हो सके।

[दरवाज़े का शब्द]

- बैरा—चाय टैरेस पर लगा दी गई है हुज़ूर !

उदयन—अच्छा चलो चाय पी जाये।

[तीन चार पैरों की आहट]

उदयन—पश्चिम में देखो नीलकंठ ! कितनी सुन्दर साँझ है। प्रकृति के इस विराट सौन्दर्य से भी तुम्हारा विरोध है क्या ?

नीलकंठ—[कुछ हँसते हुए] आप लोग सोचते होंगे कि व्यर्थ में यह आदमी हमारे कल्पना लोक में आ पहुँचा।

वानीरा—[व्यंग्य से] हृदय के माध्यम से कहीं सौन्दर्य मत प्रारंभ कर देना नीलकंठ ! वर्ना हम लोग फिर भाँति हो कगार बन जाओगे।

नीलकंठ—[हँसते हुए] ख़ूब चलाई यह हृदय की बात। वो तुम्हें याद है उदयन ! जब मैं आसाम फ्रन्ट पर गया था। एक नर्स रोज़ मेरे साथ शाम की चाय पीती थी, बड़ी हँसमुख थी और बड़ा सुन्दर आरामी बोलती थी। मैं परेशान था कि यह इस तेज़ी से इतना अच्छा कैसे बोल लेती है।—मगर बाद में मालूम हुआ कि उसने अपनी डायरी में कुछ वाक्य उपन्यासों से उतार रखे थे।

[ठहाके की हँसी]

उदयन—संघर्ष में रहा हुआ व्यक्ति या तो देवता बन जाता है या फिर दानव। तुम फूल का रंग देखकर तृप्त नहीं होते, उस रंग को काटकर देखना चाहते हो।

[मोटर की घरघर की आवाज़]

वानीरा—अरे उदयन वह नीली मरकरी कार देखते हो ? हार्न भी वही है। मिस्टर मिश्रा कलकत्ते से लौट आये मालूम होते हैं। इन्विटेशन ज़रूर भेजना चाहिए।—

[जाने की आहट]

उदयन—ठहरो वानीरा! मि० मित्रा इतनी जल्दी निमंत्रण स्वीकार भी कर लेंगे!

वानीरा—मगर निमंत्रण तो मैं खुद अभी ले जाऊँगी, उन्हें आना ही होगा।

उदयन—[गंभीर ढंग से]—मगर, मैं चाहता हूँ कि वो नहीं आयें तो क्या बुरा है?

वानीरा—कोई कारण भी!

उदयन—[गंभीर ढंग से] बिना कारण जाने भी काम चल सकता है, इसलिए कि मैं कहता हूँ।

वानीरा—बातों को रहस्य बनाना मैंने कन्वेन्ट में नहीं सीखा। मैं तो......

उदयन—[गंभीर ढंग से]—मैं जानता हूँ वानीरा! तुमने कन्वेन्ट में क्या सीखा है?

वानीरा—You are very jealous Udayan!

नीलकंठ—[कुछ हँसते हुए]—आखिर बात क्या है? किसी के आने और न आने को लेकर आप लोग अपने प्रणय पर्व के तीसरे वर्ष की अंतिम रात को बहस से क्यों कड़वा किया चाहते हैं?

वानीरा—देखिये, यदि इतनी सारी शिक्षा और संस्कृति भी हमको पशु से ऊँचा न कर सके तो फिर क्या आशा हो सकती है?

उदयन—[गंभीरता से] भावावेश निष्कर्ष नहीं निकालता वानीरा! जानती हो मैं क्या चाहता हूँ!

वानीरा—मेरे चाहने के श्मशान पर अपना रंगमहल बनाना......

उदयन—[गंभीरता से] यह तो तुम सोचती हो, मगर मैं! इस समय जैसे अंधकार के आवरण में यह कौंसिल हाउस गुंबद, यह चर्च का क्रॉस, ये वृक्षों की पंक्तियाँ, ये तार के खंभे, ये आसमान की नीली महराब धीमे-धीमे डूब रही है और थोड़ी देर में सब एक हो जायेगा, कोई भेद न रहेगा; बस बिल्कुल यही।

नीलकंठ—मेरी कुछ समझ में नहीं आ रहा है, यह सब क्या और क्यों है?

उदयन—यह क्या और क्यों तुम्हारे लिए नहीं नीलकंठ! अपना सर मत खपाओ। जिससे यह सब कहा गया है, वो इसे घिरती हुई साँझ के धुँधलेपन में भी समझ रहा है।

वानीरा—[दुखित मन से] मैं चाहती हूँ मुझे अकेला छोड़ दिया जाये इस मामले में।

उदयन—[हल्के व्यंग्यात्मक ढंग से] सत्य से पलायन, घाव को प्रश्रय देता है वानीरा !

नीलकंठ—[ठंडी साँस से] शंका की भूमि पर लगाये गये इन सनोवरों में और फूल आयेंगे भी कि नहीं, मैं तो यही सोच रहा हूँ।

उदयन—[कुछ ऊँचे स्वर से] नीलकंठ ! अपने सोचने की खाई में हमें गिरा देने की क्षमा मत सोचना।

वानीरा—[कुछ जल्दी के ढंग से] चरित्र, आचरण की बात है, वह बाजार में नहीं बिकती, वर्ना तुम्हारे लिए मैं खरीद लाती।

उदयन—[व्यंग्य से] योरप से खरीदा गया चरित्र तो मैं देख ही रहा हूँ।

वानीरा—[ज़रा ऊँचे स्वर से] क्या तुम मुझे पागल बना देना चाहते हो ! अगर पापा और ममा को यह सब मालूम होगा तो कितना दुख होगा !

उदयन—[बहुत धीरे धीरे] मैं भी यही कहता हूँ कि पापा और ममी को तथा दूसरों को मालूम होगा तो तुम्हारी

नीलकंठ—[गहरे व्यंग्य स्वर से] अंधकार धीरे धीरे सनोवर की पत्तियाँ चबा रहा है उदयन ! फूलों का रंग डूबता जा रहा है।

उदयन—अंधेरी वरदान नहीं दे सकेगा नीलकंठ ! यह प्रश्न कल के निमंत्रण का नहीं, उदयन और वानीरा का ही नहीं, वरन नारी और पुरुष का है।

वानीरा—[व्यंग्यात्मक हल्की हँसी से] जानते हो नीलकंठ ! और जिस प्रश्न का उत्तर आज एक आई० सी० एस० पति को मिला है।

उदयन—[गंभीरता से] आक्षेप करने से, किसी को सुख मिलता हो, यह तुम्हारा सहज नारीगत भ्रम है।

नीलकंठ—प्रणय के ओठों से आक्षेप भी किया जा सकता है उदयन !

उदयन—[क्रोध से] क्या तुम चुप नहीं रह सकते नीलकंठ !

वानीरा—क्या यही बात मैं तुमसे नहीं कह सकती हूँ उदयन !

उदयन—[सबके साथ] मुझे खुद चुप पसंद है, मगर आज अब और चुप कर जाना.

वानीरा—तुम मुझसे अब और क्या चाहते हो ! जो मेरे पास था दिया, दे रही हूँ, और देती रहूँगी.

उदयन—तुम सच मानो, मैं कुछ भी लेना नहीं चाहता। तुम अपना दिया

हुआ चाहो तो लौटा भी सकती हो, मगर, मैं तुम्हारी सीढ़ी बन जाऊँगा यह तुम्हारा भी भ्रम है, और उन मिस्टर मित्रा का भी।

नीलकंठ—मैं तुम्हें इतना गिरा हुआ नहीं समझता था .....

उदयन—मगर नीलकंठ! तुम्हारे पास क्या सबूत है कि तुम आज ही जो कुछ समझे वही ठीक और अंतिम भी है।

नीलकंठ—मैं तुम से विवाद नहीं करता, मगर यह याद रखो कि 'एक्सरे' से हृदय नहीं पहचान सकोगे, भले ही वहाँ का ढाँचा हाथ लगे।

उदयन—[तनिक मुस्कराहट से] कदाचित तुम यह समझे कि इस बात से तुमने मुझ पर प्रहार किया, क्यो है न ? ना !! बात की भूमिका बिना जाने दूसरे को मूर्ख कहना, स्वयं ही...

वानीरा—[तनिक झल्लाते हुए] आखिर मैं पूछती हूँ, तुम्हें यह इतना सारा दम्भ क्यो ? हाँ क्यों ?? बताओ।

उदयन—[गंभीर ढंग से] तुम्हारा उदयन तुमसे दम्भ नहीं करेगा वानीरा ! मगर वह चाहता है कि तुम उसकी और अधिक बन सको इसलिए शाम को जब वह आफिस से लौटकर आये तो तुम 'स्विमिंग पूल' पर न होकर, क्या घर पर नहीं मिल सकतीं ?

वानीरा—[उपेक्षा से] और वह रोज़ व्हिस्की के नशे में रात को बारह बजे कैप्टन की पत्नी को छोड़ने जा सकता है ?

नीलकंठ—विरोध और तर्क में बैर है।

उदयन—मगर मैं कहता हूँ तुम हम साधारण सामाजिकों की भाषा कैसे सीख गये अभी इतनी जल्दी ?

नीलकंठ—[व्यंग्य से] मुझे बहुत बड़ा आश्चर्य है कि पति और पत्नी इतने विरोधाभास को लेकर भी हँस लेते हैं।

वानीरा—मुझे इस प्रकार के जीवन से सचमुच घृणा हो गयी है।

नीलकंठ—[व्यंग्य से] घृणा और प्रेम, विश्वास और प्रपंच सब के अर्थ, कोश में फिर से देखूँगा, कहीं ये पर्यायवाची तो नहीं हैं !

उदयन—आज तुम सब कुछ कह सकते हो नीलकंठ ! क्योंकि थोड़ी देर पूर्व कही गयी वे प्रणय की बातें एकदम झूठी गवाही की भाँति हम बोल रहे थे।

वानीरा—[रुआँसे ढंग से] आचरण व्यक्ति की बात है नीलकंठ ! समाज हम पर लाद भले ही दे, मगर मनवा नहीं सकता। यह मेरा ईश्वर जानता है कि...

उदयन—ईश्वर! ईश्वर की शरण व्यर्थ में न लो।

नीलकंठ—उदयन! तुम्हारे वर्ग के लोग इतने शीघ्र ईश्वर से छुटकारा पा जायेंगे इसकी कल्पना ही मत करो।

उदयन—मैं नास्तिक नहीं हूँ नीलकंठ!

नीलकंठ—क्योंकि कभी तुम आस्तिक थे भी नहीं। तुम्हारे वर्ग को प्रत्येक चीज़ की आवश्यकता हो सकती है उदयन! धर्म से लेकर व्यभिचार तक और दान से लेकर गला काटने तक है।

उदयन—मुझे एक वर्गविशेष में खड़ा कर हल्का न बना सकोगे।

नीलकंठ—विचारशील ही वर्गहीन हुआ करता है। तुम्हारे वर्ग के क्या स्त्री क्या पुरुष, सभी आवेश से ग्रस्त रहते हैं। तुम्हारे वर्ग का चरित्र वेशभूषा है और तुम्हारे जीवन का लक्ष्य पेन्शन। निर्जीव रटे हुए वाक्यों में प्रेम और घृणा ही तुम्हारे वर्ग का दाम्पत्य सुख है।

[दरवाज़े का शब्द]

नौकर—हुजूर! मिश्रा साहब आये हैं नीचे ड्राइंग रूम में बैठे हैं।

वानीरा—चलो, मैं आती हूँ।

उदयन—नहीं (ज़ोर से)—बैरा! बोलो साहब लोग घर पर नहीं हैं।

वानीरा—क्या! कोई घर पर मिलने आये और तुम... ...

उदयन—बैरा! जाओ

[दरवाज़े का शब्द]

नहीं, आज से तुम उससे नहीं मिल सकोगी।

वानीरा—[घबराहट के स्वरों में] क्या तुम मुझे क़ैद कर लेना चाहते हो? अभी तीन ही वर्ष हुए हैं और यह परिवर्तन! क्या कल इसी अविश्वास को लेकर हम चौथी बार प्रतिज्ञा करने वाले थे?

नीलकंठ—(गम्भीरता के साथ) अधकार ने सनोवर की पत्तियाँ चबा डाली हैं उदयन। पेड़ों का आकार भर रह गया है, फल जाने कहाँ खो गये हैं।

उदयन—[चिल्लाते हुए] चुप रहो नीलकंठ! मेरी पत्नी के मामले में बीच में मत बोलो। नहीं देख सकते हो तो चले जाओ यहाँ से।

नीलकंठ—[कुछ व्यंग्यात्मक हँसी के साथ] आवेश अफ़सरी का चिह्न है।

उदयन—[ज़ोर से] मैं पागल हो जाऊँ तभी तुम चुप रहोगे!

वानीरा—[हाँफते हुए] मेरी साँस इस विवाह की क़ैद में घुट जायेगी, ओफ़!

नीलकंठ—आप लोगों के वर्ग के पास कितना समय है प्रेम और घृणा दोनों के लिए—हः-हः-हाँ सुनो, वह मसूरी का नीला सूट, पन्ने की अँगूठी सम्हालकर रख दो, नहीं तो कल भोज के समय क्या होगा ?

[ट्रेन की आवाज़]

उदयन—ओफ़, वे लोग भी आ गये होंगे।

वानीरा—[तैश के साथ] पापा और मम्मी भी देख लें अपनी इकलौती बेटी की दशा......

नीलकंठ—क्या इस ट्रेन से आपके फादर-मदर आ रहे हैं वानीराजी !

वानीरा—[उसी तैश के साथ] हाँ, वे लोग क्या कहेंगे ? ओफ ! अभी तीन वर्ष ही हुए हैं और ये परिवर्तन ! बेचारे पापा को कितनी ठेस पहुँचेगी; आप इन्हें समझाइये नीलकंठ बाबू।

उदयन—समझाने से कोई फायदा नहीं, फिर कोई क्या समझाये ? मैंने बीसो बार मिस्टर मित्रा के साथ 'डक हंटिंग' के लिए जाते हुए सुना है।

वानीरा—[तैश के साथ] मैंने तुम्हें लेट आवर्स में 'स्विमिंग पूल' पर नहाते हुए देखा है।

उदयन—मेरे पास प्रमाण है, तुम्हारे नीले लेटर्स !

वानीरा—मैं भी झूठ नहीं कहती हूँ। तुम्हारा चित्र है मेरे पास, यह रहा...

[पैरों के जाने और बैठने की आहट तेज़ी से]

ये, हाँ ये, किसके साथ में ये तुम बैठे हो ! बोलो !

[दरवाज़े का शब्द]

नौकर—आपके पापा और मम्मी आये हैं।

वानीरा—[तैश में] मैं सब, हाँ सब कह दूँगी। अब और इस क़ैद में नहीं रह सकती।

[जाने की आहट]

उदयन—[ठंडी साँस से] गई ! जाओ, तुम समझती हो कि उदयन तुम्हारे पापा और मम्मी से डर जायगा।

नीलकंठ—तुम भला क्यों और किससे डरोगे ? तुच्छ नारी ! तुम्हारे जाति के पुरुषों से होड़ करती है, ठीक है न, उदयन ?

उदयन—[आवेश के साथ] नारी को मैंने कभी तुच्छ नहीं माना, मैं उसके गरिमामय रूप और उज्ज्वल चरित्र की पूजा करता रहा हूँ।

नीलकंठ—[इनके स्वर से] विवाह के पूर्व प्रत्येक पुरुष नारी की पूजा करता है और विवाह के बाद बना देता है उसे मात्र दासी उदयन! विलास का साधन!

उदयन—[आवेश के साथ] नीलकंठ! तुम मेरे मित्र हो वर्ना

नीलकंठ—घर से निकलवा देते, क्यों है न! मगर तर्क, विचार और बुद्धि से किया जाता है न कि शारीरिक बल से!—[हल्की हँसी]

उदयन—नीलकंठ! इतने वर्ष हुए कभी तुमने मुझे नारी का अपमान करते हुए देखा जो तुम ऐसा कहते हो?

नीलकंठ—अपमान गालियों से ही नहीं होता उदयन! तुम्हारे वर्ग ने नारी को रंगपुत कर जो ड्राइंग रूम की वस्तु बना दिया है, वह नारी की पूजा है कदाचित!

उदयन—मैंने वानीरा को दाम्पत्य सुख में समान भागी समझा है आजतक।

नीलकंठ—आदर्शवाद! कामुकता के लिए सुख से बढ़कर सुन्दर शब्द तुम्हारे शास्त्र में नहीं है! [हँसा]

उदयन—धर्म और संस्कृति पर मैं किसी मनुष्य की आलोचना सुन सकता हूँ, तुम्हारे जैसे

नीलकंठ—पशु, क्या है न! मैं बात कर सकता हूँ, गालियाँ बकना मेरी संस्कृति नहीं उदयन! और रहा प्रश्न धर्म और संस्कृति का, तो वह तो मैं देख ही रहा हूँ।

उदयन—[आवेश के साथ] क्या देखा तुमने?

नीलकंठ—क्या और अभी देखना शेष है कुछ? कल तक जिस वर्ग के नील ड्राइंग रूम्स में लहराते रेशमी पर्दों की नीली छाया में किंग और क्वीन के चित्र थे, वहाँ आज गाँधी और बुद्ध के चित्र आ गये हैं। तुम्हारा ही वर्ग है उदयन जो अपनी बेटियों को 'बाबा' भी कहता है और कन्यादान भी करता है।

उदयन—आखिर तुम क्या चाहते हो? तुम संस्कृति के मिश्रण में विश्वास नहीं करते?

नीलकंठ—तुम्हारे वर्ग का कोई देश, कोई धर्म और कोई संस्कृति है भी! और मैं, मैं क्या चाहता हूँ? किसी क्लब में बैठकर 'अर्द्ध नारीश्वर' पर लेक्चर तो नहीं ही दे पाऊँगा।

[दरवाजे का शब्द]

वानीरा—[भीतर से] मैंने पापा से पूछ लिया है नीलकंठ! मैं मित्रा का इन्विटेशन देने जा रही हूँ।

उदयन—[झल्लाते हुए] पापा कौन होते हैं ? मैं तुम्हारा पति हूँ। मैं कहता हूँ तुम उसे नहीं बुलाओगी।

वानीरा—जो मैं भी कहती हूँ वह कैप्टन की पत्नी नहीं आयेगी।

उदयन—वो मेरी मित्र है।

वानीरा—तो यह भी मेरा मित्र है।

उदयन—स्त्री का कोई मित्र नहीं हुआ करता।

नीलकंठ—[व्यंग भरते हुए] लोग कहते हैं जहाँ नारी की पूजा होती है वहाँ देवता रहा करते हैं।—मगर हमारे यहाँ भूत भी देवता माने गये हैं, क्यों उदयन !

वानीरा—[उसी तेजी से]—मैं उसे बुला कर ही रहूँगी, मेरे व्यक्तिगत मामले में बोलने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं।

उदयन—[उसी तेजी से] ये मेरी 'प्रस्टिज' का प्रश्न है, मेरी पत्नी चरित्रहीन नहीं हो सकती है।

वानीरा—मेरा भी पति चरित्रहीन नहीं हो सकता है।

उदयन—[झल्लाते हुए] चरित्र स्त्री के लिए होता है।

नीलकंठ—उदयन ! वह भी बहुत ही पतला...तभी तो बेचारे मनुष्य ने कितना प्रयास किया कि कोई उसे देख न ले, इसलिए पर्दा करवाया, किसी का वह स्पर्श न करे, इसीलिए 'प्रणाम' चलवाया, और कोई उसे बोलता न सुन ले, इसीलिए पति तक का नाम छुड़वाया।—फिर भी हाय रे स्त्री, तेरा ये विद्रोह !! [ठंडी साँस का हल्का शब्द]

उदयन—नीलकंठ ! नारी के पक्ष समर्थन की आड़ लेकर तुम वानीरा के प्रति अपना झुकाव मुझसे छुपा न सकोगे।

नीलकंठ—काश, तुम थोड़े कम पशु हो सकते। तुम्हारी अफसरी दाढ़ों में मनुष्य का खून लग गया है उदयन ! जो पत्नी और मित्र को भी नहीं छोड़ेगा।

वानीरा—[रोते हुए] ओह मैं यह सब क्या सुन रही हूँ उदयन, तुम्हारे मुँह से !

नीलकंठ—वही, जो आपके वर्ग में हमेशा हुआ है और होता रहेगा। इसी वर्ग के लिए विवाह, धार्मिक आवश्यकता नहीं वरन विश्वास की सांस्कृतिक सुविधा है।

उदयन—मेरा मुँह न खुलवाओ नीलकंठ !

वानीरा—मैं अब और नहीं सुन सकती।

नीलकंठ—जब मेरे लिए सम्भव नहीं हो पा रहा है, तो आपके लिए तो और भी कठिन है वानीरा जी।

वानीरा—[जाते हुए] शकालु मन के साथ मैं नहीं रह सकती, मैं जा रही हूँ।

[पैरों की आहट]

नीलकंठ—अन्धकार सनवरों को निगल गया है उदयन! तारों की छाया में पहचान सको तो पहचान लो।

उदयन—मुझे अब कुछ नहीं चाहिए, Let her go to hel yes hell

नीलकंठ—यह तो कभी का हो चुका है। मर्यादा पुरुष राम ने धरती की राह सीता को पहले ही वहाँ भेज दिया है। तुम मत घबराओ। नारी वहाँ से लौट कर नहीं आ सकेगी, पुरुषों ने प्रबन्ध कर दिया है इसका।

[हँसी व्यंग्यात्मक]

उदयन—पुरुषों पर कीचड़ उछालकर समाज में चरित्रहीनता फैलाते हुए शर्म नहीं आती।

नीलकंठ—रोमांस के खँडहर पर मंदिर! ह ह ह

[मोटर के स्टार्ट होने, और जाने का शब्द]

नीलकंठ—वानीरा जा रही है उदयन! पापा और मम्मी के साथ, कल तुम्हारे प्रणय का चौथा वर्ष है। डिनर में आनेवालों को क्या जवाब दोगे? वो मखुरा का नेलासूट। पन्ने की अँगूठी [हँसी]

उदयन—चुप रहो नीलकंठ!

[दरवाजे का शब्द]

नौकर—हुजूर ये, ये

उदयन—लाओ इधर, चिट भेजी है—'उदयन! अब और समय नहीं—वानीरा।'

[दरवाजा बन्द होता है]

मुझे अब तुम्हारी कोई आवश्यकता भी नहीं, अफ तुम्हारी उन कँआरी आँखों के विष ने मेरे प्रणय के सनवर के फूल जला डाले हैं। वानीरा! तुमने उन फूलों का रंग चुराकर काला कर दिया है, और अब जा रही हो!—नहीं, तुम्हें भी मेरे साथ प्रणय के इन काले फूलों का शवदाह करना होगा!

नीलकंठ—अविश्वास के भूकम्प में तुम्हारे वर्ग के महल की ईंटें तक गिर रही हैं उदयन! अब तो सत्य से पलायन करने में भी मौत है।

उदयन—[पैरों के जल्दी चलने की आहट] वह बचकर नहीं भाग सकेगा। मैं उसे गोली मार दूँगा, और खुद भी नहीं रहूँगा।

[पैरों की आहट]

नीलकंठ—कहाँ जा रहे हो? सुनो, इस पिस्तौल से क्या वानीरा का खून करोगे? अपनी बाँहों के फूल का! प्रतिहिंसा की गोली से ज़िंदगी के सनोवर को गोली मारोगे, मूर्ख।

उदयन—छोड़ो मुझे, नीलकंठ! तुम मेरे जीवन में अघोरी की भाँति आये। तुम्हारे तर्क के अंधकार को मैं गोली मार दूँगा, नीच! चले जाओ मेरे यहाँ से।

[जोरों से हाँफने का शब्द]

नीलकंठ—तुम पिस्तौल से किसी का खून नहीं कर पाओगे, समझे? और रही बात मेरे जाने की, यह मेरा प्रश्न है।

[दरवाजा खोलने का शब्द]

उदयन! तुम्हारे वर्ग को न तो पत्नी की आवश्यकता है और न मित्र की...

[जोरों से दरवाजा बंद होने का शब्द]

सूर्यकान्त त्रिपाठी, 'निराला'

तीन वसन्त-गीत

१

सुरतरु वर शाखा
खिली पुष्प भाषा।

मीलित नयनों जपकर
तन से क्षण-क्षण तपकर
तनु के अनुताप प्रखर,
पूरी अभिलाषा।

बरसे नव वारिद वर,
द्रुम पल्लव-कलि-फल भर
आनत हैं अवनी पर
जैसी तुम आशा।

भावों के दल, ध्वनि, रस
भरे अधर-अधर सुवश,
उघरे, उर-मधुर परस
केश-पाशा।

भर गए मोती के झाग,
जनों के मन लूटे हैं।

माथे अबीर से लाल,
गाल सेंदुर के देखे,
आंखें हुई हैं गुलाल,
गेरू के ढेले कूटे हैं।

३.

अट नहीं रही है
आभा फागुन की तन
सट नहीं रही है।

कहीं सांस लेते हो,
घर-घर भर देते हो
उड़ने को नभ में तुम
पर-पर कर देते हो,
आँख हटाता हूँ तो
हट नहीं रही है।

पत्तों से लदी डाल
कहीं हरी, कहीं लाल,
कहीं पड़ी है [illegible] डाल गया हो।

[illegible]तड़।

[illegible]

[illegible]ंख [illegible]रे भागवान [illegible]
[illegible]र ने आमंत्रण का [illegible]
[illegible]याण काल की नव शंख ध्वनि छायी!
[illegible] है, मानों जागे हैं स्मरण आज अंबर के;
हम तो ओस बिंदु सम ढरके!

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

तीन गीत

कलिका इक बबूल पर फूली

[१]

कलिका इक बबूल पर फूली,
इसकी इस कटकित डाल पर वह मनहरनी झूली!
इस विकराल अनुर्वर, ऊसर अरस काल प्रांतर में,
इक बबूल यह उग आया है भरे शूल अंतर में,
कंटक ही कंटक करते हैं इसकी हहर-हहर में,
अरे, सुरम्या सुरभित मधुऋतु इस पर कब अनुकूली?
कलिका इक बबूल पर फूली!

कब आयी इसकी छाया में शीतलता सुकुमारी?
किसने इसकी इस छाया में चिर-विश्रांति निहारी?
इस पर तो कंटक ही जाते रहते हैं बलिहारी,
मधुरा कलिके उसे कंटक ही जिसने उसकी डाली छू ली!
बदयन—[illegible] फूली!

आओ, जग के चतुर चितेरो अवलोको यह क्रीड़ा,
यह इसका सौभाग्य निहारो; निरखो इसकी क्रीड़ा,
आओ चित्रित करो तनिक यह इसकी सौरभ पीड़ा,
अरे सँभालो कंपित कर से अपनी अपनी तूली!
कलिका इस बबूल पर फूली!

इसकी इस प्रियतमा कली का यह अनुराग निहारो,
इसकी आसावरी! प्रिया का स्वरित विहाग निहारो,
इसके काँटों में अनुरंजित सुमन पराग निहारो,
टुक देखो तो, इस मीराँ की सेज बनी यह सूली!
कलिका इन शूलों में फूली!

---

[२]

हम तो ओस बिंदु सम ढरके!

ओस बिंदु सम ढरके, हम तो ओस बिंद [illegible]
आये इस जड़ता में चेतन-तरल [illegible] आँख का इशारा किया।

[illegible] नोक अपनी कमर से बँधे फेंट पर
ना जाने किसने [illegible] झुका तो उसने बाँस तो पकड़े रखा और
क्या जाने क्यों [illegible]-सी काली दो टाँगें फैलकर लटककर रह गयीं।
किसने [illegible] 'कलाबाज!'
कौन [illegible] में कमर का तनाव बाधा डाल गया हो।
[illegible]-तड़।
[illegible]

आज [illegible] ने पंख [illegible] भागवान [illegible]
[illegible] इस अनाहूत ने आमंत्रण का [illegible]
अथवा आज प्रयाण काल की नव शंख ध्वनि छायी!
लगता है, मानों जागे हैं स्मरण आज अंबर के;
हम तो ओस बिंदु सम ढरके!

---

[३]

आरा-ईमाँ

रंग दिखाते हैं, राग गाते हैं,
हम परेशानियाँ उठाते हैं,
रोज कहते हो बस जरा ठहरो
हम अभी एक छिन में आते हैं!

कब से यह नेह दीप टिमटिमाता है
क्या कभी ध्यान इसका आता है?
हुए चालीस बरस से ऊपर—
तेल अब खत्म हुआ जाता है!

आग तडपे कि वेदना जागी
कैसे हो मन विशुद्ध वैरागी?
अरे, हुगामेजी का खेल जब हो तो
कलिका इरु सर सृष्टि बने अनुरागी?

कब आयी ड़, हमने चाहा कि बाँध लें मन को
किसने इसकी इस तुमने सोचा कि मृत्तिका-कन को
इस पर तो कटक ही जुरअत कि बने स्पंदनहीन?
तुम्हारिगे उसे कटक ही जिसने उमकी इस रुधिर-रन को?
मधुरा का न लाएंगे तरुपर फूली!

तेजबहादुर चौध

हत्याभरन

वह जब बाँस के ऊपर चढ़ गया तो ज़ोर ज़ोर से बाँस को आगे-पीछे झोटे देने लगा। नीचे एक ओर छोकरा गले में ढोल लटकाये एक छोटी-सी क़मची और दूसरे हाथ की थाप से उसे बुरी तरह से पीटे जा रहा था। नीचे एक मैली फटी-सी चादर, धरती पर—जहाँ हम सब चलते फिरते हैं, थूक देते हैं, जानवर पाख़ाना-पेशाब कर देते हैं—बिछा रखी थी; उस पर दो इकन्नियाँ, तीन अधन्ने, एक दो पैसे पड़े थे।

ऊपरवाला बाँस को ज़रा रोककर बोला, 'मेरे बाप ने कहा था!' उसी तरह नीचे ढोल पीटनेवाले ने क़मचीवाला हाथ ऊपर उठाकर ज़ोर से पूछा 'क्या न था खिलाड़ी?' फिर तीन बार ढोल पीटकर ऊपरवाले की बात सुनने ... गी जो चारों तरफ घेरे खड़े तमाशबीन थे, ढोल के थमते ही जैसे चुप ... ागे कि ऊपरवाला बोला, 'तो मेरे बाप ने कहा था......' ... ासको

'होय!' नीचे वाले ने दो बार तड़-तड़ ढोल ... दूसरा

'अकि बाँस की कला में मारा जायगा' ... ार का है, मेरे ... ना थमाये वहाँ आ गये।

चिपटा हुआ बोला।
... उड़ती निगाह से मुझे देखकर

'कैसे!' तड़-तड़ के साथ ... ... जो अपनी फटी-सी चादर लपेटे गठरी-

'ऐसे, कि सब कल ... याते होंठों पर तरी लाने के लिए रह रहकर अपनी जीभ

'होय' तड़-तड़ ... फटे होंठ की खाल के एक टुकड़े को उसने होंठ चलाकर

'पर उल्टा होयके, ... ूया और बोला 'कित्ते हैं री?' उसका मतलब पैसों से

चकर-चिन्नी मती करियो...' ... ... दोनों को ड़े हैं

'कलावाज़!' ...ा बोला। ... भागवान सेठ साहूकार दाता ल...

'ओय!' तड़-तड़, 'इतने सारे भागवान सेठ साहूकार दाता

'तो ...नके सामने आज तो वो ही करके दिखा दे' तड़-तड़।

तड़-त... बादी!'

'होय' तड़-तड़।

'गिर गया तो मर जाऊँगा' ऊपरवाले ने वहीं से बात छेड़ी।

'मर जाय तो मर जाना' तड़-तड़ 'मूजी की जान और दाता की माल पे ाय के पड़ती है' तड़-तड़।

'मेरे बाप ने तो मना कर दिया हैगा।'

'करने दे', तड़-तड़, 'और सुन।'

'ओय' ऊपरवाले ने बाँस को अपनी टाँगों की लपेट में इस तरह ले लिया कि वह नीचे रपट नहीं सकता था। उसकी काली पतली टाँगे, चूतड़ों तक खिंची धोती का फेंट, नंगा बदन, एक-एक पसली हर साँस में उभर आती थी। अपने बालों में उसने इस क़दर तेल डाला था कि सारा मुँह उसका ऊपर धूप में आ जाने पर चमक उठता था।

नीचे भीड़ की निगाह उस ऊपरवाले पर थी। छोटे-छोटे बच्चे आगे बैठे हुए थे। एक तरफ को एक सुंदर आकृति की जवान लड़की बैठी अपनी गोद में एक बच्चे को लिये उसे दूध पिला रही था, उसके आगे थ ढे से बाँस, गूदड़-कपड़ों की " और एक छोटा सा हुक्का रक्खा था जिससे मालूम होता था कि यह इन्हीं ी ही कोई साथ का थी।

अरे, हुए। ~ 'अय' 'करने पर नीचेवाले ने कहा, 'जो तुझे डर लगता है तो कलिका इकै स~~ मेनूँ' तड़-तड़। उसने बात खतम भी नहा की थी कि वही कर आयी इ~ ~ति बनाये हुए जोर से बोली, 'भय्या उतर आ मैं किसने इसकी इस'

इस पर तो कटक ही ~ कि नीचेवाला बोला, ' ~पिले उसे कटक ही जिसने उसकी ~-तड़-तड़ातड़-तड़-तड़-तड़ातड़, तुम्हारे ~ मथुरा का न लासे ~ ,तरपर फूली! ~ ~!'

~ नदयन—चुप रहो मतलबद्ध है, इस जग मे ~

ढोलक पर दोहा शुरू कर दिया, और उधर ऊपरवाले ने बाँस ही बाँस अपने पाँव में फँसे रहने दिया और एक हाथ छोड़ दिया, बाँस लचकइयाँ ले रहा था। इधर-उधर, इधर-उधर।

'ऐसे नहीं बदी' तड़-तड़।

'फिर !'

'दोनों हाथ छोड़ दे ! पाँव फँसे रहने दे' तड़-तड़।

'गिर जाऊँगा'

'गिर जाने दे' तड़-तड़ातड़, तड़-तड़ातड़।

ऊपर वाले ने दोनों हाथ छोड़ दिये, उसके पाँव उलझे रह गये और बाँस बराबर झूम रहा था।

कि नीचेवाला बोला, 'खिलाड़ी !'

'ओय !'

'ऐसे नहीं मानी !'

'फिर ?'

'वही, कि दोनों पाँव छोड़ दे और दोनों हाथ छोड़ दे।'

अबकी तड़-तड़ नहीं हुई। उसने बैठी युवती को आँख का इशारा किया।

ऊपरवाला उलटा होकर उस बाँस की नोक अपनी कमर से बँधे फेंट पर जमाने लगा। जब वह अपनी कमर जमा चुका तो उसने बाँस तो पकड़े रखा और दोनों पाँव हवा में फैला दिये। सूखी-सी काली दो टाँगें फैलवाँ लटककर रह गयीं।

ऊपर, कम्बख्त पेट के लिए नाच उठा, हजारों आँखें उसे देख रहीं थीं, नीचे ढोल कहरवा की धुन उड़ाये जा रहा था।

दोनों पतले-पतले हाथ—एक इधर फैला, एक उधर खाली—पतली सी रीढ़ पर लगी एक गद्दी पर बाँस की नोक और आगे उस अभागे के दोनों पाँव हवा में लटके हुए। वह सब का सब चक्कर काटकर रुक गया। मैं भी उसे देख रहा था कि देखो यह पेट के लिए जान पर खेलकर चार पैसे माँग लेता है, तभी किसी ने मुझसे कहा 'बाबूजी'

देखा, सामने वही हसीन औरत अपने कूल्हे पर उस छोटे से बच्चे को जो रह-रहकर अपनी मीं होन आँखों को चारों ओर चला देता था लिये खड़ी है, दूसरे हाथ का एक पीतल का कटोरा उसने मेरे आगे फैला दिया। उसकी सूरत से, उसकी आँखों से लगता था कि उसे इस प्रकार माँगने की आदत पड़ गयी है और ... भी जानती थी कि मेरी तरह और लोग भी उसके चेहरे की तरफ इस ... ही, आँखों से क्या देखने लगते हैं।

अरे, हुआ ... निकालकर मैंने उसके कटोरे में डाल दी। वह आगे बढ़ गयी। कलिका ... आगे कटोरा बढ़ा देती, और कुछ न कुछ मिल जाने पर ... कन आयी ... ने ही गर्दन हिलाकर मना करते रह जाते।

किसने इसकी इस ... हैं, खिसकने लगे। आधी भीड़ सटक चुकी इस पर तो कंटक ही ... और खिसकती भीड़ को देखने में था। तुम्हारे ... उसे कटक ही जिसने उसकी ... कब वह ऊपरवाला खिलाड़ी मथुरा का न लाये ... नरुपर फूली।

... मदयन—चुप रहो ... है, इस जग मे

'कब से?' पूछकर मैंने उसकी तरफ़ देखा। हैरान था कि यह बुखार में भी ऊपर सूली पर चढ़ा-चढ़ा नाच आया। उसने पानी माँगा।

पानी देते हुए उसके भाई ने कहा, 'अजी हो गये कोई एक अट्ठा (आठ दिन)।'

'कुछ इलाज किया नहीं?'

'अब इलाज नहीं किया होगा? जो पैसे आते हैं, वे सब इसके ऊपर ही तो लगा देते हैंगे, कुछ पेट में डाल लें हैं।'

उसने पानी पीकर मेरी तरफ देखा, ऊपर चढ़ा हुआ ऐसा लगता था जैसे इसे कुछ नहीं हुआ है पर अब तो उसकी आँखें बुखार से सूजी हुई थीं और हर साँस में उसके नथुने जैसे फूल-फूल उठते थे। नहीं लगता था कि ऊपर चढ़ा हुआ यही खिलाड़ी छोकरा 'ओय' और कहता था कि 'मर जाऊँगा'। यह वही था जिसने बुखार में बाँस पर चढ़े-चढ़े कहा था, 'मेरे बाप ने कहा था कि बाँस की, कमर मारा जायगा'...और यह कि 'मेरे मरने से कोई दुनिया थोड़े ही, लँगड़ा ढोल और ये पेट का गड्ढा......।' लिये हरेक के आगे

दाता लोगों ने देखा, सूम लोगों ने भी देखा। की सिलवटें डाले। उसको औरत की तरफ घूरे जा रहे थे। और नाकारा बना दिया, दूसरा

भीड़ क़रीब-क़रीब दूर हो चुकी थी -चढ़ता है और कह उठता है, मेरे हाथ में लिये उस बच्चे के हाथ में

मैं उसकी तरफ देख रहा है,

भाई हैगा' सिगरेट की डिबिया को उसने एक-दो बार और चटकारा और उसके अंदर का कागज़ उसने निकाल लिया।

'क्या देखो हो बाबूजी ! हम लोग परेसान हो गया। आउर ये लरिका आज आठ दिन से बीमार है मुँख नहीं जुठारा है, येही कमाता था,' फिर दोनों मुट्ठियाँ तानकर तनकर बोली, 'ऐसी इसकी काया थी, अब तो आधा चौथियाई बी तो नहीं रहि गिया।' आवाज़ में वही दोहरा स्वर था जैसे एक साथ दो कोयलें बोल रही हैं। उसके भरे हुए हाथों पर तमाम गोदना गुदा हुआ था, गले में हँसली, हाथ में चाँदी के पतले कड़े—

'तो ये कला नहीं करता ?' मेरा मतलब उस ढोल बजानेवाले से था।

'नहीं यही तो रासा[१] है। इसकी कमर एक बार गिरकर टूटि चुकी है तभी से कमरि अउर एक टँगडिया बेकार हुई गई, ना कूद सिकता है न बाँस प सिकता...' बच्चा मेरी तरफ देखकर हँसा, फिर अपनी माँ के हाथ के म के कड़ों को पकड़ने उन पर झुक गया। माँ ने अपना हाथ उठा अपनी कमर में दे दिया; वह जान गई थी कि ये कड़े लेना चाहता है। ई, नीचे लँगड़ा ढोल

अब ढोलवाले ने कहा 'तो एक खेल और कल्लें कटोरा लिये हरेक के आगे कहकर उसने बीमार की तरफ देखा जो खेल नयों की सिलवटें डाले। उसको और उनकी तरफ देखने लगा, वहन ने हिज और नाकारा बना दिया, दूसरा आँखों में एक बार मजबूरी और ला उतरता-चढ़ता है और कह उठता है, मेरे

मा की गोद में जाने के लिए रो पड़ा, मगर उसने उसी तरह तेवर चढ़ाये-चढ़ाये उसे रोने ही दिया और उसे चुप करने नहीं आयी, उसकी आँखों से एक प्रकार का दुःख, साथ में माथे पर वे ही बल थे। जैसे वह परेशान-सी हो गयी हो इस तरह के जीने से, मगर उसकी सुंदर काया सब कुछ करने से मान नहीं रही हो।

बीमार ने बच्चे को अपनी तरफ खींच लिया और चुप करने के लिए उसके सर पर जल्दी-जल्दी चार-छः बार अपनी उंगलियाँ चला डालीं, बच्चा चुप हो गया था मगर आँखें तो अपनी माँ की तरफ लगी हुई थीं, जब वह बाँस उखाड़ कर लौटी तो बच्चा उसे आता देखकर, चुप हो गया, मगर वह उसे रख फिर रस्सी लेने चली तो बच्चा सहसा फिर रो उठा। जाती बार मैंने देखा उसके वे ही तेवर बराबर चढ़े हुए थे।

भाई हैगा' सिगरेट की डिबिया को उसने एक-दो बार और चटकारा और उसके अंदर का कागज़ उसने निकाल लिया।

'क्या देखो हो बाबूजी ! हम लोग परेसान हो गया। आउर ये लरिका आज आठ दिन से बीमार है मुँख नहीं जुठारा है, येही कमाता था,' फिर दोनों मुट्ठियाँ तानकर तनकर बोली, 'ऐसी इसकी काया थी, अब तो आधा चौथियाई बी तो नहीं रहि गिया।' आवाज़ में वही दोहरा स्वर था जैसे एक साथ दो कोयलें बोल रही हैं। उसके भरे हुए हाथों पर तमाम गोदना गुदा हुआ था, गले में हँसली, हाथ में चाँदी के पतले कड़े—

'तो ये कला नहीं करता ?' मेरा मतलब उस ढोल बजानेवाले से था।

'नहीं यही तो रासा[१] है। इसकी कमर एक बार गिरकर टूटि चुकी है तभी से कमरि अउर एक टंगडिया बेकार हुई गई, ना कूद सिकता है न बाँस ... सिकता...' बच्चा मेरी तरफ देखकर हँसा, फिर अपनी माँ के हाथ के ... के कड़ों को पकड़ने उन पर झुक गया। माँ ने अपना हाथ उठा... अपनी कमर में दे दिया; वह जान गई थी कि ये कड़े लेना चाहता है। ..., नीचे लँगड़ा ढोल

अब ढोलवाले ने कहा 'तो एक खेल और करलें ...रा लिये हरेक के आगे कहकर उसने बीमार की तरफ देखा जो खेल... की सिलवटें डाले। उसको और उनकी तरफ देखने लगा, बहन ने ... और नाकारा बना दिया, दूसरा ...ता-चढता है और कह उठता है, मेरे

कहा, 'जरा सोच समझ के बात करा करो, जब भी पूछो किसी से तो यह कि ये तुम्हारी कौन है ? बहन है···लुगाई नहीं पूछा करते, समझे ?'

'भाई गलती हो जाती है·········'

तीनों का क्रोध शांत हो चला था। एक पैसा लेकर गुब्बारेवाला चलने को हुआ, उसने चलते-चलते बात पाक-साफ करने के ख्याल से पूछा, 'अभी तमाशा नहीं करा, दीखे !' जैसे उसे बड़ी हमदर्दी हो।

'कर चुके, अब चल रहे हैं·····'

'अच्छा !' कहकर वह चल दिया।

चलते समय उसकी आँखें फिर उस औरत पर पड़ीं मगर उनमें अबकी वह प्यास और बेशर्माई नहीं थी। उसे वहाँ से जाना भारी हो गया। व··· दिये हुए गुब्बारे को अपने पेट में दे लेने को दोनों हाथों से पकड़··· से मुँह में ठूँसे लेता था। 'तो फिर चल मैना' (बहना), ढोलवाले··· अपनी कमर

'तो अब कहाँ और तमाशा करोगे ? क्यों जी !' मैं··· है, नीचे लँगड़ा ढोल से, पर बोल उठा वह बीमार 'इनकी मरजी है जी··· कटोरा लिये हरेक के आगे तारके(उतार के) बेच लो तब भी पूर नहीं··· ···ानियों की सिलवटें डाले। उसको कहाँ लेके चले है मोय !' ···पाहिज और नाकारा बना दिया, दूसरा

दोनों उसके रौब में रहा क··· उतरता-चढ़ता है और कह उठता है, मेरे उसकी तरफ देखने लगे। वह कहता है, हैगा ? नहीं जो करता तो ···रा जायगा बेटे।' करें, और कहता हुआ···

तब मैंने देखा कि ···गास··· ···कदम पर अपना सारा धड़ झु··· एक पाँव पर उ··· जांघों पर सहारे के लिए लगा लेता। उसके चेहरे के नखशिख में एक हाथ··· उस लँगड़हाट ने उसे तो भद्दा बना दिया था। वह लड़की ठीक कहती अच्छे थे, ···ी कमर का बाँस और टाँग टूट चुकी है। इसके बस की नहीं है कला करनी। थी कि···

लड़की ने तीनों बाँस और उसी में रस्सों की गुच्छी डालकर अपने कँधे पर लये। लँगड़े ने सारे गूदड़ गादड़ की गठरी अपनी बाँह में पिरोकर कंधे पर ले लिया, और उसी हाथ में वह हुक्का भी। और बीमार ने उस बच्चे को अपने कंधे से लगा लिया और चल दिया। वह लाल रंग का गुब्बारा, जिसमें केवल हवा ही हवा थी और कुछ नहीं, उस बच्चे के हाथ में अब भी था और उस चलते बीमार

'है अः !'

दूसरे पाँव से पैडिल घुमाया। आस कहती है, "श...ब्बाश पट्ठे !"

रिक्शा धीरे-धीरे सड़क की चढ़ाई पर बढ़ती है। उसमें बैठे महाशय लोगों के मन कहते हैं, 'कितना अच्छा लगता है।'

फिर कोई जवाब-सा देता है 'आराम, और फिर सस्ता कितना है !'

उधर कलेजा धकर-धकर करके वह खींचता हुआ रोने को हो जाता है, मगर फिर उसे पेट का ख्याल होकर ध्यान आता है कि वह रास्ते का मज़दूर है; और पैसों की याद सामने मुस्कराकर उससे कहती है, बस मार लिया; ज़रा और; तीन आने। और फिर वही जाँ पेली।'

वह बोला, 'कहाँ चलना है ?'

'कहीं नहीं', मैंने कहा और वह टहलने लगा। मैं आगे बढ़ गया।

ऐसा लगा—कहीं एक बाँस है। एक बीमार उसकी नोक पर अपनी कमर अटकाये मुर्दे की तरह हाथ पाँव फैलाये हौले-हौले नाच रहा है, नीचे लँगड़ा ढोल पीटे जा रहा है। वहाँ एक हसीन छोकरी हाथ में फूटा कटोरा लिये हरेक के आगे फैलाये-फैलाये फिर रही है, माथे पर लाखों परेशानियों की सिलवटें डाले। उसको मालूम है कि एक भाई को इसी बाँस ने अपाहिज और नाकारा बना दिया, दूसरा बीमारी की हालत में रोज़ उस सूली पर उतरता-चढ़ता है और कह उठता है, मेरे बाप ने कहा था।

तड़-तड़ के बाद फिर कहता है,

'बाँस की कला में मारा जायगा बेटे।'

फिर तड़-तड़ होती है।

'मैं मारा जाऊँगा।'

तड़-तड़ फिर होती है।

'मेरे मरने से दुनिया सूनी थोड़े ही हो जायेगी और ये पेट का गड्ढा रोज़-रोज़ तो पाटने को नहीं रहेगा।'

न जाने कब वह नीचे उतर आता है। पहले ज़्यादा निढाल, उदास और कमज़ोर। मैं चला जा रहा था, विचार बराबर आये जा रहे थे।—बाज़ार के कए भाग में सड़क से हटकर खुली-सी जगह में सैकड़ों आदमियों की आँखों के आगे अपनी बेबसी और भूख का नंगा नाच दिखाकर वे चल देते हैं। बीमार-लँगड़े अपाहिज—हसीन मगर दुखी दर्दभरी आँखों से देखती हुई माथे पर परेशानियों की लकीरें डाले उस सुंदर-सी काया को ये यातनाएँ भोगनी हैं। दुनिया उसे देख

कर प्यार से पाल हा, फिर शर्म से गर्दन नीची कर लेती है, उस दुखी दरिद्र कष्टों में फँसी सुंदर रमणी के रूप पान करने।

इस हत्यामरन में एक बच्चा पल रहा है। क्या उसे भी बड़ा होकर यही सूली चढनी होगी? आन वह भा हान आँखा से चारों ओर देखता है, रो उठता, गुब्बारा पाकर चुप हा जाता है।

इस बात का कई दिन बीत गये। मैं बजार से लौट रहा था, झोले में सामान बहुत था। सबसे ऊपर दर्जन भर केला से और भी भारी हो गया। दूसरे एक अंगीठी, चिमटा, मेंड़ा कपड़ा और ले लिया था। मैं चाहता था एक रिक्शा कर लूँ और आराम से घर पहुँच जाऊँ। अत सामान क वहा धरता पर रखकर मैं सुस्ताने खड़ा हो गये, उँगलियाँ फूला लटकाये-लटकाये लाल नाली पड़ गया था। कंधे में खिंचाव के-सा दर्द था। बजार से एलेनगंज दूर था। मेरे वश का इतना सामान ले जाना था नहा।

सामने बाजार की चहल पहल, शरणार्थियों की फुटपाथ मे लगी कपड़े बिसाती इत्यादि की दुकानें। उनका वहा लापरवाह पहनावा, धूप में बैठे हैं, गाहक आता और चला जाता है। कभी-कभी आपस म पंजाबी म जल्दी-जल्दी न जाने क्या कह कर खामोश हो जाते हैं। लग आ रहे हैं, जा रहे हैं, आदमी चल रहा है, उनका आना जाना खतम नहा होता, सरा के दिन ग्र म कोई न कोई सौदा। मैंने दूर तक निगाह दौड़ायी—कहा रिक्शा नहा था। बड़ी परेशानी में था कि दुपहर हुई जा रही थी।

तभी एक औरत ने मुझसे फौरन कहना शुरू कर दिया, 'बाबूजी एक पैसा—ये लड़िका' यानी उसका गोद म जो था और मेरी तरफ एकटक देखे जा रहा था, 'भूखा है, इसका बाप मरि गिया। परमात्मा तुम्हारी राजगद्दी बनाये रक्खे। एक पैसा... 'वह कहती रही, मेरी उसकी आँखें मिल रही थी। कानों को उसके दोहरे स्वरों का रस लापन माने लगा। रूप पहले से कम था ज्यादा नहा। उसके याचना के शब्द कानों में पड़ जरूर रहे थे मगर मेरा ध्यान अन्यत्र था, सुना अनसुना हो रहा था, जैसे कोई किसी मूर्ति के काढ़े जमाता है और उस मूर्ति की भाव आकृति ज्यों की त्यों गुम-सुम बनी रहती है। मेरी भी वही दशा था। मैंने उसके रूप की परिधि में देखा, एक बेहयाई आ गयी है—ने माथे के बल सहस्रबाहु-से मेरे आगे आज याचना कर रहे हैं, कि मैंने उससे पूछा, 'तेरा भाई अब कैसा है? यानी वह बीमार जो था!'

वह चुप रही, कोई फंदा कलेजे को लिये हुए हौलदिली के साथ गले में अटकने लगा। आँखों की पलकें तीन-चार बार जल्दी-जल्दी खुल-मुँदकर रह गयीं, माथे पर हलके बल पड़े और मिट गये। होंठों की फड़फड़ाहट से वह बोलने का प्रयत्न करने लगी पर बोल न सकी।

तभी एक खाली रिक्शा सामने से गुज़री; जी में आया भी कि उसे रोक लूँ, मगर सामने एक घायल चिड़िया जो तड़प रही थी—आँख मिलते ही रिक्शेवाले ने पूछा, 'रिक्शा बाबू?' मैं मुँह से न बोला, केवल हाथ हिलाकर उसे मना कर दिया, और वह उसी गति से आगे बढ़ा चला गया।

आख़िर वह सँभलकर बोली, 'बा तो...मरि...गिया...' आगे न बोलकर वह फफकने लगी। बच्चा जो उसे देख रहा था अपने होंठों को बिचकाने लगा, निचला होंठ आगे निकालकर वह भी रोने को हुआ कि मैंने कहा, 'देख ये भी रोने लगा, वा तो मर गया, अब रोने से...'

नाक सुड़कती हुई उसने एक बार 'आह री' कहा और चुप हो गयी। अपने गंदे आँचल मे नाक-आँख पोंछकर उसने मेरी तरफ देखकर कहा, 'अब गंगाजी को छोड़ हमारा कोई नई रिआ' फिर कुछ कहने को हुई कि मैंने पूछा, 'और वो लँगड़ा?'

'वह हरामज़ादा!...' कहकर उसने दाँत पीस लिये। और भीगी जुड़ी जुड़ी पलकों से मेरी तरफ देखा।

रोने से आँखें गुलाबी हो गयी थीं जिससे रूप सवाया भला लगता था।

बोली, 'न करे ना धरे; जिद्दिन से उसका भय्या मरा उद्दिन से मेरा पल्ला नहीं छोड़ता, कहता है खसम कल्ले या भीख माँग। उसे कोई दमडिउ दिवाल नाहीं ना, आउर कहिता है अकि पेसा कर...'

बिजली की लहराती गति से उसकी आँखों की भौंएँ तन गयीं। माथा सलवटों से भर गया। जैसे हाँफी और बलो को ढील छोड़ती हुई बोली, 'मइ बोली गलफड़े धई के चीर दोंगी उँगरिया डारिके जो ऐसी भाषा बोला...तभी से लुच्चा...'

मैंने उसकी बातें सुनी और उसका रूप देखा। एक चमकदार साँपन की तरह। वह फिर भी औरत थी और उससे कुछ भी कहना बेकार था, बोली, 'तुमने तो उद्दिन तमासा देखा रहा उसका बाप—उसि के बाद फिन कभी नहीं बाँस पे चढ़ा। दो रात-दिन रकत की उछार आऊ मलगम उसके मुँह से आई। जुर, पसुरियन में दरद, मुंई के राह रकत; वह बाबू बिहोसी में दम तोड़ दिया; ऐहि बच्चा को हरदम अपने करेजे से लगावता था' कहकर उसने बच्चे की तरफ देखकर उसकी नाक

और आँखों को अपनी धोती के छोर से पोंछ डाला और बोली, अब ये धीमे कि मामा-मामा गोहरावे ! और तभी उँगलियाँ-सी नचाकर बच्चे से बोली, 'तेरा कुन्नू मामा मरि गिआ एँ रे !' बच्चा उसके नाचते हाथों को देखकर फिर उसके मुँह की तरफ ताकने लगा। वह पहले से भी दुबला, पीला-पीला-सा और उतना चंचल नहीं रहा था।

और उसे देखते हुए मैंने कहा, 'तो अब क्या करती हो तुम ?' कहते हुए एक भूल-सी न जाने क्यों उसे देखकर आँखों में उतर आयी।

मेरी आँखों में जो ढील थी उसे उसने ताड़ा, उसकी आँखें नीची हो गयीं, और शरमाकर बोली 'भीख'—और वही फूटा कटोरा उसने मुझे दिखा दिया। खाली और एक तरफ से जिसके किनारे टूटे हुए थे। 'अब सिवाए इसके अउर क्या धंधा है ?' कहकर वह फिर अपने आँचल से अपनी आँखों और कपोलों को ठीक करने लगी। उसने मेरे झोले में रखी केले की फलियों को इस बीच कई बार देखा था, अब फिर उन पर निगाह डाली और फिर अँगीठी चिमटे की तरफ देखा, मगर कुछ माँग न सकी। मैंने न जाने क्यों दो केले की फलियाँ उस दर्जन में से तोड़ लीं और उसे देने को हुआ मगर रुक गया। सोचा, लोग क्या कहेंगे ! एकदम दो फली। पर साहस करके वे दोनों फलियाँ मैंने उसके बच्चे की तरफ बढ़ा दीं। उसने उन्हें ले लिया, और तभी एक उसने छीलकर आधी बच्चे के नन्हें नन्हें हाथों में थमा दी और बाकी डेढ़ उसी फूटे कटोरे में ले लीं। मैंने उससे कहा भी कि, 'इस आधी को तू खा ले फिर न इस पर मक्खियाँ भिनकेंगी।' मगर उसने शर्मा कर नीची आँखें कर ली और धीरे से कहा, 'कोई देखेगा मैं फिर '

बच्चे ने बुरी तरह उस केले के गूदे का अपनी मुट्ठी में मलीदा-सा बना दिया था और खा बेचारा थोड़ा ही पाया था, कुछ टूटकर नीचे गिर गया जिसे उसकी माँ ने तभी उठाकर फिर उसके हाथ में देना चाहा—धूल में सना हुआ केले का गूदा—मैंने मना किया, 'है ! है ! खराब हो गया, यह मत खिला इसे !'

'सब ठीक है' कहकर उसने वह टुकड़ा उसके मुँह में ठूँस ही दिया जैसे उसके लिये कोई बात ही न हो।

मुझे उसके साथ बड़ी देर तक बातें करते देख कुछ दुकानदार, कुछ राह चलते घूरने लगे थे, दो तीन मेरे उसके आस पास खड़े होकर बातें सुनने लगे। उन्होंने देखा कि मैंने उसे दो केले दिये थे।

यह जरा बुरी-सी बात हो गई थी, मैंने अब वहाँ उससे अधिक बातें करनी

ठीक न समझा, अतः फिर उसी झोले-अँगीठी-चिमटे को दोनों हाथों में लटका लिया और चलने को हुआ।

'चल पड़े बाबूजी' कहकर उसने मेरी तरफ बड़ी भारी करुणा से देखा और कुछ कहने को हुई, जिसे वह कह न सकी। बात कहने के लिए जो साँस उसने खींची थी वह उसने आहिस्ता से फिर अपने सीने से बाहर निकाल दी।

क्या कहती है!' मैंने रुककर उससे पूछा।

'कुछ नहीं' (मगर वह कुछ कहना ज़रूर चाहती थी), निराश होकर उसने कहा। 'कुछ तो कह!' चलने को दूसरा कदम मैं आगे रख चुका था, झुँझला कर मैंने पूछा—

'कुछ पैसे... . आज सकारे से कुल दुई आने मिले हैं' और उसने अपनी कमीज की जेब से चार अधन्ने निकालकर दिखला दिये। वहाँ, जहाँ उसकी जेब थी, मेरी निगाह पड़ गयी। उस गरीब भिखारिन का यौवन अंकुरित हो चुका था—यह वह अवस्था थी जब प्रत्येक नारी में आगामी जीवन के लिए सुखद स्वप्न मस्तिष्क में मस्ती से आते और चले जाते हैं; अपनी सुंदर तरुणाई के उठान को देखकर उमंगें हृदय में लहरा उठती हैं। अपना आपा धरती पर पाँव रखकर फूला नहीं समाता। मगर वह जीवन के धरम धक्कों से दोनों परों में चोट खाई हुई ऐसी तितली बनी हुई थी जो लड़खड़ाती हुई उड़ती और थोड़ी दूर जाकर फिर ज़मीन पर आ टिकती है, कोई भी उसे पकड़ सकता था।

मैंने जेब में हाथ डाला। एक अठन्नी हाथ में आ गयी, और दो अधन्ने थे; मैंने वह अठन्नी ही उसे न जाने क्यों दे दी, जिसे उसने आँखें फैलाये हुए कुछ संकोच से ले लिया। उसके मैले-मैले हाथों में गरमायी-सी थी।

मैं चल दिया। उँगलियों में झोले का फीता गड़ रहा था, उधर अँगीठी के छल्ले दूसरे हाथ में गड़ने लगे थे। सर में एक अजीब उलझन थी। वही—कि बाँस पर चक्कर खानेवाला मर क्या गया इस औरत का ढंग बिगाड़ गया। देखो भीख माँगने पर नौबत आ गयी; उस लँगड़े पर क्रोध आने लगा...

कुछ दूर आकर मैंने मुड़कर देखा, वह अब भी मेरी तरफ इस तरह देख रही थी जैसे एक हिली हुई कुतिया जिस पर उसका मालिक पुचकार हाथ फेरकर, ज़ंजीर से बाँधकर चल देता है और वह उस जाते हुए स्वामी को टेढ़ी गर्दन किये हुए एक टक देखे जाती हो और चाहती हो कि सहसा जोर से एक बार चीख़कर भौंक उठे।

मैं और दूर निकल आया। एक रिक्शा वहाँ खड़ा था, उससे किराया तय करने लगा। बातें करते-करते मैंने फिर देखा कि दूर जहाँ वह पड़ा थी लोगों की एक भीड़-सी इकट्ठी हो गयी है। शायद उसे देखने के लिए।

रिक्शा पूरी रफ्तार से रेल के पुल के नीचे को निकला चला जा रहा था। रिक्शावाला आगे झुककर पैडिल मार रहा था, घंटी बजती, लोग दाएं बाएं बचते चले जाते। इधर दिमाग में फिर वही बीमार, उसकी बहन, वह लँगड़ा, बच्चा फिर वही औरत—सुंदर, दुखी, भिखारन, प्यारी-सी, गंदी, परेशान

शाम हो गयी थी। मैं निकलकर बाहर सड़क पर आ गया और टहलने लगा। हमारे पड़ोसी सामनेवालों से कह रहे थ, 'अभी उस औरत को किसी ने दो तो केले की फलियाँ और आठ आने पैसे · · ·'

'वाह! जैसे देनेवाले ने अपनी आशनाई की हद कर दी हो,' सामनेवालों ने कुछ ऐसे भाव से कहकर गर्दन टेढ़ी कर ली।

'तभी उसका भाई, जो एक लँगड़ा था, ये सब देख रहा था, आया और बोला, 'तुझे ये फलियाँ किसने दीं? बोल हरामजादी! और तेरी मुट्ठी में क्या है! ये अठन्नी कहाँ से आयी!'

'हूँ' उन्होंने हुंकारा भरा।

'और जब उसने देखा कि वह औरत तो बड़ी देर तक उस केले देनेवाले से बातें करती रही, उसे शक हो गया।'

'हूँ'

'समझ गया कि है जरूर दाल में काला, वो तो बड़ी देर से देख रहा था।'

इधर मुझे बाजारवाली आज की बातें एक-एक करके अपने प्रत्येक विवरण के विस्तार से स्पष्ट याद आने लगीं, उसकी भीगी पलकों की झपकियों के पीछे गुलाबी-सी आँखों की याद अब भी मेरी आँखों से आँखें लड़ा रही थीं, वह फूटा कटोरा, कूल्हे पर टिका वह दुर्बल सा केले के गूदे को चिचोड़ता हुआ बच्चा। वह कह रही है, 'तेरा छुन्नू मामा मरि गिया एं रे' और उसके आगे नचाती उँगलियाँ ·

'सो तो है ई साहब' सामनेवालों ने ताईद की, भला कौन किसी मँगती को फल मिठाई और पैसे देता है? औरत सुनते हैं कुछ देखने में खूबसूरत थी।

'हाँ थी तो पर बहुत गंदा।'

'थी थी थी थी थी · ,

मेरे हृदय में अँधेरा-सा होने लगा, ऐसा लगा कि इस 'थी थी' का अर्थ है

कि वह नहीं रही। मेरी आँखों में वह नाच गयी। दिल ने कहा, 'वह सुंदर थी और बहुत थी, ये झूठे हैं। नहीं जानते।'

'थी जभी तो......' सामनेवाले ने सर हिलाकर कहा।

'दस साब' उस लँगड़े ने निकाल चक्कू और वहीं उसके पेट में डालकर उसकी आँतें चीर दीं—लौंडा, गाद का बच्चा इस छीना-झपटी में वहीं नीचे गिर पड़ा.....

मैं बुत की तरह सुनता रहा, मेरे पेट को कोई चीज़ चीरकर कानों की राह बाहर निकल गयी हो; और जैसे चारों तरफ़ एक सन्नाटा छाकर जम गया, जिसमें हल्की-हल्की जान दुबारा आने लगी हो, हर चीज़ जैसे दुबारा ज़िंदगी पाकर चलने-फिरने लगी हो—ये मकान, सड़क, पेड़। यह कहकर चुप हो गये पड़ोसी।

'वह औरत तो मर गयी होगी?' सामनेवाले जैसे नया जन्म लेकर पूछ रहे हों।

'हाँ सुना है कि शफाखाने में जाकर मर गयी, उसका खून बन्द नहीं हुआ। डाक्टर ने कहा कि इसका दिल भी तो चिर गया है...'

'अब बच्चा क्या जीएगा? कितना बड़ा था? आपने तो देखा होगा?'

'जितना आपका कैलाश है ना।'

'हूँ हूँ'

'उससे कुछ छोटा।'

फिर दोनों थोड़ी देर चुप रहे, मानो मुझे सुनाकर मेरी तरफ देखकर कुछ जानना चाहते हों कि उन्होंने आखिर में कहा और बात खतम कर दी, 'और वह लँगड़ा तो तभी पकड़ लिया गया, पुलिस ले गई पकड़ के।'

'देखो क्या होता है?' सामनेवाले बोले।

'होगा क्या, फाँसी होगी' सुनकर कुछ संतोष-सा हुआ।

पर, यह सब हत्याभरण सुनकर मेरी क्या दशा हुई होगी मैं ही जानता हूँ। ऐसा लगा—जैसे अब भी कहीं पर एक बाँस है, लँगड़ा ढोल बजाये जा रहा है और उसकी बहन, वह ख़ूबसूरत छोकरी, गोद में बच्चे को लिये फूटा कटोरा फैलाये माँग रही हो 'बाबूजी!' और मैंने दो केले और एक अठन्नी उसे दे दी हो।

समीक्षा

रीति, रस और निवेचन

[१. विचार और विवेचन लेखक—डॉ० नगेंद्र, पृष्ठ संख्या १५१, मूल्य चार रुपया।

२ रीति-काव्य की भूमिका „ , पृष्ठ संख्या १६२, मूल्य पाँच रुपया।

३ देव और उनकी कविता „ , पृष्ठ संख्या २६६, मूल्य पाँच रुपया।

प्रकाशक गौतम बुकडिपो, दिल्ली]

१

प्रभाकर माचवे

'विचार और अनुभूति' के लेखक डॉ० नगेंद्र की ये तीन नयी आलोचनात्मक पुस्तकें हैं, जिनमें पहिली में तेरह निबंध, दूसरा में रीतिकाव्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का विवेचन तथा पाँचों साहित्य शास्त्र के सम्प्रदायों की विस्तृत चर्चा है, तीसरी में देव का जीवन-चरित, देवरचित ग्रंथ, देव की कला तथा देव पर और देव के प्रभावों की व्याख्या है। दूसरी और तीसरी पुस्तक नगेंद्र जी के डाक्टरेट का प्रबंध है और उसमें परिश्रम भी अधिक है। तीनों पुस्तकें पढ़कर मुझे बहुत कुछ जानकारी मिली, एक सुगठित, रसज्ञ आलोचक की प्रसन्न निबंधकला के वाचन का आनंद मिला, परंतु सौंदर्यशास्त्र के चिरंतन प्रश्नों का जहाँ तक संबंध है, मेरा समाधान बहुत कम हुआ। संभव है इसका कारण लेखक के व्यक्तिनिष्ठ, अभिजात, विशुद्ध-सौंदर्यवादी दृष्टिकोण में और प्रजातंत्र में विश्वास करनेवाले मुझ जैसे सामाजिक के अधिक वस्तु-परक दृष्टिकोण में मौलिक मतभेद हो।

'विचार और विवेचन' के एक एक निबंध को लेकर मैं अपनी बात स्पष्ट करूँ। भूमिका में नगेंद्र अपने दृष्टिकोण को 'रसात्मक' कहते हैं। स्पष्ट है कि रस की स्थिति केवल 'आत्म' से संभव नहीं। उसमें आत्म-अनात्म (सब्जेक्ट-आब्जेक्ट) की पारस्परिकता आवश्यक है। पहिले निबंध 'भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र'

में नगेंद्र वैदिक कवियों में वाणी की शक्ति और शृंगार के प्रति सचेत ज्ञान मानते हैं। एक ओर वे वाणी को दिव्य और अलौकिक स्रोत से उद्भूत, ब्रह्मानंद सहोदर मानते थे—यह भी कहा गया है। आदि कवि के प्रथम अनुष्टुप् पर भी नगेंद्र अपनी ही मान्यताएँ आरोपित करते हैं कि काव्य की मूल प्रेरणा भावातिरेक है इत्यादि। क्या गीति-काव्य के विषय में लागू होनेवाले ये उनके मत महाकाव्यों पर भी घटित हो सकते हैं? वहाँ तो आत्माभिव्यक्ति ही काव्य का मूल रूप स्पष्टतः नहीं है। इससे उलटे नगेंद्र यूनानी काव्य की मूल प्रेरणा दैवी प्रतिमा मानते हैं और वहाँ भी अपना वही डंक लगाते हैं कि कविता का प्रयोजन आनंद है, शिक्षण नहीं। एस्काईलीस के नाटकों में जो बार-बार निर्मम नियति का उल्लेख आया है, क्या वह केवल आनंद-दान के लिए है?

यहाँ से नगेंद्र जिन भारतीय और पश्चिमी काव्यशास्त्र के समान और विरोधी तत्त्वों की विवेचना पर आये हैं वे तो एकदम तर्काभास से हैं। वे कहते हैं—दोनों काव्यों का दृष्टिकोण ऐहिक है। (तभी तो इतने चमत्कार प्राचीन काव्य में भरे पड़े हैं!) अंतर केवल इस बात का बताया गया है कि भारत में कविता कला नहीं मानी जाती थी, यूनान में वह कला थी। भारत में आलोचक की दृष्टि कविता पर अधिक थी, कवि पर नहीं (अर्थात् 'आत्म' पर नहीं—वस्तु पर)। परंतु पश्चिमी आलोचना से प्रभावित नगेंद्र 'साहित्य में आत्माभिव्यक्ति' और 'रस का स्वरूप' (प्रतीक में पहिले प्रकाशित) निबंधों में 'आत्म' पर ही अधिक प्राधान्य देते हैं। यहाँ तक कि जब विदेशी आलोचना भी टी० एस० इलियट आदि में अधिक वस्तु-परक, निर्वैयक्तिक और अनासक्त हो चली है तो नगेंद्र उसका भी विरोध करते हैं। नगेंद्र की स्थिति उस मधु-लुब्ध मधुमक्खिका की-सी है जिसकी पाँखें शहद में इतनी भीग गयी हैं कि वह उड़ नहीं सकती और फूल, शहद, अपने पाँख, सुरभि सबको एकाकार ही मान लेती है। इसीलिये वह सुख और आनंद में भेद नहीं करती। पृष्ठ २० पर वे हिडॉनिस्ट (भोगवादी या सुखवादी) को आनंदवादी कहते हैं। रिचर्ड्स से प्रभावित होकर वे आनंद को घटाएँ व्यक्त करते हैं: शारीरिक या ऐंद्रिक संवेदनाजन्य, मानसिक—काल्पनिक, आत्मिक आदि। परंतु संवेदना और प्रत्यभिज्ञा में केवल छटा का नहीं, वरन् संगठन का भी भेद है यह नगेंद्र सहज भूल जाते हैं।

परिणामतः नगेंद्र कलाकार को एक विशिष्ट गुणवाला अभिजात, दुर्मिल, अलौकिक प्रतिभासंपन्न, व्युत्पन्न, साधारण मानवों से ऊपर एक व्यक्ति मानते हैं। यह नित्शे के वैचारिक श्रीमन्तता (एरिस्टाक्रसी आफ़ आइडियाज़) का पोषक विचार है।

'साधारणीकरण' निबंध के अंत में वे लिखते हैं—'वह शक्ति उसी व्यक्ति में होगी जिसकी भाव-शक्ति विशेषरूप से समृद्ध हो। ऐसा ही व्यक्ति भाषा का भावमय प्रयोग कर सकता है। ऐसा ही व्यक्ति कवि है।' और 'आत्माभिव्यक्ति' में—'मुझ जैसे व्यक्ति का तो, जो आनंद को जीवन की चरम उपयोगिता मानता है, इसके आगे कुछ और पूछना नहीं रह जाता।' (पृ० ५४) मुझे कोई व्यक्ति जीवन का लक्ष्य आनन्द ही माने इसमें कोई आपत्ति नहीं है परंतु फिर वह किन मूल्यों से रीतिकाल की विलास प्रवणता की बुराई कर सकता है? (पृ० ४८-४९ पर 'शृंगार रस' निबन्ध में) यदि किसी आदर्शवाद को लेकर चलता है तो सरासर आनंद का आदर्श से कोई मेल नहीं है?

यही सैद्धांतिक कठिनाई उनकी अन्य सभी आलोचनाओं में मूल वस्तु तक नहीं पहुँचने देती। एक ओर पृ० ५७ पर वे कहते हैं कि 'लेखक में साधारण व्यक्ति की अपेक्षा प्रतिभा अधिक है, अतएव उसका अनुपात भी अधिक है। समाज का शुभ-शोध करना उसका धर्म है (आदि) तर्क नैतिक है, साहित्यिक नहीं। उपर्युक्त कर्तव्य निर्माण सामाजिक का है, लेखक का नहीं।' नगेंद्र के अनुसार, 'नैतिक और सामाजिक मूल्य में स्वतंत्र लेखन का एक महत्त्व है, जिसको तुच्छ समझना स्थूल बुद्धि का परिचय देना है।' अपनी स्थूल बुद्धि स्वीकार करके मैं निवेदन करना चाहता हूँ कि लेखक भी एक सामाजिक व्यक्ति है। उससे ऊपर अलग उसका रहना निरी कल्पनालोक में संभव है। नगेंद्र के अनुसार युग के मूल्य सामाजिक राजनैतिक नैतिक हैं युग युग के मूल्य मानवीय हैं। 'निश्छल आत्माभिव्यक्ति' ही मानवीय होती है। वह सदा श्रेष्ठतर है।। यहाँ 'नैतिक' शब्द से नगेंद्र के अनुसार क्या अर्थ है, मैं नहीं समझ सका। क्या मानवीयता कोई नैतिकता नहीं? क्या वह अ-सामाजिक है। और क्या वह युगीन, देश-काल से बँधा हो जाने से कम मानवीय हो जाता है? इसी कारण से टी० एस० इलियट का काव्यगत अव्यक्तिवाद इस संग्रह का सबसे कमज़ोर निबंध है। नगेंद्र 'इलियट की कला सृजन की कल्पना को' एक ओर 'सर्वथा अवैज्ञानिक' कहते हैं (पृ० ६८) और इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'जहाँ चरम सिद्धांतों का विवेचन किया जायगा वहाँ केवल काव्यशास्त्र ही नहीं जीवन का कोई भी शास्त्र दर्शन मनोविज्ञान को कैसे दूर रख सकता है!' (पृ० ७०)। यह अंतिम वाक्य नगेंद्र के इसके पूर्व और पश्चात् लिखे सभी वाक्यों का स्वयमेव एक उत्तम खंडन है।

इस संग्रह का सबसे अच्छा निबंध है हिंदी में हास्य की कमी (एक संवाद)। 'विचार और अनुभूति' में भी ऐसे एक दो निबंध बड़े सुंदर थे जिसमें स्वप्न में उप-

न्यायकार अपनी सफ़ाई देते थे और आलोचकों की आलोचना की गयी थी। नगेंद्र वस्तुतः इसी प्रसन्न शैली के लेखक हैं। उन्हें दार्शनिक शब्दावली वाली काव्य-शास्त्र-मीमांसा की वैज्ञानिक विवेचना का 3 खोटा नहीं पहनना चाहिये, क्योंकि वहाँ रसज्ञता काफी नहीं; बहुत अधिक सूक्ष्मता और पारिभाषिक शब्दों के सही प्रयोग की आवश्यकता होती है। उतना गंभीर टीम-टाम धारण कर अंततः नगेंद्र कह बैठते हैं—'निश्छल आत्माभिव्यक्ति के दो रूप हैं: एक निश्छल; दूसरा आत्म की अभिव्यक्ति।' ऐसी निरी शब्दों के लिए प्रतिशब्द वाली प्राध्यापकी मनोवृत्ति का परिचय दिया है। इस प्रकार हम बजाय आलोचना के निरे पर्यायों (प्लेटिटयूड्स) में भटकते हैं; विचार क्षेत्र में इसे विवर्त्तवाद कहते हैं।

आगे श्यामसुंदर दास, प्रेमचंद, पंत, दिनकर, राहुल आदि पर कुछ बहुत उपयोगी निबन्ध हैं। साहित्य के विद्यार्थी के लिए प्रेमचंद और राहुलवाले लेख बहुत ही अच्छे हैं। पंत के नवीन जीवन-दर्शन में यदि अरविंद के दर्शन का भी उल्लेख अधिक होता तो और अच्छा होता। अंतिम निबंध 'हिंदी की प्रयोगवादी कविता' पर मुझे बहुत आपत्ति है, क्योंकि नगेंद्र ने प्रयोगशील कविता के पीछे की मनोभूमिका को नहीं समझा है। वे जान-बूझकर जीवन की समग्रता को ग्रहण नहीं करना चाहते: केवल सुंदर मसृण-मृदुल-मधुर पक्ष को ही देखना चाहते हैं। उनके मत से नवीन कवितायें रसहीनता या रसाभाव के कारण हैं "रागात्मकता की अपेक्षा बुद्धिगत संबंध, साधारणीकरण का त्याग और उपचेतन मन के अनुभव खंडों का यथावत् चित्रण का आग्रह तथा काव्य के उपकरणों एवं भाषा का एकांत वैज्ञानिक और अनर्गल प्रयोग...तथा नूतनता का सर्वग्राही मोह!" (पृ० १४७) ये सब के सब आरोप गलत हैं। यदि बुद्धिगत संबंध उत्तम काव्य को निर्मित नहीं कर सकते होते तो देव और उनकी कविता में पृष्ठ २५० पर नगेंद्र क्यों लिखते—'कवि के लिए शक्ति के उपरान्त सबसे अधिक स्पृहणीय गुण साहित्यिक व्युत्पन्नता है। वास्तव में कवि की शक्ति का संस्कार अपने प्राचीन तथा समसामयिक साहित्य के अध्ययन और मनन से होता है।' और पृष्ठ १६५ पर 'केशव ने जहाँ अपने पांडित्य और कल्पना-वैभव के आधार पर रीतिकाल की अलंकरण-सामग्री की श्रीवृद्धि की है।' यदि नगेंद्र के विलक्षण साधारणीकरण का ही आधार सदा रखा जाता तो विश्व में कोई मौलिक, असाधारण रचना ही नहीं होता। नगेंद्र ने एक ओर उपचेतन की व्यंजना को ग़लत बतलाते हुए देव की कविता की प्रशंसा में उनकी प्रतीक-योजना तीन प्रकार की बतलाई है: 'सृजन के प्रतीक, नाश के प्रतीक, काम के प्रतीक' (पृ० १६४)।

एक ओर तो नगेंद्र ने आज के युग को कुंठा और यौन विकृतियों का युग कहा है दूसरी ओर रीति-काल के खुले शृंगार रस-रास को नैतिक ह्रास भी कहा है। एक ओर रीति काल के रसीलेपन को 'रीति-काव्य की भूमिका' में (पृष्ठ २६,) पर 'स्त्रैण शृंगारिकता' कहा है दूसरी ओर अपने दृष्टिकोण को रसात्मक कहते हैं। यह सब तार्किक परस्पर-विरोध छोड़ भी दें फिर भी नगेंद्र आखिर सब मिलाकर क्या कहना चाहते हैं ! वे सामान्य जन की उपेक्षा कर सामान्यीकरण (मीडिओक्रिटी) को पुनर्प्रतिष्ठित करते हैं। यदि शृंगार आज कुंठित है तो चलो उसके तर्कों से रसेन्द्र की भाँति यौन स्वेच्छाचार को, मुक्त मैथुन का समर्थन करो। नगेंद्र को वहाँ लोक मंगल का नैतिक आदर्श भंग होता हुआ दीखेगा। फिर क्या आज की स्थिति वांछनीय है ! नहीं वह भी पंत के शब्दों में—'धिक् रे मानव ! तू अंकित कर सकता नहीं निश्छल चुंबन।' वस्तुतः मुझे आपत्ति इस बात पर है कि नगेंद्र एतादृशत्व के पोषक हैं। वे सुधारवाद को बुरा कहते हैं, वे क्रांति और प्रगति को विकारग्रस्त बतलाते हैं, रीतिकालीन सामंती विलासिता भी बुरी थी। फिर अच्छा क्या है ? उसका उत्तर देना नगेंद्र ज़रूरी नहीं समझते क्योंकि वह साहित्य के क्षेत्र से बाहर की बात हो जायगा।

पृ० ३८ पर नगेंद्र कहते हैं—जीवन की एक प्रमुख प्रवृत्ति है काम मिलनेच्छा ! परन्तु वैदिक वाणी है—'सतोनिदवधुमसतिनिरविंदन् हृदिप्रतीष्या कवयोमनीषा, और आधुनिकतम मनोवैज्ञानिक भी काम को केवल 'सेल्फ रिकग्निशन' ही मानते हैं। ऐसी दशा में नगेंद्र अभी फ्रायड के समय के मनोविज्ञान के आसपास ही मँडरा रहे हैं।

अंत में मैं नगेंद्र की शैली की प्रशंसा करता हूं। आचार्य शुक्ल के बाद ऐसी गहन शैली आलोचना में हिंदी में उन्हीं की है। शैली का गहन होना विषयानुसार स्वाभाविक ही है। परन्तु गहनता के साथ ही वह कहीं भी ऊबा देनेवाली', कर्कश या क्लिष्ट-कर्णकटु नहीं होता (जैसा मेरा लेखन शैली कभी-कभी हो जाती है।) दूसरी अच्छी बात है देव विषयक सामग्री का इतना एक साथ एकत्रित करना। हिंदी में देव विषयक आलोचना ग्रंथों में नगेंद्र की पुस्तक निस्संदेह सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होगी। सिद्धांतों में तो मतभेद के लिए स्थान रहता ही है। मैंने अपने दृष्टिकोण से नगेंद्र के काव्य शास्त्र विषयक मतों की आलोचना की है। परन्तु नगेंद्र के पांडित्य, अध्यवसाय और सुदीर्घ परिश्रम की मैं पुनः भूरि-भूरि प्रशंसा करता हूँ। वह इसलिए और भी कि आजकल डाक्टरेट के थीसिसों में पानी मिला दूध ही ज्यादह होता है।

देवराज

डॉ० नगेंद्र हिंदी के उन इने-गिने आलोचकों में हैं, जो संस्कृत साहित्य-शास्त्र से परिचित होते हुए आधुनिक दृष्टिकोण रखते हैं। अविकसित एवं अर्द्ध-संस्कृत देश या जाति की एक प्रमुख कमी होती है, अगुणग्राहिता; यह कमी हममें प्रचुर मात्रा में है। फलतः हम अपनी समृद्ध सांस्कृतिक विरासत के प्रति प्रायः उदासीन रहते हैं और उससे किसी प्रकार भी प्रेरणा नहीं ले पाते। यूरोप से परिचित होने का हम दावा करते हैं पर वह भी प्रायः हमें अनुकरण की प्रेरणा देता है, सृजन की नहीं। भारत के प्राचीन साहित्य मीमांसकों के प्रति हमारे समीक्षक विचारकों की प्रतिक्रिया या तो अन्ध-स्वीकार-मूलक है, अथवा अपरीक्षित तिरस्कार-मूलक; ये दोनों ही प्रतिक्रियायें अल्प-प्राणता की द्योतक हैं। बात यह है कि एक पृच्छाशील जाति की सृष्टि होने के कारण प्राचीन साहित्य-शास्त्र उपेक्षणीय नहीं हो सकता—ठीक वैसे ही जैसे यूरोप में अरस्तू, ड्राइडेन आदि आज उपेक्षणीय नहीं हैं; और आधुनिक अर्थात् हमारे युग के साहित्य की व्याख्या का प्रयत्न-रूप न होने के कारण वह सर्वथा ग्राह्य भी नहीं हो सकता। डॉ० नगेंद्र की विशेषता यह है कि वे प्राचीन साहित्य-शास्त्र को नई आँखों से देखते और आँकते हैं। वे पद-पद पर प्राचीन धारणाओं को नवीन परिचित पदावली में अनूदित करते और उससे मिलाते चलते हैं।

'रीति-काव्य की भूमिका' प्रस्तुत करने के बहाने डॉ० नगेंद्र ने प्राचीन साहित्य-शास्त्र के प्रमुख सिद्धांतों और विचारकों का विशद विवेचन किया है। यह भूमिका देव का काव्य समझने के लिये प्रासंगिक है या नहीं, इसमें संदेह किया जा सकता है; किंतु विचारशील पाठकों के लिये उसका महत्व निर्विवाद है। इन सिद्धांतों का विवेचन स्पष्ट, मार्मिक एवं गंभीर रूप में किया गया है। लेखक की रस-सिद्धांत में विशेष दिलचस्पी है, और उसके संबंध में कई समस्याओं पर बड़ी सूक्ष्मता से विचार किया गया है, 'विचार और विवेचन' के 'साधारणीकरण' तथा 'शृङ्गार-रस' सम्बंधी निबंधों तथा 'रस का स्वरूप' में 'भूमिका' के कतिपय स्थलों का ही पुनरुल्लेख है। इन विवेचनाओं में लेखक ने प्रायः प्राचीन विचारकों के ही शंका-समाधानों का भी समावेश कर दिया है जिससे प्रतिपादन विशद हो गया है।

रसवाद के प्रति झुकाव होने पर भी लेखक ने आलंकारिकों की परंपरा के

अनुसार यह दिखाने की चेष्टा का है कि विभिन्न शास्त्रीय वादों का ध्वनिवाद में स्वाभाविक पर्यवसान एवं समन्वय होता है। हमारा अनुमान है कि जिस प्रकार दर्शन के क्षेत्र में वेदान्त को चिंतन-प्रगति का पर्यवसान कहने से अन्य दर्शनों के प्रति अन्याय होता है उसी प्रकार ध्वनिवाद को एकान्त महत्व देना अन्य वादों के प्रति अन्याय है।

क्या रसवाद का ध्वनिवाद में अन्तर्भाव हो सकता है? हमें इसमें संदेह है। रस एक विशेष प्रकार का—व्यंग्य—अर्थ नहीं है, वह एक प्रकार की चित्तवृत्ति है जो विभिन्न अर्थों के भावन (contemplation) द्वारा जाती है। डॉ० नगेन्द्र ने स्वयं कहीं कहीं ऐसी व्यंजनाओं का प्रयोग किया है जिनसे प्रकट होता है कि उनका अन्तर्मन ध्वनि में रस का समावेश करने को तैयार नहीं है। उदाहरण—'देव ने व्यंग्य की अपेक्षा वाच्य को ही अधिक महत्व दिया है। वास्तव में यह शुद्ध रस वाद के आग्रह का परिणाम है।'

हमारा अनुमान है कि ध्वनि के अंतर्गत जहाँ वक्रता का समावेश हो सकता है वहाँ रस का नहीं। सच पूछो तो वक्रता और ध्वनि दोनों के वैदग्ध्य अथवा उक्ति-चातुर्य का सैद्धान्तिक मंडन मात्र हैं। बौद्धिकता जो कि उक्ति-चातुर्य में प्रतिफलित होता है व्यक्तित्व के सौंदर्य का एक उपादान है अन्य सौन्दर्यों की भाँति उसका प्रकाशन रुचिकर प्रतीत होता है। रसात्मक प्रसंग में प्रतिभा चातुर्य का प्रतिफलन विशेष आकर्षक लगता है, अन्यत्र, नीरस आलंकारिकों की रचना में शुष्क श्लेष आदि के विधाना में, वह रसहीन सा खलता है। वक्रोक्ति अथवा ध्वनि को श्रेष्ठ काव्य का आवश्यक तत्व नहीं कहा जा सकता—साहित्यिक श्रेष्ठता की यह कसौटी आज नितान्त अर्थहीन मालूम पड़ता है। हम टाल्सटॉय अथवा दास्तावस्की को इसलिये बड़ा कलाकार नहीं कहते कि उन्होंने व्यंग्यार्थ का विशेष प्रयोग किया है। इस कसौटी पर कसे जाने पर, शायद, वाल्मीकि और कालिदास भी महाकवि सिद्ध न किये जा सकेंगे। वास्तविकता यह है कि इस प्रकार की कसौटी राजाओं और रईसों की सभाओं में पढ़े जानेवाले फुटकर पद्यों को ध्यान में रखकर बनायी गयी होगी, और ऐसी रचनाओं पर ही लागू की जा सकता है। 'व्यंग्यार्थ मूलक काव्य श्रेष्ठ काव्य होता है' इसकी अपेक्षा क्या यह कहना अधिक समुचित नहीं है कि उच्चतम कोटि की साहित्यिक कृति में किसी जाति अथवा युग अथवा मानवता के जटिल नैतिक-मनोवैज्ञानिक जीवन की विशद विवृति अथवा प्रकाशन होता है? सचमुच ही हमें यह देखकर आश्चर्य होता है कि मम्मट जैसे प्रकाण्ड लेखक ध्वनि को श्रेष्ठ काव्य का मानदण्ड घोषित कर सके। डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है—'ऐसी उक्ति जिसमें रस हो परंतु

...न हो सामने लाना भी तो आसान नहीं है।' (पृष्ठ १२२) हमारा उत्तर है कि इस प्रकार के एक-दो नहीं सैकड़ों उदाहरण सुलभ हैं। नीचे हम कतिपय पद्य उद्धृत करते हैं,

मनोऽभिरामाः शृण्वन्तौ रथनेमिस्वनोन्मुखैः
षड्ज संवादिनीः केका द्विधाभिन्नाः शिखण्डिभिः
सेकान्ते मुनि कन्याभिस्तत्क्षणोज्झित वृक्षकम्
विश्वासाय विहंगानामालवालाम्बु पायिनाम्

और

देखी व्याधि असाध नृप परेउ धरनि धुनि माथ
कहत परम आरत वचन राम राम रघुनाथ ॥

ये तीनों पद्य सहज रसमय हैं; बिना किसी प्रकार की वक्रता अथवा उक्ति-वैचित्र्य के वे श्रेष्ठ काव्य हैं।

कवि देव के काव्य से 'छन्दमयी' के लेखक का सहज तादात्म्य है। रीति-काव्य के संबंध में लेखक की निम्न टिप्पणियाँ विशेष अर्थवती हैं:—

'इस युग की शृङ्गारिकता में घुमड़न अथवा मानसिक छलना नहीं है.........प्रेम की एकनिष्ठता न होकर विलास की रसिकता ही प्रायः मिलती है।'.........'प्रेम भावना-प्रधान एवं एकोन्मुखी होता है, विलास या रसिकता उपभोग-प्रधान एवं अनेकोन्मुखी होती है।'.........प्रेम में तीव्रता होती है, रसिकता में केवल तरलता...आत्मा का सात्त्विक सौंदर्य तो उसकी परिधि के बाहर था ही।' यहाँ प्रश्न उठता है, इन टिप्पणियों की विशुद्ध रसवाद एवं आनंदवाद से कहाँ संगति है ! क्या सात्त्विक शब्द का प्रयोग एवं प्रेम और रसिकता का भेदोल्लेख किसी रसेतर मान की ओर संकेत नहीं करते ! यदि हाँ, तो इन विभिन्न मानों के आपेक्षिक महत्व और सामंजस्य पर भी विचार होना चाहिए।

देव की काव्य-कला का विवेचन सुंदर है। 'प्रभाव' पर अध्याय देने के बदले यदि देव तथा विहारी के कलात्मक भेद का अधिक विवेचन किया जाता तो इन कवियों के समझने में विशेष सहायता मिलती। हमारा विचार है कि रसानुभूति की दृष्टि से कवि देव श्रेष्ठ हैं और चेतना-विकास की दृष्टि से विहारी। काव्य मात्र में रागात्मक एवं बोधात्मक तत्त्व रहते हैं; देव राग-प्रधान हैं, विहारी बोध या चित्र प्रधान। छायावाद में भी विश्लेषण एवं बोधतत्त्व की प्रधानता है।

अब हम एक रोचक प्रश्न पूछते हैं; डा० नगेंद्र कहाँ तक रसवाद (एवं आनंद-वाद) का व्यावहारिक प्रयोग कर सके हैं ! कहाँ तक वे प्राचीन सिद्धांतों का युगोचित

नवीन दृष्टि में समावेश कर सके, है? इस प्रश्न का हम इस भाँति भी रख सकते हैं—आज के साहित्य का मूल्यांकन करने में रसवाद कहाँ तक हमारा सहायक हो सकता है? यहाँ हम नगेंद्र के कुछ उद्धरण प्रस्तुत करते हैं। प्रेमचन्द पर टिप्पणी करते हुए वे लिखते हैं—'जीवन के चिरंतन प्रश्नों को उन्होंने बड़े हल्के हाथों से छुआ है। कोई भी कलाकार जीवन के शाश्वत रूपों का गहन दार्शनिक विवेचन किये बिना महान नहीं हो सकता।' 'कंकाल का बुद्धि पक्ष निश्चित ही अधिक समृद्ध है।' राहुलजी के उपन्यासों को लक्ष्य कर उन्होंने लिखा है—'इन उपन्यासों में औपन्यासिक घटना विधान और चरित्र चित्रण का बहुत कुछ अभाव सा ही है—राहुलजी न तो आकर्षक नाटकीय परिस्थितियों की सृष्टि कर सके हैं और न चारित्रिक द्वन्द्वों की उद्भावना ही। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का धैर्य उनमें नहीं है।' इन उद्धरणों में साहित्य के जिन दार्शनिक मनोवैज्ञानिक मानों का संकेत किया गया है उनके बारे में—यह हमारा विचारक नगेंद्र से शिकायत है—व्यवस्थित चिंतन इन निबंधों में नहीं पाया जाता और न इन भावों का रसवाद तथा आनंदवाद से सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा ही दीख पड़ती है।

डा० नगेंद्र के मत में साहित्य आत्माभिव्यक्ति है, अर्थात् स्रष्टा के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति। उनके अनुसार 'अहं' एवं 'अहंकार' में भेद है, और साहित्य 'अहं का विसर्जन' नहीं, उसकी अभिव्यक्ति है। इस संबंध में डा० नगेंद्र ने टी० एस० इलियट और जैनेंद्र से अपना मतभेद प्रकट किया है।

हमारा अनुमान है कि डा० नगेंद्र का रसवादी आग्रह उनके व्यक्तिवाद को हृदयङ्गम करने में बाधक हुआ है। इलियट ने लिखा है—'It is in this that art may be said to approach the condition of Science' अर्थात निर्व्यक्तिता के आदर्श की ओर बढ़ता हुई कला विज्ञान की समरूपता को प्राप्त करती है। इसका मतलब यह है कि श्रेष्ठ कलाकार इतना तटस्थ होता है कि वह बिना अनावश्यक भावुकता के यथार्थ को ज्यों का त्यों चित्रित कर देता है। यह नहीं कि वह आवेग या संवेदन-शून्य होता है—किंतु यह आवेग या संवेदना चित्रित वस्तु में निहित रहती है, उसे जगाने के लिये कलाकार को चित्रित वस्तु पर अपनी ओर से आवेग लादना अपेक्षित नहीं होता। इलियट ने आगे लिखा है—"or great poetry may be made without the direct use of any emotion whatever; composed out of feelings solely" अर्थात् आवेग के बिना भी, केवल संवेदनाओं से, कविता का निर्माण संभव है। इसका मतलब भी यही है कि श्रेष्ठ कलाकार व्यक्तिगत राग विरागों से